# इकाई 1 यूरोप में समाजशास्त्र का उदय

## इकाई की रूपरेखा


1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 समाजशास्त्र के उदय की पृष्ठभूमि

1.2.1 प्रबोधन युग

1.2.2 यूरोपीय समाज का स्वरूप तथा उसमें परिवर्तन

1.3 समाजशास्त्र का उदय: सामाजिक परिस्थितियाँ

1.3.1 वाणिज्यिक क्रांति

1.3.1.1 बैंकिंग व्यवस्था का विस्तार

1.3.1.2 नए वर्ग का उदय

1.3.2 वैज्ञानिक क्रांति

1.3.2.1 विज्ञान के सामाजिक प्रकार्य

1.3.2.2 मध्यकाल में विज्ञान की स्थिति

1.3.2.3 पुनर्जागरण काल

1.3.2.4 कॉपर्निकस क्रांति

1.3.3 पुनर्जागरण युग के बाद के महत्वपूर्ण परिवर्तन

1.3.3.1 भौतिकी तथा गणित में प्रयोग

1.3.3.2 जीव विज्ञान तथा विकासवाद का सिद्धांत

1.4 फ्रांसीसी क्रांति

1.4.1 फ्रांसीसी समाज का बुनियादी स्वरूप

1.4.2 फ्रांसीसी समाज के राजनीतिक पहलू

1.4.3 फ्रांसीसी समाज के आर्थिक पहलू

1.4.4 फ्रांस में बौद्धिक विकास का सिलसिला

1.4.5 महत्वपूर्ण घटनाएं

1.5 औद्योगिक क्रांति

1.5.1 नये अन्वेषण

1.5.2 समाज और औद्योगिक क्रांति का प्रभाव

1.5.3 औद्योगिक क्रांति के महत्वपूर्ण विषय

1.6 समाजशास्त्र के उदय की धारा पर लक्षित बौद्धिक प्रभाव

1.6.1 इतिहास का दर्शन

1.6.2 विकास के जीव वैज्ञानिक सिद्धांत

1.6.3 सामाजिक परिस्थितियों के सर्वेक्षण

1.7 सारांश

1.8 शब्दावली

1.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

## 1.0 उद्देश्य

इस इकाई में यूरोप में समाजशास्त्र के उदय पर विचार किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आपके लिये संभव होगा

- समाजशास्त्र के उदय की पृष्ठभूमि की व्याख्या करना
- चौदहवीं शताब्दी से लगभग अट्ठारहवीं शताब्दी तक यूरोप की सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख करना
- फ्रांसीसी तथा औद्योगिक क्रांतियों की मुख्य विशेषताओं का विवरण करना
- समाजशास्त्र के उदय को प्रभावित करने वाली तत्कालीन मुख्य वैचारिक प्रवृत्तियों की व्याख्या करना।

## 1.1 प्रस्तावना

यह "समाजशास्त्रीय सिद्धांत" पाठ्यक्रम (ई.एस.ओ.-13) के खंड 1 की पहली इकाई है। इसमें बताया जाएगा कि समाजशास्त्र के उदय और अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप की सामाजिक एवं वैचारिक परिस्थितियों के बीच क्या संबंध है। ऐसा हमने इसलिए किया है क्योंकि एक विषय के रूप में समाजशास्त्र का उदय सबसे पहले यूरोप में ही हुआ। इसलिए उस समय यूरोप में विद्यमान सामाजिक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में ही समाजशास्त्र का अध्ययन किया जा सकता है। इस परस्पर संबंध को भली प्रकार समझ लेने से समाजशास्त्र के संस्थापकों के विचार बेहतर ढंग से समझने में आपको सुविधा होगी। इन प्रमुख समाजशास्त्रियों और उनके विचारों पर आगे की इकाइयों में विवेचना की गई है।

भाग 1.2 में समाजशास्त्र के उदय की पृष्ठभूमि दी गई है। समाजशास्त्र के उदय से पूर्व यूरोप की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक परिस्थितियां समझाने के लिए भाग 1.3 में हमने आपको चौदहवीं से अट्ठारहवीं शताब्दी तक यूरोप में हुई वाणिज्यिक क्रांति तथा वैज्ञानिक क्रांति का संक्षेप में परिचय दिया है।

इसके पश्चात् उस युग की दो अत्यंत महत्वपूर्ण घटनाओं अर्थात् फ्रांसीसी क्रांति तथा औद्योगिक क्रांति की चर्चा की गई है। यूरोप में वाणिज्यिक क्रांति तथा वैज्ञानिक क्रांति के बाद हुई इन क्रांतियों का समाजशास्त्र के मुख्य मुद्दों पर अमिट प्रभाव पड़ा। इन पहलुओं की चर्चा भाग 1.4 तथा भाग 1.5 में की गई है।

भाग 1.6 में आपको यह जानकारी दी गई है कि **प्रबोधन (enlightenment)** के बाद विभिन्न बौद्धिक सिद्धांतों ने समाजशास्त्र के विकास को किस प्रकार प्रभावित किया।

## 1.2 समाजशास्त्र के उदय की पृष्ठभूमि

यूरोप में समाजशास्त्र के उदय को समझने के लिए हमें समाज तथा विचारों के बीच संबंध को समझना होगा। किसी युग की सामाजिक परिस्थितियों तथा तात्कालिक विचारों के बीच सदैव संबंध हुआ करता है। इन विचारों की उस समय में प्रधानता होती है।

आइए, उदाहरण के तौर पर हम अपने देश के राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में इस संबंध की व्याख्या करें। ब्रिटिश शासन में भारतीय जनसमुदाय को उपनिवेशवाद के सभी कुप्रभावों को झेलना पड़ा। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक - हर दृष्टि से भारतीयों का शोषण, दमन एवं अपमान किया जाता था। साथ ही उपनिवेशवादी आर्थिक नीतियों के

फलस्वरूप भारतीय मध्यम वर्ग का उदय हुआ। इस वर्ग के लोगों को यूरोप के **उदारवादी** तथा क्रांतिकारी सामाजिक चिंतन की जानकारी भी मिली। उपनिवेशवादी शोषण से विक्षुब्ध होकर उन्होंने भारत को स्वतंत्र कराने के लिए अपनी लेखनी का प्रयोग किया व उनके विरुद्ध अभियान चलाया। इस तरह ब्रिटिश शासन के विरोध में राष्ट्रीय आंदोलन शुरू हुआ। संस्कृति, रंगमंच, गीत, साहित्य आदि में स्वतंत्रता की भावना व्याप्त हो गई थी। प्रेमचन्द का उपन्यास 'कर्मभूमि', जो दूरदर्शन पर धारावाहिक के रूप में दिखाया जा चुका है, उस समय के परिवर्तनों को दर्शाता है। अत: यह स्पष्ट है कि विचारों का मूल आधार अनिवार्यत: सामाजिक परिवेश में ही होता है।

## 1.2.1 प्रबोधन युग

हमें समाजशास्त्र के उदय को भी सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक पृष्ठभूमि में समझना होगा। प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों द्वारा विकसित विचारों की जड़ें उन सामाजिक परिस्थितियों में है, जो उस समय के यूरोप में मौजूद थीं। अत: एक वैज्ञानिक विषय के रूप में समाजशास्त्र के उदय के प्रारंभिक चिन्ह हमें यूरोपीय इतिहास के उस काल में तलाशने होंगे, जिसमें फ्रांसीसी क्रांति तथा औद्योगिक क्रांति के रूप में इतने व्यापक सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन हुए। यूरोपीय समाज में परिवर्तन का यह दौर प्रबोधन युग (Enlightenment Period) के नाम से जाना जाता है, क्योंकि इसमें अट्ठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी दार्शनिकों की चेतना निश्चित रूप से व्यक्त हुई है। प्रबोधन युग में **सामंतवादी** यूरोप के परम्परागत चिन्तन में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। इससे यथार्थ की नई दृष्टि और उसके चिंतन के नए तरीके ने जन्म लिया। लोग जीवन के हर पहलू पर तार्किक चिन्तन करने लगे तथा इस समय धर्म, सरकार या राजा की कही बात को अंतिम सत्य मानने की प्रवृत्ति समाप्त होने लगी।

यह विश्वास किया गया कि प्रकृति तथा समाज, दोनों का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जा सकता है। मनुष्य अनिवार्यत: तार्किक प्राणी है। तर्कपूर्ण सिद्धांतों पर आधारित समाज मनुष्य को अपनी अनंत क्षमताओं को पहचानने में अधिक सहायक सिद्ध होता है। ऐसे विचारों की जड़ें यूरोप में विज्ञान तथा वाणिज्य के विकास में ही निहित थीं। वाणिज्यिक क्रांति तथा वैज्ञानिक क्रांति के फलस्वरूप एक नया दृष्टिकोण पनपा तथा यह फ्रांसीसी तथा औद्योगिक क्रांतियों के दौरान पुष्ट हुआ। इस नए दृष्टिकोण से समाजशास्त्र की नींव पड़ी।

यूरोपीय समाज में हो रहे सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए सबसे पहले हमें उस समाज का अध्ययन करना होगा, जो परम्परागत यूरोप में अर्थात् प्रबोधन युग से पूर्व वहां मौजूद था।

## 1.2.2 यूरोपीय समाज का स्वरूप तथा उसमें परिवर्तन

प्राचीन यूरोप का स्वरूप परम्परावादी था। उसकी आर्थिक व्यवस्था में भूमि को केन्द्रीय स्थान प्राप्त था। सामंत भूमि के मालिक थे तथा किसान भूमि पर काम करते थे। समाज दो वर्गों में बंटा था और उनका विभाजन एकदम शीशे की तरह साफ था। धर्म समाज का आधारभूत सिद्धांत था। धर्मगुरु, जैसे पादरी, ही यह तय करते थे कि क्या नैतिक है और क्या नहीं। परिवार तथा नातेदारी संबंधों का मानव-जीवन में अति महत्वपूर्ण स्थान था। राजतंत्र की जड़ें समाज में बहुत गहरी जमी हुई थीं। ऐसी मान्यता थी कि ईश्वर ने राजा को लोगों पर शासन करने के लिए भेजा है।

फ्रांसीसी क्रांति तथा औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप जो नया यूरोप उभरकर सामने आया, उसने प्राचीन यूरोप के हर मुख्य पहलू को चुनौती दी। फलस्वरूप वर्गों का पुनर्गठन हुआ। पुराने वर्ग ध्वस्त हो गए तथा नए वर्गों ने जन्म लिया। धर्म को चुनौती दी जाने लगी। धर्म का महत्व

पहले से कम हो गया। पारिवारिक निष्ठाओं का स्थान वैचारिक आस्थाओं ने ले लिया। महिलाओं की स्थिति में बदलाव आया। अंतत: राजतंत्र की समाप्ति हुई और **लोकतंत्र** का आगमन हुआ।

समाज की सभी मुख्य धारणाओं - धर्म, समुदाय, सत्ता, सम्पत्ति आदि की नई व्याख्याएं होने लगी और उन्हें नए संदर्भ मिलने लगे।

वर्तमान तथा अतीत के बीच अंतर भी साफ़ हो गया। कुलीन वर्ग के लोगों के लिए वर्तमान भयावह हो गया क्योंकि उनके जान-माल के लिए ख़तरे पैदा हो गए थे जबकि किसानों के लिए वर्तमान अत्यंत सुखद था, क्योंकि उन्हें नए अवसर तथा नई शक्ति की प्राप्ति हो रही थी।

इस प्रकार आपने देखा कि सब लोग इस परिवर्तन से प्रभावित हो रहे थे। यूरोप में हो रहे इन परिवर्तनों का महत्व हम कितना भी आंकें वह कम होगा। आपकी जानकारी के लिए अगले भाग में हमने इनकी विस्तार से चर्चा की है। परंतु पहले बोध प्रश्न 1 को पूरा कर लें।

**बोध प्रश्न 1**

i) प्राचीन यूरोपीय समाज की दो मुख्य विशेषताओं का दो पंक्तियों में उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

ii) निम्नलिखित वाक्यों में ख़ाली स्थान भरिए।

क) स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भारतीय मध्यम वर्ग को यूरोप के ..... और ..... सामाजिक चिन्तन की जानकारी भी मिली।

ख) प्राचीन यूरोप की अर्थव्यवस्था में ..... का प्रमुख स्थान था।

ग) फ़्रांसीसी तथा औद्योगिक क्रांतियों के फलस्वरूप जो ..... यूरोप उभर कर सामने आया, उसने प्राचीन यूरोप के हर ..... पहलू को चुनौती दी।

## 1.3 समाजशास्त्र का उदय: सामाजिक परिस्थितियाँ

एक पृथक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र का उदय उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। यूरोप उस समय फ़्रांसीसी तथा औद्योगिक क्रांतियों के कारण अनंत परिवर्तनों के दौर से गुज़र रहा था। सच तो यह है कि समाजशास्त्र को नए औद्योगिक समाज का विज्ञान माना जा सकता है।

किन्तु फ़्रांसीसी क्रांति तथा औद्योगिक क्रांति का ब्यौरा देने से पूर्व आपको यूरोप में चौदहवीं से अट्ठारहवीं शताब्दी के बीच हुई वाणिज्यिक क्रांति एवं वैज्ञानिक क्रांति से अवगत कराना उचित होगा। यूरोप में इन्हीं दो क्रांतियों का काल "पुनर्जागरण युग" (renaissance) कहलाता है। इस युग में कला, साहित्य, संगीत, विज्ञान, मूर्तिकला आदि सभी विषयों को नया जीवन मिला।

### 1.3.1 वाणिज्यिक क्रांति

"वाणिज्यिक क्रांति" का संबंध सन् 1450 से लगभग सन् 1800 के बीच हुए घटनाक्रम से है। मध्यकालीन यूरोप की अर्थव्यवस्था में विकास की संभावनाएं बहुत सीमित थीं। इन घटनाओं ने मध्यकालीन यूरोप की एकदम ठहरी हुई तथा जड़ अर्थव्यवस्था को अधिक गतिशील और विश्वव्यापी प्रणाली का रूप प्रदान किया। वाणिज्यिक क्रांति का अभिप्राय पंद्रहवीं शताब्दी के बाद हुए व्यापार तथा वाणिज्य के विस्तार से है। यह विस्तार इतना व्यापक तथा सुव्यवस्थित था कि

इसे क्रांति का नाम दिया गया है। यह विस्तार वास्तव में कुछ यूरोपीय देशों द्वारा अपनी आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता को बढ़ाने तथा सुदृढ़ करने के लिए किए प्रयासों का परिणाम था। ये देश थे - पुर्तगाल, स्पेन, हॉलैंड और इंग्लैंड। आइए, अब हम वाणिज्यिक क्रांति के महत्वपूर्ण पहलुओं का अध्ययन करें, जैसे नए देशों की खोज तथा उन पर विजय। भारत, चीन जैसे प्राच्य अथवा पूर्वी देशों के साथ यूरोप का व्यापार स्थल मार्ग से होता था।

इटली के उत्तरी शहर वेनिस तथा जेनोआ व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। व्यापार पर इटली के एकाधिकार के कारण मसालों, रेशम आदि पूर्वी देशों से आयातित माल के मूल्य बहुत ऊंचे थे। इसलिए पुर्तगाल तथा स्पेन पूर्वी देशों के लिए ऐसे मार्ग की तलाश में थे, जो इटली के नियंत्रण से मुक्त हों।

इस प्रकार, स्थल-मार्ग की बजाय समुद्री मार्गों की ओर ध्यान दिया गया। पुर्तगाली समुद्री यात्राओं तथा नई खोजों में कुशल माने जाते थे। आपको मालूम ही होगा कि वास्को डि गामा अफ़्रीका के दक्षिणी तट से होता हुआ 1498 में भारतीय तट पर उतरा था।

इटलीवासी क्रिस्टोफ़र कोलम्बस भी स्पेन के राजा तथा महारानी के संरक्षण में भारत की खोज पर निकला था। किन्तु वह उत्तरी अमरीका जा पहुंचा। अमरीका की इस संयोगमय खोज से स्पेन को बहुत लाभ हुआ। इससे अमरीका पर स्पेन के साम्राज्य की नींव पड़ गई।

ब्रिटेन, फ्रांस तथा हॉलैंड भी स्पेन और पुर्तगाल का अनुसरण करने लगे। इसके फलस्वरूप भारत और अफ़्रीका के कुछ भाग, मलक्का, स्पाइस आइलैंड, वेस्ट इंडीज़ व दक्षिण अमरीका पर स्पेन, पुर्तगाल, इंग्लैंड, फ्रांस और हॉलैंड का आर्थिक नियंत्रण हो गया। व्यापार ने विश्व-व्यापी उद्यम का रूप ले लिया। इस बीच इटली के शहरों का एकाधिकार समाप्त हो गया।

यूरोपीय मंडियों में पूर्व से मसाले और कपड़ा, उत्तरी अमरीका से तम्बाकू, दक्षिण अमरीका से चॉकलेट, कोको और कुनीन तथा अफ़्रीका से हाथी दांत जैसी वस्तुएं खूब पहुँचने लगीं। इसके अतिरिक्त अफ़्रीका से लोगों को दास बनाकर भी लाया जाने लगा। अमरीका की खोज के बाद व्यापार का क्षेत्र और फैल गया। शुरू में दूसरे देशों से मसाले तथा कपड़ा आदि अधिक मंगाए जाते थे, किन्तु बाद में इस सूची में सोना और चांदी भी जुड़ गए।

वाणिज्यिक क्रांति के और आगे बढ़ने से पुर्तगाल तथा स्पेन की स्थिति कमज़ोर हो गई। यूरोप और विश्व में इंग्लैंड, हॉलैंड तथा फ्रांस का प्रभुत्व बढ़ गया।

### 1.3.1.1 बैंकिंग व्यवस्था का विस्तार

बैंकिंग का विकास वाणिज्यिक क्रांति का एक प्रमुख पहलू था। ऋण सुविधाओं का विस्तार किया गया, जिससे व्यापारियों के लिए समूचे यूरोप में व्यापार करना सरल हो गया। अट्ठारहवीं शताब्दी में "चैक" का आविष्कार हुआ। सोने और चांदी के सिक्कों के स्थान पर कागज़ की मुद्रा का चलन हो गया।

**कंपनियों का विकास:** व्यापार तथा वाणिज्य में लगातार वृद्धि को देखते हुए नए प्रकार के व्यापार संगठनों की आवश्यकता महसूस होने लगी। सोलहवीं शताब्दी में "नियमित" कंपनियाँ अस्तित्व में आईं। ये कंपनियाँ अपने-अपने उद्यमों में सहयोग के लिए इकट्ठे हुए व्यापारियों के संघ थे।

सत्रहवीं शताब्दी में "संयुक्त पूँजी" कंपनियों का उदय हुआ। इस व्यवस्था में पूँजी के शेयर (shares of capital) अनेक निवेशकों में बंटे रहते थे। इनमें से कुछ कंपनियाँ "चार्टर्ड कंपनियां" थीं, जिन्हें सरकार की ओर से क्षेत्र विशेष में व्यापार के एकाधिकार की गारंटी मिली हुई थी। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी तथा उच्च ईस्ट इंडिया कंपनी इसी प्रकार की कंपनियां थीं।

### 1.3.1.2 नए वर्ग का उदय

जैसा कि इस भाग में पहले संकेत किया जा चुका है, इस युग की एक प्रमुख विशेषता मध्यम वर्ग के हाथों में आर्थिक सत्ता का पहुँचना था। सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक लगभग सभी यूरोपीय देशों में मध्यम वर्ग प्रभावशाली वर्ग के रूप में उभर चुका था। इनमें व्यापारी, बैंकर, जहाज-मालिक, पूँजीनिवेशक आदि शामिल थे। इस स्तर पर आर्थिक शक्ति ही उनकी मुख्य ताक़त थी। इस इकाई में बाद में यह बताया जाएगा कि किस तरह उन्नीसवीं शताब्दी में यह वर्ग राजनीतिक दृष्टि से भी शक्तिशाली बन गया।

**विश्व का "यूरोपीकरण"**: "यूरोपीकरण" शब्द से हमारा अभिप्राय अन्य देशों द्वारा यूरोपीय तौर-तरीक़ों तथा संस्कृति को अपना लिए जाने से है। व्यापारियों, मिशनरियों और अमरीकी क्षेत्रों पर विजय ने अमरीका के यूरोपीकरण में सहयोग दिया। बाद में उपनिवेशबाद के कारण एशिया तथा अफ़्रीका में भी इस प्रक्रिया का प्रभाव हुआ। आगे बढ़ने से पहले सोचिए और करिए 1 पूरा कर लें।

**सोचिए और करिए 1**

आपने अभी चौदहवीं से अट्ठारहवीं शताब्दी के बीच यूरोप में हुई वाणिज्यिक क्रांति का ब्यौरा पढ़ा। अब आप प्राचीन भारतीय इतिहास पर एक पाठ्य-पुस्तक (यदि संभव हो तो ग्यारहवीं कक्षा के लिए आर.एस. शर्मा द्वारा लिखित राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद द्वारा प्रकाशित पुस्तक "*प्राचीन भारत*") पढ़िए और यह पता लगाइए कि क्या इस काल में भारत में भी इससे मिलती-जुलती कोई वाणिज्यिक गतिविधि हुई थी।

इस वाणिज्यिक गतिविधि पर लगभग एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए। यदि संभव हो तो अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों द्वारा लिखी गई टिप्पणियों से अपनी टिप्पणी की तुलना कीजिए।

इस काल में राजतंत्र मज़बूत हुआ, धर्म का प्रभाव कम हुआ और मध्यम वर्ग का उदय हुआ। यह "यूरोपीकरण" की प्रक्रिया की शुरूआत थी, जो उपनिवेशवाद के साथ शिखर पर पहुँच गई। इस प्रकार, यूरोप को आर्थिक विस्तार के नए क्षेत्र मिल गए और उसका आर्थिक प्रभुत्व सारे संसार तक फैल गया। आइए, अब हम वैज्ञानिक क्रांति का अध्ययन करें।

## 1.3.2 वैज्ञानिक क्रांति

इस भाग में हमने मानव जीवन के एक अत्यंत महत्वपूर्ण क्षेत्र, विज्ञान, में हुए विकास तथा परिवर्तन का अध्ययन किया है। "पुनर्जागरण काल" में यूरोप में "वैज्ञानिक क्रांति" हुई। इस वैज्ञानिक क्रांति के प्रभाव से न केवल मनुष्य के भौतिक जीवन में परिवर्तन हुआ, बल्कि प्रकृति और समाज के प्रति मनुष्य के विचारों में भी बदलाव आया।

सर्वप्रथम हमें स्पष्ट करना है कि "विज्ञान के इतिहास" से हमारा क्या अभिप्राय है, जिसका कि इस भाग में उल्लेख आएगा। विज्ञान के इतिहास का अर्थ घटनाओं और उनकी तिथियों की सूची मात्र ही नहीं है। यह एक ओर समाज, राजनीति, अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति और दूसरी ओर विज्ञान के बीच आदान-प्रदान का वृत्तांत है।

विज्ञान का अध्ययन उसके सामाजिक संदर्भ अथवा पृष्ठभूमि से अलग करके नहीं किया जा सकता। आइए, विज्ञान के सामाजिक प्रकार्यों की चर्चा करें।

### 1.3.2.1 विज्ञान के सामाजिक प्रकार्य

विज्ञान का विकास समाज से अलग होकर नहीं होता, बल्कि यह मानवीय आवश्यकताओं की प्रक्रिया में ही विकसित होता है। उदाहरण के लिए अनेक प्रकार के टीके (vaccines) यों ही

तैयार नहीं हो गए, बल्कि बीमारियों का इलाज करने की आवश्यकता होने पर उनका विकास किया गया। समाज के भौतिक जीवन को प्रभावित करने के साथ-साथ विज्ञान का विचारों से गहरा संबंध है। समाज में विद्यमान सामान्य बौद्धिक वातावरण विज्ञान के विकास को प्रभावित करता है। इसी प्रकार विज्ञान में नई प्रगति से अन्य क्षेत्रों में लोगों के दृष्टिकोण तथा आस्थाओं में परिवर्तन आ जाता है। इस तथ्य को ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है। आपको यह बराबर बताया जाएगा कि किस प्रकार नए वैज्ञानिक विचारों ने विद्वानों को समाज के बारे में नए ढंग से सोचने के लिए प्रेरित किया। यूरोप में समाजशास्त्र के उदय में विज्ञान द्वारा विकसित नए विचारों तथा खोजों ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

### 1.3.2.2 मध्यकाल में विज्ञान की स्थिति

जैसे कि हमने पिछले भाग में बताया है, मध्यकालीन समाज में सामंतवादी व्यवस्था हावी थी। सत्ता और ज्ञान का केंद्र-बिंदु धर्म था। शिक्षा मुख्यतया धार्मिक प्रवृत्तियों के बारे में ही दी जाती थी। धर्म की रूढ़ियों तथा विश्वासों को चुनौती देना कठिन था। ऐसे वातावरण में नए तथा साहसिक विचारों का उभरना असंभव सा था। इसलिए इस युग में विज्ञान की प्रगति की उपयोगिता केवल उत्पादन की तकनीकों को सुधारने तक सीमित थी।

### 1.3.2.3 पुनर्जागरण काल

"पुनर्जागरण काल" में वैज्ञानिक क्रांति की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। इससे विज्ञान के क्षेत्र में व्याख्या और समालोचना के युग का सूत्रपात हुआ। यह अतीत से एक स्पष्ट विच्छेद था और प्राचीन सत्ता के लिए एक चुनौती थी। आइए, अब हम इस काल में कला और विज्ञान की कुछ प्रमुख घटनाओं पर दृष्टिपात करें।

**चित्रकला:** इस युग में कला, साहित्य तथा विज्ञान सभी का विकास हुआ। प्रकृति और मानव शरीर के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित हुआ। यह तथ्य उस काल के उन चित्रों में झलकता है, जिनमें प्रकृति तथा मानव शरीर की सूक्ष्मताओं को चित्रित किया गया था।

**चिकित्सा:** चिकित्सा में जांच पड़ताल के लिए मृत मानव शरीर की चीड़-फाड़ करने की स्वीकृति दे दी गई। डॉक्टरों और चिकित्सकों ने शरीर की रचना का प्रत्यक्ष रूप से निरीक्षण किया। इस प्रकार, शरीर रचना विज्ञान (anatomy), शरीर क्रिया विज्ञान (physiology) तथा रोगविज्ञान (pathology) में पर्याप्त प्रगति हुई।

**रासायनिकी:** रासायनिकी का एक सामान्य सिद्धांत विकसित हुआ। ऑक्सीकरण (oxidation), अपचयन (reduction), आसवन (distillation), सम्मिश्रण (amalgamation) जैसी रासायनिक क्रियाओं का अध्ययन किया गया।

**समुद्र यात्रा तथा खगोल विद्या:** वास्को डि गामा 1498 में भारतीय तट पर पहुंचा। कोलम्बस ने 1492 में अमरीका की खोज की। आपको स्मरण होगा कि यही व्यापार के विस्तार तथा उपनिवेशवाद के प्रारम्भ का युग था। इसी समय खगोल विद्याा में भी लोगों की रुचि बढ़ी क्योंकि इस विद्या की समुद्र-यात्रा में महत्वपूर्ण भूमिका थी।

### 1.3.2.4 कॉपर्निकस क्रांति

डच वैज्ञानिक निकोलस कॉपर्निकस का सिद्धांत प्राचीन विचारधारा की समूची परम्परा से पहला प्रमुख विच्छेद था। यह आम धारणा थी कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य तथा अन्य नक्षत्र आदि उसके चारों ओर घूमते हैं (इसे "भूकेन्द्रिक" सिद्धांत कहा जाता है)।

किन्तु कॉपर्निकस का विचार भिन्न था। उसने विस्तृत व्याख्याओं की सहायता से यह सिद्ध किया

कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी उसके चारों ओर घूमती है (यह सूर्य केंद्रित सिद्धांत कहलाता है)। कॉपर्निकस के योगदान को क्रांतिकारी माना जाता है, क्योंकि उससे ब्रह्मांड के प्रति विचारधाओं में आमूल परिवर्तन हो गया। अब मनुष्य को ब्रह्माँड का केंद्र नहीं, बल्कि उसका एक अंश मात्र समझा जाने लगा।

सारांश यह है कि पुनर्जागरण काल में विज्ञान ने मनुष्य और प्रकृति के प्रति नए दृष्टिकोण को जन्म दिया। प्राकृतिक वस्तुएं निरीक्षण तथा परीक्षण का विषय बन गईं। कॉपर्निकस क्रांति ने उस आधार को ही धराशायी कर दिया, जिस पर पुराना विश्व खड़ा था। आइए, अब हम पुनर्जागरण युग के बाद में हुए कुछ प्रमुख वैज्ञानिक परिवर्तनों का अवलोकन करें।

## 1.3.3 पुनर्जागरण युग के बाद के महत्वपूर्ण परिवर्तन

यहाँ हमने वैज्ञानिक शोध के क्षेत्र में उपजे नये परिप्रेक्ष्यों एवं तरीक़ों से प्रेरित हुई नवीन विकासधारा का वर्णन किया है।

### 1.3.3.1 भौतिकी तथा गणित में प्रयोग

गैलीलियो गैलीली (1569-1642), जोहनिस केप्लर (1571-1630) तथा बाद में आइसक न्यूटन (1642-1727) जैसे भौतिकी वैज्ञानिकों तथा गणितज्ञों की उपलब्धियों से विज्ञान के स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। इससे प्रायोगिक पद्धति (experimental method) को प्राथमिकता मिलने लगी।

इसके फलस्वरूप पुराने विचारों को चुनौती दी गई तथा वैकल्पिक विचार सुझाए गए। ये वैकल्पिक विचार सिद्ध हो जाने पर और बार-बार परीक्षण सफल हो जाने पर स्वीकृत कर लिए जाते थे। ऐसा न होने पर नए समाधान खोजे जाते थे।

इस प्रकार, वैज्ञानिक विधियों को सबसे सही और निष्पक्ष माना जाने लगा। एक विषय के रूप में समाजशास्त्र के उदय का अध्ययन करते समय यह स्पष्ट होगा कि समाज के अध्ययन के लिए इन "वैज्ञानिक पद्धतियों" के उपयोग को किस तरह सही बताया गया है।

### 1.3.3.2 जीव विज्ञान तथा विकासवाद का सिद्धांत

जैसा कि पहले बताया गया है, मृत मानव शरीर की चीड़-फांड़ से शरीर की रचना और क्रिया को बेहतर ढंग से समझने में सहायता मिली। विलियम हार्वे (1578-1657) ने रक्त के प्रवाह की खोज की। इससे कई प्रकार के नए चिंतन को बल मिला। मनुष्य के शरीर को अब एक-दूसरे के जुड़े अवयवों और परस्पर सम्बद्ध प्रणालियों के संदर्भ में देखा जाने लगा। इस नए ज्ञान का कॉम्ट, स्पेंसर, दर्खाइम तथा अन्य विद्वानों के सामाजिक चिंतन पर गहरा प्रभाव पड़ा। आइए, अब हम जीव विज्ञान के एक अत्यंत रोचक योगदान की चर्चा करें, जिसने उस समय के समाज को उत्तेजित कर दिया था।

ब्रिटिश वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन (1809-1882) ने 1859 में अपनी पुस्तक *"ओरिजिन ऑफ़ स्पीशीज़"* प्रकाशित की। यह पुस्तक उनके विश्व भर के पांच वर्ष लंबे भ्रमण के अनुभवों पर आधारित थी। डार्विन ने यह सिद्धांत प्रस्तुत किया कि पृथ्वी पर उपलब्ध सीमित संसाधनों के उपभोग के लिए विभिन्न जीव एक दूसरे से होड़ करते रहते हैं। इसलिए "सर्वोपयुक्त का जीवित रहना" प्राकृतिक नियम है। कुछ जीव ऐसी विशेषताएं विकसित कर लेते है, जिनके कारण उनका अस्तित्व बना रहता है, जबकि अन्य जीव (स्पीशीज़) लुप्त हो जाते हैं।

डार्विन ने मानवीय विकास का अध्ययन किया, जिसका उल्लेख उसकी पुस्तक *"डिसेंट ऑफ़ मैन"* (1863) में किया गया है। उसने कहा कि मनुष्य का पूर्वज बंदर जैसा प्राणी था, जिसका

अनेक शताब्दियों में मनुष्य के रूप में विकास हुआ है। इस पुस्तक ने समाज को उत्तेजित कर दिया। इससे पहले यह माना जाता था कि ईश्वर ने ही अपनी छवि में मनुष्य की रचना की है। रूढ़िवादियों ने इस मान्यता को अस्वीकार कर दिया कि मनुष्य की उत्पत्ति बंदर से हुई है।

किंतु डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत को व्यापक स्वीकृति मिली। विकासवादी विचारकों, विशेषकर हर्बर्ट स्पेंसर, ने इस सिद्धांत को सामाजिक जगत पर लागू किया। स्पेंसर का मत था कि न केवल जीव बल्कि समाज का भी निम्न अवस्था से उच्च अवस्था की ओर विकास होता है। अब तक आपको स्पष्ट हो गया होगा कि वाणिज्यिक क्रांति तथा वैज्ञानिक क्रांति ने किस प्रकार परिवर्तनकारी शक्तियों को गति दी।

अब फ्रांसीसी क्रांति तथा औद्योगिक क्रांति के मुख्य पहलुओं की चर्चा की जाएगी। इन दोनों क्रांतियों ने ऐसी सामाजिक परिस्थितियां पैदा की जिनके फलस्वरूप समाजशास्त्र का उदय हुआ। भाग 1.4 में फ्रांसीसी क्रांति तथा 1.5 में औद्योगिक क्रांति पर विस्तृत चर्चा की गई है।

**बोध प्रश्न 2**

i) यूरोप में हुई वाणिज्यिक क्रांति की विवेचना दस पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) "वैज्ञानिक क्रांति" के दौरान हुए कम से कम दो परिवर्तनों का वर्णन कीजिए, अपना उत्तर आठ पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

iii) नीचे दिये गए वाक्यों में ख़ाली स्थान भरिए।

क) समाजशास्त्र को नए ..... समाज का विज्ञान माना जा सकता है।

ख) एक पृथक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र का उदय ..... शताब्दी में हुआ।

ग) वाणिज्यिक क्रांति तथा वैज्ञानिक क्रांति यूरोप के इतिहास के ..... काल में हुई।

## 1.4 फ्रांसीसी क्रांति

1789 में हुई फ्रांसीसी क्रांति स्वतंत्रता तथा समानता के लिए मानव संघर्ष के इतिहास को नया मोड़ देने वाली घटना सिद्ध हुई। इस क्रांति ने सामंतवाद के युग को समाप्त करके नई समाज व्यवस्था का सूत्रपात किया। हमने यहां इस क्रांति की रूपरेखा प्रस्तुत की है, जिससे आपको यह स्पष्ट हो जायेगा कि उस समय यूरोप में किस प्रकार की उथल-पुथल हुई थी। इस क्रांति से केवल फ्रांसीसी समाज में ही नहीं बल्कि समूचे यूरोपीय समाज में दूरगामी परिवर्तन हुए। और तो और, अन्य महाद्वीपों के देश जैसे भारत भी इस क्रांति से उपजे विचारों से अछूते नहीं रहे। स्वतंत्रता, भ्रातृत्व तथा समानता जैसे विचार, जो अब हमारे संविधान की प्रस्तावना में उल्लिखित

हैं, फ़्रांसीसी क्रांति की ही देन हैं। आइए, सबसे पहले हम इस क्रांति के कुछ पहलुओं की समीक्षा करें।

### 1.4.1 फ़्रांसीसी समाज का बुनियादी स्वरूप

फ़्रांसीसी समाज सामंतवादी संपत्ति समूहों (एस्टेटों) में बंटा हुआ था। सामंतवादी फ़्रांसीसी समाज के तीन एस्टेट थे। सामंतवादी यूरोपीय समाजों में "एस्टेट" संस्तरण की एक प्रणाली है, जिसके आधार पर एक वर्ग या एस्टेट का दूसरे वर्गों से स्तर, अधिकार, प्रतिबंधों आदि की दृष्टि से अंतर स्पष्ट होता है।

क) **प्रथम सम्पत्ति समूह या एस्टेट:** इसमें धर्म नेता शामिल थे और यह समूह भी आगे विभिन्न स्तरों में विभाजित था, जिन्हें कार्डिनल, आर्क बिशप, बिशप, ऐबट आदि कहा जाता था। वे बहुत वैभवपूर्ण जीवन बिताते थे और वास्तव में धर्म की ओर बहुत कम ध्यान देते थे। सच तो यह है कि उनमें कुछ लोगों को धार्मिक जीवन की बजाय राजनीतिक जीवन अधिक पसंद था। उनका अधिकतर समय मद्यपान, जूआ आदि विलासितापूर्ण गतिविधियों में बीतता था। उच्च धर्मनेताओं की तुलना में छोटे स्तर के पादरियों को अधिक काम करना पड़ता था तथा निर्धनता की मार भी झेलनी पड़ती थी।

ख) **दूसरा सम्पत्ति समूह या एस्टेट:** इस वर्ग में 'नोबल' थे। नोबल की दो श्रेणियां थी। पहली श्रेणी के नोबल शस्त्रों से तथा दूसरी श्रेणी के नोबल वस्त्रों से पहचाने जाते थे। पहले श्रेणी के नोबल बड़े-बड़े भूस्वामी थे। वे सिद्धांतिक रूप से जनता के रक्षक थे किंतु वास्तव में वे शोषक थे और सारा काम किसानों से लेते थे। वे बड़ी शान-शौकत की ज़िन्दगी बसर करते थे और फ़िजूलख़र्ची उनकी पहचान थी। वे खुद कोई काम नहीं करते थे। उनकी तुलना भारत के सामंती ज़मीदारों से की जा सकती है।

दूसरी श्रेणी के नोबल जन्म से नोबल नहीं थे, बल्कि उन्हें नोबल की पदवी दी जाती थी। वे मजिस्ट्रेट तथा न्यायाधीश थे। इनमें से कुछ लोग उदार तथा प्रगतिशील थे, क्योंकि वे आम लोगों के तीसरे सम्पत्ति समूह से ही उन्नति करके इन पदों पर पहुंचे थे।

ग) **तीसरा सम्पत्ति समूह या एस्टेट:** समाज के शेष लोग इस तीसरे वर्ग में शामिल थे। इनमें किसान, व्यापारी, कारीगर तथा अन्य लोग थे। धर्म नेताओं तथा नोबल वर्ग की तुलना में किसानों की अवस्था बदतर थी। किसान रात-दिन परिश्रम करते थे और उन्हें भारी कर भी देने पड़ते थे, जिससे वे कठिनाई से गुज़र-बसर कर पाते थे। वे ही पूरे समाज के लिए अन्न उपजाते थे। परंतु सरकार की ओर से कोई संरक्षण न होने के कारण उनका जीना दूभर था। राजा भी अन्य दो वर्गों अर्थात् धर्मनेता तथा नोबल को खुश करने के लिए इस तीसरे वर्ग का शोषण करता रहता था। किसान उनके सामने एकदम लाचार थे, जबकि धर्मनेता तथा नोबल राजा की जी-हजूरी करते थे। किसानों के मुकाबले मध्यम वर्ग की दशा काफ़ी बेहतर थी। बुर्जुआ कहलाने वाले इस वर्ग में व्यापारी, बैंकर, वकील, उत्पादक आदि शामिल थे। ये लोग भी तीसरे समूह में थे। 1720-1789 के दौरान शासन की निर्धनता के कारण क़ीमतों में तेज़ी से वृद्धि हुई, जिससे इस मध्यम वर्ग को नुक़सान की बजाय लाभ हुआ। उन्होंने इस मूल्य-वृद्धि का भरपूर फ़ायदा उठाया। तब तक फ़्रांसीसी व्यापार में भी विस्तार होने लगा था, जिसके कारण वाणिज्यिक वर्गों को बहुत लाभ हुआ। इस प्रकार यह वर्ग अमीर बन गया। इसके बावजूद पहले तथा दूसरे सम्पत्ति समूह की तुलना में इनकी सामाजिक प्रस्थिति बहुत ही निम्न थी। व्यापार, उद्योग, बैंकिंग आदि पर नियंत्रण हो जाने पर भी दरबार या प्रशासन में बुर्जुआ वर्ग का कोई प्रभाव नहीं था। पहले दोनों सम्पत्ति समूह उन्हें हीन समझते थे और राजा उनकी तरफ़ ध्यान नहीं देता था। इसलिए उनके लिए राजसत्ता हासिल करना आवश्यक हो गया।

धर्मनेता तथा नोबल कुल आबादी का केवल दो प्रतिशत थे, किंतु वे लगभग पैंतीस प्रतिशत सम्पत्ति के मालिक थे। किसानों की आबादी अस्सी प्रतिशत थी, किंतु उनके पास केवल तीस प्रतिशत सम्पत्ति थी। पहले दो समूह सरकार को कोई कर नहीं देते थे। दूसरी ओर, किसानों पर तरह-तरह के कर लगे हुए थे। वे गिरजाघरों और सामंतों को कर देने के साथ-साथ सरकार को भी आय कर, चुंगी कर, भूमि कर आदि देते थे। इससे पता चलता है कि उस समय किसान ग़रीबी तथा बदहाली से कितने त्रस्त थे। वे पहले दोनों सम्पत्ति समूहों का बोझ अपने कंधों पर उठाए हुए थे। इन सब हालातों के अतिरिक्त उस काल में क़ीमतों में भी अत्यधिक वृद्धि हुई। 1720-1789 के दौरान सभी वस्तुओं की क़ीमतों से लगभग पैंसठ प्रतिशत बढ़ोतरी हुई थी।

### 1.4.2 फ़्रांसीसी समाज के राजनीतिक पहलू

जैसा कि हर जगह था फ़्रांस के राजतंत्र में भी राजा के शासन करने के दैविक अधिकार को मान्यता प्राप्त थी। लगभग दो सौ वर्षों तक फ़्रांस पर बोर्बन राजवंश ने शासन किया। राजा के शासन में आम लोगों को किसी तरह का व्यक्तिगत अधिकार प्राप्त नहीं था। उनका काम केवल तरह-तरह से राजा तथा नोबल वर्ग की सेवा करना था। राजा का हुक्म ही क़ानून था और राजा के आदेश पर किसी को भी गिरफ़्तार किया जा सकता था तथा इसके लिए मुकदमे आदि की कोई ज़रूरत नहीं होती थी। अलग-अलग इलाक़ों में अलग-अलग क़ानून लागू थे, जिससे भ्रम तथा मनमानी का माहौल बना रहता था। राजा की आय और राज्य की आय से एक ही अभिप्राय होता था अर्थात् सरकार की आय ही राजा की आय होती थी।

### 1.4.3 फ़्रांसीसी समाज के आर्थिक पहलू

लुई-14 के शासन काल से ही फ़्रांस के राजाओं ने कई लड़ाइयाँ लड़ी जिनमें काफ़ी धन व्यर्थ हुआ। 1715 में लुई-14 की मृत्यु के समय फ़्रांस की आर्थिक स्थिति बहुत कमज़ोर हो चुकी थी। लुई-15 हालत में सुधार लाने की बजाय महाजनों से ऋण लेकर काम चलाने लगा। फ़्रांस उस समय कितने गहरे संकट से गुजर रहा था, इसकी व्याख्या लुई-15 के मशहूर कथन "मेरे बाद प्रलय" (after me the deluge) से स्पष्ट हो जाती है। लुई-16 एकदम कमज़ोर तथा प्रभावहीन राजा था, जिसे फ़्रांस की दिवालिया सरकार विरासत में मिली थी। उसकी पत्नी महारानी मारी आन्तोनेत अपनी फ़िज़ूलख़र्ची के साथ-साथ एक इतिहास प्रसिद्ध वाक्य के लिए भी जानी जाती है। यह वाक्य (उत्तर) उसने फ्रांस की भूखी जनता के सामने तब बोला था जब खाना माँगने के लिये जनता महल के बाहर इकट्ठी हुई थी। महारानी ने कहा था "यदि तुम्हारे पास ब्रेड (रोटी) नहीं है तो केक खा लो।"

आइए, अब हम फ़्रांस के उस बौद्धिक विकास का विवेचन करें, जो अंतत: क्रांति की प्रज्वलित शक्ति सिद्ध हुआ।

### 1.4.4 फ़्रांस में बौद्धिक विकास का सिलसिला

अट्ठारहवीं शताब्दी में अन्य यूरोपीय देशों की भांति फ़्रांस ने भी तर्क और बुद्धिवाद के युग में प्रवेश किया। उस समय के कुछ प्रमुख दार्शनिक तर्कवादी थे, जिनका यह विश्वास था कि सत्य को तर्क के आधार पर प्रमाणित किया जा सकता है। इन दार्शनिकों के विचारों का फ़्रांसीसी लोगों पर काफ़ी प्रभाव पड़ा। इनमें से कुछ थे - मांटेस्क्यू (1689-1755), लॉक (1632-1704), वॉल्टेयर (1694-1778) तथा रूसो (1712-1778)।

मांटेस्क्यू ने अपनी पुस्तक, *द स्पिरिट ऑफ़ द लॉ*, में यह विचार व्यक्त किया कि प्रशासनिक, विधायी और न्यायिक सत्ता का एक स्थान पर केन्द्रीयकरण नहीं होना चाहिए। वह अधिकारों के पृथकीकरण के सिद्धांत और व्यक्ति की स्वतंत्रता के पक्ष में था।

ब्रिटिश दार्शनिक लॉक की मान्यता थी कि प्रत्येक व्यक्ति के कुछ अधिकार हैं, जो किसी भी सत्ता द्वारा हथियाए नहीं जा सकते। ये अधिकार हैं: जीवन का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार। उसका यह मत था कि जो शासक अपनी जनता को इन अधिकारों से वंचित करे उसे हटा दिया जाना चाहिए और उसके स्थान पर ऐसे शासक को सत्ता सौंपी जानी चाहिए, जो इन अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ हो।

फ़्रांसीसी दार्शनिक वाल्टेयर ने धार्मिक सहिष्णुता और बोलने की स्वतंत्रता यानी फ़्रीडम ऑफ़ स्पीच का समर्थन किया। वह व्यक्तियों के बोलने तथा अभिव्यक्ति के अधिकारों के भी पक्ष में था।

रूसो ने अपनी विख्यात पुस्तक, *द सोशल कांट्रेक्ट*, में लिखा कि किसी देश की जनता को अपना शासक चुनने का अधिकार है। उसका विश्वास था कि लोगों के व्यक्तित्व का विकास तभी संभव है, जब उनकी अपनी पसंद की सरकार हो ।

इन तथा अन्य प्रमुख विद्धानों के विचारों ने फ़्रांसीसियों की मानसिकता को झकझोर दिया। इसके अलावा, जो फ़्रांसीसी लोग ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ़ स्वतंत्रता की लड़ाई में अमरीका की सहायता के लिए भेजी गई फ़्रांसीसी फ़ौज में शामिल थे, वे अमरीका से समानता तथा अपनी सरकार स्वयं चुनने के अधिकार का विचार लेकर स्वदेश लौटे थे। स्वतंत्रता और समानता के इन विचारों ने फ़्रांसीसी मध्यम वर्ग को बहुत प्रभवित किया। अभी तक आपने फ़्रांसीसी क्रांति के दौरान समाज के बुनियादी स्वरूप के बारे में जानकारी प्राप्त की है। आइए, अब हम उस दौरान हुई कुछ मुख्य घटनाओं की चर्चा करें।

### 1.4.5 महत्वपूर्ण घटनाएं

i) फ़्रांस में 'एस्टेट जनरल' (Estate General) नाम की एक संसदीय संस्था थी जिसमें तीनों सम्पत्ति समूहों के प्रतिनिधि थे। किंतु 1614 के बाद उसकी कोई बैठक नहीं हुई थी। 1778 में लुई-16 को मजबूर होकर परिस्थिति में भेद किए बगैर सभी लोगों पर कर लगाने पड़े। राजा के विलासितापूर्ण खर्चों तथा अमरीका की स्वतंत्रता की लड़ाई में सहायता देने के फलस्वरूप फ़्रांसीसी सरकार दिवालिया हो चुकी थी।

जब धनी नोबल वर्ग पर भी कर लगाये गए तो उन्होंने एस्टेट जनरल की बैठक की मांग की, क्योंकि उनका विचार था कि कर लगाने का अधिकार केवल एस्टेट जनरल को है। 5 मई, 1789 को इस संस्था की बैठक हुई किंतु पिछली प्रणाली के विपरीत इस बार तीसरी एस्टेट के प्रतिनिधियों ने मांग की कि सभी सम्पत्ति समूहों के प्रतिनिधि एकत्र होकर एक सभा के सदस्यों के रूप में मतदान करें। किंतु पहले दो सम्पत्ति समूहों के लोग इसके लिए तैयार नहीं थे।

एक ही सभा में तीसरी एस्टेट के साथ बैठने से पहली दो एस्टेटों के इन्कार कर देने पर राष्ट्रीय असेम्बली का गठन हुआ। मध्यम वर्ग के नेताओं और कुछ उदार नोबलों के नेतश्त्व में हुई राष्ट्रीय असेम्बली की बैठक का कड़ा विरोध हुआ। 20 जून, 1789 को जब पेरिस के निकट वर्साई में निर्धारित बैठक के लिए सदस्य पहुँचे तो हाल पर ताला लगा था और राजा के सैनिक वहां पहरा दे रहे थे। इस पर राष्ट्रीय असेम्बली के सदस्यों ने अपने नेता बेली के नेतृत्व में निकट के एक भवन में, जो कि टेनिस का कोर्ट था, अपनी बैठक की। इसी बैठक में उन्होंने फ़्रांस के लिए नया संविधान बनाने की शपथ ली। फ़्रांसीसी क्रांति के आरम्भ का बिगुल बजाने वाली यह शपथ टेनिस कोर्ट की शपथ (Oath of the Tennis Court) के नाम से विख्यात है।

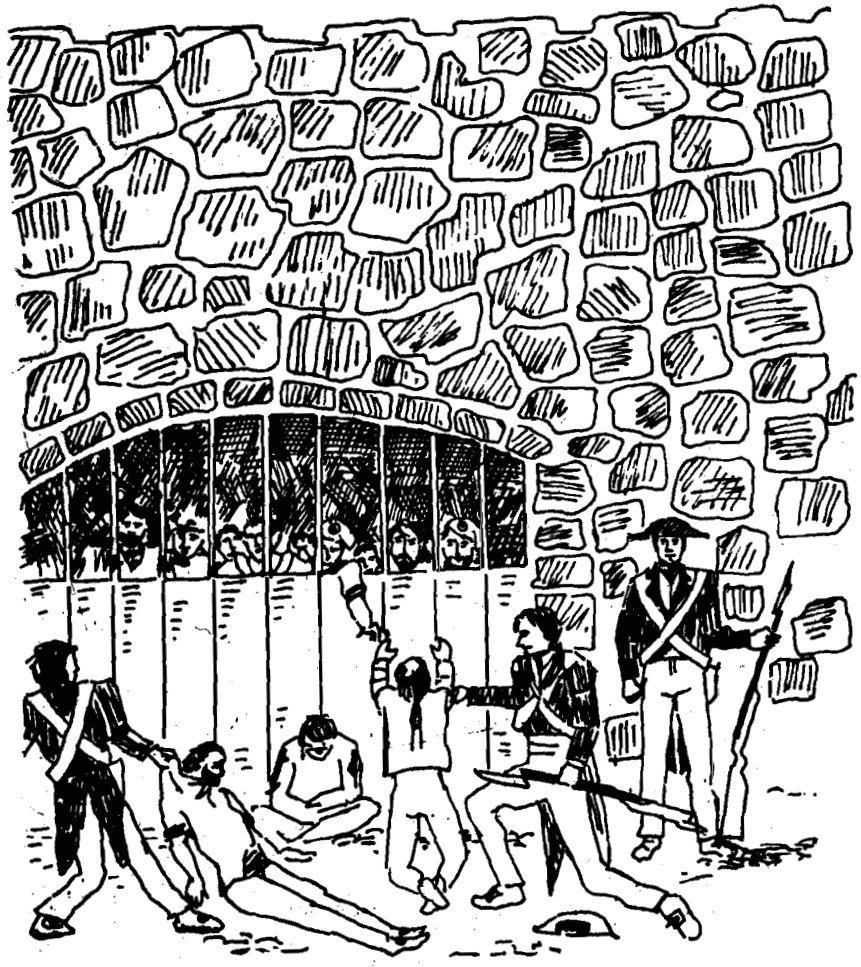

चित्र 1.1: बेस्टाइ जेल पर आक्रमण

ii) 14 जुलाई, 1789 को फ्रांसीसी क्रांति की एक अति महत्वपूर्ण घटना घटी। उस दिन एक पुरानी शाही जेल बेस्टाइ पर धावा बोल दिया गया। यह जेल दमन का प्रतीक था। मध्यम वर्ग के कुछ नेताओं के नेतृत्व में पेरिसवासियों की भीड़ ने जेल के फाटक खोल दिए और कैदियों को रिहा कर दिया (देखें चित्र 1.1: बेस्टाइ जेल पर आक्रमण)। इस घटना के पीछे दो कारण थे। एक था भोजन की कमी और दूसरा था एक लोकप्रिय मंत्री नेकर की बर्खास्तगी। शासक वर्ग, विशेषकर राजा, के खिलाफ़ पेरिस की जनता ने बगावत कर दी। फ्रांस में इस दिन को स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाया जाता है।

iii) संविधान सभा (1789-1791) ने मानव अधिकारों की घोषणा की। इस सभा में तीसरी एस्टेट के प्रतिनिधि तथा पहली दो एस्टेटों के **उदारवादी** सदस्य थे। इस घोषणा में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, धर्म की स्वतंत्रता तथा मनमाने दंड से मुक्ति की गारंटी का प्रावधान था। इसमें धर्म नेताओं तथा नोबल वर्ग के विशेष अधिकार समाप्त कर दिए गए। राजा के शासन करने के दैविक अधिकार की अब कोई मान्यता नहीं रही। कई और महत्वपूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन भी किए गए। इस घोषणा में कहा गया कि सभी व्यक्ति जन्म से समान है और कानून के सामने भी वे समान रहेंगे। लोगों को अपनी पसंद की सरकार चुनने तथा दमन का विरोध करने का अधिकार है। सभी लोगों को व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया। इस प्रकार, स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के विचारों को इस घोषणा में गौरवान्वित किया गया। स्वतंत्रता और समानता से पुराने सामंतवादी समाज में पाए जाने वाले पैतृक विशेषाधिकारों, दासता और तानाशाही के युग का अंत हो गया।

iv) 1791 में राजा ने फ्रांस से भागने का प्रयास किया, किंतु सीमा पर लोगों ने उसे पहचान लिया और वापस लाकर राजा को बंदी बना लिया गया।

v) पेरिस में नई लेजिस्लेटिव असेम्बली (1791-1792) का गठन किया गया, इसमें गिरोंडिन (Girondin) तथा जैकोबिन (Jacobin) नाम के दो महत्वपूर्ण समूह शामिल थे। ये समूह राजा को देशद्रोही मानते थे और गणराज्य की स्थापना के समर्थ थे।

vi) देशद्रोह का अपराधी पाए जाने के बाद 21 जनवरी, 1793 को राजा लुई-16 की लोगों के सामने गिलोटिन यानी सिर काटकर हत्या कर दी गई। बाद में उसी वर्ष महारानी मारी आन्तोनेत को भी मौत के घाट उतार दिया गया। फ्रांस को गणराज्य घोषित कर दिया गया।

vii) फ्रांस में "आंतक का दौर" (Reign of Terror) नामक एक युग आया, जिसमें अनेक नोबलों, पादरियों तथा कुछ क्रांतिकारियों को भी मृत्युदंड दिया गया। यह दौर तीन वर्ष तक चला।

viii) 1795 में डायरेक्टोरेट की स्थापना की गई। चार वर्ष बाद 1799 में निकट के एक द्वीप कोर्सिका के एक युवा सैनिक अधिकारी ने डायरेक्टोरेट का तख़्ता पलट दिया। इस युवक का नाम नेपोलियन बोनापार्ट था। वह खुद डायरेक्टर बन गया और उसने फ्रांस में स्थिर सरकार उपलब्ध कराई, जिसकी फ्रांसवासी लंबे समय से कामना कर रहे थे। इस प्रकार डायरेक्टोरेट को सत्ता से हटाने वाले नेपोलियन बोनापार्ट के समय में फ्रांसीसी क्रांति का पटाक्षेप हुआ।

उपरोक्त विवरण से आपको मोटे तौर पर यह समझ में आ गया होगा कि फ्रांसीसी क्रांति क्या थी और मानव सभ्यता के विकास में इसकी भूमिका कितनी महत्वपूर्ण रही। इस क्रांति ने यूरोपीय समाज के राजनीतिक स्वरूप को बदल डाला। सामंतवाद के युग के स्थान पर **लोकतंत्र** के युग का सूत्रपात हुआ। इस क्रांति के कारण ऐसे अनेक नए विषय उभरे, जिनपर प्रारंभिक समाजशास्त्रियों ने विचार किया। इन महत्वपूर्ण विषयों में सम्पत्ति का सामूल रूपांतरण भी एक विषय है। राजनीतिक ढाँचे में परिवर्तन से जो सामाजिक अव्यवस्था पैदा हुई, उसने आर्थिक ढाँचे को भी प्रभावित किया। उस समय एक नया सत्ताधारी वर्ग, बुर्जुआ वर्ग, उभर रहा था। इस विषय पर अधिक जानकारी अगले भाग में दी जा रही है। आइए, नई लहर के बारे में जानने हेतु हम पहले औद्योगिक क्रांति का विवेचन करें।

## 1.5 औद्योगिक क्रांति

औद्योगिक क्रांति 1760 के आसपास ब्रिटेन में प्रारंभ हुई। औद्योगिक क्रांति से पहले इंग्लैंड, फिर अन्य यूरोपीय देशों तथा बाद में अन्य महाद्वीपों में भी लोगों के सामाजिक और आर्थिक जीवन में जबरदस्त बदलाव आया। विशेषकर इंग्लैंड द्वारा नए क्षेत्रों की खोज व इसके साथ-साथ व्यापार एवं वाणिज्य में वृद्धि तथा इसके फलस्वरूप शहरों में विकास के कारण यूरोप में चीज़ों की मांग बढ़ने लगी। कपड़ा जैसी परंपरागत उपभोक्ता वस्तुओं का निर्माण पहले घरेलू स्तर पर होता था। उत्पादन की घरेलू परंपरा प्रचलित थी। इसमें बदलाव आया।

### 1.5.1 नये अन्वेषण

औद्योगिक क्रांति के दौरान नए औज़ारों तथा नई तकनीकों का विकास हुआ, जिनसे व्यापक पैमाने पर वस्तुएं तैयार हो सकती थीं। 1760 से 1830 के बीच औज़ारों, तकनीकों और उत्पादन के प्रबंध में कई नए आविष्कार हुए जिनसे उत्पादन की फ़ैक्टरी प्रणाली अस्तित्व में

आई। इस प्रकार उत्पादन की सामंतवादी प्रणाली के स्थान पर पँजीवादी प्रणाली विकसित हुई। उद्योगपतियों का वर्ग उभर कर सामने आया, जिसने औद्योगिक प्रणाली को नियंत्रित किया। इस क्रांति के कारण समाज में हाथ से बनी वस्तुओं का पुराना युग समाप्त हो गया और यंत्र-निर्मित वस्तुओं के नए युग का आगमन हुआ।

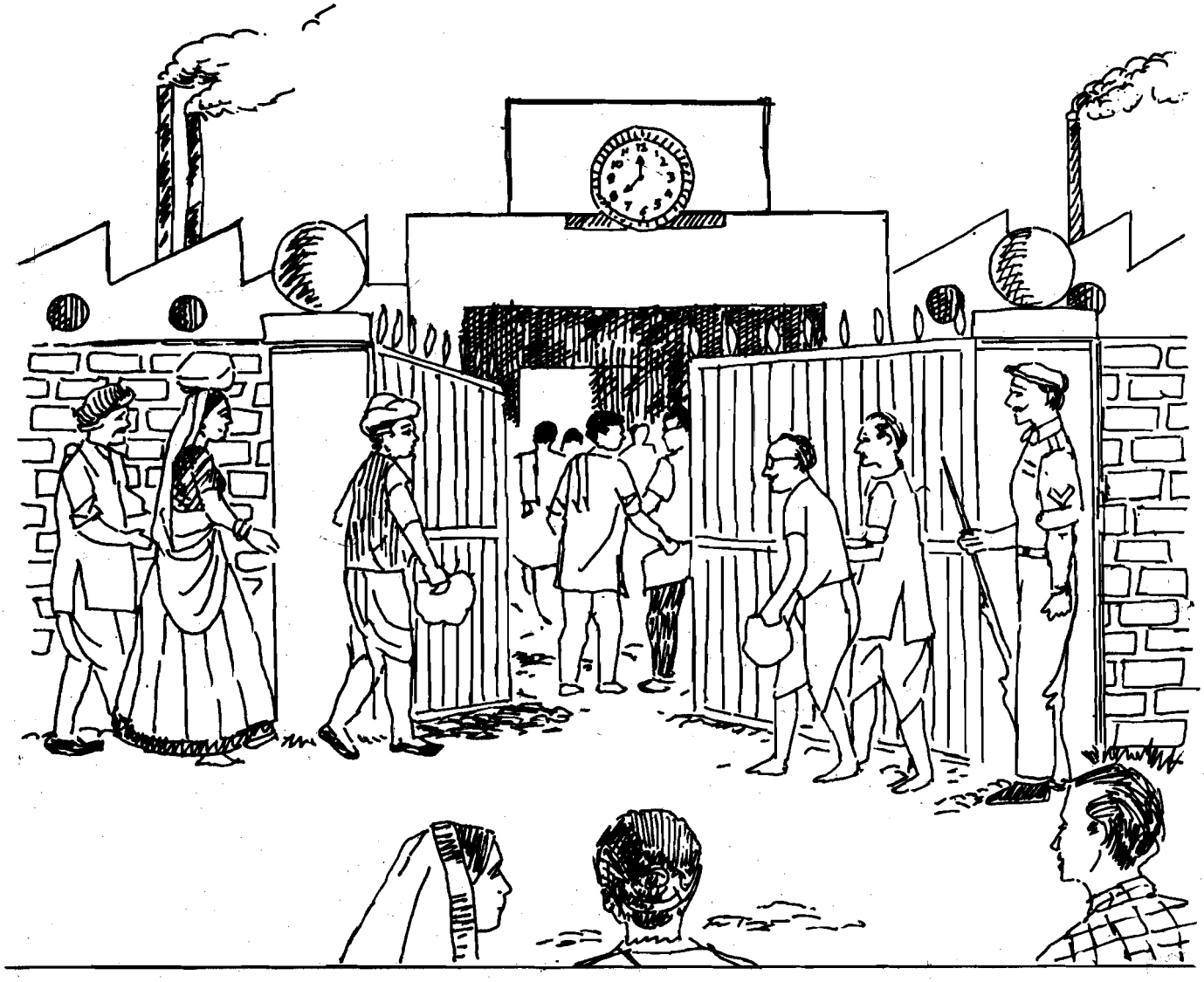

**चित्र 1.2: घरेलू उत्पादन से औद्योगिक उत्पादन की तरफ़ परिवर्तन**

जो महत्वपूर्ण यांत्रिक आविष्कार हुए, उमें से कछ का परिचय यहाँ दिया जा रहा है। 1767 में एक अंग्रेज़ बुनकर जेम्स हारग्रीव्स ने स्पिनिंग जेनी का आविष्कार किया। यह एक आयताकार सरल मशीन थी। इसमें कई कतुए (spindles) लगे थे, जिन्हें एक ही कताई चक्र से चलाया जा सकता था। 1769 में एक अंग्रेज़ नाई आर्कराइट ने वाटर फ्रेम मशीन ईजाद की। यह मशीन इतनी बड़ी थी कि इसे घर में रखना मश्किल था इसलिए इसे लगाने के लिए विशेष इमारत की ज़रूरत पड़ी। यहीं से फ़ैक्टरी प्रणाली का सूत्रपात हुआ (देखें चित्र 1.2: घरेलू उत्पादन से औद्योगिक उत्पादन की तरफ़)। 1779 में सैमुअल क्रांप्टन ने इंग्लैंड में "म्यूल" नाम की एक एक और मशीन बनाई। इनके अतिरिक्त और भी अनेक आविष्कार हुए, जिन्होंने यूरोपीय समाज के औद्योगिक विकास में योगदान दिया।

**सोचिए और करिए 2**

आपने अभी समाज तथा समाज में उपजे विचारों के बीच संबंधों के बारे में पढ़ा है। आपको चौदहवीं से अट्ठारहवीं शताब्दी के दौरान तथा फ्रांसीसी क्रांति और औद्योगिक क्रांति के काल में यूरोप में हुए सामाजिक परिवर्तनों की भी जानकारी मिली।

इन विचारों तथा परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए भारतीय समाज के कम से कम दो ऐसे उदाहरण बताइए जब विचारों ने समाज को अथवा समाज ने विचारों को प्रभावित किया हो।

"समाज और विचार" विषय पर लगभग एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए। यदि संभव हो तो अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों द्वारा लिखी गई टिप्पणियों से अपनी टिप्पणी की तुलना कीजिए।

### 1.5.2 समाज और औद्योगिक क्रांति का प्रभाव

समाज की अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के फलस्वरूप अनेक सामाजिक परिवर्तन होने लगे। पँजीवाद के और जटिल बन जाने पर बैंक, बीमा कम्पनियों, वित्तनिगम आदि का गठन हुआ। इसके फलस्वरूप औद्योगिक कामगारों, प्रबंधकों तथा पूँजीपतियों का नया वर्ग उभरा।

औद्योगिक समाज में अन्य लोगों की भांति कपड़ा मिल में किसान भी सूत लपेटने लगे। गांवों के खुले वातावरण की बजाय वे तंग और दूषित माहौल में रहने लगे। उत्पादन बढ़ने से जनसंख्या में वृद्धि होने लगी। इससे शहरीकरण में तेज़ी आ गई। औद्योगिक शहरों की संख्या बड़ी तेज़ी से बढ़ने लगी। औद्योगिक शहरों में आर्थिक-सामाजिक विषमता बहुत अधिक थी। कारखानों के कारीगरों का रोज़ एक-ही तरह का काम करने से मनउचाट होता था और उन्हें अपने काम से संतुष्टि नहीं मिलती थी। मार्क्सवादी लहज़े में कहा जाए तो कामगार अपने ही श्रम से उत्पादित वस्तु से कट गया। औद्योगिक समाज में शहरी जीवन एकदम अलग तरह का नीरस जीवन हो गया।

परंपरावादी तथा परिवर्तनवादी दोनों तरह के विचारकों पर इन परिवर्तनों का प्रभाव पड़ा। परंपरावादियों को आशंका हुई कि इन स्थितियों से अराजकता और अव्यवस्था फैलेगी। ऐंगल्स जैसे परिवर्तनकारी चिंतकों का विचार था कि औद्योगिक श्रमिकों द्वारा सामाजिक परिवर्तन का सिलसिला शुरू होगा। यद्यपि सामाजिक चिंतकों में मूल्यों के प्रति दृष्टिकोण में भिन्नता थी किंतु इस बारे में सभी एकमत थे कि औद्योगिक क्रांति का बहुत ज़ोरदार असर हुआ है। अधिकारों के लिए श्रमिक वर्ग के संघर्ष में निरंतर वृद्धि होती गई।

### 1.5.3 औद्योगिक क्रांति के महत्वपूर्ण विषय

प्रारंभिक समाजशास्त्रियों ने इस क्रांति के जिन महत्वपूर्ण विषयों पर चिंतन किया, वे इस प्रकार हैं

1) **श्रमिकों की स्थिति:** कारख़ानों में काम करके अपनी आजीविका कमाने वालों का एक नया वर्ग उभरा। प्रारंभिक वर्षों में इन लोगों ने ग़रीबी तथा बदहाली में अपनी ज़िंदगी गुज़ारी। सामाजिक दृष्टि से वे उपेक्षित थे। किंतु साथ ही नई औद्योगिक व्यवस्था में उनकी भूमिका अनिवार्य थी। इससे वे शक्तिशाली सामाजिक ताक़त बन गए। समाजशास्त्रियों ने कहा कि इस वर्ग की निर्धनता स्वाभाविक निर्धनता नहीं बल्कि सामाजिक विपन्नता थी। इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी में श्रमिक वर्ग नैतिक तथा चिंतन दोनों दृष्टियों से विचार का विषय बन गया।

2) **ग़रीबी का रूपांतरण:** औद्योगिक क्रांति के दौरान "भूमि" पर परम्परागत अधिकार का महत्व समाप्त हो गया तथा धन या पूँजी का महत्व बढ़ गया। नई औद्योगिक प्रणाली में पूँजी निवेश अधिक प्रभावी हो गया। सामंतवादी भूस्वामियों का ज़ोर कम होने लगा तथा सत्ता नए पूँजीपतियों के हाथ में पहुंच गई। यद्यपि इनमें से कई **पूँजीपति** पहले के भूस्वामी ही थे।

फ्रांसीसी क्रांति में भी जिन मुद्दों को उठाया गया, उनमें ग़रीबी एक प्रमुख समस्या थी। सामाजिक व्यवस्था पर उसका पर्याप्त प्रभाव था। ग़रीबी का सीधा संबंध सदैव ही आर्थिक विशेषाधिकारों, सामाजिक परिस्थिति और राजनीतिक सत्ता से है। सम्पत्ति के ढाँचे में परिवर्तन से समाज के बुनियादी स्वरूप में बदलाव आता है। मार्क्स, तोकविल्ल, ताइन और वेबर के समय से ही 'सम्पत्ति और सामाजिक वर्गीकरण पर संपत्ति का प्रभाव' जैसे प्रश्न समाजशास्त्रियों के लिए चर्चा का विषय बने रहे हैं।

3) **औद्योगिक नगर अर्थात् शहरीकरण:** शहरीकरण का अनिवार्य परिणाम औद्योगीकरण था। उद्योगों के विकास के साथ-साथ बड़ी-बड़ी बस्तियां, आधुनिक शहर एवं कस्बे बसने लगे। वैसे तो प्राचीन काल में भी रोम, एथेंस आदि नगर थे, किंतु नए नगर जैसे कि इंग्लैंड का वस्त्र उद्योग केंद्र मैनचेस्टर आदि अपने स्वरूप में प्राचीन नगरों से एकदम भिन्न थे। पुराने नगर सुसभ्य गरिमा तथा महत्व के लिए विख्यात थे, जबकि इन नए शहरों में दुःख और अमानवीयता का माहौल था। नए शहरों के इन्हीं पहलुओं को लेकर प्रारंभिक समाजशास्त्री चिंतित थे।

4) **प्रौद्योगिकी और कारखाना प्रणाली:** प्रौद्योगिकी तथा कारख़ाना प्रणाली पर उन्नीसवीं शताब्दी में असंख्य पुस्तकें लिखी गई। परंपरावादी तथा परिवर्तनवादी दोनों प्रकार के विचारकों ने अनुभव किया कि ये दोनों प्रणालियां मनुष्य के भावी जीवन को बहुत हद तक बदल देंगी।

प्रौद्योगिकी और कारख़ाना प्रणाली के कारण बड़ी संख्या में गांवों के लोग शहरों में बसने लगे। महिलाएं तथा बच्चे भी श्रमिकों के साथ कारख़ानों में काम करने लगे। इससे पारिवारिक संबंधों में बदलाव आ गया। कारख़ाने के सायरन की आवाज़ लोगों के जीवन की नियंता बन गई। काम पर मनुष्य की बजाय मशीन का प्रभुत्व हो गया। जैसे कि पहले भी कहा गया है कि श्रमिक तथा उसके श्रम के उत्पाद के बीच संबंध बदल गया। श्रमिक अब वेतन पाने के लिए काम करता था। वस्तु के प्रति किसी का अपनत्व भाव नहीं रहा था और वह मशीन की उत्पत्ति मानी जाती थी। उस पर फ़ैक्टरी के मालिक का ही अधिकार था। जीवन तथा काम में पहले की भांति पाये जाने वाला जुड़ाव समाप्त हो गया था।

**सोचिए और करिए 3**

फ्रांसीसी क्रांति और औद्योगिक क्रांति के महत्वपूर्ण विषयों के भागों का ध्यान से अध्ययन कीजिए। इस इकाई में दिए गए इन महत्वपूर्ण विषयों पर अपने समाज के संदर्भ में दो वरिष्ठ व्यक्तियों के साथ विचार-विमर्श कीजिए। भारतीय समाज के संदर्भ में इन में से किसी एक विषय पर एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए। उदाहरण के लिए "भारतीय समाज और श्रमिकों की स्थिति" शीर्षक लिया जा सकता है। यदि संभव हो तो अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणी से अपनी टिप्पणी की तुलना कीजिए।

मार्क्स के अनुसार, मनुष्य मशीन का गुलाम बन गया तथा इसके परिणामस्वरूप श्रमिक उत्पादन से अलगावित हो गया। समाजशास्त्रियों की राय थी कि उत्पादन की औद्योगिक प्रणाली के फलस्वरूप श्रमिक वर्ग बौद्धिक, मानसिक तथा व्यावहारिक रूप से यांत्रिक हो गया था। इन

विषयों के बारे में आपको इस पाठ्यक्रम के प्रस्तुत खंड तथा अन्य खंडों की इकाइयों में जानकारी मिलेगी। दर्खाइम, मार्क्स तथा वेबर जैसे अग्रणी समाजशास्त्रियों की रचनाओं में ये विचार बार-बार सामने आते रहे हैं।

**बोध प्रश्न 3**

i) औद्योगिक क्रांति के कारण यूरोप में हुए तीन परिवर्तनों की सूची दीजिए।

क) .....

ख) .....

ग) .....

ii) निम्नलिखित वाक्यों में ख़ाली स्थान भरिए।

क) औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था ..... से बदल कर पूँजीवादी हो गई।

ख) फ़्रांसीसी क्रांति से ..... विशेषाधिकारों और सामंतवाद पर आधारित राजनीतिक ढांचे का अंत हो गया।

ग) 14 जुलाई, 1789 का दिन फ़्रांस में ..... दिवस के रूप में मनाया जाता है।

## 1.6 समाजशास्त्र के उदय की धारा पर लक्षित बौद्धिक प्रभाव

अट्ठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान यूरोप में हुए परिवर्तनों के फलस्वरूप समाजशास्त्र का उदय हुआ। इसलिए प्रारंभिक समाजशास्त्रियों की रचनाओं में जिन विचारों का बार-बार उल्लेख मिलता है, वे अनिवार्यत: उसी युग से संबंधित हैं।

प्रारंभिक समाजशास्त्र मुख्यत: अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रबोधन के चिन्तकों से प्रभावित है। अत: प्रबोधन ही समाजशास्त्रीय सिद्धांत की उत्पत्ति के अध्ययन का सर्वाधिक उपयुक्त परिवर्तन-बिन्दु प्रतीत होता है। इस युग की तीन धारणाएं प्रमुख थीं।

पहली धारणा थी कि समाज के अध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण की शुरुआत प्रबोधन की परंपरा में हुई। प्राकृतिक विज्ञानों की विधियां अपनाते हुए अपने सभी पूर्ववर्ती विचारकों की तुलना से अधिक युक्तिसंगत ढंग से सामाजिक दशाओं का अट्ठारहवीं शताब्दी के विचारकों ने वैज्ञानिक अध्ययन प्रारंभ किया। मनुष्यों और उनकी प्रकृति तथा समाज का अध्ययन करने के लिए इन विचारकों ने विश्लेषण के वैज्ञानिक सिद्धांतों का इस्तेमाल किया।

दूसरी धारणा थी कि सामाजिक संस्थाओं तथा प्राकृतिक परिवेश से उनके संबंधों की उपयुक्तता को जांचने के लिए उन्होंने तर्क को मापदंड के रूप में अपनाया। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य अनिवार्य रूप से तर्कसंगत है और यह तार्किकता उसे विचार एवं कर्म की स्वतंत्रता दिला सकती है।

तीसरी धारणा थी कि उनका विश्वास था कि मनुष्य उत्कृष्टता प्राप्त करने में सक्षम हैं। सामाजिक परंपराओं की आलोचना करके तथा उन्हें बदलकर यह संभव हो जाता है कि वे अपने लिए अधिक मात्रा में स्वतंत्रता हासिल करें, जिसके फलस्वरूप उनकी सृजनात्मक शक्तियों को अधिक व्यावहारिक रूप मिल सकता है।

समाजशास्त्रीय चिंतकों ने ऊपर दी गई तीन धारणाओं पर विशेष ध्यान दिया था। इनके अतिरिक्त प्रबोधन युग के बाद की निम्नलिखित तीन अन्य बौद्धिक अवधारणाओं ने भी यूरोप में समाजशास्त्र के उदय को प्रभावित किया।

i) इतिहास का दर्शन

ii) विकास के जीव वैज्ञानिक सिद्धांत

iii) सामाजिक स्थितियों के सर्वेक्षण

ये तीन बौद्धिक दृष्टिकोण समाजशास्त्र के अग्रदूत सिद्ध हुए और प्रारंभिक समाजशास्त्रियों की रचनाओं में इनकी पूरी झलक मिलती है। आइए, इन तीनों अवधारणाओं की संक्षेप में चर्चा करें।

## 1.6.1 इतिहास का दर्शन

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में इतिहास का दर्शन एक महत्वपूर्ण बौद्धिक दृष्टिकोण बन गया। इस दर्शन की बुनियादी अवधारणा यह थी कि समाज सरल से जटिल अवस्था की ओर बढ़ने में निश्चय ही कई चरणों में से होकर गुज़रता है। समाजशास्त्र में इतिहास के दर्शन के योगदान का यहाँ संक्षिप्त मूल्यांकन किया जा सकता है। दार्शनिक स्तर पर इस धारणा ने विकास तथा प्रगति के विचार दिए हैं तथा वैज्ञानिक स्तर पर ऐतिहासिक युगों और सामाजिक प्ररूपों की अवधारणाएं प्रदान की हैं। अब्ब सेंट पियरे और गियाम्बातिस्ता जैसे समाजशास्त्रियों ने इतिहास के दर्शन का विकास किया। वे समाज के केवल आर्थिक, राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक पहलुओं के नहीं अपितु समूचे समाज के अध्ययन के लिए विचारशील थे (बोटोमोर 1962:14-15)। बाद में कॉम्ट, स्पेंसर, मार्क्स तथा अन्य अनेक विचारकों की समाजशास्त्रीय रचनाओं में भी इस बौद्धिक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

## 1.6.2 विकास के जीव वैज्ञानिक सिद्धांत

विकास के जीव वैज्ञानिक सिद्धांत ने इतिहास के दर्शन के प्रभाव को और पुष्ट कर दिया। समाजशास्त्र विकासवादी दृष्टिकोण की ओर अग्रसर होने लगा, जिसमें सामाजिक विकास के प्रमुख चरणों को जानने की कोशिश शामिल थी। इस दृष्टिकोण का स्वरूप जीव विज्ञान की तरह का था, जिसमें समाज की विस्तृत अवधारणा को एक जीव के रूप में माना गया। इसके साथ-साथ सामाजिक विकास की सामान्य पदावली निर्धारित करने के प्रयास भी किए गए। हर्बर्ट स्पेंसर तथा दर्खाइम इस प्रकार का चिंतन तथा लेखन करने वालों के अच्छे उदाहरण हैं।

## 1.6.3 सामाजिक परिस्थितियों के सर्वेक्षण

सामाजिक सर्वेक्षण आधुनिक समाजशास्त्र का महत्वपूर्ण तत्व है। इसका उदय दो कारणों से हुआ। एक कारण है: बढ़ता हुआ यह विश्वास कि प्राकृतिक विज्ञानों की अध्ययन विधियाँ मानवीय विषयों के अध्ययन पर लागू की जानी चाहिए और ये विधियाँ लागू की जा सकती हैं। इनके आधार पर मानवीय कार्यकलापों का वर्गीकरण तथा मूल्यांकन संभव है। दूसरा कारण है ग़रीबी के प्रति चिंता (सामाजिक समस्या) जो इस मान्यता पर आधारित है कि ग़रीबी प्राकृतिक नहीं बल्कि सामाजिक स्थिति है और सामाजिक सर्वेक्षण से इस समस्या का निदान कर पाना संभव है। सामाजिक सर्वेक्षण समाजशास्त्रीय अन्वेषण की एक प्रमुख विधि है। इस विधि का बुनियादी सिद्धांत यह है कि सामाजिक स्थितियों के ज्ञान से ही समाज में मौजूद सामाजिक समस्याओं को समझा जा सकता है तथा समझने के बाद उनके समाधान ढूँढे जा सकते हैं।

बोध प्रश्न 4

i) समाजशास्त्र के विकास में निम्नलिखित में से किन पहलुओं ने योगदान दिया है?

क) प्रबोधन

ख) प्राकृतिक विज्ञानों की प्रगति

ग) धार्मिक प्रभुत्व में वृद्धि

घ) राजतंत्र का दृढ़ होना

ङ) कारख़ाना प्रणाली

च) शहरी तंग या मलिन बस्तियों में वृद्धि

छ) ग़रीबी और गंदगी में बढ़ोत्तरी

ज) औद्योगिक क्रांति

झ) आधुनिक राज्य व्यवस्था का उदय

ट) व्यक्तिगत अधिकारों की धारणा

ठ) दैविक अधिकार की धारणा का पतन

ड) यह विश्वास कि समाज मानव-निर्मित है

ढ) यह विश्वास कि मनुष्य समाज को बदल सकता है

ii) किन दो बौद्धिक दृष्टिकोणों ने समाजशास्त्र के उदय को प्रभावित किया? अपना उत्तर दस पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 1.7 सारांश

इस इकाई में आपने पढ़ा कि सामाजिक स्थितियां लोगों के विचारों को किस प्रकार प्रभावित करती हैं। आपने देखा कि अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में हो रहे कुछ परिवर्तनों ने समाजशास्त्रियों के चिंतन को किस प्रकार प्रभावित किया। इस तरह समाजशास्त्र का विकास अनिवार्यत: समाज से प्रभावित होने वाले महान विचारकों के चिंतन के परिणामस्वरूप हुआ।

आपको औद्योगिक तथा फ्रांसीसी क्रांति के महत्वपूर्ण विषयों की समाजशास्त्रीय दृष्टि से जानकारी मिली। हमने यूरोप में समाजशास्त्र के उदय को प्रभावित करने वाले बौद्धिक दृष्टिकोणों अर्थात् इतिहास का दर्शन, विकास के जीव वैज्ञानिक सिद्धांत तथा सामाजिक स्थितियों के सर्वेक्षण की भी चर्चा की है।

## 1.8 शब्दावली

**पूँजीपति** — उत्पादन की औद्योगिक प्रणाली में पूँजी अर्थात् धन, सम्पति, औज़ार आदि उत्पादन के साधनों के स्वामी वर्ग को पूँजीपति (पूँजीवादी) कहा जाता है।

**लोकतंत्र** शासन की एक पद्धति जिसमें सत्ता सामूहिक रूप से लोगों में निहित रहती है। यह समाज का शासन है, जिसमें लोगों को राजनीतिक, सामाजिक और कानूनी अधिकारों की समानता दी जाती है।

**प्रबोधन (enlightenment)** इसका अभिप्राय यूरोपीय इतिहास के उस काल से है, जिसमें अठाहरवीं शताब्दी के फ्रांसीसी दार्शनिकों की चेतना का प्रभाव छाया था। इस युग में यह विश्वास पनपा कि प्रकृति और समाज, दोनों का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जा सकता है। इस दौरान मानवीय तार्किकता और प्रगति के विचार विकसित हुए।

**एस्टेट (सम्पत्ति समूह)** सत्रहवीं तथा अठाहरवीं शताब्दी के मध्यकालीन यूरोपीय समाज में प्रचलित सामाजिक वर्गीकरण की ऐसी व्यवस्था, जिसमें समाज विभिन्न सामाजिक समूहों में बंटा हुआ था, जिनके ऊपर अलग-अलग कानून लागू होते थे और जिनकी सामाजिक प्रस्थिति अलग-अलग थी।

**सामंतवादी (feudal)** कृषि क्षेत्रों में भूस्वामित्व की प्रणाली, जिसमें दास भूस्वामियों की सेवा करते थे। इसके बदले भूस्वामी दास को अपनी ज़मीन पर खेती करने तथा रहने की अनुमति देते थे।

**उदारवादी (liberal)** ऐसा व्यक्ति जो खुले विचारों का है और किसी सत्ता अथवा परंपरागत रूढ़िवादिता अर्थात् पुराने विश्वासों को वरीयता नहीं देता है।

## 1.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बर्जर, पी. 1963. *इनवीटेशन टु सोशियॉलॉजी: ए ह्यूमनिस्टिक पर्सपैक्टिव.* ऐंकर बुक्स डबलडे एंड कम्पनी: न्यूयार्क

बोटोमोर, टी.बी. 1962. *सोशियोलॉजी: ए गाइड टु प्राब्लम्स एंड लिट्रेचर.* जॉर्ज ऐलन एण्ड अनविन लिमिटेड: लंदन

इंक्लेस, ए. 1975. *वॉट इज़ सोशियोलॉजी?* प्रेंटिस हॉल: नई दिल्ली

## 1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) प्राचीन यूरोपीय समाज परंपरागत सामंतवादी समाज था, जिसमें भूमि ही मूल सम्पत्ति हुआ करती थी। धर्म समाज का मूल आधार था।

ii) क) उदारवादी, क्रांतिकारी
ख) भूमि
ग) नया, केन्द्रीय

**बोध प्रश्न 2**

i) सन् 1450 से 1800 के मध्यकालीन यूरोप की जड़ तथा ठहरी हुई अर्थव्यवस्था में

परिवर्तनकारी शक्तियों ने यूरोप में वाणिज्यिक क्रांति का सूत्रपात किया। इस क्रांति का कारण यह था कि कुछ यूरोपीय देशों ने व्यापार एवं वाणिज्य के विस्तार के उपाय शुरू किए। पुर्तगाल, स्पेन, हॉलैंड आदि देशों ने विदेशों से व्यापार बढ़ाकर तथा नए क्षेत्रों पर विजय हासिल करके अपनी राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता बढ़ाने के प्रयास किए।

ii) क) मृत मानव शरीर की चीर-फाड़ की अनुमति से शरीर-रचना विज्ञान की जानकारी बढ़ गई। इस ज्ञान के परिणामस्वरूप आधुनिक चिकित्सा शास्त्र का विकास हुआ।

ख) कॉपर्निकस ने इस प्राचीन विश्वास को तोड़ दिया कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य उसके चारों ओर घूमता है। उसने सिद्ध किया कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी उसके चारों और घूमती है। इसे सूर्य केंद्रित सिद्धांत कहा जाता है।

iii) क) औद्योगिक

ख) उन्नीसवीं

ग) पुनर्जागरण

**बोध प्रश्न 3**

i) क) कृषि पर आधारित पुरानी सामंतवादी प्रणाली के स्थान पर पूँजीवादी कारखाना प्रणाली लागू हो जाने से यूरोप की उत्पादन प्रक्रिया का रूपांतरण हो गया।

ख) उद्योगों में वेतन पर काम करने वाले एक नए श्रमिक वर्ग का उदय हुआ।

ग) शहरी तंग बस्तियों की वृद्धि से लोगों के भौतिक तथा सामाजिक जीवन में बदलाव आया।

ii) क) सामंतवादी

ख) पैतृक

ग) स्वतंत्रता

**बोध प्रश्न 4**

i) क), ख), च), छ), ज), झ), ट), ठ), ड), ढ)

ii) 'इतिहास का दर्शन' समाजशास्त्र के उदय को प्रभावित करने वाले दो बौद्धिक दृष्टिकोणों में से एक है। इसमें यह माना जाता है कि समाज सरल से जटिल स्वरूप की ओर बढ़ता हुआ कई चरणों में से होकर गुज़रता है अत: प्रगति स्वाभाविक और अवश्यम्भावी है। दूसरा दृष्टिकोण विकास के जीव वैज्ञानिक सिद्धांत का है। समाज की तुलना एक जैविक जीव के साथ किए जाने से यह विश्वास बना कि (क) समाज सरल से जटिल स्वरूप की ओर अग्रसर होता है; और (ख) समाज किसी जीव की भांति संतुलन के प्रति सामंजस्य बनाने के जीव वैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार काम करता है।

# इकाई 2 समाजशास्त्र के संस्थापक - I

**इकाई की रूपरेखा**


2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 प्रारंभिक उद्‌भव

2.3 ऑगस्ट कॉम्ट (1798–1857)

- 2.3.1 जीवन परिचय
- 2.3.2 कॉम्ट का सामाजिक परिवेश
- 2.3.3 मुख्य विचार
- 2.3.4 समकालीन समाजशास्त्र पर कॉम्ट के विचारों का प्रभाव

2.4 हर्बर्ट स्पेंसर (1820–1903)

- 2.4.1 जीवन परिचय
- 2.4.2 स्पेंसर का सामाजिक परिवेश
- 2.4.3 मुख्य विचार
- 2.4.4 समकालीन समाजशास्त्र पर स्पेंसर के विचारों का प्रभाव

2.5 सारांश

2.6 शब्दावली

2.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 2.0 उद्देश्य

इस इकाई में समाजशास्त्र के दो संस्थापकों के मुख्य विचारों पर चर्चा की गई है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपके द्वारा संभव होगा

- ऑगस्ट कॉम्ट तथा हर्बर्ट स्पेंसर के जीवन परिचय की रूपरेखा देना
- उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि की व्याख्या करना
- कॉम्ट तथा स्पेंसर के मुख्य विचारों की विवेचना
- समकालीन समाजशास्त्र में इन प्रारंभिक चिंतकों के विचारों के प्रभाव को दर्शाना।

## 2.1 प्रस्तावना

यूरोप में समाजशास्त्र के **विकास** के बारे में इकाई 1 में आपने पहले ही पृष्ठभूमि के तौर पर काफ़ी पढ़ा है। अब आपको समाजशास्त्र के प्रवर्तक विद्वानों से परिचित करवाया जाएगा। इस इकाई में हमने केवल ऑगस्ट कॉम्ट तथा हर्बर्ट स्पेंसर पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है। अगली इकाई में आपको कुछ अन्य समाजशास्त्रियों जैसे जॉर्ज ज़िमेल, थोर्स्टीन वेब्लेन तथा विल्फ़्रेडो परेटो से अवगत करवाया जाएगा।

इस इकाई में समाज से संबंधित विषयों के बारे में समाजशास्त्रियों के विचारों को प्रस्तुत किया गया है। भाग 2.2 में समाजशास्त्र के प्रारंभिक उद्‌भव को वर्णित किया गया है। भाग 2.3 में

ऑगस्ट कॉम्ट के सामाजिक परिवेश, उसके मुख्य विचारों और उस समय के समाजशास्त्र पर उसके विचारों के प्रभाव की चर्चा की गई है। भाग 2.4 में हर्बर्ट स्पेंसर के सामाजिक परिवेश, उसके मुख्य विचारों तथा समकालीन समाजशास्त्र में उसके विचारों के महत्व को दर्शाया गया है। अंत में 2.5 में इस इकाई का सार संक्षेप में दिया गया है।

## 2.2 प्रारंभिक उद्भव

इससे पहले की इकाई (इकाई 1, ई.एस.ओ.-13) में आपने यूरोप में समाजशास्त्र के उद्भव के बारे में जानकारी प्राप्त की थी। इस इकाई में हमने समाजशास्त्र के संस्थापकों की सामाजिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने के लिए समाजशास्त्र के प्रारंभिक उद्भव का वर्णन किया है। समाजशास्त्र के सैद्धांतिक विकास की कहानी जानने हेतु हमें प्रवर्तक समाजशास्त्रियों के मुख्य विचारों को अवश्य जानना चाहिए। उनकी रचनाएं समाजशास्त्र के सामाजिक महत्व को प्रतिबिंबित करती हैं और उनके विचार ही समाजशास्त्र के मूल आधार हैं।

यह सभी को मालूम है कि मनुष्य की हमेशा से अपने व्यवहार के स्रोतों के बारे में जानने को उत्सुकता रही है। आपने अपना कुछ न कुछ समय समाज के आश्चर्यजनक ढंगों को जानने में अवश्य ख़र्च किया होगा। आपने यह उत्सुकता अवश्य ज़ाहिर की होगी कि किसी एक प्रकार का व्यवहार क्यों किया जाता है? हमारा समाज दूसरे लोगों के समाज से इतना भिन्न क्यों है? ये प्रश्न जिस तरह आज हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, वैसे ही ये हमारे पूर्वजों के ध्यान को भी आकर्षित करते रहे होंगे।

लोगों ने इन प्रश्नों के उत्तर ढँढने के प्रयास किए हैं। लेकिन स्वयं को और समाज को समझने के उनके प्रयास उन चिंतनधाराओं पर निर्भर रहे जो उन्हें पीढ़ी दर पीढ़ी मिली थीं। ये चिंतन प्राय: धार्मिक विचारों के रूप में व्यक्त हुए थे।

मानव व्यवहार और मानव समाज का व्यवस्थित अध्ययन अपेक्षाकृत अभी हाल में ही प्रारंभ हुआ है। इसका प्रारंभ अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के यूरोपीय समाज में देखा जा सकता है। इस नए दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि क्रांतिकारी परिवर्तनों से जुड़ी हुई है। ये परिवर्तन प्रबोधन (Enlightenment), फ्रांसीसी क्रांति तथा औद्योगिक क्रांति द्वारा लाए गए थे। पारंपरिक जीवन पद्धति के ध्वस्त हो जाने के कारण उन्हें सामाजिक तथा प्राकृतिक दोनों ही प्रकार की दुनिया को समझने के लिए नए तरीक़ों को विकसित करना पड़ा।

प्राकृतिक वैज्ञानिकों ने जिस तरह जीवन तथा प्रकृति के रहस्यों को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया उसी प्रकार समाजशास्त्रियों ने सामाजिक जीवन की जटिलताओं का विवेचन करने का प्रयत्न शुरू किया और इस प्रकार समाज **विज्ञान** का जन्म हुआ। इसके आरंभ का दिग्दर्शन करने के लिए हमने ऑगस्ट कॉम्ट (1798-1857) से शुरुआत की है। कॉम्ट को समाजशास्त्र का संस्थापक माना जाता है, उसने ही इस विज्ञान को समाजशास्त्र की संज्ञा प्रदान की। इसके पश्चात् हमने समाजशास्त्र के दूसरे प्रवर्तक और अंग्रेज विद्वान हर्बर्ट स्पेंसर (1820-1903) के बारे में चर्चा की है।

कॉम्ट के विचारों पर चर्चा करने के पीछे एक ही लक्ष्य है कि समाजशास्त्र के आरंभिक प्रमुख तत्वों और प्रवृत्तियों के बारे में आपको स्पष्ट जानकारी हासिल हो।

## 2.3 ऑगस्ट कॉम्ट (1798-1857)

कॉम्ट का जन्म 1798 में हुआ जब फ्रांसीसी क्रांति में उबाल आ रहा था। उस समय ऐसी बहुत सी घटनाएं घटित हो रही थीं जिन्होंने आधुनिक विश्व की नींव रखने का काम किया था।

आपने पूर्ववर्ती इकाई में देखा कि फ्रांसीसी क्रांति के बाद यूरोप की सामाजिक व्यवस्था में कितने विध्वंसकारी परिवर्तन हो रहे थे। कॉम्ट के विचारों को पूरी तरह से समझने के लिए हमें इस बात पर ग़ौर करना होगा कि कॉम्ट का अपने समय के लोगों और समाज के सामने आने वाली समस्याओं से कितना परजोश सरोकार था। आइए, अब उसके जीवन परिचय पर एक दृष्टिपात करें।

## 2.3.1 जीवन परिचय

फ्रांसीसी समाजशास्त्री ऑगस्ट कॉम्ट (1798-1857) का जन्म एक कैथोलिक परिवार में फ्रांस के मौंटपेलियर नामक स्थान में हुआ था। उसके माता-पिता फ्रांस की शाही सत्ता के समर्थक थे। वर्ष 1814 में उसने फ्रांस के एक सर्वाधिक प्रतिष्ठित शिक्षा संस्थान, ईकोल पोलीटेकनीक (Ecole polytechnic) में प्रवेश लिया। यहां के अधिकांश प्रोफ़ेसर गणित तथा भौतिकी के प्रतिष्ठित विद्वान थे। उनकी समाज के अध्ययन में कोई ख़ास रुचि नहीं थी। लेकिन युवा कॉम्ट क्रांति के कारण फ्रांस में व्याप्त सामाजिक अव्यवस्था के प्रति काफ़ी संवेदनशील था और इसीलिए उसकी मानव व्यवहार तथा समाज के अध्ययन में काफ़ी दिलचस्पी थी। कॉम्ट ने ईकोल पोलीटेकनीक में विद्यार्थी आंदोलन में भाग लिया और इसीलिए उसे वहां से निष्कासित कर दिया गया।

ईकोल पोलीटेकनीक में वह एल.जी. बोनाल्ड तथा जोसफ द मैस्त्रे जैसे परंपरावादी सामाजिक दार्शनिकों के प्रभाव में आया। उसने मानव समाज के विकास को संचालित करने वाली व्यवस्था के बारे में धारणा उन्हीं दार्शनिकों से ली। फ्रांस के एक अन्य प्रमुख दार्शनिक कोन्डरसेट (जिनका बाद में शिरोच्छेद (beheaded) कर दिया गया) से उसने यह विचार ग्रहण किया कि यह विकास मानव समाजों में हुई प्रगति के साथ-साथ होता रहता है। वर्ष 1824 में ऑगस्ट कॉम्ट सेंट साइमन का सचिव बन गया। सेंट साइमन जन्म से तो अभिजात्य किंतु विचारों से यूटोपियाई समाजवादी (utopian socialist) था। कॉम्ट जल्दी ही सेंट साइमन का घनिष्ठ मित्र तथा शिष्य बन गया और साइमन की प्रेरणा से कॉम्ट की रुचि अर्थशास्त्र में हो गई। इसी समय कॉम्ट ने समाज के विज्ञान की एक सामान्य अवधारणा का प्रतिपादन किया जिसे उसने समाजशास्त्र की संज्ञा दी।

कॉम्ट की मुख्य आकांक्षा मानव समाज का राजनीतिक पुनर्गठन करने की थी। उसका विचार था कि इस तरह के पुनर्गठन को समाज की आध्यात्मिक तथा नैतिक एकता पर निर्भर होना होगा। इसके लिए सेंट साइमन के साथ मिलकर कॉम्ट ने कई प्रमुख विचारों को प्रतिपादित किया। कॉम्ट तथा साइमन की यह मित्रता लंबे समय तक नहीं चली और उनकी आपस में अनबन हो गई। बाद में कॉम्ट ने अपने कुछ व्याख्यानों को *"कोर्स द फ़िलोसॉफ़ी पॉज़िटिव"(Cours de philosophie positive*, पेरिस 1830-42) में प्रकाशित किया। इस कृति में उसने तीन अवस्थाओं के नियम के बारे में लिखा और समाज के विज्ञान से जुड़ी अपनी अवधारणा को व्यक्त किया। इस कृति पर काम करते हुए उसने दिमागी सफ़ाई (cerebral hygiene) के सिद्धांत की खोज की जिसके परिणामस्वरूप उसने अपने दिमाग को दूषण से बचाने के लिए अन्य विद्वानों की कृतियां पढ़ना बंद कर दिया।

1851-1854 के बीच कॉम्ट ने *सिस्टम आफ़ पॉज़िटिव पॉलिटिक्स* (4 खंडों में) नामक शोध प्रबंध लिखा। इस प्रबंध के द्वारा उसने सैद्धांतिक समाजशास्त्र की खोजों को अपने समाज की सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु प्रयुक्त करने की चेष्टा की। इसी अवधि के दौरान उसकी क्लोटिल्डे द वा से मुलाक़ात हुई और वह कॉम्ट की घनिष्ठ मित्र बन गई। मुलाक़ात के एक वर्ष बाद ही 1846 में उसकी मृत्यु हो गई। क्लोटिल्डे की मृत्यु ने कॉम्ट के विचारों को इस हद तक प्रभावित किया कि वह रहस्यवाद तथा धर्म की ओर मुड़ गया। *सिस्टम्स आफ़ पॉज़िटिव*

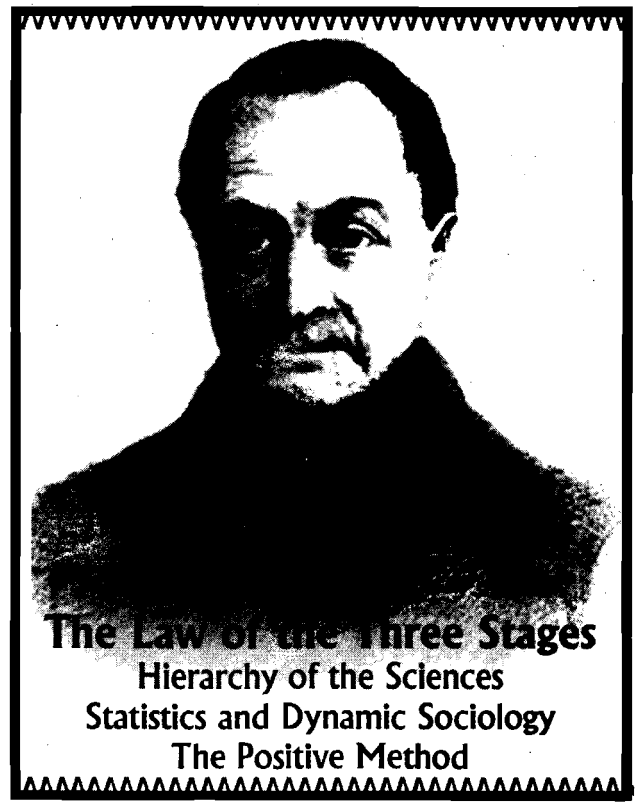


तीन अवस्थाओं के नियम

i) विज्ञानों का श्रेणीक्रम

ii) स्थैतिक एवं गतिशील समाजशास्त्र

iii) सकारात्मक पद्धति

**चित्र 2.1: ऑगस्ट कॉम्ट (1798-1857)**

*पॉलिटिक्स* में प्रतिपादित उसके विचार आंशिक रूप से प्रत्यक्षवाद से हटकर मानव धर्म की संरचना की ओर अग्रसर हो गए। विचारों में आए इस परिवर्तन के कारण उसके बहुत से शिष्य तथा बौद्धिक मित्र जैसे इंग्लैंड के जे.एस. मिल उससे विमुख हो गए। उसने सामाजिक पुनरुत्थान के मसीहा की अपनी भूमिका को इतनी गंभीरता से लिया कि उसने रूस के राजा को समाज के पुनर्गठन के संबंध में अपने विचारों की एक योजना बनाकर भेज दी। लेकिन उसकी कृतियों को उसके जीवनकाल में फ्रांस में कोई मान्यता नहीं मिली। उसकी मृत्यु के पश्चात् 1857 में, (जो भारतीय इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण वर्ष है) पहले इंग्लैंड में और फिर फ्रांस तथा जर्मनी में उसके विचारों को बहुत लोकप्रियता मिली। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के फ्रांसीसी वैज्ञानिक आंदोलन में कॉम्ट विचारधारा की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इस आंदोलन का प्रतिनिधित्व टेने, रेनान, बर्थलोट और इंग्लैंड के जे.एस. मिल जैसे चिंतकों ने किया था।

## 2.3.2 कॉम्ट का सामाजिक परिवेश

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षो के दौरान फ्रांस का बौद्धिक वातावरण नए, समालोचन तथा तर्क आधारित विचारों के विकास के अनुकूल था। प्राकृतिक विज्ञानों और गणित के क्षेत्र में प्राप्त उपलब्धियां गौरव की वस्तु थीं तथा नई पद्धतियों के उपयोग तथा अनुप्रयोग में एक नए विश्वास का संचार हुआ था। आपको यह मालूम ही है कि प्रबोधन दार्शनिकों (Enlightenment philosophers) ने प्रगति तथा मानव तर्कबुद्धि के विचारों को बहुत महत्व दिया था।

ऑगस्ट कॉम्ट फ्रांसीसी क्रांति द्वारा हुए सामाजिक विनाश से भी प्रभावित हुआ था। वह फ्रांसीसी क्रांति के परिणामों के बीच रह रहा था। वह उस समय की अव्यवस्था और जनता की भौतिक तथा सांस्कृतिक निर्धनता से लगातार परेशान और बेचैन रहता था। उसकी मौलिक और जीवनपर्यन्त धुन यह रही कि अव्यवस्था की जगह व्यवस्था कैसे प्रतिस्थापित हो और समाज की आमूल पुनर्रचना कैसे की जाए।

उसके विचार में फ्रांसीसी क्रांति मानव इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ की द्योतक है। पुरातन प्रणाली समाप्त हो चुकी थी और उस समय का मौजूदा समाज वैज्ञानिक जानकारी तथा औद्योगीकरण के क्षेत्र में हुए नए विकासों को अपनाने में अक्षम था। परिवर्तनों के अनुरूप सामाजिक संस्थाओं की नई व्यवस्था के पैर अभी नहीं जम पाए थे। अव्यवस्था की इस स्थिति में जनता भी चकरा रही थी। लोगों के विचार भी दिशाभ्रमित थे। विश्वास तथा ज्ञान के बीच चौड़ी खाई थी। दूसरे शब्दों में इस अवधि के दौरान पारंपरिक मूल्य व्यवस्था गड़बड़ा गई थी। लोगों के सांस्कृतिक मूल्यों तथा लक्ष्यों में न तो संगति थी, न आत्मविश्वास और न कोई निश्चित उद्देश्य। पुरानी वफ़ादारियां ख़त्म हो चुकी थीं और नई वफ़ादारियों की जड़ें नहीं जमी थीं इसलिए लोग बड़े भ्रम की स्थिति में थे। नए जटिल, औद्योगिक समाज के लिए एक नई नीति, चिंतन तथा कर्म की एक नई व्यवस्था की जरूरत थी। लेकिन इस पुनर्रचना के लिए ज्ञान के एक विश्वसनीय आधार की ज़रूरत थी।

कॉम्ट ने यह प्रश्न उठाया कि ज्ञान के इस महल को किस तरह बनाया जाए। इस बारे में कॉम्ट का उत्तर था कि लोगों को इस दिशा में खुद पहल करनी होगी और एक ऐसे विज्ञान को ढूँढना होगा जो उन्हें विश्व के प्रति एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रदान करे।

अब यह संभव नहीं था कि देवताओं, धार्मिक तथा पारभौतिक शक्तियों, विश्वास तथा कर्म के पारंपरिक तरीक़ों का सहारा ढूँढा जाए। अब लोग अपने भाग्य के लिए खुद ही ज़िम्मेदार थे और इसीलिए उन्हें अपना समाज स्वयं ही तैयार करना था।

नये उत्तर देने के प्रयास में ही कॉम्ट ने समाजशास्त्र से संबंधित अपने मुख्य विचारों का प्रतिपादन किया। कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित मुख्य विचारों का अध्ययन करने से पूर्व आइए, हम आपको कॉम्ट के चिन्तन पर सेंट साइमन के विचारों के प्रभाव के विषय में बताएं देखें; कोष्ठक 2.1: सेंट साइमन (1760-1825)। सेंट साइमन (1760-1825) के बारे में जानना इसलिए भी ज़रूरी है कि कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित बहुत से विचारों की जड़ें सेंट साइमन की रचनाओं में देखने को मिलती है। वास्तव में कॉम्ट ने जब सेंट साइमन के सचिव के रूप में कार्य किया था तभी दोनों ने मिलकर समाज के विज्ञान का विचार प्रतिपादित किया था।

**कोष्ठक 2.1: सेंट साइमन (1760–1825)**

सेंट साइमन फ्रांसीसी अभिजात वर्ग से जुड़ा था लेकिन जहां तक विचारों का संबंध है वह सर्वप्रथम **यूटोपियाई** समाजवादी था अर्थात् वह एक ऐसे आदर्श समाज में विश्वास करता था जिसमें प्रत्येक को अवसर तथा संसाधनों में समान भागीदारी मिले। उसका विश्वास था कि समाज की समस्याओं का सर्वोत्तम हल यह है कि आर्थिक उत्पादन का पुनर्गठन किया जाए। इससे सम्पत्ति के स्वामियों का वर्ग अपने उत्पादन के साधनों से वंचित कर दिया जाएगा और इस प्रकार उनकी आर्थिक स्वतंत्रता ख़त्म हो जाएगी, जो उनके समय में एक महत्वपूर्ण मूल्यवान व्यवस्था थी (टिमाशेफ़ 1967: 19)। यदि आप फ्रांसीसी क्रांति पर नज़र डालें तो आपको पता चलेगा कि उस समय फ्रांस का सामंती समाज तीन वर्गों में बंटा था, पहला पादरी (clergy) दूसरा कुलीन (nobility) और तीसरा जनसाधारण (commoners)। इनमें से पहले दो वर्ग ही अधिकांश भू-सम्पत्ति तथा धन संपदा के मालिक थे व ऊंची हैसियत वाले थे। सेंट साइमन इसी सामाजिक तथा आर्थिक संरचना को पुनर्गठित करना चाहता था।

*"समाज के पुनर्गठन हेतु आवश्यक वैज्ञानिक कार्य विधियों की योजना"* (***Plan of the scientific operations necessary for the reorganising of society***, 1928 में प्रकाशित) नामक संयुक्त प्रकाशन में सेंट साइमन तथा कॉम्ट ने तीन अवस्थाओं के नियम के बारे में लिखा और कहा कि प्रत्येक ज्ञान की शाखा को इनमें से गुज़रना चाहिए। उनका कहना था कि सामाजिक भौतिकी अर्थात् समाज के प्रत्यक्ष विज्ञान का उद्देश्य प्रगति के प्राकृतिक तथा अपरिवर्तनीय नियमों की खोज करना है। इस **विज्ञान** को बाद में समाजशास्त्र कहा गया। ये नियम समाज के विज्ञान के लिए उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने कि न्यूटन द्वारा दिए गए गुरुत्वाकर्षण के नियम प्राकृतिक विज्ञानों के लिए महत्वपूर्ण हैं। सेंट साइमन और कॉम्ट के बीच स्थापित यह बौद्धिक संबंध ज्यादा दिनों तक क़ायम नहीं रह सका और अंततोगत्वा मनमुटाव के रूप में समाप्त हो गया।

कॉम्ट के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं का एक अमूर्त सैद्धांतिक विज्ञान है। शुरू में उसने इसे सामाजिक भौतिकी कहा किन्तु बाद में इसका नाम बदल दिया। उसने यह परिवर्तन इसलिए किया क्योंकि बेल्जियम के एक वैज्ञानिक एडोल्फ क्वेटलेट ने सामाजिक भौतिकी का प्रयोग सरल सांख्यिकी को व्यक्त करने के लिए किया था। इसलिए बाध्य होकर कॉम्ट को समाजशास्त्र शब्द अपनाना पड़ा जो एक लैटिन तथा ग्रीक सब्द का मिला-जुला रूप है जिसका अर्थ है "अत्यधिक सामान्यीकृत" या अमूर्त स्तर पर समाज का अध्ययन (टिमाशेफ़ 1967: 4)। अब अगले कुछ पृष्ठों में हमने कॉम्ट के मुख्य विचारों पर चर्चा की है। ये विचार तीन अवस्थाओं के नियम, विज्ञानों का श्रेणीक्रम तथा उसके द्वारा **स्थैतिक** एवं **गतिशील** समाजशास्त्र के बीच किए गए विभाजन से संबंधित हैं।

### 2.3.3 मुख्य विचार

आपने यह देखा कि कॉम्ट समाज का नए तरीक़े से पुनर्गठन करना चाहता था। उसने यह महसूस किया कि यूरोपीय समाज और विशेष रूप से फ्रांसीसी समाज में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं उनके साथ-साथ नए सिद्धांत भी बनने चाहिए। इन नए सिद्धांतों के आधार पर मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं को एकीकृत तथा संतुलित करना चाहिए। अत: ऐसे सामाजिक नियमों की खोज करना उसके लिए बहुत महत्व रखता था जो समाज में परिवर्तन के सिद्धांतों का विवेचन करें।

कॉम्ट समाजशास्त्र को समाज का एक विज्ञान ही नहीं मानता था अपितु उसका विश्वास था कि समाज के पुनर्गठन के लिए भी समाजशास्त्र का व्यावहारिक उपयोग किया जाना चाहिए। वह समाज का विज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति विकसित करना चाहता था। यह विज्ञान न केवल मानव जाति के पिछले विकास का विवेचन करेगा अपितु उनके भावी मार्ग की भविष्यवाणी भी करेगा। उसके अनुसार मानव जाति का उसी तरह वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जाना चाहिए जिस तरह प्रकृति का अध्ययन किया जाता है। प्राकृतिक नियमों जैसे कि न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण नियम या कॉपिर्नकस की यह खोज की सूर्य स्थिर है और पृथ्वी तथा अन्य ग्रह उसके चारों ओर घूमते हैं आदि से प्राकृतिक विज्ञानों में प्रगति हुई। इन नियमों से प्रभावित होकर उसे यह विश्वास हो गया कि समाज में भी सामाजिक नियमों को खोजा जा सकता है।

कॉम्ट का यह भी मानना है कि समाज के नए विज्ञान को परंपराओं की अपेक्षा तर्क तथा प्रेक्षण पर निर्भर होना चाहिए। तभी समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में देखा जा सकता है। प्रत्येक वैज्ञानिक सिद्धांत को प्रेक्षित तथ्यों पर और प्रेक्षित तथ्यों को वैज्ञानिक सिद्धांत पर आधारित होना चाहिए।

इस प्रकार कॉम्ट के अनुसार समाज का विज्ञान, जिसे उसने समाजशास्त्र कहा, प्राकृतिक विज्ञानों की तरह का ही होना था। समाजशास्त्र में भी प्राकृतिक विज्ञानों की तरह जांच का उपयोग करना

है अर्थात् प्रेक्षण, प्रयोग तथा तुलना करके निष्कर्ष निकालना है। हालांकि, प्राकृतिक विज्ञान की उपर्युक्त पद्धतियों के साथ-साथ कॉम्ट ने ऐतिहासिक **पद्धति** का भी प्रतिपादन किया। यह ऐतिहासिक पद्धति (इतिहासकारों द्वारा प्रयुक्त पद्धति से भिन्न) समाजशास्त्र में एक स्वस्थ विकास सिद्ध हुआ। ऐतिहासिक पद्धति द्वारा विभिन्न समाजों के बीच उनके पूरे विकास काल के दौरान तुलना की जाती है। यह पद्धति समाजशास्त्रीय जांच की केंद्र बिंदु है क्योंकि ऐतिहासिक विकास समाजशास्त्र की जान होता है।

कॉम्ट इन पद्धतियों द्वारा सामाजिक नियमों की खोज करना चाहता था क्योंकि इन नियमों को जानकर ही समाज की पुनर्रचना की जा सकती है। इस प्रकार उसके विचार में कोई भी सामाजिक क्रिया मानव समाज के लिए तभी लाभकारी हो सकती हैं जब मानव विकास के नियम स्थापित हो जाएं। ये नियम ही सामाजिक व्यवस्था के आधार को परिभाषित करते हैं।

कॉम्ट के अनुसार कोई भी वस्तु या विचारधारा निरपेक्ष नहीं होती है। प्रत्येक ज्ञान एक सापेक्ष अर्थ में ही सत्य होता है और वह अनंतकाल तक प्रामाणिक नहीं रह सकता। इस प्रकार, विज्ञान का एक स्वत: सुधारकारी स्वरूप होता है और जो भी वस्तु या विचारधारा सही नहीं रहती अस्वीकृत कर दी जाती है। इस अर्थ में इस नये विज्ञान ने परंपरा की सत्ता की वह जगह ले ली जिसे अभी तक अस्वीकार न किया जा सका था और इसलिये ही, नये विज्ञान को **सकारात्मक** विज्ञान कहा जाता है (कोज़र 1971: 5)।

### तीन अवस्थाओं के नियम

वर्ष 1822 में जब कॉम्ट सेंट साइमन के सचिव के रूप में कार्य कर रहा था तब ही उसने मानव जाति के **विकास** की क्रमबद्ध अवस्थाओं को खोज निकाला। अपने अध्ययन में उसने मानव प्रजाति की प्रारंभिक अवस्था से, जिसमें वह एक बिना पँछ के वानर से उत्कृष्ट नहीं था, यूरोप की सभ्य समाज की अवस्था तक सभी को शामिल किया। अपने इस अध्ययन में उसने तुलना करने की वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया और मानव प्रगति के नियम या तीन अवस्थाओं के नियम का प्रतिपादन किया।

कॉम्ट का विश्वास था कि मानव मस्तिष्क का विकास व्यक्ति के मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ ही हुआ है। दूसरे शब्दों में उसके अनुसार जैसे व्यक्ति अपने बचपन की निष्ठावान विश्वासी अवस्था से किशोर अवस्था की समालोचक तत्वमीमांसी (जो अस्तित्व की अमूर्त धारणाओं को समझने की कोशिश करता है) अवस्था में पहुंचता है और फिर वयस्क होने पर स्वाभाविक दार्शनिक अवस्था में पहुंच जाता है, उसी प्रकार मानव जाति भी विकसित होती है और उसकी चिंतनधारा भी तीन मुख्य अवस्थाओं में विकसित हुई है।

मानव चिंतन के विकास की ये तीन अवस्थाएं इस प्रकार है

**i)** **धर्मशास्त्रीय** अवस्था (theological stage)

**ii)** **तत्वमीमांसीय** अवस्था (metaphysical stage)

**iii)** **सकारात्मक** अवस्था (positive stage)

i) धर्मशास्त्रीय अवस्था में मस्तिष्क में किसी घटना को मानव प्राणी के तुलनीय प्राणियों या शक्तियों में आरोपित करके उसका विवेचन होता है। इस अवस्था में, मानव प्राणी का सभी कार्यों के पहले तथा अंतिम कारणों (आरंभ तथा प्रयोजन) की खोज करने का प्रयत्न होता है। इस प्रकार, इस स्तर पर मानव मस्तिष्क में यह मानकर चला जाता है कि सभी घटनाएं आलौकिक शक्तियों के तात्कालिक प्रभाव के कारण घटित होती हैं। उदाहरणत: कुछ जनजातियों में यह विश्वास किया जाता है कि चेचक, हैज़ा आदि जैसी कुछ बीमारियां देवताओं के प्रकोप का परिणाम होती हैं।

ii) तत्वमीमांसीय अवस्था में मस्तिष्क में घटनाओं की प्रकृति का समान अमूर्त अस्तित्व के माध्यम से विवेचन होता है। ये अमूर्त अस्तित्व मानवरूपी तत्व हैं। तत्वमीमांसीय विश्व के अर्थ तथा उसकी व्याख्या सार तत्वों, आदर्शों व स्वरूपों के संदर्भ में होती है अर्थात् इसे चरम वास्तविकता जैसे ईश्वर की संकल्पना के रूप में परिभाषित किया जाता है।

iii) सकारात्मक अवस्था में घटनाओं को "मूल स्रोतों" या अंतिम कारणों के रूप में देखना बंद कर दिया जाता है क्योंकि न तो इन्हें तथ्यों के रूप में जांचा जा सकता है और न ही उनका हमारी आवश्यकताओं को पूरा करने में ही उपयोग किया जा सकता है। इस अवस्था में मानव मस्तिष्क स्वयं को उनके नियमों के अध्ययन में लगाता है अर्थात् उनके अनुक्रम तक सादृश्य के अपरिवर्तनीय संबंधों का अध्ययन करता है (कोज़र 1971: 7)। ऐसे नियम प्रस्थापित होते हैं जो तथ्यों को एक दूसरे से जोड़ते हैं और जो सामाजिक जीवन को नियमित करते हैं।

कॉम्ट का यह मानना था कि मानव चितंन की प्रत्येक अवस्था का विकास अनिवार्य रूप से पूर्ववर्ती अवस्था से ही होता है। जब पूर्ववर्ती अवस्था पूरी हो जाती है तभी नई अवस्था का विकास होता है। उसने मानव चितंन की तीन अवस्थाओं के सामाजिक संगठन, समाज में पाए जाने वाली सामाजिक व्यवस्थाओं के प्ररूपों तथा समाज में पाई जाने वाली सामाजिक इकाइयों के प्रकारों तथा भौतिक अवस्थाओं के साथ परस्पर संबंध दिखाए हैं। उसका विश्वास था कि सामाजिक जीवन का विकास उसी ढंग से होता है जिस तरह मानव चितंन में क्रमिक परिवर्तन आते हैं।

कॉम्ट के अनुसार सभी समाजों में परिवर्तन आते रहते हैं। एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें समाज में सामाजिक स्थिरता होती है। ऐसे समाज में बौद्धिक सामंजस्य होता है और समाज के विभिन्न भाग संतुलन में होते हैं। यह समाज का समन्वित काल होता है। लेकिन जब क्रांतिक काल आता है तो पुरानी परंपराएं, संस्थाएं आदि गड़बड़ा जाती हैं। बौद्धिक सामंजस्य समाप्त हो जाता है और समाज में एक असंतुलन फैल जाता है। कॉम्ट के विचार में फ्रांसीसी समाज इसी क्रांति काल से गुज़र रहा था। उसके अनुसार समाज अराजकता के एक संक्रमण काल के दौर से अवश्य गुजरता है जो कम से कम कुछ पीढ़ियों तक चलता रहता है और यह काल जितने ज़्यादा समय तक चलता रहेगा, समाज का पुनर्नवीकरण उतना ही पूर्ण होगा (कोज़र 1971: 8)।

मानव प्रजाति के इतिहास में मानव चिंतन की धर्मशास्त्रीय अवस्था में धर्म का राजनीति पर प्रभुत्व रहता है और शासन फ़ौजी शासकों का होता है। तत्वमीमांसक अवस्था में चर्च के पादरियों तथा वकीलों का प्रभुत्व होता है। यह अवस्था लगभग मध्यकाल तथा पुनर्जागरण आंदोलन के समकालीन थी। सकारात्मक अवस्था में, जिसका उदय कॉम्ट के जीवन-काल में हो ही रहा था, औद्योगिक प्रशासकों तथा वैज्ञानिक मार्ग दर्शकों का प्रभुत्व होगा।

धर्मशास्त्रीय अवस्था में सामाजिक इकाई के रूप में परिवार एक महत्वपूर्ण इकाई था। तत्वमीमांसक अवस्था में राज्य एक महत्वपूर्ण इकाई था और सकारात्मक अवस्था में संपूर्ण मानव जाति प्रचालक सामाजिक इकाई होगी।

कॉम्ट का विश्वास था कि बौद्धिक विकास अर्थात् मानव चिंतन का विकास मानव प्रगति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार होता है। हालांकि, उसने अन्य कारकों को भी अस्वीकार नहीं किया। उदाहरणत: उसने जनसंख्या में वृद्धि को एक ऐसा प्रमुख कारक माना जो मानव प्रगति की दर का निर्धारण करता है। जितनी ज़्यादा जनसंख्या होगी उतना ही अधिक श्रम विभाजन होगा। समाज में जितना अधिक श्रम विभाजन पाया जाएगा उतना ही वह समाज विकसित होगा। इस प्रकार उसने श्रम विभाजन को सामाजिक विकास की प्रक्रिया का एक शक्तिशाली कारक माना

है। कॉम्ट के विचारों का अनुसरण करते हुए एमिल दखाईम ने सामाजिक श्रम विभाजन का सिद्धांत प्रतिपादित किया, जिसके बारे में इसी पाठ्यक्रम के खंड 3 में आपको अवगत करवाया जाएगा।

तीन अवस्थाओं का नियम विज्ञानों के श्रेणीक्रम के साथ भी जुड़ा हुआ है। जैसे-जैसे चिंतनधाराओं का विकास होता है वैसे ही विभिन्न विज्ञान स्थापित होते जाते हैं। समाजशास्त्र को छोड़कर सभी विज्ञान सकारात्मक अवस्था तक पहुँच चुके हैं लेकिन समाजशास्त्र के विकास के साथ ही यह प्रक्रिया पूरी हो जाएगी। आइए अब हम विज्ञानों के श्रेणीक्रम पर विचार करें। परंतु पहले सोचिए और करिए 1 को पूरा कर लें।

**सोचिए और करिए 1**

आपने अभी ऑगस्ट कॉम्ट के विचारों को पढ़ा है। समाज संबंधी उसके विचारों के संबंध में, समन्वित काल में सामाजिक स्थिरता तथा संतुलन और क्रांतिक काल में सामाजिक अशांति अथवा असंतुलन होता है आदि। हमारे अपने देश की सामाजिक अवस्था के बारे में दो बुजुर्गों से चर्चा करिए।

अपनी चर्चा के आधार पर भारत की वर्तमान सामाजिक दशा के बारे में एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। यदि संभव हो तो अपनी टिप्पणी की अपने अध्ययन केंद्र के दूसरे विद्यार्थियों की टिप्पणियों से तुलना कीजिए।

**विज्ञानों का श्रेणीक्रम**

कॉम्ट के अनुसार विज्ञानों की जांच करने से पता चलता है कि न केवल सामान्य मानव चिंतनधाराएं उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं में होकर गुज़री हैं अपितु प्रत्येक विषय भी उसी ढंग से विकसित हुआ है। अर्थात् प्रत्येक विषय का एक सामान्य तथा सरल स्तर से अत्यधिक जटिल स्तर की ओर विकास हुआ है। उसने विज्ञानों की श्रेणीक्रम व्यवस्था प्रस्तुत की जो निम्नलिखित के साथ मेल खाती है।

i) विभिन्न विज्ञानों में ऐतिहासिक रूप से आरंभ तथा विकास करने का क्रम

ii) एक दूसरे पर निर्भर होने का क्रम (प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती पर आधारित होता है और अपने परवर्ती के लिए मार्ग प्रशस्त करता है)

iii) अपनी विषय वस्तु के संबंध में निरंतर कम होती सामान्यता तथा बढ़ती हुई जटिलता तथा

iv) अपने अध्ययन के अंतर्गत आने वाले तथ्यों में संशोधन करने की ज़्यादा से ज़्यादा क्षमता।

इस तरह, विज्ञानों के आरंभ तथा जटिलताओं के आधार पर विज्ञानों का क्रम इस प्रकार था - गणित, रसायन, विज्ञान, खगोलिकी, भौतिकी, जैविकी, समाजशास्त्र तथा अंत में नैतिक मूल्य। नैतिक मूल्य नामक विषय से कॉम्ट का अभिप्राय वास्तव में मानव का व्यक्तियों के रूप में अध्ययन करने से था (ऐसा अध्ययन जो समाजशास्त्र के बाद आएगा और मनोविज्ञान तथा नीतिशास्त्र का मिश्रित रूप होगा)।

इनमें समाजशास्त्र सबसे जटिल विज्ञान था क्योंकि इसमें सबसे जटिल विषय अर्थात् समाज का अध्ययन करना था। इसलिए समाजशास्त्र का जन्म अन्य विज्ञानों के बहुत समय बाद हुआ। अन्य विज्ञानों की विषय वस्तु समाजशास्त्र की तुलना में सरल थी।

समाजशास्त्र का जन्म मानव जाति द्वारा अपने समाज से संबंधित कुछ नए वस्तुनिष्ठ तथ्यों, जैसे सामाजिक अवस्था, मलिन बस्तियों का विस्तार, ग़रीबी आदि को पहचानने से जुड़ा हुआ है। इन तथ्यों से प्रभावी ढंग से निबटने के लिए उनका विवेचन करना आवश्यक है। कॉम्ट ने जब

समाजशास्त्र को विज्ञानों के श्रेणीक्रम का सर्वोच्च शिखर कहा तो वह विज्ञान को सामान्य रूप से एकीकृत करना चाहता था। समाजशास्त्र को अन्य विज्ञानों की तुलना में कोई ऊंची हैसियत देने का दावा नहीं करना था। वह तो केवल यह चाहता था कि सकारात्मक ज्ञान में वृद्धि के साथ-साथ सभी विज्ञानों का एक दूसरे के साथ संबंध स्थापित किया जा सकता है।

कॉम्ट के अनुसार सभी विज्ञान इन तीन अवस्थाओं - धर्मशास्त्रीय, तत्वमीमांसक तथा अंत में सकारात्मक अवस्था से होकर गुज़रते हैं। लेकिन अलग-अलग विज्ञान इन तीनों अवस्थाओं से एक साथ नहीं गुज़रते। वास्तव में तो जो विज्ञान श्रेणीक्रम में जितना अधिक ऊंचा होगा, उतनी ही देरी से वह एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाएगा। सकारात्मक ज्ञान के विकास के साथ-साथ उसने समाजशास्त्र के लिए सकारात्मक पद्धतियों को अपनाने का समर्थन किया (टिमाशेफ़ 1967: 23)।

**स्थैतिक एवं गतिशील समाजशास्त्र**

कॉम्ट ने समाजशास्त्र को दो प्रमुख भागों स्थैतिक (static) और गतिशील (dynamic) समाजशास्त्र में विभाजित किया। इस विभाजन का विचार जैविकी (biology) से लिया गया क्योंकि वह विज्ञानों के श्रेणीक्रम की धारणा में विश्वास रखता था। जैविकी समाजशास्त्र से एक नम्बर पहले वाला पूर्ववर्ती विज्ञान है और इसलिए इन दोनों के लक्षण एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं।

स्थैतिक समाजशास्त्र में समाज के अस्तित्व की दशाओं का अध्ययन किया जाता है जबकि गतिशील समाजशास्त्र के अंतर्गत समाज की सतत गतिशीलता या एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था आने के नियमों का अध्ययन किया जाता है। दूसरे शब्दों में, पहले भाग में सामाजिक व्यवस्था और दूसरे भाग में सामाजिक परिवर्तन या समाज में प्रगति का अध्ययन किया जाता है।

कॉम्ट के बारे में चर्चा करते हुए टिमाशेफ़ ने लिखा है कि स्थैतिकी मनुष्य के समाज में अस्तित्व की दशाओं के बीच समरसता या क्रमबद्धता का सिद्धांत है। जबकि गतिशीलता सामाजिक प्रगति का सिद्धांत है और यही प्रगति समाज का मौलिक विकास या संवृद्धि का द्योतक है।

टिमाशेफ़ (1967: 25) के अनुसार व्यवस्था तथा प्रगति घनिष्ठ रूप से एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं क्योंकि प्रगति के अनुकूल हुए बिना कोई सामाजिक व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती और तब तक समाज में कोई प्रगति नहीं हो सकती जब तक वह व्यवस्था में समाहित न हो। इस प्रकार यद्यपि विश्लेषण की दृष्टि से स्थैतिक और गतिशील समाजशास्त्र में भेद किया जाता है लेकिन वास्तव में स्थैतिक तथा गतिशील नियम पूरी प्रणाली में एक दूसरे से जुड़े होते हैं। कॉम्ट द्वारा स्थैतिकी और गतिशीलता में किया गया अंतर, जो कि प्रत्येक व्यवस्था तथा प्रगति के साथ जुड़ा है, वर्तमान में स्वीकार्य नहीं है क्योंकि आज समाज इतने जटिल हो गए हैं कि उन्हें व्यवस्था तथा प्रगति की साधारण धारणाओं द्वारा विवेचित नहीं किया जा सकता। कॉम्ट के विचार प्रबोधन काल (Enlightement period) की भावना से प्रभावित थे और इसी काल में ये विचार पनपे थे। समकालीन समाजशास्त्री इन विचारों से सहमत नहीं हैं। लेकिन उसका समाजशास्त्र का स्थैतिक और गतिशील में विभाजन आज भी सामाजिक संरचना तथा सामाजिक परिवर्तन शब्दों के रूप में विद्यमान है।

## 2.3.4 समकालीन समाजशास्त्र पर कॉम्ट के विचारों का प्रभाव

अब आपको यह महसूस हो गया होगा कि समाज के विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र का आरंभ और विकास का श्रेय ऑगस्ट कॉम्ट के योगदानों को जाता है। उसके विचारों ने सोरोकिन, जे.एस.मिल, लेस्टर वार्ड, मैक्स वेबर, दर्खाइम तथा अन्य प्रमुख समाजशास्त्रियों को प्रभावित किया।

कॉम्ट के तीन अवस्थाओं के नियम को समकालीन समाजशास्त्रियों ने कमोबेश अस्वीकार सा ही कर दिया है। लेकिन विचारों तथा संस्कृति के विकास में अवस्थाओं की अनिवार्य धारणाओं को कुछ संशोधित रूप में स्वीकार किया गया है। इसको सोरोकिन जैसे समाजशास्त्रियों की कृतियों मे देखा जा सकता है।

कॉम्ट के विचारों में उन अधिकांश प्रवृत्तियों को पहले ही देखा जा सकता है जो आजकल के समाजशास्त्र में दृष्टिगोचर होती हैं। उसके समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र तथा पद्धतियों विषयक विचारों को बाद के समाजशास्त्र में भी देखा जा सकता है। अगले भाग में एक अन्य समाजशास्त्री, हर्बर्ट स्पेंसर, के बारे में बताया गया है। कॉम्ट के विचारों की तरह स्पेंसर के विचार समाजशास्त्र के इतिहास में काफ़ी महत्वपूर्ण हैं।

**बोध प्रश्न 1**

i) निम्नलिखित में से किस किस को कॉम्ट के सिद्धांत का एक हिस्सा माना गया है ?

   क) विकास की तीन अवस्थाओं का नियम

   ख) प्राकृतिक विज्ञानों के अनुरूप समाज के विज्ञान की रचना पर बल देना

   ग) समाज के विकास की तीन अवस्थाओं में से एक लोकतांत्रिक अवस्था है।

   घ) विकास की अंतिम अवस्था सकारात्मक अवस्था है।

   ड़) सबसे पहले जन्म लेने वाले विज्ञानों में से एक विज्ञान समाजशास्त्र है।

   च़) तत्वमीमांसक अवस्था में मस्तिष्क किसी घटना को प्रकृति समान अमूर्त अस्तित्व के माध्यम से विवेचित करता है।

   छ) सकारात्मक विज्ञान का काम नियमों की खोज करना है।

   ज) प्रत्यक्षवाद को परिवर्तन का आधार भी समझा गया है।

ii) कॉम्ट के समाजशास्त्र की तीन मुख्य धारणाएं बताइए।

.....

.....

.....

iii) समाज में श्रम विभाजन पर कॉम्ट के विचारों का विवेचन करिए। उत्तर तीन पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

iv) समाज का विज्ञान जिसे समाजशास्त्र कहा जाता है लोगों के प्रारंभिक विचारों से कैसे भिन्न है? तीन वाक्यों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

## 2.4 हर्बर्ट स्पेंसर (1820–1903)

हर्बर्ट स्पेंसर को ऑगस्ट कॉम्ट का समकालीन कहा जा सकता है। स्पेंसर इंग्लैंड निवासी था। उसने समाजशास्त्र के क्षेत्र में बहुत से मूल विचारों का योगदान किया। कॉम्ट की तरह वह भी समाजशास्त्र को समाज के एक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठापित करने में प्रयत्नशील था। स्पेंसर कॉम्ट के विचारों के संसर्ग में तो आया परंतु वह कॉम्ट के विचारों से सहमत नहीं था। उसने समाज का अध्ययन अलग दृष्टिकोण से किया। उसका समाजशास्त्र विकासवादी सिद्धांत तथा जैव सादृश्य पर आधारित था। इन विचारों के बारे में और अधिक जानकारी बाद में दी जाएगी। आइए, पहले स्पेंसर के जीवन परिचय तथा सामाजिक परिवेश के बारे में कुछ चर्चा करें।

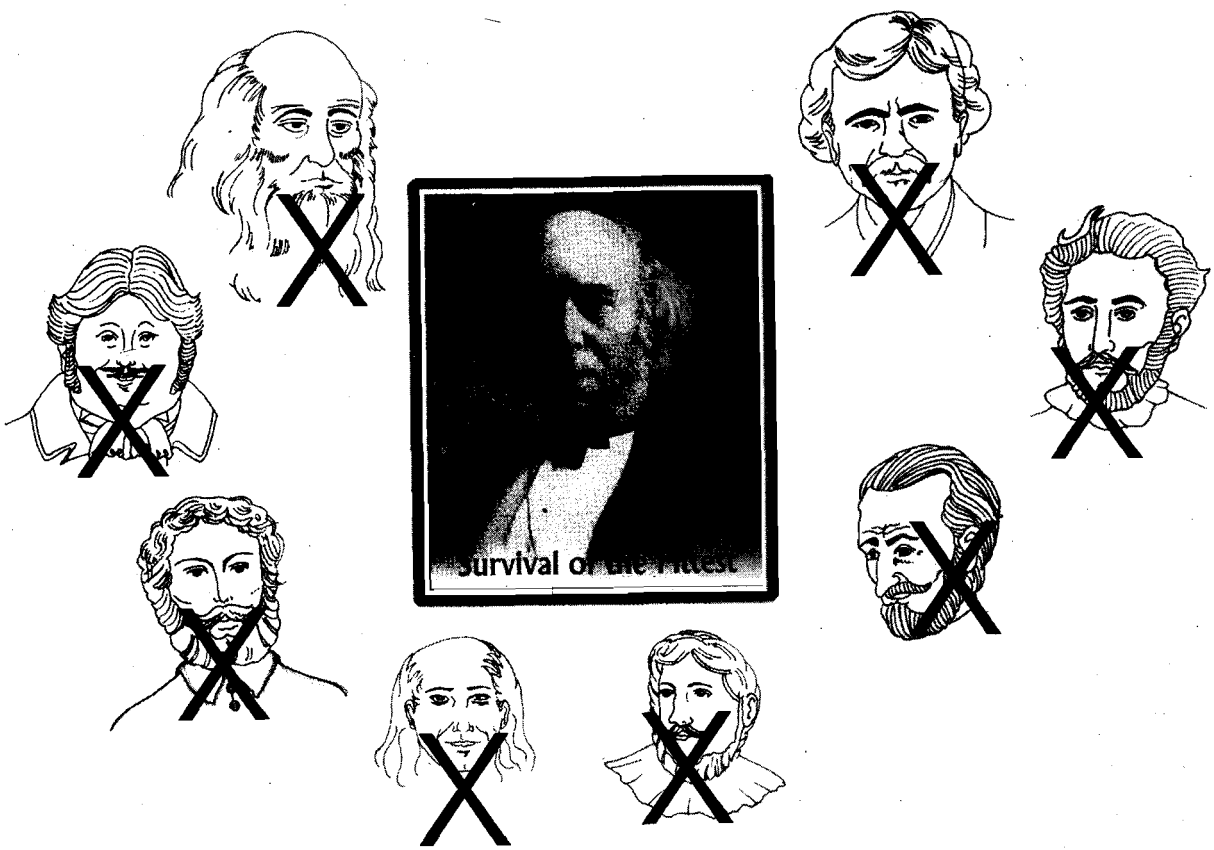


**चित्र 2.2: हर्बर्ट स्पेंसर (1820–1903): सर्वोपयुक्त की उत्तरजीविता का अनुभवपरक उदाहरण**

### 2.4.1 जीवन परिचय

हर्बर्ट स्पेंसर (1820-1903) का जन्म 27 अप्रैल को डर्बी के एक मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ। उसके पिता, जॉर्ज स्पेंसर, एक स्कूल अध्यापक थे। वह और उसका पूरा परिवार कट्टर परंपरा विरोधी तथा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण वाला था। स्पेंसर अपने माता-पिता की नौ संतानों में सबसे बड़ा था और अकेले वह ही वयस्क आयु प्राप्त कर पाया था। बाकी सभी का कम आयु में ही देहान्त हो गया था। संभवत: यही कारण था कि अपने विकास संबंधी सिद्धांत में उसने सर्वोपयुक्त की उत्तरजीविता (survival of the fittest) के डार्विनवादी विचार का प्रतिपादन किया था।

स्पेंसर ने कोई औपचारिक स्कूली शिक्षा नहीं पाई और उसके पिता तथा चाचा ने उसे घर पर ही पढ़ाया। वह केवल कुछ समय के लिए एक छोटे निजी स्कूल में अवश्य गया। अपनी आत्मकथा में उसने लिखा है कि उसका सर्वोत्तम प्रशिक्षण गणित में हुआ था। प्राकृतिक विज्ञान, साहित्य, इतिहास आदि जैसे अन्य विषयों में कोई व्यवस्थित प्रशिक्षण न पाने के बावजूद उसने जैविकी तथा मनोविज्ञान पर उत्कृष्ट ग्रंथ लिखे।

युवक स्पेंसर ने रेल रोड इंजीनियरी के क्षेत्र में इंजीनियर के रूप में काम करना शुरू किया किंतु बाद में उसने यह काम छोड़ दिया और एक पत्रकार के रूप में काम करने लगा। वह सुप्रतिष्ठित अंग्रेज़ी प्रकाशन, *इकॅनोमिस्ट* (*Economist*), का संपादक बना और कुछ वर्ष बाद यहां से त्याग पत्र देकर वह एक स्वतंत्र लेखक बन गया। वह उपन्यासकार जार्ज इलियट का घनिष्ट मित्र बन गया। उनकी मित्रता विवाह में परिणत नहीं हो पाई और स्पेंसर ने फिर विवाह ही नहीं किया। उसने ग़रीबी तो नहीं देखी पर वह कभी धनवान भी नहीं बन सका।

1850 में उसकी प्रथम पुस्तक, *सोशल स्टैटिक्स* (*Social Statics*) प्रकाशित हुई और इस पुस्तक को बुद्धिजीवी वर्ग में मान्यता मिली। इस पुस्तक में उसने अपने समाजशास्त्रीय सिद्धांत के मुख्य विचारों को प्रस्तुत किया। सामाजिक स्थैतिकी के शीर्षक की वजह से कुछ चिंतकों ने उस पर कॉम्ट के विचारों को फैलाने का दोषारोपण किया। लेकिन स्पेंसर ने कहा कि ये निबंधन उसके स्वयं के हैं और उसने कॉम्ट का नाम तो सुना है किंतु वह उसके विचारों से अवगत नहीं है। उसने यह भी कहा कि प्रारंभ में उसकी पुस्तक का शीर्षक *डेमोस्टैटिक्स* (*Demostatics)* था।

स्पेंसर पर चार्ल्स डार्विन की पुस्तक *द ओरिजन ऑफ स्पीसीज़* (*The Origion of Species*, 1859) का काफ़ी प्रभाव हुआ था। उसने डार्विन के विकास संबंधी विचारों से बहुत कुछ ग्रहण किया। वास्तव में, उसने कहा कि वह पहला व्यक्ति था जिसने डार्विन द्वारा दिए गए "प्राकृतिक वरण" (natural selection) तथा सर्वोपयुक्त की उत्तरजीविता के बुनियादी विचारों की महत्ता को समझा। स्पेंसर ने इन विचारों को समाज के अध्ययन में लागू किया।

स्पेंसर ने अहस्तक्षेप या मुक्त बाज़ार (laissez faire) के सिद्धांत का समर्थन किया, जिसका उस समय के अंग्रेज़ अर्थशास्त्री भी समर्थन कर रहे थे। 1882 में वह अमरीका के दौरे पर गया था। लेकिन ज़िंदगी के अंतिम दिनों में उसे लगा कि उसकी कृतियों को उतनी प्रतिष्ठा नहीं मिली, जितनी कि उसे आशा थी।

## 2.4.2 स्पेंसर का सामाजिक परिवेश

स्पेंसर के जीवनकाल के समय समाज में वैसी ही उथल-पुथल मची हुई थी जैसी कि कॉम्ट के समय में थी। उन दोनों के सामने समस्यायें भी एक सी थीं। महत्वपूर्ण अंतरों के बावजूद, इन दोनों विचारकों की चिंताओं और केंद्र बिंदुओं में व्यापक रूप से समानता थी।

दोनों का प्रगति में विश्वास था और ऐतिहासिक विकास की एकता तथा अनुत्क्रमणीयता में भी उन दोनों की अटूट आस्था थी। उस काल के अन्य प्रमुख चिंतक जैसे मार्क्स आदि भी इन विचारों में आस्था रखते थे। इन चिंतकों के इस काल को महान आशा की शताब्दी कहा जाता है। इसलिए समाज के प्रगतिशील विकास के नियम में उनका विश्वास उनके तर्क का केंद्रीय बिंदु था। आइए, अब हर्बर्ट स्पेंसर के कुछ मुख्य विचारों पर चर्चा करें।

## 2.4.3 मुख्य विचार

हर्बर्ट स्पेंसर की समाजशास्त्रीय रचनाओं, उदाहरणत: *सोशल स्टैटिक्स* (1850), *द स्टडी ऑफ़ सोशियोलोजी* (1873), *प्रिंसिपल्स ऑफ़ सोशियोलॉजी* (1875-96) आदि में विकास संबंधी विचार ही प्रधान है। स्पेंसर का विश्वास था कि सभी कालों के दौरान सामाजिक विकास का एक सरल समान या समरूप संरचना से एक जटिल, बहुरूपी या विषम संरचना की ओर होता रहा है। स्पेंसर के विचारों पर चार्ल्स डार्विन की रचना, *द ओरिजिन ऑफ़ स्पीशीज* (1859), का काफ़ी प्रभाव पड़ा था। इस पुस्तक ने उसके विचारों पर क्रांतिकारी प्रभाव डाला कि किस तरह पृथ्वी पर कोशिकीय जीव से मानव प्राणी जैसे बहुकोशिकीय जटिल जीव की ओर जीवन का विकास हुआ है।

हालांकि स्पेंसर ने समाजशास्त्र पर बहुत सी रचनाएं लिखीं लेकिन उसने इस शास्त्र की कोई औपचारिक परिभाषा नहीं दी। उसके अनुसार सामाजिक प्रक्रिया अनूठी होती है। इसलिए समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं पर विकास के नियमों को लागू करके समाज की वर्तमान अवस्था की व्याख्या करनी चाहिए। इस प्रकार उसके शोध में विकासवादी सिद्धांत का मुख्य स्थान है। इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए जैविक अनुरूपता (organic analogy) के अर्थ और महत्व की चर्चा की जाएगी। सामाजिक विकास में विभिन्न समाजों की स्थिति के आधार पर स्पेंसर द्वारा किए गए समाजों के वर्गीकरण के बारे में भी आपको जानकारी दी जाएगी।

### विकासवादी सिद्धांत

स्पेंसर के ज्ञान की पद्धति उसके इस विश्वास पर टिकी थी कि संपूर्ण विश्व और उसमें मानव के स्थान को समझने की मूल अवधारणा विकास ही है। विकास की अवधारणा भी इस मान्यता पर टिकी है कि प्रकृति के विभिन्न रूप चाहे वह पहाड़ हों या समुद्र, पेड़ हों या घास, मछली हों या रेंगने वाले जीव, पक्षी हों या मानव, सभी समान बुनियादी भौतिक पदार्थ के रूप तथा रूपांतर होते हैं।

अत: सभी प्रकार का ज्ञान हमारी अनुभूत दुनिया के इन विभिन्न रूपांतरणों के विन्यासों का व्यवस्थित तथा परीक्षण योग्य कथन होता है। प्रकृति के प्रत्येक तत्वों के विद्यमान रूपांतरण की यह बुनियादी प्रक्रिया ही विकासवादी सिद्धांत है। व्यवस्थित परीक्षण योग्य कथनों से हमारा तात्पर्य उन विचारों से है जो विश्व में होने वाले परिवर्तनों के अर्थ में हमेशा सही या गलत सिद्ध किए जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में हमारा अभिप्राय पश्थ्वी पर होने वाले परिवर्तनों की विकास की प्रक्रिया से है।

इस बात को आसानी से समझने हेतु आप अपने शरीर तथा अपने स्वयं के बारे में सोचिए। हमारा शरीर मुख्य रूप से जल, रक्त, अस्थियों तथा मांस से मिलकर बना है और इनमें से प्रत्येक तत्व प्रकृति से ही आया है। मृत्यु के बाद व्यक्ति के ये तत्व फिर से प्राकृतिक पदार्थों में जा मिलते हैं।

इस प्रकार परिवर्तन की सभी प्रक्रियाएं एक समान होती हैं अर्थात् वे भौतिक पदार्थों से उत्पन्न होती हैं, रूपातंरण तथा परिवर्तन का अपना विन्यास रखती हैं और अपने विन्यास के अनुसार यथासमय उनका विनाश हो जाता है और प्रकृति में फिर से मिल जाती हैं। इस प्रक्रिया में वे निम्न ढंग से परिवर्तित होती हैं।

i) सरलता की दशा से एक व्यवस्थित जटिलता की दशा की ओर

ii) अनिश्चितता की दशा से निश्चितता की दशा की ओर

iii) एक ऐसी दशा से जहां उसके हिस्से अपेक्षाकृत अविशिष्ट होते हैं, विशिष्टता की दशा की ओर, जिसमें उसके हिस्से तथा प्रकार्य जटिल विशिष्टीकरण से युक्त होते हैं

iv) एक अस्थायी दशा से स्थायी दशा की ओर, पहली दशा में काफ़ी समान इकाइयों की बहुलता होती है और वे अपेक्षाकृत अपने व्यवहार में असंगत तथा असंबद्ध होती हैं जबकि दूसरी दशा में अपेक्षाकृत कम हिस्से होते हैं। आज मानव प्राणी इतने जटिल रूप से संगठित तथा जुड़े हुए हैं कि उनका व्यवहार नियमित, संगत तथा पुर्वानुमानित है।

### जैविक अनुरूपता (organic analogy)

स्पेंसर ने सामाजिक विकास के अपने विचार के द्वारा ज्ञान के सभी क्षेत्रों की जांच की है। मानव समाज की एक जीव के साथ तुलना करते हुए, स्पेंसर का अभिप्राय जैविक अनुरूपता से है। स्पेंसर ने यह महसूस किया कि जैविक जीव तथा समाज में कुछ अंतर है।

उसका कहना था कि एक समाज अस्तित्व के रूप में जीव से कुछ अधिक तथा उससे अलग होता है, हालांकि मानव प्राणी (व्यक्ति) समाज के अंग होते हैं। यह सामाजिक संगठन के तत्वों और उनके परस्पर निर्भर प्रकार्यों की मिली-जुली व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति सामाजिक क्रियाओं की अपनी विधि को अपनाते हैं। समाज एक अधि-जैविक अस्तित्व (super organic entity) है और जीव के स्तर से ऊपर उठा हुआ अपने आप में ही एक अस्तित्व है।

इस स्थापना का अनुसरण करते हुए स्पेंसर ने इस विचार को मानने से इन्कार कर दिया कि समाज बहुत से व्यक्तियों की सामूहिकता के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। उसके अनुसार समाज बहुत से व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं अपितु उससे अलग एक अस्तित्व वाला होता है। संपूर्ण अपने हिस्सों से कुछ अधिक होता है। जिस प्रकार, एक मकान ईटों, लकड़ी तथा पत्थर के मात्र एकीकरण से कुछ ज्यादा होता है उसी प्रकार समाज भी केवल सभी मनुष्यों की सामूहिकता ही नहीं है बल्कि अपने आप में एक अस्तित्व है। इसमें विभिन्न हिस्सों की एक निश्चित क्रमबद्धता समाहित होती है। परंतु स्पेंसर एक व्यक्तिवादी विचारक था, इसलिए उसका विश्वास था कि जैविक जीवों के विपरीत, जहां विभिन्न हिस्से संपूर्ण के लाभ के लिए अस्तित्व में रहते हैं, समाज में "संपूर्ण" विभिन्न हिस्सों के लिए अस्तित्व में रहता है अर्थात् समाज का अस्तित्व व्यक्तियों के लिए है (टिमाशेफ 1967: 38)।

### समाजों का विकास

स्पेंसर सामाजिक विकास के संबंध में दो वर्गीकरण प्रणालियां बनाना चाहता था। पहली व्यवस्था के अनुसार सामाजिक विकास की प्रक्रिया में समाज अपने संघटन की श्रेणी के आधार पर सरल से सम्मिश्र समाज के विभिन्न स्तरों की ओर क्रियाशील है। इसी सामाजिक विकास को आरेख के रूप मे। चित्र 2.3 में दिये आरेख द्वारा व्यक्त किया गया है।

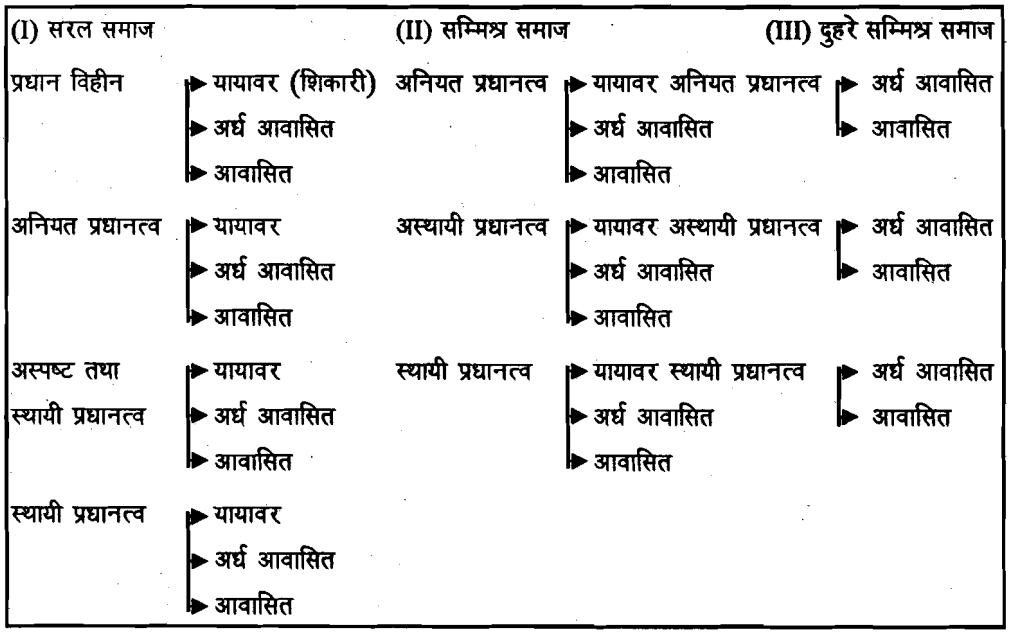


**चित्र 2.3: समाजों का विकास**

इस आरेख से आपको स्पेंसर द्वारा प्रतिपादित समाजों के विकास की प्रक्रिया समझ आ गई होगी। स्पेंसर के अनुसार कुछ साधारण समाजों के समुच्चय से सम्मिश्र समाज उत्पन्न होते हैं (इन्हें इस आरेख से नहीं दिया गया है)। स्पेंसर के अनुसार साधारण समाजों में परिवार होते हैं, सम्मिश्र समाज में परिवारों से मिलकर बने कुल होते हैं, दुहरे सम्मिश्र समाजों में कुलों से मिलकर बने जनजातीय समूह होते हैं और तिहरे सम्मिश्र समाजों में, जैसा कि हमारा समाज है, जनजातीय समूहों से मिलकर बने राष्ट्र और राज्य होते हैं (टिमाशेफ 1967: 40)।

दूसरी वर्गीकरण व्यवस्था प्ररूपों की संरचना पर आधारित है, जो वास्तव में तो विद्यमान नहीं होती किंतु विभिन्न समाजों के विश्लेषण तथा उनके बीच तुलना करने में यह सहायक हो सकती है। यहां पर विकास के एक भिन्न प्रकार अर्थात् सैन्य से औद्योगिक समाज तक के बारे में सोचा गया है।

### i) युद्धप्रिय समाज

युद्धप्रिय समाज एक ऐसा समाज होता है जिसमें मुख्यत: आक्रामक तथा सुरक्षात्मक फौज़ी कार्रवाई के लिए संगठन किया जाता है। इस प्रकार के समाज के निम्नलिखित लक्षण होते हैं।

- इस प्रकार के समाजों के सदस्यों के बीच संबंध **अनिवार्य सहयोग (compulsory cooperation)** के आधार पर होते हैं।
- सत्ता तथा सामाजिक नियंत्रण का अत्यधिक केंद्रीकृत विन्यास
- मिथकों तथा विश्वासों का बाहुल्य जो समाज के श्रेणीक्रम स्वरूप को दृढ़ करता है।
- कठोर अनुशासन वाले कठिन जीवन तथा सार्वजनिक और निजी जीवन के बीच घनिष्ठ एकरूपता होती है।

### ii) औद्योगिक समाज

औद्योगिक समाज में सैन्य कार्यकलाप तथा संगठन समाज के लिए बाह्य होते हैं। समाज मानव उत्पादन तथा कल्याण पर ध्यान सकेंद्रित होता है।

इस प्रकार के समाज के निम्नलिखित लक्षण होते हैं

- इन समाजों में **स्वैच्छिक सहयोग (voluntary cooperation)** की प्रधानता होती है।
- लोगों के वैयक्तिक अधिकारों को दृढ़ता से माना जाता है।
- सरकार के राजनीतिक नियंत्रण से आर्थिक क्षेत्र को पश्थक रखा जाता है।
- मुक्त समितियों और संस्थाओं का विकास होता है।

स्पेंसर यह जानता था कि किसी भी समाज को इन दोनों में से किसी व्यवस्था में पूरी तरह से सही उतरने की ज़रूरत नहीं है। विभिन्न वर्गीकृत समाज केवल वर्गीकरण में प्रतिरूपों का प्रयोजन सिद्ध करते हैं। ये हर्बर्ट स्पेंसर के कुछ मुख्य विचार हैं। आइए, अब अगले भाग में हम यह अध्ययन करें कि स्पेंसर के समाजशास्त्र संबंधी विचार समकालीन समय के लिए कितने प्रासंगिक हैं और समकालीन समाजशास्त्रियों पर उनका क्या प्रभाव पड़ा। परंतु पहले सोचिए और करिए 2 को पूरा कर लें।

**सोचिए और करिए 2**

हर्बर्ट स्पेंसर द्वारा दिए गए सामाजिक विकास संबंधी विचारों को आपने पढ़ा है। उसके विचारों के संदर्भ में तीन व्यक्तियों से चर्चा करें। इनमें से एक आपके दादा की पीढ़ी के हों, एक आपके पिता की पीढ़ी के और एक आपकी पीढ़ी के। चर्चा करते समय उनसे यह पता लगाइए कि उन्होंने विवाह, परिवार, अर्थव्यवस्था या राज्य व्यवस्था जैसी प्रमुख सामाजिक संस्थाओं में क्या-क्या परिवर्तन देखे हैं।

प्रत्येक पीढ़ी द्वारा सामाजिक संस्थाओं में जो सामाजिक परिवर्तन देखे गए है उनके ब्यौरों की तुलना करते हुए लगभग दो पृष्ठों की एक टिप्पणी लिखिए। यदि संभव हो तो उस टिप्पणी को अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणियों के साथ मिलाइए।

## 2.4.4 समकालीन समाजशास्त्र पर स्पेंसर के विचारों का प्रभाव

समाजशास्त्र के प्रथम प्रवर्तक कॉम्ट के विपरीत समाजशास्त्र के दूसरे प्रवर्तक स्पेंसर को समाजशास्त्र से बिलकुल भिन्न प्रत्याशाएं थीं। कॉम्ट लोगों को बेहतर समाज बनाने की ओर अग्रसर करना चाहता था जबकि स्पेंसर समाजशास्त्र के माध्यम से लोगों को यह दिखाना चाहता था कि मानव को समाज में चल रही सहज प्रक्रिया में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। स्पेंसर स्वतंत्रता की सहज मूल प्रवृत्ति में अटूट विश्वास रखता था और उसका विश्वास था कि यदि इस सहज वशत्ति में कोई हस्तक्षेप किया जाएगा तो वह हानिकारक होगा।

डार्विन से प्रभावित होकर स्पेंसर का सर्वोपयुक्त की उत्तरजीविता की धारणा में विश्वास था। डार्विन की तरह उसका भी कहना था कि प्रकृति में कमज़ोर और अयोग्य को समाप्त करने की ताक़त होती है। योग्यतम व्यक्ति वही है जो स्वस्थ है और बुद्धिमान है। उसके लिए राज्य एक संयुक्त पँजी कंपनी की तरह होता है जो व्यक्तियों के परस्पर हितों का संरक्षण करता है (टिमाशेफ़ 1967: 41)। उसके अनुसार प्रकृति मनुष्य की अपेक्षा अधिक प्रबल होती है अत: सरकार को इस विकास की प्रक्रिया में हस्तक्षेप करना बंद कर देना चाहिए। उसने सरकार को शिक्षा, सफ़ाई प्रबंध, बंदरगाहों के सुधार आदि जैसी गतिविधियाँ करने से मना किया। इस प्रकार, उसके लिए विक्टोरिया काल की अहस्तक्षेप की नीति अर्थात् मुक्त बाज़ार का समाज (जिसमें सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होता और व्यक्ति परस्पर प्रतिस्पर्धा के लिए स्वतंत्र होते हैं) सभी समाजों में सर्वोत्तम था।

समाज को अतिजैविक व्यवस्था के रूप में समझने के बारे में स्पेंसर की अवधारणा में कई समस्याएं आईं। उसने संस्कृति को एकीकृत समाज का एक हिस्सा नहीं माना। समाजों का सरल से सम्मिश्र समाज की ओर सामाजिक विकास से संबंधित उसका विवेचन भी दोषपूर्ण था। हालांकि उसने वास्तविकता के लिए एक एकीकृत सिद्धांत बनाया। उसका विकास का सिद्धांत एक सार्वभौमिक (cosmic) सिद्धांत है और इसलिए टिमाशेफ़ (1967: 43) के अनुसार उसका सिद्धांत सही अर्थ में समाजशास्त्र की बजाए दर्शनशास्त्र का सिद्धांत है।

अपने समय में स्पेंसर बहुत लोकप्रिय था और यदि किसी बुद्धिजीवी ने उसकी पुस्तकें नहीं पढ़ी होती थीं तो यह उसके लिए लज्जास्पद माना जाता था। उसकी लोकप्रियता इंग्लैंड, संयुक्त राज्य अमरीका तथा रूस तक में फैल गई लेकिन फ्रांस तथा जर्मनी में उसे उतनी ख्याति नहीं मिली थी। उसके विचार इसलिए लोकप्रिय हो गए कि वे तत्कालीन स्थितियों के अनुसार थे। उदाहरणत: उसके विचार ज्ञान को एक कर देने की इच्छा तथा अहस्तक्षेप के सिद्धांत की वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या करने में समर्थ थे। अहस्तक्षेप के सिद्धांत को एडम स्मिथ तथा रिकार्डो जैसे अर्थशास्त्रियों ने लोकप्रिय बनाया था। इस सिद्धांत से मुक्त बाज़ार की धारणा को समर्थन मिला जिसमें कीमतों का निर्धारण मांग और पूर्ति की शक्तियों के आधार पर होता था। इस तरह के बाज़ार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा संभव हो सकती थी। यह सिद्धांत अट्ठारहवी-उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान लोकप्रिय हुआ क्योंकि अर्थशास्त्री तथा सामाजिक चिंतक यह मानते थे कि राष्ट्र की संपदा बढ़ाने का यही सर्वोत्तम ढंग था।

कॉम्ट और स्पेंसर दोनों समाजशास्त्र को समाज के विज्ञान की प्रस्थिति तक पहुंचाने में सफल हुए। अगली इकाई में आपको समाजशास्त्र के कुछ अन्य संस्थापक विद्वानों के बारे में जानकारी हासिल होगी।

**बोध प्रश्न 2**

i) निम्नलिखित में से किस-किस को हर्बर्ट स्पेंसर के चिंतन की विशेषता के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है?

क) विकास मूल अवधारणा है।

ख) सभी प्रकार का ज्ञान एक व्यवस्थित तथा परीक्षण योग्य कथनों से मिलकर बनेगा।

ग) परिवर्तन की सभी प्रक्रियाओं में स्पष्ट भिन्नता होती है।

घ) समाज का एक अधि जैविक (super organic) अस्तित्व होता है।

ड.) समाज व्यक्तियों के समूह से कुछ अधिक होता है।

च) समाज की दो वर्गीकरण प्रणालियां बनाई गई।

छ) संघटन के आधार पर जो व्यवस्था बनी उसमें सरल समाज, सम्मिश्र समाज, दुहरे सम्मिश्र समाज तथा तिहरे सम्मिश्र समाज सम्मिलित थे।

ज) एक भिन्न व्यवस्था में औद्योगिक तथा सैन्य समाज आते हैं।

झ) वैज्ञानिक ज्ञान असीमित होता है।

ii) सामाजिक विकास के संबंध में स्पेंसर के तर्कों को चार पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

iii) कॉम्ट और स्पेंसर के विचारों में क्या समानता है? तीन पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

## 2.5 सारांश

इस इकाई में आपने समाजशास्त्र के उदय के बारे में पढ़ा। आपने यह जाना कि मानव व्यवहार तथा मानव समाज का व्यवस्थित अध्ययन अपेक्षाकृत अभी हाल में शुरू हुआ है। हमने ऑगस्ट कॉम्ट (1798–1857) के जीवन और उसके सामाजिक परिवेश के बारे में भी बताया। वह समाजशास्त्र का प्रवर्तक माना जाता है। उसने समाज के विज्ञान को समाजशास्त्र की संज्ञा दी। हमने कॉम्ट के मुख्य विचारों के बारे में भी बताया। ये मुख्य विचार इस प्रकार हैं

- तीन अवस्थाओं का नियम: धर्मशास्त्रीय अवस्था, तत्वमीमांसीय अवस्था तथा सकारात्मक अवस्था
- विज्ञानों का श्रेणीक्रम
- स्थैतिक तथा गतिशील समाजशास्त्र

हमने समकालीन समाजशास्त्र में कॉम्ट के विचारों के महत्व पर भी चर्चा की।

इसी इकाई में हमने अंग्रेज़ समाजशास्त्री, हर्बर्ट स्पेंसर, के जीवन और उसके सामाजिक परिवेश के बारे में चर्चा की।

स्पेंसर को समाजशास्त्र का दूसरा प्रवर्तक माना जाता है। स्पेंसर के निम्नलिखित मुख्य विचारों पर भी हमने चर्चा की।

- विकासवादी सिद्धांत
- जैविक अनुरूपता
- समाजों का विकास, पहले संघटन के रूप में सरलता से सम्मिश्रता की ओर। दूसरा सैन्य समाज से औद्योगिक समाज में परिवर्तन के रूप में।

अंत में हमने समकालीन समाजशास्त्र में स्पेंसर के विचारों के महत्व पर चर्चा की।

## 2.6 शब्दावली

**अनिवार्य सहयोग** लोगों के बीच ऐसा सहयोग जो सत्ता पक्ष द्वारा अनिवार्य रूप से उन पर थोपा जाता है।

**गतिशील** कोई वस्तु या बल जो गतिशील अवस्था में हो। यह समाज में सामाजिक परिवर्तन का द्योतक है।

**विकास** एक दीर्घ समयावधि में हुए धीमे परिवर्तनों की प्रक्रिया जैसे अमीबा यथा कोशकीय प्राणी से जटिल बहुकोशिकीय प्राणी, यथा मानव के रूप में विकसित होता है।

**तत्वमीमांसीय** शाब्दिक अर्थ में, तत्वमीमांसा दर्शनशास्त्र की वह शाखा होती है जो प्रकृति तथा चिंतन के प्रथम सिद्धांतों का अन्वेषण करती है। कॉम्ट के लिए यह मस्तिष्क के विकास की एक अवस्था है जिसमें मस्तिष्क किसी घटना को अमूर्त अस्तित्वों या शक्तियों जैसे प्रकृति के माध्यम से विवेचना करता है। इस अवस्था में मानव प्राणी इस विश्व का अर्थ सार तत्वों आदर्शों आदि के रूप में विवेचित करते हैं।

**पद्धति** किसी सामाजिक घटना के बारे में सामग्री या तथ्य इकट्ठा करने का तरीका, जैसे प्रेक्षण, साक्षात्कार, सर्वेक्षण आदि की पद्धति।

**सकारात्मक** शाब्दिक रूप से सकारात्मक का अर्थ है कोई भी चीज जो हाँ में हो। कॉम्ट के लिए यह मस्तिष्क के विकास की अंतिम अवस्था है। यहां पर मानव के अस्तित्व के मूल स्रोतों अंतिम साध्य की खोज बंद हो जाती है। इसकी बजाय मानव घटनाओं को देखना तथा इन घटनाओं के बीच विद्यमान नियमित कड़ियों को स्थापित करना प्रारंभ कर देते हैं। इस प्रकार, सकारात्मक अवस्था में मानव तथ्यों के बीच कड़ी स्थापित करने वाले तथा सामाजिक जीवन को नियंत्रित करने वाले सामाजिक नियमों की खोज करने लगते हैं।

**विज्ञान** प्रेक्षण, अध्ययन तथा परीक्षण से हासिल हुआ व्यवस्थित ज्ञान। वैज्ञानिक ज्ञान का परीक्षण किया जा सकता है, प्रमाणित अथवा सिद्ध किया जा सकता है।

**स्थैतिक** कोई भी वस्तु या बल जो सामंजस्य में है या जो गतिशील नहीं होता। समाज में यह स्थिति समाज की संरचना की धारणा पर लागू होती है।

**धर्मशास्त्रीय** इसका शाब्दिक अर्थ है धर्म का अध्ययन किंतु कॉम्ट के लिए यह मस्तिष्क के विकास की पहली अवस्था है। इस अवस्था में मस्तिष्क घटनाओं को मानव प्राणी के तुलनीय प्राणियों या शक्तियों के द्वारा विवेचित करता है। यहां सभी विवेचन प्रेतात्माओं तथा दैविक शक्तियों से संबंधित मिथकों के रूप में होते है।

**एकीकृत करना** विज्ञान का व्यापक स्वरूप जो अस्तित्व के सभी पहलुओं का विवेचन करता है।

**स्वैच्छिक सहयोग** लोगों के बीच ऐसा सहयोग जो उन पर आरोपित नहीं होता अपितु उनके द्वारा स्वैच्छिक रूप से स्वीकार किया जाता है।

**यूटोपियाई** वह जो आदर्श परंतु अव्यवहारिक सुधार के बाद ऐसे समाज की कल्पना करे, जिसमें एक आदर्श सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था है।

## 2.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कोज़र, लुइस ए. 1971. *मास्टर्स आफ़ सोशियोलॉजिकल थॉट आइडियाज़ इन हिस्टॉरिकल एण्ड सोशल कॉनटैक्स्ट.* हरकोर्ट ब्रेस जोवोनोविक: न्यूयार्क

हयूबर्ट, रेने 1963. *ऐनसाइकलोपीडिया आफ़ सोशल साइंसिज़.* वाल्यूम I-IV, पृष्ठ 151-142, मैकमिलन कम्पनी: न्यूयार्क

टिमाशेफ़, निकोलस एस. 1967. *सोशियोलॉजिकल थियरी: इटस नेचर एण्ड ग्रोथ.* रैंडम हाउस: न्यूयार्क

## 2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) क, ख, घ, च, छ, ज

ii) क) कॉम्ट समाज के वैज्ञानिक नियमों का निर्माण करना चाहता था।

ख) कॉम्ट ने स्थैतिकी तथा गतिशीलता दोनों पर ध्यान केन्द्रित किया अर्थात् वह सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण तथा समय और स्थान में परिवर्तन होने वाले रूपों का अध्ययन करना चाहता था।

ग) कॉम्ट ने विज्ञानों के एक श्रेणीक्रम की रचना की, जिसमें समाजशास्त्र शिखर पर था।

iii) ऑगस्ट कॉम्ट ने समाज में श्रम विभाजन को सामाजिक विकास की प्रक्रिया में एक ताकतवर शक्ति के रूप में देखा। उसके अनुसार श्रम विभाजन का जनसंख्या वृद्धि के साथ घनिष्ठ संबंध होता है। समाज में जितना श्रम विभाजन होगा समाज उतना ही जटिल और विकसित होगा।

iv) समाज के बारे में पूर्वकालीन विचारों के विपरीत समाजशास्त्र एक ऐसे विज्ञान के रूप में विकसित हुआ जिसमें प्रेक्षण तथा प्रमाण के आधार पर समाज का व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

**बोध प्रश्न 2**

i) क, ख, घ, ड., च, छ, ज

ii) स्पेंसर का सिद्धांत विकासवादी सिद्धांत पर आधारित था। विकास की अवधारणा इस बात पर आधारित थी कि प्रकृति के हर रूप में परिवर्तन होता है और तत्व एक ही पदार्थ से व्युत्पन्न होता है। इसलिए विज्ञान का नियत कार्य ऐसे ज्ञान की रचना करना है जो हमारे चारों ओर दुनिया में होने वाले रूपांतरण के विभिन्न विन्यासों के ढंग का अध्ययन करे।

iii) कॉम्ट और स्पेंसर दोनों निम्नलिखित विचारों में समान विश्वास करते थे

क) वैज्ञानिक ज्ञान का नियत कार्य परीक्षण योग्य नियमों की स्थापना करना है।

ख) वैज्ञानिक नियत अंत:संबंधों के कथन होते हैं अर्थात् वे "सहअस्तित्व तथा अनुक्रम की समानता" वाले होते हैं।

ग) केवल वैज्ञानिक ज्ञान ही पूर्वनुमानों के लिए विश्वसनीय आधार प्रदान कर सकता है।

# इकाई 3 समाजशास्त्र के संस्थापक - II

## इकाई की रूपरेखा


3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 जार्ज ज़िमेल (1858–1918)

- 3.2.1 जीवन परिचय
- 3.2.2 सामाजिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 3.2.3 मुख्य विचार
  - 3.2.3.1 तात्विक समाजशास्त्र
  - 3.2.3.2 सामाजिक प्ररूप
  - 3.2.3.3 ज़िमेल के समाजशास्त्र में संघर्ष की भूमिका
  - 3.2.3.4 आधुनिक संस्कृति के संबंध में ज़िमेल के विचार
- 3.2.4 समकालीन समाजशास्त्र पर ज़िमेल के विचारों का प्रभाव

3.3 विल्फ़्रेडो परेटो (1848–1923)

- 3.3.1 जीवन परिचय
- 3.3.2 सामाजिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 3.3.3 मुख्य विचार
  - 3.3.3.1 तर्कसंगत और अतर्कसंगत क्रिया
  - 3.3.3.2 अवशिष्ट (residues) और व्युत्पाद (derivatives)
  - 3.3.3.3 अभिजात वर्ग सिद्धांत और अभिजन परिभ्रमण (circulation of elites) का सिद्धांत
- 3.3.4 समकालीन समाजशास्त्र पर परेटो के विचारों का प्रभाव

3.4 थोर्स्टीन वेब्लेन (1857–1929)

- 3.4.1 जीवन परिचय
- 3.4.2 सामाजिक-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 3.4.3 मुख्य विचार
  - 3.4.3.1 प्रौद्यागिक विकास का सिद्धांत
  - 3.4.3.2 संपन्न वर्ग का सिद्धांत
  - 3.4.3.3 संपन्न वर्ग और प्रदर्शन उपभोग (leisure class and conspicuous Consumption)
  - 3.4.3.4 प्रकार्यात्मक विश्लेषण
  - 3.4.3.5 सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा
- 3.4.4 समकालीन समाजशास्त्र पर वेब्लेन के विचारों का प्रभाव

3.5 सारांश

3.6 शब्दावली

3.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

## 3.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप द्वारा संभव होगा

- जॉर्ज ज़िमेल, विल्फ्रेडो परेटो और थोर्स्टीन वेब्लेन आदि प्रारंभिक समाजशास्त्रियों की जीवनी संबंधी विवरण प्रस्तुत करना
- प्रारंभिक समाजशास्त्रियों की सामाजिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा करना
- उनके मुख्य-मुख्य विचारों की व्याख्या करना
- समकालीन समाजशास्त्र पर उनके विचारों के प्रभाव के बारे में विचार-विमर्श करना।

## 3.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने ऑगस्ट कॉम्ट और हर्बर्ट स्पेंसर नामक समाजशास्त्र के दो संस्थापकों के मुख्य विचारों के बारे में पढ़ा। आपने यह भी पढ़ा था कि कॉम्ट के मन में समाज से संबंधित विज्ञान की स्थापना का विचार क्यों पैदा हुआ तथा इस विचार को उसने समाजशास्त्र का नाम दिया। आपने हर्बर्ट स्पेंसर के प्रारंभिक विचारों की भी जानकारी प्राप्त की और यह जाना कि उसके अनुसार समाज एक अधि-जैविक (super organic) व्यवस्था है।

इस इकाई में हमने आपको जॉर्ज ज़िमेल (1858–1918), विल्फ्रेडो परेटो (1848–1923), और थोर्स्टीन वेब्लेन (1857–1929), तीन सबसे प्रमुख प्रारंभिक समाजशास्त्रियों के मुख्य विचारों के बारे में बताया है। समाजशास्त्र के वैज्ञानिक शास्त्र के रूप में विकास में कई अन्य समाजशास्त्रियों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इनके बारे में आपको आगे चलकर बताया जाएगा। यहाँ हमने इन तीन विचारकों को इसलिए चुना है क्योंकि इनमें से प्रत्येक ने अपने अध्ययन के द्वारा समाज के वैज्ञानिक अध्ययन को नई दिशा प्रदान की है। ज़िमेल उन प्रारंभिक समाजशास्त्रियों में से एक है जिसने संघर्ष के सकारात्मक पक्ष की ओर ध्यान दिया। अभिजात वर्ग और इसकी चक्रीय क्रिया अर्थात् अभिजन परिभ्रमण परेटो का सिद्धांत आज भी राजनैतिक समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए मार्गदर्शक है। आज चाहे वेब्लेन की पुस्तकें उतनी प्रचलित न हों लेकिन उसके द्वारा आधुनिक संस्कृति का अत्यधिक सूक्ष्म विश्लेषण अभी भी लोकप्रिय है। इसके साथ ही उसने पूँजीवादी समाज के विभिन्न तत्वों के वर्णन के लिए **प्रदर्शनकारी उपभोग (conspicuous consumption),** प्रशिक्षित अक्षमता (trained incapacity), **लुटेरा वर्ग** (predatory classes) आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया। इन पारिभाषिक शब्दों का बार-बार प्रयोग न केवल समाजशास्त्री करते हैं अपितु अन्य समाज विज्ञानी भी करते हैं।

इस इकाई के भाग 3.2 में जॉर्ज ज़िमेल के मुख्य-मुख्य विचारों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है, भाग 3.3 में विल्फ्रेडो परेटों के विचारों का विवरण दिया गया है, भाग 3.4 में थोर्स्टीन वेब्लेन के आधारभूत विचारों की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है और अंत में भाग 3.5 में इस इकाई का सारांश दिया गया है।

समाजशास्त्र के अत्यधिक गहन विचारक और संस्थापक कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर और एमिल दर्खाइम के बारे में ई.एस.ओ.-13 के खंड 2, 3, 4 और 5 में क्रमशः विवेचना की जाएगी।

## 3.2 जॉर्ज ज़िमेल (1858–1918)

जॉर्ज ज़िमेल जर्मनी का प्रसिद्ध समाजशास्त्री था। उसके माता-पिता यहूदी थे। समाज को समझने के लिए ज़िमेल ने एक नया परिप्रेक्ष्य प्रदान किया। उसने समाजशास्त्र को नए दृष्टिकोण से

समझने का प्रयास किया। उसने इससे पूर्व के विद्वानों यथा कॉम्ट और स्पेंसर के जैविकीय सिद्धांतों को अस्वीकार कर दिया। इन सिद्धांतों के बारे में आपने पिछली इकाई में पढ़ा है। उसने अपने ही देश जर्मनी की उस ऐतिहासिक परंपरा को भी अस्वीकार कर दिया जिसमें विशेष घटनाओं के ऐतिहासिक रूप से वर्णन को महत्व दिया जाता था। इसके विपरीत उसने एक ऐसे समाजशास्त्रीय सिद्धांत का विकास किया जिसके अनुसार समाज का गठन सुनिर्धारित अंत:क्रियाओं के ताने-बाने से होता है। उसके मत में समाजशास्त्र का कार्य विभिन्न ऐतिहासिक कालों और विभिन्न सांस्कृतिक परिवेशों में समाज में होने वाली अंत:क्रियाओं के स्वरूप को समझना है।

आगे आने वाले उपभागों में हमने सामाजिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ज़िमेल का जीवन परिचय, उसके मुख्य विचार और उसके विचारों का समकालीन समाजशास्त्र पर प्रभाव का विवरण प्रस्तुत किया है।

## 3.2.1 जीवन परिचय

जॉर्ज ज़िमेल का जन्म 1 मार्च 1858 को बर्लिन के मध्य भाग में हुआ था। वह बर्लिन में ऐसे स्थान पर पैदा हुआ था जिसकी तुलना दिल्ली के कनॉट प्लेस या लखनऊ के अमीनाबाद से की जा सकती है। कोज़र के अनुसार ज़िमेल का यह जन्मस्थान उसके व्यक्तित्व के अनुरूप ही था जो कि जीवन पर्यंत कई बौद्धिक आंदोलनों के बीच जिया। ज़िमेल एक ऐसा शहरी व्यक्ति था जिसका परंपरागत लोक संस्कृति से कोई नाता नहीं था। ज़िमेल की पहली पुस्तक को पढ़ने के बाद विख्यात समाजशास्त्री टोनीज़ ने अपने एक मित्र को लिखा कि उसकी पुस्तक बुद्धिमत्तापूर्ण है, परंतु इसमें महानगरीय संस्कृति की झलक दिखाई देती है (कोज़र 1967: 194)। ज़िमेल के माता-पिता यहूदी थे। बाद में उन्होंने प्रोटेस्टैंट धर्म स्वीकार कर लिया। ज़िमेल अपने माता-पिता के सात बच्चों में सबसे छोटा था और उसे प्रोटेस्टैंट धर्म की दीक्षा दी गई थी। जब वह बहुत छोटा था तभी उसके पिता की मृत्यु हो गई थी। एक संगीत-प्रकाशन गृह का मालिक ज़िमेल के परिवार का मित्र था। उसे ज़िमेल का अभिभावक नियुक्त किया गया। ज़िमेल को अपने अभिभावक की संपत्ति का बहुत बड़ा भाग विरासत में मिला, इसलिए उसे जीवन भर किसी प्रकार की आर्थिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। उसका अपनी माँ के साथ बहुत घनिष्ठ संबंध नहीं था क्योंकि वह बहुत दबंग (dominating) महिला थीं। इस कारण उसकी पारिवारिक स्थिति बहुत सुरक्षित नहीं थी। उसकी अधिकांश रचनाओं में यही असुरक्षा की भावना दिखाई देती है।

चित्र 3.1. जॉर्ज ज़िमेल (1858–1918)

ज़िमेल ने 1876 में बर्लिन विश्वविद्यालय में पूर्वस्नातक के रूप में प्रवेश लिया। उसने पहले इतिहास विषय लिया परंतु बाद में बदलकर दर्शन शास्त्र ले लिया। उसने 1881 में बर्लिन विश्वविद्यालय से कान्ट के प्रकृति दर्शन शोध विषय पर डॉक्टरेट की उपाधि ली। इसी दौरान वह साइबेल मोमसेन, त्राइशके और ड्रॉयसेन जैसे कुछ महत्वपूर्ण विद्वानों के संपर्क में आया।

सन् 1885 में ज़िमेल बर्लिन में अवैतनिक लेक्चरर (प्राध्यापक) नियुक्त हो गया उसने वहाँ तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र का इतिहास, नीतिशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान और समाजशास्त्र आदि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के विषय पढ़ाए। उसने कान्ट, शॉपेनओ, डार्विन, और नीत्शे आदि के साथ अनेक अन्य दार्शनिकों के विचारों के बारे में भाषण दिए। उसके पढ़ाने के विषयों का विस्तार असाधारण था और वह बहुत ही लोकप्रिय प्राध्यापक था। उसके भाषण न केवल छात्रों के लिए बल्कि बर्लिन के सांस्कृतिक अभिजात वर्ग के लिए भी बौद्धिक महत्व वाले थे।

ज़िमेल की प्रवक्ता के रूप में अत्याधिक लोकप्रियता के बावजूद उसका शैक्षिक जीवन असफल रहा। इसका एक कारण यहूदी विरोधी भावना थी जिसका उसके जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। मैक्स वेबर, हाइनरिख रिकर्ट, एडमड हसर्ल आदि प्रमुख विद्वानों के समर्थन और

प्रोत्साहन के बावजूद जर्मनी के शैक्षिक अधिकारियों ने उससे बहुत बुरा व्यवहार किया। उसने पंद्रह वर्ष तक अवैतनिक लेक्चरर के रूप में कार्य किया। सन् 1901 में, 43 वर्ष की आयु में उसे अंतत: अवैतनिक प्रोफ़ेसर का दर्जा प्राप्त हुआ जिसका बर्लिन के स्थायी शैक्षिक जगत में कोई विशेष महत्व नहीं था। वहाँ के जाने-माने शैक्षिक जगत की नज़रों में वह बाहरी व्यक्ति ही बना रहा।

शैक्षिक अधिकारी ज़िमेल को इसलिए भी वस्तुत: अछूत समझते थे क्योंकि वह परंपरा का विरोधी था। परंपरावादी प्रोफ़ेसरों की तरह ज़िमेल का विश्वास मात्र एक शास्त्र के विकास या केवल शैक्षिक समुदाय की आवश्यकता की पूर्ति नहीं था। अपनी मौलिकता और अद्भुत बौद्धिक क्षमता के कारण वह सहज ही एक विषय से बदल कर दूसरे विषय पर बोल सकता था। एक ही सत्र (semester) में वह कान्ट की ज्ञान मीमांसा (epistemology) जैसे गंभीर विषय पर भाषण दे सकता था तो साथ ही वह "गंध का समाजशास्त्रीय अध्ययन" और "नाज़ नख़रे और फ़ैशन का समाजशास्त्र" जैसे हल्के-फुल्के विषयों पर भी निबंध प्रकाशित कर सकता था।

यद्यपि ज़िमेल वहाँ के शैक्षिक जगत के लिए बाहरी व्यक्ति था फिर भी वह अपने समय के महान बुद्धिजीवियों के निकट संपर्क में रहता था। सभी बुद्धिजीवी उसकी योग्यता को स्वीकार करते थे। वह वेबर और टोनीज़ के साथ "जर्मन सोसाइटी फ़ॉर सोशियोलॉजी" का सह संस्थापक था। उसने अपनी पत्नी गरत्रुड के साथ, जिससे उसका विवाह 1890 में हुआ था, सुविधापूर्ण मध्यवर्गीय जीवन यापन किया।

ज़िमेल के भाषणों ने केवल शिक्षाशास्त्रियों को ही प्रभावित नहीं किया अपितु उसके भाषणों से अन्य विभिन्न वर्गों के लोग भी लाभान्वित हुए। शैक्षिक अधिकारियों के विरोध का एक यह भी कारण था। अंतत: ज़िमेल ने अपना शैक्षिक लक्ष्य प्राप्त कर लिया और सन् 1914 में प्रथम विश्व युद्ध के दौरान स्ट्रॉसबर्ग विश्वविद्यालय ने उसे पूर्ण प्रोफ़ेसर का दर्जा प्रदान किया। भाग्य की बड़ी विचित्र लीला है कि जब उसे शैक्षिक पद प्राप्त हुआ तभी से उसकी लेक्चरर की महत्वपूर्ण शैक्षिक भूमिका समाप्त हो गई क्योंकि जब वह स्ट्रॉसबर्ग आया तो वहाँ भाषण के लिए निर्धारित सभी स्थलों को सैनिक अस्पतालों में परिवर्तित कर दिया गया था। ज़िमेल की मृत्यु 28 सितम्बर 1918 को युद्ध समाप्त होने से पूर्व ज़िगर के कैंसर से हो गई।

### 3.2.2 सामाजिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ज़िमेल की युवावस्था के समय जर्मनी में संयुक्त जर्मन राइख का आरम्भ हुआ था। 1870 में फ्रांस के विरुद्ध युद्ध में विजय के उपरांत बिस्मार्क ने इस राइख की स्थापना की थी। इसी समय से जर्मनी में ज़बरदस्त परिवर्तन हुए। जर्मनी की राजधानी बर्लिन विश्व का एक प्रमुख नगर बन गई। इसके औद्योगीकरण और आर्थिक विकास की गति में तेज़ी आई। परंतु आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन के बावजूद राजनैतिक क्षेत्र में कोई बदलाव नहीं आया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में अर्ध सामंतवादी राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत जर्मनी एक पूँजीवादी देश बन गया। बौद्धिक क्षेत्र में विश्वविद्यालयों के प्रोफ़ेसरों को सम्मान का दर्जा प्राप्त था। परंतु जिस तरह फ्रांस और इंग्लैंड के उदारवादी समाजों के बुद्धिजीवियों के विचारों ने उनके देश के लोगों के चिंतन को पूर्णरूपेण परिवर्तित कर दिया था, जर्मनी में इस प्रकार का कुछ नहीं हुआ। परिणामस्वरूप जर्मनी सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में पिछड़ गया। जर्मनी के मध्यम वर्ग के लोग कमज़ोर और निरुत्साहित बने रहे तथा वे विश्वविद्यालयों के प्रोफ़ेसरों के अनुशासित, व्यवस्थाबद्ध और विशेषीकृत्त ज्ञान से अत्यधिक त्रस्त थे।

बौद्धिक क्षेत्र में इस विरोध के बावजूद विशेष रूप से बर्लिन जैसे बड़े शहरों में ऐसा बुद्धिजीवी वर्ग था जो इससे अलग था। यह बुद्धिजीवी वर्ग विश्वविद्यालयों में अपने प्रतिस्थानियों की तुलना

में अत्याधिक सक्रिय, नवीनतावादी और स्थापित परंपराओं से असंबद्ध था। इस वर्ग में पत्रकार, नाटककार, लेखक और रूढ़िमुक्त कलाकर थे। इनके विचार शैक्षिक क्षेत्र या विश्वविद्यालयों में इससे पूर्व विद्यमान विचारों से कहीं अधिक क्रांतिकारी थे। इस वर्ग के लोग प्राय: आपस में विचारों का आदान-प्रदान करते रहते थे (कोज़र 1971: 20)। जर्मनी की इस विरोधी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाला यह वर्ग, राजनीतिक दृष्टि से अधिक सजग था। इस वर्ग में समाजवादी विचारों, भौतिकवाद, सामाजिक डार्विनवाद आदि के पर्याप्त अनुयायी थे जिन्हें विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर हीन समझते थे।

जॉर्ज ज़िमेल शैक्षिक वर्ग के उत्पीड़न के कारण बाहरी व्यक्ति यानी अजनबी बना रहा। वह विश्वविद्यालयों की संस्कृति और बर्लिन की विरोधी संस्कृति दोनों से जुड़ा रहा। परंतु उसने दोनों ही संस्कृतियों में ग़ैर सदस्य के रूप में ही भाग लिया। ज़िमेल अपनी इस वर्ग निरपेक्ष स्थिति के कारण ही ऐसी बौद्धिक दूरी बनाए रख सका कि वह समाज का निष्पक्ष दृष्टि से अध्ययन और विश्लेषण कर सका। वह किसी भी वर्ग से पूरी तरह जुड़ा हुआ नहीं था इसलिए उस पर किसी विशिष्ट बौद्धिक वर्ग के विचारों और मूल्यों का प्रभाव नहीं था। यह उस सामाजिक और ऐतिहासिक युग की रूपरेखा थी जिसमें ज़िमेल ने अपनी जीवन बिताया। आइए, अब हम उसके मुख्य विचारों का विश्लेषण करें।

### 3.2.3 मुख्य विचार

इससे पूर्व हमने यह उल्लेख किया है कि जॉर्ज ज़िमेल ने जैवकीय परंपरा और जर्मनी की ऐतिहासिक परंपरा को अस्वीकार किया। कॉम्ट और स्पेंसर की तरह उसका यह विश्वास नहीं था कि समाज को एक वस्तु या जीव के रूप में समझा जा सकता है। उसकी दृष्टि में समाज व्यक्तियों के बीच बहुविध संबंधों का जटिल तंतुजाल है। समाज के घटक व्यक्ति एक दूसरे के साथ निरंतर अंत:क्रिया में संलग्न हैं। समाज व्यक्तियों के समूह का ही नाम है जो एक दूसरे से अंत:क्रियाओं द्वारा जुड़े हैं (कोज़र 1971: 178)।

ज़िमेल ने पहले-पहल "सामाजिकता" (sociation) शब्द का प्रयोग किया। उसके विचार में समाज के विद्यार्थी के लिए सामाजिकता अध्ययन का एक प्रमुख क्षेत्र है। "सामाजिकता" से अभिप्राय समाज के ऐसे विशिष्ट विन्यास और स्वरूप से है जिसमें समाज के विभिन्न सदस्य एक दूसरे से संबंधित होते हैं और अंत:क्रिया करते हैं। उसके अनुसार "समाज उसका निर्माण करने वाले सदस्यों के सिवाय कुछ भी नहीं है।" यहाँ उसने इस बात की ओर भी ध्यान दिलाया है कि समाज के विभिन्न संख्या वाले भिन्न-भिन्न वर्गो के लोगों में आपस में अंत:क्रिया भी अलग-अलग प्रकार की होती है जैसे दो व्यक्तियों, तीन व्यक्तियों या तीन से अधिक व्यक्तियों के समूह में आपस में अंत:क्रिया भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। किसी वर्ग में संख्या वृद्धि के साथ उसके गठन के संदर्भ में गुणात्मक परिवर्तन होता है।

ज़िमेल के अनुसार ऐसा कोई संपूर्ण समाज विज्ञान नहीं हो सकता जिसमें सामाजिक घटनाओं के सभी पक्षों का अध्ययन किया जाता हो। प्राकृतिक विज्ञानों में भी ऐसा कोई एक पूर्ण विज्ञान नहीं है जिसमें संमूर्ण भौतिक द्रव्यों का अध्ययन हो। इसलिए ज़िमेल का मत है कि विज्ञान को संपूर्ण ब्रह्मांड या संपूर्णताओं के अध्ययन के स्थान पर उसके घटकों और आयामों का अध्ययन करना चाहिए। इस संदर्भ में उसका यह विश्वास है कि समाजशास्त्र का कार्य मानव अंत:क्रिया के विशिष्ट रूपों का वर्णन और विश्लेषण करना है तथा राज्य, वंश, परिवार, शहर आदि समूहों के संदर्भ में उनकी विशेषताओं का निर्धारण करना है। उसके कथनानुसार संपूर्ण मानव व्यवहार, व्यक्तियों का व्यवहार है, लेकिन इस मानव व्यवहार के बहुत बड़े हिस्से को तभी समझा जा सकता है यदि हमें यह मालूम हो कि वे किस सामाजिक वर्ग से संबंधित हैं और किसी विशेष प्रकार की अंत:क्रिया में उन्हें किन-किन प्रतिबंधों का सामना करना पड़ता है। उसने अंत:क्रिया

के तत्वों का अध्ययन करने पर बल दिया। इस पद्धति ने आग चलकर तात्विक समाजशास्त्र को बढ़ावा दिया। आइए, इस बिंदु पर थोड़ी और चर्चा करें।

### 3.2.3.1 तात्विक समाजशास्त्र

कॉम्ट और स्पेंसर के समान ज़िमेल का भी यह विश्वास था कि सामाजिक जीवन की अंतर्निहित समानताओं को खोजकर निकाला जा सकता है। दूसरे शब्दों में सामाजिक नियम खोजे जा सकते हैं। ये समानताएं समाज में अंत:क्रिया के रूप में विद्यमान हैं जैसे **प्रभुता** का संबंध यानी दूसरों पर प्रभुत्व जमाना और अधीनता अर्थात् दूसरों के प्रभुत्व में दबकर रहना। सभी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, यौन संबंधी गतिविधियों के पीछे इसी अंत:क्रिया के विभिन्न रूप हैं। यह ज़िमेल का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण है। इसे तात्विक समाजशास्त्र (formal sociology) कहा जाता है। ज़िमेल के अनुसार हर विशिष्ट और कभी-कभी विरोधी घटनाओं में एक ही प्रकार की अंत:क्रिया देखी जा सकती है। उदाहरण के तौर पर अपराधी गिरोह के सरदार और उसके गिरोह के सदस्यों के बीच तथा किसी स्काउट दल के कमांडर और उसके दल के सदस्यों के बीच अंत:क्रिया का विन्यास लगभग समान होगा। इसी तरह अगर हम मध्यकालीन भारत में अकबर के दरबार और आज की ग्राम पंचायत में होने वाली अंत:क्रिया के स्वरूप का विश्लेषण करें तो हमें वहाँ भी समानता दिखाई देगी।

इतिहास में या किसी व्यक्ति के जीवन में किसी विलक्षण घटना का विशेष महत्व नहीं होता बल्कि उसमें अंतर्निहित सामाजिक अंत:क्रिया के विन्यास का महत्व होता है जैसे अधीनता या प्रभुता, केंद्रीकरण या विकेंद्रीकरण सामाजिक अंत:क्रिया को प्रभावित करते हैं। ज़िमेल ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि सामाजिक अंत:क्रिया ही समाजशास्त्रीय जाँच का विशिष्ट क्षेत्र है। ज़िमेल का सामाजिक अंत:क्रिया के स्वरूपों को समझने का आग्रह इतिहासकारों और मानविकी के अन्य प्रतिनिधियों के विश्वासों के संदर्भ में था। इनका विश्वास था कि समाज से संबंधित विज्ञान की मदद से इतिहास की विलक्षण ऐतिहासिक अनुत्क्रमणीय फिर से घटित न होने वाली घटनाओं की व्याख्या नहीं की जा सकती। ज़िमेल ने उन्हें ये भी दिखाया कि इतिहास की कुछ ऐसी विलक्षण घटनाएँ हैं जो दुबारा घटित नहीं होंगी जैसे जूलियस सीज़र की हत्या, इंग्लैंड के हेनरी अष्टम का राज्यारोहण, वाटरलू में नेपोलियन की पराजय। यदि हम इन घटनाओं को समाजशास्त्र की दृष्टि से देखें तो हमें इन ऐतिहासिक घटनाओं में अंतर्निहित समानता दिखाई दे सकती है (कोज़र 1971: 179)।

ज़िमेल के विचार में किसी भी सामाजिक यथार्थ में "शुद्ध" रूप नाम की कोई चीज़ नहीं होती। सभी सामाजिक प्रक्रियाओं में कई तरह के तत्व होते हैं। ये तत्व हैं - सहयोग और संघर्ष, अधीनता और प्रभुता आदि। इस प्रकार समाज में "शुद्ध" संघर्ष या "शुद्ध" सहयोग नहीं होता। "शुद्ध" रूप केवल काल्पनिक विचार है जो वास्तविक समाज में नहीं पाया जाता परंतु ज़िमेल ने वास्तविक सामाजिक जीवन के अध्ययन के लिए शुद्ध रूप को अपनाया है। इसलिए ज़िमेल के "प्ररूप" और मैक्स वेबर के "आदर्श प्ररूप" की अवधारणा में पर्याप्त समानता है। इस विषय में आपको आगे चलकर इस पाठ्क्रम में जानकारी दी जाएगी।

### 3.2.3.2 सामाजिक प्ररूप

समाज का अध्ययन करते हुए ज़िमेल ने सामाजिक प्ररूपों की पूरी श्रृंखला को समझने का प्रयास किया। उसके द्वारा उद्घश्त कुछ प्ररूप हैं--एक अजनबी (the stranger), मध्यस्थ (the mediator), ग़रीब व्यक्ति (the poor) आदि। उसके **सामाजिक प्ररूप (social type)** उसके **सामाजिक स्वरूप (social form)** की संकल्पना के पूरक थे। एक "सामाजिक प्ररूप" व्यक्ति विशेष के समाज में अन्य व्यक्तियों के साथ संबंधों के कारण "प्ररूप" बन जाता है। ये व्यक्ति उस व्यक्ति विशेष को समाज में एक विशिष्ट स्थान प्रदान करते हैं और उन्हें उससे कुछ अपेक्षाएं

भी होती हैं। इसलिए इस सामाजिक प्ररूप की विशेषताओं को सामाजिक संरचना के अभिलक्षणों के रूप में देखा जाता है।

ज़िमेल ने सामाजिक प्ररूप की व्याख्या करने के लिए अपनी पुस्तक, *द सोशियोलॉजी ऑफ़ जॉर्ज ज़िमेल* (1950) में एक अजनबी (the stranger) को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। ज़िमेल ने अजनबी का वर्णन करते हुए कहा है कि वह ऐसा व्यक्ति है जो आज आता है और कल भी रहता है अर्थात् समाज में रहने के लिए बाहर से आता है। यह अजनबी ऐसा व्यक्ति है जिसका समाज के उस सामाजिक समूह में विशिष्ट स्थान है जिसमें आकर वह प्रविष्ट हुआ है। इस अजनबी की सामाजिक स्थिति का निर्धारण इस बात से होता है कि वह इस सामाजिक समूह का आरंभ से सदस्य नहीं था। "अजनबी" की समाज में इस स्थिति के द्वारा ही नए सामाजिक समूह में उसकी भूमिका और अंत:क्रिया का निर्धारण होता है।

एक अजनबी के रूप में कोई व्यक्ति साथ ही साथ किसी के निकट और दूर दोनों होता है। उस सामाजिक समूह का अंश न होने पर वह अजनबी उस समाज को पक्षपातरहित निष्पक्ष भाव से देख सकता है। इस प्रकार से वह अजनबी किसी भी प्रकार के विचारों या वस्तुओं के आदान-प्रदान में आदर्श मध्यस्थ की भूमिका निभा सकता है। इस तरह हर समाज विशेष में अजनबी की स्थिति नियत और सुनिर्धारित होती है। ज़िमेल के सामाजिक प्ररूपों का यह केवल एक उदाहरण है। उसने कई अन्य उदाहरणों की भी चर्चा की है जैसे "द पुअर" (एक ग़रीब व्यक्ति), "द रेनिगेड" (विश्वासघाती व्यक्ति), "द एडवेंचरर" (साहसी व्यक्ति) आदि (कोज़र 1971: 183)।

### 3.2.3.3 ज़िमेल के समाजशास्त्र में संघर्ष की भूमिका

ज़िमेल ने अपनी सभी रचनाओं में व्यक्ति और समाज के बीच संबंधों और तनावों पर बल दिया है। उसकी राय में, व्यक्ति जहाँ एक ओर समाज से उत्पन्न होता है वहीं वह समाज में घटित होने वाली सामाजिक प्रक्रिया में एक कड़ी का काम भी करता है। इसलिए व्यक्ति और समाज के बीच दो प्रकार के संबंध हैं। व्यक्ति एक ही समय में समाज का अंग भी है और समाज से बाहर भी है। उसका अस्तित्व एक ही समय में समाज के लिए भी होता है और अपने लिए भी।

ज़िमेल ने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि यह संभव नहीं है कि सामाजिक व्यक्ति अंशत: सामाजिक हो और अंशत: व्यक्ति हो। वस्तुत: सामाजिक व्यक्ति का निर्माण आधारभूत एकता से हुआ है जिसमें हम तार्किक दृष्टि से परस्पर विरोधी तत्वों को मिला हुआ पाते हैं। इन तत्वों को इस प्रकार बताया जा सकता है कि एक तो व्यक्ति जीव रूप है और अपने आप में एक सामाजिक कड़ी भी है, इसके साथ वह समाज से उद्भूत होता है (कोज़र 1971: 184)।

ज़िमेल के समाजशास्त्र में हमें यह द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण दिखाई देता है जो समाज और सामाजिक इकाइयों के बीच सक्रिय अंत:संबंधों और साथ ही साथ संघर्षों की विद्यमानता को भी स्पष्ट करता है। ज़िमेल के अनुभव के अनुसार कोई भी समाज पूर्ण सामंजस्य में नहीं रहता है। संघर्ष भी समाज का ज़रूरी हिस्सा है वह सामंजस्य और सहमति का पूरक होता है। ज़िमेल का यह भी कहना है कि सामाजिकता या समाज की अंत:क्रियाओं में सामांजस्य और संघर्ष, खिंचाव और दुराव तथा प्यार और घृणा जैसे कई प्रकार के परस्पर विरोधी तत्वों का समावेश होता है।

उसने सामाजिक प्रत्यक्षता और सामाजिक वास्तविकता में भी अंतर किया है। कभी-कभी संघर्ष की स्थिति में संघर्ष से जुड़े हुए दोनों पक्षों को और बाहरी लोगों को भी उसका नकारात्मक पक्ष ही दिखाई देता है। परंतु यदि हम इन परस्पर विरोधी संबंधों का विश्लेषण करें तो हमें मालूम होगा कि उसका एक सकारात्मक पक्ष भी है। इसका एक उदाहरण देखिए - अफ़्रीका के कबीलों में कबीलाई दुश्मनी आम बात है। इन कबीलों में अगर "क" कबीले का कोई व्यक्ति "ख"

कबीले के किसी सदस्य की हत्या कर दे तो "ख" कबीले के सभी लोग, विशेष रूप से उसके नज़दीकी रिश्तेदार, "क" कबीले के किसी भी सदस्य की हत्या करके उसका बदला लेने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार के संबंधों का प्रभाव स्पष्ट ही पूरी तरह से नकारात्मक प्रतीत होता है। यदि हम इसका विश्लेषण करें तो हमें पता चलता है कि इसके कारण "क" और "ख" कबीले के सदस्य अपने-अपने कबीलों से और ज्यादा निकटता से जुड़ जाते हैं। इस प्रकार नकारात्मक प्रतीत होने वाले सामाजिक संबंधों के कारण उनमें सामाजिक एकता दृढ़ होती है।

### 3.2.3.4 आधुनिक संस्कृति के संबंध में ज़िमेल के विचार

ज़िमेल के अनुसार पूर्व आधुनिक समाजों में मालिक और नौकर के बीच तथा नियोक्ता और कर्मचारी के बीच अधीनता और प्रभुता के संबंध थे जिसमें व्यक्तियों का पूर्ण व्यक्तित्व शामिल होता था, उनकी स्थिति बंधुआ की सी रहती थी। इसके विपरीत आज के पूँजीवादी समाज में व्यक्तियों को उत्तरोत्तर अधिक स्वतंत्रता मिलती गई है। इससे स्वतंत्रता की संकल्पना उभर कर सामने आई और नियोक्ता द्वारा अपने कर्मचारी पर, मालिक द्वारा अपने नौकर पर प्रभुता आंशिक रूप से ही रह गई है। उदाहरण के तौर पर कारखाने का मजदूर कारखाने के समय के बाद कारखाने के मालिक के अधीन नहीं रहता। उस समय वह पूरी तरह अपने कामकाज में स्वतंत्र है।

आधुनिक समाजों में व्यक्तियों की भूमिकाएं और संबंध अलग-अलग हो गए है। व्यक्ति भिन्न-भिन्न भूमिकाएं अदा करता है। इस प्रक्रिया में वह पूर्व आधुनिक समाज में विद्यमान पूर्ण प्रभुत्व की स्थिति से मुक्त रहता है जैसे सामंती यूरोपीय समाज में मालिक और नौकर, जमींदार और खेतिहर मजदूर के बीच संबंध पाये जाते थे। इस प्रकार जिन समाजों में श्रम का स्पष्ट विभाजन है और वहाँ कई भिन्न-भिन्न सामाजिक क्षेत्र हैं, वहाँ व्यक्तिवाद उभर कर सामने आ रहा है। परंतु आधुनिक समाज में व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ मनुष्य के चारों ओर हज़ारों ऐसी वस्तुएँ हैं जिनसे उसका व्यवहार प्रभावित होता है और जो उसकी व्यक्तिगत इच्छाओं और आवश्यकताओं को नियंत्रित करती है। ज़िमेल के अनुसार आधुनिक समाज में व्यक्ति को कुछ दूसरे ही प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। ज़िमेल की भविष्यवाणी थी कि आधुनिक समाज में व्यक्तियों को उनके सामाजिक प्रकार्यों तक सीमित कर दिया जाएगा जिसमें विश्व की वस्तुगत परिपूर्णता की क़ीमत उसे मानव आत्मा के अपक्षय के रूप में चुकानी होगी (कोज़र 1971: 193)। ज़िमेल ने उपर्युक्त प्रमुख विचारों का विकास किया। अगले भाग में यह बताया जाएगा कि ज़िमेल के इन विचारों का समकालीन समाजशास्त्र पर क्या प्रभाव पड़ा।

**सोचिए और करिए 1**

आपने इस इकाई में जॉर्ज ज़िमेल की सामाजिक प्ररूप की अवधारणा के बारे में पढ़ा है कि व्यक्तिगत अंत:क्रिया के ढाँचे के पीछे एकरूपता निहित है जैसे पंचायत या निगम आदि के सदस्यों में अंत:क्रिया के पीछे अधीनता और प्रभुता, संघर्ष और सामंजस्य के तत्व विद्यमान होते हैं। अब आप अपने परिवार या कार्यदल के सदस्य के रूप में अपने परिवार या कार्यक्षेत्र या किसी अन्य सामाजिक, राजनीतिक, या आर्थिक स्थिति में व्यक्तिगत अंत:क्रिया के पीछे निहित एकरूपता के किसी एक तत्व को मालूम कीजिए।

लगभग एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए और यदि संभव हो तो उसकी तुलना अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणी से कीजिए।

## 3.2.4 समकालीन समाजशास्त्र पर ज़िमेल के विचारों का प्रभाव

ज़िमेल समाजशास्त्र की विषय-वस्तु और समाजशास्त्र की अवधारणा को पहचानने और उसकी

व्याख्या करने में इतना व्यस्त था कि उसने समाजशास्त्र पर व्यवस्थित रूप में कोई पुस्तक या निबंध नहीं लिखा। इस व्यस्तता के अलावा उसको यह भी विश्वास था कि इस विषय पर निबंध लिखने का अभी समय नहीं हुआ है। उसका यह भी विश्वास था कि समाजशास्त्र को एक विज्ञान बनने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी सुनिश्चित विषय वस्तु हो जिसका अध्ययन वैज्ञानिक पद्धतियों से किया जा सके (टिमाशेफ़ 1967: 162)। उसने समाज शास्त्र की सीमाएँ निर्धारित करने का प्रयास भी किया और इसे दूसरे समाज विज्ञानों, यानी मनोविज्ञान, इतिहास, सामाजिक दर्शन आदि विषयों से अलग करने की कोशिश की।

कोज़र (1971: 215) के अनुसार विद्वता की दृष्टि से ज़िमेल की समाजशास्त्रीय पद्धति और अध्ययन कार्यक्रम की तुलना एमिल दर्खाइम से की जा सकती है। दर्खाइम ने अपना ध्यान सामाजिक संरचना के अध्ययन पर केंद्रित किया जिसके अंतर्गत उसने बृहत्तर सामाजिक संरचनाओं, धार्मिक और शैक्षिक पद्धतियों आदि का अध्ययन किया। ज़िमेल ने अंत:क्रिया के स्वरूपों पर अपना ध्यान केंद्रित किया। परंतु दर्खाइम की तुलना में उसका अध्ययन मुख्य रूप में समाज की सूक्ष्म व्यवस्थाओं पर केन्द्रित था। दूसरे शब्दों में, उसका बृहत्तर संस्थाओं के अध्ययन में विश्वास नहीं था। वह समाज के अणुभूत व्यक्तिओं की अंत:क्रियाओं का अध्ययन करना चाहता था। उसने बुनियादी तौर पर बड़े सामाजिक संगठनों के पीछे विद्यमान व्यक्तियों की अंत:क्रिया के मूल विन्यास का अध्ययन किया।

ज़िमेल के समाजशास्त्रीय योगदान से हमें यह स्पष्ट पता चलता है कि उसने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उसके अनुसार, समाजशास्त्र की विषय-वस्तु इतिहास, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि की विषय-वस्तु से भिन्न है।

ज़िमेल के समाजशास्त्र में चाहे व्यवस्थित आधार का अभाव हो लेकिन उसके द्वारा समाजशास्त्र को दिए गए योगदान को नज़रंदाज नहीं किया जा सकता। वस्तुत: कोज़र ने इसे बहुत अच्छी तरह संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि हम ज़िमेल को चाहे सीधे उसकी रचनाओं के माध्यम से पढ़ें या उसके विचारों को रॉबर्ट पार्क, लुई वर्थ, ऐवरेट सी ह्यूज़, टी कैपलॉ, थियोडोर मिल्स और रॉबर्ट के. मर्टन आदि लेखकों के माध्यम से पढ़ें, वह हमारी समाजशास्त्रीय कल्पना को उसी तरह बलपूर्वक उत्तेजित करता है जैसे दर्खाइम या मैक्स वेबर करते हैं (कोज़र 1971: 215)।

इस भाग में आपने समाजशास्त्र में जर्मन समाजशास्त्री जॉर्ज ज़िमेल के योगदान के बारे में पढ़ा जिसने समाज के अध्ययन को एक नया परिप्रेक्ष्य दिया। अगले भाग में आपको समाजशास्त्र के एक और संस्थापक सदस्य विल्फ्रेडो परेटो के मुख्य विचारों के बारे में बताया जाएगा।

**बोध प्रश्न 1**

i) जिमेल द्वारा प्रतिपादित समाजिक स्वरूप की अवधारणा को उदाहरण सहित परिभाषित कीजिए। उत्तर दस पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) निम्नलिखित वाक्यों में ख़ाली स्थान भरिए।

क) ज़िमेल के अनुसार सामाजिक वास्तविकता में पाए जाने वाले स्वरूप कभी शुद्ध ..... होते हैं।

ख) अपने सामाजिक ..... की व्याख्या में ज़िमेल ने अजनबी व्यक्ति (द स्ट्रेंजर), ग़रीब व्यक्ति (द पुअर) आदि का उल्लेख किया है।

ग) ज़िमेल के मत में ऐसा कोई समाज नहीं है जहाँ सामंजस्य के साथ न हो इसके साथ ही ..... समाज में सकारात्मक भूमिका अदा करता है।

iii) ज़िमेल द्वारा वर्णित किए गए आधुनिक संस्कृति के एक पक्ष पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। अपना उत्तर दस पंक्तियों मे लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 3.3 विल्फ़्रेडो परेटो (1848–1923)

विल्फ़्रेडो परेटो (1848–1923) इटली का एक प्रसिद्ध समाजशास्त्री था। उसका जन्म पेरिस में हुआ था। परेटो का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण, उसके समसामयिक समाजशास्त्रियों से भिन्न था। उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक तथा आनुभाविक था। 1915 में प्रकाशित अपनी प्रमुख समाजशास्त्रीय रचना, द *ट्रीटाइज़ ऑन जनरल सोशियोलॉजी* में उसने कॉम्ट तथा स्पेंसर की मिथ्यापूर्ण वैज्ञानिकता में रूचि रखने की अवधारणा की समीक्षा की थी। 1936 में, परेटो की इस रचना का अंग्रेजी अनुवाद, *माइंड एण्ड सोसाइटी*, के शीर्षक में प्रकाशित हुआ। उसने कॉम्ट तथा स्पेंसर की आलोचना इसलिए भी की थी क्योंकि उन्होंने आनुभाविक सामाजिक वास्तविकता को महत्व नहीं दिया था। इसकी बजाय उन्होंने मानवता, लोकतंत्र और प्रगति के वृहद लौकिक 'धर्म' के विचार को महत्व दिया था (टिमाशेफ़ 1967: 161)। आइए पहले हम परेटो के जीवन परिचय के बारे मे जानें।

### 3.3.1 जीवन परिचय

विल्फ़्रेडो परेटो का जन्म 15 जुलाई 1848 में हुआ था। विल्फ़्रेडो के पिता इटालियन थे और माता फ़्रांसीसी थीं। उसकी दो बहनें थीं। उसने ट्यूरिन के पॉलिटेक्निकल स्कूल में सिविल इंजीनियरी की शिक्षा प्राप्त की थी। उसने इटली की रेल सेवा में इंजीनियर के रूप में कार्य

आरंभ किया। कुछ वर्षों के बाद उसने रेलवे की नौकरी छोड़ दी और फ़्लोरेंस में लोहे की सबसे प्रमुख खान कंपनी में मैनेजिंग डायरेक्टर बन गया।

उसने अपने जीवन की इस अवधि में पिता के पद चिह्नों का अनुसरण किया और वह लोकतांत्रिक, गणतंत्रीय एवं शांतिवादी विचारधारा का समर्थक हो गया। लेकिन कुछ ही समय बाद परेटो ने कुछ राजनीतिक तथा व्यक्तिगत कारणों से इन विचारों का परित्याग कर दिया और उनसे घृणा करने लगा। उसने मानवीयतावादी, प्रगतिशील, लोकतंत्रीय मूल्यों के प्रति निंदात्मक रुख़ अपना लिया।

सन् 1876 में इटली में दक्षिण पंथी (rightists) शासन के पतन के बाद नए शासन द्वारा पैदा की गई असमर्थताओं और अव्यवस्था के कारण परेटो ने इस राजनीतिक प्रणाली को नापसंद करना शुरू कर दिया। वह नई सरकार का विराधी हो गया और 1882 में सरकार में स्थान पाने के लिए उसने विरोधी उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़ा। लेकिन वह सरकार समर्थित उम्मीदवार से पराजित हो गया। राजनीति में असफल होने और इटली के प्रशासनिक मामलों को प्रभावित न कर सकने के कारण उसके अंदर बहुत कटुता पैदा हो गई। उसकी राय में इटली का नया संभ्रांत प्रशासनिक वर्ग भ्रष्ट, निंदनीय, आत्मनिष्ठ और स्वार्थ जीवी था और वह सरकारी सत्ता का दुरूपयोग अपना घर भरने के लिए करता था (कोज़र 1971: 403)। उसने "अभिजात वर्ग का सिद्धांत" नामक लेख में इस तरह के शासक वर्ग की तुलना "लोमड़ी" से की है। परेटो के पिता की मृत्यु 1882 में हो गई थी। उसने अपना व्यापार का व्यवसाय छोड़ दिया तथा शिक्षा द्वारा जीवन यापन करने की ओर प्रवृत्त हो गया। उसने 1889 में ऐलेज़ैंड्रीना बाकुनिन नाम की ग़रीब रूसी युवती से विवाह किया और वह फ्लोरेंस छोड़ कर फ़ीसोल के एक गांव में जा बसा। यहाँ वह अर्थशास्त्र के अध्ययन में जुट गया। यहाँ आने के बाद भी वह सरकार की आलोचना करता रहा।

चित्र 3.2. विल्फ़्रेडो परेटो (1848–1923)

उस समय स्वतंत्र व्यापार से संबंधित विवाद में उलझ जाने के कारण उसकी अर्थशास्त्र के सिद्धांतों के अध्ययन में रुचि पैदा हो गई। परेटो सरकार द्वारा व्यापार के संरक्षणवाद के विरुद्ध स्वतंत्र व्यापार के पक्ष में था। इस विषय पर सार्वजनिक बहस में वह सक्रिय रूप से भाग लेता था। अर्थशास्त्र का अध्ययन करते हुए उसने यह अनुभव किया कि उस समय का अर्थशास्त्रीय चिंतन भौतिक विज्ञानों की तुलना में अवैज्ञानिक था। इस प्रकार उसने नवीन प्रकार के अर्थशास्त्र के अध्ययन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया जो सुनिश्चित रूप से वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित था और आर्थिक क्षेत्र में कार्य करने के लिए अधिक उपयुक्त और विश्वसनीय मार्गदर्शक का कार्य कर सकता था।

सन् 1893 तक उसे अर्थशास्त्र के क्षेत्र में पर्याप्त मान्यता मिल गई थी इसलिए उसे लोस्सेन विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर पीठ (Chair of economics) के लिए आमंत्रित किया गया। वह सेवानिवृत्ति तक इस पद पर बना रहा और उसने अपने आपको सैद्धांतिक अर्थशास्त्र के अधिकारी विद्वान के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया। इस समय तक परेटो एक निदंक और उदासीन एकाकी बन कर रह गया था। वह उस काल की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों जैसे उदारवाद आदि का विरोधी था। वह वामपंथी विचारधारा से अत्यधिक घश्णा करने लगा था। इसकी छाप उसके लेखन पर भी दिखाई देती है।

इसके बाद एक अन्य घटना ने आग में घी का काम किया और उसने दूसरों पर विश्वास करना छोड़ दिया। वह घटना थी कि उसकी पत्नी उसे छोड़कर रसोइए के साथ चली गई थी। परन्तु इटली का नागरिक होने के कारण क़ानूनन वह अपनी पत्नी को तलाक़ भी नहीं दे सकता था। लगभग इसी समय सन् 1898 में एक नज़दीकी रिश्तेदार की मश्त्यु के कारण उसे विरासत में काफी धन संपत्ति मिल गई। इससे वह एक स्वतंत्र व्यक्ति हो गया और उसे अब जीवन निर्वाह

के लिए केवल अपने शैक्षिक व्यवसाय से प्राप्त वेतन पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था। अब उसने विलासितापूर्ण जीवन बिताना आरंभ कर दिया तथा लोस्सेन के पास सेलिग्नी में अपने रहने के लिए घर बना लिया। इसमें उसके साथ उसकी संगिनी जेन रेगिस रहती थी जो उसकी और उसकी बहुत सी अंगोरा बिल्लियों की देखभाल करती थी। सन् 1907 में परेटो विश्वविद्यालय में नियमित अध्यापन कार्य से निवृत्त हो गया लेकिन तदर्थ रूप में उसने समाजशास्त्र पर अपने भाषणों का क्रम जारी रखा। अपने जीवन के अंतिम दिनों में वह हृदय रोग से पीड़ित हो गया। अनिद्रा के कारण वह रात को खूब पढ़ता था। वह अपने एकांत जीवन में बिल्लियों और सुप्रसिद्ध मदिरा की बोतलों से घिरा रहता था, जिसकी वह बहुत शेखी बघारा करता था।

डिक्टेटर मुसोलिनी के फ़ासिस्ट शासन के दौरान उसने फिर से सार्वजनिक जीवन में सक्रिय रूप से भाग लेना शुरू किया। उसे इटली राज्य में सीनेटर नियुक्त किया गया और जिनेवा में नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन के लिए उसे इटली का प्रतिनिधि मनोनीत किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि मुसोलिनी ने कुछ हद तक परेटो द्वारा सुझाए गए कार्यक्रमों को लागू किया। परेटो मुसोलिनी के शासन के प्रारंभिक दिनों तक ही जीवित रहा। 1923 में उसने किसी अन्य क़ानून के तहत अपनी पहली पत्नी से तलाक़ ले लिया और जेन रेगिस से विवाह कर लिया। कुछ समय बीमार रहने के बाद 19 अगस्त 1923 को पचहत्तर साल की आयु में उसकी मृत्यु हुई।

## 3.3.2 सामाजिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

विल्फ़्रेडो परेटो का पूरा नाम मार्क्विस विल्फ़्रेडो फ़्रेडोरिको डुमस परेटो था। परेटो का जीवन काल यूरोप के इतिहास के उस काल से संबंधित रहा जब इतालवी समाज के सामाजिक-राजनीतिक ढाँचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। आरंभ में उसके जीवन पर उसके पिता और मित्रों के उदारवादी, लोकतंत्रीय विचारों का प्रभाव पड़ा लेकिन धीरे-धीरे, उम्र बढ़ने के साथ वह इन विचारों का विरोधी हो गया। ये विचार इटली के एकीकरण की प्रक्रिया में सहायक, महान राजनीतिक नेता मज्जिनी के विचारों और मूल्यो का प्रतिनिधित्व करते थे।

परेटो ने उस समय फ़्रांस और इटली में पाए जाने वाले मानवतावादी, गणतंत्रवादी और लोकतंत्रीय मूल्यों को अस्वीकार कर दिया और जैसा कि कोज़र ने लिखा है कि वह लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्रचलित राजनीतिक प्रणाली का विरोधी हो गया। उपयफ़क्त आदर्शों को अस्वीकार करने का कारण यह था कि सरकार ने उसके परामर्श और सुझावों पर ध्यान नहीं दिया। अपने निबंध में उसने लोकतंत्रीय प्रणाली की आलोचना की जिसके कारण बाद में इटली के फ़ासिस्ट नेता मुसोलिनी ने उसे इटली की सीनेट में सदस्यता ग्रहण करने की पेशकश की लेकिन परेटो ने इसे अस्वीकार कर दिया (टिमाशेफ़ 1967: 161)। संभवत: उदार, लोकतंत्रीय आदर्शों से असंतुष्ट होने के कारण परेटो को कहना पड़ा कि एक सामाजिक विश्लेषणकर्ता का कार्य "समानता", प्रगति, "स्वतंत्रता" जैसे मूल्यों और सिद्धांतों की वास्तविक प्रकृति का पर्दाफ़ाश करना है। उसका कहना था कि मनुष्य इन खोखले शब्दों का इस्तेमाल अपने कार्यों को उचित और तर्क संगत ठहराने के लिए करता है। आइए, अब हम परेटो के मुख्य विचारों का विश्लेषण करें।

## 3.3.3 मुख्य विचार

परेटो को लोग अवैज्ञानिक न कहें इसलिए उसने कहा कि समाजशास्त्र को तर्क सम्मत परीक्षणात्मक पद्धति (logico-experimental method) का प्रयोग करना चाहिए। परीक्षणात्मक पद्धति से उसका वास्तविक अभिप्राय उस पद्धति से था जिसे आत्मानुभव द्वारा देखा जा सके। यह पद्धति पूरी तरह पर्यवेक्षण पर आधारित हो अर्थात् इसमें वास्तविक जीवन में विद्यमान तथा तर्कसंगत अनुमान पर आधारित समाज की वास्तविकता का अध्ययन किया जाए। तर्कसंगत

अनुमान का मतलब यह था कि बहुत-सी सामाजिक घटनाओं को अध्ययन करने के बाद तर्क के आधार पर व्यवस्थित ढंग से कोई निष्कर्ष निकाला जाए।

अपने शोध निबंध में परेटो ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि वह सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में उन्हीं पद्धतियों का अनुप्रयोग करके सामाजिक वास्तविकता का अध्ययन करना चाहता है जिनका उपयोग भौतिकी, रसायन, खगोल विज्ञान जैसे प्राकृतिक विज्ञानों के लिए किया गया है। परेटो को प्राकृतिक विज्ञानों के सिद्धांतों के आधार पर यह विश्वास था कि समाज की व्यवस्था एक संतुलन की व्यवस्था है। इस व्यवस्था के किसी भी हिस्से में गड़बड़ी होने पर सामंजस्य के लिए उसके दूसरे हिस्सों में उसके अनुरूप परिवर्तन होते हैं। भौतिक पदार्थों में विद्यमान "अणुओं" की तरह सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तियों की रुचियाँ, प्रेणाएं और भावनाएं होती हैं। उसकी दृष्टि में सामाजिक व्यवस्था एक ऐसा ढाँचा है जिसमें मानव व्यवहार को निर्धारित करने के लिए समाज के परिवृत्यों (variables) के आपसी प्रभाव और बदलाव का विश्लेषण किया जा सकता है।

परंतु परेटो की रुचि सभी प्रकार के परिवश्त्यों में नहीं थीं। वह केवल ऐसे परिवृत्यों का अध्ययन करना चाहता था जो युक्ति संगत नहीं थे। अपने अर्थशास्त्र के पूर्ववर्ती अध्ययन में उसे यह बात स्पष्ट हो गई थी कि अर्थशास्त्रियों द्वारा मानव क्रियाओं के युक्तिसंगत परिवृत्यों का अध्ययन मानव-व्यवहार के संपूर्ण क्षेत्र को अपनी परिधि में नहीं समेट सकता। उसके अनुसार कई ऐसे मानव व्यवहार भी हैं जो युक्तिसंगत और तर्कसंगत नहीं होते।

### 3.3.3.1 तर्कसंगत और अतर्कसंगत क्रिया

जैसा कि इससे पूर्व उल्लेख किया जा चुका है कि परेटो के लिए समाज ऐसी व्यवस्था है जिसमें संतुलन रहता है। इस संतुलन का अभिप्राय है कि सभी समाजों में कुछ ऐसी ताक़तें हैं जो समाज के ढाँचे को बनाए रखती हैं। यदि कुछ बाहरी ताक़तें उस समाज में परिवर्तन लाने का प्रयास करती हैं तो भीतरी ताक़तें उस संतुलन को बनाए रखने के लिए बाहर की ओर दबाव डालती हैं। परेटो के अनुसार ये भीतरी ताक़तें मुख्य रूप से समाज के संतुलन को बिगाड़ने वाली गड़बड़ी के विरुद्ध ज़ोरदार प्रतिक्रिया उत्पन्न करती हैं।

समाज में फिर से संतुलन स्थापित करने के सिद्धांत की वैधता इस तथ्य में है कि कोई भी समाज किसी बड़ी क्रांति या युद्ध की स्थिति से गुज़रने के बाद अपने आपको फिर से व्यवस्थित कर लेता है और संतुलन स्थापित कर लेता है (टिमाशेफ़ 1967: 162)। परेटो की तर्कसंगत और **अतर्कसंगत** क्रिया समाज की भीतरी ताक़तों के विश्लेषण से संबंधित है। उसने इन दो प्रकार की क्रियाओं में भेद किया है। वे क्रियाएं तर्कसंगत है जिनमें किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसके अनुरूप साधनों का इस्तेमाल होता हो और यह तर्कसंगत तरीक़े से साधन को साध्य से जोड़ती है। ये क्रियाएं कर्ता और कर्म दोनों की दृष्टि से तर्कसंगत हैं। वे सभी क्रियाएं अतर्कसंगत (इसका मतलब तर्क विरुद्ध या असंगत नहीं है) कही जाएंगी जो तर्कसंगत क्रियाओं की श्रेणी में नहीं आती। इस प्रकार अतर्कसंगत क्रिया एक **अवशिष्ट** श्रेणी है।

अतर्कसंगत क्रियाओं का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि ये क्रियाओं के कर्ताओं की भीतरी ताक़तों यानी उनकी भावनाओं की व्याख्या करती हैं। परेटो का कथन है कि अतर्कसंगत क्रिया मानव की मानसिक स्थितियों, भावनाओं और अवचेतन मनोभावों में पैदा होती हैं। मनोवैज्ञानिकों की तुलना में सामाजिक विश्लेषणकर्ताओं के रूप में हमारा काम इन भावनाओं आदि को ज़्यादा गहराई में उतरे बिना उसे मात्र तथ्यात्मक सामग्री के रूप में प्रयोग करना चाहिए (कोज़र 1971: 389)।

### 3.3.3.2 अवशिष्ट (residues) और व्युत्पाद (derivatives)

परेटो की अतर्कसंगत क्रियाएँ उसके अवशिष्ट और व्युत्पादों के सिद्धांत से संबंधित हैं। अवशिष्ट और व्युत्पाद दोनों भावनाओं की अभिव्यक्तियाँ हैं। परेटो के अनुसार ये भावनाएं मानव की अंतर्जात सहज प्रवृत्तियाँ हैं। इन अवशिष्ट और उत्पादों के अध्ययन का इस्तेमाल अवैज्ञानिक सिद्धांतों और विश्वासनिष्ठ प्रणालियों को उद्घाटित करने के लिए किया जा सकता है। व्युत्पाद से उसका अभिप्राय परिवर्तनशील तत्वों या चर से है जो इन सिद्धांतों का आधार है। इसके विपरीत अवशिष्ट अपेक्षत: स्थायी तत्व होते है।

अवशिष्ट (मूलत: स्थिर तत्व या अचर है) और व्युत्पाद (परिवर्तनशील तत्व या चर है) की संकल्पना को समझाने के लिए आइए, हम एक उदाहरण लें। सभी समाजों में कई तरह के धर्म मिलते हैं जैसे बहुदेववाद, एकदेववाद और कुछ ऐसे धर्म हैं जो ईश्वर की धारणा में ही विश्वास नहीं करते जैसे जैन धर्म, बौद्ध धर्म। ये धर्म किसी भी प्रकार के हो सकते हैं, लेकिन इन सभी धार्मिक सिद्धांतों में कुछ अवशिष्ट तत्व हैं जो कि सदैव हर धर्म में स्थिर रहते है। इस प्रकार हमें मालूम होता है कि विभिन्न कालों में, बहुत से समाजों में धर्म का स्वरूप परिवर्तनशील था इसे हम व्युत्पाद कहते हैं जब कि सभी धर्मों में जो स्थिर समान तत्व हैं वे अवशिष्ट हैं।

परेटो ने अवशिष्टों का छह वर्गों में वर्णन किया है जो पाश्चात्य इतिहास की दीर्घ अवधि के दौरान लगभग स्थिर रहे हैं। अवशिष्टों के इन छह वर्गों में से पहले दो वर्ग हमारे लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं क्योंकि ये परेटो के अभिजात्य वर्ग के सिद्धांत और अभिजात वर्ग के प्रसार से जुड़े हैं। अवशिष्टों के दो वर्ग हैं, (i) संयोजन की सहज वृत्ति, (ii) समूह स्थायित्व परेटो के अवशेषों के सिद्धांत ने उसे बहुत से सिद्धांतों और विश्वास प्रणालियों की व्याख्या में सहायता की। इसी से वह सामाजिक आंदोलन, सामाजिक परिवर्तन और इतिहास की गतिशीलता की व्याख्या करने में सफल हुआ (कोज़र 1971: 392)।

### 3.3.3.3 अभिजात वर्ग सिद्धांत और अभिजन परिभ्रमण (circulation of elites) का सिद्धांत

परेटो का यह दृढ़ विश्वास था कि मानव जाति के लोग शारीरिक दृष्टि के साथ-साथ मानसिक और नैतिक दृष्टि से भी असमान हैं। सभी सामाजिक वर्गों में कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिमान और योग्य होते हैं। सामाजिक वर्ग या पूरे समाज में ये लोग ही अभिजन कहलाते हैं। परेटो ने अभिजात वर्ग की परिभाषा देते हुए कहा कि ये ऐसे वर्ग के लोग हैं जिनका अपने कार्य क्षेत्र में सबसे उच्च स्थान होता है (कोज़र 1971: 397)।

उसने शासकीय अभिजनों और गैर शासकीय अभिजनों में भी अंतर किया है। दोनों ही अभिजात संभ्रांत वर्ग हैं लेकिन शासकीय अभिजन वे व्यक्ति हैं जो प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से सरकार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं जबकि शेष अभिजन वर्ग में गैर-शासकीय अभिजन आते हैं। अपनी पुस्तक में परेटो ने अपना ध्यान विशेष रूप से शासक वर्ग के अभिजनों पर केंद्रित किया है।

हालांकि परेटो ने अभिजनों को समाज के सबसे बुद्धिमान और योग्य व्यक्ति कहा है लेकिन बहुत बार परेटो अभिजात वर्ग के ऐसे लोगों में अंतर नहीं कर पाता जिन्हें उनकी प्रतिष्ठा विरासत में या पैसे के कारण अथवा अच्छे संपर्कों के कारण प्राप्त हुई है। परंतु परेटो इस तथ्य के बारे में बिल्कुल स्पष्ट है कि जहाँ संभ्रांत वर्ग के लोगों को यह प्रतिष्ठा अपनी उपलब्धियों के कारण प्राप्त नहीं होती बल्कि वह प्रदत्त प्रस्थिति होती है। ऐसी स्थिति समाज के लिए पतनकारी होती है। इसका स्थान प्रथम वर्ग के अवशिष्ट अर्थात् बचे हुए अभिजन ले लेते हैं। ये अभिजन संयोजन की सहजवृत्ति से संबंधित होते हैं। इन नए अभिजनों में जीवन शक्ति और सृजन शक्ति

होती हैं जिनका पहले के अभिजनों में अभाव होता है। इसलिए परेटो के अनुसार केवल बुद्धिमत्ता तथा सक्षमता ही समाज को प्रभावित नहीं करती अपितु प्रथम श्रेणी के अवशिष्ट भी समाज को प्रभावित करते हैं। आदर्श शासक वर्ग के अभिजनों में शासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए अवशेष वर्ग के प्रथम और द्वितीय श्रेणी के अभिजनों का मिश्रण होना चाहिए। द्वितीय श्रेणी के अभिजन समूह स्थायित्व के अवशिष्टों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये दो प्रकार के अवशिष्ट दो भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों के समान हैं जिनको "शेरों" और "लोमड़ियों" के समान कहा जा सकता है। इस तरह से परेटो के अभिजन परिभ्रमण को भी दो प्रकार के मनुष्यों की कोटियों में विभाजित किया जा सकता है अर्थात् शेरों और लोमड़ियों की कोटि। परेटो ने इन अवधारणाओं को मैकियावेली से ले लिया है।

"शेर" अवशिष्ट की श्रेणी II का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये अनुदार और रूढ़िवादी विचारधारा के होते हैं और सामाजिक जड़ता यानी समाजों में दृढ़ता और स्थायित्व के तत्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार के मनुष्यों में परिवार, जाति, कबीले, नगर और राष्ट्र आदि के प्रति अत्यधिक वफ़ादारी की भावना होती है। उनके व्यवहार से वर्ग की एकात्मकता, देशभक्ति और धार्मिक उत्साह की अभिव्यक्ति होती है और आवश्यकता पड़ने पर वे कठोर कार्रवाई करने में संकोच नहीं करते।

"लोमड़ी" में अवशिष्ट वर्ग की श्रेणी I की विशेषताएँ पाई जाती हैं यानी उनमें संयोजन की सहजवृत्ति होती है। ये लोग पद्धति निर्माण के कार्य में तथा बड़े पैमाने पर वित्तीय जोड़-तोड़ जैसे अनुभवों में पाए जाने वाले विभिन्न तत्वों के सुनियोजन में संलग्न होते हैं। दूसरे शब्दों में "लोमड़ी" श्रेणी के लोग समाज में परिवर्तन, परीक्षण और नवीन प्रक्रिया शुरू करने का दायित्व रखते हैं। ये लोग अनुदार, वफादार या स्थिर वृत्ति के नहीं होते।

परेटो की राय में शासकीय अभिजात वर्ग में "शेर" और "लोमड़ी" वर्ग के लोगों का मिश्रण होना चाहिए ताकि समाज को ये आदर्श शासक वर्ग दे सकें। उसने यहाँ राजनीतिक व्यवस्था का वर्णन किया लेकिन यही बात आर्थिक व्यवस्था पर भी लागू होती है। आदर्श आर्थिक व्यवस्था में दाँव-पेंच करने वालों (लोमड़ी वर्ग) और लगान उपजीवियों (शेर वर्ग) का मिश्रण होना चाहिए। समाज में निणर्यात्मक और ज़ोरदार कार्रवाई करने वालों और कल्पनाशील, नवीन प्रक्रिया शुरू करने वाले और निस्संकोची व्यक्तियों की आवश्यकता होती है।

परेटो ने अभिजन परिभ्रमण में, शेरों से लोमड़ियों में और लोमड़ियों से शेरों में परिवर्तन द्वारा सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। परिवर्तन का यह सिद्धांत चक्रीय स्वरूप का है। यह मार्क्स के सिद्धांत की तरह रेखीय नहीं है जिसमें साम्यवादी समाज तक पहुँचने के साथ प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। परेटो के मत में सभी समाज एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक एक चक्र में गतिशील रहते हैं।

विल्फ्रेडो परेटो के ये कुछ मुख्य विचार हैं जिनको हमने यहाँ प्रस्तुत किया है। आइए, अब हम समकालीन समाजशास्त्र पर इन विचारों के प्रभाव की जाँच करें।

### 3.3.4 समकालीन समाजशास्त्र पर परेटो के विचारों का प्रभाव

परेटो के समाजशास्त्रीय सिद्धांत का दीर्घकालीन महत्व है। वह उन आरंभिक समाज विज्ञानियों में से एक था जिसने सामाजिक व्यवस्था के विचार की सही परिभाषा दी कि सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण उसके अंगभूत भागों के बीच अंतर्संबंधों और परस्पर अधीन क्षेत्रों के संदर्भ में किया जा सकता है। परेटो का अभिजात वर्ग और अभिजन परिभ्रमण का सिद्धांत अभिजात वर्ग के अध्ययन में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। आज भी यह राजनीति विज्ञानियों और समाजशास्त्रियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। आज भी शासकीय और गैर-शासकीय अभिजात वर्ग के उच्च स्तर के लोगों की कार्य पद्धति के परीक्षण में इन विचारों का उपयोग किया जाता है।

दर्खाइम के तरह परेटो ने भी सामाजिक पद्धति की आवश्यकताओं पर विचार करने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया और व्यावहारिक तथा व्यक्तिवादी विचारों को मान्यता नहीं दी। दखाईम ने सामाजिक तथ्यों की वस्तुनिष्ठ प्रकृति पर बल दिया। इसके विपरीत परेटो ने मानव व्यवहार की इच्छाओं, भावनाओं और प्रवृत्तियों पर विचार करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। उसकी रचनाओं में हमें मैक्स वेबर, दर्खाइम, मोस्का तथा कई अन्य विचारकों का प्रभाव दिखाई देता है।

परेटो के विचारों का प्रभाव हैराल्ड लासवैल जैसे राजनीति विज्ञानियों की रचनाओं में देखा जा सकता है। अमरीका में लासवैल परेटो के प्रारंभिक अनुयायियों में से एक था। उसने परेटो के अभिजात वर्ग गठन और अभिजन-परिभ्रमण संबंधी सिद्धांतों से प्रेरणा ली थी। सी. राइट मिल्स, टी.बी. बोटोमोर, सुज़ान कैलर, रेमों आरों आदि अन्य समाज वैज्ञानिकों की रचनाओं में परेटो के विचारों का प्रभाव लक्षित होता है।

आपने परेटो के मुख्य विचारों और समकालीन समाजशास्त्र पर उसके प्रभाव के बारे में पढ़ा। आइए, अब समाजशास्त्र के तीसरे संस्थापक थोर्स्टीन बेब्लेन (1857–1929) के बारे में चर्चा करें।

**बोध प्रश्न 2**

i) विल्फ्रेडो परेटो द्वारा दी गई तर्कसंगत और अतर्कसंगत क्रियाओं के बीच अंतर कीजिए।

.....

.....

.....

.....

ii) इस इकाई में अवशिष्टों के कौन-कौन से दो वर्गों का वर्णन किया गया है? व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

iii) परेटो द्वारा दिए गए "शेर" (lion) और लोमड़ी (fox) शब्दों का अंतर स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

## 3.4 थोर्स्टीन वेब्लेन (1857–1929)

वेब्लेन (1857–1929) का जन्म अमरीका के विसकांसिन राज्य में हुआ था। उसने अमरीका में जॉन हॉप्किन्स, येल और कार्नेल विश्वविद्यालयों में अध्ययन किया। उसके माता-पिता नॉर्वे के आप्रवासी थे। वे उसके जन्म से दस साल पहले मध्य-पूर्व अमरीका में आकर बसे गए थे। थोर्स्टीन वेब्लेन के समाजशास्त्रीय अध्ययन से हमें यह पता चलता है कि उस समय अमरीका में किस प्रकार के परिवर्तन हो रहे थे, साथ ही उससे वेब्लेन के व्यक्तिगत अनुभवों और उसके व्यक्तित्व की विशेषताओं के बारे में भी जानकारी मिलती है।

वेब्लेन के समाजशास्त्रीय सिद्धांत में प्रौद्योगिकीय विकासवाद के बारे में विचार किया गया है। वह स्पेंसर के विकासवादी सिद्धांत से प्रभावित हुआ था जिसमें स्पेंसर ने समाजों के विकास में विश्वास व्यक्त किया है (इस विषय में आपने पिछली इकाई में अवश्य पढ़ा होगा।) स्पेंसर की तरह वेब्लेन भी पर्यावरण के चयनात्मक अनुकूलन की प्रक्रिया (process of selective adaptation) में विश्वास रखता था। लेकिन हीगल और मार्क्स के विपरीत उसका यह विश्वास नहीं था कि ऐतिहासिक विकास की इस प्रक्रिया का कोई अंत है। प्रौद्योगिकीय विकास के अलावा वेब्लेन ने काम से बहुधा अवकाश पाने वाले संपन्न वर्ग (leisure class) के सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसकी वजह से उसे बहुत प्रसिद्धि मिली। उसने इस सिद्धांत का प्रतिपादन अपनी पुस्तक, द *थ्योरी ऑफ़ द लैज़र क्लास* (1899) में किया। यह उसकी पहली और सबसे अधिक जानी-मानी पुस्तक है। इस पुस्तक में उसने समाजशास्त्र में अपने आधारभूत सैद्धांतिक विचार प्रस्तुत किए। इससे पहले कि हम इन विचारों पर चर्चा आरंभ करें, आइए, पहले हम वेब्लेन के जीवन संबंधी विवरण के बारे में जान लें और फिर हम उसकी सामाजिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझें जिसने उसके विचारों को असली रूप प्रदान किया।

### 3.4.1 जीवन परिचय

थोर्स्टीन वेब्लेन का जन्म अमरीका के विसकांसिन राज्य में 30 जुलाई 1857 में हुआ था। उसके माता-पिता नॉर्वे के आप्रवासी थे। उसके पिता का नाम थॉमस एंडरसन वेब्लेन और माता का नाम कार्ल बुंडे वेब्लेन था। अपने माता-पिता की बारह संतानों में यह छठी संतान था। वेब्लेन के माता-पिता उसके जन्म से दस वर्ष पूर्व नॉर्वे से अमरीका आ गए थे। वे नॉर्वे के कृषक वर्ग के थे। पहले वे विसकांसिन में बसे और बाद में मिनीसोटा चले गए। उन्हें अपने पुराने देश नॉर्वे और नए देश अमरीका में भी बहुत कष्टपूर्ण जीवन बिताना पड़ा। उनको ज़मीन और उसके स्वामित्व संबंधी कई समस्याओं का सामना करना पड़ा।

वेब्लेन के माता-पिता को ज़मीन से मुनाफ़ा कमाने वालों, धोखेबाज़ों, कपटी वकीलों आदि से बहुत घृणा हो गई थी क्योंकि इन्होंने बार-बार उन्हें ठगा था। उस समय मुनाफ़ाखोरों और धोखेबाज़ों की संख्या काफ़ी थी, इसलिए उनके प्रति वेब्लेन के मन में तीव्र घृणा घर कर गई। थी जिसकी अभिव्यक्ति उसकी बाद की रचनाओं में दिखाई देती है। उसके माता-पिता बहुत परिश्रमी थे। इसी मेहनत के बल पर वे मिनीसोटा का बड़ा फ़ार्म हासिल करने में सफल हुए। वे जिस समुदाय में रहते थे वह पूर्ण रूप से नार्वे के लोगों का था। अत: अपने जीवन के लगभग प्रारंभिक सत्रह वर्षों में वह जिस संस्कृति संपर्क में आया वह मुख्य रूप से नॉर्वे की थी। इससे अलग बात सिर्फ़ यह थी कि उसने एक अंग्रेज़ी विद्यालय में शिक्षा पाई।

चित्र 3.3. थोर्स्टीन वेब्लेन (1857–1929)

अपने समुदाय में वेब्लेन के पिता का बहुत सम्मान था। उसके पिता न्यायप्रिय और बुद्धिमान व्यक्ति थे और उन्हें अपने काम से मतलब रहता था। अपने पिता की यह विशेषता वेब्लेन को विरासत में मिली थी। वह समय से पहले ही बड़ा हो गया और वह पिता के समान ही प्रतिभाशाली भी था। जब वह छोटा था तो अपने से बड़ों को परेशान करता, दूसरे लड़कों को मारता-पीटता था और उन्हें तंग करता था। बड़ा होने पर वह व्यंग्य प्रिय बन गया और उसका बचपन का आक्रामक रवैया तीखे व्यंग्यपूर्ण चुटकलेबाज़ी और अविश्वास में बदल गया इसलिए वह अपने परंपरागत समुदाय में बेमेल बन गया और वहां के व्यापक अमरीकी समाज के लिए अजनबी-सा बना रहा।

अध्ययन के लिए उसे कार्लटन कालेज में भेजा गया जहां वह पहली बार अमरीकी-इंग्लिश संस्कृति के संपर्क में आया। यहां उसने शास्त्रीय साहित्य, नैतिक दर्शन और धर्म के अध्ययन पर बल दिया।

वेब्लेन को कार्लटन कालेज का लोकाचार बहुत पंसद नहीं आया। उसके मन में अविश्वास की

धारणा बनी रही। हालांकि वह इसी कॉलेज से 1880 में स्नातक हुआ और इसका सर्वाधिक प्रसिद्ध छात्र रहा। लेकिन उसे किसी प्रकार का सम्मान नहीं दिया गया अर्थात् यहां विद्यालय में उसकी स्मृति में कोई कीर्ति फलक नहीं लगाया गया। जब वह कार्लटन से स्नातक बना तो उसने जो अधिकांश ज्ञान संचित किया था वह उसके निरंतर अध्ययनशील स्वभाव के कारण ही था। जब वह कॉलेज में पढ़ रहा था तो उसका अपनी सहपाठी छात्रा एलेन रोल्फ़ से चिरस्थायी प्रणय संबंध स्थापित हो गया। यह छात्रा कॉलेज प्रेसिडेंट की नज़दीकी संबंधी थी बाद में 1888 में उसने एलेन रोल्फ़ से विवाह कर लिया।

वेब्लेन ने कार्लटन छोड़ दिया और विसकांसिन मैडिसन नगर के स्कूल में अध्यापक हो गया। यहां का वातावरण भी उसके मन को अच्छा नहीं लगा, इसलिए वह स्कूल की नौकरी छोड़कर अपने भाई के साथ जॉन हॉप्किन्स में दर्शन का अध्ययन करने के लिए चला गया। इस प्रकार वह मध्य पश्चिम से दक्षिण की ओर चला आया। यहां प्राप्त अवसरों के बावजूद बाल्टीमोर की आराम पसंद दक्षिण की संस्कृति में उसने स्वयं को अजनबी-सा अनुभव किया। वह बुनियादी तौर पर समतावादी और मूल सुधारवादी था जबकि वहां का दक्षिणी समाज पारंपरिक वर्ग पदक्रम पर आधारित था जो कि हमारी जाति व्यवस्था से बहुत भिन्न नहीं था।

वेब्लेन को यहां कांट, मिल, ह्यूम, रूसों, स्पेंसर आदि की कृतियों को पढ़ने का अवसर मिला। परन्तु वह अपने शिक्षकों से प्रभावित नहीं हुआ और बहुत ही जल्दी वह स्वयं को अकेला महसूस करने लगा और उसे घर की याद सताने लगी। यहां उसे छात्रवृत्ति नहीं मिल सकी, इसलिए वह पढ़ने के लिए येल चला गया। उसे ईश्वर में विश्वास नहीं था और वह विवादप्रिय था। यहां वह धर्म विज्ञान के विद्यार्थियों से घिरा था। यहां आकर उसकी व्यंग्यात्मक, कटुतापूर्ण प्रवृत्ति और आत्मरक्षा के लिए लोगों से दूरी बनाए रखने का तरीक़े और अधिक बढ़ गये। वह डब्ल्यू. जी. सम्नर जैसे विद्वान अध्यापक के संपर्क में आया। सम्नर समाजशास्त्र का प्रमुख विद्वान था जिसने उसे बहुत प्रभावित किया। उसके समकालीन विद्वानों में से डॉर्फ़मैन ने यह बताया कि वेब्लेन ने सम्नर की भी आलोचना की थी लेकिन सम्नर ही एक ऐसा आदमी था जिसके प्रति उसने प्रगाढ़ और पूर्ण श्रद्धा प्रदर्शित की (कोज़र 1971: 279)।

वेब्लेन ने कांट और कांट के बाद के चिन्तकों के विचारों पर अपने शोध कार्यों में विशेषज्ञता हासिल की। उसके शिक्षकों और साथियों ने उसकी बहुत प्रशंसा की। हालांकि उसने अपनी डॉक्टरेट यानी पी. एच.डी. पूरी कर ली लेकिन उसे उन्होंने कोई शैक्षिक पद नहीं दिया। कोई भी शैक्षिक संस्था एक नॉर्वेजियन, और वह भी नास्तिक व्यक्ति को अपने यहां नही रखना चाहती थी।

वेब्लेन ने अर्थशास्त्र का अध्ययन आरंभ किया और 1888 के आसपास भूमि संबंधी क्रांतिकारी आंदोलनों में उसकी रुचि पैदा हो गई। उसने यह महसूस किया कि शायद इस भूमि संबंधी संकट का समाधान अर्थशास्त्र द्वारा संभव हो। इसलिए, उसने कॉर्नेल जाकर वहां अपना "रजिस्ट्रेशन" करा लिया। यहां "समाजवाद के सिद्धांत में कुछ उपेक्षित मुद्दे" विषयक शोधपत्र तथा कुछ अन्य लेखों के द्वारा वह अपने शिक्षकों को प्रभावित करने में सफल हुआ। कॉर्नेल से वह शिकागो विश्वविद्यालय गया, जहां वह 1892 से 1906 तक रहा। यहां उसने जॉन डेवी, विलियम आई, थॉमस आदि जाने माने विद्वानों और विचारकों के साथ काम किया। कई पत्र-पत्रिकाओं में उसके बहुत से लेख भी प्रकाशित हुए। उसकी अधिकांश रचनाएं व्यंग्य और हाज़िर जवाबी से भरी होती थीं। 38 साल की आयु में वह शिकागो विश्वविद्यालयों में अनुदेशक (instructor) के रूप में काम करने लगा। पांच साल बाद वह असिस्टैंट प्रोफ़ेसर बन गया।

3 अगस्त 1929 को वेब्लेन का देहांत हृदय रोग से हुआ। अंतिम समय तक वह उदास और एकाकी बना रहा। जीवन में जो भी कठिनाइयां आतीं उनका सामना वह आलोचना और व्यंग

द्वारा करता या खामोश बना रहता। वह नार्वेजियन समाज और अमरीकी संस्कृति दोनों ही के लिए अजनबी बना रहा। अपनी रचनाओं में उसने इन दोनों ही की समालोचना की। वह जीवन भर पूरी तरह से तटस्थ सा रहा।

उसके जीवन और कृतियों पर उसके गैर रूढ़िवादी और अजीब तरीक़ों का प्रभाव पड़ा। यह यद्यपि बड़े दु:ख की बात है, किन्तु सच है कि वेब्लेन की अवधारणाएँ जैसे "प्रदर्शन उपयोग" तथा "प्रशिक्षित असमर्थता" (यानी कोई व्यक्ति एक क्षेत्र में ऐसा विशेषज्ञ बन जाता है कि उसके विषय संबंधी व्यापक ज्ञान में कमी आ जाती है) का लोग आज भी बहुत प्रयोग करते हैं। लेकिन बहुत कम लोग उसकी रचनाओं को पढ़ते हैं। *द थ्योरी ऑफ़ द लैज़र क्लास* (1899) उसकी प्रमुख रचना है। वेब्लेन अच्छा अध्यापक तो नहीं था लेकिन समालोचना के क्षेत्र में अच्छा लेखक अवश्य था।

## 3.4.2 सामाजिक-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

वेब्लेन के जीवन काल के समय अमरीका में बहुत तेज़ी से औद्योगिक विकास हुआ। इस विकास से पूर्व अमरीका बुनियादी तौर पर कृषिजीवी समाज था। इसलिए अमरीका का यह काल स्वर्ण युग कहलाता था। यह युग विरोध-युग (age of protest) के रूप में भी जाना जाता है।

इसी समय अमरीका में साहसिक पूँजीपति लुटेरों के वर्ग का उद्भव हुआ। इन्हें "रॉबर बैरन्स" (robber barons) भी कहा जाता था। ये लोग उन ग़रीब औद्योगिक मज़दूरों के बल पर अत्यधिक संपन्न हो गए थे जो कारखानों में जी-तोड़ मेहनत करते थे। ये औद्योगिक पूंजीपति बदमिजाज़, अड़ियल, अधिष्ट और नए बने रईस थे यानी उन्होंने यह संपत्ति हाल ही में संचित की थी। इसी समय के एक अन्य अमरीकी विचारक वर्नन पैरिंगटन ने उनका वर्णन करते हुए लिखा है कि ये लोग असभ्य, निर्दयी, लूटपाट करने वाले, समर्थ और इरादे के पक्के थे (कोजर 1971: 293)।

इस औद्योगिक वर्ग के प्रभुत्व के कारण मध्य-पश्चिमी क्षेत्र के कृषकों में विद्रोह भड़क उठा। इन कृषकों ने लुटेरे पूँजीपति वर्ग के विरूद्ध संघर्ष को सक्रिय रूप देने में पहल की।

उस समय समाज में चल रहे संघर्ष और विद्रोह की झलक वेब्लेन के विचारों में मिलती है। इस लुटेरे पूँजीपति वर्ग के कुकृत्यों से प्रेरणा पाकर उसने संपन्न वर्ग के सिद्धांत (theory of the leisure class) का विकास किया। जिन प्रौद्योगिक परिवर्तनों के कारण अमरीकी समाज के ढाँचे में इतने व्यापक परिवर्तन हुए तथा पूँजीपति वर्ग, औद्योगिक मज़दूर वर्ग आदि का उद्भव हुआ संभवत: इन्हीं परिस्थितियों ने वेब्लेन के प्रौद्योगिक विकास के सिद्धांत को जन्म दिया। वेब्लेन के कार्यकाल की सामाजिक-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के वर्णन द्वारा हमने यह बताने का प्रयास किया है कि वेब्लेन के समय में अमरीकी समाज में क्या-क्या परिवर्तन हुए। यहाँ इन परिवर्तनों की केवल रूप-रेखा मात्र ही दी गई है। इसके द्वारा यह भी बताया गया है कि वेब्लेन ने किस संदर्भ में अपने विचार प्रस्तुत किए। आइए, अब हम वेब्लेन के मुख्य विचारों की चर्चा करें।

## 3.4.3 मुख्य विचार

वेब्लेन की समाजशास्त्रीय रचनाओं में उपलब्ध उसके दो विचार मुख्य है: प्रौद्योगिक विकास का सिद्धांत और संपन्न वर्ग का सिद्धांत। उसके संपन्न वर्ग सिद्धांत से ही संबंधित है उसका सामाजिक दृष्टि से प्रेरित प्रतिस्पर्धा की अभिप्रेरणा का सिद्धांत। सामाजिक क्रियाकलापों के अप्रत्यक्ष प्रकार्यों की वेब्लेन की खोज उसके प्रकार्यात्मक विश्लेषण की रूपरेखा बताती है। उसने प्रौद्योगिक और संस्थासंबंधी विकास के बीच पश्चता (lag) के सिद्धांत का भी प्रतिपादन किया।

### 3.4.3.1 प्रौद्योगिक विकास का सिद्धांत

जैसे कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि वेब्लेन पर स्पेंसर के सामाजिक विकास संबंधी विचारों का प्रभाव पड़ा था। वेब्लेन के अनुसार नई और पहले से कहीं अधिक प्रभावपूर्ण प्रौद्योगिकियों के आविष्कार और उपयोग के साथ ही मानव का विकास हुआ। उसने कहा कि किसी भी समाज में कार्य करने की पद्धति के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या की जा सकती है। अर्थात् जीवन के भौतिक साधनों के उपयोग के तरीके में परिवर्तन का अध्ययन करने से की जा सकती है। दूसरे शब्दों में "औद्योगिक कला" (industrial arts) या सामाजिक प्रौद्योगिकी निर्धारित करती है कि मनुष्य अपने प्राकृतिक पर्यावरण के अनुसार स्वंय को कैसे ढाल सकता है। यही औद्योगिक कला ही मनुष्य की सामाजिक पर्यावरण के साथ व्यवस्था को भी निर्धारित करती है (कोज़र 1971: 265)।

वेब्लेन के अनुसार "मनुष्य वही होता है जो वह करता है" या अगर हम इसकी और आगे व्याख्या करें तो कहा जा सकता है कि मानव जाति और उसका सामाजिक गठन उसके प्रौद्योगिक क्षेत्रों पर आधारित है। वेब्लेन के विचार में मानव विचार मानव समुदाय के गठन के तरीक़ों को प्रतिबिंबित करते हैं। सामाजिक संस्थाओं में लोगों की आदतें और रीति-रिवाज तथा उनके प्राकृतिक वातावरण में अस्तित्व बनाए रखने के लिए संघर्ष के प्रयास सम्मिलित हैं।

वेब्लेन के मत में सामाजिक विकास की प्रक्रिया अनिवार्य रूप में सांस्थानिक परिवर्तनों के विन्यास को प्रतिबिंबित करती है। ये सांस्थानिक परिवर्तन भी स्वयं सामाजिक प्रौद्योगिक में परिवर्तन के कारण होते हैं। वेब्लेन ने नृशास्त्रीय लेखों में विकास की चार प्रमुख अवस्थाओं का वर्णन किया है। वस्तुत: उसका महत्वपूर्ण योगदान समकालीन या समकालीन-प्राय समाजों के अध्ययन में निहित है।

### 3.4.3.2 संपन्न वर्ग का सिद्धांत

वेब्लेन ने दो परस्पर विरोधी वर्गों जैसे सामान बनाने वालों और पैसा कमाने वालों के बीच, कारीगरी और बिक्री की कला के बीच अंतर किया। उसका कहना था कि पूँजीवाद विश्व में व्यापार और उद्योग के बीच, स्वामित्व और प्रौद्योगिकी के बीच, आर्थिक रोज़गार जैसे व्यापार और वित्तीय कार्यों में लगे लोगों और उद्योग में रोज़गार करने वाले मज़दूर वर्ग के बीच कभी न सुलझने वाला परस्पर विरोध है। इस अंतर से वेब्लेन को अमरीकी समाज में तात्कालिक हालात की व्याख्या करने में मदद मिली। इससे उसे विकास की धारणा को नये तरीके से देखने में भी सहायता मिली।

वेब्लेन की रचनाओं पर उसके शिक्षक सम्नर के विचारों का गहन प्रभाव था। सम्नर के विचारों के विपरीत, वेब्लेन का यह विश्वास नहीं था कि अमरीका की उत्पादन व्यवस्था में वहां के प्रमुख उद्योगपतियों और वित्तीय सहायता प्रदान करने वाले लोगों का विशेष योगदान है। सम्नर का विश्वास था वे "आधुनिक सभ्यता के सुमन" हैं परंतु वेब्लेन के अनुसार ये उद्योगपति और वित्तीय सहायता प्रदान करने वाले लोग "परजीवी हैं, जो प्रौद्योगिकी के नेतृत्व और दूसरे लोगों के नवीन परिवर्तनों के सहारे फल-फूल रहे हैं" (कोज़र 1971: 276)। वेब्लेन ने आगे लिखा है कि जिस संपन्न वर्ग में उद्योगपति और आर्थिक क्रियाकलापों में संलग्न लोग हैं, वे ग़रीब औद्योगिक मज़दूरों की मेहनत पर जीवित हैं। वे स्वयं कुछ भी औद्योगिक योगदान नहीं करते। इस तरह विकास प्रक्रिया में उनका किसी प्रकार की प्रगतिशील भूमिका नहीं है।

उसका कहना था कि जो लोग आर्थिक क्रियाकलापों में संलग्न होते हैं, वे अपने सोचने के ढंग से "जीववादी" या "मायावी" हैं। विकासात्मक दृष्टि से वे अपने से पूर्ववर्ती काल के अवशेष हैं। इसके विपरीत औद्योगिक रोज़गार में लगे लोगों की सोच विवेकपूर्ण होती है और वे यथार्थवादी

होते हैं। वेब्लेन के अनुसार जिन मशीनों का वे उपयोग करते हैं उनके कारण उनमें बुद्धि संगत तर्क का होना अनिवार्य हो जाता है। जो लोग मशीनों का उपयोग करते हैं उनके लिए मशीनी प्रौद्योगिकी उन्हें अनुशासित करने का काम करती है। वेब्लेन के मत में पैसा कमाने के धंधे में संलग्न लोगों की लूटपाट की जीवन-पद्धति के विपरीत मानव जाति का भावी विकास उन लोगों पर निर्भर है जो अनुशासित और तर्कसंगत हैं।

### 3.4.3.3 संपन्न वर्ग और प्रदर्शन उपभोग (Leisure Class and Conspicuous Consumption)

वेब्लेन के आधुनिक पँजीवादी समाज में प्रतियोगिता संबंधी व्यवहार का विश्लेषण बहुत महत्वपूर्ण है। उसने आधुनिक औद्योगिक समाजों में सामाजिक व्यक्तियों के विचार की आदतों और सामाजिक कार्यकर्ताओं के व्यवहार की पद्धतियों का विश्लेषण किया। उसने मानव के प्रतियोगिता संबंधी व्यवहार के पीछे नीहित सामाजिक स्रोतों का बहुत ही परिष्कृत सिद्धांत प्रस्तुत किया।

उसके अनुसार लोगों का आत्मसम्मान इस बात पर निर्भर करता है कि समाज में दूसरे लोग उसे कितना सम्मान देते हैं। अमरीका जैसी प्रतियोगितात्मक, भौतिकवादी संस्कृति में किसी व्यक्ति का महत्व उस व्यवस्था के अंतर्गत दूसरों के महत्व के संदर्भ में आंका जाता है। इस प्रकार समाज में प्रतिस्पर्धा का एक ऐसा दुश्चक्र बन जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसियों या मित्रों से अधिक अच्छा दिखने का प्रयास करता है।

वेब्लेन ने अपनी पुस्तक, *द थ्योरी ऑफ़ द लैज़र क्लास* (पृष्ठ 30-31) में लिखा है कि कोई जितनी तेज़ी से नई संपत्ति उपार्जित करता है और इस नई संपत्ति के स्तर का अभ्यस्त हो जाता है, उसे तब पहले स्तर की अपेक्षा नए स्तर से भी विशेष संतोष नहीं होता। उसका संपत्ति-संग्रह का प्रयोजन यह होता है कि वह आर्थिक दृष्टि से बाक़ी समाज की तुलना में बढ़-चढ़कर प्रतीत हो।

वेब्लेन ने संपत्ति के संयोजन और दूसरों के साथ प्रतियोगिता के इस दुश्चक्र के संदर्भ में प्रदर्शन उपभोग की अवधारणा की चर्चा की है। संपन्नता के प्रदर्शन और समाज में उच्च प्रतिष्ठा के प्रदर्शन संबंधी विचार प्रदर्शन उपभोग से ही संबंधित हैं। इन सबका उद्देश्य अपने वर्ग में उच्च प्रतिष्ठा तथा अधिक सम्मान अर्जित करना है।

प्रदर्शनकारी उपभोग समाज के सदस्यों का वह व्यवहार जिसके अंतर्गत वे विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं का उपयोग केवल आवश्यकता के अनुसार नहीं करते अपितु वे उनका उपयोग दूसरों को दिखाने के लिए और अपने तथा पड़ोसियों के बीच दूरी बनाए रखने के लिए करते हैं। उदाहरण के लिए अपने ही समाज में यह देखने में आता है कि अमीर लोगों के पास कई कारें, नौकर-चाकर, पालतू कुत्ते आदि होते हैं। ये लोग अपनी धन-संपत्ति का प्रदर्शन अपने और अपने परिवार के सदस्यों के बढ़िया क़ीमती कपड़ों के द्वारा करते हैं। जिस व्यक्ति के पास जितनी अधिक धन-संपत्ति होती है उसकी पत्नी उतने ही अधिक सोने और हीरे के गहने पहने दिखाई देती है। इन आभूषणों के पहनने के दो उद्देश्य होते हैं एक तो उन्हें पहनने वाला व्यक्ति दूसरों का ध्यान आकर्षित करता है। दूसरे, वह इन्हें पहनकर दूसरों को अपनी धन-संपत्ति का और जीवन में अपनी सफलता का प्रदर्शन करता है।

कभी-कभी प्रदर्शन के व्यवहार की सिर्फ़ यह उपयोगिता होती है कि वह व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा अपनी हैसियत ऊँची दिखाना चाहता है। उदाहरण के तौर पर चीनी समाज में मंडारिन लोग अपनी उंगलियों के नाखून बढ़ाकर रखते थे, यह उस समाज में एक रिवाज था। परंतु कोई समाज-विश्लेषक इसकी आसानी से व्याख्या कर सकता है कि जिस व्यक्ति के लम्बे नाखून होंगे, वह अपने हाथों से काम नहीं करता होगा। इसलिए निश्चय ही ऐसे व्यक्तियों की समाज में अधिक प्रतिष्ठा होगी।

अमरीकी समाज में धनी लोग छुट्टियों में बाहर घूमने जाते हैं, यह परंपरा हमारे समाज में भी है। समुद्र तटों और पहाड़ी स्थानों पर घूमने का आनंद केवल अमीर लोग ही उठा सकते हैं। ये संपन्नता के प्रदर्शन के कुछ उदाहरण हैं।

वेब्लेन ने संकेत किया है कुलीनतंत्र युग में समाज के बहुत छोटे भाग के लोग फ़िज़ूलख़र्ची का जीवन बिताते थे, लेकिन आज के पूँजीवादी देशों में प्रतिस्पर्धा के रूप में प्रदर्शन की प्रवृत्ति पूरे समाज पर छा गई है। प्रत्येक वर्ग अपने से उच्च वर्ग के रहन-सहन के तरीक़ों की यथासंभव नक़ल करने की कोशिश करता है। वेब्लेन के मत में आधुनिक समाज में संग्रहवृत्ति के कारण ग़रीब लोग प्राय: यह अनुभव करते हैं कि उन्हें निरंतर अभाव की स्थिति में जीना पड़ता है। उसके विचार में यदि वास्तविक रूप से देखा जाए तो औद्योगिक व्यवस्था में ग़रीब और अधिक ग़रीब नहीं हो जाते लेकिन वे अपनी ही दृष्टि में अपने आपको अपेक्षतया अधिक ग़रीब महसूस करने लगते हैं। यह तथ्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है। वेब्लेन का यह विश्लेषण कुछ समय बाद आर.के. मर्टन द्वारा विकसित सापेक्ष वचन (relative deprivation) की अवधारणा के बहुत नज़दीक है (कोज़र 1971: 269)। अगले अनुभाग को पढ़ने से पहले सोचिए और करिए 2 को पूरा कर लें।

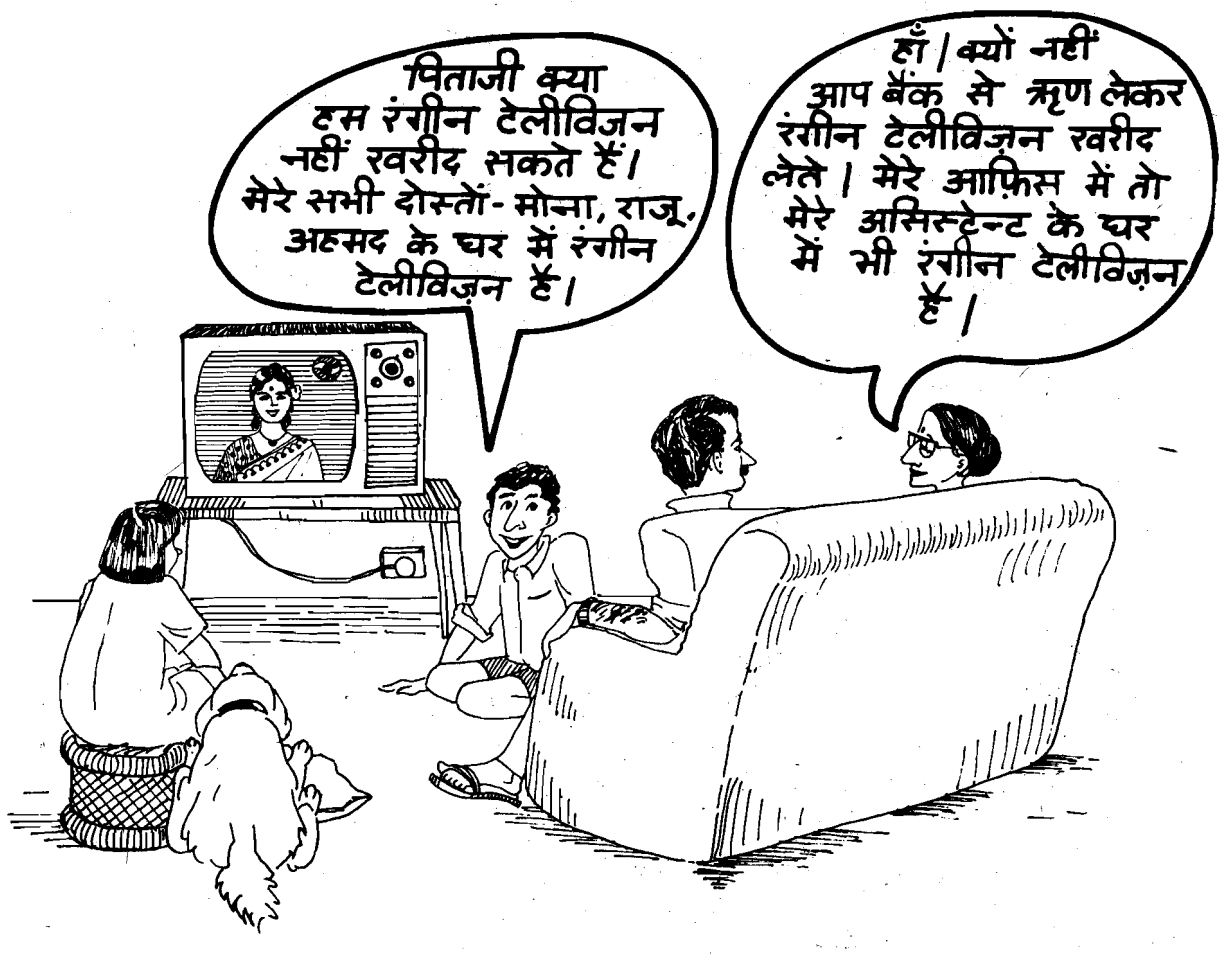


**चित्र 3.1: आधुनिक समाजों में प्रतिस्पर्धा का व्यवहार**

**सोचिये और करिए 2**

इस इकाई में थोर्स्टीन वेब्लेन द्वारा वर्णित आधुनिक पूँजीवादी समाजों में प्रतियोगी-व्यवहार वाला भाग पढ़िए। अपने पड़ोस के पाँच परिवारों को चुनिए इन परिवारों के सदस्यों से मालूम कीजिए।

i) अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी का फ्रिज, कपड़े धोने की मशीन, कार या टी.वी. आदि कौन-सा सामान उन्होंने ख़रीदा है?

ii) यह सामान उन्होंने क्यों ख़रीदा है?

iii) इनमें से कितने परिवारों के पास उपर्युक्त सामान है?

अब आप एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए। आप अपना निष्कर्ष दीजिए और बताइए कि इन पाँच परिवारों में प्रौद्योगिकी की सामग्री को खरीदने में किसी प्रकार की प्रतियोगिता की भावना थी या नहीं। निष्कर्ष निकालते समय वेब्लेन के विवरण को ध्यान में रखिए। यदि हो सके तो अपनी टिप्पणी की तुलना अपने अध्ययन केंद्र के दूसरे विद्यार्थियों की टिप्पणी से कीजिए।

### 3.4.3.4 प्रकार्यात्मक विश्लेषण

मर्टन को अपने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रकार्यों की अवधारणा को प्रतिपादित करने में अन्य समाजशास्त्रियों के अलावा वेब्लेन के विचारों से भी मदद मिली। वेब्लेन ने देखा कि प्रदर्शन उपभोग के पीछे अप्रत्यक्ष प्रकार्य का हाथ होता है जिसे सामाजिक विश्लेषक समझ सकता है। लोग क्यों आलीघान रॉल्स रॉयस कार खरीदना पसंद करते हैं जबकि उनके पास पहले ही एंबेसेडर कार है, क्यों पैसे वाले लोग विदेशी सामान खरीदते हैं जबकि वैसा ही सामान उनके अपने देश में भी बनता है। इन कार्यकलापों का सही कारण या प्रकार्य यह है कि इन वस्तुओं के पास होने से उन्हें सम्मान प्राप्त होता है। यहाँ तक कि शिष्टाचार, किसी विदेधी या अपनी ही भाषा का उच्चारण, कुलीनता का व्यवहार आदि ऐसी बातें हैं जो उनके उच्च रहन-सहन के तरीक़ों का आभास देती हैं और इनसे उन लोगों की समाज में उच्च स्थिति का पता चलता है। जैसा कि इससे पूर्व बताया जा चुका है इस विचार का और अधिक विकास राबर्ट के मर्टन ने अपने प्रकार्यवादी सिद्धांत में किया है।

### 3.4.3.5 सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा

वेब्लेन की सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा प्रौद्योगिकी विकास से जुड़ी हुई है। यह अवधारणा उस अंतर से भी जुड़ी हुई है जो अंतर उसने आर्थिक क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों "लुटेरे वर्ग" (predatory classes) और औद्योगिक मज़दूरों के बीच दिखाया है।

उसके मत में समाज को जो प्रौद्योगिकी उपलब्ध होती है उसी से उसकी संस्कृति निर्धारित होती है। समाज में विद्यमान सामाजिक संस्थाएं समाज की पिछली प्रौद्योगिकी के अनुरूप होती हैं इसलिए वे समाज की वर्तमान आवश्यकताओं से पूरी तरह मेल नहीं खातीं। उसका कहना है कि पुरानी व्यवस्था को बनाए रखने से जिस वर्ग को लाभ होता है वह प्रौद्योगिकी में परिवर्तन का विरोध करता है। यह वर्ग इस बात में विश्वास करता है "जो कुछ है, वह ठीक है" जब कि विकास प्रक्रिया में **प्राकृतिक चयन का नियम** (the law of natural selection) इस विचार पर आधारित है कि "जो कुछ है, वह ग़लत है" (कोज़र 1971: 272)।

इस प्रकार वेब्लेन का मत है कि सामाजिक परिवर्तन दो वर्गों के बीच संघर्ष पर निर्भर है, इनमें से एक वर्ग के हित पुरानी व्यवस्था को बनाए रखने में सुरक्षित होते हैं तो दूसरा वर्ग समाज में नए प्रौद्योगिक परिवर्तन लाना चाहता है। मार्क्स की धारणा से अलग वेब्लेन का यह विश्वास नहीं है कि सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। उसके विचार में सामाजिक परिवर्तन उन्नतशील प्रौद्योगिकी और परिवर्तन में बाधा पहुंचाने वाली मौजूदा सामाजिक संस्थाओं के बीच संघर्ष से होता है और इसलिए, सामाजिक संस्थाओं और प्रौद्योगिक विकास के बीच अंतर आ जाता है।

ऊपर हमने वेब्लेन द्वारा विकसित मुख्य विचारों का विवरण दिया है आइए, अब हम वेब्लेन के विचारों का समकालीन समाज पर प्रभाव देखें।

### 3.4.4 समकालीन समाज शास्त्र पर वेब्लेन के विचारों का प्रभाव

समाजशास्त्रीय सिद्धांत में वेब्लेन के योगदान का महत्व उसकी समाजशास्त्र विषयक रचनाओं की अपेक्षा अन्य समाजविज्ञानियों पर उसके विचारों के विशिष्ट प्रभाव से अधिक स्पष्ट होता है। अपने समाज के बारे में उसकी तीखी और आलोचनापूर्ण टिप्पणियों और उसके कटुस्वभाव ने उसे सामाजिक वास्तविकता का अच्छा पारखी बना दिया। उसके अनुसार सामाजिक वास्तविकता वह नहीं है जो बाहर से दिखाई देती है बल्कि वह है जो वास्तव में होती है। उसके मुख्य विचार समाजशास्त्रियों की सोच को निरंतर प्रभावित करते रहे।

उसने अमरीका की जिस संस्कृति के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी, वह उसके समय में विद्यमान थी। आज चाहे वह संस्कृति नहीं है लेकिन उसने समाज के अध्ययन के लिए जो परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया था वह आज भी उतना ही सार्थक है। उसने प्रतिस्पर्धात्मक जीवन पद्धति का सामाजिक-मनोवैज्ञानिक आधार पर जो अध्ययन प्रस्तुत किया था उससे आज की जीवन-पद्धति में पाए जाने वाले व्यवहार की व्याख्या भी हो सकती है। उदाहरण के लिए आज घिसी हुई बदरंग जीन्स को पहनने का फ़ैशन है जिस पर उसके निर्माता (designer) का लेबल लगा होता है। इसे देखकर किसी आलोचक एवं विश्लेषणकर्ता को यह स्पष्ट मालूम हो जाएगा कि इन जीन्स को पहनने वाले ग़रीब तो नहीं है पर ये देखने में ग़रीब लग सकते हैं। निर्माता के लेबल वाली बदरंग जीन्स कोई सस्ती चीज़ नहीं है। कुछ वर्षो पहले ऐसी जीन्स तो केवल विदेशों में उपलब्ध होती थीं तथा ये किसी साधारण नागरिक को आसानी से नहीं मिल सकती थीं।

"सापेक्ष वंचन" (relative deprivation) और अप्रत्यक्ष प्रकार्यों (latent function) के विश्लेषण के सिद्धांत में वेब्लेन का बहुत योगदान रहा है। बाद में इन्हें रॉबर्ट के. मर्टन ने भी विकसित किया। ये दोनों ही सिद्धांत समाजशास्त्र के क्षेत्र में वेब्लेन की महत्वपूर्ण देन हैं।

**बोध प्रश्न 3**

i) वेब्लेन द्वारा चर्चित प्रौद्योगिक विकास का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

ii) निम्नलिखित वाक्यों में खाली स्थान भरिए।

क) सम्नर के विपरीत वेब्लेन का विश्वास था कि उद्योगपति और वित्तीय क्षेत्र के लोग ..... हैं जो औद्योगिक-मज़दूरों की मेहनत के बल पर समृद्ध हो रहे हैं।

ख) प्रतिस्पर्धात्मक भौतिकवादी संस्कृति में किसी व्यक्ति का महत्व उस व्यवस्था के दूसरे व्यक्तियों के ..... से आँका जाता है।

ग) आधुनिक पूँजीवादी देशों में धन-संपत्ति का और उच्च प्रतिष्ठा का प्रतिस्पर्धात्मक प्रदर्शन पूरे ..... में प्रविष्ट हो गया है।

iii) सामाजिक परिवर्तन के संबंध में वेब्लेन के क्या विचार है? पाँच पंक्तियों में वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

## 3.5 सारांश

इस इकाई में हमने समाजशास्त्र के तीन संस्थापकों के योगदानों का वर्णन किया है। ये हैं--जॉर्ज ज़िमेल (1858-1918), विल्फ्रेडो परेटो (1848-1923) और थोर्स्टीन वेब्लेन (1857-1929)।

सबसे पहले हमने ज़िमेल के जीवन परिचय का संक्षिप्त विवरण दिया और उसकी सामाजिक-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि दी। उसके बाद हमने ज़िमेल के कुछ मुख्य विचार प्रस्तुत किए। उसके अंतर्गत हैं, तात्विक समाजशास्त्र, सामाजिक प्ररूपों का वर्णन, समाजशास्त्र में संघर्ष की भूमिका के संबंध में ज़िमेल के विचार, और अंत में आधुनिक संस्कृति के बारे में उसके विचार। हमने समकालीन समाजशास्त्र पर उसके विचारों के प्रभाव के बारे में भी चर्चा की है।

इसके बाद हमने परेटो के जीवन का संक्षिप्त परिचय दिया और फिर उसकी सामाजिक-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि दी। इसके बाद हमने उसके कुछ प्रारंभिक विचारों के विषय में चर्चा की। ये विचार हैं, तर्कसंगत और अतर्कसंगत क्रियाएं, अवशिष्ट और व्युत्पाद की अवधारणा, अभिजात वर्ग का सिद्धांत, जिसमें शासकीय और गैर-शासकीय अभिजातों का उल्लेख है। इन दो वर्गों के चरित्रों की व्याख्या के लिए मैकियावेली के "शेर" और "लोमड़ी" की अवधारणा को लिया है। अंत में समकालीन समाजशास्त्र पर परेटो के विचारों के प्रभाव पर विचार किया।

अंत में हमने वेब्लेन का जीवन परिचय प्रस्तुत किया है और उसकी सामाजिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विवरण दिया है। उसके बाद वेब्लेन के मुख्य विचारों के बारे में चर्चा की। ये विचार हैं, प्रौद्योगिकी विकास का सिद्धांत, संपन्न वर्ग का सिद्धांत, संपन्न वर्ग और प्रदर्शन उपभोग, प्रकार्यात्मक विश्लेषण और समाज में सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत। अंत में हमने वेब्लेन के विचारों का समकालीन समाजशास्त्र पर प्रभाव का वर्णन किया है।

## 3.6 शब्दावली

**अवकाश (leisure)** — काम से छुट्टी का समय, जब व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार अपना कोई भी काम कर सकता है, जैसे कहीं घूमने जाना, चित्र बनाना, उपन्यास पढ़ना आदि।

**अवशिष्ट (residues)** — सामाजिक व्यवस्था के किसी स्थिर पक्ष की व्याख्या के लिए निर्धारित अवधारणा, जैसे बीमारी के उपचार के लिए कई पद्धतियां हैं। इसमें एक ही बात सतत है, वह है बीमार का उपचार करने का प्रयास। इस स्थिर तत्व को अवशेष कहते हैं।

**अतर्कसंगत (non-logical action)** — ऐसे सभी व्यवहार जो तर्कसंगत की श्रेणी में नहीं आते हैं। इसी प्रकार की क्रियाएं समाजशास्त्रीय चिंतन के विषय हैं।

**लुटेरा वर्ग (predatory classes)** — जो लूटपाट और शिकार द्वारा जीवन निर्वाह करता है। जैसे "शेर" अन्य प्राणियों का शिकार करके जीवित रहता है। यह लुटेरा वर्ग समाज में उन लोगों की ओर संकेत करता है जो उत्पादन तंत्र में कोई योगदान नहीं करते लेकिन दूसरों की मेहनत पर अधिकार जमाते हैं।

**प्रदर्शनकारी उपभोग (conspicuous consumption)** ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग जो दूसरों का ध्यान आकर्षित करती हैं। तथा उन लोगों की ऊँची हैसियत को दर्शाती है, जैसे कोई व्यक्ति हीरे-मोती लगे जूते पहने हो।

**प्राकृतिक चयन का नियम (the law of natural selection)** यह चार्ल्स डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत का अंश है। भौतिक या सामाजिक जगत में अस्तित्व के लिए संघर्ष। चयन की सहज प्रक्रिया, जो लोग भौतिक और सामाजिक वातावरण में सबसे अधिक सशक्त हैं वही जीवित रहते हैं, कमज़ोर का कोई स्थान नहीं होता।

**व्युत्पाद (derivatives)** इसमें सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तनशील पक्षों की व्याख्या है। उदाहरण के लिए दुनिया में विभिन्न रोगों के इलाज के लिए आयुर्वेद, होमियोपैथी, ऐलोपैथी आदि कई पद्धतियां हैं। परेटो के अनुसार ये विभिन्न पद्धतियां व्युत्पाद हैं।

**सामाजिक प्ररूप (social type)** ज़िमेल की यह अवधारणा सामाजिक स्वरूप से संबंधित है। ज़िमेल ने "अजनबी", "साहसी", "विश्वासघाती" आदि बहुत से प्ररूपों का वर्णन किया है। इस अवधारणा के अनुसार "अजनबी" से अभिप्राय एक ऐसे व्यक्ति से नहीं है जो एक जगह से दूसरी जगह पर घूमता-फिरता है बल्कि ऐसे व्यक्ति से है जिसकी समाज में एक विशेष हैसियत है। कोई व्यक्ति जब उस सामाजिक वर्ग में शामिल होता है, जिस वर्ग का वह पहले सदस्य नहीं था। "अजनबी" की समाज में एक नियत स्थिति है। इस स्थिति के कारण वह समाज में कुछ विशिष्ट भूमिकाएं अदा कर सकता है जैसे वह "मध्यस्थ" का काम कर सकता है।

**सामाजिक स्वरूप (social form)** इस अवधारणा में सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तियों की अंत:क्रिया के ढाँचे के पीछे निहित एकरूपता की ओर संकेत है। उदाहरण के तौर पर यदि हम किसी निगम की गतिविधियों का विश्लेषण करें तो हमें उस संगठन के ढाँचे में अन्य रूपों के अतिरिक्त उसमें अंतर्निहित विभिन्न रूप जैसे अधीनता, प्रभुता आदि दिखाई देते हैं।

## 3.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कोज़र, एल.ए. 1971. *मास्टर्स ऑफ़ सोशियोलॉजिकल थॉट*. दूसरा संस्करण, हरकोर्ट ब्रेस. जैवोनोविक: न्यूयार्क

टिमाशेफ़, निकोलस एस. 1967. *सोशियोलॉजिकल थ्यरी इट्स नेचर एंड ग्रोथ*, तीसरा संस्करण. रैंडम हाउस: न्यूयार्क

## 3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) ज़िमेल के अनुसार सामाजिक स्वरूप व्यक्तिगत अंत:क्रियाओं के विन्यास के निकाले गये निष्कर्ष है। चाहे विभिन्न हितों और प्रयोजनों की दृष्टि से अंत:क्रियाओं की प्रकृति कितनी भी भिन्न क्यों न हो, उनमें अंतर्निहित स्वरूप होता है, जो दोनों में समान हो सकता है।

इस प्रकार किसी अपराधी गिरोह के सरदार और उस गिरोह के सदस्यों के बीच अंत:क्रिया का रूप किसी स्काउट ग्रुप के नेता और स्काउट ग्रुप के अन्य सदस्यों के बीच अंत:क्रिया के रूप के समान हो सकता है।

ii) क) नहीं

ख) प्ररूप

ग) संघर्ष, संघर्ष

iii) ज़िमेल ने औद्योगिक समाजों की आधुनिक संस्कृति के बारे में चर्चा की है। उसका कहना है कि परंपरागत सामंतवादी विश्व की तुलना में आज के विश्व में मनुष्य पहले की अपेक्षा उत्तरोत्तर स्वतंत्र हो गया है। वैयक्तिक अवधारणा के विकास का कारण यह है कि अब सामाजिक अस्तित्व के परस्पर क्रियान्वित क्षेत्रों का विकास हो गया है। अब एक कारखाने के मालिक का कारखाने के समय के बाद कारखाने के मज़दूरों पर कोई अधिकार नहीं होता। इस प्रकार आधुनिक संस्कृति में लोग स्वतंत्रता का उपभोग कर सकते हैं।

**बोध प्रश्न 2**

i) परेटो के अनुसार तर्कसंगत क्रियाएं वे हैं जिनमें किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसके अनुरूप ही साधन हों। इसमें साधन तर्कसंगत रूप से लक्ष्य से जुड़े होते हैं, जब कि अतर्कसंगत क्रियाएं वे हैं जो तर्कसंगत क्रियाओं की श्रेणी में नहीं आतीं। अतर्कसंगत क्रियाएं समाजशास्त्रीय जाँच की विषयवस्तु हैं।

ii) इस इकाई में अवशिष्टों की दो श्रेणियों का उल्लेख है। ये हैं

i) संयोजन की सहजवृत्ति

ii) समूह स्थायित्व

iii) "शेर" और "लोमड़ी" दो प्रकार के व्यक्तियों के सूचक हैं जिसे परेटो ने मैकियाविली से लिया है। "शेर" अवशेष के वर्ग II में आते हैं। ये जिम्मेदार, स्थिर, अनुदार और कार्य व्यवहार में सक्षम होते हैं। "लोमड़ी" अवशेष के वर्ग I से संबंधित है क्योंकि ये कल्पनाशील नव परिवर्तनवादी, अनैतिक होते हैं। परेटो के अनुसार किसी भी समाज के सुचारू रूप से कार्य करने के लिए इन दोनों प्रकार के लोगों का मिश्रण होना चाहिए। उसमें शेर और लोमड़ी दोनों वर्गों के लोग होने चाहिए।

**बोध प्रश्न 3**

i) वेब्लेन के अनुसार सामाजिक विकास की प्रक्रिया में आविष्कार और नई तथा उत्तरोत्तर ज्यादा सक्षम प्रौद्योगिकी आवष्यक होती है। प्रौद्योगिकी में परिवर्तन के साथ समाज की सामाजिक संस्थाएं बदलती हैं। किसी समाज की प्रौद्योगिकी या औद्योगिक कलाएं उस समाज के लोगों को अपने प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण से अनुकूलन की प्रकृति को निर्धारित करती हैं।

ii) क) परजीवी

ख) महत्व

ग) सामाजिक ढाँचे

iii) वेब्लेन के अनुसार समाज में सामाजिक परिवर्तन संघर्ष के कारण होता है। संघर्ष तब होता है जब समाज की प्रौद्योगिकी उन्नत हो जाती है और समाज की सामाजिक संस्थाएं पिछड़ जाती हैं। ऐसी स्थिति में दोनों के बीच सामंजस्य नहीं रह सकता और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

# इकाई 4 भारत में समाजशास्त्र का इतिहास और विकास - I

## इकाई की रूपरेखा


4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 भारत में समाजशास्त्रीय चिंतन की सामाजिक पृष्ठभूमि

- 4.2.1 अंग्रेज़ी राज से पूर्व सामाजिक विचारधारा
- 4.2.2 अंग्रेज़ी राज का प्रभाव
- 4.2.3 मध्यमवर्ग का उदय

4.3 सुधार हेतु सामाजिक-धार्मिक एवं अन्य आंदोलन

- 4.3.1 सुधारवादी आंदोलन
- 4.3.2 पुनर्जागरण आंदोलन
- 4.3.3 अन्य आंदोलन

4.4 भारत में स्वाधीनता और स्वाधीनता उत्तर राजनैतिक आंदोलन

- 4.4.1 स्वाधीनता आंदोलन की सामाजिक पृष्ठभूमि
- 4.4.2 धार्मिक और राजनैतिक आंदोलनों का संपूरक स्वरूप
- 4.4.3 महिलाओं, कृषकों, अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों व जनजातियों से जुड़े राजनीतिक आंदोलन

4.5 भारत में समाजशास्त्रीय चिंतन की वैचारिक पृष्ठभूमि

- 4.5.1 परंपरा और आधुनिकता के बीच द्विविधा
- 4.5.2 विनय कुमार सरकार
- 4.5.3 आनंद कुमारस्वामी
- 4.5.4 कुछ अन्य बुद्धिवादी
- 4.5.5 भारत में आधुनिक शिक्षा की रूपरेखा

4.6 भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक नृशास्त्र का उदय

- 4.6.1 समाजशास्त्र और सामाजिक नृशास्त्र के बीच संबंध
- 4.6.2 समाजशास्त्र और भारतशास्त्र (Indology) के बीच संबंध
- 4.6.3 इड़ावती कर्वे

4.7 सारांश

4.8 शब्दावली

4.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप के द्वारा संभव होगा

- भारत में समाजशास्त्रीय चिंतन की सामाजिक पृष्ठभूमि का वर्णन करना
- सुधार के लिये सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों का विवेचन करना
- भारत में स्वाधीनता पाने के लिये हुए राजनैतिक आंदोलन की व्याख्या करना

- समाजशास्त्रीय विचारधारा की वैचारिक पृष्ठभूमि का विवेचन करना
- भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक नृशास्त्र के उदय की रूपरेखा बनाना।

## 4.1 प्रस्तावना

अब तक आपने इस खंड की इकाई 1 में यूरोप में समाजशास्त्र का उदय, इकाई 2 में समाजशास्त्र के प्रवर्तक ऑगस्ट कॉम्ट और हर्बर्ट स्पेंसर के विषय में तथा इकाई 3 में जॉर्ज ज़िमेल, विल्फ्रेडो परेटो, और थोर्स्टीन वेब्लेन के विषय में पढ़ा हैं।

इस इकाई में हमने भारत में समाजशास्त्र के इतिहास और विकास की सामाजिक तथा वैचारिक पृष्ठभूमि का विवेचन किया है। भारतीय जनसमूह के मनन-चिंतन, रहन-सहन और तौर-तरीक़ों पर अंग्रेज़ों के प्रभाव का भी वर्णन किया है। सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों ने समाज में फैली हुई कुरीतियों और कट्टरपंथी मूल्यों को दूर करने का प्रयास किया। स्वाधीनता आंदोलन और आंदोलन के नेताओं का भी समाज और संस्कृति पर काफ़ी प्रभाव पड़ा। भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक नृशास्त्र का विकास इन्हीं सामाजिक परिवर्तनों की पृष्ठभूमि में हुआ था।

भाग 4.2 में भारत में समाजशास्त्र चिंतन की सामाजिक पृष्ठभूमि का विवेचन है, भाग 4.3 में सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन की चर्चा की गई है जबकि भाग 4.4 में स्वाधीनता आंदोलन की सामाजिक पृष्ठभूमि और साथ ही धार्मिक और राजनैतिक आंदोलनों की संपूरक प्रवृत्ति की भी चर्चा है। भाग 4.5 में भारत के समाजशास्त्रीय चिंतन की वैचारिक पृष्ठभूमि का विवेचन है और अंततः भाग 4.6 में भारतीय समाजशास्त्र और सामाजिक नृशास्त्र के उदय की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। इस से आगे इसी खंड की इकाई 5 में आपको भारतीय समाजशास्त्र के तीन मुख्य पथ प्रदर्शक राधाकमल मुकर्जी, डी. पी. मुकर्जी और जी.एस. घुर्ये के विषय में जानकारी प्राप्त होगी।

## 4.2 भारत में समाजशास्त्रीय चिंतन की सामाजिक पृष्ठभूमि

भारतवर्ष का इतिहास चार सहस्राब्दियों से भी लंबा है। भारत की सांस्कृतिक विरासत में संस्कृत, प्राकृत और पाली जैसी भाषाओं में लिखे गए धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथ भरे हुए हैं, इसके अलावा मध्ययुग में, अवधी, बृज, मैथिली, बंगला, असमी, मराठी, कन्नड, तेलुगु, मलयालम आदि क्षेत्रीय भाषाओं में भक्ति साहित्य का भंडार भरा पड़ा है।

### 4.2.1 अंग्रेज़ी राज से पूर्व सामाजिक विचारधारा

साहित्यिक परंपराओं की दृष्टि से भारत की सभ्यता अपेक्षाकृत संश्लिष्ट या मिश्रित किस्म की रही है। भारतीय दर्शन में योग, सांख्य, न्याय, वैशेषिक **वेदांत** और मीमांसा नामक छह प्रकार की विभिन्न विचारधाराएं हैं। भारतीय चिंतनधारा का यह एक महत्वपूर्ण स्रोत है। तेरह प्रमुख उपनिषदों में मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन और उसके चरम लक्ष्य से संबंधित दार्शनिक अन्वेषण हैं। इनके अलावा भारत में बौद्ध और जैन धर्मों की दार्शनिक कृतियां भी हैं। सामान्यतः ये सभी विचारधाराएं मानवमात्र के क्रमिक विकास से सम्बद्ध हैं। इन में से अधिकांश मोक्ष, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से मुक्त के लक्ष्य से जुड़ी हैं। भारतीय समाज नवीन परिस्थितियों के अनुरूप बदलता रहा है। आधुनिक काल से पूर्व भारत की सामाजिक विचारधारा एक **बहुविध नृजातीय** समाज की अभिव्यक्ति थी। इस्लामी परंपरा के प्रभाव से सूफ़ी संप्रदाय का उदय हुआ जिसने विशेषरूप से उत्तर भारत में लोगों के रहन-सहन और मूल्यों को व्यापक रूप से प्रभावित किया। हिंदू और मुस्लिम विचारधारा के समन्वय का एक अच्छा उदाहरण सिख धर्म है। भारत में

अलग-अलग विचारों को पनपने की स्वतंत्रता रही है। मतों व विश्वासों के आधार पर किसी विशेष वर्ग पर **अत्याचार** नहीं किया गया था। इसीलिए भारत के सामाजिक वर्गों के बीच एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता की भावना बनी रही। भारत में धर्म तो जनसाधारण के बीच फला-फूला किंतु दर्शन की औपचारिक विचारधाराएं मुख्यत: पढ़े-लिखे शहरी लोगों के बीच ही पनपीं।

### 4.2.2 अंग्रेज़ी राज का प्रभाव

भारत में अंग्रेज़ों का आगमन एक ऐसी घटना थी जिसका भारतीय समाज पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। नई सामाजिक और आर्थिक शक्तियों ने पुरानी परंपराओं को तोड़ा। संस्कृत और फ़ारसी जैसी प्रतिष्ठित भाषाओं के स्थान पर अंग्रेज़ी राजभाषा हो गई। भारत के ग्रामीण हस्तकला उद्योग की वस्तुएं मैनचेस्टर, लंकाशायर, शेफ़ील्ड और लंदन से आयी मशीनों के बने कपड़ों और अन्य वस्तुओं के सामने बाज़ार में नहीं टिक पाईं। इसके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे ग्रामीण हस्तकला उद्योग नष्ट हो गए। उपनिवेशी शासन में भारतीय गांव एक स्वावलंबी इकाई नहीं थे।

अंग्रेज़ों ने भारत में रेल, डाक व तार द्वारा संपर्क व्यवस्था को आसान बनाकर भारतीय समाज में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन के मार्ग खोल दिये। इसके अलावा उप महाद्वीप के अनेक भागों में प्रशासनिक और न्यायिक सेवाओं की व्यवस्था भी की गई। इस विकास के द्वारा भारत ने आधुनिक युग में प्रवेश किया। अंग्रेज़ शासकों ने भारत में स्कूल कॉलेज और विश्वविद्यालयों की स्थापना की। **मिशनरी** और भारतीय स्वयंसेवी संस्थाओं ने भी भारत में आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिये प्रयास किये।

### 4.2.3 मध्यमवर्ग का उदय

पुराने सामंती वर्ग जैसे राजा, महाराजा, ज़मींदार, तालुक़दार आदि अब उतने महत्वपूर्ण नहीं रह गए थे। वास्तव में जिस **मध्यमवर्ग** का उदय अंग्रेज़ी राज में हुआ उसने भारतीय समाज के लगभग हर क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। इस इकाई में जिन सामाजिक विचारकों की चर्चा की जाएगी वे सभी इसी मध्यमवर्ग के हैं। हालांकि धार्मिक अनुष्ठानों और पारिवारिक मामलों में जाति का महत्वपूर्ण स्थान है, लेकिन व्यवसाय, रोज़गार और जनजीवन के क्षेत्रों में वर्ग महत्वपूर्ण हो गये हैं। यहां पर हमने मध्यमवर्ग शब्द का प्रयोग सिर्फ़ आर्थिक रूप में नहीं किया है। मध्यमवर्ग के उदय में आर्थिक तथा सांस्कृतिक तत्वों का योगदान था। मध्यमवर्ग के लोगों का न केवल आर्थिक जीवन बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन भी समान होता है।

## 4.3 सुधार हेतु सामाजिक-धार्मिक एवं अन्य आंदोलन

उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के आरंभ में मध्यमवर्ग ने भारतीय समाज में सुधार और आधुनिकीकरण की ओर प्रयास शुरू किया। इन सुधारवादी प्रयासों में सामाजिक तथा धार्मिक सुधार दोनों थे। बीसवीं सदी का उत्तरार्ध आने तक अनेक अन्य आंदोलन भी प्रकट हुए।

### 4.3.1 सुधारवादी आंदोलन

उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारकों में से एक प्रमुख सुधारक बंगाल के राजा राममोहन रॉय (1772-1833) थे जिनका सुझाव था कि यदि भारत के लोग सती प्रथा, बालहत्या आदि जैसे अंधविश्वासों और बुराइयों को त्याग दें तो वे प्रगतिशील बन सकते हैं। उन्होंने एक नए प्रकार के धर्म का प्रचार किया जिसमें वेदों के साथ ईसाई धर्म की शिक्षाओं का भी समावेश था। उन्होंने ब्रह्मो समाज की स्थापना की जो कि एक आध्यात्मिक **मंच** था। इस समाज के सदस्य जाति तथा अंधविश्वास से कोई मतलब नहीं रखते थे। इस समाज में **मूर्तिपूजा** का विरोध किया गया था और एक ही ईश्वर को पूजा जाता था।

राजा राममोहन रॉय का प्रभाव मुख्यत: बंगाल के शहरी और सुशिक्षित वर्ग तक ही सीमित था। इसी शताब्दी में महाराष्ट्र के एक न्यायाधीश महादेव गोविंद रानाडे ने मुंबई में प्रार्थना समाज की स्थापना की जो मोटे तौर पर बंगाल के ब्रह्मो समाज पर आधारित था। इन दो आंदोलनों के प्रति सामाजिक प्रतिक्रियाएं काफ़ी भिन्न थीं। ब्रह्मो समाज द्वारा पाश्चात्य उदारवादी दृष्टिकोण पर ज़ोर दिए जाने के कारण समाज के रूढ़िवादी हिंदुओं ने राजा राममोहन रॉय के सुधारों का विरोध किया। यहां रूढ़िवादी परंपराओं और आधुनिकता के बीच एक द्वंद्व खड़ा हो गया। इसके विपरीत प्रार्थना समाज द्वारा शुरू की गयी उदारवादी प्रवृतियों ने परंपरा और आधुनिकता के बीच तनाव नहीं आने दिया। ब्रह्मो समाज की तरह इसके सदस्यों ने स्पष्टतया ग़ैर परंपरावादी रहन-सहन नहीं अपनाया। इसलिए समाज द्वारा इनका उतना कड़ा प्रतिरोध नहीं हुआ।

### 4.3.2 पुनर्जागरण आंदोलन

हमारी चर्चा में पुनर्जागरण आंदोलनों का उल्लेख काफ़ी महत्व है। दयानंद सरस्वती (1824-1883) ने आर्य समाज की स्थापना की। इसके द्वारा उन्होंने लोगों से आग्रह किया कि वे हिंदु धर्म की हानिकारक परंपराओं (जैसे जातिवाद की संकीर्णता अंधविश्वासों और अनुष्ठानों आदि) को त्याग कर फिर से वेदों की पुरातन शुद्धता को अपनाएं। आर्य समाज ने ऐसी शिक्षा का समर्थन किया जिसमें परंपरा और आधुनिकता दोनों का समावेश था। दयानंद एंग्लो-वैदिक कॉलेजों (डी.ए.वी.) ने उत्तर भारत में बड़े पैमाने पर शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया। विवेकानंद द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन के दो प्रमुख उद्देश्य थे - पहला यह कि शिक्षित भारतवासियों को समाज के कमज़ोर वर्गों के प्रति ज़िम्मेदारी का अहसास दिलाएं, इसके साथ ही वे ग़रीबी और सामाजिक पिछड़ेपन को हटाने का प्रयास करें। दूसरे यह कि वे पश्चिमी देशों में भारतीय वेदों का प्रचार-प्रसार करें। पहले उद्देश्य की पूर्ति के लिए शहरी, ग्रामीण और जनजातीय इलाक़ों में कई स्कूल और छात्रावास स्थापित किए गए, जिससे सामान्य लोगों के लिए शिक्षा और रोज़गार की संभावनाएं बढ़ी। दूसरे उद्देश्य के लिए बहुत से पश्चिमी देशों में आध्यात्मिक जागरण के उद्देश्य से कई **अद्वैत** केंद्रों की स्थापना की गई।

### 4.3.3 अन्य आंदोलन

जिस प्रकार सुधारवादी तथा पुनर्जागरण आंदोलनों ने भारत में सामाजिक सुधार की लहर पैदा की और भारतीय समाज में सामाजिक-सांस्कृतिक जागरूकता से जुड़ी बौद्धिक गतिविधियों को बढ़ावा मिला, उसी तरह स्वतंत्रता के बाद के काल में पर्यावरण ह्रास और ग़लत ढंग के विकास के विरोध में उपजे आंदोलनों ने भी बौद्धिक कार्यकलापों को प्रभावित किया। फलस्वरूप अनेक समाजशास्त्रियों ने ऐसी समस्याओं पर अपना ध्यान केंद्रित किया जो विकास प्रक्रिया (जैन 1995b, 2001a, 2001b, 2001c तथा 2003), निर्वनीकरण (जैन 1984a, 1984b, 1994, 1995a तथा 1998-99), विस्थापन (फ़र्नान्डेस 2000) और भारत में महिला-पुरुष की जनसंख्या के अनुपात में विषमता (पटेल 1994) जैसे विषयों से जुड़े हैं। ये सारे मुद्दे देश के विभिन्न भागों में उपजे अनेक आंदोलनों के माध्यम से सामने आए तथा विद्वानों ने तब इन पर अध्ययन किये। इस इकाई में हमने इन प्रवृत्तियों का नाम भर ही लिया है। इनके विस्तार में न जाते हुए आपको बता दें कि समाजशास्त्र में आए विकास के इन चरणों से जुड़े विषयों को समाजशास्त्र में स्नातकोत्तर डिग्री के पाठ्यक्रमों में शामिल करने के पूरे प्रयास होंगे।

**बोध प्रश्न 1**

i) भारतीय दर्शन की छ: विचारधाराओं के नाम लिखिए। तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

ii) अंग्रेज़ी शासन के द्वारा भारतीय समाज में होने वाले तीन महत्वपूर्ण परिवर्तनों के बारे में लिखिए। दस पंक्तियों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) ब्रह्मो समाज की स्थापना किसने की? इसके क्या उद्देश्य थे? सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 4.4 भारत में स्वाधीनता और स्वाधीनता उत्तर राजनैतिक आंदोलन

उन्नीसवीं शताब्दी के आख़िर में भारत में स्वाधीनता के लिये राजनैतिक आंदोलन का आरंभ हुआ। 1885 में आक्टेवियस ह्यूम ने विचार-विमर्श और बहस के लिए राष्ट्रीय कांग्रेस के रूप में एक राजनैतिक मंच की स्थापना की।

### 4.4.1 स्वाधीनता आंदोलन की सामाजिक पृष्ठभूमि

कांग्रेस के अधिकांश सदस्य शहरी शिक्षित वर्ग के थे। 1885–1917 तक इसका स्वरूप मध्यमवर्गीय बना रहा। गांधीजी के आगमन से कांग्रेस एक जनसाधारण की राजनैतिक पार्टी बन गई जिसके अधिकांश प्राथमिक सदस्य शहरी व्यावसायिक, किसान, दस्तकार और औद्योगिक मज़दूर थे। देखा जाए तो भारत के बुद्धिजीवियों को अलग से राजनैतिक मत बनाने या स्वाधीनता के लिए संघर्ष के लिए इतने अत्याचार नहीं झेलने पड़े जितने कि अन्य देशों में लोगों को झेलने पड़े थे। फिर भी स्वदेशी आंदोलन, असहयोग आंदोलन और भारत छोड़ो आंदोलन आदि के दौरान अनेक कांग्रेसी नेता और उनके अनुयायी राजद्रोह के अभियोग में जेल गए। बहुत से लोगों को आतंकवादी गतिविधियों में भाग लेने के अभियोग में फांसी भी दे दी गई। फिर भी भारतीय स्वाधीनता संग्राम की विशिष्टता उसका अहिंसात्मक मार्ग था।

**सोचिए और करिए 1**

रवीन्द्रनाथ टैगोर, प्रेमचंद, मुल्कराज आनंद, राजाराव, वेंकटरमणी या किसी अन्य प्रसिद्ध लेखक का एक उपन्यास पढ़िए। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि भारत का स्वाधीनता संग्राम होना चाहिए।

उपन्यास पढ़ने के बाद दो पृष्ठों का लेख लिखिए जिसमें निम्नलिखित के बारे में विवेचन हो।

1. उपन्यास में पायी जाने वाली सामाजिक संस्थाएं जैसे परिवार, क़ानून, राजनैतिक संगठन आदि।
2. उपन्यास के विभिन्न पात्रों की गतिविधियों द्वारा अभिव्यक्त समाज के मूल्यों और मान्यताओं आदि।

यदि संभव हो तो अपने लेख की तुलना अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों के लेखों के साथ कीजिये।

### 4.4.2 धार्मिक और राजनैतिक आंदोलनों का संपूरक स्वरूप

राष्ट्रीय कांग्रेस और अन्य राजनैतिक पार्टियाँ सीधे राजनैतिक गतिविधियों में लगी थीं जबकि शिक्षा और सुधार द्वारा धार्मिक आंदोलन अप्रत्यक्ष रूप से इसमें अपना योगदान दे रहे थे। पहले आंदोलन ने राजनैतिक जागृति पैदा की जब कि दूसरे ने आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न की। इस प्रकार दोनों आंदोलनों को एक दूसरे के संपूरक के रूप में देखा जाना चाहिए। अब तक हमने उस सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का विवेचन किया है, जिसमें भारतीय समाजशास्त्र का विकास हुआ। इससे पहले कि हम समाजशास्त्र और उसके मुख्य प्रवर्तकों के विषय में विचार करें, पहले हम उस वैचारिक वातावरण का विवेचन करें जिसमें भारतीय समाजशास्त्र का उदय हुआ।

### 4.4.3 महिलाओं, कृषकों, अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों से जुड़े राजनीतिक आंदोलन

सामाजिक संस्थाओं और राजनीतिक प्रक्रियाओं के बीच की अंत:क्रिया से बहुधा ऐसे सामूहिक कार्यों को बढ़ावा मिलता है जो संगठित रूप से संचालित होते हैं। हमने पाया है कि भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने की इच्छा से शुरू किए गए अभियानों ने धीरे-धीरे स्पष्ट उद्देश्यों के साथ कार्य-योजना व संगठन वाले राजनीतिक आंदोलन का रूप ग्रहण कर लिया है। आपने देखा होगा कि मौजूदा राजनीतिक ढांचे से असंतुष्ट जनता की बढ़ती अपेक्षाओं के संदर्भ में भारत में कई आंदोलन उठ खड़े हुए हैं (ऐसे आंदोलनों पर हुए अध्ययनों के लिए देखें कोठारी 1960, बेली 1962 और देसाई 1965)। इस प्रकार के आंदोलनों का मुखर्जी (1977), ऊमन (1977) और राव (1978) जैसे समाजशास्त्रियों ने सैद्धांतिक तथा विवरणात्मक दृष्टि से अध्ययन किया है।

राजनीतिक आंदोलनों के उदाहरणस्वरूप, 1946 से 1951 के बीच हुए तेलंगाना कृषक संघर्ष को आप देखें। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने इस संघर्ष का नेतृत्व किया था (देखें धनागरे 2002)। इसी प्रकार कम्युनिस्ट पार्टी के विभिन्न दलों ने 1960 के दशक में उपजे नक्सबाड़ी आंदोलन को आज तक अपना समर्थन जारी रखा है (देखें बनर्जी 2002 और 2002)। दोनों तेलंगाना तथा नक्सलबाड़ी आंदोलनों का मुख्य ध्येय रहा कि कृषि से जुड़े मौजूदा सामाजिक-संबंधों में बदलाव हो।

भारतीय समाज के सर्वउपेक्षित एवं प्रताड़ित वर्ग अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के तरह-तरह के संघर्षों, विरोध-अभियानों एवं आंदोलनों की कहानी लंबी है। ओमवेट (2001) ने अम्बेदकर के बाद दलित आंदोलन का विशद अध्ययन किया है। दूसरी ओर सिन्हा (2002) और सिंह (2002) ने जनजातीय आंदोलनों पर काम किया है।

भारत में महिला आंदोलन और राजनीति के बीच अंत:क्रिया कम नहीं है। इस प्रकार के अध्ययनों के लिये देखें लिंगम (2002), जैन (1984 और 1986) और देसाई (1988)। भविष्य में होने वाले क्षेत्रीय व राष्ट्रीय स्तर पर राजनीति में उनकी भूमिका के संदर्भ में छात्र आंदोलनों में भाग लेने वाले युवाओं के महत्व को समझा जा सकता है। इस दृष्टि से शाह (2002) तथा गुहा (2002) के अध्ययनों का महत्व बढ़ जाता है। इन तमाम अध्ययनों की चर्चा करने का आशय इनकी ओर केवल आपका ध्यान आकर्षित करना मात्र है। राजनीतिक आंदोलनों को समाजशास्त्र पर स्नातकोत्तर स्तर के पाठ्यक्रमों में विशद् अध्ययन का विषय बनाया जायेगा।

## 4.5 भारत में समाजशास्त्रीय चिंतन की वैचारिक पृष्ठभूमि

भारत में विशिष्ट (elite) वर्ग पर अंग्रेज़ों के प्रभाव की चर्चा करना यहां उचित है। भारत में सदियों पुरानी एक प्रतिष्ठित साहित्यिक परंपरा थी। संस्कृत का ज्ञान विशिष्ट वर्ग की पहचान थी। किंतु भक्ति काल (लगभग उन्नीसवीं शताब्दी से) के दौरान क्षेत्रीय भाषाओं में उच्च स्तरीय साहित्य का विकास हुआ। क्षेत्रीय भाषाओं में साहित्यिक रचना करने की प्रेरणा जिन भक्त कवियों ने दी, या तो वे स्वयं रचनाकार थे या फिर उनके उपदेशों ने साहित्यिक रचनाओं को प्रभावित किया। इस संदर्भ में तुलसीदास (अवधी), सूरदास (ब्रज), कबीर (हिंदी के मिश्रित रूप), शंकरदेव (असमी), चैतन्य महाप्रभु (बंगाली), नामदेव और तुकाराम (मराठी), नरसी मेहता (गुजराती), पुरंदरदास (कन्नड़), नायनार और आलवार (तमिल) आदि कई अन्य नाम गिनाए जा सकते हैं।

भारत के अधिकांश भागों में भक्तजन मुख्य रूप से जनसाधारण के लिए सम्माननीय थे जबकि विशिष्ट वर्ग अब भी संस्कृत से जुड़ा हुआ था और उसे आदर्श साहित्यिक रूप मानता रहा। संस्कृत की रचनाओं के साथ साहित्यिक प्रतिष्ठा जुड़ी हुई थी। यहां तक कि रवींद्रनाथ टैगोर को भी उस पारंपरिक बंगाली विशिष्ट वर्ग का सामना करना पड़ा था जिनकी मान्यता थी की संस्कृत भाषा बांग्ला भाषा से श्रेष्ठ है। लेकिन जब भारत में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी बन गई तो ये सारी धारणाएं बदल गई। भारतीय विशिष्ट वर्ग ने तेज़ी से किंतु आंशिक रूप में अंग्रेज़ी को अपना लिया। एडवर्ड शिल्स (1961) के अनुसार भारतीय विशिष्ट वर्ग द्वारा अंग्रेज़ी को अपना लेने के बावजूद भी संस्कृत पर आधारित ब्राह्मणवादी परंपरा के प्रति उनका मोह बना रहा। दूसरे शब्दों में अंग्रेज़ी शिक्षा ग्रहण किए हुए आधुनिक विशिष्ट वर्ग की विज्ञान और तकनीकी की अपेक्षा साहित्यिक और **मानववादी** परंपराओं में अधिक रूचि थी। विशिष्ट वर्ग पर यह दृढ़ता संस्कृत की पकड़ के कारण ही थी।

### 4.5.1 परंपरा और आधुनिकता के बीच द्विविधा

कुल मिलाकर, भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग में परंपरा और आधुनिकता के बीच द्विविधा (dilemma) की स्थिति आ गयी थी (देखिये चित्र 4.1: भारतीय बुद्धिजीवी)। परंपरा का अर्थ है पुराने रीति-रिवाजों, नैतिक मूल्यों तथा आदर्शों आदि का महत्व और आधुनिकता का संबंध तर्क संगति, स्वाधीनता और समानता जैसे पाश्चात्य आदर्शों के प्रभाव से है। परंपरा और आधुनिकता एकदम से विपरीतार्थ तो नहीं हैं किंतु कुछ विद्वानों (जैसे शिल्स 1961) ने इनका प्रयोग पुराने और नये मूल्यों के बीच अंतर दिखलाने के लिये किया गया है। अमेरिका में भारतीय कला के

संग्रहालयाध्यक्ष और सामाजिक विचारक आनंद कुमारस्वामी ने आधुनिकता और परंपरा के इन पारंपरिक अर्थों को अस्वीकृत किया है। परंपरा से उनका अर्थ भक्तिवादी प्रथाओं से बिल्कुल नहीं है। परंपरा से उनका मतलब उन आधारभूत मूल्यों से है जो पूर्व और पश्चिम दोनों के लिए सामान्य हैं। इन विचारों के बारे में आपको आगे विस्तार से जानकारी दी जाएगी। प्रतिष्ठित समाजशास्त्री बिनय कुमार सरकार का मत इसके बिल्कुल विपरीत था। उनके अनुसार भारत में परंपरा की जड़ धर्म और आध्यात्मिकता में है। उन्होंने भारत की धर्मनिरपेक्ष शक्ति को दर्शाने का प्रयास किया है। फिर भी सरकार ने पूर्ण रूप से परंपरा को अस्वीकार नहीं किया है। मानव प्रगति के लिए वे भारतीय संस्कृति के धर्मनिरपेक्ष पहलुओं का उपयोग करना चाहते थे।

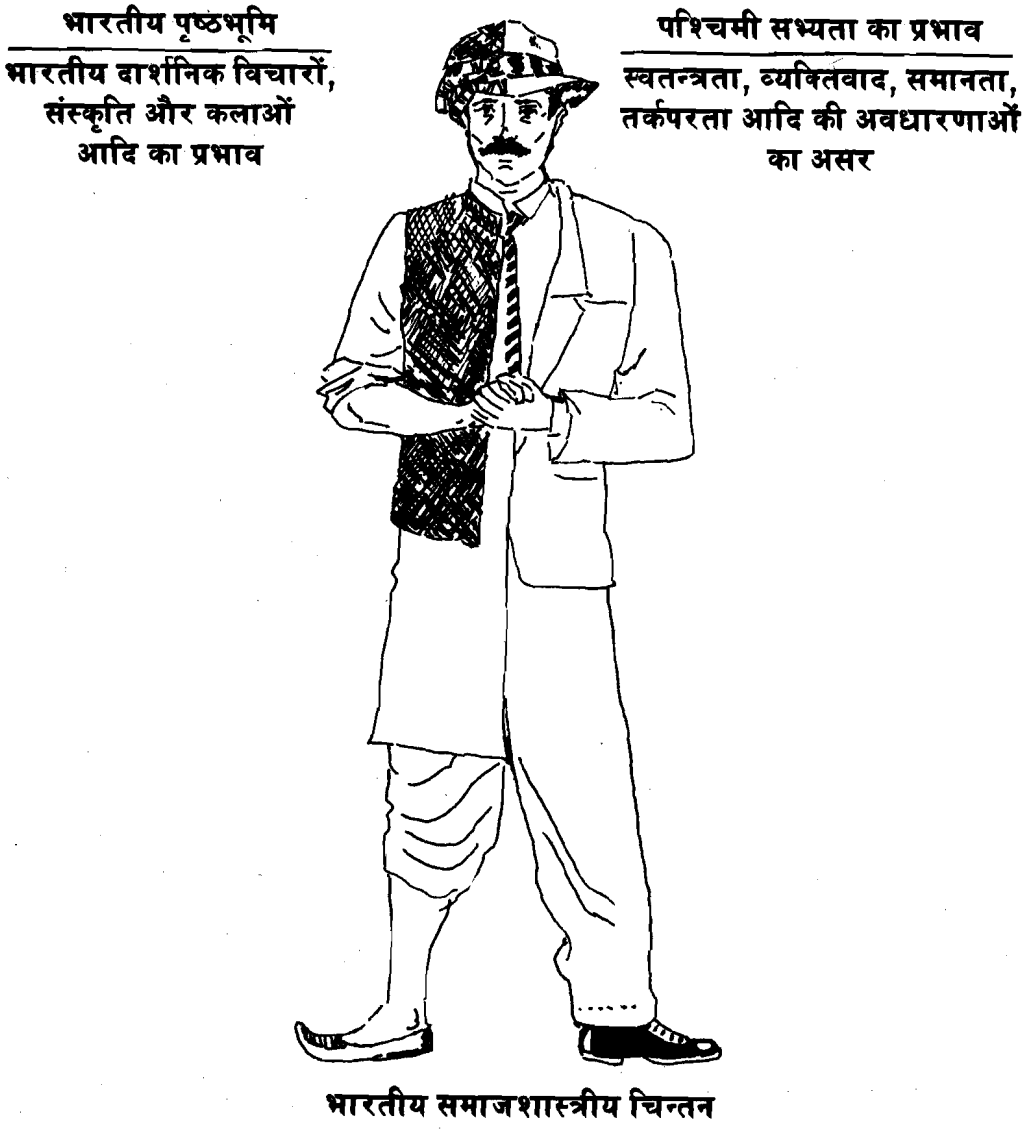


चित्र 4.1: भारतीय बुद्धिजीवी

### 4.5.2 बिनय कुमार सरकार

बिनय कुमार सरकार तर्कवादी (rationalist) थे। वे इस मत से सहमत नहीं थे कि पश्चिमी दुनिया भौतिकवादी है (materialistic) और पूर्व आध्यात्मवादी (spiritualistic) है। सरकार ने

यह तर्क दिया है कि भारतीय समाज में भौतिकवादी और धर्मनिरपेक्षता दोनों तत्व मौजूद थे। भारत के पिछले इतिहास को देखें तो यह पता चलता है कि भारतीय समाज की सकारात्मक भौतिकवादी दृष्टि से व्याख्या की जा सकती है। वे इस मत से सहमत नहीं थे भारत की संस्कृति रहस्यवादी (mystical) या पारलौकिक (otherworldly) है। भारत के सामंतवादी कृषि-प्रधान अतीत से पँजीवादी वर्तमान में परिवर्तन का सरकार ने समर्थन किया है। उपनिवेशिक शासन ने भारत के एकाकीपन को समाप्त कर उसे विश्व की मुख्य धारा से जोड़ा। पँजीवादी या बुर्जुआ संस्कृति इस युग की मुख्य शक्ति थी। भारत के **तर्कसंगत** आधार की खोज में बिनय कुमार सरकार के विचार मैक्स वेबर के विचारों से मेल खाते हैं। वेबर ने पँजीवाद का समाजशास्त्र विकसित किया, परंतु सरकार (1922) ने पँजीवाद के राजनैतिक पक्ष पर ज़ोर दिया जबकि वेबर ने अपना ध्यान नौकरशाही (bureaucracy) पर केंद्रित किया था।

विश्व के विकसित समाजों के समकक्ष आने के लिये भारत को आत्म विश्वास और संतुलन की आवश्यकता थी। सरकार स्वयं तो नास्तिक थे किन्तु उन्होंने भारत की धार्मिक परंपरा को कभी नहीं नकारा। उनके अनुसार भारत के धर्मों का भी एक धर्म निरपेक्ष आधार था। उदाहरण के लिये शिव, पार्वती या गणेश जैसे देवी-देवता, वास्तव में मनुष्य की ही परिकल्पनाएं थीं। त्याग और रहस्यवाद पर बे-हिसाब ज़ोर देने वाली भारतीय परंपरा भारत को बदलते हुए समय के साथ नहीं चलने देगी। अत: भारत के शिक्षित वर्गों के लिए यह आवश्यक था कि वे अपने तर्क संगत और धर्मनिरपेक्ष अतीत को पुनर्जीवित करके स्वयं को एक शहरी औद्योगिक समाज की चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार करें। इसलिये बिनय कुमार सरकार धार्मिक पुनर्जागरण के विरोधी थे।

पश्चिमी देशों का बुर्जुआ वर्ग अपने सामंती अतीत से छुटकारा पाने में सफल हो गया था। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप चर्च व उसके रहस्यवाद और त्याग का आधिपत्य समाज पर से जाता रहा। व्यक्ति अब समूह के दंत चक्र का अंग नहीं रहा। नये युग में उत्पादन की पद्धतियाँ ही नयी नहीं थी, बल्कि नई सामाजिक स्थितियों का भी उदय हुआ। यूरोप के औद्योगिक समाज में व्यक्तिवाद को प्रधानता मिली। व्यक्ति को कर्म और सफलता के लिये उद्यम और प्रेरणा की आवश्यकता थी। इसलिये पुरानी सामूहिक अस्मिताओं को छोड़कर नये व्यक्तिवादी उद्देश्यों और आकांक्षाओं ने फलना-फूलना शुरू किया।

यूरोप के मैकियावेली और हॉब्स जैसे राजनैतिक दार्शनिकों से बिनय कुमार सरकार प्रभावित थे। मैकियावेली (चौदहवीं शताब्दी) ने आधुनिक पँजीवाद के उदय के आरंभिक दिनों में अपना राजनैतिक दर्शन लिखा था। पँजीवादी व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक उद्यमी, आत्म विश्वासी और आर्थिक लाभ के प्रति अधिक आकृष्ट था। राजनैतिक शासकों के लिए उसके ये आदेश थे कि वे अवसर का पूरा लाभ उठाएं और लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये अनवरत काम करें। सत्रहवीं शताब्दी के राजनैतिक दार्शनिक थॉमस हॉब्स ने सामाजिक अनुबंध (social contract) का सिद्धांत दिया। मैकियावेली द्वारा चित्रित आत्मावलंबी व्यक्ति अब अपेक्षाकृत विकसित पँजीवाद के लिए उपयुक्त नहीं था क्योंकि पँजीवाद में अधिक व्यवस्था और संतुलन की आवश्यकता थी। इसलिये मनुष्य को अपने स्वार्थी लक्ष्यों को त्याग कर एक सामाजिक अनुबंध में बंधकर समाज के नियमों के अनुसार रहना आवश्यक था। इस प्रकार वैयक्तिक उत्तेजना को नियंत्रण में रखा जा सकता था। सरकार का कहना था कि भारतीयों को अपनी रहस्यवादी प्रवृत्ति का त्याग करके पँजीवादी व्यवस्था के लिए एक नये सामाजिक परिप्रेक्ष्य का विकास करना चाहिए। बिनय कुमार सरकार की महत्वपूर्ण रचनाएं हैं--*पॉज़िटिव बैकग्राउंड आफ़ हिंदू सोसायटी*, 4 खंड (1914 से 1937 के बीच प्रकाशित) और *पोलिटिकल इंस्टीट्यूशंस एंड थ्योरीज़, ऑफ़ हिंदूज़* (1922)। वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र पढ़ाते थे।

### 4.5.3 आनन्द कुमारस्वामी

आनन्द कुमारस्वामी (जिनका ज़िक्र हमने पहले किया है) भारत के एक आरंभिक सामाजिक विचारक थे जिनका भारतीय समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा। वे एक **आदर्शवादी** विचारक थे अर्थात् एक ऐसा व्यक्ति जिसे ईश्वर, अच्छाई के महत्व आदि जैसे जीवन के भाववाची मूल्यों में विश्वास हो। इस संबंध में वे बिनय कुमार सरकार के बिल्कुल विपरीत थे जो भारतीय समाज के भौतिक आधार को खोजना चाहते थे। इस शताब्दी के आरंभिक दो या तीन दशकों को पुनर्जागरण (renaissance) का काल कहा जा सकता है। विवेकानंद, श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि जैसे गणमान्य व्यक्ति भी भारत की एक आदर्शवादी छवि प्रस्तुत करना चाहते थे। इन लोगों की मान्यता थी कि भारत की महानता उसकी आध्यात्मिकता में है। इस आध्यात्मिक आत्मा को पुनुर्जीवित कर भारत न केवल अपनी दरिद्रता और पिछड़ेपन पर विजय प्राप्त कर सकता है बल्कि, भौतिक लोभ और युद्ध तथा हिंसा से उत्पीड़ित पश्चिमी जगत को राहत पहुंचा सकता है।

आनन्द कुमारस्वामी ने भारत में कला विशेषकर स्थापत्य कला और वास्तुकला के विकास पर व्यापक रूप से शोध किया। उनके लिए भारतीय कला अपने असंख्य रूपों में न केवल सजावट और सौन्दर्य की वस्तु थी बल्कि उस के द्वारा भारत की उस मानसिकता को समझा जा सकता है जिस में सृष्टि की एकात्मकता या विविधता में एकता का संदेश हो। यह महान सभ्यता और संस्कृति के लिए स्थायी प्रमाण-पत्र था।

भारतीय कला ने मानवजाति के आदर्शों और मूल्यों को साकार किया। हमारे देश में जहां पर अधिकांश लोग अशिक्षित हैं, कला ने शिक्षा के दृश्य (visual) माध्यम का काम किया। इसने जनसाधारण के लिए महाकाव्यों, पुराणों और दन्तकथाओं को शिलाओं, मिट्टी, और संगमरमर पर चित्रित किया। इतना ही नहीं कला ने भारत के धार्मिक मूल्यों को संजोए रखा और सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों में भारत की एकरूपता को प्रस्तुत किया। इस तरह देखा जाए तो कठोर तथा कोमल, भयानक तथा मोहक, तर्कसंगत तथा सार्थक आदि विभिन्न पहलू भारतीय कलात्मक अनुभव के अटूट हिस्से रहे हैं।

कुमारस्वामी ने भारतीय कला के दर्शन की व्याख्या करते हुए कई किताबें लिखीं। मुख्य रूप से पश्चिम के देशों में, पुराने समय में, भारत अपनी संस्कृत की रचनाओं द्वारा जाना जाता था। भारत की कला जो कि लगभग चार सहस्राब्दियों में विकसित हुई थी, उसके विषय में पश्चिम में एक बहुत ही धुंधली-सी अस्पष्ट धारणा बनी हुई थी। कुमारस्वामी का मानना था कि भारतीय मूर्तिकला केवल मानवरूपी ही नहीं थी अपितु यह भारतीय आदर्शों का वास्तविक खज़ाना भी थी।

शिवनटराज की मूर्ति मात्र मूर्तिकला की एक चरम उपलब्धि ही नहीं है, बल्कि वह मुक्ति (स्वच्छंदता) का प्रतीक भी है। शिव का नृत्य नश्वरता के बंधनों के साथ ही मनुष्य की आत्मा को सांसारिक बंधनों से भी मुक्त करता है। कुमारस्वामी का यह मानना था कि भारतीय और यूरोपीय गोथिक कला में बहुत साम्य है। यद्यपि डब्ल्यू. बी. हैवल, पर्सी ब्राउन आदि लोगों ने भारतीय कला की तरह-तरह से व्याख्या की थी लेकिन कुमारस्वामी ने पहली बार भारतीय कला का विस्तृत दर्शन प्रस्तुत किया।

कुमारस्वामी ने परंपरा और आधुनिकता के बीच अंतर स्पष्ट किया। परंपरा के युग में सामूहिक जीवन और गुणात्मक उपलब्धियों का महत्व था। यह विशेषता पूर्व, मध्यपूर्व और पश्चिम के सभी देशों में पाई जाती थी। विश्वव्यापी औद्योगिक क्रांति ने परंपरा के इस युग को बदल दिया। इस नए युग में प्रतिस्पर्धा ने मनुष्य को भौतिकवादी और स्वार्थी बना दिया। कुमारस्वामी ने विज्ञान और तकनीकी का विरोध तो नहीं किया लेकिन उन्हें इस बात का दुख था कि आधुनिक

युग में इनका दुरुपयोग हुआ। इस नई स्थिति ने मनुष्य को आक्रामक और स्वार्थी बना दिया और विभिन्न राष्ट्र युद्ध और हिंसा के द्वारा एक दूसरे को दबाने का प्रयास करने लगे।

पूर्व और पश्चिम की तुलना करते हुए उन्होंने भारत के आध्यात्म और मूल्यों को दूसरों से श्रेष्ठ दिखाने की कोशिश नहीं की। उन्होंने योरोपीय, चीनी और अरबी ग्रंथों में पाए जाने वाले रहस्यवाद की साम्यता पर विस्तार से लिखा। उनकी यह मान्यता थी कि पश्चिमी देशों की भौतिक उपलब्धियों ने पारंपरिक आध्यात्मिकता और रहस्यवाद को दबा दिया था। इसलिए पश्चिम में पुन: आध्यात्मिकता को नवजीवन प्रदान करने में भारत प्रेरक साबित हो सकता था। विशिष्ट रूप से भारत पूरे एशिया का प्रतिनिधित्व करता था। हालांकि चीनी सभ्यता भी महान थी। उसे बौद्ध धर्म ने महान स्वरूप प्रदान किया था। जापान, थाइलैंड, श्रीलंका, और कंबोदिया जैसे एशियाई देशों का मार्गदर्शन भारतीय संस्कृति ने ही किया था। अंतत: महत्वपूर्ण मुद्दा उन मूल्यों को प्रोत्साहित करना था जो मानवजाति की विरासत थीं।

उन्होंने लिखा कि भविष्य के चुने हुए लोग किसी एक राष्ट्र या जाति के नहीं होंगे बल्कि वे पूरे विश्व के अभिजात वर्ग के होंगे। उनमें यूरोपीय क्रियात्मक ताकत और एशिया की वैचारिक स्वच्छता का मेल होगा। इसी संदर्भ में वे यह चाहते थे कि स्वाधीनता के लिये संघर्षरत भारतीय राष्ट्रवादी एक व्यापक दृष्टि अपनाएं। वे यह भी चाहते थे कि भारत के नवयुवक न केवल स्वतंत्र भारत की बल्कि एक बेहतर विश्व की भी कामना करें, जो तनाव और संघर्ष से मुक्त हो। विकास के नाम पर पश्चिमी देशों की नक़ल करने वाले इन उभरते हुए नये राष्ट्रों को कोई विशेष लाभ नहीं होगा। भारतीय महिला को भारतीय संस्कृति के आधार पर ही अपना स्थान फिर से परिभाषित करना चाहिए। यदि वे पुरुषों के साथ प्रतिस्पर्धा करती हुई आधारभूत मूल्यों को त्याग दें तो वे अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकेंगी।

कुल मिलाकर उन्होंने पश्चिम को पूर्व या प्राच्च (oriental) बना लेने की सलाह नहीं दी। वे दोनों का एकीकरण भी नहीं करना चाहते थे। वे यह चाहते थे कि उन प्राथमिक सिद्धांतों (first principles) या नैतिक मूल्यों को वे फिर से स्थापित करें जो मानवजीवन के आधार हैं। कुमारस्वामी की महत्वपूर्ण कृतियां हैं, *द डांस ऑफ़ शिव और क्रिस्चियन एण्ड ओरियंटल फिलॉसॉफ़ी ऑफ़ आर्ट*, (1974)।

### 4.5.4 कुछ अन्य बुद्धिवादी

जाने-माने समाजशास्त्री, जैसे लखनऊ विश्वविद्यालय के राधाकमल मुकर्जी और मुबंई विश्वविद्यालय के जी.एस. घुर्ये, स्पष्ट रूप से संस्कृत परंपरा से प्रभावित थे। उनकी दृष्टि में आधुनिकता वह साधन थी जो परंपरा को वर्तमान की ज़रूरतों के अनुरूप बदल सकती है। इनके विपरीत लखनऊ विश्वविद्यालय के ही जाने-माने समाजशास्त्री, डी.पी.मुकर्जी, आरंभ में मार्क्सवादी थे और कालांतर में उनके विचारों में अंतर आया। उनकी दृष्टि में परंपरा और आधुनिकता के बीच संघर्ष भी था और वे एक दूसरे के पूरक भी थे लेकिन वे मार्क्सवादी आदर्श-समाज (utopian state) की कल्पना से सहमत नहीं थे। कहने का तात्पर्य यह है कि वे आधुनिक भारत के निर्माण में परंपरा के महत्व को भी मानते थे। इन तीनों आरंभिक भारतीय समाजशास्त्रियों के योगदान के बारे में आपको आगे विस्तृत जानकारी दी जाएगी। लेकिन उससे पहले हमें अंग्रेज़ी राज में भारतीय शिक्षा प्रणाली के बारे में जानना होगा। इसका भारतीय समाजशास्त्र के स्वरूप और विकास पर गहरा असर पड़ा। यह प्रभाव मुख्य रूप से ब्रिटेन में विकसित हुए समाजशास्त्र का था। इसके अतिरिक्त भारत के समाजशास्त्र पर अमेरिका तथा यूरोप के समाजशास्त्र का भी प्रभाव पड़ा इसलिए उस समय में भारत की शिक्षा प्रणाली की रूपरेखा के बारे में जानना भी श्रेयस्कर है।

## 4.5.5 भारत में आधुनिक शिक्षा की रूपरेखा

भारत में समाजशास्त्र की शिक्षा की रूपरेखा के बारे में संक्षेप में विवेचना करना उचित होगा। उन्नीसवीं शताब्दी में कलकत्ता, मुम्बई, और मद्रास की प्रेसिडेंसियों में विश्वविद्यालय स्थापित किए गए। बड़ौदा, मैसूर, हैदराबाद आदि रियासतों (princely states) में आधुनिक शिक्षा संस्थाएं स्थापित की गई। उच्च शिक्षा में अंग्रेज़ी और प्राथमिक शिक्षा में क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया गया। इस शिक्षा का उद्देश्य एक ऐसा शिक्षित वर्ग बनाना था जो अंग्रेज़ी हुकूमत को चलाने में सहायक सिद्ध हो। प्रशासन और न्यायतंत्र में केवल निम्न पदों पर ही सुशिक्षित भारतीयों की भर्ती होती थी।

कला और विज्ञान के क्षेत्रों में गिने-चुने विषय पढ़ाये जाते थे, जैसे अंग्रेज़ी, इतिहास, दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, भौतिक-विज्ञान, रसायन-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान और प्राणि-विज्ञान। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के बाद ही एक मुख्य विषय के रूप में समाजशास्त्र पढ़ाया जाने लगा।

समाजशास्त्र का विकास इस कारण हुआ कि अंग्रेज़ी प्रशासकों को भारत के रीति-रिवाज, बोल-चाल के तरीक़े और सामाजिक संस्थाओं को समझना ज़रूरी था क्योंकि इससे प्रशासन चलाने में सुविधा होती। इसी कारण अंग्रेज़ी प्रशासकों ने आरंभ में ही भारतीय जनसमुदाय, प्रजातियों और विभिन्न संस्कृतियों के विषय में व्यापक अध्ययन किये। इसमें से हर्बर्ट रिज़ले, हटन, विल्सन, लायल, बेंस इत्यादि के नाम लिये जा सकते हैं।

समाजशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन 1914 में मुंबई विश्वविद्यालय में आरंभ हुआ। उस समय के भारतीय शासन ने समाजशास्त्र पढ़ाने के के लिये अनुदान दिया। उसी वर्ष स्नातकोत्तर स्तर पर समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम पढ़ाए जाने लगे। 1919 में प्रतिष्ठित जीवविज्ञानी और नगर-नियोजन विशेषज्ञ पैट्रिक गेडिस के नेतृत्व में समाजशास्त्र और नागरिक शास्त्र का विभाग स्थापित किया गया।

1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के पोस्ट-ग्रेजुएट कॉउसिल ऑफ़ आर्टस एण्ड साइंसिज़ (Post-Graduate Council of Arts and Sciences) में सर ब्रजेन्द्रनाथ सील ने समाजशास्त्र का विभाग स्थापित किया। उस समय सील मैसूर विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त किए गए थे। इससे पहले वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक थे। भारत के विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र विषय को स्थापित करने में बी.एन. सील और मैसूर विश्वविद्यालय के ए.आर. वाडिया दोनों की सक्रिय भूमिका थी। कलकत्ता में राधाकमल मुकर्जी और बिनय कुमार सरकार समाजशास्त्र पढ़ाते थे। 1921 में राधाकमल मुकर्जी लखनऊ चले गए। लखनऊ भी कलकत्ता और मुबंई के बाद समाजशास्त्र के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण केंद्र बना। डी. पी. मुकर्जी (मार्क्सवादी समाजशास्त्री) और डी.एन. मजुमदार (नृशास्त्री) की सहायता से उन्होंने लखनऊ को समाजशास्त्र और नृशास्त्र के क्षेत्र में शोध और अध्ययन का प्रभावशाली केंद्र बनाया।

आइए अब पहले बोध प्रश्न 2 के उत्तर लिखें और फिर भाग 4.6 पढ़ें, जिसमें हमने भारत में समाजशास्त्र और नृशास्त्र के उदय के बारे में चर्चा की है।

**बोध प्रश्न 2**

i) निम्नलिखित वाक्यों में खाली स्थान भरिए।

अ) 1885 में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ..... ने की थी।

ब) राष्ट्रीय कांग्रेस विचार-विमर्श करने का ..... मंच माना जाता था।

स) महात्मा गांधी के आगमन से कांग्रेस ..... की राजनैतिक पार्टी बन गई।

द) धार्मिक-सामाजिक आंदोलनों ने भारतीय जनसमूह में ..... जगाया जबकि राजनैतिक आंदोलनों ने लोगों में ..... जागरूकता पैदा की।

ii) बिनय कुमार सरकार के कुछ मुख्य विचारों की पाँच पंक्तियों में व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 4.6 भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक नृशास्त्र का उदय

समाजशास्त्र के उदय से पहले सामाजिक विचारकों, दार्शनिकों और प्रशासकों ने भारतीय समाज और उसके विभिन्न पहलुओं (जैसे न्याय, परिवार धर्म, जाति इत्यादि) को समझने का प्रयास किया।

भारत में समाजशास्त्र का विकास भारतशास्त्र (Indology) के विद्वानों के योगदान से जुड़ा हुआ है। इनमें से हेनरी मेन, एल्फ्रेड लायल इत्यादि के नाम लिए जा सकते हैं। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि भारत को अपनी सामाजिक संस्थाओं की रक्षा करनी चाहिए। भारत के लोगों पर इन संस्थाओं को नष्ट करके परकीय (alien) जीवन पद्धति नहीं लादी जानी चाहिए। वे भारत की सांस्कृतिक और साहित्यिक परंपराओं की महानता का आदर करते थे।

भारतविदों के अलावा अंग्रेजी प्रशासकों ने भी भारतीय जनसमुदायों, प्रजापतियों और संस्कृति का विस्तृत अध्ययन किया। इस जानकारी का उपयोग जनगणना रिपोर्ट, इम्पीरियल गेज़ेटियर, डिस्ट्रिक्ट गेज़ेटियर इत्यादि के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों और प्रबंधों में हुआ जो आज भी समाजशास्त्रियों और नृशास्त्रियों के लिए उपयोगी हैं।

समाजशास्त्र इंग्लैंड की तुलना में फ्रांस और जर्मनी में अधिक विकसित था। अमेरीकी विश्वविद्यालयों में इसका महत्व और अधिक था। भारतीय विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र के साथ-साथ नृशास्त्र का विकास होता रहा। भारत के संदर्भ में समाजशास्त्र और नृशास्त्र को अलग करना संभव नहीं है, हांलाकि उनकी पद्धतियां (methods) भिन्न हैं। सामान्यतया, समाजशास्त्र में शहरी औद्योगिक वर्गों पर और नृशास्त्र में जातियों, जनजातियों और समुदायों पर काम हुआ है। समाजशास्त्री नृशास्त्री भी हो सकते हैं और नृशास्त्री समाजशास्त्री हो सकते हैं। इन दोनों क्षेत्रों में काम करने वालों को नृजातीय समाजशास्त्री कहा जा सकता है। ये लिखित और साहित्यिक जानकारी के साथ-साथ मौखिक परंपराओं और अपने अनुसंधान या खोज द्वारा प्राप्त जानकारी का भी प्रयोग करते हैं। इसके कारण, जातियों, जनजातियों और क्षेत्रों के विषय में खोज आपस में संबद्ध है। समाजशास्त्र और नृशास्त्र एक दृष्टि से समान हैं, दोनों आनुभाविक आँकड़ों पर आधारित हैं। दोनों उन मानव समूहों से संबंधित हैं जो ग्रामीण या शहरी दोनों हो सकते हैं। अंग्रेज़ी राज में नृशास्त्र विज्ञान के क्षेत्र में जे. एच. हटन, एडवर्ड थर्स्टन, एच. रिज़ले, एल. एस. एस ओ' माली इत्यादि ने इस संबंध में कई पुस्तकें लिखी। सर हेनरी मेन और डब्ल्यू. एच. बेडन पावेल ने भारतीय ग्रामीण समाज पर कई लेख लिखे। "डिस्ट्रिक्ट गेज़ेटियरों" में भारतीय समाज के आर्थिक और नृजातीय पहलू प्रस्तुत किए गए थे। भारतीय समाजशास्त्रियों के प्रबंध ग्रंथों (उदाहरण के रूप में घुर्ये के लेखों) में ऐसी जानकारी का काफ़ी उपयोग हुआ है।

इन दो इकाइयों में (भारत में समाजशास्त्र का इतिहास और विकास I और II में) उन भारतीय लेखकों का उल्लेख किया जाएगा जो भारतीय समाजशास्त्र में अग्रणी थे। इस इकाई में यह देखा जा सकता है कि पाश्चात्य और भारतीय बौद्धिक विकास में काफ़ी अंतर था। पाश्चात्य बुद्धिजीवियों का प्रयास यह था कि विचार को धर्मनिरपेक्ष बनाया जाए तथा ईसाई चर्च की निरंकुशता के विरुद्ध आवाज़ उठाई जाए। इसके विपरीत भारत में वैचारिक स्वतंत्रता पर धर्म की कोई रोक-टोक नहीं थी।

पाश्चात्य देशों से अंत:संबंधों ने भारतीय समाज विज्ञान में रचनात्मक काम करने की प्रेरणा दी। आइए, अब हम संक्षेप में उपभाग 4.6.1 में समाजशास्त्र और सामाजिक नृशास्त्र के बीच तथा उपभाग 4.6.2 में समाजशास्त्र तथा भारतशास्त्र (Indology) के बीच संबंध क्रमश: देखें।

### 4.6.1 समाजशास्त्र और सामाजिक नृशास्त्र के बीच संबंध

जैसा कि पिछली इकाई में बताया गया है कि भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक नृशास्त्र के बीच गहरा संबंध है। इन दोनों विषयों के उदय और विकास में राष्ट्रीय आंदोलन का प्रमुख योगदान था। राष्ट्रीय आंदोलन अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का परिणाम था। व्यवस्थित संचार व्यवस्था, यातायात और मुद्रण के कारण पश्चिमी देशों का असर और भी अधिक हुआ।

आधुनिक क़ानून व्यवस्था और पाश्चात्य शिक्षा के कारण भारतीयों में आत्म बोध की भावना पैदा हुई। एक तरफ़ लोग धर्म, जाति, जनजाति, क्षेत्र जैसे पहलुओं को महत्व देने लगे और दूसरी तरफ़ एकता की नयी भावना भी जागृत हुई। इन सामाजिक परिवर्तनों से नई समस्याएं सामने आईं (श्रीनिवास एवं पाणिनी 1986: 18)।

समाजशास्त्र और सामाजिक नृशास्त्र की जड़ें उस काल तक जाती हैं जब अंग्रेज़ी अधिकारियों ने यह अनुभव किया था कि शासन चलाने के लिये भारत की संस्कृति और सामाजिक जीवन की जानकारी पाना आवश्यक है। 1769 में हेनरी वेरेल्स्ट (बिहार और बंगाल के गवर्नर) ने अपने भूराजस्व अधिकारियों को निर्देश दिया कि वे जाने-माने परिवारों से उनके रीति-रिवाजों की जानकारी प्राप्त करें। सरकारी अधिकारियों के अलावा मिशनरियों ने भी उस समय के समाज के बारे में बहुमूल्य जानकारियां प्राप्त की। मैसूर में एक फ्रेंच मिशनरी एब्ब दुबो ने "*हिन्दू मैनर्स, कस्टमस एण्ड सेरेमनीज़* (*Hindu Manners, Customs and Ceremonies*) 1816 नामक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उन्होंने उन लोगों के जीवन, रीति-रिवाजों और धार्मिक अनुष्ठानों के बारे में लिखा है जिनके साथ वे रहते थे। उन्होंने जातियों का और जातियों से आपसी संबंधों का भी अध्ययन किया।

1871 में पहली बार राष्ट्रीय स्तर पर जनगणना की गई। 1901 में सर हर्बर्ट रिज़ले ने भारत का नृजातीय सर्वेक्षण किया जो जनगणना का एक हिस्सा था। जनगणना के आँकड़े शासकीय नीति के साधन बने। इनका उपयोग करके विभिन्न समूहों के बीच दीवारें खड़ी की गई। उदाहरण के लिए शासकीय नीति के अनुसार अनुसूचित जातियों को अन्य हिंदू जातियों में नहीं गिना गया (श्रीनिवास एवं पाणिनी 1986: 20)।

आपने पहले ही पढ़ा है कि किस तरह समाजशास्त्र और सामाजिक नृशास्त्र के विषय भारतीय विश्वविद्यालयों में स्थापित हुए। यद्यपि इससे पहले भी अनेक भारतीय और विदेशी विद्वानों ने इस क्षेत्र में योगदान दिया। इनमें ब्रजेन्द्रनाथ सील, पैट्रिक गेडिस, डब्ल्यू.एच.आर. रिवर्स, एल. के. अनंतकृष्ण ऐय्यर और एस.सी. रॉय के नाम लिए जा सकते हैं। बी. एन. सील कलकत्ता में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक थे। वे उन प्रारम्भिक विद्वानों में से एक थे जिन्होंने विश्वविद्यालयों का ध्यान समाजशास्त्र की तरफ़ आकर्षित किया। वे उन एकतरफ़ी विकासवादी सिद्धांतों का खंडन करते थे जिनके अनुसार समाज भी जीव विकास की तरह ही सहज आदिम अवस्था से

जटिल औद्योगिक अवस्था तक विकसित हुआ है (इस सिद्धांत का अच्छा उदाहरण हर्बर्ट स्पेंसर के विचारों में पाया जाता है। अधिक जानकारी के लिये इस खंड की इकाई 2 पढ़िए)।

विकासवादी सिद्धांत को मानने वालों का यह मत था कि अन्य समाजों की तरह भारतीय समाज भी विकास की निचली सीढ़ी में था। बीसवीं शताब्दी का यूरोपीय समाज इस सीढ़ी में सबसे ऊंचा था। यूरोपीय विद्वानों का यह मत उनके पक्षपात को साफ़ दिखलाता था कि उनका समाज सबसे श्रेष्ठ और विकसित है जबकि विश्व के अन्य समाज के लोग विकास की विभिन्न अवस्थाओं में ही हैं।

सर बी. एन. सील ने अपनी पुस्तक, *कम्पैरेटिव सोशियोलॉजी* (*Comparative Sociology)* में इस मत को अस्वीकार करते हुए भारतीय संस्कृति के पक्ष में बहुत कुछ लिखा और व्याख्यान भी दिये (देखें बैकर एण्ड बार्न्स 1961: 1142) । उन्होंने पहले कलकत्ता विश्वविद्यालय तथा उसके बाद मैसूर विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र को एक विषय के रूप में प्रारंभ किया।

मुबंई में समाजशास्त्र आरंभ करने का उत्तरदायित्व पैट्रिक गेडिस का था। 1919 में उनके नेतृत्व में समाजशास्त्र और नागरिकशास्त्र विभाग खोला गया। यह भारतीय समाजशास्त्र के विकास में एक महत्वपूर्ण घटना थी। गेडिस जाने माने समाजशास्त्री, ल प्लाय से प्रभावित थे। वे संस्कृति और वातावरण संबंधी मानवीय भूगोल और नगर योजना, विशेषकर शहरी ह्रास जैसी समस्याओं से जुड़े थे। उन्होंने कलकत्ता, इंदौर और दक्षिण के मंदिरों वाले शहरों (temple cities) की नगर योजना का अध्ययन किया था जो बहुमूल्य माना जाता है। अनेक भारतीय विद्वानों पर उनका प्रभाव था। जी. एस. घुर्ये एवं राधाकमल मुकर्जी के समाजशास्त्रीय लेखन में गेडिस का प्रभाव नज़र आता है (श्रीनिवास एवं पाणिनी 1986: 25)।

यद्यपि इन विद्वानों ने समाजशास्त्र को स्थापित किया लेकिन समाजशास्त्र की नींव को मजबूत बनाने में डी.एन. मजुमदार और एन.के. बोस का महत्वपूर्ण योगदान है। लखनऊ विश्वविद्यालय के डी.एन मजुमदार ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में नृशास्त्र का अध्ययन किया था। उन्होंने नृशास्त्र (anthropology) और सामाजिक नृशास्त्र (social anthropology) में विस्तृत कार्य किया। उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों की प्रजातियों, जनजातियों और संस्कृतियों का अध्ययन किया। उनकी विशेष अभिरुचि सांस्कृतिक परिवर्तन की समस्याओं और जनजातियों की समस्याओं तथा उनके रूपांतरण में थी। ग्रामीण सर्वेक्षणों के लिए उन्होंने लखनऊ के पास एक गांव का सर्वेक्षण किया जो भारत के आरंभिक ग्रामीण सर्वेक्षणों में से एक है। उन्होंने कानपुर शहर का भी सर्वेक्षण किया।

एन. के. बोस भी कलकत्ता विश्वविद्यालय के छात्र थे, जिनका समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वे राजनैतिक और सामाजिक कार्यकर्ता तो थे ही, साथ ही 1947 में महात्मा गांधी की नोआखली (अब बांग्लादेश में) यात्रा के दौरान उनके व्यक्तिगत सहायक भी थे। 1959 से 1964 तक भारत के नृशास्त्र सर्वेक्षण (Anthropological Survey of India) के निदेशक रहे और 1967 से 1970 तक भारत सरकार के अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के कार्यालय के आयुक्त (Commissioner) भी रहे। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के अध्ययन में इनका विशेष योगदान रहा जिसमें उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाया। वे गाँधी के सिद्धांतों से प्रभावित थे और बाद में उन्होंने गाँधीवादी का आलोचनात्मक विश्लेषण भी किया। *हिंदू शोमाजेर गोढ़न,* जो बांग्ला भाषा में है, उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है (श्रीनिवास एवं पाणिनी 1986: 31)।

इस खंड में हमने भारत में समाजशास्त्र और नृशास्त्र के बीच संबंधों के उदय और विकास के विषय में बताया है। आइए, इसी संदर्भ में समाजशास्त्र और भारतशास्त्र (Indolgy) के बीच के संबंधों को देखें। वस्तुत: देखा जाए तो ये दोनों विषय एक दूसरे से अलग नहीं हैं, कई भारतशास्त्र

की कृतियां समाजशास्त्रीय या सामाजिक नृशास्त्रीय कृतियां जैसी ही हैं। पूर्ण रूप से स्पष्ट करने के लिए ही हमने इनका अलग-अलग उपभागों में विवेचन किया है।

**सोचिए और करिए 2**

आप अपने पड़ोस के किन्हीं ऐसे दो व्यक्तियों को चुनिए जिन में से एक पंडित या मौलवी हो अर्थात् उसे अपने धर्म और धर्मग्रंथों का ज्ञान हो और दूसरा वह जिसने समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र या अर्थशास्त्र आदि जैसे विषयों में कम से कम स्नातक स्तर तक औपचारिक शिक्षा पाई हो।

इन दोनों व्यक्तियों से निम्नलिखित प्रश्न पूछिए।

1 भारतीय समाज भौतिकवादी है अथवा आध्यात्मवादी?

2 हमारे समाज के मार्गदर्शक नियम और मूल्य क्या हैं?

इन दोनों व्यक्तियों के विचारों पर एक पृष्ठ का एक नोट लिखिए जिसमें (i) इनके विचारों की समानता, (ii) असमानता का विवरण हो। यदि संभव हो तो अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों के नोट से इसकी तुलना कीजिए।

### 4.6.2 समाजशास्त्र और भारतशास्त्र के बीच संबंध

भारत में समाजशास्त्र के विकास का श्रेय सर विलियम जोन्स, हेनरी मेन, एल्फ्रेड लायल, मैक्स मूलर और अन्य कई **प्राच्यविदों** (Orientalists) को है। इन लोगों ने भारत की समृद्ध प्राचीन संस्कृति और दार्शनिक परंपरा का अध्ययन किया। इन्हीं कारणों से ये लोग भारतविद (Indologists) माने जाते हैं। भारतशास्त्र (जैसा कि नाम से स्पष्ट है) भारत और उसकी संस्कृति के अध्ययन को कहते हैं।

सर विलियम जोन्स ने 1787 में "एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल" की स्थापना की। यहां पर उन्होंने संस्कृत और भारतशास्त्र का अध्ययन आरंभ किया। इनकी इस सोसायटी का कार्य एक ऐसी पत्रिका का प्रकाशन करना था जो संस्कृत, तुलनात्मक विधिशास्त्र (न्याय शास्त्र), तुलनात्मक मिथकों आदि जैसी नृशास्त्र और भारतशास्त्र संबंधी विषयों में पाठको की रुचि पैदा कर सके। मैक्समुलर जैसे विद्वानों ने संस्कृत सीख कर पुराने महाकाव्यों और साहित्यिक कृतियों के अनुवाद में सहायता की जिसे भारतवासी क़रीब-क़रीब भूल चुके थे।

संस्कृत के ज्ञान ने भारत की महान सांस्कृतिक और दार्शनिक परंपरा को समझने में सहायता दी। जब अंग्रेज़ी शासक अधिकांश शिक्षित भारतीयों का उपहास कर रहे थे उस समय संस्कृत के इस ज्ञान ने भारतीयों के स्वाभिमान को फिर से जगाया।

भारतविदों ने प्राचीन क़ानून और समाज का सावधानी से अध्ययन किया। हेनरी मेन भारत आए और उन्होंने 1871 में *विलेज कम्यूनिटीज़ इन द ईस्ट एंड द वेस्ट* नाम की एक पुस्तक लिखी। इनके अलावा कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर आदि ने भी भारतीय सामग्री का उपयोग किया। वेबर ने धर्म के अध्ययन के लिए जनगणना रिपोर्टों में उपलब्ध नृजातीय सामग्री का उपयोग भी किया (श्रीनिवास एवं पाणिनी 1988: 22)।

हम पहले ही भारतीय दर्शन-कला और संस्कृति के विवरण को प्रस्तुत करने वाली भारतविदों की कृतियों के विषय में बता चुके हैं। कुमारस्वामी, बी. के. सरकार, राधाकमल मुकर्जी, जी. एस. घुर्ये, डी. पी. मुकर्जी आदि कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिन्होंने अपनी कृतियों में इसे अभिव्यक्त किया है। पहले दो चिंतकों के विषय में हमने आपको इस इकाई में जानकारी दी है। राधाकमल मुकर्जी, डी. पी. मुकर्जी और जी. एस. घुर्ये के विषय में और उनके योगदान के विषय में जानकारी आपको अगली इकाई में दी जाएगी।

### 4.6.3 इड़ावती कर्वे

इड़ावती कर्वे एक प्रबुद्ध परिवार की बेटी थीं तथा वे महर्षि कड़वे के परिवार की वधू बनीं। उनके परिवार ने ब्राह्मण समाज में सुधार लाने के लिये विधवा विवाह का समर्थन किया।

इड़ावर्ती कर्वे की प्रारंभिक रचना महाराष्ट्र के विभिन्न समूहों में मानवमितीय मापों (anthropometric measurements ) पर थी। इस रचना में उन्होंने सामाजिक समूहों को भाषा के आधार पर विभाजित किया तथा इन सामाजिक समूहों के समान व्यवसाय (कुम्हार आदि) के आधार पर उनके उद्गम का पता लगाया। कर्वे ने पाया कि कुछ समूह बहिर्विवाही थे तथा इन्होंने "जाति" का रूप ले लिया था, दूसरी तरफ़ व्यवसाय के आधार पर बसी जातियां इकट्ठी होकर एक ग्रामीण समुदाय बन गई थीं।

अपनी मुख्य कृति, *किनशिप आर्गनाईज़ेशन इन इंडिया* (1953), में उन्होंने भारत को चार मुख्य क्षेत्रों में बांटा और उनका तुलनात्मक अध्ययन किया। इस कृति की शुरुआत महाभारत के विभिन्न पात्रों की वंशावली से होती है साथ ही उन्होंने भारत के विभिन्न भागों से एकत्रित की गई जानकारियों का भी उपयोग किया। उन्होंने हिन्दू धर्म की नए प्रकार से व्याख्या की। उनके लेखन में भारतशास्त्र और सामाजिक सर्वेक्षण का समन्वय है।

महाभारत पर मराठी में लिखी गई रचना, *युगांतर,* के लिए उन्हें विशिष्ट रूप से पुरस्कृत किया गया। उनकी कुछ साहित्यिक कृतियों को मराठी स्कूलों की पुस्तकों में समाविष्ट किया गया। वैसे तो महाराष्ट्र के स्कूलों में उन्हें साहित्यकार के रूप में ही जाना जाता था, किन्तु बाद में समाजशास्त्रियों द्वारा उन्हें एक समाजशास्त्री के रूप में भी मान्यता मिली।

उन्होंने पुणे के दक्कन कालेज में समाजशास्त्र और नृशास्त्र की नींव डाली। वहां प्राक्-इतिहास (prehistory) के एच. डी. संकालिया, अर्थशास्त्र के डी. आर. गाडगिल आदि महान बुद्धिजीवी उनके समकालीन थे। इस विद्वतापूर्ण वातावरण में ही पुणे विश्वविद्यालय का विकास हुआ।

इड़ावती कर्वे एक आकर्षक वक्ता थीं। वे अपने विषय की उत्तम शिक्षिका थीं और साथ ही वे भारतीय समाजशास्त्र के क्षेत्र में पहली महत्वपूर्ण महिलाओं में से एक थीं। भारत में महिलावाद का अध्ययन करने वालों में उनका नाम सबसे पहले लिया जाता है (देखें उबेरॉय 1993: 46 और जैन 1994)।

इड़ावती कर्वे ने अपनी समाजशास्त्रीय कृतियों में भारतशास्त्र के साहित्य का उपयोग किया है। इड़ावती कर्वे मुंबई में जी.एस. घुर्ये की शिष्या थीं।

1930 के दशक में अंतिम वर्षों में पुणे में समाजशास्त्र एवं नृशास्त्र दोनों को मिलाकर संयुक्त विभाग का आरम्भ हुंआ। इड़ावती कर्वे इस विभाग की अध्यक्ष बनीं। उन्होंने भारत के विभिन्न भागों में विस्तार से क्षेत्रीय कार्य (fieldwork) किया। संस्कृत के ज्ञान ने उन्हें प्राचीन शास्त्रों जैसे धर्मग्रंथ, न्याय पुस्तकें और महाकाव्यों के अध्ययन में काफ़ी मदद की। उन्होंने इस जानकारी का उपयोग भारत में नातेदारी व्यवस्था को समझने के लिये किया। उनकी पुस्तक, *किनशिप आर्गनाइज़ेशन इन इंडिया* (1952), भारत की नातेदारी व्यवस्था पर श्रेष्ठतम पुस्तकों में से एक है (श्रीनिवास एवं पाणिनी 1986: 30)।

आज भी प्राचीन भारतीय ग्रंथ भारत के धर्म और समाज के विभिन्न पहलुओं को व्यक्त करते हैं। वर्तमान समय में भी बहुत से समाजशास्त्री साहित्य और कला के द्वारा भारतीय समाज को समझने का प्रयास कर रहे हैं।

**बोध प्रश्न 3**

i) उन तीन ब्रिटिश प्रेसिडेंसियों के नाम बताइए जहां उन्नीसवीं शताब्दी में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई थी। दो पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

ii) कलकत्ता विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का आरंभ किसने किया? समाजशास्त्र में उनके योगदान को दस पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) भारतशास्त्र (Indology) क्या है? कुछ भारतविदों के नाम बताइए। पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 4.7 सारांश

इस इकाई में आपने भारत की समाजशास्त्रीय विचारधारा की पृष्ठभूमि के विषय में पढ़ा। इस इकाई में सुधार के लिए सामाजिक धार्मिक आंदोलन तथा स्वाधीनता के लिए राजनैतिक आंदोलन की विवेचना की गई है। धार्मिक और राजनैतिक आंदोलन एक दूसरे के संपूरक थे। स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्व मुख्य रूप से मध्यमवर्ग ने किया। ये मध्यम वर्ग भारत में अंग्रेजी राज के प्रभाव के कारण उभरे।

हमने भारत की समाजशास्त्रीय विचारधारा की बौद्धिक पृष्ठभूमि का विवेचन किया है। और अंततः हमने भारत में समाजशास्त्र और नृशास्त्र के उदय और विकास की रूपरेखा दी है।

## 4.8 शब्दावली

**अद्वैत** शंकराचार्य का वह वेदांतिक दर्शन जो एक ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास करता है।

| | |
|---|---|
| **मंच (forum)** | एक ऐसी सभा या कार्यक्रम जो कि सामाजिक-राजनैतिक या आर्थिक जैसे सार्वजनिक विषयों पर विचार-विमर्श करे। |
| **मानववादी (humanistic)** | वह विचारधारा या कार्यप्रणाली जो मनुष्य की प्रकृति, गरिमा और उसके आदर्शों पर आधारित हो |
| **आदर्शवादी (idealist)** | वह व्यक्ति जिसकी विचारधारा या व्यवहार, दृष्टा या अव्यवहारिक लक्ष्यों के आदर्शों पर आधारित हो अथवा कला, दर्शन या साहित्य में आदर्शवाद पर आधारित हो। |
| **मूर्तिपूजा** | मूर्ति अथवा ईश्वर की प्रतिमा की पूजा |
| **मध्यम वर्ग** | इस इकाई में इसका अर्थ आर्थिक रूप से मध्यम वर्ग लोगों से नहीं है बल्कि उस वर्ग से है जो (अंग्रेज़ी राज में) पढ़े-लिखे सुशिक्षित वर्ग के थे। |
| **मिशनरी** | वे ईसाई धर्म प्रचारक जो भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने, उसकी शिक्षा देने और भारतवासियों को उसमें दीक्षित करने के उद्देश्य से आए थे। |
| **बहुविध नृजातीय (multi-ethnic)** | एक ऐसा समाज जिसमें संस्कृतियों, धर्मों, भाषाओं की विविधता हो, जैसे भारत |
| **प्राच्यविद (orientalist)** | वे विद्वान जो पूर्वी (प्राच्य) संस्कृतियों जैसे चीन, भारत, पाकिस्तान आदि का अध्ययन करते हैं |
| **अत्याचार (persecution)** | धर्म, जाति, वर्ग के आधार पर भेदभाव रखना या अत्याचार करना |
| **तर्कसंगत (rationality)** | यह एक ऐसी वैचारिक व्यवस्था है जो तर्क को ज्ञान का एकमात्र आधार मानती है। |
| **वेदांत** | यह हिन्दू धर्म की वेदों पर आधारित अद्वैतवादी (एक ईश्वर में विश्वास) प्रणाली है जिसके अनुसार आत्मा व परमात्मा एक ही है। |

## 4.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ऊमन टी.के. एंड मुखर्जी, पी.एन. (संपादित) 1986. इंडियन सोशियोलॉजी पापुलर प्रकाशन: मुंबई

बेकर, हावर्ड, एंड बार्न्स, एच.ई. 1961. सोशल थॉट्स फ्राम लोर टू सांइस. तीसरा संस्करण: वाल्यूम 3. डोवर पब्लिकेशन: न्यूयार्क (पृष्ठ 1135–1148)

## 4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) भारतीय दर्शन की छः मुख्य धाराएं हैं
योग, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, वेदांत और मीमांसा।

# इकाई 5 भारत में समाजशास्त्र का इतिहास और विकास - II

## इकाई की रूपरेखा


5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 भारत में समाजशास्त्र के अग्रणी विचारक

5.3 राधाकमल मुकर्जी (1889–1968)

- 5.3.1 जीवन परिचय
- 5.3.2 मुख्य विचार
  - 5.3.2.1 आर्थिक और सामाजिक व्यवहार के बीच संबंध
  - 5.3.2.2 सामाजिक पारिस्थितिकी
  - 5.3.2.3 वनों के संरक्षण का आग्रह
  - 5.3.2.4 शहरी सामाजिक समस्याओं के लिए सुधारवादी दृष्टिकोण
  - 5.3.2.5 नैतिक मूल्यों का सिद्धांत
  - 5.3.2.6 भारतीय संस्कृति और सभ्यता
  - 5.3.2.7 मुकर्जी की सार्वभौम सभ्यता की संकल्पनए
- 5.3.3 महत्वपूर्ण रचनाएं

5.4 धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी (1894–1968)

- 5.4.1 जीवन परिचय
- 5.4.2 मुख्य विचार
  - 5.4.2.1 भारतीय समाज में परंपरा की भूमिका
  - 5.4.2.2 व्यक्तित्व का समन्वित विकास
  - 5.4.2.3 भारतीय संस्कृति की विविधता में एकता
  - 5.4.2.4 डी.पी. मुकर्जी एक अर्थशास्त्री के रूप में
- 5.4.3 महत्वपूर्ण रचनाएं

5.5 गोविंद सदाशिव घुर्ये (1893–1984)

- 5.5.1 जीवन परिचय
- 5.5.2 मुख्य विचार
  - 5.5.2.1 भारत में जाति और नातेदारी व्यवस्था
  - 5.5.2.2 भारत में जाति की नई भूमिकाएं
  - 5.5.2.3 भारत में जनजातियों का अध्ययन
  - 5.5.2.4 भारत में ग्रामीण-शहरीकरण
  - 5.5.2.5 भारत में धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाज
  - 5.5.2.6 भारतीय परंपरा में साधु की भूमिका
  - 5.5.2.7 भारतीय कला और वास्तुकला
  - 5.5.2.8 हिंदू-मुस्लिम संबंध
- 5.5.3 महत्वपूर्ण रचनाएं

5.6 सारांश

5.7 शब्दावली

5.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

## 5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप के द्वारा संभव होगा

- समाजशास्त्र के तीन अग्रणी विद्वानों के योगदान का वर्णन करना
- राधाकमल मुकर्जी, धूर्जटीप्रसाद मुकर्जी और गोविंद सदाशिव घुर्ये के जीवन का संक्षिप्त विवरण देना
- समाजशास्त्र के बारे में उनके कुछ मुख्य विचारों की व्याख्या करना
- उनकी कुछ महत्वपूर्ण रचनाओं के नाम जानना।

## 5.1 प्रस्तावना

इस खंड की इकाई 4, **भारत में समाजशास्त्र का इतिहास और विकास-I,** में आपने भारत में समाजशास्त्र के उद्भव के बारे में पढ़ा था। हमने आपको बताया था कि कैसे भारतीय विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र विषय की नींव डाली गई। इकाई 4 में हमने कई भारतीय और विदेशी विद्वानों के द्वारा समाजशास्त्र के विकास में किए गए योगदान के बारे में और समाजशास्त्र के सामाजिक नृशास्त्र और भारत-शास्त्र (Indology) विषयों के साथ संबंधों पर प्रकाश डाला था। इसलिए, आपको भारत में समाजशास्त्र के विकास की पृष्ठभूमि की मोटी जानकारी मिल चुकी है।

इकाई 5 में हमने भारत में समाजशास्त्र के तीन प्रमुख अग्रणी विद्वानों के योगदान की जानकारी दी है। ये विद्वान हैं, राधाकमल मुकर्जी (1889–1968), धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी (1894–1962) और गोविंद सदाशिव घुर्ये (1893–1984)। हमने इनके नामों का उल्लेख पिछली इकाई में भी किया था लेकिन इस इकाई में हमने उनके मुख्य विचारों की चर्चा की है। ये उस समय से संबंधित थे जब प्रत्येक भारतीय के हृदय में आज़ादी की ज्योति जल रही थी। इन विद्वानों की पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय आंदोलन की चेतना थी। इसका प्रभाव इनकी रचनाओं पर भी पड़ा।

इस इकाई के भाग 5.2 में राधाकमल मुकर्जी, धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी और गोविंद सदाशिव घुर्ये आदि विद्वानों का सामान्य परिचय दिया गया है। भाग 5.3 में राधाकमल मुकर्जी के जीवन परिचय, मुख्य विचार और महत्वपूर्ण रचनाओं का विवेचन किया गया है। भाग 5.4 धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी के जीवन परिचय, मुख्य विचारों और महत्वपूर्ण रचनाओं का विवरण दिया गया है। अंत में भाग 5.5 में गोविंद सदाशिव घुर्ये का जीवन परिचय, उनके मुख्य विचार और महत्वपूर्ण रचनाओं की जानकारी दी गई है।

## 5.2 भारत में समाजशास्त्र के अग्रणी विचारक

इस इकाई में राधाकमल मुकर्जी, धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी और गोविंद सदाशिव घुर्ये के समाजशास्त्र संबंधी योगदान पर विस्तार से चर्चा की जाएगी। ये भारतीय शैक्षिक जगत के समसामयिक विद्वान थे। राधाकमल मुकर्जी और धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी, दोनों लखनऊ विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र विभाग में अध्यापन कार्य में संलग्न थे, जबकि गोविंद सदाशिव घुर्ये मुंबई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में पढ़ाते थे। अध्यापक, शोधकार्य के मार्गदर्शक और लेखक के रूप में इनकी रचनाओं का भारत में समाजशास्त्र पर, विशेषत: बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, गहरा प्रभाव पड़ा। समाजशास्त्र के प्रति इनका समान दृष्टिकोण था। इनकी रचनाओं में समाजशास्त्र के अलावा अन्य कई समाज विज्ञानों की रचनाएं भी शामिल थीं। राधाकमल मुकर्जी ने समाज विज्ञानों के **कोष्ठीकरण** (compartmentalization) की आलोचना की। अपनी

रचनाओं में इन्होंने अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और इतिहास को एक साथ प्रस्तुत किया। वे हमेशा विभिन्न समाज विज्ञानों में समान आधार अथवा उन्हें जोड़ने वाली कड़ी की खोज में रहते थे। धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी मार्क्सवादी विचारधारा को मानने वाले थे। उन्होंने भारतीय समाज में परंपरा और आधुनिकता के बीच संवादात्मक (dialectical) संबंधों के संदर्भ में लिखा। वे एक ऐसे भारतीय व्यक्तित्व की खोज में थे जिसकी आधुनिकता भारतीयता पर आधारित हो। उनके विचारों में यदि कोई भारतीय अपनी सांस्कृतिक विरासत से विच्छिन्न हो गया हो तो उसे संतुलित व्यक्ति नहीं कहा जा सकता। घुर्ये जनजातियों और जातियों के संदर्भ में नृशास्त्र विशारद थे लेकिन उन्होंने दूसरे विषयों पर भी विस्तृत रूप से लेखन कार्य किया।

अपने लेखों में घुर्ये ने राष्ट्रीय एकीकरण पर बल दिया। उनके विचार में हिन्दू धर्म की विचारधारा भारतीय समाज की मार्गदर्शक शक्ति है। हमारे देश में धर्मनिरपेक्षवाद हिंदू धर्म की सहिष्णुता की भावना का ही प्रतीक है। समाजशास्त्रीय रचनाओं में अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने ऐतिहासिक और सांख्यिकीय सामग्री प्रस्तुत की परन्तु उनमें और राधाकमल मुकर्जी में अंतर था। राधाकमल मुकर्जी व्यापक अर्थों में अर्थशास्त्री ही रहे। डी. पी. मुकर्जी भी अर्थशास्त्री थे। उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र का अध्यापन किया। लेकिन घुर्ये ने अपनी रचनाओं में अर्थशास्त्र पर चर्चा नहीं की।

राधाकमल मुकर्जी और घुर्ये दोनों ने ही अपने अध्ययन कार्यों में परिशुद्ध शोध पद्धतियों को नहीं अपनाया। उन्होंने भारतीय सामाजिक यथार्थ की जांच करने के लिए भी परिकल्पनाओं का सहारा नहीं लिया। उन्होंने जो लेख और पुस्तकें लिखीं वे या तो अंशत: अपनी निजी प्राथमिकताओं को ध्यान में रखकर लिखीं या कुछ सार्वजनिक जीवन के दबाव की प्रतिक्रिया में लिखीं। इसलिए उनके शैक्षिक जीवन में कोई निर्धारित योजना नहीं दिखाई देती है। उन्होंने भारत में परिवार-पद्धति, जातियाँ और वर्ग, शहरी केन्द्र तथा कृषि संबंधी या ग्रामीण जीवन आदि विभिन्न सामयिक विषयों पर लेख लिखे। उनकी रचनाओं में भारतीय धर्मग्रन्थों, **धर्मसिद्धान्त** ग्रंथों, महाकाव्यों और पुराणों के पर्याप्त प्रसंग मिलते हैं। अपने जीवन के पिछले दिनों में राधाकमल मुकर्जी ने कई महत्वपूर्ण संस्कृत रचनाओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। घुर्ये ने जब समाजशास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश किया तो उससे पूर्व उन्हें संस्कृत का अच्छा प्रशिक्षण मिला था। उन्होंने वैदिक काल के भारत पर जो लेखन कार्य किया, उससे उनकी संस्कृत ग्रंथों में रुचि का पता चलता है। आइए, अब हम इन तीनों विचारकों के जीवन परिचय, मुख्य विचारों और महत्वपूर्ण रचनाओं के बारे में अलग-अलग चर्चा करें।

## 5.3 राधाकमल मुकर्जी (1889–1968)

राधाकमल मुकर्जी सामाजिक परिस्थिति विज्ञान, अंतर्शाखीय शोध और जीवन मूल्यों के संदर्भ में सामाजिक संरचना के क्षेत्रों में पहल करने वालों में से एक थे। हमने पहले उनका जीवन परिचय प्रस्तुत किया है और उसके बाद उनके मुख्य विचारों की विवेचना की है।

### 5.3.1 जीवन परिचय

राधाकमल मुकर्जी का जन्म एक बड़े ब्राह्मण परिवार में सन् 1889 में पश्चिमी बंगाल के बरहामपुर नामक एक छोटे-से कस्बे में हुआ था। उन्होंने अपने जीवन के आरंभिक सोलह साल यहीं गुज़ारे थे। उनके पिता एक वकील थे और विधि-समुदाय (bar) के नेता थे। वे अपने क्षेत्र के जाने-माने विद्वान थे और उनकी इतिहास में विशेष रुचि थी।

राधाकमल मुकर्जी ने अपने जीवन के आरंभिक वर्षों का वर्णन करते हुए लिखा है कि उनके घर में इतिहास, साहित्य, क़ानून और संस्कृति की पुस्तकों की भरमार थी (सिंह 1956: 3)। सामान्य रूप से घर के जिस वातावरण में वे बड़े हुए वह अध्ययन-अध्यापन से पूर्ण था। उनके

बड़े भाई हमेशा पुस्तकों के अध्ययन में व्यस्त रहते थे। लेकिन छोटा होने के कारण इन्हें पुस्तकों से दूर रखा जाता था। उनके पिता दिनभर अपने मुवक्किलों के साथ लंबी चर्चाओं में और शाम को लंबे बौद्धिक और धार्मिक विचार-विमर्श में व्यस्त रहते थे।

घर के भीतरी भाग में महिलाओं का प्रभुत्व था, वहां धार्मिक अनुष्ठान और भजन कीर्तन चलता रहता था। मुकर्जी ने अपने बचपन के बारे में बताते हुए लिखा था कि उनके घर में बहुत से पालतू जानवर थे, इनमें विशेष रूप से एक सुनहरे रंग की गाय थी जो सारा साल दूध देती थी। उनके विचार में उनके जीवन का आरंभिक समय शांतिपूर्ण था। इस समय स्कूल जाना और खेलना, पूजा-पाठ करना, समय-समय पर उपवास और दावतें, धार्मिक अनुष्ठान और संस्कार, महाकाव्यों और पुराणों की कहानियां सुनाना और घर में साधु-संतों का अतिथ्य आदि महत्वपूर्ण बातें थीं (सिंह 1956: 3)।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में मद्रास और उड़ीसा में भयंकर अकाल पड़ने से जनजीवन का बहुत विनाश हुआ था। मुकर्जी के मन पर दु:ख और विपत्ति की इन आरंभिक स्मृतियों की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। वे समाचार-पत्रों में प्रकाशित भूख से मरणासन्न कंकाल शेष लोगों के चित्रों को देखकर बहुत अधिक द्रवित हो गये थे। इस अकाल की स्मृति 1942-43 में बंगाल में पड़े अकाल से भी कहीं अधिक हृदय द्रावक थी जिसे उन्होंने कलकत्ता में स्वयं अपनी आंखों से देखा था। बचपन में देखे मुहर्रम के ताज़ियों के जुलूस और दुर्गापूजा के उत्सवों आदि की स्मृतियां भी उनकी आंखों के सामने सजीव हो उठी थी।

जीवन के इसी समय में बंगाल में सामाजिक-सांस्कृतिक और बौद्धिक **पुनर्जागरण** हुआ। सन् 1905 में बंगाल का प्रत्येक शहर बौद्धिक और राजनीतिक उत्साह से भरा हुआ था। इसी समय लॉर्ड कर्ज़न द्वारा बंगाल के पूर्वी और पश्चिमी बंगाल में विभाजन के पश्चात् बंगभंग की प्रतिक्रिया स्वरूप व्यापक विद्रोह भड़क उठा। मुकर्जी ने लिखा कि उस समय राजनीतिक सभाओं, जुलूसों, प्रभात फेरियों, ब्रिटिश सामान के बहिष्कार, स्वदेशी और शराब बंदी के आंदोलन द्वारा उनका पहली बार जन आंदोलन से परिचय हुआ था (सिंह 1956: 4)।

डॉ. मुकर्जी की प्रारंभिक शिक्षा बरहामपुर में हुई थी। बरहामपुर में वे कृष्णनाथ कॉलेज में पढ़े। उन्हें भारत की प्रतिष्ठित शैक्षिक संस्था, प्रेसीडेंसी कॉलेज, कलकत्ता में छात्रवृत्ति मिली। इस कॉलेज में मुकर्जी ने अंग्रेज़ी और इतिहास के आनर्स कोर्स में प्रवेश लिया। यहां वे एच.एम. पर्सीवल, श्री अरविंद घोष के भाई एम. घोष और भाषा विज्ञानी हरिनाथ डे जैसे विद्वानों के संपर्क में आये। उन्होंने इन विद्वानों की बहुत प्रशंसा की। यहीं मुकर्जी ने कॉम्ट, हर्बर्ट स्पेंसर, लेस्टर वार्ड, हॉबहाउस ओर गिडिंग्स तथा कई अन्य विद्वानों के ग्रंथों को आदि से अंत तक पढ़ा। इस खंड की पिछली इकाइयों के अध्यापन से अब तक आपको यह तो अवगत हो गया होगा कि उपरोक्त में से कई विद्वान यूरोप और अमरीका के अग्रणी समाजशास्त्री थे।

इसी दौरान मुकर्जी ने प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश किया जिसमें उनकी जीवन पर्यंत रुचि बनी रही। इसी समय देश के राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में उथल-पुथल चल रही थी जिसने जीवन मूल्यों को पूरी तरह प्रभावित किया था। यह परिवर्तन सरकारी संस्थाओं के बाहर अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई दे रहा था तथा यह साहित्यिक और कलात्मक पुनर्जागरण का रूप ग्रहण कर रहा था। इस पुनर्जागरण ने धीरे-धीरे जन आंदोलन का रूप धारण कर लिया। इस प्रक्रिया को तेज़ करने के लिए मुकर्जी ने सन् 1906 में कलकत्ता में मेचू बाज़ार की मलिन बस्तियों में प्रौढ़ों के लिए प्रौढ़ सांध्य स्कूल शुरू किया। उन्होंने प्रौढ़ शिक्षा के लिए सरल पाठ्य सामग्री लिखी, जिसकी हज़ारों प्रतियां बिकीं। इनका यह स्कूल एक सामुदायिक केंद्र बन गया। यहां तक कि स्थानीय डाक्टरों ने भी सामाजिक शिक्षा के इस कार्यक्रम में रुचि लेना शुरू कर दिया। ये डाक्टर मलिन बस्तियों के प्रौढ़ों और बच्चों का नि:शुल्क इलाज भी करने लगे थे (सिंह 1956: 5)।

मुकर्जी अपनी इतिहास की आंरभिक शिक्षा को बहुत महत्व देते थे लेकिन कलकत्ता की मलिन बस्तियों में लोगों की दुर्दशा, गंदगी, प्रदूषण के प्रत्यक्ष संपर्क में आने के बाद उनकी रुचि समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र की ओर मुड़ गई। उनका कथन था कि उस समय जनसाधारण को शिक्षा देने के कार्य और उसकी ज़िम्मेदारी को उठाने की अत्यधिक आवश्यकता थी। भारतीय विद्यार्थी इस आवश्यकता की पूर्ति सामाजिक विज्ञानों का ज्ञान पा कर ही कर सकते थे (सिंह 1956: 5)। कलकत्ता विश्वविद्यालय में, मुकर्जी के समय में सामाजिक विज्ञानों के अन्तर्गत एम. ए. स्तर पर अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र और समाजशास्त्र आदि विषय पढ़े जा सकते थे।

डॉ. मुकर्जी इस अवधि में बिनय कुमार सरकार के निकट संपर्क में आए। (इकाई 4 में हमने बिनय कुमार सरकार द्वारा समाजशास्त्र के क्षेत्र में योगदान का उल्लेख किया है।) ये दोनों एक ही फ़्लैट (घर) में रहते थे। उस समय बी.के. सरकार बंगाल नेशनल कॉलेज में प्रोफ़ेसर थे। यह एक ऐसी संस्था थी जिसने टैगोर और श्री अरविंद घोष जैसे बंगाल के अग्रगामी विचारकों को समर्थन दिया था।

अपने काल के कई भारतीयों की तरह मुकर्जी भी कांग्रेस के गरम दल के सदस्य विपिन चन्द्र पाल के जोशीले भाषणों से प्रभावित हुए थे। परंतु उस समय मुकर्जी की रुचि का क्षेत्र राजनीति के बजाय शिक्षा था। मुकर्जी और उनके मित्र अपने आप को 'ग़रीबों' के मंत्री कहा करते थे। वे स्वयं भी वेशभूषा का परित्याग कर सादे कपड़े पहनते थे (सिंह 1956: 6)।

सन् 1910 में मुकर्जी बरहामपुर में अपने पुराने कॉलेज में अर्थशास्त्र के अध्यापक बन कर गए। उनका कहना है कि यह उनके जीवन का सबसे व्यस्त काल था। इसी समय में मुकर्जी ने द *फ़ाउंडेशन ऑफ़ इंडियन इकानॉमिक्स* जैसे अर्थशास्त्र के आंरभिक ग्रंथ की रचना की। इसी अवधि में उनकी सामाजिक परिस्थिति विज्ञान (social ecology) और क्षेत्रों (regions) के अध्ययन में रुचि जागृत हुई। उनके कॉलेज के प्रिंसिपल रेवरेंड ई.एम. व्हीलर की विज्ञानों में, विशेष रूप से वनस्पति विज्ञान में, गहरी रुचि थी। इसलिए मुकर्जी तथा अन्य अध्यापक विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों और कीट पतंगों के नमूनों को इकट्ठा करने और उनका अध्ययन करने में अपना काफ़ी समय लगाते थे। इस अनुभव से डॉ. मुकर्जी की परिस्थिति विज्ञान में रुचि पैदा हो गई और वे मानव समुदाय के साथ परिस्थिति विज्ञान के संबंध से परिचित हुए।

इसी समय मुकर्जी बांग्ला भाषा की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका, *उपासना,* के संपादक भी बने। वे इस मासिक पत्रिका के लिए नियमित लेख लिखते और साथ ही बंगला साहित्य की साहित्यिक गतिविधियों के भी संपर्क में रहते। वे साहित्य के अथक पाठक थे और उनकी साहित्य में गहरी रुचि थी।

सन् 1915 में जब ब्रिटिश सरकार के दमन का चक्र चला तो मुकर्जी को एक दिन के लिए गिरफ़्तार कर लिया गया और उनके सभी प्रौढ शिक्षा विद्यालय बंद कर दिए गए। उनके विरुद्ध से आरोप थे कि वे "उग्रवादी" हैं या प्रौढ़ शिक्षा की आड़ में उनकी उग्रवाद के प्रति सहानुभूति है। उनके वकील भाई की कोशिश से वे जल्दी ही छूट गए। इसी समय पंजाव के लाहौर कालेज में एक पद का प्रस्ताव उनके पास भेजा गया जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया और वे लाहौर चले गए। इस प्रकार उनकी राजनीति में जो थोड़ी-बहुत दिलचस्पी पैदा हुई थी वह आरंभ में समाप्त हो गई।

कलकत्ता विश्वविद्यालय में जब आशुतोष मुकर्जी ने सन् 1917 में कला और विज्ञान में स्नातकोत्तर परिषद (Post-Graduate Council of Arts and Sciences) की स्थापना की तो राधाकमल मुकर्जी वापस वहां चले गए। वे वहां पाँच साल रहे और उन्होंने अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनैतिक दर्शन का अध्यापन किया। सन् 1921 में जब लखनऊ विश्वविद्यालय की स्थापना हुई तो वे वहाँ अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र विभाग के प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष बनकर

गए (सिंह 1956: 10)। उन्होंने इस विश्वविद्यालय में आकर अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और नृशास्त्र के शोध कार्य और अध्यापन में एकीकृत दृष्टिकोण अपनाया।

डॉ. मुकर्जी के विचार में भारत में सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में हमें तुलनात्मक पद्धतियों द्वारा प्रजाति और संस्कृति के उद्‌भव का वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहिए। इनमें पहले ब्रजेन्द्रनाथ सील, दूसरे प्रोफ़ेसर पैट्रिक गेडिस और तीसरे नरेंद्रनाथ सेन गुप्ता थे। नरेन्द्र नाथ उनके पुराने घनिष्ठ साथी थे जिनकी मृत्यु जल्दी ही हो गई थी। इनमें से प्रथम दो प्रोफ़ेसर सील और प्रोफ़ेसर गेडिस से आप पहले ही परिचित हैं। उन्होंने भारतीय विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र को अध्ययन के विषय के रूप में स्थापित करने और उसका विकास करने में योगदान दिया। मुकर्जी अपने कार्य और रचनाओं के लिए हमेशा प्रोफ़ेसर सील से विचार-विमर्श करते थे। मुकर्जी उनसे बहुत प्रभावित थे इसीलिए सांस्कृतिक विज्ञानों में तुलनात्मक पद्धति के प्रयोग पर उन्होंने विशेष बल दिया। पैट्रिक गेडिस ने भी परिस्थिति विज्ञान, जनसंख्या और क्षेत्रों के अध्ययन के संबंध में मुकर्जी की रचनाओं को प्रभावित किया जबकि नरेन्द्रनाथ सेन गुप्ता के विचार मुकर्जी की सामाजिक मनोविज्ञान में रुचि पैदा करने में सहायक सिद्ध हुए।

इन भारतीय विचारकों के अलावा पश्चिम के सामाजिक विचारक भी थे जिनके साथ मुकर्जी ने काम किया और जिन्होंने उनकी रचनाओं को प्रभावित किया। इनमें एडवर्ड आल्सवर्थ रॉस, शिकागो के रॉबर्ट एज़रा पार्क, मैकेंज़ी, पी. सोरोकिन आदि कुछ समाजशास्त्री थे। इनमें से अधिकांश अमेरीकी समाजशास्त्रियों की रुचि क्षेत्रीय अध्ययन, शहरी विघटन, मानव परिस्थिति विज्ञान, सामाजिक परिवर्तन आदि में थी। इन समाजशास्त्रियों से मित्रता ओर बौद्धिक मेल-जोल ने सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में मुकर्जी के प्रयासों को प्रेरणा दी (सिंह 1956: 3-20)।

डॉ. मुकर्जी ने लखनऊ विश्वविद्यालय में लगभग तीस वर्ष तक अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र का अध्यापन किया। वे विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र और मानव संबंधों के जे.के. संस्थान के उपकुलपति और निदेशक भी बन गए थे। उन्होंने कई विषयों पर विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ लिखे। उनकी रचनाओं की मूल प्रकृति सामाजिक विज्ञानों के एकीकरण की रही है और वे बहुत से क्षेत्रों में पथ अन्वेषक रहे हैं। उनके बहुत-से विद्यार्थियों और सहायकों की रचनाओं में यही दृष्टि दिखाई देती है। उनकी मृत्यु सन् 1968 में हुई। उन्होंने समाजशास्त्र के क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण योगदान दिया उसकी गहरी छाप समाजशास्त्र के विद्यार्थियों पर स्पष्ट दिखाई देती है।

## 5.3.2 मुख्य विचार

भारतीय विश्वविद्यालयों में विभिन्न विषयों का कोष्ठीकरण आम बात है। उदाहरण के तौर पर कॉलेज या विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और सांख्यिकी विषयों का अध्यापन तो साथ-साथ होता है लेकिन उनमें परस्पर अंत:क्रिया का लगभग अभाव पाया जाता है। मुकर्जी ने अपने अध्यापन कार्य और रचनाओं में सामाजिक विज्ञानों के विभिन्न क्षेत्रों में परस्पर और सामाजिक विज्ञानों और भौतिक विज्ञानों के बीच आपसी अंत:क्रिया की आवश्यकता पर बल दिया। उदाहरण के रूप में भारतीय अर्थशास्त्र को ब्रिटिश अर्थशास्त्र के नमूने पर ढाला गया है जिसमें देशी व्यापार व्यवस्था, हस्तशिल्प और बैंक प्रणाली आदि में परंपरागत जाति व्यवस्था पर अक्सर ध्यान नहीं दिया गया है। आर्थिक विकास को मुख्यत: मुद्रा अर्थशास्त्र या बाज़ार व्यवस्था के विस्तार के रूप में देखा जाता है। अर्थशास्त्र के पाश्चात्य प्रारूप में शहरी औद्योगिक केंद्रों पर अधिक ध्यान दिया जाता है। आइए, देखें कि डॉ मुकर्जी ने समाजशास्त्र के तहत् किन विषयों पर मुख्य ध्यान दिया।

### 5.3.2.1 आर्थिक और सामाज़िक व्यवहार के बीच संबंध

भारत जैसे देश में औपचारिक "बाज़ार-प्रारूप" की बहुत ही सीमित प्रासंगिकता है क्योंकि यहां बहुत-सा आर्थिक लेन-देन जातियों या जनजातियों के ढाँचे में होता रहा है। मुकर्जी ने परंपरागत

व्यवस्था और आर्थिक विनिमय के बीच संबंध दिखाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार, भारत की विभिन्न श्रेणियां (guilds) और जातियां प्रतिस्पर्धा हीन व्यवस्था में कार्यशील हैं। यहां आर्थिक विनिमय के नियम हिंदू धर्म के प्रतिमानों के अनुसार थे। दूसरे शब्दों में, हिंदू धर्म के प्रतिमानों में विभिन्न वर्गों के बीच पारस्परिक निर्भरता पर बल दिया गया है। इसलिए ग्रामीण भारत को समझने के लिए आर्थिक मूल्यों का विश्लेषण सामाजिक प्रतिमानों के संदर्भ में करना होगा। केवल जैविक और भौतिक प्रेरणा से आर्थिक आदान-प्रदान संभव नहीं होता। धार्मिक अथवा नैतिक प्रतिबंध भी आर्थिक विनिमय को प्रभावित करते हैं। लोगों के रोज़मर्रा के जीवन में जीवन मूल्यों का भी योगदान होता है और उन्हें बाध्य होकर एक ख़ास ढंग से ऐसा व्यवहार करना पड़ता है जो सामूहिक रूप से स्वीकृत हो। उदाहरणार्थ, आमतौर पर कोई उच्च जाति का हिंदू भूखा होने पर भी गाय का मांस नहीं खाएगा, उसी तरह रूढ़िवादी मुसलमान या यहूदी सूअर का मांस नहीं खाएगा चाहे उसे खाने की कितनी भी ज़्यादा ज़रूरत क्यों न हो। इसलिए, आर्थिक व्यवहार को सामाजिक जीवन तथा सामूहिकता से अलग करके देखना ग़लत होगा। यद्यपि भारत में तेज़ी से बाज़ारीकरण हो रहा है फिर भी डॉ मुकर्जी के विचारों के पीछे दिये गये तर्क का अभी भी महत्व है, जिसके अनुसार हमें आर्थिकी एवं संस्कृति के बीच संबंध को अनदेखा नहीं करना है।

### 5.3.2.2 सामाजिक पारिस्थितिकी

डॉ. मुकर्जी ने सामाजिक **पारिस्थितिकी** अथवा सामाजिक परिस्थिति विज्ञान पर भी विशेष ध्यान दिया था। उनकी दृष्टि में सामाजिक परिस्थिति विज्ञान एक मिश्रित व्यवस्था है जिसमें कई सामाजिक विज्ञानों का परस्पर आदान-प्रदान होता है। परिस्थिति विज्ञान के क्षेत्र में भूवैज्ञानिक, भौगोलिक और जैविक कारक सम्मिलित होते हैं। इसके साथ ही परिस्थिति विज्ञान सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक कारकों से भी प्रभावित होता है। उदाहरण के लिए, इतिहास साक्षी है कि राजनैतिक क्षेत्र विस्तार के लिए नए-नए क्षेत्रों में लोगों को बसाया गया। चँकि परिस्थिति विज्ञान और समाज के बीच स्पष्ट संबंध है इसलिए पारिस्थितिक क्षेत्र के विकास को गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखने की आवश्यकता है। इसका अभिप्राय है कि जब नए क्षेत्रों में लोगों को बसाया जाता है तब किसी सीमा तक वे अपनी ज़रूरतों के अनुसार पर्यावरण को ढाल लेते हैं और पर्यावरण के अनुसार अपनी कुछ ज़रूरतों में बदलाव लाते हैं।

परिस्थितिक संतुलन का अभिप्राय यह नहीं है कि बिना सोचे समझे किसी क्षेत्र में लोगों को बसा दिया जाए। इस प्रकार के प्रयास से सामाजिक ढांचा कमज़ोर अथवा नष्ट हो जाता है। उदाहरण के तौर पर भारत में सिंचाई के लिए बांधों के निर्माण के कारण प्राय: उस इलाक़े के लोग विस्थापित हो जाते हैं। सही परिप्रेक्ष्य न होने से लोगों के सामाजिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, उत्तर भारत के कई भागों में परंपरागत पारस्परिक निर्भरता की व्यवस्था है जिसे "जजमानी व्यवस्था" कहते हैं, ऐसी ही व्यवस्था अन्य क्षेत्रों में भी है। अगर लोगों को विस्थापित होकर दूसरे क्षेत्रों में जाना पड़े तो यह व्यवस्था तत्काल समाप्त हो जाती है। यदि हम पहले से ही किसी विकल्प की योजना बना लें तभी इस प्रकार के विघटन से बचा जा सकता है। पारस्परिक निर्भरता की सामाजिक व्यवस्था का स्थान सहकारी व्यवस्था ले सकती है। इसलिए भारत को शहरी औद्योगिक अर्थव्यवस्था के व्यवस्थित रूप में रूपांतरित करने के लिए सामाजिक परिप्रेक्ष्य का होना आवश्यक है। भारत में विकास योजनाओं को लागू करने के संदर्भ में मुकर्जी के में विचार आज इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक हैं।

मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी पर अपनी पुस्तक में पाश्चात्य सामाजिक विज्ञानियों की मान्यताओं से भिन्न विचार व्यक्त किए हैं। अमरीका में शिकागो स्कूल ऑफ़ सोशियोलॉजी ने सामाजिक विघटन, शहरी ह्रास जैसी सामाजिक समस्याओं के आनुभाविक अध्ययन को महत्व दिया। इस विचारधारा के समर्थक पार्क और बर्जेस, लुई वर्थ गिडिंग्स आदि समाजशास्त्री थे।

इन विचारकों ने 'मानव परिस्थिति विज्ञान' के अध्ययन पर बल दिया। इनके अध्ययन का केंद्र बिन्दु सामाजिक व्यवस्था का प्रबंध करना था, जिसके अंतर्गत मलिन बस्तियों में रहने वालों का नई बस्तियों में स्थानांतरण, रहन-सहन की स्थितियों में सुधार, बेहतर रोज़गार की व्यवस्था आदि कार्य शामिल थे। परन्तु मुकर्जी का विचार था कि औद्योगीकरण के कारण तेज़ी से होने वाले विनाश का एक विकल्प 'सामाजिक परिस्थिति विज्ञान' है। भारत का लंबा इतिहास मानव मूल्यों का खज़ाना है। अत: भारत के नवनिर्माण की योजना बनाते समय केवल तात्कालिक और प्रत्यक्ष समस्याओं को ध्यान में नहीं रखना चाहिए अपितु उसका विकास मूल्यों पर आधारित होना चाहिए।

मुकर्जी की सामाजिक परिस्थिति विज्ञान में रुचि होने के कारण उन्होंने क्षेत्रीय समाजशास्त्र का विकास किया। उन्होंने राष्ट्रीय विकास के क्षेत्रीय आयामों को और अच्छी तरह से समझने का सुझाव दिया। आधुनिक भारत में विभिन्न क्षेत्रों का विकास उन्हें आत्मनिर्भर बनाने के लिए किया जाए तो इससे पूरे देश को लाभ होगा। अन्यथा कुछ क्षेत्र दूसरे क्षेत्रों पर हावी रहेंगे और इससे देश के विभिन्न क्षेत्रों का असमान विकास होगा। भारत में अलग-अलग क्षेत्र हैं जिनमें प्रत्येक का अपना अलग नृजातीय इतिहास है। इसलिए पारिस्थितिक संतुलन बनाए रखने के लिए विकासात्मक योजनाओं में समन्वय स्थापित करना आवश्यक है। संक्षेप में, मुकर्जी के मत में आर्थिक वृद्धि और पारिस्थितिक क्षमता में संतुलन बना रहना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भारत के आधुनिक स्वरूप में उसकी परंपरा को सुरक्षित रखना होगा। उदाहरणार्थ, बुनाई, नक्काशी आदि कई कौशल कुछ जातियों में परंपरागत हैं। इन शिल्पों को आधुनिक सहकारी समितियां बनाकर प्रोत्साहित किया जा सकता है। कहने का मतलब यह है कि भारतीय समाज की आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में परंपरागत अर्थव्यवस्था की उपेक्षा करना उचित नहीं होगा। संयोग से, आज़ादी के बाद तमिलनाडु और दूसरे राज्यों में हथकरघा जैसे परंपरागत शिल्पों की हथकरघा सहकारी समितियां बनाई गईं। इसी तरह खादी ग्रामोद्योग ने भी आधुनिक उत्पादन के लिए परंपरागत कौशलों का उपयोग किया।

### 5.3.2.3 वनों के संरक्षण का आग्रह

डॉ. मुकर्जी ने वनों की कटाई से होने वाले ख़तरों के बारे में बहुत लिखा। पेड़ों की कटाई के कारण बाढ़ से मृदा बह जाती है और ज़मीन का उपजाऊपन घट जाता है। बाढ़ और बारिश के कारण ज़मीन की ऊपरी सतह की मिट्टी बह जाती है तथा फिर से उसकी पूर्ति करना संभव नहीं है। इसलिए भारत के ये वन पारिस्थितिक दृष्टि से बहुत अधिक उपयोगी हैं। मुकर्जी के वन संरक्षण के अनुरोध को चिपको और एपको जैसे आंदोलनों का समर्थन मिला। इन आंदोलनों ने वनों और पेड़ों के विनाश को रोकने के लिए भरसक प्रयास किये। मुकर्जी ने वर्ष भर में गन्ने या कपास जैसी नक़दी फसल उगाने के ख़तरे की ओर भी ध्यान दिलाया। **एकलकृषि** (monocultivation) के कारण धरती का उपजाऊपन नष्ट हो जाता है और वह धीरे-धीरे बंजर भूमि बन जाती है। इसलिए किसान को अलग-अलग फ़सलें उगानी चाहिएँ। वनों की कटाई और एकलकृषि जैसे तरीक़ों से परिस्थिति-तंत्र (ecosystem) गड़बड़ा सकता है और इससे कई प्रकार की पर्यावरण संबंधी समस्याएं पैदा हो सकती हैं। हर वर्ष भारत के, विशेषत: उत्तरी भारत के, कुछ हिस्सों में या तो बाढ़ आ जाती है या अकाल पड़ता है। इस बात में संदेह नहीं है कि तटीय क्षेत्रों में समुद्री तूफ़ानों पर तो इन्सान का कोई बस नहीं है, लेकिन वनों की भ्रष्टाचारी वन अधिकारियों की मदद से तस्करों तथा अन्य लोगों द्वारा कटाई के कारण प्राकृतिक संसाधन समाप्त हो रहे हैं। मनुष्यों द्वारा किए जाने वाले इस विनाश को कम किया या रोका जा सकता है।

मुकर्जी ने गांव, शहर और देश को एक व्यापक आधार वाली विकासात्मक प्रक्रिया के रूप में एकीकृत करने का समर्थन किया। उन्होंने यह भी कहा कि गांवों की क़ीमत पर शहरों का विकास करने पर रोक लगाई जानी चाहिए। कृषि में विविधता लाई जानी चाहिए और उद्योगों

का विकेंद्रीकरण किया जाना चाहिए। देश के समन्वित विकास के लिए न केवल लोगों के विभिन्न वर्गों के बीच बल्कि विभिन्न क्षेत्रों के बीच भी संपत्ति और संसाधनों का अधिक न्यायसंगत वितरण किया जाना चाहिए।

### 5.3.2.4 शहरी सामाजिक समस्याओं के लिए सुधारवादी दृष्टिकोण

मुकर्जी की दिलचस्पी इस बात में थी कि श्रमिक वर्ग की समस्याओं के प्रति **सुधारात्मक** दृष्टिकोण अपनाया जाए। गत कुछ दशकों से भारत में औद्योगीकरण से विभिन्न क्षेत्रों और भाषाओं के लोगों को पास लाने में सफलता मिली है लेकिन मुंबई, कानपुर, कोलकाता और चेन्नई जैसे शहरी केंद्रों में कार्यरत श्रमिकों को मलिन बस्तियों में रहना पड़ता है। इस कारण उनके रहन-सहन की दशा पर बुरा प्रभाव पड़ा है। औद्योगीकरण के आरंभिक दिनों में शहरों की मलिन बस्तियों में वैश्यावृत्ति, जुआख़ोरी और सामाजिक अपराध आदि बुराइयां पनपीं। इसलिए यह आवश्यक था कि श्रमिकों की आर्थिक और नैतिक दशा को सुधारने के लिए उनके जीवन में आमूल परिवर्तन किए जाएँ।

आज बहुत से निजी उद्योगों और सरकारी क्षेत्र की इकाइयों ने श्रमिकों के सामाजिक कल्याण के लिए सुविधाएं प्रदान की हैं। इसके अलावा केंद्रीय और राज्य सरकारों ने इस प्रयोजन के लिए ऐसे वैधानिक अधिनियम लागू किए हैं जिन्हें मालिक या नियोक्ता के लिए मानना अनिवार्य है। लेकिन आज भी असंगठित श्रमिक वर्ग के लोग, यानि ऐसे श्रमिक जो अल्प नियोजित हैं या अस्थायी रूप से नियोजित हैं, मलिन बस्तियों में रहते हैं। इस समय भारत की मलिन बस्तियों की मुख्य समस्याएं हैं अवैध मद्यपान, नशीली दवाओं का सेवन, सामाजिक अपराध, आवास के बदतर हालात और सामान्य जनसुविधाओं का अभाव। अत: मुकर्जी ने श्रमिक वर्ग का जो विश्लेषण किया वह भारत के औद्योगिक संगठन के संदर्भ में आज भी पूर्वतया प्रासंगिक है।

### 5.3.2.5 नैतिक मूल्यों का सिद्धांत

राधाकमल मुकर्जी की दिलचस्पी मानव समाज पर नैतिक मूल्यों के प्रभाव के संबंध में लंबे समय से रही जबकि उन्नीस सौ साठ से अस्सी के दशकों में मूल्यों से रहित सामाजिक विज्ञान के विचार ने पश्चिमी देशों और भारत के शैक्षिक क्षेत्रों ने भी ज़ोर पकड़ा। मुकर्जी के विचार में तथ्य (fact) और मूल्य (value) को अलग-अलग समझना सही नहीं होगा। मानव अंत:क्रियाओं में तथ्यों और मूल्यों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। यहां तक कि आहार, वेशभूषा या दूसरों का अभिवादन जैसे सामान्य व्यवहार भी मूल्यों पर आधारित या प्रतिमानों की दृष्टि से सही होते हैं। हर समाज की अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है तथा इसके मूल्य और प्रतिमान लोगों के व्यवहार का निर्देशन करते हैं। इसलिए पश्चिम की प्रत्यक्षवादी (positivistic) परंपरा जो तथ्यों और मूल्यों को अलग करना चाहती है, भारतीय समाज के अध्ययन के संदर्भ में मुकर्जी को सही नहीं लगी। पश्चिमी जगत में वैज्ञानिक जाँच को चर्च यानी धार्मिक क्षेत्र से स्वतंत्र रखना अनिवार्य था। इसीलिए, संभवत: वहां तथ्यों और मूल्यों को अलग रखने की आवश्यकता महसूस हुई।

मुकर्जी ने मूल्यों के संबंध में दो मूलभूत मुद्दों की ओर ध्यान दिलाया है। पहले तो यह कि मूल्य केवल धर्म या नीति शास्त्र तक सीमित नहीं है। मूल्यों का महत्व अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और विधिशास्त्र में भी है। दूसरे शब्दों में मानवीय आवश्यकताओं को ही सामाजिक मूल्यों में परिवर्तित कर दिया जाता है और ये मूल्य समाज के सदस्यो के मन में निविष्ट हो जाते हैं। भारत और चीन जैसी प्राचीन सभ्यताएं अपेक्षाकृत स्थायी हैं एवं इन समाजों में मूल्यों का निर्धारण किया जाता रहा है तथा उन्हें उच्च और निम्न स्तरों में श्रेणीक्रम से संगठित किया गया है। दूसरे ये मूल्य आत्मनिष्ठ अथवा व्यक्तिपरक आकांक्षाओं का परिणाम नहीं होते हैं। ये मूल्य आकांक्षाओं और इच्छाओं में प्रतिष्ठापित होते हैं। दूसरे शब्दों में ये मूल्य सामान्य और वस्तुनिष्ठ दोनों होते

हैं यानी उन्हें आनुभाविक पद्धतियों से मापा जा सकता है। प्राय: विश्व की महान सभ्यताओं में भौतिक उद्देश्यों पर आध्यात्मिक उद्देश्यों का प्रभुत्व रहा है।

संक्षेप में मुकर्जी के मूल्यों के सिद्धांत में तीन मुख्य मुद्दे हैं। एक तो यह कि मूल्य जनसमूह की आधारभूत अंत:प्रेरणाओं को व्यवस्थाबद्ध रूप में संतुष्ट करते हैं। इसका मतलब यह है कि सामूहिक रूप से मिलकर रहने से स्वार्थपरक इच्छाएं और रुचियां परिष्कृत हो जाती हैं, क्योंकि समाज में लोगों के बीच आदान-प्रदान की प्रक्रिया निरंतर जारी रहती है। दूसरे, मूल्यों का स्वरूप सामान्य होता है। इसमें व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों तरह की अभिवृत्तियां (attitudes) और अनुक्रियाएं (reactions) सम्मिलित होती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि प्रतीकात्मकता के माध्यम से सभी लोग इन मूल्यों में साझीदार होते हैं। उदाहरण के तौर पर किसी राष्ट्र के सभी व्यक्तियों और वर्गों के लिए राष्ट्रीय झंडा एक समान प्रतीक है। तीसरे, मानव समाज में विभिन्नताओं के बावजूद कुछ सार्वभौम मूल्य भी होते हैं। मानव समुदाय के सभी प्रमुख धर्म इन्हीं सार्वभौम मूल्यों तथा प्रतिमानों के भंडार है। फिर भी मुकर्जी के अनुसार, समाज के प्रति गतिशील दृष्टिकोण का उद्देश्य होगा कि समकालीन समय की ज़रूरतों के अनुसार समाज में परंपरागत मूल्यों का रूपांतरण।

**सोचिए और करिए 1**

अपने दैनिक जीवन में होने वाले कम से कम पांच प्रकार के सामाजिक व्यवहार का उल्लेख कीजिए। यदि संभव हो तो, उनके साथ जुड़े हुए मूल्यों के बारे में बताइए। सामाजिक व्यवहार के कुछ उदाहरण हैं, यज्ञोपवीत (जनेऊ धारण करना), मस्जिद, मंदिर या गिरजे में जाना, बड़ों के चरणस्पर्श करना आदि।

राधाकमल मुकर्जी का विचार है कि सामाजिक व्यवहार के तथ्यों को उनसे संबंधित मूल्यों से अलग नहीं किया जा सकता। आप इस विचार से सहमत हैं या नहीं, इसके बारे में एक पृष्ठ की टिप्पणी कारण सहित लिखिए। यदि संभव हो तो उसकी तुलना अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणी से कीजिए।

### 5.3.2.6 भारतीय संस्कृति और सभ्यता

मुकर्जी ने भारतीय कला और वास्तुकला, इतिहास और संस्कृति के बारे में बहुत कुछ लिखा है। मुकर्जी का विश्वास था कि एशियाई कला का उद्देश्य समाज का सामूहिक विकास करना है। उन्होंने लिखा था कि एशिया में कला ने लाखों लोगों के लिए सामाजिक और आध्यात्मिक क्रांति के पथ प्रदर्शक की भूमिका अदा की है। प्राच्यकला (oriental art) सामुदायिकता की भावना से अत्यधिक ओतप्रोत थी और इस प्रकार यह प्राच्य संस्कृति (oriental cultures) की ऐतिहासिक निरंतरता के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी है। इसके विपरीत पश्चिम में इस प्रकार के कलात्मक प्रयास के पीछे या तो वैयक्तिक भावना प्रधान होती थी या स्वयं कला ही उसका लक्ष्य होती थी। यह न तो सामाजिक एकात्मकता में और न ही आध्यात्मिक विकास में सहायक थी।

भारतीय कला सामाजिक या नैतिक क्षेत्र में अंतर्निहित है। उन्होंने लिखा कि भारत के लाखों मंदिर, स्तूप व विहार आदि कला और नीतिशास्त्र के बीच तथा धार्मिक और सामाजिक मूल्यों के बीच संबंधों के स्पष्ट साक्षी हैं। भारत के लोगों के बीच कला पारस्परिक अंत:क्रिया का स्थायी घटक है जो लोगों की आकांक्षाओं और उनकी कलात्मक सृजनशीलता के बीच सक्रिय संबंध के मूर्तरूपों को प्रदर्शित करती है।

भारतीय कला सदैव धर्म के साथ जुड़ी रही है। मुकर्जी हिंदू धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म जैसे भारतीय धर्मों की अनाक्रामक प्रकृति से अत्यधिक प्रभावित हुए। यह भाव उनके भारत के ऐतिहासिक अध्ययन में दिखाई देता है। भारतीय धर्मों की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि

उनमें किन्हीं विशिष्ट प्रकार के विश्वासों या संस्कारों का आग्रह नहीं था, बल्कि उनका लक्ष्य तो चरम सत्य था। बहुत से देशों में भारत का प्रभाव किसी युद्ध या विजय के द्वारा नहीं अपितु मित्रता और भाई चारे के द्वारा संभव हुआ। सम्राट अशोक के समय से ही भारत के बाहर श्रीलंका, कंबोडिया, तिब्बत तथा अन्य अनेक देशों का शांतिपूर्ण "उपनिवेशीकरण" हुआ। भारतीय कला और धर्म ने यहां की स्थानीय संस्कृतियों को समृद्ध किया और इस प्रक्रिया में वहां एक नई संस्कृति का जन्म हुआ। उदाहरण के रूप में आज भी भारत के धार्मिक महाकाव्य रामायण की विभिन्न शैलियों का प्रदर्शन उपर्युक्त देशों में तथा इनके अतिरिक्त इंडोनेशिया, सुमात्रा, त्रिनिदाद आदि कई देशों में भारतीय मूल के लोगों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार विदेशी और देशी तत्वों के बीच सामंजस्य की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। यहां तक की भारत में धर्मशास्त्र जैसी हिन्दू धर्म की विधि विधान की पुस्तकों में भी पर्याप्त लचीलापन था जिससे हिंदू धर्म में भारत की नृजातीय विभिन्नताओं को समायोजित किया जा सकता था। यदि इन धार्मिक विधि-विधानों की ठीक ढंग से व्याख्या की जाए तो पता चलता है कि इनमें मूल्यों और प्रतिमानों का ऐसा ढांचा प्रस्तुत किया गया है कि जिसमें विभिन्न समूह एक साथ व्यवस्थित रूप से रह सकते हैं। इससे ज्ञात होता है कि भारत की कला और यहां का धर्म अत्यधिक सहिष्णु थे।

### 5.3.2.7 मुकर्जी की सार्वभौम सभ्यता की संकल्पना

मुकर्जी ने समाज के सामान्य सिद्धांत द्वारा सार्वभौम सभ्यता के मूल्यों की व्याख्या करनी चाही। उन्होंने "सभ्यता" शब्द में "संस्कृति" को भी शामिल किया था। उनके अनुसार मानव सभ्यता का अध्ययन तीन स्तरों पर किया जाना चाहिए। ये स्तर एक दूसरे से संबंद्ध हैं। ये हैं

i) मानव के जैविक विकास ने सभ्यता के उदय व विकास में सहायता की। समाज के एक सक्रिय सदस्य के रूप में मानव में अपने पर्यावरण को बदलने की क्षमता है। जानवर केवल अपने आप को पर्यावरण के अनुसार ढाल सकते हैं जबकि मनुष्य इसे विभिन्न प्रकार से अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल ढाल सकता है। मानव जाति के लोग ऐसे जैविक स्वरूप के हैं जो प्रतिस्पर्धा और संघर्ष के बावजूद भी परस्पर सहयोग से रह सकते हैं।

ii) दूसरे, सभ्यता का एक सामाजिक मनोवैज्ञानिक आयाम है। सामाजिक मनोविज्ञान में मानवजाति का वर्णन प्राय: जाति, नृजातीयता अथवा राष्ट्रीयता के ढाँचे में किया जाता रहा है। ऐसा समझा जाता है कि मानव जाति स्वार्थ या अहं के शिकंजे में फंसी है और उसकी मनोवृत्ति संकुचित या नृजाति केंद्रित होती है लेकिन इसके विपरीत, मानव जाति में इस बात की सक्षमता होती है कि मनुष्य अपनी संकीर्ण भावनाओं को दबा कर **सार्वभौमिकरण** का अनुभव कर सके। इसका अभिप्राय है कि लोग अपने आप को राष्ट्र या विश्व समुदाय की समष्टि के सदस्य के रूप में देख सकते हैं। इस प्रक्रिया में मानव के सामान्य मूल्यों की मदद से सार्वभौम मूल्यों का व्यक्ति विशिष्ट मूल्यों पर प्राधान्य हो जाता है। आज के युग में **नैतिक सापेक्षवाद** (ethical relativism) या एक समाज से दूसरे समाज में मूल्यों के बीच अंतर से कोई सहायता नहीं मिलती है। आज के युग में नैतिक सार्वभौमता (ethical universalism) की आवश्यकता है जिससे मानव जाति में एकता की भावना दृढ़ हो। इस नए परिप्रेक्ष्य में जनसमूह के सदस्य स्वेच्छा से नैतिक अभिकर्ता बन कर मानवता को जोड़ने वाले सामान्य तत्वों को पहचान सकें। ये लोग सापेक्षिकता या विभाजित करने वाले तत्वों से प्रभावित न हों। डॉ. मुकर्जी के जीवन-काल में कही गई ये विचार-उक्तियाँ इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में भी शत-प्रतिशत लागू होती दृष्टिगत होती हैं।

iii) तीसरे, सभ्यता का एक आध्यात्मिक आयाम भी है। धीरे-धीरे मनुष्य उच्चतम बुलंदियों

को लांघता जा रहा है। अर्थात् वह जीवजन्य (biogenic) और अस्तित्व (existential) संबंधी स्तरों के प्रतिबंधों को यानी मनुष्य की भौतिक और सांसारिक सीमाओं को पार करता हुआ आध्यात्मिकता की सीढ़ियों पर ऊपर चढ़ता जा रहा है। इस प्रयास में कला, मिथक और धर्म ने आध्यात्मिक क्षेत्र में आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। अभी तक सामाजिक विज्ञानों ने इन सांस्कृतिक तत्वों को नज़रंदाज़ ही किया है और ये किसी भी प्रकार का आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करने में पूर्णतया असफल रहे हैं। संयोग से इसी प्रकार का कथन जर्मन समाजशास्त्री कार्ल मैनहाइम ने भी दिया जिसने संस्कृति के समाजशास्त्र के बारे में लिखा। मैनहाइम ने इस बात की ओर ध्यान दिया कि पाश्चात्य समाज विज्ञानियों ने प्रत्यक्षवाद और संरचनात्मक प्रकार्यवाद के कठोर नियमों के प्रभाव में सांस्कृतिक आयामों (कलाओं, मिथकों, प्रतीकों आदि) को उपेक्षित कर दिया। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक यथार्थ का असंतुलित चित्र सामने आया। मुकर्जी के अनुसार मानव जाति की एकता, पूर्णता और श्रेष्ठता की खोज ने सभ्यता की आध्यात्मिकता के महत्व को प्रदर्शित किया। इस संदर्भ में मुकर्जी ने भारतीय और चीनी सभ्यताओं की सराहना की, जो ईसा पूर्व छठी शताब्दी से स्थिर रूप में चली आ रही हैं। इन सभ्यताओं की शक्ति का आधार उनके सार्वभौमिक मिथक और नैतिक मूल्य हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक खोज को प्रोत्साहित किया है।

मुकर्जी ने इस बात को बड़े संतोष से अनुभव किया कि बीसवीं शताब्दी की संयुक्त राष्ट्र संघ की मानव अधिकारों की घोषणा में सार्वभौमिकता की खोज को स्थान दिया गया था। इन मानव अधिकारों से विभिन्न देशों में सभी लोगों के स्वाधीनता और सम्मान के अधिकारों को मान्यता मिली। मुकर्जी का आध्यात्मिकता के विषय पर अधिक ध्यान देने का अभिप्राय यथार्थ से दूर रहने का नहीं था। उन्होंने कहा कि मानव समाज की प्रगति तभी संभव है जब विभिन्न देशों के बीच संपत्ति और ताक़त की स्पष्ट दिखाई देने वाली असमानताओं को कम किया जा सकेगा। जब तक ग़रीबी है और राजनैतिक अत्याचार जारी हैं तब तक मानव जाति के और अधिक विकास की व्यावहारिक संभावना नहीं दिखाई देती। विश्व में उत्पीड़न के प्रति मानव की वर्तमान सजगता ने सार्वभौम मूल्यों और प्रतिमानों की खोज को प्रोत्साहित किया है।

### 5.3.3 महत्वपूर्ण रचनाएं

राधाकमल मुकर्जी की समाजशास्त्र पर कुछ महत्वपूर्ण रचनाएं नीचे दी गई हैं।

i) *द रीजनल बैलेंस ऑफ़ मैन* (1938)

ii) *इंडियन वर्किंग क्लास* (1940)

iii) *द सोशल स्ट्रक्चर ऑफ़ वैल्यूज़* (1955)

iv) *फिलोसॉफ़ी ऑफ़ सोशल साइंसेज़* (1960)

v) *फ्लावरिंग ऑफ़ इंडियन आर्ट* (1964)

**बोध प्रश्न 1**

i) निम्नलिखित वाक्यों में ख़ाली स्थानों को भरिए।

क) राधाकमल मुकर्जी सामाजिक ....., अंतर्शाखीय शोध और मूल्यों का सामाजिक ढांचा जैसे अध्ययन क्षेत्रों में अग्रणी थे।

ख) वे सामाजिक विज्ञानों के ..... के विरुद्ध थे।

ग) अपनी रचनाओं में उन्होंने ..... समाजशास्त्र और इतिहास को समाविष्ट किया।

ii) पारिस्थितिक क्षेत्र किसे कहते हैं? तीन पंक्तियों में व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

iii) राधाकमल मुकर्जी ने क्षेत्रीय समाजशास्त्र किसे कहा है? दस पंक्तियों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iv) "तथ्यों" और "मूल्यों" के बारे में राधाकमल मुकर्जी के मत की समीक्षा सात पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 5.4 धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी (1894–1962)

डी.पी. मुकर्जी (1894–1962) मार्क्सवादी थे। उन्होंने भारतीय इतिहास का संवादात्मक प्रक्रिया द्वारा विश्लेषण किया। परंपरा तथा आधुनिकता, उपनिवेशवाद तथा राष्ट्रवाद और व्यक्तिवाद तथा समूहवाद में परस्पर संवादात्मक प्रभाव होता है। उप-भाग 5.4.1 में हमने डी.पी. मुकर्जी का जीवन संबंधी विवरण दिया है। उनके जीवन के बारे में जानने के बाद आपको उनके मुख्य विचारों को समझने में मदद मिलेगी।

### 5.4.1 जीवन परिचय

धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी को लोग आमतौर पर डी.पी. के नाम से जानते थे। इनका जन्म सन् 1894 में बंगाल के एक मध्यम वर्गीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इसी अवधि में रवीन्द्र नाथ ठाकुर, बंकिमचंद्र और शरत्चंद्र चटर्जी का साहित्यिक क्षेत्र में सर्वाधिक प्रभाव था। वास्तव में बंगला साहित्य का यह पुनर्जागरण काल था।

डी.पी. मुकर्जी ने बंगाल के बंगवासी कॉलेज से स्नातक परीक्षा पास की। पहले वह इतिहास के छात्र थे जिसमें उस समय अर्थशास्त्र भी सम्मिलित था। इसके बाद इन्होंने अर्थशास्त्र में डिग्री ली।

ये बंगला के साहित्यकार थे और इन्होंने कुछ कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे लेकिन वे अधिक समय तक साहित्य लेखन के क्षेत्र में नहीं रहे। इन्होंने अपने आप को किसी एक विषय तक सीमित नहीं रखा। संभवत: इसीलिए वे समाजशास्त्री बन गए। सामाजिक विज्ञानों में समाजशास्त्र का क्षेत्र सबसे व्यापक है। समाजशास्त्री के रूप में इनकी ख्याति देश में ही नहीं अपितु विदेशों तक फैली।

सन् 1922 में वे लखनऊ विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के लेक्चरर के पद पर नियुक्त हुए। वे स्वयं को मार्क्सशास्त्री (Marxologist) मानते थे। मध्यमवर्गीय ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने के कारण उन्होंने स्वाभाविक रूप से मार्क्स के सिद्धांतों को भारतीय परंपरा के साथ जोड़ दिया। डी.पी. मुकर्जी के मत में यदि कार्ल मार्क्स के विचारों को भारतीय इतिहास और परंपरा के अनुरूप अपनाया जाये तो ये विचार भारतीय संदर्भ में उपयुक्त हो जाते हैं। इसीलिए उन्होंने सामाजिक प्रक्रियाओं तथा सामाजिक आंदोलनों के अध्ययन पर विशेष ज़ोर दिया।

उनका जन्म समालोचना के स्वर्णयुग में हुआ था और इस युग की झलक सही अर्थों में उनकी कृतियों में मिलती है। किसी भी विषय पर लिखते समय वे यथासंभव अधिक से अधिक क्षेत्रों के समालोचनात्मक मापदंडों का प्रयोग करते थे। उनके पास प्रत्येक समस्या को नए दृष्टिकोण से देखने की नज़र थी। वे कला समालोचक, संगीत समालोचक, नाटक समालोचक और जीवन के समालोचक थे। उनके अंदर हमें एंग्लो-बंगाली संस्कृति का मिश्रण दिखाई देता है जिसके कारण अंग्रेज़ी साहित्य में गद्य और कविता के क्षेत्र में उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया (उन्नीथान एवं अन्य 1065)।

डी.पी. मुकर्जी में सौंदर्यबोधी संवेदनशीलता थी। रहन-सहन के ढंग में उनकी काफ़ी रुचि थी। यहां तक कि वे फ़ैशन के अनुसार कपड़े भी सुरुचिपूर्ण ढंग से पहनते थे। वे दुबले-पतले थे और उन्हें मोटापा बिल्कुल पसंद नहीं था। उन्हें असंगत बातें भी पंसद नहीं थी, इसलिए लेखन में भी वे अप्रासंगिक और बेकार की बातें लिखने को बुरा समझते थे। उनकी लेखन शैली तीखी, संक्षिप्त और प्रभावशाली थी। वे परिष्कृत रुचि के व्यक्ति थे और बहुत कम अवसरों पर अपने मनोभावों को व्यक्त करते थे। उनका विचार था कि मनोभावों को प्रकट नहीं करना चाहिए बल्कि उन्हें बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा आत्मसात कर लेना चाहिए।

उन्हें शिक्षक बनना पसंद था और वे अपने विद्यार्थियों में बहुत लोकप्रिय थे। वे अपने विद्यार्थियों को बातचीत के लिए प्रोत्साहित करते थे और उनके साथ विचारों के आदान-प्रदान में रुचि लेते थे। इस प्रकार वे सहपाठी, सह-अन्वेषक थे जो हमेशा अपने ज्ञान में वृद्धि करना चाहते थे। उनका अपने विद्यार्थियों पर इतना गहरा प्रभाव था कि वे आज भी अपने विद्यार्थियों के हृदयपटल पर विराजमान हैं।

कांग्रेस सरकार जब उत्तर प्रदेश में सत्ता में आई तो कुछ समय के लिए वे सूचना निदेशक के पद पर रहे। उनके व्यक्तिगत प्रभाव से जनसंपर्क के क्षेत्र में बौद्धिक दृष्टिकोण की भावना पैदा हुई। वे आर्थिक और सांख्यिकी ब्यूरो के संस्थापकों में से एक थे। सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के आरंभ में युद्ध के मुद्दे पर कांग्रेस के ब्रिटिश सरकार से अलग हो जाने पर वे पुन: लखनऊ विश्वविद्यालय में लौट आए। सन् 1947 में उन्हें उत्तर प्रदेश श्रमिक जाँच समिति का सदस्य नियुक्त किया गया। 1951 में वे प्रोफ़ेसर बने। वस्तुत: उनकी योग्यताओं को बहुत विलंब से मान्यता मिली, लेकिन उन्होंने इस बात पर कभी असंतोष नहीं किया।

लखनऊ से सेवानिवृत्त होने से एक वर्ष पूर्व सन् 1953 में उन्हें अलीगढ़ में अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष के पद के लिए आमंत्रित किया गया। वे अलीगढ़ में पाँच वर्ष तक रहे। वे समाजशास्त्र के विज़िटिंग प्रोफ़ेसर बन कर अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक अध्ययन संस्थान (International Institute

of Social Studies), हेग गए। वे भारतीय समाजशास्त्रीय संगठन (Indian Sociological Association) के संस्थापक सदस्य थे और प्रबंध समिति और संपादक मंडल के सदस्यों में से एक थे। उन्होंने भारतीय समाजशास्त्रीय संगठन इंटरनेशनल सोशियोलॉजिकल एसोसिएशन में प्रतिनिधित्व किया, बाद में वे उसके उपाध्यक्ष बने।

उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में कई ग्रंथ और लेख लिखे। भारत की स्वाधीनता के बाद उन्होंने राजनैतिक गतिविधियों को बड़ी दिलचस्पी के साथ देखा, लेकिन उन्हें किसी भी अर्थ में राजनीतिज्ञ नहीं कहा जा सकता। उनके ऊपर रफ़ी अहमद किदवई और जवाहरलाल नेहरू जैसे दो राष्ट्रीय नेताओं का प्रभाव पड़ा। उनका नेहरू से पत्र-व्यवहार भी होता था। एक बुद्धिजीवी के रूप में उनके विचार सब प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त थे। उन्होंने अपने विषय को और परिष्कृत किया। वे बहुत से लोगों से प्रभावित हुए, लेकिन अंत तक वे स्वयं अध्येता विद्वान रहे जिन्होंने बहुत से अन्य लोगों को प्रभावित किया। सन् 1962 में गले के कैंसर से उनकी मृत्यु हुई। परन्तु जैसा कि पूर्व उल्लेख किया जा चुका है कि वे आज भी अपने विद्यार्थियों के माध्यम से जीवित हैं (उन्निथान व अन्य 1965)।

## 5.4.2 मुख्य विचार

डी.पी. मुकर्जी के विचार में मार्क्सवाद ने ऐतिहासिक विकास की स्थितियों को भलीभांति समझने में हमारी मदद की लेकिन मार्क्सवाद मानवीय समस्याओं का कोई संतोषजनक समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका। उनके अनुसार, इसका समाधान तो भारत की राष्ट्रीय संस्कृति के पुनरुद्धार और पुनर्प्रतिपादन के द्वारा ही मिल सकता था। मुकर्जी ने अपने समय में प्रचलित सामाजिक विज्ञानों के प्रत्यक्षवाद का विरोध किया क्योंकि इसमें व्यक्तियों को जैविक या मनोवैज्ञानिक इकाइयों के रूप में देखा जाता था। उनके अनुसार पश्चिम की औद्योगिक संस्कृति ने व्यक्तियों को स्वार्थ परायण बना दिया था इसलिए पश्चिम समाज नृजाति केंद्रित बन गया। वैयक्तिकता (individuation) पर अधिक ध्यान देकर अर्थात् व्यक्ति की भूमिकाओं और अधिकारों को स्वीकार करके प्रत्यक्षवाद ने मानवता के सामाजिक आधार को उखाड़ दिया है।

### 5.4.2.1 भारतीय समाज में परंपरा की भूमिका

मुकर्जी का विचार था कि परंपरा संस्कृति का मुख्य आधार है। व्यक्तियों को परंपरा से पोषण मिलता है। इससे उनका उद्देश्य या दिशा बोध लुप्त नहीं होता। प्राय: परंपरा भार स्वरूप भी बन जाती है जैसा कि भारत के संदर्भ में हुआ। लोग इसको आदर्श मान कर इसकी पूजा करने लग गए। परंपरा के प्रति लोगों में आलोचनात्मक दृष्टि का अभाव होने के कारण सांस्कृतिक ठहराव आना स्वाभाविक था। इसलिए वैयक्तिकता (individuation) को भी प्रोत्साहित करना चाहिए। व्यक्ति संस्कृति में नई शक्ति का संचार कर इसका पुनर्निर्माण कर सकते हैं। समाज में व्यक्ति को न तो पूर्णरूप से स्वतंत्र होना है और न ही पराधीन, क्योंकि स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास के लिए वैयक्तिकता (individuation) और समाजन (sociation) के बीच संतुलन होना आवश्यक होता है। समाजन व्यक्ति को समाज के साथ जोड़ने वाली कड़ी है। व्यक्ति की स्वतंत्रता का मतलब अव्यवस्था नहीं है बल्कि परंपरा की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है।

### 5.4.2.2 व्यक्तित्व का समन्वित विकास

मुकर्जी ने भारत के लिए व्यक्तित्व के प्रत्यक्षवादी (positivistic) स्वरूप की सिफ़ारिश नहीं की। पश्चिम ने व्यक्तित्व के प्रत्यक्षवादी स्वरूप को आदर्श का स्वरूप प्रदान किया। मनुष्य ने जनसाधारण के जीवन की स्थितियों के सुधार के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी का उपयोग किया। मानव द्वारा प्रकृति पर नियंत्रण की क्षमता तथा उसका अपने लाभ के लिए उपयोग करना ये दोनों ही आधुनिक युग की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ हैं। लेकिन पाश्चात्य पद्धति से मनुष्य का

समन्वित विकास संभव नहीं हुआ। व्यक्तित्व के समन्वित विकास के लिए प्रौद्योगिक विकास और मनुष्य की स्वतंत्रता की बीच संतुलन की आवश्यकता है। सोवियत रूस जैसे समाजवादी समाज को भी संतुलित व्यक्तित्व विकसित करने में सफलता नहीं मिली। वहां व्यक्ति पर राज्य का या राजनीतिक दल का दबदबा था।

डी.पी. मुकर्जी के संवादवाद का आधार मानवतावाद था जो संकुचित नृजातीय या राष्ट्रीय विचारों की सीमाओं से परे था। मुकर्जी ने कहा कि पश्चिम में व्यक्ति का रवैया या तो बहुत आक्रामक होता है या एकदम निष्क्रिय। उनके अनुसार पाश्चात्य जगत की प्रगति में मानवतावाद का अभाव है। पुनर्जागरण और औद्योगिक क्रांति ने व्यक्तियों को प्रभावहीन मध्यकालीन परंपरा की क़ैद से तो आज़ाद कर दिया लेकिन साथ ही प्रगति के मानवतावादी अंश को भी कम कर दिया। भारत का आधुनिक राष्ट्रवाद अनिवार्य रूप से पश्चिम के प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण में पनपा। मुकर्जी के अनुसार, भारत के लिए यह उपयुक्त मॉडल नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त भारत के मध्यम वर्ग का उद्भव भारत पर पाश्चात्य प्रभाव के परिणामस्वरूप हुआ। ये मध्यम वर्ग के लोग अपनी ही मूल स्थानीय परंपरा से उखड़ गए थे। उनका जनसाधारण से संपर्क टूट गया था। भारत एक आधुनिक राष्ट्र बन सकता था यदि मध्यम वर्ग जनसाधारण के साथ फिर से संपर्क बना लेता। ऐसा होने पर ही वास्तविक विकास संभव था। मुकर्जी के विचारों में वृद्धि (growth) केवल परिमाणात्मक (quantitative) उपलब्धि है जबकि विकास का अभिप्राय गुणात्मक (qualitative) वृद्धि से है जो मूल्यों पर आधारित प्रगति का सूचक है।

### 5.4.2.3 भारतीय संस्कृति की विविधता में एकता

डी.पी. मुकर्जी की रुचि हिंदू-मुस्लिम संबंधों का वर्णन करने में थी। सत्य की खोज के इस प्रयास में उन्हें भारतीय सांस्कृतिक विविधता में मानवतावादी और आध्यात्मिक एकता के दर्शन हुए। इस संदर्भ में उन्होंने हिंदू-मुस्लिम अंत:क्रिया के व्यापक ढांचे में कई क्षेत्रों की जांच की। इनमें अंत:क्रिया के तीन ऐसे क्षेत्र थे जिनकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। राजनैतिक दृष्टि से उत्तर भारत में ग्यारहवीं ईसवी से सत्रहवीं ईसवी तक मुस्लिम बादशाहों ने हिंदू प्रजा पर शासन किया। इस दौरान प्राय: हिंदू राजाओं और मुस्लिम शासकों के बीच संधियां हुई। इस प्रकार मुस्लिम शासकों और हिंदू प्रजा में साझेदारी और भाईचारे की भावना पैदा हुई। यह बात मुग़लों के शासन में और अधिक स्पष्ट हुई। जहां तक आर्थिक संबंधों का प्रश्न है, इस्लामी शासन काल में जागीरदार (सैनिक सरदार) मुसलमान थे और अधिकांश ज़मींदार हिंदू थे। इन दोनों वर्गों के हितों के बहुत-से मुद्दे समान थे। इस प्रकार दोनों वर्गों के बीच एक प्रकार का समझौता था। सांस्कृतिक दृष्टि से साहित्य, संगीत, वेशभूषा, ललित कलाओं के विकास आदि में दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव था। उत्तर भारत में सूफ़ी संत और भक्ति संप्रदाय ने आपसी अंत:क्रियाओं को प्रोत्साहित किया। परंतु विश्व की धारणा के संबंध में दोनों वर्गों का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न था। मुकर्जी ने देखा कि हिंदुओं का चक्र परंपरा में विश्वास है जैसे सुख और दु:ख एक दूसरे के बाद आते-जाते रहते हैं। हिंदू भाग्यवादी विचारधारा के समर्थक हैं। हिंदुओं की विश्व दृष्टि के पीछे विशिष्ट क्षेत्र यानी उपमहाद्वीप का प्रभाव रहा। इसके विपरीत इस्लाम बहुजातीय, बहुराष्ट्रीय धर्म की तरह पनपा। हिंदुओं की राष्ट्रीयता की भावना में आदर्शवाद उभरा जबकि इस्लाम की धारणा में व्यावहारिक तत्त्व आगे आए। हिंदुओं की दृष्टि से स्वाधीनता जन्म सिद्ध अधिकार है जबकि मुसलमानों के लिए यह एक अवसर है। इस्लाम को मानने वाले चक्र परंपरा में विश्वास नहीं करते। वे भाग्यवाद को भी नहीं मानते। इसलिए इस्लाम मानने वालों का विश्वास राजनैतिक संकट या अवसर का पूरा फ़ायदा उठाने के लिए सीधी कार्यवाही करने में रहा।

### 5.4.2.4 डी.पी. मुकर्जी एक अर्थशास्त्री के रूप में

डी.पी. मुकर्जी प्रशिक्षण द्वारा अर्थशास्त्री थे। अर्थशास्त्र के प्रति उनका दृष्टिकोण दूसरे अर्थशास्त्रियों से भिन्न था। उन्होंने भारत में आर्थिक विकास को ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विशिष्टताओं के संदर्भ में देखा। भारत में आर्थिक शक्तियाँ सामाजिक मूल्यों से प्रभावित रही हैं। पुराने समय में राजा और राज दरबार के सदस्यों को ज़मीन पर स्वामित्व का अधिकार नहीं था। राजा की शक्तियाँ केवल राजकोषीय दायित्वों तक सीमित थीं, यानी भूमि की जुताई करने वाले कृषकों को राज-संरक्षण के बदले अपनी उपज का एक भाग राजा के खज़ाने में कर या राजस्व के रूप में देना पड़ता था। ज़मीन का स्वामित्व ग्राम परिषद के पास था। बौद्ध धर्म के स्वर्ण युग में प्राय: संघ (मठ-संगठन) विस्तृत भू-भाग की प्रबंध व्यवस्था करते थे। ये भू-भाग राजा द्वारा संघों को दिए जाते थे। यद्यपि व्यक्तिगत रूप में कोई भिक्षु सम्पत्ति का मालिक नहीं हो सकता था, संघ सम्पत्ति के स्वामी होते थे। संघ खेती की उपज का छठा भाग कर के रूप में वसूल करते थे, जिसका उपयोग ज्ञान प्राप्ति के लिए तथा नैतिक और आध्यात्मिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता था।

जैसे भारत में गांवों की भूमि पर स्वजन समूहों और विशिष्ट जाति समूहों का नियंत्रण होता था उसी तरह आधुनिक काल से पूर्व के समय में व्यापार और वाणिज्य का प्रबंध भी नातेदारी और जाति समूहों द्वारा किया जाता था। ये नातेदारी और जाति समूह आंतरिक रूप से स्वायत्त होते थे। जातियों पर आधारित श्रेणियां (guilds) क्षेत्रीय व्यापार करती थीं। वाणिज्यिक महाजनी पर भी जातियों का नियंत्रण था। पश्चिमी तट पर पैसा उधार देने वाले कुछ महत्वपूर्ण हिंदू परिवार थे। मुग़लकाल में इन परिवारों का व्यापक प्रभाव था। मुकर्जी के विचार में ये व्यापारी केवल परजीवी नहीं थे, इसके विपरीत, मुकर्जी उन्हें ऐसे महाजन मानते हैं जिन्होंने शहरी केंद्रों और देहाती क्षेत्रों के बीच व्यापार व्यवस्था स्थापित कर रखी थी। लेकिन औपनिवेशिक शासन के दौरान ये परिवार अपने पूर्ववर्ती सांस्कृतिक बंधनों को तोड़कर प्राय: लोगों का शोषण करने लगे। ये भारतीय व्यापारी प्राय: विदेशों में अपने माल का प्रदर्शन करते थे। इस प्रकार उन्होंने भारत का बाहरी दुनिया से संपर्क स्थापित किया। यह संपर्क केवल व्यापार द्वारा ही नहीं अपितु संस्कृति के प्रसार द्वारा भी हुआ।

ब्रिटिश शासन के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था में व्यापक परिवर्तन हुए। ब्रिटिश शासकों द्वारा शुरू की गई शहरी-औद्योगिक अर्थव्यवस्था ने न केवल पुरानी संस्थाओं के जाल को समाप्त किया बल्कि परंपरागत विशिष्ट जातियों को भी उनके व्यवसायिक धंधों से अलग कर दिया। अब नए सामाजिक अनुकूलन की आवश्यकता थी। इस नई व्यवस्था में भारत के शहरी केंद्रों का शिक्षित मध्यम वर्ग समाज का केंद्र बिंदु बन गया। लेकिन इस मध्यम वर्ग पर पाश्चात्य जीवनपद्धति और विचारधारा का प्रभाव था। मुकर्जी के अनुसार यदि ये मध्यम वर्ग के लोग जनसाधारण के संपर्क में आकर राष्ट्र के निर्माण में उनके साथ सक्रिय साझेदारी स्थापित कर लेते तो भारत का भविष्य सुरक्षित रहता।

## 5.4.3 महत्वपूर्ण रचनाएं

धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी की समाजशास्त्र पर कुछ महत्वपूर्ण रचनाएं निम्नलिखित हैं।

i) *बेसिक कॉन्सेप्ट्स इन सोशियोलॉजी* (1932)

ii) *पर्सनैलिटी एंड द सोशल साइन्सेज़* (1924)

iii) *मॉडर्न इंडियन कल्चर* (1942)

iv) *प्रॉब्लम्स ऑफ़ इंडियन यूथस्* (1946)

v) *डाइवर्सिटीज़* (1958)

इन पुस्तकों में से *"मॉडर्न इंडियन कल्चर"* (1942) और *"डाइवर्सिटीज़"*, ये दोनों उनकी सबसे प्रसिद्ध रचनाएं हैं। इनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय इनकी अन्य रचनाओं से भी मिलता है जैसे

i) *टैगोर: ए स्टडी* (1943)

ii) *ऑन इंडियन हिस्ट्री* (1945)

iii) *इन्ट्रोडक्शन टु इंडियन म्यूज़िक* (1945)

**बोध प्रश्न 2**

i) डी.पी. मुकर्जी के समाजशास्त्र का वर्णन लगभग दस पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) समाजशास्त्र पर डी.पी. मुकर्जी की दो प्रमुख रचनाओं के नाम दीजिए।

.....

.....

iii) निम्नलिखित वाक्यों में खाली स्थान भरिए।

क) डी.पी. मुकर्जी के अनुसार अपनी सांस्कृतिक विरासत से ..... भारतीय को संतुलित व्यक्ति नहीं कहा जा सकता।

ख) डी.पी. मुकर्जी ..... थे जिन्होंने भारतीय समाज के बारे में परंपरा और आधुनिकता के बीच संवादात्मक संबंध के संदर्भ में लिखा।

ग) डी.पी. मुकर्जी की सत्य खोज उन्हें भारतीय संस्कृति की विविधता में एकता के मानवतावादी और ..... सिद्धांत की ओर ले गई।

## 5.5 गोविंद सदाशिव घुर्ये (1893–1984)

आपको यह मालूम ही है कि जी.एस. घुर्ये मुंबई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में अध्यापन करते थे। वे नृजाति शास्त्री थे। उन्होंने ऐतिहासिक, भारतशास्त्र संबंधी और सांख्यिकीय सामग्री के आधार पर जनजातियों और जातियों का अध्ययन किया। आइए, अब हम उनके जीवन की जानकारी प्राप्त करें। इसके बाद हमने उनके मुख्य विचारों और समाजशास्त्र पर उनकी महत्वपूर्ण रचनाओं की जानकारी लें।

### 5.5.1 जीवन परिचय

इस उपभाग में हमने जी.एस.घुर्ये की पुस्तक, *आई एण्ड अदर एक्सप्लोरेशन्स*, 1973, के आधार

पर उनके जीवन परिचय का विवरण दिया है। गोविंद सदाशिव घुर्ये का जन्म 12 दिसंबर 1893 में भारत के पश्चिमी तट पर स्थित मालवन नामक एक छोटे से कस्बे में हुआ था। मालवन मुंबई से लगभग 320 कि.मी. दूर है। वे समृद्ध ब्राह्मण परिवार के थे जिसकी अपनी दुकानें और अन्य संपत्ति थीं। घुर्ये का नाम इनके दादा के नाम पर रखा गया था जिनकी मृत्यु उसी साल हुई थी, जिस वर्ष इनका जन्म हुआ था। इनका परिवार बहुत अधिक धर्म परायण था तथा धर्मनिष्ठा के लिए उस क्षेत्र में प्रसिद्ध था।

व्यापार में घाटा होने और उनके दादा की मृत्यु के कारण जी.एस. घुर्ये के पिता को नौकरी करनी पड़ी। उनकी नौकरी परिवार के लिए बहुत भाग्यशाली सिद्ध हुई। घुर्ये अपने माता-पिता की चार संतानों में से एक थे। उनके एक बड़े भाई थे जिनकी वे बहुत प्रशंसा करते थे। इसके अलावा उनकी एक बहन और एक भाई भी थे।

उन्होंने मालवन के एक स्कूल में प्रवेश लिया। सन् 1905 में उनका "यज्ञोपवीत" संस्कार (sacred thread ceremony) हुआ। इस समय उन्होंने पांचवी कक्षा की पढ़ाई पूरी कर ली थी और अंग्रेज़ी स्कूल में प्रवेश लिया। इनकी मातृभाषा मराठी थी और इनकी आरंभिक शिक्षा भी मराठी में हुई थी। परन्तु परिवार में संस्कृत शिक्षा की परंपरा थी। उनके दादा को संस्कृत का ज्ञान था। इन्होंने भी संस्कृत भाषा पढ़ना शुरू किया। परिवार के धार्मिक वातावरण, धर्मनिष्ठा और ज्ञान की प्रसिद्धि का घुर्ये पर गहरा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने अंग्रेज़ी पढ़ी और आधुनिक शिक्षा ग्रहण की लेकिन हिंदू धर्म और परंपरा में उनकी गहरी जड़ें थीं। इनकी माता ने उन्हें दसवीं कक्षा की परीक्षा की पढ़ाई के लिए जूनागढ़, गुजरात में भेजा। यहाँ उनके बड़े भाई पहले ही अध्ययन कर रहे थे। सन् 1912 में वे बहाउद्दीन कालेज में प्रविष्ट हुए। यहाँ उन्हें संस्कृत का अच्छा ज्ञान हो गया।

इसके बाद वे मुंबई विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। यहाँ उस समय प्रवेश के लिए प्रवेश परीक्षा होती थी। उन्होंने बीस अन्य लड़कों के साथ यह परीक्षा उत्तीर्ण की। उस समय वहाँ कोई भी महिला विद्यार्थी नहीं थी लेकिन बाद में एक ईसाई छात्रा उनकी कक्षा में आ गई। अपने कालेज में वे प्रथम रहे। विश्वविद्यालय में उनका चौथा स्थान था। जब उन्होंने विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया उस समय उनके भाई वहां भौतिकी पढ़ाते थे। वे बहुत मेहनती छात्र थे। बीच-बीच में बीमार रहने के बावजूद भी उनका प्रदर्शन बहुत अच्छा रहा।

सन् 1916 में वे बी.ए. की परीक्षा में प्रथम आए। इसके बाद उनका विवाह वेनगुर्ला (महाराष्ट्र) में अपनी ही जाति के संपन्न परिवार की एक लड़की से हो गया। महाराष्ट्र की परंपरा के अनुसार विवाह के बाद माता-पिता ने उनकी पत्नी का नाम रुक्मिणी रख दिया जिसे बाद में घुर्ये ने बदल दिया। 1923 में जब घुर्ये ने अपनी गृहस्थी शुरू की तो वे फिर से अपनी पत्नी को पुराने नाम साजुबाई से बुलाने लगे। वे शादी के बाद लड़की के पहले नाम को बदलने की परंपरा के विरुद्ध थे। वे शरीर को गुदवाने की परंपरा के भी विरुद्ध थे, क्योंकि वे इसे क्रूरतापूर्ण क्रिया मानते थे।

बी.ए. की परीक्षा में अच्छे परिणाम के लिए उन्हें भाऊ दाजी पुरस्कार मिला। भाऊ दाजी लाड भारतशास्त्र के महान विद्वान थे और वे मुंबई के आधुनिक पद्धति से प्रशिक्षित प्रथम चिकित्सक थे। घुर्ये ने अपने कालेज में संस्कृत में 74 प्रतिशत अंक प्राप्त किए थे।

उन्हें कालेज में फैलो (Fellow) नियुक्त किया गया और उन्होंने वहां से एम.ए. की डिग्री प्राप्त की। एम.ए. के लिए उन्होंने अंग्रेज़ी और संस्कृत भाषाओं को चुना और बाद में पाली भाषा भी पढ़ी। उन्होंने तुलनात्मक भाषाशास्त्र (comparative philology) का कोर्स भी किया जो उसी साल विश्वविद्यालय में शुरू हुआ था। उन्होंने एम.ए. की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। इसके लिए उन्हें कुलपति का स्वर्णपदक मिला जो पूरे विश्वविद्यालय का सर्वोच्च सम्मान है।

विश्वविद्यालय के इतिहास में यह उनकी अभूतपूर्व सफलता थी क्योंकि इससे पहले किसी को भी संस्कृत के साथ एम.ए. में प्रथम श्रेणी प्राप्त नहीं हुई थी।

इसके बाद उन्होंने विदेश में समाजशास्त्र में अध्ययन करने के लिए छात्रवृति का आवेदन किया। वह विज्ञापन मुंबई विश्वविद्यालय ने निकाला था। इसके लिए उन्हें विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र के प्रोफेसर पैट्रिक गेडिस से मिलने के लिए कहा गया। गेडिस के कहने से उन्होंने "मुंबई एक शहरी केंद्र" विषय पर निबंध लिखा जिसकी गेडिस ने अत्यधिक प्रंशसा की। इसके परिणामस्वरूप घुर्ये को विदेश में अध्ययन के लिए छात्रवृति मिल गई।

घुर्ये समुद्री जहाज़ से इंग्लैड गए। वे वहां एल.टी. हॉब्हाऊस के विद्यार्थी बन गये। वहां वे कई अन्य विद्वानों के साथ-साथ डॉ. ए. सी. हैडन से भी मिले। हैडन प्रसिद्ध नृजाति विज्ञानी थे और वहाँ पूर्व साक्षर संस्कृतियों (preliterate cultures) का अध्ययन कर रहे थे। हैडन ने घुर्ये का डब्लयू. एच. आर. रिवर्स से परिचय कराया। घुर्ये पर इनका काफ़ी प्रभाव पड़ा। इस समय रिवर्स अपनी प्रतिष्ठा के सर्वोच्च शिखर पर थे और वे कैम्ब्रिज स्कूल ऑफ़ साईकॉलॉजी के संस्थापक थे। रिवर्स बाद में भारत भी आए और यहां उन्होंने नीलगिरि पर्वतीय क्षेत्र की बहुपति विवाह वाली टोडा जनजाति का अध्ययन किया। घुर्ये ने इस समय समाजशास्त्र पर कई लेख लिखे और उन्हें *जरनल ऑफ़ द रॉयल एंथ्रोपोलॉजिकल इन्स्टीट्यूट* में और *एन्थ्रोपॉस* पत्रिका में प्रकाशित करवाया। 1930 के दशक में उन्होंने भारत में जाति और प्रजाति विषय पर, *कास्ट एंड रेस इन इंडिया,* नाम की महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी। उन्हें कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से पी. एच. डी. डिग्री दी गई। रिवर्स की मृत्यु के बाद वे वापस भारत आ गए।

उन्होंने मुंबई विश्वविद्यालय से मिली छात्रवृत्ति पर छह मास तक कलकत्ता में काम किया। इसके पश्चात् 1924 में उन्हें और कलकत्ता विश्वविद्यालय के के.पी. चट्टोपाध्याय को मुंबई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के रीडर पद पर नियुक्त कर दिया गया। घुर्ये को यह नियुक्ति इसलिए दी गई कि उन्हें डब्ल्यू. एच.आर. रिवर्स ने अत्यधिक सम्मान और मान्यता दी थी। उसी साल इन्होंने मुंबई एशियाटिक सोसाइटी की सदस्यता स्वीकार कर ली। उनके मार्गदर्शन में कई विद्यार्थियों ने शोधकार्य किए। उनके कई विद्यार्थी आज प्रसिद्ध समाजशास्त्री हैं, जिन्होंने समाजशास्त्र और सामाजिक नृशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

मुंबई विश्वविद्यालय में रीडर पद पर नियुक्त होने के दस साल बाद सन् 1934 में उन्हें प्रोफ़ेसर और समाजशास्त्र विभाग का अध्यक्ष बना दिया गया। 1934 में उन्हें इंडियन साइंस कांग्रेस के नृशास्त्र भाग का अध्यक्ष चुना गया। उसी साल रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की मुंबई शाखा की प्रबंध समिति ने इन्हें रॉयल एशियाटिक सोसाइटी का मनोनीत सदस्य चुना। सन् 1942 में ये मुंबई की ऐंथ्रोपोलॉजिकल सोसाइटी के अध्यक्ष बन गए और सन् 1948 तक ये इस पद पर बने रहे। उन्होंने कई पुस्तकें और लेख लिखे। संस्कृत का अच्छा ज्ञान होने के कारण वे भारतीय समाज के संदर्भ में धार्मिक शास्त्र ग्रंथों का अध्ययन कर सके। उन्होंने जातियों और जनजातियों, ग्रामीण-शहरीकरण, भारतीय साधुओं और भारतीय वेशभूषा के बारे में व्यापक अध्ययन किया। अपने जीवन में उन्होंने कई सर्वोच्च सम्मान प्राप्त किए जो शायद ही भारत के किसी भी बुद्धिजीवी को प्राप्त हुए हों। वे केवल राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं अपितु अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी भारत के प्रसिद्ध समाजशास्त्री माने जाते थे। इनकी मृत्यु 1984 में हुई।

## 5.5.2 मुख्य विचार

गोविंद सदाशिव घुर्ये ने मुख्य रूप से भारत में समाजशास्त्र के निम्नलिखित क्षेत्रों में योगदान दिया। ये क्षेत्र हैं, जातियों और जनजातियों का नृजातीय शास्त्र की दृष्टि से वर्णन, ग्रामीण शहरीकरण, धार्मिक घटनाएं, सामाजिक तनाव और भारतीय कला।

### 5.5.2.1 भारत में जाति और नातेदारी व्यवस्था

1930 के दशक के आरंभ में उन्होंने भारत में जाति और प्रजाति पर, *कास्ट एंड रेस इन इंडिया,* नामक पुस्तक प्रकाशित की। भारतीय जातियों के संबंध में जानकारी के लिए यह पुस्तक आज भी महत्वपूर्ण है। अपनी इस पुस्तक में उन्होंने जातिप्रथा की ऐतिहासिक, तुलनात्मक और एकीकृत परिप्रेक्ष्य में जाँच की है। बाद में उन्होंने भारत-यूरोपीय संस्कृतियों में नातेदारी व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन किया। अपने नातेदारी और जाति के अध्ययनों में घुर्ये ने दो मुद्दों पर विशेष बल दिया (क) भारत की नातेदारी और जाति व्यवस्था की तरह कुछ अन्य देशों में भी ऐसी ही व्यवस्था हैं और (ख) भारत में नातेदारी और जाति व्यवस्था एकीकृत ढांचे का काम करती है। भारतीय समाज का विकास इन व्यवस्थाओं के माध्यम से विभिन्न जातीय और नृजातीय समूहों के एकीकरण पर आधारित है।

गोत्र और चरण भारतीय यूरोपीय भाषाओं की स्वजन श्रेणियां (kin-categories) थीं जिन पर लोगों के पद और प्रस्थिति की व्यवस्था आधारित की गई। ये श्रेणियां अतीत काल के ऋषियों ने दी हुई थीं। ये ऋषि ही गोत्र और चरण के वास्तविक या **आधारनामी** संस्थापक थे। भारत में वंशक्रम का उद्भव ज़रूरी नहीं है कि रक्त संबंध से ही खोजा जाए। बहुत सी वंश परंपराएं प्राय: अतीत के ऋषियों के आध्यात्मिक उद्भव पर आधारित थीं। नातेदारी व्यवस्था से परे गुरु-शिष्य संबंध भी दिखाई देते हैं, ये भी आध्यात्मिक वंशक्रम पर आधारित थे। शिष्य को अपने वंश का उद्भव अपने गुरु में खोज कर विशेष गर्व का अनुभव होता है। इसी प्रकार जाति और उपजाति लोगों को व्यवस्थाबद्ध रूप में एकीकृत करती थीं जो उनके वंश की शुद्धता और अशुद्धता (छुआछूत) पर आधारित थी। अंतर्विवाह और सहभोजिता के जो नियम जातियों को एक दूसरे से अलग करते थे, वे वास्तव में जातियों के एकीकरण के साधन रूप थे तथा विभिन्न जातियों को सामूहिकता या समष्टि में संगठित करते थे। इस एकीकरण के लिए हिंदू धर्म में संकल्पनात्मक और अनुष्ठान संबंधी निर्देशक सिद्धांत दिए गए। भारत में ब्राह्मणों ने धर्मशास्त्र की व्याख्या द्वारा, जाति विन्यास और क्रमों के वैधीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की (धर्मशास्त्र धर्म संहिताओं के संक्षिप्त रूप हैं)।

### 5.5.2.2 भारत में जाति की नई भूमिकाएं

जाति के संबंध में घुर्ये की पुस्तक में कुछ दिलचस्प पूर्व अनुमान थे जो बाद में सही साबित हुए। एक तो उन्होंने यह देखा कि भारतीय जातियों ने स्वैच्छिक संगठनों को शिक्षा और सुधारवादी उद्देश्यों को बढ़ावा देने के लिए प्रोत्साहित किया। इसी संदर्भ में दक्षिण भारत में नादार, रेड्डी और कम्मा जातियों ने, महाराष्ट्र के सारस्वत ब्राह्मणों ने और उत्तर भारत के वैश्यों और कायस्थों ने (यहां कुछ ही नाम दिए हैं) अपनी जाति सभाओं की स्थापना की। घुर्ये का अनुमान था कि भविष्य में ये सभाएं अपनी जाति संबंध के आधार पर लोगों में राजनैतिक जागरूकता भी पैदा करेंगे। आज़ादी के बाद भारत में जाति सभाएं अपनी जाति के लोगों को राजनैतिक रियायतें या सुविधाएं दिलवाने के लिए काफ़ी प्रयत्नशील रहीं। कुछ वर्षों के बाद, राजनैतिक विश्लेषक, रजनी कोठारी ने जाति पर आधारित सभाओं का व्यापक रूप से विश्लेषण किया है। घुर्ये के विपरीत, कोठारी ने इन जाति-आधारित सभाओं की सामाजिक कल्याण की गतिविधियों जैसी सकारात्मक भूमिकाओं को मान्यता दी है। घुर्ये के अनुसार जाति सभाओं ने लोकतांत्रिक ढांचे में लोगों की राजनैतिक आकांक्षाओं को प्रतिनिधित्व देने का प्रयास किया है। घुर्ये ने पिछड़े वर्गों द्वारा पहले से अधिक विशेषाधिकार प्राप्त करने के लिए किए जाने वाले विभिन्न आंदोलनों की ओर भी संकेत किया है। ऐसा प्रतीत होता था कि ये संघर्ष भारतीय समाज की एकता को कम महत्व दे रहे हैं। इस प्रकार जाति व्यवस्था इस अर्थ में "बहुवादी" (pluralist) बनती जा रही थी। इसका मतलब है कि प्रत्येक जाति अपनी जाति के लिए दूसरों की अपेक्षा राष्ट्रीय संपति का

ज़्यादा से ज़्यादा भाग हथियाना चाह रही थी। इस प्रकार विशेषाधिकारों को पाने के लिए इन जातियों की होड़ ने समाज की एकता को हानि पहुँचाई थी।

### 5.5.2.3 भारत में जनजातियों का अध्ययन

घुर्ये ने अपने अध्ययन में जनजातियों पर व्यापक शोधकार्य किया है इसके साथ-साथ उन्होंने जनजातियों के विशिष्टि मुद्दों पर भी अध्ययन किया है। उन्होंने अनुसूचित जनजातियों पर अपनी एक पुस्तक में भारत की जनजातियों के ऐतिहासिक, प्रशासनिक और सामाजिक आयामों का वर्णन किया। उन्होंने महाराष्ट्र की विशिष्ट जनजातियों जैसे कोली के संबंध में भी लिखा। घुर्ये के विचार में भारतीय जनजातियों की स्थिति पिछड़े वर्ग के हिंदुओं जैसी थी। उनके पिछड़ेपन का कारण था, उनका हिंदू समाज में पूरी तरह से एकीकृत न होना। दक्षिण-मध्य भारत में रहने वाले संथाल, भील और गोंड आदि जनजातियों के कुछ भाग हिंदू समाज में पूरी तरह से एकीकृत हो गए हैं लेकिन इनका बहुत बड़ा भाग कभी भी पूर्ण रूप से एकीकृत नहीं हुआ। इन परिस्थितियों से इनके बारे में केवल यह ही कहा सकता है कि ये लोग हिंदू समाज में पूर्ण रूप से एकीकृत वर्ग नहीं है (घुर्ये 1963)।

जनजातीय जीवन में हिंदू धर्म के मूल्यों और प्रतिमानों को सम्मिलित करना एक सही क़दम था। हिंदुओं के सामाजिक वर्गों के साथ बढ़ते हुए संपर्क के कारण जनजातियों ने धीरे-धीरे हिंदुओं के कुछ मूल्यों और जीवन पद्धति को आत्मसात कर लिया और उन्हें हिंदू जाति व्यवस्था का ही अंग समझा जाने लगा। फलस्वरूप जनजाति के लोगों ने शराब पीना छोड़ दिया, शिक्षा प्राप्त करना आरंभ कर दिया और हिंदू-कृषकों के प्रभाव से कृषि के तरीक़ों में भी सुधार किया। इस विषय में रामकृष्ण मिशन और आर्य समाज जैसे हिंदू स्वैच्छिक संगठनों ने रचनात्मक भूमिका अदा की। उत्तर-पूर्वी जनजातियों पर लिखी अपनी बाद की रचनाओं में घुर्ये ने अलगाववादी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया। उनके विचार में यदि इन प्रवृत्तियों को न रोका गया तो देश की राजनैतिक एकता को ख़तरा हो सकता है।

### 5.5.2.4 भारत में ग्रामीण-शहरीकरण

घुर्ये की ग्रामीण-शहरीकरण की प्रक्रिया में दिलचस्पी थी। उनका यह मत था कि भारत में शहरीकरण औद्योगिक विकास का परिणाम नहीं है। भारत में बीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक शहरीकरण की प्रक्रिया ग्रामीण क्षेत्रों से ही आरंभ हुई थी। उन्होंने इसकी पुष्टि में कुछ संस्कृत ग्रंथों और दस्तावेजों के उदाहरण देकर बताया कि सुदूर गांवों में बाज़ार की आवश्यकता के कारण शहरी क्षेत्रों का विकास हुआ। दूसरे शब्दों में, कृषि-व्यवस्था के विस्तार के कारण आवश्यकता से अधिक अनाज की पैदावार होने लगी। इसके विनिमय के लिए और अधिक मंडियों और बाज़ारों की ज़रूरत थी। कई ग्रामीण क्षेत्रों में किसी बड़े गांव के एक भाग को मंडी या बाज़ार में बदल दिया जाता था। इसके फलस्वरूप ऐसे क्षेत्रों में क़स्बों का निर्माण हो गया जिसमें धीरे-धीरे प्रशासनिक, न्यायिक और अन्य संस्थाएं भी बन गईं। यहां पर यह बताना उचित होगा कि इन शहरी केंद्रों के निर्माण में भी सामंतवादी संरक्षण का हाथ रहता था। अतीत में शहरी दरबारों की रेशमी कपड़ों, हथियारों, आभूषणों, धातु की शिल्पकृतियों की मांग के कारण ही वाराणसी, कांचीपुरम, जयपुर, मुरादाबाद जैसे शहरी केंद्रों का विकास हुआ था।

संक्षेप में, घुर्ये की दृष्टि में ग्रामीण-शहरीकरण का कारण गांव की स्थानीय आवश्यकताएं ही थीं। ब्रिटिश उपनिवेश काल के दौरान महानगरीय केंद्रों के विकास से भारतीय शहरी जीवन में बदलाव आया। अब ये छोटे-बड़े शहर कृषि उत्पादन और हस्तशिल्प की वस्तुओं की खपत के क्षेत्र नहीं रहे थे, बल्कि वे प्रमुख निर्माण-केंद्र बन गए जिन्होंने भीतरी ग्रामीण क्षेत्रों को कच्चा माल पैदा करने का क्षेत्र बना लिया। इसके साथ-साथ ये ग्रामीण क्षेत्र औद्योगिक उत्पादों की खपत के केंद्र बन गए। इस प्रकार महानगर केंद्र ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर हावी हो गए।

पिछली व्यवस्था के विपरीत अब शहरीकरण का फैलाव भीतरी ग्रामीण क्षेत्रों में होने लगा (देखें चित्र 5.1)।

घुर्ये ने 1957 में, महाराष्ट्र के पुणे जिले में लोनीकांड गांव का अध्ययन किया। इसका उद्देश्य सामाजिक ढांचे की निरंतरता को उभारकर प्रस्तुत करना था। पहले सन् 1819 में एक ब्रिटिश अधिकारी ने इस गांव का अध्ययन किया था। इस संदर्भ में उन्होंने गांव की रूपरेखा, आर्थिक अधिसंरचना, जातियों का गठन, बाज़ार व्यवहार तथा राजनैतिक और धार्मिक प्रवृत्तियों का वर्णन किया। 1957 में किए गए पुनर्सर्वेक्षण में घुर्ये को गांव के जनसांख्यिकी, आर्थिक और सामाजिक विस्तार में कोई खास अंतर नहीं दिखाई दिया। इसके अलावा, घुर्ये ने देखा कि गांव की रूपरेखा प्राचीन काल के एक लेख में उल्लिखित विवरण से मेल खाती थी। उन्होंने यह भी देखा कि गांव में कोई सुनिश्चित सामाजिक संरचना भी नहीं थी। वहां का सामाजिक ढांचा बिखरा हुआ सा था। इसके बावजूद यह गांव एक व्यावहारिक इकाई के रूप में जीवित रहा।

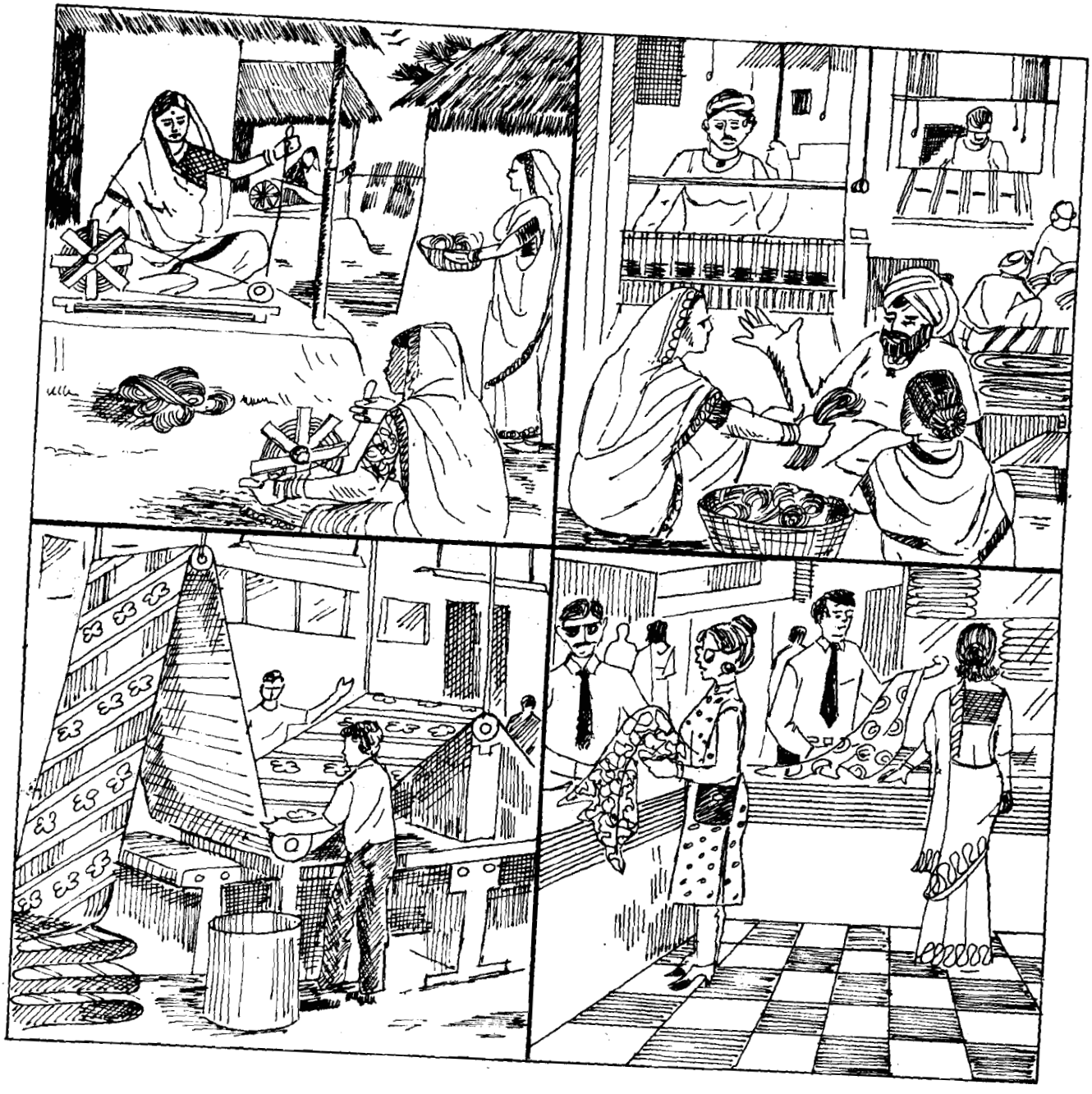

चित्र 5.1: ग्रामीण-शहरीकरण

अगले अनुभाग को पढ़ने से पहले सोचिए और करिए 2 को अवश्य पूरा कर लें।

**सोचिए और करिए 2**

इस इकाई के उपभाग 5.5.2 भारत में ग्रामीण-शहरीकरण के बारे में जी.एस. घुर्ये के मुख्य विचारों को ध्यान से पढ़िए। किन्हीं दो वृद्ध व्यक्तियों के साथ उनके शहर, कस्बे या गांव में औपनिवेशिक शासन के बाद हुए परिवर्तनों के बारे में चर्चा कीजिए। उनसे गांव की रूपरेखा में हुए परिवर्तनों की जानकारी प्राप्त कीजिए। गांव में बाज़ार तथा आवासीय इलाके की स्थिति के बारे में जानकारी लीजिए।

अब आप 'मेरे शहर या बस्ती या गांव में ग्रामीण-शहरी विकास' विषय पर लगभग एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए। यदि संभव हो तो अपनी टिप्पणी की तुलना अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणी से कीजिए।

### 5.5.2.5 भारत में धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाज

घुर्ये ने भारत में धार्मिक विश्वासों और रीति-रिवाजों के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान किया। उन्होंने सन् 1950 से 1965 के बीच इस विषय पर तीन पुस्तकें लिखी। उनके विचार में प्राचीन भारत, मिस्र और बैबिलोनिया में धार्मिक चेतना धर्म-स्थलों से जुड़ी हुई थी। भारत और मिस्र के पूजापाठ की पद्धति और धर्म-स्थलों का वास्तुकला में भी समानता थी। घुर्ये ने भारतीय धर्म में विभिन्न देवताओं की भूमिका पर अपनी रचना में शिव, विष्णु और दुर्गा जैसे प्रमुख देवी-देवताओं के उद्‌भव का अध्ययन किया है। उन्होंने इस अध्ययन के द्वारा पूजा की बृहत् स्तरीय पद्धति में स्थानीय या उपक्षेत्रीय विश्वासों को जोड़ने की आवश्यकता को पहचाना है। इन देवी-देवताओं के इर्द-गिर्द धार्मिक समष्टि में भारत के विभिन्न नृजातीय समूह एकीकृत हो गए थे। भारत में प्रमुख पंथों के विस्तार का आधार राजनैतिक समर्थन या लोक समर्थन रहा था। महाराष्ट्र के गणेश उत्सव और बंगाल के दुर्गा पूजा उत्सवों को लोकप्रिय बनाने में बालगंगाधर तिलक और बिपिन चंद्रपाल जैसे राष्ट्रवादियों के प्रयास शामिल थे। ये राष्ट्रवादी नेता स्वाधीनता संग्राम के दौरान अपने राजनैतिक विचारों के प्रचार के लिए धार्मिक दृष्टि का उपयोग कर रहे थे। आज भी इन उत्सवों के पीछे राजनैतिक छवि दिखाई देती है।

### 5.5.2.6 भारतीय परम्परा में साधु की भूमिका

घुर्ये ने अपनी पुस्तक, *इंडियन साधुज़*, में संन्यास की दोहरी प्रकृति की समीक्षा की। भारतीय संस्कृति के अनुसार ऐसा समझा जाता है कि साधुओं या सन्यासियों को सभी जाति-प्रतिमानों, सामाजिक परंपराओं आदि से मुक्त होना चाहिए। वस्तुत: वह समाज के दायरे से बाहर होता है। शैवमतावलंबियों में यह आम रिवाज है कि जब उनके समूह का कोई व्यक्ति सन्यास या आत्मत्याग के मार्ग को अपनाता है तो वे उसका "नक़ली दाहसंस्कार" कर देते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वह समाज के लिए तो 'मृत' समान है लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से उसका 'पुनर्जन्म' होता है। फिर भी यह बड़ी दिलचस्प बात है कि आठवीं शताब्दी के सुधारक शंकराचार्य के समय से प्राय: हिंदू समाज का मार्गदर्शन साधुओं ने किया। ये साधु एंकातवासी नहीं थे। इनमें से अधिकांश मठ-व्यवस्था से जुड़े हुए थे जिनकी अपनी विशिष्ट परंपरा होती थी। भारत में मठ-व्यवस्था बौद्ध धर्म और जैन धर्म की देन है। बाद में शंकराचार्य ने हिंदू धर्म के भी मठ स्थापित किए।

भारतीय साधुओं का काम धार्मिक विवादों में मध्यस्थता करना था। वे धर्मग्रंथों के अध्ययन-अध्यापन के संरक्षक थे और बाहरी हमलों से धर्म की रक्षा करते थे। इस प्रकार हिंदू समाज में सन्यास एक रचनात्मक शक्ति के रूप में था। घुर्ये ने विभिन्न श्रेणियों के साधुओं पर विस्तार से विचार किया इनमें शैव (दशनामी) और वैष्णव (बैरागी) प्रमुख थे। इन दोनों मतों में नागा साधु थे। (ये नागा साधु युद्धप्रिय होते हैं और वस्त्र नहीं पहनते) ये साधु हिंदू धर्म को हानि पहुंचाने वालों

लड़ने को तैयार रहते हैं। बंकिम चंद्र चटर्जी का बंगला उपन्यास *"आनंदमठ"* शैव साधुओं की ही कहानी है इन साधुओं ने उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश फौजों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष में भाग लिया। इसमें संदेह नहीं कि वे ब्रिटिश फौजों से पराजित हुए लेकिन इससे उनकी हिंदू धर्म के प्रति निष्ठा का पता चलता है। ये साधु जो कुंभ के मेले पर बड़ी संख्या में एकत्र होते हैं पूरे भारत का लघु रूप हैं। वे अलग-अलग क्षेत्रों से आते हैं और अलग-अलग भाषाएं बोलते हैं लेकिन वे सभी एक ही धार्मिक व्यवस्था के अंग हैं। घुर्ये के विचार में सन्यास भूतकाल का अवशेष मात्र नहीं है अपितु वह हिंदू धर्म का प्राणभूत पहलू है। आधुनिक युग में विवेकानंद, दयानंद सरस्वती और श्री अरबिंद घोष जैसे कुछ सुप्रसिद्ध सन्यासियों ने हिंदू धर्म के उत्थान में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

### 5.5.2.7 भारतीय कला और वास्तुकला

घुर्ये की भारतीय कला में भी गहरी रुचि थी। उनके अनुसार हिंदू, जैन, और बौद्ध धर्म के कलात्मक स्मारकों में कई समान तत्व थे। इसके विपरीत हिंदू और मुस्लिम स्मारक बिल्कुल भिन्न मूल्य-पद्धतियों पर आधारित थे। भारतीय मंदिरों के प्रेरणा स्रोत भारतीय तत्व थे। उनकी विषय वस्तु वेदों, महाकाव्यों और पुराणों पर आधारित थी। लेकिन मुस्लिम कला फ़ारसी या अरबी संस्कृति पर आधारित थी और इनका आधार भारत की संस्कृति में नहीं था। घुर्ये इस मत से सहमत नहीं थे कि भारत के मुस्लिम स्मारकों में हिंदू व मुस्लिम धर्म दोनों का समन्वय दिखाई देता है। मुस्लिम इमारतों में हिंदू कला के तत्व केवल अलंकरण के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसके विपरीत, राजस्थान पर मुस्लिम शासकों का राजनैतिक नियंत्रण होने के बावजूद भी राजपूती वास्तुकला में हिंदू आदर्शों और मूल्यों को बनाए रखा गया। घुर्ये ने प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक की वेशभूषा के बारे में भी लिखा। उन्होंने हिंदू, बौद्ध और जैन कलाकृतियों (वास्तुकला और मूर्तिकला) द्वारा विभिन्न कालों की वेशभूषा में विभिन्नताओं का चित्रण किया।

हमने पहले बताया है कि राधाकमल मुकर्जी ने भी भारतीय कला के बारे में लिखा है, लेकिन कला के प्रति इन दोनों के दृष्टिकोणों में भिन्नता थी। मुकर्जी ने शताब्दियों से फल-फूल रही कला को सभ्यता के मूल्यों, प्रतिमानों और आदर्शो के वाहक के रूप में देखा। इसके विपरीत घुर्ये ने कला को विशेषत: हिंदू विन्यास के रूप में देखा। घुर्ये ने लिखा कि राजपूत वास्तुकला में हिंदू धर्म में उनकी आस्था प्रकट होती है। मुकर्जी ने इसी कलात्मक तथ्य को कुछ निम्न दृष्टि से देखा। उनका कहना था कि राजपूत लोग बड़े उत्साह से स्मारक बनाने में संलग्न थे तथा उनका यह विश्वास था कि वे स्मारक उनके पश्चात् उनकी कलात्मक विरासत के रूप में जीवित रहेंगे। इस प्रकार, मुस्लिम शासकों के साथ निरंतर युद्धों के बावजूद भी राजपूत अपने संसाधनों का उपयोग कला के संरक्षण के लिए करते रहे।

### 5.5.2.8 हिंदू-मुस्लिम संबंध

घुर्ये ने अपनी पुस्तकों में हिंदू-मुस्लिम संबंधों के बारे में पर्याप्त चर्चा की है। उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों को ऐसे अलग समूहों के रूप में माना है जिनमें पारस्परिक आदान-प्रदान की संभावना लगभग नहीं है।

घुर्ये के मन में हिंदुओं के प्रति समर्थन की भावना इसलिए पैदा हुई क्योंकि भारत में लगभग सात शताब्दियों के इस्लामी शासन में हिंदू-मुस्लिम के बीच संघर्ष का वातावरण बना रहा था। इस दौरान ज़बरदस्ती धर्मपरिवर्तन, पूजास्थलों के विनाश आदि के कारण हिंदुओं का मानस बुरी तरह विक्षुब्ध हो गया। यहां यह बात बता देना उचित होगा कि कुरान के नियमों के अनुसार मुस्लिम शासकों द्वारा की गई लूटपाट इस्लाम में स्वीकार्य नहीं है। इस्लाम धर्म भी हिंसा का समर्थन नहीं करता। मुस्लिम शासकों ने धार्मिक विश्वास के बजाय राजनैतिक स्वार्थ के वशीभूत

होकर अपनी हिंदू प्रजा पर बल प्रयोग किया था। इसे छोड़कर हिंदू-मुस्लिम समुदाय की परस्पर क्रियाएं सांस्कृतिक दृष्टि से रचनात्मक और सामाजिक दृष्टि से लाभप्रद थीं। सूफ़ी मत ने भारत में भक्ति संप्रदाय को प्रोत्साहित किया। उर्दू साहित्य तथा हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की समृद्धि और समान जीवन-पद्धति ने यह दिखाया कि इस्लामी शासन की सकारात्मक भूमिका भी थी। देश में सांप्रदायिक तनाव, वास्तव में, औपनिवेशिक शासन की देन थी। भारत में ब्रिटिश शासकों की यह राजनैतिक कूटनीति थी कि भारतीय समाज को विशेष रूप से हिंदुओं और मुसलमानों को बांट कर रखा जाए। उन्होंने यह नीति सन् 1857 के स्वाधीनता संग्राम के बाद बनाई थी ताकि हिंदू और मुसलमान एक संयुक्त ताक़त बनकर उनके विरुद्ध न खड़े हो सकें। शहरीकरण से उत्पन्न हुए परस्पर हितों के टकराव ने भी साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया। इक्कीसवीं सदी में भी भारत के शहरी क्षेत्रों में धर्म की आड़ में राजनैतिक और आर्थिक कारणों वश सांप्रदायिक दंगे हो रहे हैं। घुर्ये की पुस्तक में समसामयिक उपद्रवों पर भी ध्यान केंद्रित किया गया है। उन्होंने दिखाया कि वास्तव में, ब्रिटिश शासन से पूर्व दोनों सम्प्रदायों के लोगों के बीच सहयोग का संबंध था।

### 5.5.3 महत्वपूर्ण रचनाएं

घुर्ये की समाजशास्त्र पर कुछ महत्वपूर्ण रचनाएं निम्नलिखित हैं।

i) *इंडियन साधुज़* (1953)

ii) *फ़ैमिली एंड किन इन इंडो-यूरोपियन कल्चर* (1961)

iii) *गॉड्स एंड मैन* (1962)

iv) *एनॉटमी ऑफ़ ए रुरर्बन कम्युनिटी* (1962)

v) *शैड्यूल्ड ट्राइब्स* (1963)

vi) *कास्ट एंड रेस इन इंडिया* (1969)

समाजशास्त्र से अलग घुर्ये की अन्य पुस्तकों से उनकी विविध विषयों में रुचि का पता चलता है। इनमें से कुछ पुस्तकें हैं।

*i)* *भरतनाट्यम् एंड इट्स कॉस्ट्यूम* (1958)

*ii)* *सिटीज़ एंड सिविलाइज़ेशन* (1962)

*iii)* *इंडियन कॉस्ट्यूम* (1966)

**बोध प्रश्न 3**

i) गोविंद सदाशिव घुर्ये को बहुत अधिक प्रभावित करने वाले ब्रिटिश नृशास्त्री का नाम लिखिए।

.....

ii) घुर्ये ने भारतीय समाज में जाति का अध्ययन करने के लिए किस दृष्टिकोण को अपनाया था? तीन पंक्तियों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

iii) भारत में जनजातियों के बारे में घुर्ये के विचार लिखिए। उत्तर के लिए पांच पंक्तियों का उपयोग कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

iv) भारत में शहरी संवृद्धि के अध्ययन के संबंध में घुर्ये के दृष्टिकोण का वर्णन कीजिए। दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 5.6 सारांश

इस इकाई में आपने भारतीय समाजशास्त्र के तीन प्रमुख अग्रणी विचारकों के बारे में पढ़ा जिनके नाम हैं, राधाकमल मुकर्जी (1889–1968), धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी (1894–1962), और गोविंद सदाशिव घुर्ये (1893–1984)।

आपने इन तीन विचारकों के जीवन परिचय के बारे में पढ़ा। हमने समाजशास्त्र में उनके प्रमुख विचारों की व्याख्या की। इन सभी विचारकों ने समाज के अध्ययन का विवरण अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। इन विचारकों ने भारत की सांस्कृतिक परंपरा, कला और सभ्यता का अध्ययन प्रस्तुत किया। अंत में, हमने इन तीन विचारकों की महत्वपूर्ण रचनाओं की सूची दी है।

## 5.7 शब्दावली

**आधारनामी (eponymous)** किसी गोत्र या चरण के आधारभूत प्रवर्तक। हिंदुओं में गोत्र या तो जन्म से होते हैं या ऋषियों अथवा गुरुओं के नाम पर। इन ऋषियों या गुरुओं को आधारनामी कहते हैं।

**एकलकृषि (mono-cultivation)** लगातार कुछ वर्षों तक एक नक़दी फसल की खेती करना। इससे मृदा की पोषकता समाप्त हो जाती है और ज़मीन बंजर हो जाती है।

**धर्मसिद्धान्त (canon)** धर्म के नियम और सामान्य सिद्धांत

**कोष्ठीकरण (compartmentalisation)** किसी विषय अथवा वस्तु को अलग-अलग विभाजित करना। इस इकाई में कोष्ठीकरण से हमारा अभिप्राय सामाजिक विज्ञानों का विभिन्न विषयों में विभाजन से है। जैसे इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र आदि।

**नैतिक सापेक्षवाद (ethical relativism)** एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में मूल्यों की विभिन्नता को नैतिक सापेक्षवाद कहते हैं।

**पारिस्थितिकी (ecology)** पर्यावरण से संबंधित वनस्पतियों, प्राणियों, जनसमूहों और संस्थाओं का अध्ययन करने वाले विज्ञान को पारिस्थितिकी अथवा परिस्थिति विज्ञान कहते हैं।

**पुनर्जागरण (renaissance)** इसका शाब्दिक अर्थ है पुनर्जन्म या पुनरुद्धार। इसका प्रयोग यूरोप में चौदहवीं, पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में कला, साहित्य और ज्ञान के पुनर्जागरण या पुनरुद्धार के लिए किया जाता है।

**सार्वभौमिकरण (universalisation)** वह प्रक्रिया जिसमें एक क्षेत्र में पाये जाने वाले मूल्य किसी बड़े समाज की मूल्य पद्धति के अंग बन जाएं। जैसे वे किसी राष्ट्र के या पूरे विश्व की मूल्य पद्धति के अंग बन जाएं।

**सुधारात्मक (ameliorative)** ऐसा उपाय जिससे किसी सामाजिक समूह का कल्याण अथवा सुधार हो सके

## 5.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

घुर्ये, गोविंद सदाशिव 1986. *कास्ट एंड रेस इन इंडिया.* पॉपुलर: मुंबई

मुकर्जी, राधाकमल 1984. *द कल्चर एंड आर्ट ऑफ़ इंडिया.* मुंशीराम मनोहर लाल प्रकाशक: नई दिल्ली

मुकर्जी, धूर्जटी प्रसाद 1986. *डाइवर्सिटीज़,* पॉपुलर: मुंबई

## 5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) क) पारिस्थितिकी
   ख) कोष्ठीकरण
   ग) अर्थशास्त्र

ii) परिस्थिति विज्ञान के क्षेत्र में कुछ विशिष्ट प्रकार के भूवैज्ञानिक, भौगोलिक और जैविक कारक सम्मिलित होते हैं।

iii) राधाकमल मुकर्जी की सामाजिक परिस्थिति विज्ञान में विशेष रुचि थी इसलिए उन्होंने भारत के विभिन्न क्षेत्रों का अध्ययन किया। इस अध्ययन को ही उन्होंने क्षेत्रीय समाजशास्त्र कहा। राधाकमल मुकर्जी का विश्वास था कि अगर आधुनिक भारत में क्षेत्रों का इतना विकास कर लिया जाए कि वे आत्मनिर्भर हो जाएं तो इससे पूरे भारत को लाभ होगा। परन्तु यदि कुछ क्षेत्र पिछड़ जाएं तो उनपर अधिक विकसित क्षेत्रों का दबदबा हो जाएगा इससे भारत का असंतुलित विकास होगा।

iv) राधाकमल मुकर्जी पाश्चात्य-विद्वानों की "तथ्यों" को मूल्यों से पृथक करने की प्रवृत्ति के विरुद्ध थे। जैसाकि प्रत्यक्षवादियों ने समाजशास्त्र के क्षेत्र में किया था। उनके अनुसार तथ्यों को मूल्यों से पृथक नहीं किया जा सकता क्योंकि मानव अंत:क्रिया जैसे कि भोजन खाना या खिलाना, वस्त्र पहनना, आदि सामाजिक मूल्यों और प्रतिमानों पर आधारित होती है।

**बोध प्रश्न 2**

i) भारत के तेज़ी से बदलते हुए समाज की सामाजिक प्रक्रियाओं में डी.पी. मुकर्जी की गहरी दिलचस्पी थी। उन्होंने 1922 में लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के लेक्चरर का पद ग्रहण किया तथा बाद में वे समाजशास्त्र के प्रोफ़ेसर बने। उन्होंने अर्थशास्त्र और इतिहास दोनों में प्रशिक्षण प्राप्त किया था और राधाकमल मुकर्जी की तरह इन्होंने भी समाजशास्त्र को अर्थशास्त्र और इतिहास के साथ समाविष्ट किया। ये अपने आपको मार्क्सशास्त्री कहते थे। इनका विश्वास था कि यदि मार्क्स के विचारों को भारतीय इतिहास और सभ्यता के अनुकूल ढाला जा सके तो ये उतने ही अधिक उचित होंगे।

ii) इनकी दो महत्वपूर्ण रचनाएं हैं।

क) *मॉडर्न इंडियन कल्चर* (1942), और

ख) *डाइवर्सिटीज़* (1958)

iii) क) उखड़े हुए

ख) मार्क्सशास्त्री

ग) आध्यात्मिक

**बोध प्रश्न 3**

i) जी.एस. घुर्ये को ब्रिटिश मानव विज्ञानी डॉ. डब्ल्यू.एच.आर. रिवर्स ने अत्यधिक प्रभावित किया था।

ii) घुर्ये ने भारत में जाति-व्यवस्था के ऐतिहासिक, तुलनात्मक और एकीकृत पक्षों का अध्ययन किया। उनका दृष्टिकोण नृजाति अध्ययन पर आधारित था। इसके लिए उन्होंने ऐतिहासिक, भारतशास्त्र संबंधी और सांख्यिकीय सामग्री का इस्तेमाल किया।

iii) घुर्ये के अनुसार भारत में भील, गोंड और संथाल आदि विभिन्न जनजातियों की स्थिति "पिछड़े वर्ग के हिंदुओं" जैसी है। हिंदू समाज में पूरी तरह एकीकृत न होने के कारण ही ये जनजातियां पिछड़ी हुई हैं।

iv) घुर्ये के विचार में भारत में शहरीकरण की प्रक्रिया बेजोड़ है क्योंकि यह औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप नहीं हुई है। भारत में शहरीकरण की प्रक्रिया ग्रामीण क्षेत्रों से ही शुरू हुई क्योंकि वहां आवश्यकता से अधिक खाद्यान्नों के विनिमय की जरूरत थी। ग्रामीण क्षेत्रों में धीरे-धीरे जिन बाज़ारों का विकास हुआ वे छोटे शहरों के केंद्र बन गए और उनकी अपनी प्रशासनिक व्यवस्था, न्यायिक व्यवस्था और अन्य संस्थाएं स्थापित हो गईं। ये शहरी केंद्र कभी-कभी सामंतवादी संरक्षण पर आश्रित होते थे। ऐसे शहरों के कुछ उदाहरण वाराणसी, कांचीपुरम, जयपुर, मुरादाबाद आदि हैं।

# संदर्भ ग्रंथ सूची

(अ)


बेली, डेविड एच. 1962. द पैडागॉजी ऑफ़ डेमोक्रेसी: कोअर्सिव पब्लिक प्रोटेस्ट इन इंडिया. द अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिव्यू 56(2)

बनर्जी, सुमंत 2002 (1980 and 1996 मूल प्रकाशन). नक्सलबाड़ी एंड द लैफ़्ट मूवमैंट. घनश्याम शाह (सम्पा.) *सोशल मूवमैंट्स इन इंडिया*: सेज पब्लिकेशन्स: नई दिल्ली में, पृष्ठ 125-194

बेकर, एच. और बार्नस बॉटोमोर, एच.ई. 1961. *सोशल थॉट फ्रॉम लोर टू साइंस*. (तृतीय संस्करण) वाल्यूम 3, डोवर पब्लिकेशन: न्यूयार्क

बर्जर, पी. 1963. *इन्विटेशन टू सोशियोलॉजी: ए ह्यूमनिस्टिक पर्सपेक्टिव*. ऐंकर बुक्स डबलडे एंड कंपनी: न्यूयार्क

बॉटोमोर, टी.बी. 1962. *सोशियोलॉजी: एक गाइड टू प्रॉब्लम्स एंड लिटरेचर*. जॉर्ज एलन एंड अन्विन: लंदन

कोज़र, एल.ए. 1971. *मास्टर्स ऑफ़ सोशियोलॉजिकल थॉट: आइडियॉज़ इन हिस्टोरिकल एंड सोशल कॉन्टेंट*. (अंडर द जनरल एडीटरशिप ऑफ़ राबर्ट के. मर्टन) द्वितीय संस्करण. हरकोर्ट ब्रेस जेनॉनविच: न्यूयार्क

डार्विन, चार्ल्स 1859. *ऑन द ओरिजिन्स ऑफ़ स्पीशीज़ बाइ मीन्स ऑफ़ नेचुरल सेलेक्शन*. नई दिल्ली

देसाई ए. आर. 1965. पब्लिक प्रोटेस्ट एंड पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी. एस.पी. डाइबी और आर. श्रीनिवासन (सम्पा.) *स्टडीज़ इन इंडियन डेमोक्रेसी*. अलाइड पब्लिशर्स: मुम्बई में, पृष्ठ 299-324

देसाई, नीरा 1988. *ए डिकेड ऑफ़ विमेन्स मूवमैंट इन इंडिया*. हिमालय पब्लिकेशन्स: मुम्बई

धनागरे, डी.एन. 2002 (1983). सेशल ओरिजिन्स ऑफ़ द पैज़ेंट इनज़रैक्शन इन तेलंगाना, 1946-51. घनश्याम शाह (सम्पा.) *सोशल मूवमैंट्स इन इंडिया*: सेज पब्लिकेशन्स: नई दिल्ली में, पृष्ठ 91-124

फ़र्नान्डेस, वॉल्टर 2000. फ्रॉम मार्जिनलाइज़ेशन टु शेयरिंग द प्रोजेक्ट बेनेफ़िट्स. **इन** माइकेल सर्निया एण्ड क्रिस्टोफ़र मक्डॉवल (सम्पादक) *रिस्क्स एण्ड रिकंस्ट्रक्शन: ऐक्सपिरियंसस ऑफ़ सैटलर्स एण्ड रिफ़्यूजीस*. द वर्ल्ड बैंक: वाशिंगटन डी.सी. पृष्ठ 205-226

घुर्ये, जी.एस. 1973. *आई एंड अदर एक्सप्लोरेशन्स*. पॉपुलर प्रकाशन: मुंबई

घुर्ये, जी.एस. 1986. कास्ट एंड रेस इन इंडिया. पॉपुलर: मुंबई

गुहा, अमलेंदु 2002 (1980 मूल प्रकाशन). लिटिल नैशनलिज़्म टर्न्ड शोवनिस्ट: असमन्स एंटी फ़ौरेन अपसर्ज, 1979-80. घनश्याम शाह (सम्पा.) *सोशल मूवमैंट्स इन इंडिया*: सेज पब्लिकेशन्स: नई दिल्ली में पृष्ठ 402-422

इंकल्स, ए. 1975. *वॉट इज़ सोशियोलॉजी?* प्रेंटिस हाल: नई दिल्ली

जैन, शोभिता 1984a. स्टैंडिग अप फॉर ट्रीस: विमेंस रोल इन द चिपको मूवमेंट. *यूनासिल्वा* (एफ ए ओ, यू एन जर्नल ऑफ़ फ़ौरेस्ट्री) 36 (146): 12–20

जैन, शोभिता 1984b. विमैन एंड पीप्लस इकोलॉजिकल मूवमैंट: ए केस स्टडी ऑफ़ विमैन्न्स रोल इन चिपको मूवमेंट इन उत्तर प्रदेश. *इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली.* 19(41): 1788–94

जैन, शोभिता 1994a. लैंड: एक्सेस, कंट्रोल एण्ड मैनेजमेंट. **इन** *इकोलॉजी एण्ड नैचुरल रिसोर्सेस. मॉड्यूल 7 ऑफ़ सोशल प्रोब्लम्स इन इंडिया.* इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय: नई दिल्ली

जैन, शोभिता 1994b. एं पनोरामिक वैब ऑफ़ डांइवर्स स्ट्रैंड्स. *द बुकरिव्यू* 18(6): 15-17

जैन, शोभिता 1995a. विमेन एण्ड मैनेजमेंट ऑफ़ फ़ॉरेस्ट्स. **इन** आशा कँवर एण्ड नीला जगन्नाथन (सम्पादक) *स्पीकिंग फ़ॉर अवरसेल्वस: विमेन एण्ड डिस्टेंस एजूकेशन इन इंडिया.* मनोहर: नई दिल्ली पृष्ठ 5-29

जैन, शोभिता 1995b. हैबिटट, ह्यूमन डिस्प्लेसमेंट एंड डेवलपमेंट कॉस्ट: ए केस स्टडी. *सोशल ऐक्शन* 45: 299–317

जैन शोभिता 1998-99. 1. वन्य प्रकृति की विविधता और मनुष्य, 2. संसाधनों का वहनीय उपयोग: पुनरूत्पत्ति परिप्रेक्ष्य, 2. वन प्रबंधन के मुख्य चरण, 4. प्रबंधन किसका?, 5. प्रबंधन कैसे करे? 6. प्रबंधक कौन?, 7. सहभागी दृष्टिकोण, 8. सहभागिता के प्रकार, 9. सहभागिता की चुनौतियाँ एवं समस्याएं, 10. गैर इमारती लकड़ी वन उत्पाद, 11. बीते हुए कल के वन रक्षक, 12. आज के वनरक्षक, 13. वनरक्षकों की चुनौतियाँ, 14. सहभागिता का नारा, 15. स्थानीय क्षमता की मान्यता, 16. भारतीय वन सेवा में महिलाएं: निर्णय लेने की प्रक्रिया में उनकी भूमिका **साझा वन प्रबंधन.** इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय: नई दिल्ली

जैन, शोभिता 2001a. प्लांटेशन लेबर इन साउथ एंड साउथईस्ट एशिया. **इन** सूज़न विश्वनाथन (सम्पादक) *स्ट्रक्चर एण्ड ट्रांसफ़ॉर्मेशन: थियरी एंड सोसाइटी इन इंडिया.* ऑक्सफ़र्ड यूनीवर्सिटी प्रेस: नई दिल्ली

जैन, शोभिता 2001b. 1. पार्टिसिपेशन: फ़िलॉसफ़ी, नेचर एण्ड अप्रोच, 2. ऑपरेशनलाइज़ेशन ऑफ़ पार्टिसिपेटरी प्रोसेसेज़, 3. डाटा कलैक्शन टैक्नीक्स फॉर मोबिलाइज़िंग पार्टिसिपेशन, 4. टैक्नीक्स ऑफ डाटा अनालिसिस एंड मोड्स ऑफ़ अनालिसिस (सहलेखन–सुश्री नीति भार्गव के साथ). *एम आर ओर 02: पार्टिसिपेटरी मैंनेजमेंट ऑफ़ डिस्पलेसमैंट, रिसैटलमैंट एंड रिहैबिलिटेशन.* इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय: नई दिल्ली

जैन, शोभिता 2001c. पार्टिसिपेटरी लर्निंग एण्ड डिसकोर्स ऑन लोकल एंड ग्लोबल कल्चर ऑफ़ द डिस्ऐडवांटेज्ड. *इंडियन जर्नल ऑफ़ ओपन लर्निंग* 10(2) : 159-173

जैन, शोभिता 2003. पंचायत्स, विमैन एंड एम्पावरमैंट, **में** विद्युत मोहंती एंड शशि नारायन (सम्पादक) *विमैन एंड पोलिटिकल एम्पावरमैंट.* इंस्टिट्युट ऑफ़ सोशल साइंसेज़. पृष्ठ 60-66

लिंगम्, लक्ष्मी 2002 (1998). टेकिंग स्टॉक: विमेनन्स मूवमैंट एंड द स्टेट. घनश्याम शाह (सम्पा.) *सोशल मूवमैंट्स इन इंडिया:* सेज पब्लिकेशन्स: नई दिल्ली में, पृष्ठ 335-360

मुकर्जी, डी.पी. 1986. *डाइवर्सिटीज़.* पॉपुलर: मुंबई

मुकर्जी, पार्थ 1977. सोशल मूवमैंट एंड सोशल अेजंट टु ए कन्सेप्चुअल क्लैरीफ़िकेशन एंड थियरिटिकल फ्रेमवर्क. *सोशियोलॉजिकल बुलेटिन* 26(1): 38–59

मुकर्जी, राधाकमल 1984. *द कल्चर एंड आर्ट ऑफ़ इंडिया*. मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स: नई दिल्ली

ओमवैट, गेल 2002 (2001 मूल प्रकाशन). अम्बेदकर एंड आफ़्टर: द दलित मूवमैंट इन इंडिया घनश्याम शाह (सम्पादित) *सोशल मूवमेंट्स एंड द स्टेट*. सेज पब्लिकेशन्स: नई दिल्ली में पृष्ठ 335-360

ऊमन, टी.के. 1977. सोशियोलॉजिकल इश्यूस इन दि अनालिसिस ऑफ़ सोशल मूवमैंट्स इन इन्डिपैंडैंट इंडिया. *सोशियोलॉजिकल बुलेटिन*. 26(1): 14-37

ऊमन, टी.के. और मुखर्जी, पी.एन. (सम्पादित) 1986. *इंडियन सोशियोलॉजी*, पॉपुलर प्रकाशन: मुंबई

पटेल, तुलसी 1994. *फ़र्टीलिटी बिहेवियर: पॉपुलेशन एण्ड सोसाइटी इन ए राजस्थान विलेज*. ऑक्सफ़र्ड यूनीवर्सिटी प्रैस: नई दिल्ली

रायसॅन, टी. (सम्पादित) 1969. *द फाउंडिंग फ़ॉदर्स ऑफ़ सोशल साइंस*. पेंगुइन बुक्स: मिडल सेक्स

राव, चलपथि एम., उन्निथन टी.के.एन. तथा अन्य (सम्पादित) 1965. *टुवर्ड्स ए सोशियोलॉजी आफ़ कल्चर इन इंडिया*. प्रेंटिस हॉल आफ़ इंडिया प्रा. लिमिटेड: नई दिल्ली

राव, एम एस.ए. 1978. कसप्चुअल प्रौब्लम्स इन द स्टडी ऑफ़ सोशल मूवमैंट्स. एम.एस.ए. राव (सम्पा). *सोशल मूवमैंट्स इन इंडिया*. मनोहर: दिल्ली में, पृष्ठ 1–16

सेलिगमैन, एडविन आर.ए. 1963. *एनसाइक्लोपिडिया ऑफ़ द सोशल साइंसिज़*. वाल्यूम - I से IV. द मैकमिलन कंपनी: न्यूयार्क

शाह, घनश्याम 2002 (1983 मूल प्रकाशन). डायरैक्ट एक्शन इन इंडिया: ए स्टडी ऑफ़ गुजरात एंड बिहार एजेटेशन्स. घनश्याम शाह (सम्पादित) *सोशल मूवमेंट्स एंड द स्टेट*. सेज पब्लिकेशन्स: नई दिल्ली

शिल्स, एडवर्ड, ए. 1961. *द इंटलैक्चुअल बिटवीन ट्रेडीशन एंड मॉडर्निटी: द इंडियन सिचुएशन*. मूतों: द हेग

सिन्हा, सुरजीत 2002. ट्राइबल सौलीडैरिटी मूवमेंट्स इन इंडिया: ए रिव्यू. घनश्याम शाह (सम्पादित) *सोशल मूवमैंट्स एंड द स्टेट*. सेज पब्लिकेशन्स: नई दिल्ली में, पृष्ठ 251-266

सिंह, बलजीत (सम्पादित) 1956. *द फ़्रन्टियर्स ऑफ़ सोशल साइंस*. राधाकमल मुकर्जी के सम्मान में, मैकमिलन एंड कंपनी लिमिटेड: लंदन

सिंह, के.एस. 2002 (1983 मूल प्रकाशन). ट्राइबल ऑटोनॉमी मूवमैंट्स इन छोटा नागपुर. घनश्याम शाह (सम्पादित) *सोशल मूवमैंट्स एंड द स्टेट*. सेज पब्लिकेशन्स: नई दिल्ली में, पृष्ठ 267-292

टिमाशेफ़, निकोलस एस. 1967. *सोशियोलॉजिकल थ्यरी: इट्स नेचर एंड ग्रोथ*. तृतीय संस्करण, रैनडॅम हाउस: न्यूयार्क

उबेरॉय, पैट्रीशिया 1993. *फ़ैमिली, किनशिप एण्ड मैरिज इन इंडिया*. ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: नई दिल्ली

उन्निथान, टी.के.एन., इन्द्र देव, योगेन्द्र सिंह, (सम्पादित) 1965. *टूवर्डस ए सोशियोलॉजी ऑफ़ कल्चर इन इंडिया.* प्रो. डी.पी. मुकर्जी के सम्मान में लेख, प्रेंटिस हाल ऑफ़ इंडिया (प्राइवेट) लिमिटेड: नई दिल्ली

**(ब) हिंदी में उपलब्ध कुछ पुस्तकें**

गुप्ता, पार्थसारथि (संपा.) 1987. *यूरोप का इतिहास.* हरियाणा हिंदी ग्रंथ अकादमी: चण्डीगढ़

चौहान, आई.एस., 1989. *समाजशास्त्र की रूपरेखा.* मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी: भोपाल

गुप्ता, मिथलेश एवं सैनी, रामेश्वरलाल 1991. *समकालीन समाजशास्त्रीय सिद्धांत.* रावत पब्लिकेशन्स: जयपुर

फर्फे, पाल हान्ले 1973. *समाजशास्त्र का क्षेत्र एवं पद्धति.* (अनुवादक) हरिश्चन्द्र उप्रेती, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी: जयपुर

बार्कर, अर्नेस्ट 1972. *सामाजिक तथा राजनैतिक शास्त्र का सिद्धांत.* हरियाणा हिंदी ग्रंथ अकादमी: चण्डीगढ़

सिंह, आर.जी. 1986. *समाजशास्त्र की मूल अवधारणाएं.* मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी: भोपाल

शर्मा, एस.एस. 1988. *प्रारंभिक समाजशास्त्र.* सरूप एंड सन्स: मेरठ

# इकाई 6 ऐतिहासिक भौतिकवाद

इकाई की रूपरेखा


6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 ऐतिहासिक भौतिकवाद

6.2.1 पृष्ठभूमि

6.2.1.1 लोकतंत्र में मार्क्स का विश्वास

6.2.1.2 लोकतंत्र तथा साम्यवाद

6.2.1.3 इतिहास की अवधारणा

6.2.1.4 इतिहास के प्रति समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

6.2.2 मूल मान्यताएं

6.2.2.1 अन्तर्संबंधित समष्टि के रूप में समाज

6.2.2.2 समाज की परिवर्तनशील प्रकृति

6.2.2.3 मानवीय प्रकृति तथा सामाजिक संबंध

6.2.3 सिद्धांत

6.2.3.1 व्यक्तियों से परे सामाजिक संबंध

6.2.3.2 अधोसंरचना (infrastructure) तथा अधिसंरचना (supersturecture)

6.2.3.3 उत्पादन की शक्तियां और संबंध

6.2.3.4 सामाजिक वर्गो के संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन

6.2.3.5 उत्पादन की शक्तियां और संबंधों के मध्य वाद-संवाद प्रक्रियापरक

6.2.3.6 क्रांति तथा समाजों का इतिहास

6.2.3.7 यथार्थ तथा चेतना

6.3 ऐतिहासिक भौतिकवाद आर्थिक निर्धारणवाद नहीं है

6.4 समाजशास्त्रीय सिद्धांत में ऐतिहासिक भौतिकवाद का योगदान

6.5 सारांश

6.6 शब्दावली

6.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 6.0 उद्देश्य

यह इकाई ऐतिहासिक भौतिकवाद के बारे में है। इसको पढ़कर आपके द्वारा संभव होगा

- ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत की व्याख्या करना
- समाज व सामाजिक परिवर्तन पर मार्क्स के दृष्टिकोण का वर्णन करना
- ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत का समाजशास्त्र में योगदान समझना।

## 6.1 प्रस्तावना

जिस संदर्भ में समाजशास्त्र का उदय यूरोप में हुआ, इसके बारे में आपने खंड 1 में पढ़ा है।

इसमें आपको यह बताया जा चुका है कि फ्रांसीसी तथा औद्योगिक क्रांति का समाजशास्त्र के संस्थापकों के विचारों पर काफ़ी प्रभाव पड़ा। खंड 2 में समाजशास्त्र के एक संस्थापक अर्थात् कार्ल मार्क्स पर चर्चा की गई है। उसके विचार इन क्रांतियों के बारे में समाजशास्त्रीय अन्तर्दृष्टि से परिपूर्ण थे। इस इकाई की विषय वस्तु, ऐतिहासिक भौतिकवाद, मार्क्स के समाजशास्त्रीय विचारों का वैज्ञानिक केन्द्र है। अत: यह आवश्यक हो जाता है कि हम ऐतिहासिक भौतिकवाद को समाजशास्त्रीय सिद्धांत में मार्क्स के एक योगदान की तरह देखें और इसे मार्क्स की सभी कृतियों के सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में देखें।

इसी उद्देश्य के साथ इस इकाई के भाग 6.2.1 में सर्वप्रथम उस दार्शनिक एवं सैद्धांतिक पृष्ठभूमि की संक्षिप्त चर्चा की गई है, जिसके बौद्धिक और सामाजिक सन्दर्भ में ऐतिहासिक भौतिकवाद का उदय हुआ। तदुपरान्त भाग 6.2.2 में उन मूल मान्यताओं की चर्चा की गई है जिन पर ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त आधारित है। इसके बाद भाग 6.2.3 में ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त की व्याख्या की गई है तथा भाग 6.3 में आर्थिक निर्धारणवाद के खण्डन के लिये मार्क्स के विचारों को बताया गया है। अंतत: यह इकाई भाग 6.4 में समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में ऐतिहासिक भौतिकवाद के कुछ प्रमुख योगदानों को सूचीबद्ध करती है। उपरोक्त भागों की सही समझ मार्क्स के विचारों से संबंधित अगली इकाइयों के अध्ययन में आपको मदद देगी।

## 6.2 ऐतिहासिक भौतिकवाद

समाज के बारे में मार्क्स के सामान्य विचारों को ही उसका ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धान्त कहा जाता है। भौतिकवाद (materialism) समाजशास्त्र के चिन्तन का आधार है, क्योंकि मार्क्स के अनुसार भौतिक दशायें अथवा आर्थिक कारक समाज की संरचना और विकास को प्रभावित करते हैं। उसके सिद्धांत के अनुसार भौतिक दशायें अनिवार्यत: उत्पादन का तकनीकी साधन हैं तथा मानवीय समाज उत्पादन की शक्ति और संबंधों से बनता है। इस इकाई में तथा इसके बाद की इकाई में आपको उत्पादन की शक्तियों और संबंधों के अर्थ के बारे में भी बताया जाएगा। आइये, हम यहाँ आपको मार्क्स के समाज के सिद्धान्त के बारे में बतायें कि इसे ऐतिहासिक तथा भौतिकवादी क्यों कहा जाता है। यह ऐतिहासिक इसलिये है, क्योंकि मार्क्स ने इसके द्वारा मानवीय समाजों की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में विकसित होने की क्रिया को बताया है। इसे भौतिकवादी इसलिये कहा गया, क्योंकि मार्क्स ने मानवीय समाज के विकास की व्याख्या भौतिक अथवा आर्थिक आधारों पर की है।

सम्पूर्ण मानव समाज को समझने के अपने प्रयासों में मार्क्स ने अपने आपको किसी भी समय मानवीय समाज की मौजूदा संरचना को समझने तक ही सीमित नहीं रखा। उसने इन समाजों को मानव के भविष्य के सन्दर्भ में भी समझने का प्रयास किया। मार्क्स के लिये विश्व का विवरण देना ही पर्याप्त नहीं था, उसके पास इसमें परिवर्तन के लिये भी एक योजना है। यही कारण है कि मार्क्स के समाजशास्त्रीय चिन्तन में अधिकांशत: परिवर्तन की प्रक्रिया संनिहित है। सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिये मार्क्स ने मानव समाज की विभिन्न अवस्थाओं की परिकल्पना को जर्मन दार्शनिक हीगल से लिया है। इन अवस्थाओं के बारे में हमने इस खंड की 8 तथा 9 इकाईयों में विस्तार से चर्चा की है।

इस इकाई में मार्क्स के समाजशास्त्रीय विचारों पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है। ध्यान रहे कि यहाँ मार्क्सवाद के विभिन्न प्रकारों अथवा मार्क्स के विचारों की उन विभिन्न व्याख्याओं की चर्चा नहीं की जा रही है जो कि साम्यवादी राष्ट्रों की सरकारी विचारधारा बनीं।

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त को समझने के लिये हमें मार्क्स के समय के समाज में पाए जाने वाले विरोधाभासों की ओर ध्यान देना होगा। फ्रेडरिक एंजल्स के अनुसार

ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त मार्क्स ने प्रतिपादित किया था। जबकि मार्क्स के अनुसार इस सिद्धांत का विकास फ्रेडरिक एंजल्स ने किया था। यह कहा जा सकता है कि इन दोनों ही विद्वानों ने इस सिद्धांत को अपनी सभी कृतियों में "निदेशक सूत्र" के रूप प्रयुक्त किया है।

एंजल्स के अनुसार ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धांत इतिहास को समझने का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। इस विचार के माध्यम से ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे छिपे मूल तत्वों को समझने का प्रयास किया गया है। कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंजल्स दोनों ही इतिहास की व्याख्या की वैज्ञानिक प्रकृति पर ज़ोर देते हैं। *जर्मन आईडियोलॉजी* (1845-46) नामक पुस्तक में मार्क्स तथा एंजल्स ने कहा कि इतिहास पर उनके विचार वास्तविक दशाओं के वैज्ञानिक प्रेक्षण और विवरण पर आधारित हैं। इस सिद्धांत को समझने के लिये आपको उस पृष्ठभूमि को भी समझना होगा, जिसने समाज के बारे में मार्क्स के विचारों को ताना-बाना दिया।

## 6.2.1 पृष्ठभूमि

मार्क्स का बचपन और युवा अवस्था यूरोपीय इतिहास के उस काल में बीते जब कि प्रतिक्रियावादी शक्तियां राजतन्त्रात्मक राजनैतिक व्यवस्था का समर्थन कर रही थीं। नेपोलियन के उपरांत यूरोप से फ्रांसीसी क्रांति के सभी प्रभावों और अवशेषों को मिटाने का प्रयास किया जा रहा था। दूसरी ओर जर्मनी में एक **उदारवादी** आंदोलन लोकप्रिय हो रहा था, जो कि व्यक्ति की स्वायत्तता और राजनैतिक तथा नागरिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिये ज़ोर दे रहा था। इस आंदोलन को फ्रांसीसी क्रांति से बल मिला था। 1830 के दशक के अंत में, युवा हीगलवादियों ने उस समय की सामाजिक राजनैतिक दशाओं में आमूल परिवर्तन के पक्ष में आवाज़ उठाई थी। हीगल के दर्शन को मानने वालों को युवा हीगलवादी कहा जाता था। मार्क्स बर्लिन विश्वविद्यालय में क़ानून तथा दर्शन का अध्ययन करते समय इन लोगों के साथ औपचारिक रूप से जुड़ गया था। हीगल तथा उसके दर्शन के बारे में जानने के लिये कोष्ठक 6.1 तथा 6.2 देखिए।

यद्यपि युवा हीगलवादियों में मार्क्स सबसे कम आयु का था, उसे इन लोगों के बीच जल्दी ही सम्मान और प्रशंसा मिले। इन लोगों ने मार्क्स में एक नये हीगल को या यों कहें कि एक शक्तिशाली हीगल-विरोधी को देखा।

**कोष्ठक 6.1: गियोग विल्हेल्म फ्रीडरिश हीगल**

गियोग विल्हेल्म फ्रीडरिश हीगल का जन्म स्टुटगार्ट में 27 अगस्त, 1770 में हुआ तथा उसकी मृत्यु बर्लिन में 14 नवम्बर, 1831 को हुई। वह एक राजस्व अधिकारी का पुत्र था। उसने ट्यूबिर्गन विश्वविद्यालय में साहित्य, धर्मशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया। 1805 में, वह 35 वर्ष की आयु में, जेना विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बन गया। उसकी मुख्य कृतियां हैं, *द फ़िनॉमेनॉलॉजी ऑफ़ माइंड (1807), द साइंस ऑफ़ लॉजिक (1812), द फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ राइट (1821), और द फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ हिस्ट्री (1830-31)*।

मार्क्स पर हीगल के प्रभाव के संदर्भ में आपके लिये यह जानना आवश्यक है कि मार्क्स हीगल के इतिहास के दर्शन तथा तर्क के विज्ञान से प्रभावित था (हीगल के सिद्धांतों के इन दोनों पक्षों के लिए देखिए कोष्ठक 6.2)।

मार्क्स को प्रभावित करने वाले अन्य विद्वानों में बी. द **स्पिनोज़ा** (1632-1677) और ए. **ह्यूम** (1711-1776) का नाम लिया जा सकता है। इन दोनों की कृतियों के गहन अध्ययन ने मार्क्स को प्रजातंत्र की सकारात्मक अवधारणा विकसित करने में सहायता दी। मार्क्स की यह अवधारणा जर्मनी में उस समय के क्रांतिकारियों (radicals) द्वारा मान्य विचारों से कहीं आगे थी। ये क्रांतिकारी (radicals) एक ऐसे राजनैतिक समूह के सदस्य थे जो आमूल परिवर्तन की नीतियों, क्रियाओं और विचारों से जुड़े थे।

### 6.2.1.1 लोकतंत्र में मार्क्स का विश्वास

प्रारंभिक एवं मध्य उन्नीसवीं शती यूरोप में प्रचलित अनेक विचारधाराओं की बौद्धिक विरासत से मार्क्स को अपनी अन्तर्दृष्टि, अभिवृत्तियों, तथा अवधारणाओं को विकसित करने का अवसर मिला। इसमें लोकतान्त्रिक आस्था की मूल मान्यतायें तथा फ्रांसीसी क्रांति के नारे भी शामिल थे।

### 6.2.1.2 लोकतंत्र तथा साम्यवाद

लोकतंत्र पर मार्क्स के क्रांतिकारी विचार अमरीका, इंग्लैंड और फ्रांस की क्रांति जैसी ऐतिहासिक घटनाओं के अध्ययन पर आधारित थे। इन ऐतिहासिक घटनाओं के अध्ययनों से उसने यह निष्कर्ष निकाला कि **सर्वहारा** समूह (proletarian) के लोकतंत्र की अवस्था अस्थाई व परिवर्तनशील होती है। इस अवस्था को सामान्यतया तथा अनिवार्यतया साम्यवाद में बदल जाना पड़ता है। मार्क्स के अनुसार साम्यवाद एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें सभी वस्तुओं पर सभी का सामूहिक स्वामित्व होता है और वे सभी को प्राप्त होती हैं। साम्यवादी विचारों में विश्वास बढ़ जाने के बाद मार्क्स ने अर्थशास्त्र का गहन अध्ययन प्रारंभ किया। इस दौर में वह एक उदारवादी (liberal) से साम्यवादी (communist) के रूप में विकसित हो रहा था। उसने बी. द स्पिनोज़ा, एल. फायरबाख़, **एलेक्सिस द टॉक्विल** जैसे यूरोपीय चिन्तकों से बहुत कुछ सीखा (देखिये शब्दावली 6.6 तथा कोष्ठक 6.3)।

### 6.2.1.3 इतिहास की अवधारणा

जिस ऐतिहासिक युग में मार्क्स कार्यशील रहा वह फ्रांसीसी क्रांति से प्रारंभ होता है। यह काल औद्योगिक और सामाजिक क्रांति के उस सम्पूर्ण युग के साथ-साथ चलता है जो कि अन्ततः आधुनिक युग में बदला। यही कारण है कि ऐसे समय में उपजे मार्क्स के विचारों में एक ज़ोरदार अपील है, जो कि उस समय के इतिहास की देन है।

तीस वर्ष की आयु से पहले मार्क्स ने एक बहुत बड़ी संख्या में लेख लिखे। ये सभी मिलकर मार्क्स की ऐतिहासिक भौतिकवादी अवधारणा की समुचित रूप-रेखा प्रदान करते हैं। यद्यपि मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद पर स्पष्ट रूप से कभी नहीं लिखा, 1843-1848 के बीच के समय में उसके लेख इसकी ओर सरसरी नज़र डालते हैं। मार्क्स के लिये यह कोई एकदम नया दार्शनिक सिद्धांत नहीं था। वस्तुतः सामाजिक ऐतिहासिक अध्ययनों का यह एक व्यवहारिक तरीका था। राजनैतिक रूप से कार्य-योजना के लिए भी यह एक आधार था।

इस सिद्धांत की संरचना अवश्य ही हीगल से प्रेरित थी। हीगल की भांति ही मार्क्स ने भी इस बात को माना कि मनुष्य का इतिहास सरल रूप में एक दिशा में चलने वाली प्रक्रिया है, जिसमें अवस्थायें पुनर्घटित नहीं होतीं। इसके साथ-साथ वह यह भी मानता था कि इतिहास की प्रक्रिया में निहित नियमों को खोजा जा सकता था। परन्तु शीघ्र ही आपको स्पष्ट होगा कि किस प्रकार मार्क्स हीगलवादी दर्शन से परे चला जाता है। युवा हीगलवादियों में से अनेक ने हीगल के विचारों में दोष पाया और उन विचारों को नया रूप देने का प्रयास किया। परन्तु केवल मार्क्स ही इन विचारों की सुव्यवस्थित श्रृंखला विकसित कर सका, जो कि वस्तुतः बाद में समाज के बारे में हीगलवादी सिद्धान्तों से कहीं आगे निकल गई। आइए हम कोष्ठक 6.2 में समझें कि हीगल के इतिहास का दर्शन (philosophy of history) तथा तर्क विज्ञान (science of logic) क्या हैं।

**कोष्ठक 6.2: हीगल का इतिहास दर्शन**

हीगल उदारवादी था अर्थात उसने कुछ व्यक्तियों के शासन की अपेक्षा कानून के शासन को मान्यता दी। इस तरह उसने प्रशा **राज्य** (जर्मनी के विगत साम्राज्य) की सत्ता को

माना। उसका दर्शन प्रत्ययवादी (idealist) परम्परा से जुड़ा हुआ था। यह परम्परा इमानुअल काँट से शुरू हुई तथा हीगल ने इसे अपनी चरमसीमा तक पहुंचाया। हीगल के अनुसार तर्क यथार्थ का मूल तत्व है जिसकी अभिव्यक्ति इतिहास की प्रक्रिया में होती है। उसका कहना था कि तर्क की वृद्धि से उसकी जागरूकता पैदा हो जाने तक की प्रक्रिया ही इतिहास है। उसने संवैधानिक राज्य को इतिहास की प्रगति का शिखर माना। हीगल के अनुसार 'स्वतंत्रता की चेतना में वृद्धि' का दूसरा नाम इतिहास है। हीगल के अनुसार मानव इतिहास का विकास इसाई धर्म, सुधारवाद, फ्रांसीसी क्रांति एवं संवैधानिक राजतंत्र की दिशा में हो रहा था। उसका यह भी मत था कि संवैधानिक राजतंत्र को चलाने वाले शिक्षित राज्याधिकारी ही मानव प्रगति के विचारों को जानते पहचानते हैं।

हीगल के विचारों को मानने वाले युवा हीगलवादी कहलाते थे। मार्क्स भी इन्हीं में से था। युवा हीगलवादियों ने कालांतर में हीगल के विचारों से हटकर यह दावा किया कि मानव इतिहास की प्रगति के विचारों को केवल शिक्षित पदाधिकारी ही नहीं समझते अपितु सभी नागरिक इन विचारों को समझने की क्षमता हासिल कर सकते हैं। शुरू में कार्ल मार्क्स ने मानव इतिहास के विचारों को हीगल के दृष्टिकोण पर आधारित करके विकसित किया। लेकिन बाद में वह भी युवा हीगलवादियों के साथ जुड़ गया। अंततः उसने मानव समाज के इतिहास के बारे में अपने स्वतंत्र विचार विकसित किए। इन्हें ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि "मार्क्स ने हीगल को सिर के बल खड़ा कर दिया।" मार्क्स ने धर्म, राजनीति व क़ानून से सम्बन्धित हीगल के रूढ़िवादी विचारों की आलोचना की।

**हीगल का तर्कशास्त्र**

मार्क्स ने हीगल के प्रत्ययवाद (idealism) को नहीं माना परन्तु उसने हीगल की वाद-संवाद प्रक्रिया पद्धति को अपना लिया। इस खंड की इकाई 9 में वाद-संवाद प्रक्रिया की अवधारणा पर विस्तारपूर्वक चर्चा की जाएगी। आइए, यहाँ हम वाद-संवाद प्रक्रिया पर हीगल की मूल धारणा पर दृष्टिपात करें।

हीगल के अनुसार हर वाद (thesis) का एक प्रतिवाद (antithesis) होता है। वाद किसी विचार के सकारात्मक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है जबकि वाद का विपरीत अथवा नकारात्मक दृष्टिकोण प्रतिवाद कहलाता है। इसका अभिप्राय है कि हर सत्य कथन का एक विपरीत कथन होता है। ऐसा प्रतिवाद अथवा विपरीत कथन भी अपने आप में एक सत्य होता है। समय के साथ वाद तथा प्रतिवाद संवाद के रूप में घुल मिल जाते हैं। संवाद एक सम्मिश्रित दृष्टिकोण होता है। कालांतर में यह संवाद फिर से एक नया वाद बन जाता है। इस नए वाद का फिर एक नया प्रतिवाद उत्पन्न होता है। इस नए वाद तथा प्रतिवाद से मिलकर एक और नए संवाद की संभावना हो जाती है। इस तरह वाद-संवाद की प्रक्रिया चलती रहती है।

हीगल ने इतिहास में विचारों की प्रगति को द्वंद्ववाद की प्रक्रिया से समझा। मार्क्स ने द्वंद्ववाद की अवधारणा को अपनाया लेकिन उसे, हीगल की तरह, विचारों की प्रगति की अवधारणा में कोई सार नहीं दिखाई दिया। मार्क्स के अनुसार सत्य का मूल आधार विचार न होकर पदार्थ होता है। उसने भौतिकवाद द्वारा सत्य को अभिव्यक्त करने की कोशिश की। इसीलिए मार्क्स के सिद्धांत को ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा जाता है जबकि हीगल की विचारधारा वाद-संवाद प्रक्रियापरक प्रत्ययवाद कहलाती है।

यहाँ एक आधारभूत सवाल उठता है कि भौतिकवाद क्या है? भौतिकवाद में सभी वस्तुओं, यहाँ तक कि धर्म की भी, वैज्ञानिक व्याख्या की जाती है। भौतिकवाद को प्रत्ययवाद (idealism) की अवधारणा के विपरीत देखा जा सकता है। प्रत्ययवाद वह सिद्धांत है जिसमें अंतिम यथार्थ

पारलौकिक होता है। परंतु भौतिकवाद इस बात में विश्वास करता है कि सभी वस्तुयें स्थूलकाय पदार्थ पर आधारित हैं। भौतिकवाद की चर्चा तीन प्रकार से की जा सकती है। उदाहरणार्थ दार्शनिक भौतिकवाद, वैज्ञानिक भौतिकवाद तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद। प्रथम दो प्रकार के भौतिकवादों की परिभाषा में न जाते हुये यह बता दें कि ऐतिहासिक भौतिकवाद मानवीय इतिहास के विकास में भौतिक दशाओं के उत्पादन की मूलभूत और कारणात्मक भूमिका पर ज़ोर देता है। यथार्थ की इस भौतिकवादी व्याख्या के सन्दर्भ में ही मार्क्स ने ऐतिहासिक घटनाओं का अध्ययन किया। आइए देखें कि इतिहास के बारे में मार्क्स का दृष्टिकोण क्या है।

#### 6.2.1.4 इतिहास के प्रति समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

समाज और इतिहास के बारे में अपने सिद्धान्त को विकसित करने में मार्क्स ने हीगलवाद का खंडन किया। उसने हीगल के बाद आने वाले परायथार्थवादी (speculative) दर्शन का भी खंडन किया। उसने फायरबाख़ (देखिये कोष्ठक 6.3) के नृशास्त्रीय प्रकृतिवाद से प्रेरणा लेकर अपना स्वयं का एक मानववादी दृष्टिकोण विकसित किया। यह दृष्टिकोण ऐतिहासिक प्रक्रिया के समाजशास्त्रीय अध्ययन पर आधारित था। मार्क्स ने फ्रांसीसी भौतिकवाद, अंग्रेजी अनुभववाद (empiricism) तथा शास्त्रीय अर्थशास्त्र से प्रेरणा पाई। इस प्रेरणा के आधार पर उसने सभी सामाजिक प्रघटनाओं को समाज और प्रकृति की जटिल व्यवस्था में उनके स्थान और प्रकार्य के संदर्भ में समझने का प्रयास किया। मार्क्स का यह प्रयत्न हीगल और उसके अनुयायियों द्वारा मान्य दार्शनिक व्याख्याओं से एकदम भिन्न था। यही समझ बाद में मानव समाज के विकास और गठन की परिपक्व समाजशास्त्रीय अवधारणा बन गई।

**कोष्ठक 6.3: लुडविग फ़ायरबाख़**

लुडविग फायरबाख़ का जन्म 28 जुलाई, 1804 को बवेरिया प्रान्त के लान्ड्सहूट नामक स्थान पर हुआ तथा उसकी मृत्यु 13 सितम्बर, 1872 को न्युरम्बर्ग में हुई। वह एक भौतिकवादी दार्शनिक था। फ़ायरबाख़ द्वारा की गई धर्म पर हीगल के विचारों की आलोचना का युवा मार्क्स की लेखनी पर कुछ प्रभाव पड़ा।

फ़ायरबाख़ धर्मशास्त्र का विद्यार्थी था, जो कि बाद में दर्शनशास्त्र में रुचि लेने लगा। 1824 में उसने हीगल के भाषणों को सुना और परिणामस्वरूप उसने धर्म में विश्वास छोड़कर हीगलवादी दर्शन अपना लिया। अपनी पुस्तक, *थॉट्स ऑन डेथ एण्ड इम्मोर्टलिटी* (1830) में उसने आत्मा की अमरता को नकारा है। उसके इस विचार ने उस समय के बुद्धिजीवियों को काफ़ी उद्वेलित किया। उसके अधार्मिक विचारों के कारण ही उसे दर्शनशास्त्र के प्रोफ़ेसर का पद भी नहीं मिला। इस बात के विरोध में फ़ायरबाख़ ने अध्यापन बन्द कर दिया और एक स्वतंत्र रूप से जीविका चलाने वाला विद्वान बन गया। हीगल के प्रत्ययवाद (idealism) पर उसने अनेक आलोचनात्मक लेख लिखे और भौतिकवाद पर अपने विचार विकसित किये। 1850 में वह चिकित्सीय भौतिकशास्त्र अथवा मेडिकल मेटेरियलिज़्म से पूर्ण रूप से सहमत हो गया। उसने यह माना कि मानव अपने भोजन की प्रकृति और गुणवत्ता से बनता है। मार्क्स की बौद्धिक प्रगति में फ़ायरबाख़ के विचारों का प्रभाव केवल क्षणिक ही था।

### 6.2.2 मूल मान्यताएं

ऐतिहासिक भौतिकवाद मानव इतिहास के दर्शन पर आधारित है। फिर भी यह इतिहास का दर्शन नहीं है। सही तौर पर इसे मानवीय प्रकृति का समाजशास्त्रीय सिद्धांत कहा जा सकता है। सिद्धांत के रूप में यह अनुभवों पर आधारित अनुसंधान के लिये वैज्ञानिक तथा सुव्यवस्थित शोध का रास्ता दिखाता है। इसके साथ-साथ यह इस बात का दावा करता है कि समाज में परिवर्तन लाने के लिये एक क्रांतिकारी कार्यक्रम भी इसमें निहित है।

अत: यह सिद्धान्त वैज्ञानिक और क्रांतिकारी विशेषताओं का एक अद्वितीय मिश्रण है, और ऐसा मिश्रण मार्क्स के मौलिक सृजन की विशिष्टिता है। समाज के इस सिद्धांत अर्थात् ऐतिहासिक भौतिकवाद की वैज्ञानिक और क्रांतिकारी प्रतिबद्धताओं के बीच जटिल तथा असामान्य संबंध हैं। ये संबंध मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों के लिए विवाद के प्रमुख मुद्दे रहे हैं। इन मुद्दों में न जाकर यहाँ ऐतिहासिक भौतिकवाद के वैज्ञानिक पक्ष (देखिये 6.2.2) की ही चर्चा की जा रही है। इस चर्चा के पहले आइए संक्षेप में समाज तथा मानव प्रकृति पर मार्क्स के विचार भी जान लें।

### 6.2.2.1 अन्तर्संबंधित समष्टि के रूप में समाज

मार्क्स के विचार में मानव समाज एक अन्तर्संबंधित समष्टि (whole) है। सामाजिक समूह, संस्थायें, विश्वास और विचारधारायें एक दूसरे के साथ जुड़े होते हैं। अत: मार्क्स ने इनको अलग-अलग समझने की अपेक्षा इनके अन्तर्संबंधों का अध्ययन किया है। उसके अनुसार इतिहास, राजनीति, कानून, धर्म तथा शिक्षा आदि का अलग-अलग इकाइयों के रूप में अध्ययन नहीं किया जा सकता है।

### 6.2.2.2 समाज की परिवर्तनशील प्रकृति

मार्क्स के अनुसार समाज में परिवर्तनशीलता अन्तर्निहित होती है, जिसमें परिवर्तन प्राय: आन्तरिक विरोधाभासों व संघर्षों का परिणाम होते हैं। यदि वृहद स्तर पर इस प्रकार के उदाहरणों का अध्ययन किया जाये तो मार्क्स के अनुसार इन परिवर्तनों के कारणों और परिणामों में पर्याप्त मात्रा में नियमितता पाई जाती है। इस नियमितता के आधार पर समाज के बारे में सामान्य राय बनाई जा सकती है। ये दोनों ही मान्यतायें मार्क्स के द्वारा बताई मानवीय प्रकृति से संबंधित हैं।

### 6.2.2.3 मानवीय प्रकृति तथा सामाजिक संबंध

मार्क्स का मानवीय प्रकृति के बारे में विचार ऐतिहासिक भौतिकवाद के पीछे एक मूल मान्यता है। इसके बिना यह सिद्धांत ठोस रूप नहीं ले सकता। मार्क्स के अनुसार मानव प्रकृति में कोई भी बात स्थाई नहीं है। मानव प्रकृति मूल रूप से न तो दुष्ट स्वभाव की है अथवा न ही मूल रूप से सज्जन स्वभाव की। मूलत: यह अनेक संभावनाओं से भरी है। यदि मानव प्रकृति के कारण मनुष्य इतिहास की रचना करता है तो वह इतिहास के साथ-साथ मानव प्रकृति भी निर्मित करता है और मानव प्रकृति में क्रांति की सभी संभावनायें होती हैं। मानव इच्छा शक्ति से उत्पन्न उपलब्धि घटनाओं का सीधा सादा इतिहास मात्र नहीं है, अपितु इसमें "मानव प्रकृति" की धारणाओं के अनुरूप उत्पन्न स्थितियों के विरुद्ध विद्रोह करने की शक्ति भी निहित है। ऐसा नहीं है कि मनुष्य भौतिक लालसा अथवा धन की लालसा में उत्पादन करता है। होता यह है कि जीवनोपयोगी वस्तुओं की उत्पादन की प्रक्रिया में मनुष्य ऐसे सामाजिक संबंधों में जाता है, जो उसकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं। मार्क्स के अनुसार लगभग पूरे मानवीय इतिहास में ये संबंध **वर्ग** संबंध है और इनसे **वर्ग संघर्ष** उत्पन्न होता है।

**बोध प्रश्न 1**

i) सही उत्तर पर निशान लगाइये।

मार्क्स ने जिससे दार्शनिक प्रेरणा प्राप्त की उस विद्वान का क्या नाम है ?

अ) कॉम्ट

ब) स्पेंसर

स) हीगल

द) अरस्तु

इ) कन्फ़्यूशस

ii) निम्न में से कौन से कथन ऐतिहासिक भौतिकवाद के लिये स्वीकार्य नहीं हैं ?

अ) सभी प्राणियों में मानव प्राणीशास्त्रीय रूप से सर्वाधिक निर्धारित जीव है।

ब) मानव प्रकृति मूलत: दुष्ट है।

स) वर्ग समाज में जीवन व्यतीत करने में मनुष्य सदैव प्रसन्न रहते हैं।

iii) निम्न में से कौन-सा कथन ऐतिहासिक भौतिकवाद की अनिवार्य विशिष्टता है ?

अ) समाज प्राणियों की भांति ही जन्म लेता है, बढ़ता है तथा परिवर्तित होता है।

ब) समाज में अनिवार्यत: परिवर्तनशील आन्तरिक विरोधाभासों के फलस्वरूप परिवर्तन होते हैं।

स) समाज एक छोटी इकाई के रूप में प्रारम्भ होता है तथा समय के साथ आकार में बढ़ता है।

द) समाज अपने वैज्ञानिकों के विकास के साथ-साथ विकसित होता है।

### 6.2.3 सिद्धांत

यहाँ हमने समाज के बारे में मार्क्स के विचारों को सरल शब्दों में प्रस्तुत किया है। उसका विचार दर्शन अनिवार्यत: उस समय के पूंजीवादी समाज की व्याख्या करने में प्रयुक्त हुआ है। उसने पूंजीवादी समाज की परस्पर विरोधी प्रकृति को दर्शाया है। आइये हम देखें कि मार्क्स ने इस कार्य को कैसे किया। यहाँ हमने मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत की विस्तार से विवेचना की है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद से सिद्धांत की सुस्पष्ट व्याख्या मार्क्स द्वारा लिखित पुस्तक *ए कंट्रीब्यूशन टु द क्रिटीक ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी* (1859) के आमुख में दी गई है। इसमें उसने बताया कि समाज का वास्तविक आधार समाज की आर्थिक संरचना है तथा आर्थिक संरचना समाज में पाए जाने वाले उत्पादन के संबंधों से बनती है। समाज की वैधानिक और राजनैतिक **अधिसंरचना** (superstructure) उत्पादन के संबंधों पर आधारित होती है। मार्क्स ने यह भी कहा कि **उत्पादन के संबंध** समाज में पाई जाने वाली उत्पादन की शक्तियों के चरण को प्रतिबिम्बित करते हैं।

इस व्याख्या के अन्तर्गत आपका परिचय उत्पादन के संबंध, **उत्पादन के साधनों की शक्तियां** तथा अधिसंरचना जैसे शब्दों से हुआ। आपको हम यह बता दें कि मार्क्सवादी विचारधारा में इन शब्दों का विशेष अर्थ है। जैसे-जैसे इस खंड की अन्य इकाइयों का अध्ययन किया जाएगा, आपको इनके बारे में विस्तृत रूप से जानकारी मिलेगी। साथ में इस संदर्भ में इस इकाई की शब्दावली भी देखिये।

इस इकाई में आपको पहले मार्क्स के विचारों के केन्द्र बिन्दु को समझना आवश्यक है। यह केन्द्र बिन्दु है कि मार्क्स के अनुसार सामाजिक, राजनैतिक और बौद्धिक जीवन की प्रक्रिया सामान्य रूप से भौतिक उत्पादन पर आधारित होती है। इस तर्क के आधार पर मार्क्स ने इतिहास का सम्पूर्ण दृष्टिकोण देने का प्रयास किया है।

उसके अनुसार समाज की उत्पादक शक्तियों में होने वाले नये विकास समाज के वर्तमान उत्पादन के संबंधों के साथ टकराव की स्थिति के बारे में जागरूक हो जाते हैं तो इसका हल चाहते हैं और मार्क्स के अनुसार इतिहास का ऐसा युग क्रांति का युग कहलाता है। क्रांति के कारण संघर्ष का समाधान हो जाता है। अर्थात् उत्पादन की नई शक्तियां जड़ें जमा लेती हैं और नये उत्पादन संबंधों को जन्म देती हैं। अत: यह स्पष्ट है कि नई उत्पादक शक्तियों का विकास ही मानवीय इतिहास का मार्ग प्रशस्त करता है। समाज में उत्पादक शक्तियों का प्रयोग जीवन

की भौतिक आवश्यकताओं और दशाओं (condtions) के उत्पादन में होता है। अत: यह कहा जा सकता है कि मार्क्स के अनुसार मानव इतिहास भौतिक उत्पादन की नई शक्तियों के विकास और परिणामों का एक लेखा-जोखा है। और यही कारण है कि इतिहास के बारे में मार्क्स के इस दृष्टिकोण को ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा गया। संक्षेप में यही ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धांत है।

इस सिद्धांत की विस्तृत विवेचना करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम आपको बतायें कि मार्क्सवाद के विभिन्न अनुयायी इस सिद्धांत की अलग-अलग व्याख्यायें प्रदान करते हैं। परन्तु हमने यहाँ पर ऐतिहासिक भौतिकवाद की प्राय: सभी द्वारा मान्य व्याख्या को ही समझने की कोशिश की है। यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा सामाजिक संगठन के विभिन्न स्वरूपों की व्याख्या हेतु कोई चालू मसाला या फ़ार्मूला वाला सूत्र नहीं है। इसे पहले मार्क्स के विचार-दर्शन के संदर्भ में ही समझना चाहिये। मार्क्सवादी ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत को समझने के लिये हमने जिन शब्दों का प्रयोग किया, आइये अब उनकी व्याख्या करें। पहला है सामाजिक संबंध।

### 6.2.3.1 व्यक्तियों से परे सामाजिक संबंध

मार्क्स के अनुसार यह एक सामान्य सिद्धांत है कि जीवनोपयोगी भौतिक आवश्यकताओं का उत्पादन (जो कि समाज की मौलिक आवश्यकता होती है) व्यक्तियों को कुछ ऐसे निश्चित संबंधों से जोड़ता है जो कि उनकी इच्छाओं से स्वतंत्र होते हैं। यह मार्क्स द्वारा दिया समाज के सिद्धांत का मूल विचार है। उसने इस बात पर बल दिया कि कुछ ऐसे सामाजिक संबंध होते हैं जो लोगों की निजी इच्छाओं और प्राथमिकताओं से स्वतंत्र होते हैं तथा उन पर दबाव डालते हैं। उसने आगे स्पष्ट किया कि हमारी ऐतिहासिक प्रक्रिया की समझ इस बात पर निर्भर करती है कि हम सामाजिक संबंधों के बारे में कितने जागरूक हैं।

### 6.2.3.2 अधोसंरचना (infrastructure) तथा अधिसंरचना (superstructure)

मार्क्स के अनुसार, प्रत्येक समाज में **अधोसंरचना** (infrastructure) तथा अधिसंरचना (superstructure) होती है। जब सामाजिक संबंध भौतिक दशाओं के संदर्भ में परिभाषित किये जाते हैं तो उसे मार्क्स ने अधोसंरचना कहा है। किसी भी समाज की भौतिक दशाओं में परिवर्तन से उसके सामाजिक संबंधों में भी परिवर्तन होता है। उत्पादन की शक्तियां और संबंध अधोसंरचना के अंतर्गत आते हैं। अधिसंरचना में वैधानिक, शैक्षणिक तथा राजनैतिक संस्थायें, मूल्य, चिन्तन के संस्कृतिपरक तरीके, धर्म, विचारधारायें और दर्शनशास्त्र आते हैं। उदाहरणत: राज्य संस्थाओं व उपकरणों का वह समूह है जो प्रभुत्वशील वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है और यह समाज की अधिसंरचना का भाग होता है।

### 6.2.3.3 उत्पादन की शक्तियां और संबंध

मार्क्स के अनुसार उत्पादन की शक्तियां समाज की उत्पादन क्षमता को दिखाती हैं। उत्पादन की यह क्षमता वस्तुत: वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान, प्रौद्योगिक उपकरण, श्रम शक्ति से तय होती है। उत्पादन के संबंध उत्पादन प्रक्रिया से पैदा होते हैं। इसमें अनिवार्यत: उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से उपजे संबंध भी शामिल होते हैं। परंतु, उत्पादन के संबंधों को पूरी तरह से सम्पत्ति के संबंधों के माध्यम से ही नहीं पहचाना जाना चाहिये। मार्क्स का कहना है कि कालांतर में समाज एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदल जाता है। इस बदलाव की प्रक्रिया को समझाने के लिए मार्क्स ने ऐतिहासिक चरणों की संकल्पना की।

### 6.2.3.4 सामाजिक वर्गो के संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन

मार्क्स ने प्रमुख सामाजिक वर्गो के गठन की चर्चा करते हुये समाज की अधोसंरचना

(infrastructure) के महत्व पर प्रकाश डाला। उसने वर्ग संघर्ष में आंतरिक द्वन्द्व से उपजने वाले सामाजिक परिवर्तन के विचार को विकसित किया। मार्क्स के अनुसार सामाजिक परिवर्तन का एक नियमित विन्यास होता है। मोटे रूप से मार्क्स ने समाज के मुख्य प्रकारों का ऐतिहासिक क्रम बताया है। इस क्रम में पहले "आदिम साम्यवाद" वाला सरल समाज आता है व बाद में आधुनिक पूंजीवादी जटिल समाज आता है। उसने महान ऐतिहासिक परिवर्तनों की व्याख्या की है। उसके अनुसार अधोसंरचनात्मक परिवर्तनों के संदर्भ में समाज के पुराने स्वरूप नष्ट हो जाते हैं और नये स्वरूप सृजित होते हैं। इस प्रक्रिया को मार्क्स ने सतत चलने वाली एक सामान्य प्रक्रिया माना है। उत्पादन की शक्तियां और संबंधों के मध्य विरोधाभास के प्रत्येक काल को मार्क्स ने क्रांति का युग माना है।

### 6.2.3.5 उत्पादन की शक्तियां और संबंधों के मध्य वाद-संवाद प्रक्रियापरक संबंध

क्रांति युग में, यदि समाज का एक वर्ग उत्पादन के पुराने संबंधों से जुड़ा होता है और ये संबंध उत्पादन की शक्तियों के विकास में रुकावट डालते हैं तो, दूसरी ओर, दूसरा परिवर्तन चाहता है। यह वर्ग उत्पादन के नये संबंधों के लिये प्रयास करता है। उत्पादन के नये संबंध उत्पादन की शक्ति के विकास में बाधा नहीं पहुंचाते। ये इन शक्तियों की अधिकाधिक प्रगति को प्रोत्साहित करते हैं। वर्ग संघर्ष पर मार्क्स के विचारों की यह भावबाचक (abstract) अभिव्यक्ति है।

### 6.2.3.6 क्रांति तथा समाजों का इतिहास

उत्पादन की शक्तियों और संबंधों के मध्य वाद-संवाद प्रक्रियापरक संबंध से क्रांति के सिद्धांत का निर्माण होता है। मार्क्स के ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अनुसार क्रांतियाँ राजनैतिक दुर्घटनायें अथवा संयोग नहीं है। वे ऐतिहासिक आंदोलनों की सामाजिक अभिव्यक्तियां हैं। क्रांतियाँ समाजों की ऐतिहासिक प्रगति की अनिवार्य अभिव्यक्तियां है। क्रांतियाँ तभी घटित होती हैं, जब कि उनके लिए परिपक्व दशायें उत्पन्न हों। मार्क्स (1859: आमुख) ने लिखा है, "जब तक कि सभी संभव उत्पादन की शक्तियां पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो जातीं तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था लुप्त नहीं होती तथा जब तक प्राचीन समाज के गर्भ में नये उत्पादन के संबंधों के लिये भौतिक दशायें परिपक्व नहीं हो जातीं तब तक उत्पादन के नये उच्चतर संबंध नहीं उभर पाते।"

इसी बात को एक उदाहरण के माध्यम से अधिक बेहतर रूप से समझाया जा सकता है। सामन्तवादी समाज में उत्पादन के पूंजीवादी संबंध विकसित हुये और जब ये उत्पादन के संबंध परिपक्व अवस्था में पहुंच गये तो यूरोप में फ्रांसीसी क्रांति हुई। यहाँ मार्क्स ने पूंजीवाद से समाजवाद की ओर ले जाने वाली परिवर्तन की एक अन्य प्रक्रिया की भी चर्चा की अर्थात् पूंजीवादी समाजों में समाजवादी उत्पादन के संबंध विकसित होने लगे। इस प्रकार मार्क्स ने समाज की ऐतिहासिक गतिमानता की व्याख्या की।

### 6.2.3.7 यथार्थ तथा चेतना

जैसा कि हमने पहले बताया है मार्क्स ने अधोसंरचना और अधिसंरचना के बीच अंतर किया है। इसके साथ-साथ उसने सामाजिक यथार्थ (social reality) और चेतना (consciousness) में भी भेद किया है। मार्क्स के अनुसार यथार्थ मानवीय चेतना से नहीं बनता। अपितु सामाजिक यथार्थ से मानवीय चेतना बनती है। मार्क्स का यह विचार एक पूर्ण अवधारणा के रूप में विकसित होता है। इसमें मानवीय चेतना की व्याख्या सामाजिक संबंधों के सन्दर्भ में ही की जा सकती है।

उत्पादन की शक्तियों और संबंधों के अतिरिक्त मार्क्स ने उत्पादन के तरीकों की भी चर्चा की है। इनके आधार पर मार्क्स ने मानव इतिहास की अवस्थाओं की व्याख्या एशियाटिक, प्राचीन, सामन्तवादी तथा पूंजीवादी-चार उत्पादन के तरीकों के संदर्भ में की है। उसके अनुसार पश्चिमी

समाज का इतिहास हमें प्राचीन सामन्तवादी तथा पूंजीवादी उत्पादन के तरीक़ों के बारे में बताता है। प्राचीन (ancient) उत्पादन के तरीक़े की विशिष्टता है दासत्व। सामन्तवादी उत्पादन के तरीक़े की विशेषता है भूमिहीन किसान। पूंजीवादी उत्पादन के तरीक़े की विशेषता है श्रम से आजीविका अर्जित करना। ये मानव श्रम के शोषण के तीन स्पष्ट तरीक़े हैं। दूसरी ओर, एशियाटिक उत्पादन का तरीक़ा पश्चिमी समाज के इतिहास की अवस्था नहीं है। इसकी विशिष्टता है कि इसमें सर्वसामान्य लोग राज्य अथवा राज्य प्रशासन तंत्र के अधीन होते हैं।

**सोचिए और करिए 1**

भौतिकवाद, उत्पादन, क्रांति तथा चेतना के लिये आपकी मातृभाषा में क्या शब्द हैं ? इन शब्दों की व्याख्या करने के लिये आप अपने सामाजिक जीवन से उदाहरण दीजिये।

## 6.3 ऐतिहासिक भौतिकवाद आर्थिक निर्धारणवाद नहीं है

यह संभव है कि आप मार्क्स को आर्थिक निर्धारणवादी अथवा इस विचार का प्रतिपादक मान लें कि केवल आर्थिक दशायें ही समाज के विकास को निश्चित करती हैं। परन्तु यहाँ पर यह स्पष्ट किया जाएगा कि ऐतिहासिक भौतिकवाद आर्थिक निर्धारणवाद नहीं है। मार्क्स ने यह माना कि संस्कृति के बिना किसी भी प्रकार का उत्पादन संभव नहीं है। उसके अनुसार उत्पादन के तरीक़ों में उत्पादन के सामाजिक संबंध भी शामिल होते हैं। ये संबंध आधिपत्य और अधीनता के होते हैं। जीवन तथा जीवन के भौतिक साधनों के उत्पादन को कामगार लोगों की संस्कृति, प्रतिमानों तथा रीति-रिवाजों को समझे बिना नहीं समझा जा सकता है। कामगार लोग वे हैं, जिन पर शासक शासन करते हैं। कामगार वर्ग की संस्कृति की समझ हमें उत्पादन के तरीक़ों की समझ में सहायता देती है। आइए यहाँ वर्ग की अवधारणा को संक्षेप में समझें।

वर्ग एक वह श्रेणी है, जिसमें व्यक्तियों के कालांतर में बन गए संबंधों का वर्णन किया जाता है। इसी श्रेणी में वे तरीक़े भी आते हैं जिनसे लोग इन संबंधों के प्रति जागरूक हो जाते हैं। वर्ग में उन तरीक़ों का भी वर्णन होता है, जिनसे लोग आपस में बंट जाते हैं या जुड़ते हैं, संघर्ष में शामिल होते हैं, संस्थायें निर्मित करते हैं व वर्ग के अनुरूप मूल्यों का संरक्षण करते हैं। वर्ग एक आर्थिक और सांस्कृतिक संरचना है। वर्ग को विशुद्ध रूप से आर्थिक श्रेणी में रखना असंभव है।

**सोचिए और करिए 2**

क्या आपके विचार में भारतीय समाज के अध्ययन के लिए कार्ल मार्क्स के विचार उपयोगी हैं? अपने सकारात्मक नकारात्मक उत्तर के लिये कम से कम दो कारण बताइये। अपने उत्तर की तुलना अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों के उत्तरों से कीजिए।

## 6.4 समाजशास्त्रीय सिद्धांत में ऐतिहासिक भौतिकवाद का योगदान

ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धांत आधुनिक समाजशास्त्र के गठन में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। हीगल, सेन्ट सीमों तथा एडम फर्ग्यसन जैसे विविध चिंतकों की कृतियों में मार्क्स के विचार की छवि देखने को मिलती है। इन सभी ने मार्क्स को अत्यधिक प्रभावित किया। उसने समाज की प्रकृति की अवधारणा और इसके अध्ययन के समुचित तरीक़ों पर विस्तृत प्रकाश डाला। यह काम उसने अपने पूर्ववर्ती विद्वानों की अपेक्षा अधिक सटीक और आनुभाविक तरीक़े से किया। प्रत्येक समाज की संरचना को समझने के लिये उसने एक पूर्ण रूप से नया तत्व दिया। यह तत्व सामाजिक वर्गों के बीच पाए जाने वाले संबंधों से निकला था। ये संबंध मार्क्स के अनुसार उत्पादन के तरीक़ों द्वारा निश्चित होते थे। ऐतिहासिक भौतिकवाद के इस लक्षण के

कारण इसे बाद के समाजशास्त्रियों ने व्यापक रूप से स्वीकार किया क्योंकि सामाजिक परिवर्तन के कारणों का सही एवं यथार्थवादी अनुसंधान करने के लिये इसने एक अच्छी शुरुआत की संभावना दी।

इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक भौतिकवाद ने समाजशास्त्र में अन्वेषण की एक नयी पद्धति, नई अवधारणायें, तथा अनेक नई परिकल्पनायें प्रारंभ की जो कि समाज के विशिष्ट स्वरूपों के उदय, विकास एवं विनाश की व्याख्या करती हैं। इन सभी ने उन्नीसवीं शताब्दी के बाद के दशकों में समाजशास्त्रियों की लेखनी पर गहन प्रभाव डाला।

अरस्तु के समय से चली आ रही समाज के बारे में ज्ञान की विरासत को ऐतिहासिक भौतिकवाद ने आलोचनात्मक ढंग से संश्लिष्ट किया। मार्क्स का लक्ष्य था मानवीय विकास की दशाओं को समझना। अपनी इस समझ के आधार पर वह एक बेहतर समाज की स्थापना करना चाहता था। उसके अनुसार इस समाज में होंगे - तर्कसंगत नियोजन, सहकारी उत्पादन, समानता पर आधारित वितरण और सामाजिक-राजनैतिक शोषण से मुक्ति।

अंतत: वर्तमान सामाजिक यथार्थ को समझने के लिये ऐतिहासिक भौतिकवाद न केवल एक पद्धति प्रदान करता है, अपितु यह अन्य पद्धतियों के अस्तित्व को समझने के लिये भी एक पद्धति है। यह सामाजिक विज्ञानों की पद्धति और लक्ष्यों का निरंतर आलोचक है।

**बोध प्रश्न 2**

i) उत्पादन के संबंधों और उत्पादन की शक्तियों को तीन पंक्तियों में परिभाषित कीजिये।

.....

.....

.....

ii) अधिसंरचना के विभिन्न घटकों को दो पंक्तियों में सूचीबद्ध कीजिये।

.....

.....

.....

iii) राज्य की परिभाषा दीजिये। राज्य का संबंध किससे है ?

अ) अधोसंरचना से अथवा

ब) अधिसंरचना से?

## 6.5 सारांश

सारांशत:, इस इकाई में आपने निम्नलिखित तीन बिंदुओं को विस्तार से समझा।

i) ऐतिहासिक भौतिकवाद सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक तथ्यों की भौतिकवादी व्याख्या है। इसके अनुसार इतिहास की व्याख्या में विचारों का स्थान नहीं है अपितु हमें समझना चाहिए कि सामाजिक संस्था और उनसे संबंधित मूल्य उत्पादन के तरीक़ों से निर्धारित होते हैं। ध्यान रहे कि मार्क्स के संदर्भ में 'निर्धारित' शब्द का तात्पर्य निर्धारणवाद से नहीं लिया जाना चाहिये।

ii) ऐतिहासिक भौतिकवाद मानवीय प्रगति का वाद-संवाद प्रक्रियापरक सिद्धांत है। इसके अनुसार प्रकृति की शक्तियों पर नियंत्रण करने के मानवीय प्रयासों का ही विकास इतिहास है। दूसरे शब्दों में उत्पादन के विकास को इतिहास कहा जा सकता है। सारा उत्पादन

सामाजिक संगठन के अन्तर्गत होता है, अत: इतिहास सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तनों का क्रम है। इस क्रम में मानवीय संबंधों का विकास उत्पादक गतिविधियों पर आधारित होता है। उत्पादक गतिविधि या **उत्पादन की प्रणाली** का आधार अर्थव्यवस्था होती है तथा सभी अन्य प्रकार के संबंध, संस्थायें, गतिविधियां तथा विचार अधिसंरचनात्मक (superstructural) होते हैं।

iii) इतिहास प्रगति है, क्योंकि मनुष्य की उत्पादन की शक्तियां, उत्पादन की क्षमतायें निरंतर बढ़ती रहती है। यह अवनति भी है, क्योंकि उत्पादन की शक्तियों को सर्वश्रेष्ठ बनाने के प्रयास में हमने अधिकाधिक जटिल तथा शोषक सामाजिक संगठन का सृजन भी कर लिया है।

## 6.6 शब्दावली

**ए. ह्यूम**

ह्यूम एक अनीश्वरवादी (agnostic) दार्शनिक था जो यह मानता था कि अन्तिम यथार्थ अज्ञात है।

**एलेक्सिस द टॉक्विल**

अलेक्सिस द टॉक्विल को 19वीं शताब्दी के फ्रांस का महान् राजनीतिक चिन्तक माना जाता है। उसने दो प्रमुख पुस्तकें लिखीं

i) *डेमोक्रेसी इन अमेरीका*

ii) *द ओल्ड रेजीम एण्ड द फ्रेन्च रिवोल्यूशन*

अपनी पहली पुस्तक में उसने एक विशिष्ट समाज, अर्थात् अमरीकन समाज, का चित्रण दिया और दूसरी पुस्तक में एक ऐतिहासिक घटना, अर्थात् फ्रांसीसी क्रांति, का विश्लेषण दिया। मार्क्स लोकतंत्र पर टॉक्विल के विचारों से बहुत अधिक प्रभावित था।

**बी. द स्पिनोज़ा**

स्पिनोज़ा सत्रहवीं शताब्दी का डच दार्शनिक था। उसने यह प्रतिपादित किया कि यथार्थ की अनेक विशेषतायें होती हैं, जिनमें से चिन्तन और विस्तारण को ही मानव मस्तिष्क द्वारा समझा जा सकता है।

**वर्ग**

मूलभूत सामाजिक समूह अथवा वह सामूहिकता जिसमें एक ठोस सामाजिक शक्ति के रूप में कार्य करने की क्षमता हो। इसे भौतिक उत्पादन के साधनों के स्वामित्व अथवा अस्वामित्व के संदर्भ में देखा जा सकता है।

**वर्ग संघर्ष**

दो परस्पर विरोधी सामाजिक वर्गों के मध्य संघर्ष जो इतिहास की गतिशील शक्ति है

**उत्पादन के साधनों की शक्तियां**

भौतिक वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त कच्चा माल, उपकरण तथा तकनीक। भौतिक तकनीकी पक्षों को उत्पादन के सामाजिक संबंधों में भ्रमित नहीं करना चाहिये, इनमें अन्तर है।

**अधोसंरचना**

समाज के सन्दर्भ में उत्पादन के तरीकों को मूल सैद्धान्तिक प्राथमिकता देने के लिये प्रयुक्त उपमा। इसमें उत्पादन के संबंध तथा उत्पादन के साधन शामिल होते हैं।

| | |
|---|---|
| उदारवादी | जो प्रगति, व्यक्ति की स्वायत्तता तथा मानव मात्र के भले स्वभाव में विश्वास करता है |
| **उत्पादन की प्रणाली** | उत्पादन के संबंध और उत्पादन की शक्तियों के बीच पाए जाने वाले संबंध |
| **सर्वहारा (प्रोलिटेरियन)** | किसी भी समुदाय के निम्नतम सामाजिक आर्थिक वर्ग के प्रतिनिधि |
| **उत्पादन के संबंध** | जीवन की भौतिक दशाओं के उत्पादन के फलस्वरूप प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से उभरने वाले सामाजिक संबंध |
| **अधिसंरचना** | अधिसंरचना के अस्तित्व की सामाजिक दशाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली उपमा। इसके अन्तर्गत राज्य, विद्यालय, धार्मिक संस्थायें, संस्कृति, विचार, मूल्य तथा दर्शन आते हैं। |
| **राज्य** | संस्थाओं तथा उपकरणों का वह समूह जो कि प्रभुत्वशील वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है तथा उनके हितों की परिपूर्ति करता है यह अधिसंरचना का भाग है और अपेक्षाकृत रूप में इसे अधोसंरचना से अलग ही समझना चाहिए। |

## 6.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बोटोमोर, टॉम, 1975. मार्क्सवादी समाजशास्त्र, अनुवादक: सदाशिव द्विवेदी, मैक्मिलन कम्पनी: नई दिल्ली

सांस्कृतायन, राहुल, 1954. कार्ल मार्क्स, किताब महल: इलाहाबाद

## 6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) स)

ii) अ), ब), स)

iii) ब)

**बोध प्रश्न 2**

i) शब्दावली देखिये।

ii) राज्य, शिक्षा, धर्म, मूल्य, विचार एवं दर्शन आदि

iii) शब्दावली देखिये।

# इकाई 7 उत्पादन की शक्तियां, संबंध एवं प्रणाली

## इकाई की रूपरेखा


7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 उत्पादन

- 7.2.1 मानवीय समाज का आधार: भौतिक उत्पादन
- 7.2.2 उत्पादन: सामान्य तथा ऐतिहासिक संवर्ग

7.3 उत्पादन की शक्तियां

- 7.3.1 उत्पादन शक्तियाँ: उत्पादन के साधन व श्रम शक्ति
- 7.3.2 उत्पादन की भौतिक शक्तियों में परिवर्तन
- 7.3.3 उत्पादन शक्तियों की प्रकृति

7.4 उत्पादन के संबंध

- 7.4.1 उत्पादन शक्तियों एवं संबंध में जुड़ाव
- 7.4.2 उत्पादन संबंधों के प्रकार
- 7.4.3 उत्पादन संबंधों की प्रकृति
- 7.4.4 उत्पादन संबंधों से उत्पादन शक्ति में बदलाव

7.5 उत्पादन प्रणाली

- 7.5.1 उत्पादन प्रणाली परिभाषा मे निर्णायक तत्व: अतिरिक्त उत्पादन
- 7.5.2 उत्पादन प्रणाली में विशिष्ट उत्पादन संबंध
- 7.5.3 उत्पादन प्रणाली की उत्पादन शक्तियों में बदलाव

7.6 उत्पादन की प्रणाली के विभिन्न स्वरूप

- 7.6.1 एशियाटिक उत्पादन प्रणाली
- 7.6.2 प्राचीन उत्पादन प्रणाली
- 7.6.3 सामन्तवादी उत्पादन प्रणाली
- 7.6.4 पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली

7.7 सारांश

7.8 शब्दावली

7.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 7.0 उद्देश्य

यह इकाई उत्पादन की शक्तियों, सम्बन्ध एवं प्रणाली के बारे में है। यह इकाई ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत के विभिन्न पक्षों का विवरण देती है। इस इकाई में हमने उत्पादन की महत्वपूर्ण धारणाओं के अंतर्गत उत्पादन की शक्तियों, सम्बन्धों एवं प्रणाली की चर्चा की है। इसको पढ़कर आपके द्वारा सम्भव होगा

- उत्पादन की शक्तियां, सम्बन्ध एवं प्रणाली-इन तीनों अवधारणाओं की व्याख्या

- इन अवधारणाओं को एक-दूसरे से अलग करके समझना
- समाज के सम्पूर्ण मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत इन अवधारणाओं को समझना।

## 7.1 प्रस्तावना

ऐतिहासिक भौतिकवाद पर इकाई 6 में हमने मानवीय प्रगति के मार्क्सवादी सामाजिक सिद्धांत की चर्चा की थी। यहाँ इकाई 7 में हमने इस सिद्धांत की प्रमुख तीन अवधारणाओं पर ध्यान केंद्रित किया है। इन अवधारणाओं, अर्थात् उत्पादन की शक्तियों, सम्बन्ध व प्रणाली से आपका परिचय इकाई 6 में कराया जा चुका है। इन्हीं अवधारणाओं को अब अधिक विस्तार से समझाया जा रहा है ताकि मार्क्स द्वारा इन विचारों के उपयोग को आप स्वयं समझ सकें। यह इकाई उन अवधारणाओं के बारे में ही है जिनसे मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धांत निर्मित किया है। इन्हीं अवधारणाओं के माध्यम से मार्क्स ने सामान्य रूप से समाज में परिवर्तन के नियम व विशिष्ट रूप से पूंजीवादी समाज में परिवर्तन के नियम को समझाया है। यह इकाई इन अवधारणाओं की व्याख्या करने का एक प्रयास है। इन अवधारणाओं से मार्क्स ने एक ऐसा सिद्धान्त विकसित किया, जिसके द्वारा उसके समकालीन समाज को समझा जा सके। उसने समाज में परिवर्तन हेतु प्रक्रिया के एक कार्यक्रम का भी निरूपण किया।

मार्क्सवादी अवधारणाओं को व्यवस्थित रूप से समझाने के लिए इस इकाई को मोटे तौर पर तीन भागों में बांटा गया है।

पहले भाग में आपको उत्पादन की शक्तियों की अवधारणा के बारे में जानकारी दी गई है। यह भाग इस अवधारणा के अर्थ तथा महत्व को समझाने का प्रयास है।

दूसरे भाग में उत्पादन के सम्बन्धों की अवधारणा के बारे में बताया गया है। यहाँ यह व्याख्या इस बात पर बल देती है कि ये सामाजिक सम्बन्ध हैं तथा इन्हें उत्पादन के भौतिक, तकनीकी पक्षों के साथ भ्रमित न किया जाए।

तीसरे भाग में आपको **उत्पादन प्रणाली** की अवधारणा के बारे में जानकारी दी गई है।

अंतिम भाग में हमने उत्पादन के चार तरीक़ों की विवेचना की है।

## 7.2 उत्पादन

मनुष्यों को जीवन निर्वाह हेतु भोजन, वस्त्र, शरण/आवास तथा अन्य जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की ज़रूरत होती है। उन्हें ये सभी वस्तुएं प्रकृति से बनी बनाई दशा में नहीं मिल सकतीं। निर्वाह हेतु प्रकृति में प्राप्य वस्तुओं से वे इन भौतिक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। मानवीय अस्तित्व का आधार सदैव भौतिक उत्पादन रहा है तथा आज भी है।

### 7.2.1 मानवीय समाज का आधार: भौतिक उत्पादन

कार्ल मार्क्स के अनुसार, मानव समाजों का इतिहास इसी बात की कहानी है कि किस प्रकार आजीविका अर्जन के प्रयासों के संदर्भ में व्यक्ति परस्पर जुड़े होते हैं। उसने कहा कि, "प्रथम ऐतिहासिक क्रिया भौतिक वस्तुओं का उत्पादन है। वस्तुत: यह एक ऐतिहासिक क्रिया है, जो सारे इतिहास की एक मूलभूत दशा है।" (देखिए बॉटोमोर 1964: 60)। मार्क्स के अनुसार, आर्थिक उत्पादन अथवा भौतिक वस्तुओं का उत्पादन समाज का वह आरम्भ बिन्दु है, जहां से समाज एक अंतर्संबंधित समग्र के रूप में संरचित होता है। उसने आर्थिक कारकों तथा मानव के ऐतिहासिक विकास के अन्य पक्षों के मध्य परस्पर आदान-प्रदान के सम्बन्ध बताए। समाज में घटित होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या में आर्थिक उत्पादन का कारक एक केंद्रीय अवधारणा

है। उसकी यह मान्यता है कि उत्पादन की शक्तियां उत्पादन के सम्बन्धों के साथ मिलकर प्रत्येक समाज के आर्थिक व सामाजिक इतिहास का आधार बनती हैं। अपनी पुस्तक, *ग्रुंडरिज़* (1857-58) की प्रस्तावना में मार्क्स ने कहा कि यद्यपि उत्पादन, वितरण व उपभोग की तीन प्रक्रियाएं एक ही नहीं हैं तो भी ये एक समष्टि का प्रतिनिधित्व करती हैं। ऐसा इसलिए है कि अपने आपको पूरा करके, इन तीनों में से प्रत्येक प्रक्रिया अन्य प्रक्रिया को जन्म देती है। इस प्रकार, एक प्रक्रिया दूसरी का माध्यम बनती है। उदाहरण के लिए एक बार उत्पादन पूर्ण होने पर वही तत्व उपभोग की वस्तु बन जाता है। इस तरह ही उत्पादन एवं वितरण की प्रक्रियाएं भी परस्पर जुड़ी हुई हैं। अत: इन आर्थिक संवर्गों (categories) में परस्पर सुनिश्चित सम्बन्ध होते हैं। मार्क्स के अनुसार, एक विशिष्ट प्रकार का उत्पादन, एक विशिष्ट प्रकार के वितरण, विनिमय एवं उपभोग को सृजित करता है। इन सभी आर्थिक संवर्गों के आधार पर उत्पादन के विशिष्ट प्रकार के सम्बन्ध निर्मित हो जाते हैं। मार्क्स का तर्क था कि उत्पादन अन्य आर्थिक संवर्गों पर आधारित है तथा उत्पादन व अन्य आर्थिक प्रक्रियाओं के बीच स्पष्ट सम्बन्ध नहीं हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि भौतिक उत्पादन मानवीय समाज का आधार है।

### 7.2.2 उत्पादन: सामान्य तथा ऐतिहासिक संवर्ग

मार्क्स के अनुसार, उत्पादन एक सामान्य व ऐतिहासिक संवर्ग (category) दोनों है। अपनी पुस्तक, *कैपीटल* (1861-1879) में, पूंजीवादी समाजों में उत्पादन के विशिष्ट स्वरूपों को दर्शाने के लिए मार्क्स ने उत्पादन को एक सामान्य संवर्ग के रूप में प्रयुक्त किया है। दूसरी ओर, विशिष्ट सामाजिक एवं ऐतिहासिक विशेषताओं वाले उत्पादन के बारे में चर्चा करते हुए मार्क्स ने उत्पादन प्रणाली की अवधारणा की विवेचना की है। इसके बारे में इस इकाई के अंतिम भाग में चर्चा की गई है।

यहाँ हमें यह याद रखने की आवश्यकता है कि मानव इतिहास में उत्पादन की भूमिका मार्क्स की कृतियों में "मार्गदर्शक सूत्र" बन जाती है। उसके विचारों को समझने के लिए आइए हम भी इस सूत्र का अनुसरण करें। आइए, हम उत्पादन की शक्तियों की चर्चा से प्रारंभ करें।

## 7.3 उत्पादन की शक्तियां

मानव जाति किस सीमा तक प्रकृति पर नियत्रंण करती है, इसकी अभिव्यक्ति उत्पादन की शक्तियां करती हैं। जितनी अधिक या कम उन्नत उत्पादन शक्तियां होंगी उतना ही अधिक या कम प्रकृति पर मानव का नियंत्रण होगा। इन उत्पादन की शक्तियों को भौतिक वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त भौतिक तरीक़ों के रूप में समझा जा सकता है। इसके अंतर्गत तकनीकी जानकारी, उत्पादन की प्रक्रिया में प्रयुक्त उपकरण या उत्पाद आदि आते हैं। उदाहरण के लिए, उपकरण, मशीनें, श्रम तथा प्रौद्योगिकी के स्तर आदि सभी उत्पादन की शक्तियां कहलाती हैं।

### 7.3.1 उत्पादन शक्तियाँ: उत्पादन के साधन व श्रम शक्ति

मार्क्स के अनुसार, उत्पादन की शक्तियों में उत्पादन के साधन व श्रम शक्ति शामिल हैं। उत्पादन की शक्तियों के अंतर्गत मशीनों का विकास, श्रम प्रक्रिया में परिवर्तन, ऊर्जा के नए स्रोतों की खोज तथा श्रमिकों की शिक्षा आदि आते हैं। इस अर्थ में, विज्ञान व उससे जुड़े कौशल को उत्पादक शक्तियों के अंग के रूप में देखा जा सकता है। कुछ मार्क्सवादियों ने तो भौगोलिक या पारिस्थितिक भू-भाग तक को भी उत्पादन शक्ति के रूप में शामिल कर लिया है।

प्रौद्योगिकी, जनांकिकी, पारिस्थितिकी अथवा "भौतिक जीवन" में अनचाहे परिवर्तन स्वयं उत्पादन प्रणाली को प्रभावित करते हैं और उत्पादन सम्बन्धों के सन्तुलन को भी काफ़ी सीमा तक

परिवर्तित करते हैं। परन्तु अनचाहे परिवर्तन, उत्पादन प्रणाली को अनायास ही पुनर्गठित नहीं करते। शक्ति के सम्बन्धों, प्रभुत्व के स्वरूपों और सामाजिक संगठनों के स्वरूपों का कोई भी पुनर्गठन प्रायः संघर्ष का परिणाम होता है। भौतिक जीवन में परिवर्तन से संघर्ष की दशाएं एवं प्रकृति निर्धारित होती हैं।

### 7.3.2 उत्पादन की भौतिक शक्तियों में परिवर्तन

प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में उत्पादन की भौतिक शक्तियों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है। कभी-कभी यह परिवर्तन कुछ प्राकृतिक तथा पारिस्थितिक प्रघटनाओं के कारण भी होता है। जैसा कि जनजातीय समाजों में देखा गया हैं। ऐसा परिवर्तन प्रायः नदियों के सूखने, निर्वनीकरण अथवा भूमि क्षरण जैसी प्रघटनाओं के कारण होता है। बहुधा यह परिवर्तन प्रायः उत्पादन के उपकरणों में विकास के फलस्वरूप होता है। मानव ने अपने जीवन को बेहतर बनाने तथा अभावों की पूर्ति के सदैव प्रयास किए है। मनुष्य ने अपने श्रम द्वारा प्रकृति पर विजय पाई है तथा इस निरंतर संघर्ष से उत्पादन की शक्तियां विकसित हुई हैं।

इस प्रक्रिया में उत्पादन की शक्तियों का विकास प्रमुख होता है और यह बहिर्जन्य (exogenous) कारक द्वारा प्रभावित होता है। इस कारक का अभिप्राय उस प्रेरक शक्ति से है जो कि उत्पादन की शक्तियों और सम्बन्धों से बाहर होती है व उत्पादन की शक्तियों पर प्रभाव डालती है। प्रेरक शक्ति मनुष्य की तर्कसंगत तथा शाश्वत मानसिक प्रेरणा है। इसके द्वारा मनुष्य उत्पादक शक्तियों का विकास करके कमियों पर काबू पाने और अपनी स्थिति को बेहतर बनाने की कोशिश करते हैं। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो समाज में उत्पादन में रत है। अपने श्रम द्वारा प्रकृति पर विजय पाकर मनुष्य ने उत्पादन किया है।

### 7.3.3 उत्पादन शक्तियों की प्रकृति

उत्पादन शक्तियां प्रकृति को उपयोगी मूल्यों और विनिमय मूल्यों में परिवर्तित कर देती हैं। उत्पादन शक्तियां मनुष्य के मध्य उत्पादक सम्बन्धों की क्रमिक व्यवस्थाओं के विनाश और सृजन को बाध्य करती हैं। उत्पादन शक्तियों की प्रकृति विकासशील होती है और वे प्रकृति पर मनुष्य की विजय और ज्ञान में वृद्धि के साथ-साथ विकसित होती हैं। जहां-जहां ये शक्तियां विकसित होती हैं, नए **उत्पादन के सम्बन्ध** विकसित होते हैं और विकास के एक बिन्दु पर पहुंच कर उत्पादन शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के मध्य संघर्ष होता है, क्योंकि उत्पादन सम्बन्ध अब नई उत्पादन शक्तियों से सामंजस्य नहीं रख पाते। ऐसी स्थिति में समाज क्रांति के युग में प्रविष्ट करता है। मनुष्य में वर्ग-संघर्ष की स्थिति को पहचानते हुए इस क्रांति के प्रति जागरूकता होती है। वर्ग-संघर्ष पुरातन व्यवस्था के संरक्षकों तथा नई आर्थिक संरचना के अगुआओं के बीच होता है।

उत्पादन के विभिन्न सामाजिक व आर्थिक संगठन समाज की उत्पादक क्षमता के विकास में योगदान देते हैं अथवा उसे हतोत्साहित करते हैं और उसी के अनुसार ये संगठन उदित अथवा नष्ट हो जाते हैं। ये संगठन मानव इतिहास की विशिष्टता रहे हैं। इस प्रकार उत्पादन शक्तियों का विकास मानवीय इतिहास की सामान्य प्रक्रिया की व्याख्या करता है। हमने पहले ही बताया है उत्पादन शक्तियों में सिर्फ़ उत्पादन के साधन (उपकरण, मशीनें, फैक्ट्रियां आदि) ही नहीं होते, अपितु कार्य में प्रयुक्त श्रमशक्ति, कौशल, ज्ञान, अनुभव तथा अन्य मानवीय योग्यताएं भी शामिल होती हैं। भौतिक उत्पादन की प्रक्रिया में समाज के पास जो शक्तियां होती हैं, ये उत्पादन शक्तियां उनको अभिव्यक्त करती हैं।

**कोष्ठक 7.1: श्रमशक्ति**

मार्क्स के अनुसार श्रमशक्ति उपयोगी कार्य करने की एक ऐसी क्षमता है जो उत्पादों के मूल्य को बढ़ा देती है। श्रमिक अपनी श्रमशक्ति अर्थात् कार्य करने की क्षमता को बेचते हैं जिससे वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होती है। वे नक़द वेतन के बदले में पूंजीपतियों को अपनी श्रमशक्ति बेचते हैं।

हमें श्रमशक्ति और श्रम में अंतर को समझना चाहिए। श्रम अपनी शक्ति लगाने की वह प्रक्रिया है जिससे वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होती है। जबकि श्रमशक्ति किसी भी वस्तु में अतिरिक्त मूल्य (surplus value) बढ़ाने का साधन है। **पूंजीपति** कच्चे माल को खरीदने के लिए पूंजी निवेश करते हैं तथा बाद में उत्पादित वस्तुओं को अधिक क़ीमत पर बेच देते हैं। यह तभी संभव है जब वस्तु के मूल्य में वृद्धि हो। मार्क्स के अनुसार, श्रमशक्ति वह क्षमता है जिसके जुड़ने से वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है। पूंजीपति श्रमशक्ति को ख़रीदने व उपयोग करके श्रमिक से श्रम हथियाने में सफल होता है। वस्तु के अतिरिक्त मूल्य का स्रोत है यही श्रम।

मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था में अतिरिक्त उत्पादन मूल्य का स्रोत एक विशिष्ट प्रक्रिया है। यह ऐसी प्रक्रिया है जिसमें श्रमिक अपने श्रम द्वारा वस्तुओं के मूल्य में अधिक वृद्धि करता है। लेकिन वृद्धि की तुलना में पूंजीपति श्रमशक्ति का कम मूल्य देते हैं।

**बोध प्रश्न 1**

i) निम्न में से किसको उत्पादन की शक्ति नहीं माना जा सकता ?

अ) ट्रैक्टर ब) श्रमशक्ति

स) भाप का इंजन द) पवन चक्की

इ) कंप्यूटर फ) मिसाइल

ii) सही उत्तर पर निशान लगाइए।

उत्पादन शक्तियों की वृद्धि के साथ-साथ

अ) प्रकृति पर मनुष्य की विजय बढ़ती है।

ब) मानवजाति प्रकृति का दास बन जाती है।

स) मानवजाति प्रकृति के प्रति अधिक जागरूक हो जाती है।

द) मानवजाति प्रकृति का संरक्षक बन जाती है।

iii) सही उत्तर पर निशान लगाइए।

उत्पादन की भौतिक शक्तियां

अ) कुछ हद तक स्थिर हैं।

ब) निरंतर प्रगतिशील हैं।

स) अभाव की ओर जा रही हैं।

द) विनाश की संभावना रखती हैं।

## 7.4 उत्पादन के संबंध

भौतिक उत्पादन में उत्पादन की शक्तियां ही एकमात्र कारक नहीं होतीं। समाज में लोगों के लिए एक साथ संगठित होकर ही उत्पादन करना संभव है। इस अर्थ में श्रम सदैव सामाजिक होता है। मार्क्स के अनुसार, समाज के सदस्यों में उत्पादन करने के उद्देश्य से परस्पर सुनिश्चित

सम्बन्ध पैदा हो जाते हैं। इन सामाजिक सम्बन्धों के अंतर्गत ही उत्पादन किया जाता है। यह आसानी से कहा जा सकता है कि उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की प्रक्रिया में जुटे लोगों के मध्य सामाजिक सम्बन्ध हैं। ये सामाजिक सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों के विकास के स्तर एवं प्रकृति द्वारा निर्धारित होते हैं।

### 7.4.1 उत्पादन शक्तियों एवं संबंध में जुड़ाव

उत्पादन की 'शक्तियां' एवं 'सम्बन्ध' सशक्त रूप से परस्पर जुड़े होते हैं। इनमें से किसी भी एक का विकास दूसरे में विरोधाभास अथवा असामंजस्य पैदा कर देता है। वस्तुत: उत्पादन के इन दोनों पक्षों के मध्य विरोधाभास 'इतिहास का संचालक तत्व' होता है (बॉटोमोर 1983: 178)। ऐतिहासिक विकास में प्रभावों की श्रृंखला इसी प्रकार चलती है। उत्पादन की शक्तियां उत्पादन के सम्बन्धों को निर्धारित करती हैं। तथापि इस बात को लेकर काफी विवाद है कि उत्पादन की शक्तियों का उत्पादन के सम्बन्धों पर प्रभुत्व होता है। जैसा कि हमने पहले बताया है कि यहां मार्क्स के विचारों की इन विभिन्न व्याख्याओं की चर्चा विस्तार से नहीं की जाएगी। मार्क्स की स्वयं की कृतियों में इस मुद्दे पर अस्पष्टता है। कहीं वह उत्पादन के सम्बन्धों को प्राथमिक बताता है तो कहीं पर वह उत्पादन की शक्तियों को सामाजिक परिवर्तन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताता है।

### 7.4.2 उत्पादन संबंधों के प्रकार

उत्पादन के सम्बन्ध किसी भी समाज के उत्पादन के स्तर के साथ-साथ चलते हैं और उत्पादन की प्रक्रिया में उत्पादक शक्तियों तथा मनुष्य को जोड़ते हैं। ये सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं। पहले सम्बन्ध तकनीकी सम्बन्ध होते हैं, जो कि वास्तविक उत्पादन प्रक्रिया के लिए आवश्यक होते हैं। दूसरे सम्बन्ध, आर्थिक नियंत्रण के सम्बन्ध होते हैं जो कि सम्पत्ति के स्वामित्व में वैधानिक रूप से अभिव्यक्त होते हैं। ये उत्पादन की शक्ति और उत्पादों तक मनुष्य की पहुंच को नियंत्रित करते हैं।

### 7.4.3 उत्पादन संबंधों की प्रकृति

उत्पादन के सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्ध होते हैं। इस प्रकार इनके अंतर्गत कामगारों अथवा प्रत्यक्ष उत्पादकों और उनके नियोक्ताओं (employers) अथवा श्रम के नियंत्रकों के परस्पर सम्बन्ध तथा प्रत्यक्ष उत्पादकों के परस्पर सम्बन्ध शामिल हैं।

उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन के साधनों का स्वामित्व मात्र नहीं होते। नियोक्ता का कामगार से सम्बन्ध प्रभुत्व का होता है। जबकि कामगार का अपने सहयोगी कामगार के साथ सम्बन्ध सहकारिता का होता है। उत्पादन के सम्बन्ध व्यक्तियों के मध्य संबंध होते हैं। जबकि उत्पादन के साधन (means of production) व्यक्तियों और वस्तुओं के मध्य सम्बन्ध होते हैं। उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास की दिशा और गति को प्रभावित कर सकते हैं।

उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के आर्थिक स्वामित्व में प्रतिबिम्बित होते हैं। उदाहरण के लिए, पूंजीवाद के अंतर्गत इन सम्बन्धों में सबसे अधिक मूलभूत बात उत्पादन के साधनों का पूंजीपतियों द्वारा स्वामित्व है, जबकि सर्वहारा वर्ग सिर्फ श्रमशक्ति का मालिक होता है।

### 7.4.4 उत्पादन संबंधों से उत्पादन शक्ति में बदलाव

उत्पादन के सम्बन्धों से उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन लाए जा सकते हैं तथा ये सम्बन्ध शक्तियों पर प्रभुत्व भी स्थापित कर सकते हैं। उदाहरण के तौर पर, पूंजीवादी उत्पादन के सम्बन्ध प्राय: श्रम प्रक्रिया तथा उत्पादन के उपकरणों में क्रांति सी ला देते हैं।

**सोचिए और करिए 1**

भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया के संदर्भ में उत्पादन के सम्बन्धों तथा उत्पादन की शक्तियों की संक्षेप में व्याख्या कीजिए। इसे लिखने से पहले अपने केन्द्र में सलाहकार तथा अन्य विद्यार्थियों से इस विषय पर चर्चा कीजिए।

विकास की एक निश्चित अवस्था पर समाज की उत्पादक शक्तियां विद्यमान उत्पादन सम्बन्धों के साथ टकराव की स्थिति में आती हैं। उत्पादन की शक्ति और सम्बन्धों के मध्य विरोधाभास के कारण ही इतिहास उत्पादन के तरीक़ों का एक क्रमिक स्वरूप होता है। इस विरोधाभास के कारण ही उत्पादन प्रणाली का आवश्यक ह्रास होता है तथा इसका स्थान दूसरी प्रणाली ले लेती है। किसी भी उत्पादन प्रणाली में उत्पादन की शक्तियां और सम्बन्ध न केवल आर्थिक प्रगति निर्धारित करते हैं अपितु सम्पूर्ण समाज को एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर ले जाते हैं। आइए हम भाग 7.5 में मार्क्स द्वारा दी गई उत्पादन प्रणाली की अवधारणा पर चर्चा करें। परंतु अगले भाग पर जाने से पहले बोध प्रश्न 2 पूरा करें।

**बोध प्रश्न 2**

i) सही उत्तर पर निशान लगाइए।

उत्पादन के सम्बन्ध प्राथमिक रूप से निम्न से किस आधार पर बने होते हैं?

अ) समाज में अर्जन के लिए वैयक्तिक प्रेरणा शक्ति

ब) बाज़ार में वस्तुओं के असंतुलित विनिमय

स) इतिहास में मनुष्यों की आदर्श भौतिक आवश्यकता

द) समाज में वर्गों की विभेदीकृत आवश्यकताओं

इ) उत्पादन में प्रक्रिया से उभरने वाले सामाजिक सम्बन्ध

ii) सही उत्तर पर निशान लगाइए।

उत्पादन के सम्बन्ध निम्न से किसके के मध्य सम्बन्ध होते हैं?

अ) वस्तुओं के मध्य

ब) मनुष्यों व वस्तुओं के मध्य

स) मनुष्यों के मध्य

द) उपरोक्त में से किसी के भी नहीं

iii) निम्न में से कौन-सा कथन सही है ?

अ) उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के सम्बन्ध मात्र नहीं है।

ब) उत्पादन के सम्बन्ध मानवीय संबंध हैं ही नहीं।

स) उत्पादन के सम्बन्ध व्यक्तियों के मध्य सहकारी सम्बन्ध नहीं हैं।

द) उत्पादन के सम्बन्ध अनिवार्यत: उत्पादकों के मध्य एक शोषक सम्बन्ध हैं।

iv) निम्न में से कौन-सा कथन **ग़लत** है ?

अ) उत्पादन के सम्बन्ध प्रभुत्व स्थापित कर सकते हैं तथा उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन भी ला सकते हैं।

ब) उत्पादन के सम्बन्ध अनिवार्यत: उत्पादन की शक्तियों से सम्बन्धित नहीं होते।

स) उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों के साथ संघर्षरत हो सकते हैं।

द) उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन ला सकते हैं।

## 7.5 उत्पादन प्रणाली

मार्क्स के अनुसार, सामाजिक इतिहास की अवस्थाएं इस बात से फ़र्क नहीं होतीं कि मनुष्य ने क्या उत्पादित किया है, अपितु इससे फ़र्क होती हैं कि उन्होंने जीवन निर्वाह हेतु भौतिक वस्तुओं का उत्पादन कैसे अथवा किन साधनों द्वारा किया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक अवस्थाएं भौतिक उत्पादन प्रणाली के मूल सिद्धांत पर आधारित एवं विभेदीकृत होती हैं। दूसरे शब्दों में भौतिक उत्पादन की क्रमिक प्रणाली इतिहास का आधार है। यह भी कहा जा सकता है कि उत्पादन के सम्बन्ध व शक्तियां उत्पादन प्रणाली के दो पक्ष हैं। समाज की उत्पादक शक्तियां प्रकृति पर मानव के नियंत्रण की मात्रा को दर्शाती हैं। उत्पादक शक्तियां जितनी अधिक विकसित होती हैं, उतना ही प्रकृति पर उनका नियंत्रण अधिक होता है। उत्पादन करने के लिए, समाज के सदस्य परस्पर सुनिश्चित सम्बन्धों में बंध जाते हैं। भौतिक वस्तुओं का उत्पादन कैसे होता है, इसी पर उत्पादन के सम्बन्ध आधारित हैं। इन्हीं सामाजिक सम्बन्धों के अंतर्गत उत्पादन होता है। यह कहा जा सकता है कि इतिहास में किसी भी उत्पादन प्रणाली में उत्पादन की शक्तियां तथा उत्पादन के सम्बन्ध अनिवार्य भाग लेते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि उत्पादन की शक्तियां, उत्पादन के सम्बन्धों को निर्धारित करती हैं व दोनों मिलकर उत्पादन प्रणाली को परिभाषित करते हैं। उत्पादन प्रणाली वे सामान्य आर्थिक संस्थाएं हैं अथवा वे विशिष्ट तरीके हैं जिनके अंतर्गत समाज के सदस्य जीवन निर्वाह के साधनों का उत्पादन व वितरण करते हैं। इस अर्थ में, उत्पादन की क्रमिक प्रणाली इतिहास के व्यवस्थित विवरण के आधारभूत तत्व हैं।

### 7.5.1 उत्पादन प्रणाली परिभाषा में निर्णायक तत्त्व: अतिरिक्त उत्पादन

उत्पादन प्रणाली के परिभाषा सम्बन्धी मार्क्सवादी विवाद को अलग करके, यह कहा जा सकता है कि उत्पादन प्रणाली की परिभाषा में निर्णायक तत्व यह है कि अतिरिक्त उत्पादन (surplus production) कैसे होता है तथा उसके उपभोग को किस तरह नियंत्रित किया जाता है (बॉटोमोर 1983: 337)। अतिरिक्त उत्पादन का तात्पर्य यहां उस शेष भाग से है, जो कि आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद बचा रहता है। मार्क्स के अनुसार, **पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली** के अंतर्गत अतिरिक्त उत्पादन लाभ का रूप ग्रहण कर लेता है। अतिरिक्त उत्पादन को श्रमिक वर्ग के शोषण द्वारा उत्पादित किया जाता है तथा इसकी बिक्री श्रमिकों के पारिश्रमिक से ऊंची कीमत पर की जाती है। चूंकि अतिरिक्त उत्पादन समाजों को विकसित होने व बढ़ने के योग्य बनाता है इसलिए इस कारक को उत्पादन प्रणाली की परिभाषा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

### 7.5.2 उत्पादन प्रणाली में विशिष्ट उत्पादन संबंध

प्रत्येक उत्पादन प्रणाली में विशिष्ट उत्पादन सम्बन्ध होते हैं। ये सम्बन्ध अकस्मात् अथवा स्वाभाविक ही विकसित नहीं हो जाते। सम्पन्न वर्ग अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इन सम्बन्धों को व्यवस्थित रखता है ताकि वह कामगारों से अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त कर सके। आइए एक उदाहरण लें। सामन्तवाद के अंतर्गत उत्पादन सम्बन्धों में सामन्तों का कृषक मज़दूरों पर प्रभुत्व बना रहता है। इस तरह वे कृषकों द्वारा पैदा किए अतिरिक्त उत्पादन को हथिया सकते हैं। परन्तु उपरोक्त उत्पादन सम्बन्ध पूंजीवादी व्यवस्था में असफल रहेंगे। अत: पूंजीवाद में अलग प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध विकसित हो जाते हैं तथा इन में पूंजीपति श्रमिकों से अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त कर सकते हैं।

### 7.5.3 उत्पादन प्रणाली की उत्पादन शक्तियों में बदलाव

यहां पर यह समझना आवश्यक है कि उत्पादन शक्तियां तथा उत्पादन सम्बन्ध निश्चित और

स्थायी नहीं होते हैं। किसी भी उत्पादन प्रणाली की उत्पादन शक्तियों में परिवर्तन हो सकता है। प्रत्येक समाज में समय के साथ-साथ तकनीकी प्रगति होती रहती है तथा उत्पादन में वृद्धि होती है। आज के पूंजीवादी राष्ट्र लगभग दो सौ से तीन सौ वर्ष पूर्व पूंजीवाद के उद्भव के समय बहुत भिन्न थे। उत्पादन शक्तियों में परिवर्तन होने से ही उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन हुए हैं। आज के **श्रमिक अथवा कामगारों** का शोषण पहले के श्रमिकों के शोषण की तुलना में कम माना जा सकता है तथापि मार्क्सवादियों की मान्यता है कि अब भी श्रमिकों का शोषण जारी है। इस मान्यता का आधार यह है कि आधुनिक श्रमिक नई तकनीक द्वारा अपने पूर्ववर्ती श्रमिकों की तुलना में अधिक उत्पादन करते हैं लेकिन वे उसी के अनुरूप अधिक वेतन नहीं पाते हैं।

**बोध प्रश्न 3**

निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तरों पर निशान लगाइए।

i) मार्क्स के अनुसार, उत्पादन प्रणाली को निम्न में से क्या कहा जा सकता है?
   - अ) एक आनुभाविक अवधारणा (concept)
   - ब) एक मनोवैज्ञानिक प्रघटना (phenomenon)
   - स) एक प्राणीशास्त्रीय तथ्य (fact)
   - द) एक आर्थिक परिवृत्य (variable)
   - इ) एक अमूर्त संयोजन (construct)

ii) निम्न में से किसको सही रूप से उत्पादन प्रणाली कहा जा सकता है?
   - अ) पशुपालन सम्बन्धी
   - ब) कृषि सम्बन्धी
   - स) सामन्तवादी
   - द) जनजातीय
   - इ) राष्ट्रीय

## 7.6 उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूप

किसी भी विशिष्ट समाज में एक नियत बिन्दु पर एक से अधिक उत्पादन प्रणाली प्रचलित हो सकती है। परन्तु समाज के सभी स्वरूपों में उत्पादन का एक निर्धारक प्रकार होता है, जो अन्य सभी को प्रस्थिति एवं प्रभाव प्रदान करता है। मार्क्स द्वारा मानवीय समाजों के अध्ययन के दौरान बताए गए उत्पादन प्रणाली के चार स्वरूपों की यहां चर्चा की जाएगी।

### 7.6.1 एशियाटिक उत्पादन प्रणाली

**एशियाटिक उत्पादन प्रणाली** की अवधारणा उत्पादन के एक विशिष्ट मौलिक तरीके वाली है। यह प्राचीन दास उत्पादन प्रणाली एवं **सामन्तवादी उत्पादन प्रणाली** से भिन्न है। एशियाटिक उत्पादन प्रणाली आदिम समुदायों की विशेषता है, जिसमें भूमि का स्वामित्व सामुदायिक होता है। ये समुदाय आंशिक रूप से नातेदारी सम्बन्धों पर आधारित होते हैं। इन समुदायों की वास्तविक अथवा काल्पनिक एकता की अभिव्यक्ति राज्य शक्ति करती है और यह राज्य शक्ति आवश्यक आर्थिक संसाधनों के प्रयोग को नियंत्रित करती है तथा समुदाय के उत्पादन व श्रम के कुछ हिस्से का प्रत्यक्ष उपभोग करती है। उत्पादन की यह प्रणाली वर्ग-विहीन समाज से वर्ग आधारित समाजों में परिवर्तन का एक संभाव्य है और शायद इस परिवर्तन का यह प्राचीनतम स्वरूप है। इसमें इस परिवर्तन के विरोधाभास निहित होते हैं। अर्थात् इसमें उत्पादन के सामुदायिक सम्बन्धों के साथ राज्य तथा शोषण करने वाले वर्ग के उभरते स्वरूपों का सम्मिश्रण मिलता है।

मार्क्स ने भारत के इतिहास के बारे में कोई व्यवस्थित प्रस्तुति नहीं दी है। उसने तत्कालीन भारतीय प्रश्नों पर अपने विचार अवश्य दिए। ये प्रश्न वे थे, जिन्होंने जनता का ध्यान आकृष्ट कर रखा था। कभी-कभी उसने अपने सामान्य तर्कों को स्पष्ट करने के लिए भारत की विगत तथा वर्तमान दशाओं से उदाहरण भी लिए। परंतु भारतीय समाज और इतिहास की व्याख्या करने के लिए एशियाटिक उत्पादन प्रणाली की अवधारणा अनुपयुक्त है।

**कोष्ठक 7.2: मार्क्स तथा भारतीय समाज**

मार्क्स ने भारतीय समाज का गहन अध्ययन नहीं किया है। उसके अनुसार हिन्दुत्व की विचारधारा एक पुरातन समाज की विचारधारा थी। उसे प्राचीन काल के हिन्दू स्वर्ण-युग के बारे में संदेह थे। मार्क्स के अनुसार भारत में ब्रिटिश शासन भी एशियाटिक शोषण व्यवस्था का विस्तार ही था।

### 7.6.2 प्राचीन उत्पादन प्रणाली

**प्राचीन उत्पादन प्रणाली** पूंजीवाद से पूर्व की उत्पादन प्रणालियों में से एक है। इस उत्पादन व्यवस्था का आधार दास प्रथा थी। **दास** का मालिक से सम्बन्ध दास प्रथा का मूल सार माना जाता है। इस उत्पादन प्रणाली में मालिक का दासों पर स्वामित्व का अधिकार होता है तथा वह दास श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं का उपभोग करता है।

अपनी चर्चा को कृषि से जुड़ी दासता (देखिए कोष्ठक 7.3) तक सीमित रखते हुए देखें तो हमें पता चलता है कि शोषण इस प्रकार से होता है कि दास मालिक की भूमि पर कार्य करता है तो बदले में उसे निर्वाह मिलता है। दास द्वारा किए गए उत्पादन और उपभोग में जो अंतर होता है वही मालिक का लाभ बन जाता है। परन्तु यह प्राय: भुला दिया जाता है कि इसके परे दास को अपने स्वयं के जनन से वंचित रखा जाता है। किसी भी समाज में दासता का जनन (reproduction) इस बात पर निर्भर करता है कि उस समाज में नए दास प्राप्त करने की उस समाज की क्या क्षमता है। यहां संचय (accumulation) की दर इस बात पर निर्भर करती है कि कितने लोग दास बने हैं न कि दासों की उत्पादकता पर।

समुदाय के अन्य सदस्यों से दास भिन्न होते हैं क्योंकि उन्हें अपनी सन्तान पैदा करने के अधिकार से वंचित रखा जाता है। समाज में "विदेशी" के रूप में उनकी प्रस्थिति स्थायी हो जाती है। "विदेशी" से लाभ कमाया जाता है। इस व्यवस्था को सावयवी (organic) तथा निरंतर चलने वाली बनाने के लिए ज़रूरी है कि दासों के अपने आश्रित न हों। प्रत्येक पीढ़ी में पुराने बूढ़े हुए दासों के स्थान पर नए विदेशियों को दास के रूप में लाने के साधन होने चाहिए। इस शोषण के इन दो स्तरों में एक अनिवार्य और गहन संबंध है। यह है कि एक समुदाय से दूसरे समुदाय में व्यक्ति चुराने का संबंध, और दास वर्ग तथा दासों के मालिक वर्गों के बीच शोषण का संबंध।

दास प्रथा में श्रमशक्ति की वृद्धि वास्तविक जनांकिकीय शक्तियों से मुक्त होती है। यह प्राकृतिक वृद्धि पर आधारित जनांकिकीय वृद्धि पर निर्भर नहीं करती, अपितु विदेशी व्यक्तियों को पकड़ कर लाने के साधनों पर निर्भर करती है। संचय की संभावना दासों की वृद्धि से होती है, जो कि श्रम की उत्पादकता में वृद्धि से मुक्त होती है। शोषण का यह तरीक़ा समाज को जनांकिकीय हेर-फेर करने की अनुमति देता है। साथ ही साथ जन्म दर में परिवर्तन, आयु में हेर-फेर, तथा जीवन अवधि और विशेषत: सक्रिय जीवन अवधि में हेर-फेर भी इस तरीक़े से संभव होता है।

किसी भी दास उत्पादन प्रणाली के प्रभुत्व की परख दासों की संख्या में नहीं होती, अपितु उस सीमा में होती है, जिस सीमा तक अभिजन (elite) वर्ग अपनी दौलत पाने के लिए दासों पर निर्भर होते हैं।

**कोष्ठक 7.3: कृषि से जुड़ी दासता**

मार्क्स ने जिस दासवादी उत्पादन प्रणाली के बारे में बताया है वह रोम साम्राज्य के दौरान इटली में प्रचलित थी। 200 ईस्वी के आसपास इस साम्राज्य में पश्चिमी एशिया, मिस्र से मोरक्को तक सारा उत्तरी अफ्रीका तथा ब्रिटेन सहित यूरोप के अधिकतर भाग शामिल थे। इसका क्षेत्र दस लाख पच्चत्तर हज़ार वर्ग मील था और जनसंख्या छः करोड़ के लगभग थी। इतने बड़े साम्राज्य में विभिन्न उत्पादन प्रणालियों वाले समाजों का होना स्वाभाविक था। कृषि के क्षेत्र में दास प्रथा ने इटली में ऐसा स्वरूप धारण कर लिया था जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ था। कुछ अन्य नगर राज्यों जैसे ऐथेंस में भी दास प्रथा ही प्रमुख उत्पादन प्रणाली थी। इन राज्यों में शासक वर्ग दास श्रम से सम्पदा अर्जित करता था। रोमन साम्राज्य के पश्चिमी भाग में प्राचीन उत्पादन प्रणाली का स्थान सामन्तवादी उत्पादन प्रणाली ने ले लिया था।

### 7.6.3 सामन्तवादी उत्पादन प्रणाली

मार्क्स तथा एंजल्स की प्राथमिक रूप से पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की परिभाषा में रुचि थी। सामन्तवाद पर उनकी कृतियां दोनों की इस रुचि को दर्शाती हैं। साथ ही साथ उनकी कृतियों में सामन्तवाद से पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। सामंतवादी व्यवस्था में श्रम का प्रचलित रूप क्या था और श्रम के उत्पादकों का उपभोग कैसे किया जाता था इस बारे में भी वे चिंतन कर रहे थे। दोनों ने पाया कि **सामंती भूपति** कृषक मज़दूरों का ठीक उसी प्रकार शोषण किया करते थे जिस प्रकार पूंजीपति अपने श्रमिकों अथवा "सर्वहारा" को शोषित करते हैं। पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य कमाते हैं और सामन्तवादी भूपति अपने भूमिहीन कृषकों से भूमि का किराया वसूलते थे।

**सोचिए और करिए 2**

क्या यह सही है कि भारत के कुछ भागों के कृषक समाज में सामन्तवादी भूपतियों का प्रभुत्व रहा है? यदि हां तो दो पृष्ठों में विवरण दीजिए कि किस प्रकार सामंतवादी युग में कृषि का अधिकार होते हुए भी किसानों को अपने सम्पति के अधिकार से वंचित रहना पड़ा। क्या किसानों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपना श्रम अथवा श्रम के उत्पादों को सामन्तवादी भूपतियों को दें? अपने उत्तर की अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों के उत्तरों से तुलना कीजिए।

सामन्तवादी व्यवस्था में **भूमिहीन किसान** वैधानिक रूप से स्वतंत्र नहीं होने के कारण सम्पति के अधिकार से वंचित थे। हाँ, वे भूमिपति की सम्पति का प्रयोग कर सकते थे। वे अपने श्रम अथवा श्रम के उत्पादों को भूपतियों के हाथ देने को मजबूर थे ताकि परिवार का निर्वाह कर सकें और एक किसान की सरल घरेलू अर्थव्यवस्था को चला सकें।

सामन्तवादी समाज को मार्क्स तथा एंजल्स ने प्राचीन विश्व के दास समाज तथा आधुनिक युग के पूंजीपतियों एवं सर्वहाराओं के मध्य एक कड़ी जोड़ने वाली अवस्था माना। सामन्तवादी व्यवस्था के उद्विकास के कारण विनिमय का विकास हुआ है। इसने पूंजीवादी उत्पादन के सम्बन्धों की नींव डाली, जो कि बाद में सामंतवादी व्यवस्था का मुख्य विरोधाभास बन गये और जिनके कारण सामन्तवादी व्यवस्था का अंत हो गया। इस परिवर्तन की प्रक्रिया ने अनेक किसानों को भूमि से खदेड़कर मेहनतकश मज़दूर बनने के लिए मजबूर कर दिया। इस तरह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का प्रारंभ हुआ।

### 7.6.4 पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में उत्पादन के साधन के रूप में पूंजी महत्वपूर्ण होती है। पूंजी के अनेक स्वरूप हो सकते हैं। यह धन के स्वरूप के रूप में हो सकती है अथवा श्रमशक्ति एवं उत्पादन के लिए कच्चे माल के क्रय के लिए ऋण के रूप में हो सकती है। यह भौतिक मशीनरी को ख़रीदने के लिए धन अथवा ऋण की आवश्यकता भी हो सकती है। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में पूंजी के विभिन्न स्वरूपों का निजी स्वामित्व पूंजीपति या बुर्जुआ वर्ग के हाथ में होता है। पूंजीपतियों का स्वामित्व इस प्रकार का होता है कि आम जनता का उस स्वामित्व में कोई हिस्सा नहीं होता। इसे पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की मुख्य विशेषता माना जा सकता है।

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की निम्न विशेषताएं होती हैं (देखिए बॉटोमोर 1983:64)।

अ) वस्तुएं प्रयोग के लिए नहीं अपितु विक्रय के लिए उत्पादित की जाती हैं।

ब) श्रमशक्ति अथवा उपयोगी कार्य करने की क्षमता को बाज़ार में बेचा व खरीदा जाता है। किसी विशेष समय अथवा अवधि के लिए (समय दर) अथवा किसी विशिष्ट कार्य के लिए (नग दर) श्रमशक्ति का नगद वेतन के बदले में विनिमय किया जाता है। प्राचीन उत्पादन प्रणाली में श्रमिक अपना श्रम देने के लिए बाध्य होते थे। इसके विपरीत, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में श्रमिक अपने नियोक्ता से एक अनुबंध (contract) करता है।

स) विनिमय के माध्यम से धन का उपयोग किया जाता है। इस प्रक्रिया में बैंकों तथा वित्तीय माध्यमिक संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

द) उत्पादन प्रक्रिया पूंजीपति अथवा उसके प्रबन्धक द्वारा नियंत्रित होती है।

इ) वित्तीय निर्णय पूंजीपति उद्यमी द्वारा नियंत्रित होते हैं।

फ) पूंजीपति व्यक्तिगत रूप से श्रम एवं वित्त नियंत्रण के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं।

उत्पादन प्रणाली के रूप में पूंजीवाद सबसे पहले यूरोप में उभरा। पश्चिमी यूरोप में सामन्तवाद से पूंजीवाद में परिवर्तन के विषय में खंड 1 की इकाई 1 में चर्चा की गई है। आप इस चर्चा को पुन: पढ़िए ताकि आप व्यापारिक पूंजी की वृद्धि, विदेश में व्यापारिक औपनिवेशिकीकरण का दुबारा स्मरण कर सकें। इस क्रांति में प्रौद्योगिकी की तीव्र वृद्धि हुई और इसके साथ-साथ पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में भी प्रगति हुई। मार्क्स ने पूंजीवाद को एक ऐसी ऐतिहासिक अवस्था माना जिसका स्थान समाजवाद लेगा।

आइए, अब इकाई का सारांश पढ़ने से पहले बोध प्रश्न 4 पूरा कर लें।

**बोध प्रश्न 4**

निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तरों पर निशान लगाइए।

i) किस उत्पादन प्रणाली में भूमि का सामुदायिक स्वामित्व होता है ?

   अ) एशियाटिक

   ब) प्राचीन

   स) सामन्तवादी

   द) पूंजीवादी

ii) किस उत्पादन प्रणाली में उत्पादकों (producers) को निजी सम्पति माना जाता है ?

   अ) एशियाटिक

   ब) प्राचीन

स) सामन्तवादी

द) पूंजीवादी

iii) किस उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत श्रमशक्ति बेची व खरीदी जाती है ?

अ) एशियाटिक

ब) प्राचीन

स) सामन्तवादी

द) पूंजीवादी

iv) सामन्तवादी उत्पादन प्रणाली में अतिरिक्त (surplus) उत्पादन को किस माध्यम से हड़प लिया जाता है ?

अ) लाभ

ब) किराया

स) सट्टा

द) अतिरिक्त मूल्य

इ) व्यापार

## 7.7 सारांश

मार्क्सवादी सामाजिक सिद्धांत में उत्पादन शक्तियां, सम्बन्ध तथा प्रणाली की अवधारणाएं केन्द्रीय हैं। उत्पादन प्रणाली उत्पादन शक्ति और सम्बन्धों से बनती है और मार्क्स के अनुसार ये सामाजिक प्रक्रिया के प्रमुख निर्धारक होते हैं।

उत्पादन की शक्तियां आर्थिक वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त कच्चे माल तथा उपकरण और तकनीकों को कहते हैं। उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की प्रक्रिया में उभरने वाले सम्बन्धों को कहते हैं और ये विशेषत: उत्पादन के साधनों के मालिक तथा ग़ैर-मालिक (श्रमिकों) के मध्य सम्बन्ध होते हैं। उत्पादन के सम्बन्धों के अंतर्गत उत्पादों पर स्वामित्व रखने की क्षमता और नियंत्रण शामिल हैं।

इस प्रकार पूंजीवादी समाजों में उत्पादन के सम्बन्ध हैं जो कि पूंजीपति और श्रमिक के मध्य होते हैं और जिसमें पूंजीपति न केवल उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रखते हैं, बल्कि श्रमिक द्वारा उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं का मनचाहे ढंग से वितरण, उपभोग अथवा विक्रय कर सकते हैं।

किसी भी समाज की संरचना में उत्पादन के सम्बन्ध और शक्तियां मूलभूत होती हैं। जिन विभिन्न रूपों में विभिन्न समाज संगठित होते हैं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उत्पादन की शक्तियाँ उत्पादन के सम्बन्धों से कैसे जुड़ी हैं। उत्पादन के सम्बन्धों की अवधारणा व्यक्तियों के मध्य सम्बन्धों को इतना अधिक इंगित नहीं करती जितना कि सामाजिक वर्गों के बीच सम्बन्धों को इंगित करती है। ऐसा है क्योंकि उत्पादन के सम्बन्ध अनिवार्य रूप से परस्पर विरोधी होते हैं (उदाहरण के लिए पूंजीपति श्रमिकों के श्रम उत्पाद को हड़प लेते हैं)। अत: वर्गों के मध्य भी सम्बन्ध परस्पर विराधी होते हैं।

उत्पादन की कोई भी प्रणाली उत्पादन के सम्बन्धों और उत्पादन की शक्तियों के मध्य सम्बन्ध हैं। एक-दूसरे से उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों के बीच सम्बन्धों की विभिन्नता के आधार पर उत्पादन प्रणालियाँ अलग की जा सकती हैं, पहचानी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए सामन्तवादी उत्पादन प्रणाली में भूपति के पास कृषकों की उत्पादन की शक्तियों, उपकरणों तथा भूमि पर सीधा नियंत्रण नहीं होता परन्तु कृषक के उत्पादन पर भूपति

का पूरा नियंत्रण होता है। दूसरी ओर, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में पूंजीपति उत्पादन की शक्तियों तथा उत्पादन दोनों पर नियंत्रण रखते हैं।

उत्पादन प्रणाली की अवधारणा एक अमूर्त विश्लेषणात्मक अवधारणा है। किसी भी विशिष्ट समाज में किसी नियत समय पर एक से अधिक उत्पादन प्रणाली प्रचलित हो सकती है। फिर भी, यह संभव है कि एक प्रमुख अथवा निर्धारक उत्पादन प्रणाली को पहचाना जा सके, जो कि अन्य सभी उत्पादन व्यवस्थाओं पर प्रभुत्व रखती है। विशेषत: सामाजिक क्रांति के समय में एक ही समाज में एक से अधिक उत्पादन प्रणाली प्रचलित होती है। मार्क्स ने चार उत्पादन प्रणालियों की सैद्धान्तिक अवधारणाएं दी हैं और ये हैं: एशियाटिक, प्राचीन, सामन्तवादी एवं पूंजीवादी। इनमें से अंतिम उत्पादन प्रणाली उसके लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण थी। इकाई 8 में वर्ग एवं वर्ग संघर्ष पर चर्चा की जाएगी जो कि पूंजीवादी समाजों के आर्थिक गठन के मार्क्सवादी विश्लेषण का प्रमुख आधार है।

## 7.8 शब्दावली

**बुर्जुआ** — पूंजीपतियों का वह वर्ग, जो कि विकसित देशों में उत्पादन के लिए आवश्यक सभी कच्चे माल, उपकरण (मशीनों तथा कारखानों, फैक्ट्रियों) तथा उपभोग के सभी साधनों का स्वामी होता है (एंजल्स के *प्रिंसिपल्स ऑफ़ कम्यूनिज़्म* में, 1847)

**उत्पादन के सम्बन्ध** — उत्पादन की प्रक्रिया में उभरने वाले प्रत्यक्ष सामाजिक सम्बन्ध। इन सामाजिक सम्बन्धों के अंतर्गत उत्पादन के साधनों के मालिक तथा गैर-मालिक (श्रमिकों) दोनों के मध्य सम्बन्ध शामिल होते हैं। ये सम्बन्ध उत्पादन पर स्वामित्व की क्षमता एवं नियंत्रण को निश्चित एवं निर्धारित करते हैं।

**उत्पादन प्रणाली** — उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों के मध्य सम्बन्ध को उत्पादन प्रणाली कहा जा सकता है। उत्पादन के तरीके उत्पादन की शक्तियों और सम्बन्धो। के मध्य सम्बन्ध में भिन्नता के आधार पर पहचाने जाते हैं।

**एशियाटिक उत्पादन प्रणाली** — यह उस समुदाय आधारित उत्पादन व्यवस्था से सम्बन्धित है, जिसमें भूमि का स्वामित्व सामुदायिक होता है और राज्य शक्ति के अस्तित्व की अभिव्यक्ति इन समुदायों की वास्तविक अथवा काल्पनिक एकता से होती है।

**प्राचीन उत्पादन प्रणाली** — उत्पादन की व्यवस्था, जिसमें मालिक का दास पर स्वामित्व का अधिकार होता है तथा वह उसके श्रम के उत्पादन को दासता के माध्यम से हड़प लेता है और दास को जनन की अनुमति नहीं देता।

**सामन्तवादी उत्पादन प्रणाली** — यह एक ऐसी उत्पादन व्यवस्था है, जिसमें भूपति किसानों से जमीन के किराये के रूप में उनके अतिरिक्त श्रम को हड़प लेता है।

**पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली** — यह एक ऐसी उत्पादन व्यवस्था है, जिसमें उत्पादन के साधनों का स्वामी अर्थात् पूंजीपति सर्वहारा वर्ग से लाभ के रूप में अतिरिक्त श्रम करवाते हैं।

**दास** — प्राचीन उत्पादन प्रणाली में उत्पादकों का वह वर्ग जो कि

| | |
|---|---|
| | मालिकों द्वारा निजी सम्पत्ति के रूप में सीधे नियंत्रित किया जाता है |
| **भूमिहीन किसान** | सामन्तवादी उत्पादन के तरीके में उत्पादकों का वह वर्ग जिनका अतिरिक्त श्रम किराये के माध्यम से हड़प लिया जाता है |
| **श्रमिक अथवा कामगार** | पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में उत्पादकों का वह वर्ग जिनके पास अपनी आजीविका कमाने के लिए अपनी श्रमशक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और इनके अतिरिक्त श्रम को पूंजीपति लाभ के माध्यम से हड़प लेते हैं। |
| **मालिक** | दास प्रथा में वह शासक वर्ग, जो कि दासों पर नियंत्रण रखते हैं। इसी प्रकार, यह कहना भी सही है कि पूँजीवादी व्यवस्था में सर्वहारा वर्ग सिर्फ़ श्रमशक्ति का मालिक होता है। दूसरी ओर, पूँजीपति उत्पादन के साधनों का मालिक होता है। इस इकाई के संदर्भ में 'मालिक' शब्द इन रूपों में प्रयुक्त हुआ है। |
| **सामंती भूपति** | सामंतवाद का वह शासक वर्ग, जो भूमिहीन कृषकों पर अप्रत्यक्ष नियंत्रण रखते हैं |
| **पूंजीपति** | पूंजीवाद में वह शासक वर्ग जो उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रखता है |

## 7.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बॉटोमोर, थॉमस बी., 1975, *मार्क्सिस्ट सोशियॉलौजी,* मैकमिलन: लंदन

ह्यूबरमैन, लिओ, 1969, *मैन्स वर्ल्डली गुड्स,* पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस: नई दिल्ली

## 7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) फ
ii) अ
iii) ब

**बोध प्रश्न 2**

i) इ
ii) स
iii) अ
iv) ब

**बोध प्रश्न 3**

i) इ
ii) स

**बोध प्रश्न 4**

i) अ
ii) ब
iii) द
iv) ब

# इकाई 8 वर्ग एवं वर्ग संघर्ष

## इकाई की रूपरेखा


8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 वर्ग संरचना

- 8.2.1 वर्ग निर्धारण के प्रमुख आधार
- 8.2.2 इतिहास में समाजों का वर्गीकरण एवं वर्गों का उदय
- 8.2.3 पूँजीवाद के अन्तर्गत वर्ग संघर्ष की तीव्रता
- 8.2.4 वर्ग एवं वर्ग संघर्ष

8.3 वर्ग संघर्ष एवं क्रांति

- 8.3.1 वर्ग संघर्ष में सर्वहारा
- 8.3.2 वर्ग संघर्ष के विचार का संक्षिप्त इतिहास
- 8.3.3 सर्वहारा वर्ग की क्रांति

8.4 मार्क्स की 'अलगाव' की अवधारणा

- 8.4.1 अलगाव की प्रक्रिया
- 8.4.2 अलगाव दूर करना
- 8.4.3 अलगाव की अवधारणा: विश्लेषण का आधार

8.5 सारांश

8.6 शब्दावली

8.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपके द्वारा संभव होगा

- वर्ग की अवधारणा की व्याख्या करना
- वर्ग सरंचना हेतु विभिन्न आधारों को वर्णित करना
- वर्ग संघर्ष अथवा उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन के कारण समाज के इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं को समझना
- सामाजिक क्रांति क्या है तथा इतिहास में यह घटित कैसे होगी इसकी व्याख्या करना, तथा
- मार्क्स की "अलगाव" की अवधारणा को समझना।

## 8.1 प्रस्तावना

आपने इससे पूर्ववर्ती दो इकाइयों (6 और 7) में, समाज और ऐतिहासिक विकास पर मार्क्स के विचारों को पढ़ा है। इस इकाई में हमने मार्क्स द्वारा प्रयुक्त **वर्ग** की अवधारणा पर ध्यान केन्द्रित किया है। हमने यहां वर्ग को परिभाषित किया है और इसके साथ-साथ यह बताया है कि किन-किन स्थितियों में, किन आधारों पर किसी जनसमूह को वर्ग कहा जाता है। यहाँ इस पर

भी चर्चा की जाएगी कि विभिन्न वर्गों के मध्य संघर्ष क्यों और कैसे होता है। यह समझने की कोशिश की जाएगी कि वर्ग संघर्षों का समाज के ऐतिहासिक विकास पर क्या प्रभाव होता है।

इस इकाई के पहले भाग (8.2) में वर्ग संरचना की चर्चा की गई है, और समाज के इतिहास में **वर्ग संघर्ष** और उनके आधार पर किये गये समाज के वर्गीकरण का विवरण दिया गया है। इसके बाद हमने भाग 8.2 में पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत वर्ग संघर्ष किस प्रकार बढ़ता जाता है, इसकी विवेचना की है। अन्ततः हमने वर्ग तथा वर्ग संघर्ष, वर्ग संघर्ष एवं **क्रांति** की चर्चा के उपराँत मार्क्स की अलगाव की अवधारणा पर भाग 8.3 में आपका ध्यान केन्द्रित किया है।

## 8.2 वर्ग संरचना

अंग्रेज़ी की शब्द 'क्लास' (class) अर्थात् बर्ग का उद्भव लैटिन शब्द 'क्लासिस' (classis) से हुआ है। 'क्लासिस' शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के सशस्त्र समूह के लिये किया जाता था। प्रसिद्ध रोमन राजा, सर्वियस टुलियस (678-534 ईसा पूर्व) के शासन में रोमन समाज सम्पत्ति के आधार पर पाँच वर्गों में विभक्त था। आगे चलकर वर्ग शब्द का प्रयोग मानव समाज के वृहत् समूहों के लिए किया जाने लगा।

मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी समाज की एक बेजोड़ विशेषता वर्ग है। यही कारण था कि मार्क्स ने पूंजीवाद समाज के अलावा किसी अन्य तरह के समाज में वर्ग संरचना तथा वर्ग संबंधों का अध्ययन नहीं किया।

वस्तुतः समाजशास्त्र में मार्क्स के योगदान को वर्ग संघर्ष का समाजशास्त्र कहा जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मार्क्सवादी चिन्तन एवं दर्शन के किसी भी अध्ययन के लिए हमें वर्ग की मार्क्सवादी धारणा को समझना अत्यंत आवश्यक है। मार्क्स ने अपनी संपूर्ण कृतियों में सामाजिक वर्ग की अवधारणा प्रयुक्त की है लेकिन इसकी व्याख्या पूर्ण रूप से कहीं नहीं की है। मार्क्स ने वर्ग संरचना की जो भी महत्वपूर्ण एवं विशद व्याख्या की है वह उसकी प्रसिद्ध कृति, *कैपिटल* (1894) के तीसरे भाग में है। 'सामाजिक वर्ग' के शीर्षक के अन्तर्गत मार्क्स ने आय के तीन स्रोतों से संबंधित तीन विभिन्न वर्गों को अलग-अलग किया तथा परिभाषित किया है। ये वर्ग हैं (अ) साधारण श्रमशक्ति पर निर्भर रहने वाले वे श्रमिक जिनकी आजीविका का मुख्य स्रोत श्रम है, (ब) पूंजीपति जिनकी आय का मुख्य स्रोत अतिरिक्त मूल्य अथवा उत्पादन से होने वाला लाभ है, तथा (स) भूमिपति जिनकी आय का मुख्य स्रोत भूमि का किराया है। इस प्रकार आधुनिक पूंजीवादी समाज की वर्ग संरचना में तीन वर्ग मुख्य हैं, वेतनभोगी श्रमिक अथवा कामगार, पूंजीपति तथा भूमिपति।

मौटे तौर पर समाज को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहला पूंजीपति जिसे **'बुर्जुआ** वर्ग' कहा जाता है, इनके पास भूमि अथवा पूंजी, फ़ैक्टरी जैसे उत्पादन के साधनों का स्वामित्व होता है। दूसरा **सर्वहारा** वर्ग, जिसके पास अपनी आजीविका के लिये श्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। मार्क्स ने सामाजिक वर्ग की सुनिश्चित परिभाषा देने का प्रयास किया है। उसके अनुसार किसी भी सामाजिक वर्ग का उत्पादन की प्रक्रिया में एक निश्चित स्थान होता है।

**सोचिए और करिए 1**

क्या भारतीय समाज को, मार्क्सवादी वर्ग की अवधारणा के संदर्भ में, वर्गों में बांटा जा सकता है? यदि हां, तो इन वर्गों का वर्णन कीजिये। यदि नहीं, तो बताइये भारतीय समाज को इस तरह क्यों वर्गीकृत नहीं किया जा सकता।

### 8.2.1 वर्ग निर्धारण के प्रमुख आधार

वर्ग और वर्ग संरचना की विशद् विवेचना से पूर्व हमें यह जान लेना चाहिये कि वर्ग कैसे बनते हैं तथा इनके निर्धारण के प्रमुख आधार क्या हैं। सभी मानव समूह वर्ग नहीं कहे जा सकते हैं। इसलिये आइये हम सब इस बात की चर्चा करें कि मार्क्सवादी संदर्भ में किन मानवीय समूहों को वर्ग कहा जा सकता है और किस समूह को वर्ग नहीं कहा जा सकता। किसी भी सामाजिक वर्ग के निर्धारण में दो प्रमुख आधार होते हैं - (i) वस्तुपरक आधार (ii) स्वचेतना परक आधार। वर्ग को समझने के लिये आइये अब हम इन आधारों की व्याख्या करें।

**(i) वस्तुपरक (objective) आधार:** उत्पादन के साधनों के साथ जब व्यक्तियों के समान संबंध होते हैं तो ऐसे समूह को वर्ग कहा जाता है। इसे समझने के लिये आइये हम एक उदाहरण लें, जैसे कि कृषि व्यवस्था में सभी खेतिहर मज़दूरों के भूमि तथा भूमिपतियों से एक जैसे संबंध होते हैं। उसी तरह से भूमिपतियों के भूमि तथा खेतिहर मज़दूरों से एक समान संबंध होते हैं। इस प्रकार इस व्यवस्था में दो वर्ग हैं, एक ओर श्रमिक वर्ग और दूसरी ओर भूमिपति वर्ग। लेकिन मार्क्सवादी संदर्भ में वर्ग निर्धारण के लिए ये संबंध पर्याप्त नहीं हैं। इस संदर्भ में मार्क्स का एक कथन बहुत प्रसिद्ध है कि वर्ग अपने आप में वर्ग होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसे एक सचेत वर्ग होना चाहिए। इससे क्या अभिप्राय है? मार्क्स के अनुसार किसी सामाजिक वर्ग के वस्तुपरक आधार ही उसके अपने आप में वर्ग होने का निर्धारण करते हैं। वर्ग का अपने आप में वर्ग होने को किसी भी सामाजिक वर्ग का वस्तुपरक आधार माना जाता है। परन्तु मार्क्स ने वर्ग की परिभाषा करते समय केवल वस्तुपरक आधारों को ही वर्ग का पूर्ण आधार नहीं माना अपितु उसने वर्ग के दूसरे प्रमुख आधार अर्थात् स्वचेतनापरक आधार को भी समान रूप से महत्व दिया।

**(ii) स्वचेतनापरक (Subjective) आधार:** किसी भी समाज में अनेक समूह होते हैं, यदि इन समूहों को हम पहले आधार पर ही वर्ग माने लें तो ऐसे वर्ग वर्ग न होकर केवल संवर्ग (केटेगरी) होंगे। अत: वर्ग निर्धारण में स्वचेतनापरक आधार अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार किसी भी वर्ग में सदस्यों के उत्पादन साधनों से न केवल एक से संबंध होते हैं, अपितु उनमें इस बात की जागरूकता या **वर्ग चेतना** भी पाई जाती है कि वे एक ही वर्ग के सदस्य हैं।

वर्ग के बारे में यह एक सी चेतना, कि वे एक ही वर्ग के सदस्य हैं, किसी भी वर्ग के सदस्यों को सामाजिक क्रिया हेतु संगठित करने का आधार बन जाती है। अपने **वर्ग हित** के लिये संगठित प्रयास करने की यह वर्ग चेतना मार्क्स के शब्दों में सही वर्ग चेतना है। इसी को मार्क्स ने सचेत वर्ग (class for itself) माना है।

इस प्रकार किसी भी समाज में इन दो आधारों के द्वारा वर्ग और वर्ग संरचना निर्धारित होती है। अभी तक पढ़ी इस इकाई की पाठ्य सामग्री को आत्मसात कर पाने हेतु बोध प्रश्न 1 पूरा करें।

**बोध प्रश्न 1**

i) सामाजिक वर्ग को दो पंक्तियों में परिभाषित कीजिये।

.....

.....

ii) वर्ग निर्धारण के कौन से दो आधार हैं? तीन पंक्तियों में बताइए।

.....

.....

.....

## 8.2.2 इतिहास में समाजों का वर्गीकरण एवं वर्गों का उदय

मार्क्स ने मानव इतिहास को आर्थिक अवस्थाओं अथवा **उत्पादन प्रणाली** के आधार पर विभिन्न अवस्थाओं में बाँटा। इन्हीं आधारों पर उसने एशियाटिक, प्राचीन, सामन्तवादी तथा पूंजीवादी उत्पादन के चार प्रमुख तरीक़े बताये। मार्क्स के अनुसार सामाजिक विकास की उत्कृष्ट अवस्था साम्यवाद होगी। आइये हम मानव इतिहास की इन विभिन्न अवस्थाओं अथवा समाज की इन विभिन्न ऐतिहासिक अवस्थाओं का अध्ययन करें। इन्हें आदिम-साम्यवादी, दास अवस्था, सामन्तवादी अवस्था, पूंजीवादी अवस्था तथा साम्यवादी अवस्था कहा गया है। इस उपभाग में हमने, वर्ग के संदर्भ में, पहली तीन अवस्थाओं की चर्चा की है।

(i) **आदिम साम्यवादी अवस्था** मनुष्य के समाज के इतिहास में सबसे पहली अवस्था थी और मनुष्य के संगठन का सबसे सरलतम एवं निम्नतम स्वरूप था। यह अवस्था हज़ारों वर्षों तक चलती रही। मनुष्य काठ के डण्डों तथा पत्थरों जैसे आदिम तरीक़ों को अपनाकर शिकार करता था अथवा जंगली भोजन एकत्रित करके जीवनयापन करता था। समय के साथ-साथ धीरे-धीरे मनुष्य ने आदिम औज़ारों को सुधारा और उसने आग जलाना सीखा, कृषि एवं पशुपालन करना सीखा। इस अवस्था में उत्पादन की तकनीक अथवा जानकारी बहुत निम्न स्तरीय थी अर्थात् दूसरे शब्दों में उत्पादन की शक्तियां निम्न स्तरीय थीं। **उत्पादन के संबंध** उत्पादन के साधनों के संयुक्त स्वामित्व पर आधारित थे। अत: ये संबंध परस्पर सहायता एवं सहयोग पर निर्भर थे। इन संबंधों की प्रकृति परस्पर सहयोग की इसलिये भी थी, कि उस समय प्रकृति के प्रकोपों और भीषण शक्तियों से मनुष्य सामूहिक रूप से मिलकर ही निपट सकता था। क्योंकि उसके औज़ार, उसकी तकनीकी जानकारी बहुत निम्न स्तरीय थी।

इस अवस्था में एक दूसरे का शोषण न होने के दो कारण थे। एक तो **उत्पादन के साधन** अर्थात् उपयोग में लाए जाने वाले औज़ार साधारण किस्म के होते थे, जैसे कि भाला, लाठी, धनुष एवं तीर, आदि। इसीलिए किसी व्यक्ति अथवा समूह का औज़ारों पर एकाधिकार नहीं होता था। दूसरा उत्पादन भी निम्न-स्तर का अथवा बहुत कम होता था। लोग केवल जीवन निर्वाह कर पाने में ही समर्थ थे। सभी के काम करने के बावजूद उत्पादन केवल इतना ही होता था कि सब का जीवन निर्वाह हो सके। अत: यह एक ऐसी अवस्था थी जिसमें कोई किसी का कोई मालिक अथवा सेवक नहीं था। सभी व्यक्ति एक समान थे।

धीरे-धीरे समय के साथ-साथ मनुष्य ने अपने औज़ारों और उत्पादन तकनीक को बेहतर बनाना शुरु किया तथा इसके साथ-साथ आवश्यकता से अतिरिक्त उत्पादन होने लगा। इस अतिरिक्त उत्पादन के कारण कुछ लोगों के पास निजी सम्पति संचित होने लगी और आदिम समानता का स्थान समाज में सामाजिक असमानता ने ले लिया। इस अवस्था में पहली बार दास तथा मालिकों के रूप में परस्पर विरोधी वर्ग अस्तित्व में आये। इससे हमको यह पता चलता है कि किस प्रकार उत्पादन की शक्तियों के विकास के फलस्वरूप आदिम साम्यवादी अवस्था का स्थान दास अवस्था ने ले लिया। यह कहा जा सकता है कि आदिम साम्यवादी अवस्था में वर्ग नहीं थे तथा वर्ग बनने के साथ-साथ दूसरी अवस्था आ गई जिसे दास अवस्था कहा गया।

(ii) **दास अवस्था** में आदिम औज़ारों को परिष्कृत किया गया। पत्थर और लकड़ी के औज़ारों का स्थान काँसे तथा लोहे के औज़ारों ने ले लिया। इसी अवस्था में वृहत्-स्तरीय कृषि, पशुपालन, खान उद्योग और हस्तकला जैसी विधाओं का विकास हुआ। उत्पादन की इस तकनीकी जानकारी अथवा उत्पादन की इन शक्तियों के विकास के कारण उत्पादन के संबंधों में परिवर्तन आये। ये संबंध इस बात पर आधारित थे कि मालिकों का गुलामों, उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं और उत्पादन के साधनों पर पूर्ण स्वामित्व था। मालिक गुलामों को उत्पादन का सिर्फ इतना ही हिस्सा देते थे, जिससे कि उनकी न्यूनतम आवश्यकतायें पूरी हो सकें और वे भूख से न मर जायें।

इस प्रकार मानव इतिहास में प्रथम बार मनुष्य का मनुष्य के द्वारा शोषण का इतिहास प्रारंभ हुआ और इसी के साथ वर्ग संघर्ष का इतिहास भी अस्तित्व में आया। समय के साथ-साथ उत्पादन की शक्तियों का विकास निरंतर जारी रहा, जिसके फलस्वरूप उत्पादन बढ़ने की प्रक्रिया में दास प्रथा एक बाधा प्रतीत होने लगी। उत्पादन की नई शक्ति उच्च उत्पादन के उद्देश्य से प्रेरित थी तथा इसके लिए उत्पादन के उपकरणों का और बेहतर होना भी जरुरी था। परन्तु गुलामों की इस नई प्रक्रिया में कोई रुचि नहीं थी, क्योंकि इस सबसे उनकी स्थिति में कोई सुधार नहीं होने वाला था। समय के साथ-साथ मालिक वर्ग और दास वर्ग में वर्ग संघर्ष चरम सीमा तक पहुंच गया, जिसके फलस्वरूप दास क्रांतिया हुई। पड़ौसी जनजातियों के आक्रमण के साथ-साथ इन क्रांतियों के फलस्वरूप दास प्रथा की जड़ें हिल गई और एक नई अवस्था का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे मार्क्स ने सामंतवादी (देखिए कोष्ठक 8.1) अवस्था कहा। बिंदु iii) में सामंतवादी अवस्था की चर्चा की गई है।

**कोष्ठक 8.1: सामंतवादी व्यवस्था**

**सामंतवाद** शब्द को "फ़ीफ़" (fief) की संस्था से लिया गया है। फ़ीफ़ जागीर को कहते हैं, जो कि भूमि सम्पति का एक टुकड़ा होती थी। यूरोपीयन इतिहास के मध्य युग में शासकों ने इस प्रथा को शुरू किया था। इसके अंतर्गत शासक अपने अधीनस्थ समूहों से सैन्य सुविधाएं लेकर, इसके बदले में उन्हें भूमि देता था। यह संबंध सम्पत्ति के अथवा फ़ीफ़ या जागीर के हक़ के रूप में अभिव्यक्त होता था। इस संबंध को क़ानून की मान्यता मिली हुई थी। शासक अपने अधीनस्थों के लिये न्यायालय लगाते थे। जहां वे झगड़ों का निपटान करते थे तथा क़ानून एवं प्रथाओं का उल्लंघन करने वाले को दण्ड देते थे। यही न्यायालय एक प्रशासनिक निकाय भी था जो कि कर लगाता था तथा सैन्य बल का भी गठन करता था। भूमिपति कृषक वर्ग पर नियंत्रण रखते थे। बारहवीं शताब्दी तक भूमि के किरायेदार किसानों (खातेदार) तथा अन्य कृषकों पर भूमिपतियों का नियंत्रण अत्यधिक बढ़ गया था।

(iii) **सामंतवादी अवस्था** में उत्पादन की शक्तियों का विकास जारी रहा। मनुष्य ने इस अवस्था में मानव श्रम के अतिरिक्त, ऊर्जा अर्थात् अजैवकीय शक्ति के स्रोत प्रयोग में लाने शुरू कर दिए जिसमें जल तथा वायु प्रमुख थे। कारीगरी का विकास हुआ, नये औज़ार और मशीनों का आविष्कार हुआ और पुराने औज़ारों को परिष्कृत किया गया। इस अवस्था में निपुण कारीगरों ने उत्पादकता में महत्वपूर्ण वृद्धि की। उत्पादन की शक्तियों के विकास के कारण उत्पादन के सामंतवादी संबंधों की स्थापना हुई। ये सामंतवादी संबंध भूपतियों और भूमिहीन किसानों के मध्य स्थापित हुये। इन संबंधों में महत्वपूर्ण बात यह थी कि भूमिहीन कृषकों पर भूपति सामंतों का पूर्ण प्रभुत्व था और ये सामंत इन कृषकों का शोषण करते थे। तथापि दास प्रथा की तुलना में ये संबंध अधिक प्रगतिशील थे, क्योंकि इनके अंतर्गत दासों की तुलना में श्रमिकों की स्थिति बेहतर थी और श्रमिक कुछ हद तक अपने श्रम में रुचि लेने लगे थे। इसके साथ-साथ इस अवस्था में कृषक तथा कारीगर कुछ लघुस्तरीय उत्पादन के औज़ारों और कृषि की छोटी जोत के मालिक भी हो सकते थे।

समय के साथ-साथ नये आविष्कार हुये, जिससे उत्पादन की शक्ति में परिवर्तन आये, जनसंख्या में वृद्धि हुई, जिसके कारण उपभोग की वस्तुओं की मांग बढ़ी और उपनिवेशीकरण का युग प्रारंभ हुआ, जिसके कारण नये बाज़ार अस्तित्व में आये। नई प्रौद्योगिकी तथा आवश्यकताओं के कारण वृहत् स्तरीय उत्पादन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इस सब बातों ने असंगठित श्रमिकों को उत्पादन प्रक्रिया में एक स्थान पर लाकर खड़ा किया, जो कि फ़ैक्ट्री अथवा असंगठित उद्योग कहलाये। इसका परिणाम यह हुआ कि पहले से ही तीक्ष्ण हुए वर्ग संघर्षों ने भूमिपतियों के विरुद्ध कृषक क्रांति का रूप ले लिया। उत्पादन की नई व्यवस्था में मुक्त श्रमिक की आवश्यकता थी जबकि भूमिहीन कृषक का श्रम केवल जमीन से जुड़ा हुआ था। अत: उत्पादन

की नई शक्तियों ने उत्पादन के संबंधों को भी परिवर्तित किया, जिसके फलस्वरूप सामंतवादी उत्पादन के तरीक़े का पूंजीवादी उत्पादन के तरीक़े में परिवर्तन हुआ। अगले उपभाग (8.2.2) में हमने पूंजीवादी समाज में वर्ग संघर्ष पर चर्चा की है। परंतु अगले उपभाग को पढ़ने से पहले आइए बोध प्रश्न 2 पूरा करें।

**बोध प्रश्न 2**

i) मार्क्स द्वारा दी गई, समाज की पांच अवस्थाएं बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

(ii) निम्नलिखित कथनों में से प्रत्येक के सामने सही अथवा गलत पर निशान लगाइए।

अ) दास अवस्था के साथ वर्ग संघर्ष अथवा विरोध का इतिहास शुरू हुआ। सही/ग़लत

ब) आदिम साम्यवादी अवस्था में सम्पति का निजी स्वामित्व नहीं था। सही/ग़लत

## 8.2.3 पूंजीवाद के अंतर्गत वर्ग संघर्ष की तीव्रता

**पूँजीवाद** पर आधारित व्यवस्था में उत्पादन शक्तियों का प्रमुख लक्षण वृहत् स्तरीय उत्पादन है। इस व्यवस्था के अस्तित्व में आते ही हस्तकला क्षेत्रों तथा लघु कृषि का स्थान विशालकाय फ़ैक्ट्रियों और उद्योगों ने ले लिया। मार्क्स और एंजल्स (1848) ने *मैनिफ़ैस्टो ऑफ़ द कम्युनिस्ट पार्टी* में यह बतलाया है कि पूंजीवादी उत्पादन शक्तियों ने किस तरह नए आविष्कारों से बड़ी-बड़ी आबादियों का नक़्शा ही बदल दिया। पिछली दो शताब्दियों में पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन शक्तियों में इतना अधिक परिवर्तन आया जितना कि इससे पूर्व के सम्पूर्ण मानव इतिहास में नहीं आया था।

उत्पादन की शक्तियों की इस तीव्र प्रगति में पूंजीवादी उत्पादन के संबंधों का भी योगदान था। पूंजीवादी उत्पादन के संबंध उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों के स्वामित्व पर आधारित थे। उत्पादक अथवा औद्योगिक श्रमिक कानूनी रूप से स्वतंत्र है अर्थात् है किसी ज़मीन अथवा किसी विशेष फ़ैक्ट्री से जुड़ा हुआ नहीं है। इस व्यवस्था में श्रमिक की स्वतंत्रता इस अर्थ में है कि वह अपनी मनमर्ज़ी से किसी भी पूंजीपति के पास कार्य करने जा सकता है, परन्तु वह बुर्जुआ वर्ग से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं है। उत्पादन के साधनों का स्वामित्व न होने के कारण उसे अपनी श्रम शक्ति बेचने के लिये बाध्य होना पड़ता है और उसे किसी न किसी पूंजीपति के पास कार्य करना पड़ता है। इस प्रकार वह इस शोषण के चक्र से नहीं बच सकता।

पहले की अपेक्षा स्वतंत्र औद्योगिक श्रमिक शोषण के कारण अपने वर्ग हितों के प्रति अधिक सचेत रहते हैं और अपने आपको कामगार आंदोलन के रूप में संगठित करते हैं। यह आंदोलन बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध संघर्ष को तेज़ करता है। इसमें सर्वप्रथम बेहतर वेतन और काम करने की दशाओं के लिये सौदेबाज़ी होती है। परन्तु अन्त में इसका उद्देश्य पूंजीवादी व्यवस्था का तख़्ता पलटना होता है। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था असमानता, शोषण तथा वर्ग संघर्ष के सबसे उग्रवादी स्वरूप का प्रतीक है। ये कारण मिलकर समाजवादी क्रांति का मार्ग प्रशस्त करते हैं, जिसके फलस्वरूप एक नयी अवस्था का प्रादुर्भाव होता है, जिसे साम्यवाद कहा गया है।

**कोष्ठक 8.2: साम्यवाद**

"साम्यवाद" शब्द का उद्भव 1830 ईस्वी के मध्य में हुआ था। इस समय पैरिस में गुप्त क्रांतिकारी पार्टियों ने "साम्यवाद" शब्द को अपनाया था। कामगार वर्ग ने पूंजीवादी समाज में पूंजीपतियों के विरुद्ध यह राजनैतिक आंदोलन चलाया था। साम्यवादी समाज का अभिप्राय उस समाज से था जो कामगार वर्ग के संघर्ष के परिणामस्वरूप सामने आने वाला था।

उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले भाग में कामगार वर्ग के आंदोलन की चर्चा में साम्यवाद और समाजवाद का एक ही अर्थ समझा जाने लगा। मार्क्स तथा एंजल्स ने भी अपने लेखों में प्राय: इन अवधारणाओं का इसी तरह प्रयोग किया। तीसरे अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी सम्मेलन, 1917 के समय से पूंजीवाद को उखाड़ फेंकने वाली क्रांति के रूप में साम्यवाद की अवधारणा का प्रयोग किया जाने लगा। लेकिन अब समाजवाद का अभिप्राय शांतिपूर्वक व वैधानिक गतिविधि द्वारा लाए गए दीर्घकालीन परिवर्तनों से समझा जाता है जबकि साम्यवाद का अर्थ हिंसात्मक क्रांति द्वारा लाए गए परिवर्तनों से है।

मार्क्स ने साम्यवाद को समाज का एक विशिष्ट रूप माना है। *इकॉनॉमिक एण्ड फ़िलॉसॉफ़िकल मैनुस्क्रिप्ट्स* (1844) में मार्क्स ने लिखा है कि साम्यवाद के अंतर्गत निजी सम्पत्ति, स्व का अलगाव (self–alienation) तथा मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण पूर्ण रूप से समाप्त हो जाएगा।

## 8.2.4 वर्ग एवं वर्ग संघर्ष

अभी तक हमने यह अध्ययन किया है कि उत्पादन प्रणाली अथवा आर्थिक संरचना समाज की आधारशिला है। **अधोसंरचना** (infrastructure) में कोई भी परिवर्तन **अधिसंरचना** (superstructure) में मौलिक परिवर्तन लाता है (अधोसंरचना तथा अधिसंरचना के लिये इकाई 6 देखिए), जिसके परिणामस्वरूप समाज में परिवर्तन होते हैं। उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन मूलत: उत्पादन शक्तियों और उत्पादन संबंधों में परिवर्तन है। आइए, हम वर्ग संघर्ष के संदर्भ में उत्पादन प्रणाली में परिवर्तनों पर चर्चा करें। आदिम साम्यवादी अवस्था में अतिरिक्त उत्पादन की संभावनायें नहीं थीं तथा उत्पादन के साधनों में निजी स्वामित्व भी नहीं था। इस कारण उस अवस्था में किसी प्रकार की असमानता अथवा शोषण भी नहीं दिखाई देता। उत्पादन के साधन मानव समुदाय की सामूहिक सम्पत्ति थे तथा कोई वर्ग संघर्ष नहीं थे। उत्पादन शक्तियों में विकास और सुधार के साथ-साथ उत्पादकता भी बढ़ी, जिसके फलस्वरूप उत्पादन के साधनों का निजी स्वामित्व संभव हुआ और इन सभी कारणों से उत्पादन संबंधों में भी परिवर्तन हुआ। इस मोड़ पर आकर आदिम साम्यवादी अवस्था खत्म हो जाती है और एक नई अवस्था, दास प्रथा, प्रारंभ होती है। इसके साथ प्रारंभ होता है मानवीय इतिहास में असमानता, शोषण और वर्ग संघर्ष का एक लम्बा दौर।

दास प्रथा में मालिकों और गुलामों के मध्य वर्ग संघर्ष के कारण उत्पादन के तरीक़ों में परिवर्तन आया, जिसकी वजह से सामंतवादी अवस्था का प्रादुर्भाव हुआ। मार्क्स ने कहा कि आज तक के समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। इसका अर्थ है कि समाज का सम्पूर्ण इतिहास वर्ग संघर्ष की विभिन्न अवस्थाओं और कालों का साक्षी रहा है। वर्ग संघर्ष का इतिहास दास प्रथा से प्रारंभ होकर सामंतवादी अवस्था में जारी रहता है। पहले, वर्ग संघर्ष दास तथा मालिक वर्गों के मध्य शुरू हुआ। सामंतवादी अवस्था में वर्ग संघर्ष भूपति सामंतों और भूमिहीन कृषि मज़दूरों के मध्य हुआ। उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन तथा वर्ग संघर्ष के कारण समाज में इस सामंतवादी व्यवस्था का स्थान पूंजीवादी व्यवस्था ने ले लिया।

पूंजीवादी व्यवस्था में वर्ग संघर्ष चरमोत्कर्ष पर पहुंच जाता है, जिससे कि कामगार वर्ग का आंदोलन एक ठोस शक्ल लेकर क्रियान्वित होता है। पूंजीपतियों के वर्ग और औद्योगिक श्रमिकों के मध्य वर्ग संघर्ष के कारण पूंजीवादी व्यवस्था का स्थान समाजवाद ले लेता है। इस क्रांतिकारी

आमूल परिवर्तन को मार्क्स ने क्रांति कहा है। अगले भाग (8.3) में हमने क्रांति की अवधारणा पर विस्तार से चर्चा की है। अगला भाग पढ़ने से पहले सोचिए और करिए 2 पूरा करें।

**सोचिए और करिए 2**

क्या भारतीय इतिहास वर्ग संघर्ष के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करता है? यदि हां तो, कम से कम एक उदाहरण को विस्तार से बतलाइये। यदि नहीं तो, भारतीय इतिहास में वर्ग संघर्ष के न होने के कारण बताइये।

## 8.3 वर्ग संघर्ष एवं क्रांति

मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में वर्ग संघर्ष के कारण क्रांति होगी, जिसके फलस्वरूप समाजवाद आयेगा। यहां यह प्रश्न उठता है कि पूंजीवादी समाज में वर्ग संघर्ष का कारण क्या है? वस्तुत: यहां उत्पादन की शक्तियों और संबंधों में परस्पर विरोध देखने में आता है। बुर्जुआ वर्ग निरंतर उत्पादन के सशक्त साधन सृजित करता है। परन्तु उत्पादन की शक्तियों में इन परिवर्तनों से उत्पादन संबंध अप्रभावित रह जाते हैं। अर्थात् उत्पादन के साधनों में स्वामित्व और आय की वितरण संरचना में उसी दर से परिवर्तन नहीं आते। पूंजीवादी उत्पादन के तरीके वृहत्-स्तरीय उत्पादन करने में सक्षम होते हैं। इस वृहत्-स्तरीय उत्पादन और आर्थिक समृद्धि में अत्यधिक वृद्धि के बावजूद पूंजीवादी व्यवस्था में अधिकांश जनसंख्या निर्धनता और मुसीबतों का शिकार रहती है। दूसरी ओर कुछ परिवारों के पास कल्पना से परे इतनी अधिक सम्पदा का संचय होता है कि ये विषमतायें स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती हैं। निर्धनता और मुसीबतों के विशाल समुद्र में ऐसा लगता है, जैसे समृद्धि के छोटे-छोटे द्वीप उठ खड़े हुये हों। इस भीषण विषमता का उत्तरदायित्व असमान तथा शोषक उत्पादक संबंधों पर होता है, जो कि उत्पादन और उत्पादन से उत्पन्न समृद्धि का असमान तरीकों से वितरण करते हैं। मार्क्स के अनुसार इस विरोध के कारण एक क्रांतिकारी संकट उत्पन्न होता है। मार्क्स की भविष्यवाणी थी कि इस स्थिति में सर्वहारा वर्ग जो कि आबादी का एक बड़ा हिस्सा होता है, वह एक संघर्षकारी वर्ग बन जायेगा और एक ऐसी सामाजिक शक्ति के रूप में उभरेगा जो कि इन उत्पादन संबंधों को परिवर्तित करना चाहेगा।

### 8.3.1 वर्ग संघर्ष में सर्वहारा

मार्क्स ने सर्वहारा को वर्ग संघर्ष में एक उभरते हुए वर्ग के रूप में माना है। उसने यह दावे से कहा है कि एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर विजित होना समाज की प्रगति का आधार रहा है। मार्क्स के जीवन का उद्देश्य ही सर्वहारा वर्ग को प्रभावी बनाना था। एक तरह से वह वर्ग संघर्ष के अभियान का नायक बन गया था। पूंजीपति व्यवस्था को समाप्त करने के लिए मार्क्स ने समाज व इतिहास को नियमित करने के तरीकों पर विशेष ज्ञान अर्जित किया। अपनी मुख्य कृति, *कैपीटल* (1861-1879) में मार्क्स ने वर्ग संघर्ष के वाद-विवादों पर ध्यान नहीं दिया है। यहां पर उसने इस वाद-विवाद को व्यर्थ माना है। तात्कालिक चर्चा में मार्क्स ने भावुकतावाद, मानवतावाद तथा आदर्शवाद आदि दार्शनिक विचारधाराओं से कोई लगाव नहीं दर्शाया है। उसकी मान्यता थी कि वर्ग संघर्ष हर स्तर पर होता है अत: उसने ऐसी राजनैतिक पार्टी के गठन की आवश्यकता पर ज़ोर दिया जो प्रभावी हो तथा विजित वर्ग बन सके।

### 8.3.2 वर्ग संघर्ष के विचार का संक्षिप्त इतिहास

यहां यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि वर्ग संघर्ष का विचार सबसे पहले मार्क्स ने नहीं दिया था। सेंट सिमों ने भी मानव इतिहास को सामाजिक वर्गों के मध्य हो रहे संघर्ष के रूप में देखा था। 1790 के दशक में एक फ्रांसीसी राजनैतिक आंदोलतकर्ता बाबेफ़ ने सर्वहारा वर्ग की

अधिनायकता के बारे में लिखा है। बाद में बाबेफ़ के शिष्य ब्लॉकी तथा एक जर्मन दर्ज़ी वाइटलिंग ने बाबेफ़ के विचारों को आगे विकसित किया। फ़्रांसीसी समाजवादियों ने औद्योगिक राज्यों में कामगारों की भावी प्रस्थिति तथा उनके महत्व की विवेचना की थी। वास्तव में, अट्ठारहवीं शताब्दी में बहुत से चिंतकों ने ऐसी धारणाएं विकसित की थीं। मार्क्स ने सभी के विचारों की बारीक़ी से जांच पड़ताल की तथा एक नया सामाजिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। वर्ग संघर्ष पर मार्क्स का विश्लेषण साधारण मूल-सिद्धातों के विस्तृत विवरण पर आधारित है। मार्क्स के अनुसार सर्वहारा वर्ग सामाजिक संस्तरण में सबसे निम्न वर्ग है। इसके नीचे अन्य कोई वर्ग नहीं है। वस्तुत: सर्वहारा वर्ग के उद्धार में ही मानव जाति का उद्धार है। मार्क्स बुर्जुआ वर्ग द्वारा संघर्ष करने के अधिकार को भी मान्यता देता है। लेकिन सर्वहारा वर्ग के लिए यह संघर्ष जीतना उसके जीवित रहने के लिए अर्थात् अस्तित्व के लिए अनिवार्य है।

### 8.3.3 सर्वहारा वर्ग की क्रांति

मार्क्स के अनुसार यह परिवर्तन क्रांतिकारी परिवर्तन होगा और सर्वहारा वर्ग की यह क्रांति पिछली हुई सभी क्रांतियों से भिन्न होगी। विगत क्रांतियां अल्प संख्यक लोगों द्वारा अल्प संख्यक लोगों के लाभ के लिये की गई थीं, परन्तु सर्वहारा वर्ग की क्रांति बहुसंख्यक समुदाय द्वारा की जायेगी और इसका लाभ सभी को मिलेगा। इस प्रकार सर्वहारा क्रांति के फलस्वरूप पूंजीवादी समाज का तख़्ता पलट जायेगा और एक वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी, जिसमें सम्पति का निजी स्वामित्व नहीं होगा और न ही किसी प्रकार की असमानता होगी अथवा शोषण होगा। सर्वहारा वर्ग का सामूहिक रूप से स्वामित्व होगा तथा उत्पादन समाज के सभी सदस्यों में समान रूप से वितरित होगा। इस अवस्था को सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व (dictatorship of proletariat) कहा गया। यह अवस्था कालांतर में राज्यविहिन समाज में परिणित हो जायेगी, जिसके अंतर्गत अंतत: साम्यवादी अवस्था स्थापित होगी। इसके साथ-साथ सभी प्रकार के सामाजिक वर्ग और वर्ग संघर्ष भी समाप्त हो जायेंगे। इस अवस्था में सर्वहारा वर्ग का अलगाव (alienation) भी समाप्त हो जाएगा। अलगाव की अवधारणा मार्क्सवाद की प्रमुख धारा समझी जाती है। बोध प्रश्न 3 के बाद अगले भाग (8.4) में अलगाव की अवधारणा के बारे में तथा मार्क्स के वर्ग-विश्लेषण में इसकी महत्ता के बारे में भी कुछ चर्चा की जाएगी।

**बोध प्रश्न 3**

i) साम्यवाद की प्रमुख विशेषताओं को तीन पंक्तियों में लिखिये।

.....

.....

.....

ii) निम्नलिखित कथनों के सामने सही अथवा गलत पर निशान लगाइए।

अ) सम्पत्ति का निजी स्वामित्व साम्यवाद में समाप्त नहीं होगा। सही/ग़लत

ब) साम्यवाद में राज्यविहीन, वर्गविहीन समाज होगा। सही/ग़लत

## 8.4 मार्क्स की अलगाव की अवधारणा

अलगाव (alienation) का शाब्दिक अर्थ है "अलग होना"। साहित्य में यह शब्द अक्सर प्रयुक्त हुआ है लेकिन मार्क्स ने इसे समाजशास्त्रीय अर्थ दिया है। मार्क्स का अलगाव की अवधारणा से अभिप्राय ऐसे समाज की संरचना से है जिसमें उत्पादन के साधनों से उत्पादक वंचित रहता है तथा जिसमें "निर्जीव श्रम" (पूंजी) का "जीवित श्रम" (श्रमिक) पर प्रभुत्व होता है। आइए हम जूते बनाने के कारखाने के एक मोची का उदाहरण लें। यह मोची जूते तो बनाता है लेकिन

उनका अपने लिए इस्तेमाल नहीं कर सकता। उसकी बनाई हुई रचना (जूता) एक ऐसी वस्तु बन जाती है जो उससे अलग हो जाती है। यह वस्तु एक ऐसा रूप ले लेती है जो उसके बनाने वाले से पृथक हो जाती है। वह अपनी काम करने तथा सजृन करने की अन्त:प्रेरणा को संतुष्ट करने के लिए जूते नहीं बनाता अपितु अपनी जीविका कमाने के लिए ऐसा करता है। कारीगर के लिए वस्तु का पृथक रूप धारण कर लेना और भी गहरा हो जाता है जब कारख़ाने में उत्पादन प्रक्रिया अलग-अलग हिस्सों में बांट दी जाती है तथा कारीगर के हिस्से में एक पूरे काम (जूता बनाना) का छोटा सा हिस्सा ही आता है। इस तरह वह जूता बनाने के किसी एक भाग पर काम करने की गतिविधि (जैसे सिलाई अथवा कटाई आदि) में लगा रहता है। उसका काम मशीन जैसा हो जाता है तथा वह सोच-समझ से काम करने की क्षमता को खो देता है। मार्क्स ने 'फ़टिशिज़्म ऑफ़ कमोडिटीज़ एण्ड मनी' शीर्षक के अंतर्गत *कैपीटल* (1861-1879) में इस अवधारणा की विस्तृत एवं व्यवस्थित व्याख्या दी है। परन्तु इस अवधारणा की नीतिशास्त्रीय बुनियाद 1844 में रखी गई। इस समय मार्क्स ने "राज्य" एवं "धन" की पूर्ण रूप से आलोचना की, इन्हें अस्वीकृत कर दिया तथा सम्पूर्ण समाज के उद्धार का "ऐतिहासिक मिशन" सर्वहारा वर्ग को सौंपा।

### 8.4.1 अलगाव की प्रक्रिया

मार्क्सवादी अर्थ में अलगाव एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से (अथवा जिस स्थिति में) एक व्यक्ति, एक समूह, एक संस्था, अथवा एक समाज निम्न के प्रति अलगावित (alienated) हो जाता है (अथवा अलगावित बना रहता है):

अ) अपने कामों के परिणामों अथवा उत्पादों के प्रति (तथा क्रियाओं के प्रति), और/या

ब) उस प्राकृतिक वातावरण के प्रति जिसमें वह रहता है, और/या

स) अन्य व्यक्तियों के प्रति, तथा इसके अतिरिक्त (अ) से (स) तक किसी एक अथवा सभी के प्रति

द) स्वयं के प्रति (स्वयं की ऐतिहासिक रूप से सृजित मानवीय संभावनाओं के प्रति)।

अलगाव सदैव आत्म-अलगाव होता है, अर्थात् अपने ही कामों द्वारा अपने से अलग हो जाना। गैजो पेत्रोविक (1983: 10) के कथनानुसार, "अलगाव के अनेक स्वरूपों में से आत्म-अलगाव एक स्वरूप मात्र नहीं है, अपितु अलगाव की यह आधारभूत संरचना तथा सार है। यह मात्र एक विवरणात्मक अवधारणा नहीं है, बल्कि विश्व में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिये इसमें एक आह्वान है, एक अपील भी है।"

### 8.4.2 अलगाव दूर करना

मार्क्स का उद्देश्य अलगाव की मात्र आलोचना करना नहीं था। उसका उद्देश्य एक आमूल क्रांति के लिये मार्ग प्रशस्त करना तथा एक ऐसे साम्यवाद की स्थापना करना था जिसे "व्यक्ति का अपनी स्वयं की ओर वापस आने की प्रक्रिया का पुनर्एकीकरण, या आत्म-अलगाव पर विजय" के रूप में समझा जाये। मार्क्स के अनुसार केवल निजी सम्पत्ति समाप्त करने से आर्थिक एवं सामाजिक जीवन का अलगाव दूर नहीं हो सकता है। निजी सम्पत्ति को राज्य सम्पत्ति में परिवर्तित करने से श्रमिक अथवा उत्पादक की स्थिति नहीं बदलती। पूंजीवादी उत्पादन में अलगाव के कुछ तत्वों की जड़ उत्पादन के साधनों की प्रकृति में तथा इससे संबंधित सामाजिक श्रम के विभाजन में होती है। इसी वजह से उत्पादन के प्रबंधन में परिवर्तन मात्र से अलगाव दूर नहीं होता है।

समाज का एक दूसरे पर निर्भर एवं संघर्षरत क्षेत्रों (अर्थव्यवस्था, राजनीति, विधि, कला,

नैतिकता, धर्म, आदि) में विभाजित होना तथा समाज में आर्थिक क्षेत्र का अन्य सभी क्षेत्रों पर प्रभुत्व होना, मार्क्स के अनुसार, आत्म-अलगावित समाज की विशेषता है। यही कारण है कि विभिन्न मानवीय गतिविधियों का एक दूसरे से अलगाव समाप्त किये बिना समाज में अलगाव दूर करना असंभव है।

मार्क्सवादी अर्थ में, अर्थव्यवस्था के पुर्नगठन द्वारा अलगाव समाप्त नहीं किया जा सकता, चाहे यह परिवर्तन कितने ही क्रांतिकारी तरीक़े से लाया गया हो। व्यक्ति द्वारा अलगाव को झेलना तथा समाज में अलगाव होना, दोनों एक ही प्रक्रिया से संबंधित हैं। अत: दोनों में से केवल एक के अलगाव की समाप्ति से न तो दूसरे में अलगाव समाप्त किया जा सकता है और न इसे कम किया जा सकता है।

### 8.4.3 अलगाव की अवधारणा: विश्लेषण का आधार

अलगाव की अवधारणा मार्क्सवादी चिंतन में विश्लेषण की कुंजी है। मार्क्स के अनुसार अभी तक व्यक्ति सदैव स्व-अलगावित था। उत्पादन के बुर्जुआ संबंध वास्तव में उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के अंतिम परस्पर विरोधी संबंध हैं जिनसे समाज में अलगाव उत्पन्न होता है। इसके साथ-साथ, बुर्जुआ समाज के भीतर विकसित हो रही उत्पादक शक्तियां ऐसी भौतिक दशाएं उत्पन्न करती हैं जो इस विरोध एवं अलगाव का समाधान कर देंगी। अत: एक तरह से यह सामाजिक संरचना मानवीय समाज के अंतिम अध्याय की "पूर्व ऐतिहासिक" अवस्था है। इस संरचना में बदलाव अलगाव को दूर करके ही बदलाव लाया जा सकता है। अलगाव की अवधारणा को भली भाँति समझने के लिए सोचिए और करिए 3 पूरा करें।

**सोचिए और करिए 3**

क्या आपकी मातृ भाषा में अलगाव के लिये कोई शब्द है? यदि हां, तो इस शब्द को बताइये व अपने रोज़मर्रा के जीवन से उदाहरण देकर इसे समझाइये।

## 8.5 सारांश

इस इकाई में हमने मानव समाज के ऐतिहासिक विकास के संदर्भ में कार्ल मार्क्स द्वारा दी गई वर्ग एवं वर्ग संघर्ष की अवधारणाओं का अध्ययन किया है। मार्क्स ने वर्ग को समाज के सदस्यों की वर्ग चेतना और उनके उत्पादन के साधनों के संबंध के संदर्भ में परिभाषित किया है। मार्क्स के शब्दों में "आज तक के समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।" इसका तात्पर्य यह है कि दास प्रथा के समय से ही सामाजिक असमानता और शोषण का युग प्रारंभ हो गया था। इस अवस्था में शोषण और असमानता बने रहते हैं। ऐसा समाज परस्पर विरोधी दो वर्गों में बंटा रहता है, जिसमें एक बुर्जुआ वर्ग और दूसरा सर्वहारा वर्ग कहलाता है। वर्ग संघर्ष और उत्पादन के तरीक़ों में परिवर्तन के कारण समाज के इतिहास में विभिन्न अवस्थायें परिवर्तन के दौर से गुज़री हैं, जिसमें एक दास प्रथा से सामंतवादी प्रथा और सामंतवादी से पूंजीवादी व्यवस्था तक परिवर्तन हुआ है। मार्क्स के अनुसार अंतिम सामाजिक क्रांति पूंजीवादी व्यवस्था को समाजवादी अवस्था में परिवर्तित कर देगी, जिसमें न तो सामाजिक असमानता होगी और न वर्ग तथा वर्ग संघर्ष होंगे। वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की संरचना होगी जिसमें अलगाव की स्थिति भी दूर हो जाएगी।

## 8.6 शब्दावली

**बुर्जुआ** वे लोग जिनके पास उत्पादन के साधन का स्वामित्व है।

| | |
|---|---|
| | उदाहरण के लिये, सामन्तवादी युग में भूपति, पूंजीपति युग में उद्योगपति |
| **सर्वहारा** | वे लोग, जिनके पास अपनी श्रमशक्ति के अतिरिक्त किसी भी उत्पादन के साधन का स्वामित्व नहीं है। अतः सामन्तवादी समाज में सभी भूमिहीन किसान और कृषक मज़दूर तथा पूंजीवादी समाज में सभी औद्योगिक श्रमिक सर्वहारा की श्रेणी में आते हैं। |
| **वर्ग** | वे लोग, जिनके उत्पादन के साधनों से समान सम्बन्ध होते हैं, अर्थात् अपने समान हितों के प्रति जिनमें समान जागरूकता पाई जाती है। वे एक से वर्ग का निर्माण करते हैं। |
| **वर्ग हित** | किसी भी सामाजिक वर्ग के इतिहास, आकांक्षायें और मान्यताएँ, जिनमें उसके सदस्य समान रूप से विश्वास करते हैं |
| **वर्ग चेतना** | अन्य व्यक्तियों की निष्पक्ष (objective) वर्ग स्थिति की तुलना में अपनी वर्ग स्थिति के बारे में जागरूकता तथा समाज के परिवर्तन में इसकी ऐतिहासिक भूमिका के बारे में जागरूकता। |
| **उत्पादन के साधन** | उत्पादन के लिये आवश्यक सभी साधन। इसमें शामिल हैं, उदाहरण के लिये भूमि, कच्चा माल, फैक्ट्री, पूंजी तथा श्रम, आदि। |
| **उत्पादन के सम्बन्ध** | मार्क्स के अनुसार उत्पादन शक्तियां उत्पादन के सम्बन्धों की प्रकृति को निर्धारित करती हैं। वस्तुतः ये उत्पादन की प्रक्रिया में पाये जाने वाले सामाजिक सम्बन्ध अथवा आर्थिक भूमिकायें हैं, उदाहरण के लिये सामन्तवादी समाज में कृषक मज़दूरों तथा भूपति के मध्य संबंध एवं पूंजीपति समाज में पूंजीपति तथा औद्योगिक श्रमिक के मध्य संबंध। |
| **उत्पादन प्रणाली** | इसका तात्पर्य सामान्य आर्थिक संस्था से है, जिसे दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यह वह विशिष्ट तरीका है, जिसके द्वारा लोग जीवनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन एवं वितरण करते हैं। उत्पादन की शक्ति और उत्पादन के संबंध दोनों मिलकर उत्पादन प्रणाली को परिभाषित करते हैं, उदाहरण के लिये पूंजीवादी उत्पादन के तरीके, सामन्तवादी उत्पादन के तरीके। |
| **वर्ग संघर्ष** | जब विपरीत एवं परस्पर विरोधी वर्ग हितों वाले वर्ग आपस में टकराते हैं ताकि वे अपने वर्ग हितों की रक्षा कर सकें, यह वर्ग संघर्ष कहलाता है। |
| **पूंजीवाद** | यह समाज की वह ऐतिहासिक अवस्था है, जिसमें उत्पादन के साधन मुख्यतया मशीनरी, पूंजी तथा श्रम होते हैं। |
| **सामंतवाद** | यह समाज की वह ऐतिहासिक अवस्था है, जिसमें उत्पादन के साधन भूमि एवं श्रम होते हैं। |
| **क्रांति** | वर्ग संघर्ष की परिपक्व दशाओं तथा वर्ग संघर्ष के अत्यधिक |

बढ़ने के कारण समाज में लाया गया पूर्ण तथा आमूल परिवर्तन क्रांति कहलाता है।

**अधोसंरचना** मार्क्स के अनुसार किसी भी समाज की आधारशिला उस समाज की आर्थिक संरचना होती है अथवा दूसरे शब्दों में अधोसंरचना होती है। यह मूलत: उत्पादन प्रणाली से बनती है। अत: इसमें उत्पादन शक्तियां और उत्पादन संबंध सम्मलित होते हैं। इसी के ऊपर समाज की अधिसंरचना टिकी होती है।

**अधिसंरचना** यह समाज की अधोसंरचना पर टिकी होती है, इसके अन्तर्गत समाज की आर्थिक संस्थाओं के अतिरिक्त सभी सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संस्थायें आती हैं।

## 8.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कोज़र, लेविस ए. 1971,*मास्टर्स ऑफ़ सोशियॉलॉजिकल थॉट: आइडियाज़ इन हिस्टॉरिकल एण्ड सोशल कॉनटैक्स्ट,* हरकोर्ट ब्रेस जोवैनोविश्व: न्यूयार्क (पाठ 2, पृष्ठ 43-88)

बोटोमोर, टी.बी. 1975, *मार्क्सवादी समाजशास्त्र,* (अनुवादक: सदाशिव द्विवेदी) मैकमिलन कंपनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड: नई दिल्ली

## 8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) वे लोग, जिनके उत्पादन के साधनों के समान संबंध होते हैं अर्थात् अपने समान हितों के प्रति जिनमें समान जागरूकता पाई जाती है। वे एक वर्ग का निर्माण करते हैं।

ii) वर्ग निर्धारण के दो आधार हैं: अ) वस्तुपरक आधार तथा ब) स्वचेतनापरक आधार।

**बोध प्रश्न 2**

i) 1) आदिम साम्यवादी अवस्था 2) दास अवस्था
3) सामन्तवादी अवस्था 4) पूंजीवादी अवस्था
5) साम्यवाद

ii) अ) सही
ब) सही

**बोध प्रश्न 3**

i) इसमें एक ऐसा वर्ग विहीन समाज होगा जिसमें उत्पादन के साधनों का निजी स्वामित्व नहीं होगा तथा राज्यविहीन समाज होगा।

ii) अ) ग़लत
ब) सही

# इकाई 9 वाद-संवाद प्रक्रिया एवं सामाजिक परिवर्तन

इकाई की रूपरेखा


9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 वाद-संवाद प्रक्रिया की अवधारणा

9.3 वाद-संवाद प्रक्रिया के नियम

- 9.3.1 विपरीत की एकता एवं संघर्ष का नियम
- 9.3.2 निषेध का निषेध नियम
- 9.3.3 मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तन का नियम

9.4 वाद-संवाद प्रक्रियापरक भौतिकवाद के नियमों का प्रयोग

- 9.4.1 आदिम साम्यवादी समाज
- 9.4.2 दास प्रथावादी समाज
- 9.4.3 सामंतवादी समाज
- 9.4.4 पूंजीवादी समाज

9.5 सामाजिक परिवर्तन एवं क्रांति

9.6 सारांश

9.7 शब्दावली

9.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 9.0 उद्देश्य

यह इकाई वाद-संवाद प्रक्रिया की अवधारणा की तथा सामाजिक परिवर्तन में वाद संवाद प्रक्रिया के योगदान की जानकारी देती है। इसको पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा

- वाद-संवाद प्रक्रिया एवं सामाजिक परिवर्तन की मार्क्सवादी अवधारणाओं की विवेचना करना
- वाद-संवाद प्रक्रिया के नियमों की व्याख्या करना
- सामाजिक परिवर्तन को समझने हेतु वाद-संवाद प्रक्रिया के नियमों का योगदान बताना
- सामाजिक परिवर्तन एवं क्रांति के संदर्भ में मार्क्स के विचारों को प्रस्तुत करना।

## 9.1 प्रस्तावना

इस खंड की पूर्ववर्ती इकाईयों (6,7 तथा 8) में आपने समाज के विकास के इतिहास के बारे में मार्क्सवादी चिन्तन के मौलिक सैद्धांतिक एवं अवधारणात्मक रूप के बारे में जाना। उत्पादन की शक्तियों, उत्पादन के संबंधों तथा उत्पादन के तरीकों के संदर्भ में मानवीय इतिहास की भौतिकवादी, वैज्ञानिक व्याख्या में मार्क्स के विशिष्ट योगदान का अध्ययन करने के पश्चात् वर्ग एवं संघर्ष पर उसके विचारों को समझना भी आवश्यक होता है। वर्ग एवं वर्ग संघर्ष पर लिखी गई इकाई 8 में इन विचारों की चर्चा की गई है।

प्रस्तुत इकाई के दो प्रमुख उद्देश्य हैं: (i) आपको **वाद-संवाद प्रक्रिया** एवं परिवर्तन की महत्वपूर्ण मार्क्सवादी अवधारणाओं से अवगत कराना (ii) सामाजिक परिवर्तन से संबंधित कार्ल मार्क्स द्वारा प्रदत्त सम्पूर्ण अवधारणात्मक एवं सैद्धांतिक संरचना को संक्षेप में प्रस्तुत करना। इस इकाई को चार भागों में विभक्त किया गया है।

पहले भाग (9.2) में आपको वाद-संवाद प्रक्रिया की अवधारणा से अवगत कराया गया है। इसके साथ-साथ **वाद-संवादपरक प्रक्रिया भौतिकवाद** एवं सामाजिक परिवर्तन की सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में विवेचना की गई है।

दूसरे भाग (9.3) में वाद संवाद प्रक्रिया के नियमों को प्रस्तुत किया गया है।

तीसरे भाग (9.4) में सामाजिक परिवर्तन व मार्क्सवादी चिन्तन को एक और दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। यह भाग सामाजिक परिवर्तन एवं उत्पादन की बदलती हुई प्रणालियों के बारे में है। पूर्ववर्ती इकाईयों में भी, इस बात की विवेचना की गई है, परन्तु यहां पर समाज में परिवर्तन के ऐतिहासिक वाद-संवाद प्रक्रिया पक्ष पर प्रकाश डालने पर ज़ोर दिया गया है।

चौथे भाग (9.5) में सामाजिक परिवर्तन एवं क्रांति के संदर्भ में मार्क्स के विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

## 9.2 वाद-संवाद प्रक्रिया की अवधारणा

वाद-संवाद प्रक्रिया का अर्थ वाद-संवाद (dialogue) की बौद्धिक विवेचना पद्धति से है। यह तर्कशास्त्र की अवधारणा है। यूनानी दार्शनिक अरस्तू (384-322 ईसा पूर्व) के अनुसार, इसे प्रश्नोत्तर द्वारा तर्क वितर्क के लिये प्रयुक्त किया जाता है। अरस्तू से पूर्व, एक अन्य यूनानी दार्शनिक प्लेटो (427-397 ईसा पूर्व) ने इस अवधारणा को अपने दार्शनिक विचारों के सन्दर्भ में विकसित किया था। प्लेटो से पूर्व, एक और यूनानी दार्शनिक सुकरात (470-390 ईसा पूर्व) ने इस अवधारणा को सभी विज्ञानों की मूल धारणाओं के परीक्षण हेतु प्रयुक्त किया था। मध्य काल के अंत तक, यह अवधारणा तर्कशास्त्र का एक हिस्सा बनी रही। इस अवधारणा की तर्क-वितर्क (reason) की परम्परा के अनुसार जर्मन दार्शनिक इमानुएल काँट (1724-1804) ने यूरोप के आधुनिक दर्शन में इसका प्रयोग किया। उसने वाद-संवाद प्रक्रिया का प्रयोग इस बात की विवेचना करने के लिये किया कि आनुभाविक प्रघटनाओं को नियंत्रित करने वाले नियमों से ग़ैर-आनुभाविक वस्तुओं की व्याख्या नहीं की जा सकती है।

वाद-संवाद प्रक्रिया का एक और भी अर्थ है। इसके अनुसार वाद-संवाद को एक प्रक्रिया समझा जाता है। इसका तात्पर्य है कि वाद-संवाद प्रक्रिया तर्क वितर्क (reason) की आरोही (ascending) एवं अवरोही (descending) स्वरूपों में प्रक्रिया है। वाद-संवाद प्रक्रिया के आरोही स्वरूप से अध्यात्मिक यथार्थ के अस्तित्व को दर्शाया जा सकता है, उदाहरण के लिये, ईश्वर के स्वरूपों को। वाद-संवाद प्रक्रिया के अवरोही स्वरूप से आनुभाविक प्रघटना जगत में अध्यात्मिक यथार्थ की अभिव्यक्ति की व्याख्या की जा सकती है।

आइए, हम देखें कि कार्ल मार्क्स ने वाद-संवाद प्रक्रिया की अवधारणा का प्रयोग कैसे किया। यहां हमें यह याद रखना होगा कि मार्क्स ने वाद-सवांद प्रक्रियापरक भौतिकवाद की अवधारणा को जर्मन दार्शनिक हीगल के प्रत्ययवादी सिद्धांतों की आलोचना के आधार पर विकसित किया। आपको याद होगा कि आपको हीगल के बारे में इकाई 6 के कोष्ठक 6.1 तथा 6.2 में अवगत कराया गया था कि हीगल एक प्रत्ययवादी दार्शनिक था। वह यथार्थ को मानस में विचारों की रचना मानता था (कोष्ठक 6.1 तथा 6.2 पुनः पढ़िए)।

हीगल ने वाद-संवाद प्रक्रिया की अवधारणा के तर्क-वितर्क एवं प्रक्रिया - दोनों स्वरूपों को

मिलाकर विकसित किया। मौटे तौर पर उसने वाद-संवाद प्रक्रिया को एक तार्किक प्रक्रिया के रूप में प्रयुक्त किया और सूक्ष्म स्तर पर उसने इस प्रक्रिया को तार्किक प्रक्रियाओं की संचालक शक्ति का स्रोत माना। हीगल की मान्यता थी कि ईश्वर के बारे में आत्मज्ञान मानवीय ज्ञान के माध्यम से होता है। दूसरे शब्दों में, मानवीय विचारों की अवधारणाएं मानव अस्तित्व के वस्तुपरक स्वरूपों के बराबर होती है तथा इसी के साथ-साथ तर्क मानव प्रकृति के सिद्धांत पर आधारित होता है। इसके विपरीत, हीगल ने यह भी प्रतिपादित किया कि वाद-संवाद प्रक्रिया अधिक सूक्ष्म स्तर पर विपरीत स्थितियों को एकता के संदर्भ में समझने की चेष्टा है। हीगल ने इसे एक ऐसी प्रक्रिया बताया जो अंतर्निहित तत्वों को स्पष्ट करती है। इस प्रकार, प्रत्येक विकास अथवा परिवर्तन कम-विकसित या पूर्व अवस्था का परिणाम है। इस प्रकार से, नया विकास पूर्व अवस्था की परिणति है। अत: एक स्वरूप तथा उससे नये स्वरूप बनने की प्रक्रिया के बीच सदैव एक अप्रकट तनाव बना रहता है। हीगल ने इतिहास को स्वतंत्रता की चेतना की प्रगति के रूप में समझा है (कोष्ठक 6.2 देखिये) ।

प्रारंभ में मार्क्स हीगल के दर्शन से प्रभावित था, परन्तु बाद में उसने इसकी प्रत्ययवादी प्रकृति की आलोचना की तथा स्वयं वाद-संवाद प्रक्रियापरक भौतिकवाद का प्रतिपादन किया। हीगल द्वारा पदार्थ (matter) के स्थान पर विचारों (ideas) को अधिक महत्व देने की भी मार्क्स ने आलोचना की। उसने कहा कि वैज्ञानिक रूप से वैध वाद-संवाद प्रक्रियापरक पद्धति पाने के लिये हीगलवादी वाद-संवाद प्रक्रिया को पूरी तरह से उल्टा करना पड़ेगा। हीगल से अलग हटकर मार्क्स ने कहा कि पदार्थ ही सर्वोपरि है और हीगल की तरह वाद-संवाद प्रक्रिया में विचारों को सर्वोच्च समझना ठीक नहीं है।

आइए, अब हम मार्क्सवादी अवधारणाओं तथा वाद-संवाद प्रक्रिया की विवेचना करें। परन्तु आगामी भाग (9.3) का अध्ययन करने से पूर्व आप सोचिए और करिए 1 को पूरा कीजिये।

**सोचिए और करिए 1**

इस खंड में प्रयुक्त संदर्भों के आधार पर मार्क्स द्वारा लिखी गई पुस्तकों की एक संदर्भ सूची बनाइये तथा इसकी तुलना इस खंड के अन्त में दी गई संदर्भ सूची में मार्क्स द्वारा लिखित पुस्तकों से कीजिये। पुस्तक सूची बनाते समय यह याद रखिये कि आपको ये निम्न बातें बतानी हैं - (i) पुस्तक के लेखक का नाम, (ii) पुस्तक के प्रकाशन का वर्ष, (iii) पुस्तक का शीर्षक, (iv) पुस्तक के प्रकाशन का स्थान, तथा (v) पुस्तक के प्रकाशक का नाम। इनमें से कोई भी एक जानकारी न होने पर संदर्भ सूची अपूर्ण रह जाती है।

## 9.3 वाद-संवाद प्रक्रिया के नियम

मार्क्स द्वारा विकसित वाद-संवाद प्रक्रियापरक भौतिकवाद हीगलवादी वाद-संवाद प्रक्रिया से बिल्कुल विपरीत है। यह प्रत्येक वस्तु की व्याख्या पदार्थ के विरोधाभास के संदर्भ में करता है। वाद-संवाद प्रक्रियापरक भौतिकवाद प्राकृतिक एवं सामाजिक परिवर्तन के लिये अमूर्त नियम प्रदान करता है। तत्त्व मीमांसा (metaphysics) के ठीक विपरीत वाद-संवाद प्रक्रियापरक भौतिकवाद की मान्यता है कि प्रकृति में वस्तुएं अंतर्सम्बन्धित व अंतर्निभर होती हैं तथा एक दूसरे के द्वारा निर्धारित की जाती हैं। इसमें प्रकृति को एक एकीकृत समष्टि (whole) माना जाता है। वाद-संवाद प्रक्रियापरक भौतिकवाद के अनुसार परिवर्तन का नियम ही यथार्थ का नियम है। सम्पूर्ण मानवीय जगत और अजैवकीय जगत में निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं। वस्तुत: विश्व में कुछ भी शाश्वत रूप में स्थायी नहीं है, अपितु प्रत्येक वस्तु निरंतर परिवर्तन के दौर से गुज़र रही है। ये परिवर्तन क्रमिक न होकर यकायक क्रांतिकारी रूप से होते हैं। मार्क्स के सहयोगी एंजल्स ने वाद-संवाद प्रक्रियापरक भौतिकवाद के तीन प्रमुख नियम दिये हैं, जो निम्नलिखित हैं।

### 9.3.1 विपरीत की एकता एवं संघर्ष का नियम

हमने अभी तक यह अध्ययन किया है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तित होती है और हमने परिवर्तन की प्रकृति एवं दिशा के बारे में भी जाना है। हमें अभी यह जानना बाक़ी है कि परिवर्तन के पीछे क्या कारण होता है। किसके कारण परिवर्तन घटित होता है ? विपरीत की एकता एवं संघर्ष का नियम वाद-संवाद प्रक्रिया का केन्द्रीय पक्ष है। यह नियम भौतिक जगत में विकास तथा शाश्वत परिवर्तन के वास्तविक कारणों अर्थात् स्रोतों को उजागर करता है।

इसके अनुसार वस्तुओं या प्रघटनाओं में आंतरिक प्रवृत्तियां (tendencies) तथा शक्तियां (forces) होती हैं जो परस्पर विपरीत होती हैं। इन परस्पर विपरीत प्रवृत्तियों अथवा विरोधाभासों के अभिन्न अंतर्सम्बन्ध विपरीत की एकता के लिये उत्तरदायी होते हैं । विश्व की वस्तुओं एवं प्रघटनाओं का यह विरोधाभास सामान्य व सार्वभौमिक प्रकृति का होता है। विश्व की कोई भी वस्तु अथवा प्रघटना ऐसी नहीं है, जिसे विपरीत में विभक्त न किया जा सके। इन परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों अथवा विपरीत में सहअस्तित्व होता है तथा एक के बिना दूसरे के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। फिर भी ये विपरीत शक्तियां किसी भी वस्तु में शांति से सहअस्तित्व में नहीं रह सकतीं। इन विपरीत शक्तियों की परस्पर विरोधी प्रकृति इनमें अनिर्वायत: संघर्ष पैदा करती है। प्राचीन एवं नवीन, नवोदित एवं पुरातन के मध्य संघर्ष अनिवार्य है। यहाँ यह बात जाननी महत्वपूर्ण है कि विपरीत की एकता संघर्ष की एक आवश्यक दशा है, क्योंकि संघर्ष तब ही घटित होता है, जब किसी एक वस्तु अथवा प्रघटना में विपरीत शक्तियां अस्तित्व में होती हैं। विपरीत का संघर्ष व विरोध ही चेतना एवं पदार्थ के विकास के मुख्य स्रोत हैं। विपरीत के संघर्ष से ही विकास होता है। प्राय: इन विरोधी शक्तियों में से एक शक्ति यथास्थिति को बनाये रखना चाहती है और दूसरी शक्ति यथास्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना चाहती है। इस संघर्ष के कारण अनेक मात्रात्मक (quantitative) परिवर्तनों पश्चात् जब भी परिपक्व अवस्थाएं अस्तित्व में आती हैं तो एक नई स्थिति, वस्तु, प्रघटना या अवस्था या परिवर्तन का जन्म होता है। यह क्रांतिकारी परिवर्तन **गुणात्मक (qualitative) परिवर्तन** है। इस प्रकार वाद-संवाद प्रक्रियापरक भौतिकवाद के तीन नियमों में तार्किक अंतर्संबंध देखे जा सकते हैं।

उन बाह्य प्रभावों की भूमिका की उपेक्षा करना त्रुटिपूर्ण होगा, जो कि परिवर्तन लाने में सहायक हो सकते हैं अथवा बाधा डाल सकते हैं। सभी प्रकार के परिवर्तनों का स्रोत आंतरिक विरोधाभास है। नये विरोधाभासों का प्रादुर्भाव एक नये प्रकार के परिवर्तनों को जन्म देता है जबकि इन विरोधाभासों की विलुप्ति एक और नये प्रकार के परिवर्तन का कारण बनती है। इस नए परिवर्तन के लिये अन्य विरोधाभास उत्तरदायी होते हैं। विपरीत तत्त्वों में कभी समभाव नहीं आ पाता है। विपरीत तत्त्वों का समान प्रभाव अस्थायी व सापेक्षिक होता है, जबकि उनके बीच संघर्ष हमेशा चलता रहता है।

**निषेध** का निषेध नियम तथा मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तन का नियम (देखिए उपभाग 9.3.2 तथा 9.3.3), ये दोनों नियम विपरीत की एकता व संघर्ष के नियम के विशेष उदाहरण माने जा सकते हैं। प्रस्तुत नियम सभी प्रकार के विकास एवं परिवर्तन के स्रोतों को व्यक्त करते हैं।

विपरीत की एकता व संघर्ष के इस अमूर्त नियम को सामाजिक विकास के इतिहास की क्रमिक उत्पादन प्रणाली पर लागू किया जाये तो इसको सरलता से समझा जा सकता है।

### 9.3.2 निषेध का निषेध नियम

निषेध शब्द को दर्शनशास्त्र में सबसे पहले हीगल ने प्रयुक्त किया, परन्तु उसने इसका प्रत्ययवादी

अर्थात् आदर्शवादी अर्थ लिया। हीगल की मान्यता थी कि निषेध की अवधारणा विचार तथा चिन्तन में उपजती है। मार्क्स ने हीगल की आलोचना की तथा निषेध की भौतिकवादी व्याख्या दी। उसने बताया कि निषेध यथार्थ के विकास का एक अभिन्न अंग है। मार्क्स ने लिखा कि किसी भी क्षेत्र में कोई भी तत्त्व अपने पूर्व के अस्तित्व के स्वरूप को नकारे बिना अथवा निषेध किये बिना विकसित नहीं हो सकता है।

आइये, हम इसको उदाहरण के द्वारा और अधिक स्पष्ट रूप से समझें। पृथ्वी की ऊपरी सतह अनेक भूगर्भीय युगों से गुज़र चुकी है। प्रत्येक नया युग पिछले युग के आधार पर अस्तित्व में आता है और इस प्रकार पुराने युग के निषेध का प्रतिनिधित्व करता है। प्राणी जगत में भी प्राणियों की प्रत्येक नई क़िस्म अपनी से पुरानी क़िस्म के आधार पर पैदा होती है और साथ ही साथ उसके निषेध का प्रतिनिधित्व भी करती है। इसी प्रकार समाज का इतिहास भी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के नई व्यवस्था द्वारा निषेधों की एक श्रृंखला है। जैसा कि रेमण्ड आरों (1965) ने कहा है कि पूंजीवाद सामन्तवादी समाज का निषेध है तथा समाजवाद पूंजीवाद का निषेध होगा अर्थात् समाजवाद **निषेध का निषेध** है। ज्ञान एवं विज्ञान के क्षेत्र में भी प्रत्येक नया वैज्ञानिक सिद्धांत प्राचीन सिद्धांतों का निषेध करता है। उदाहरण के तौर पर, बोन (Bohn) का परमाणु सिद्धांत डाल्टन (Dalton) के अणु सिद्धांत का निषेध है अथवा इसी प्रकार डार्विन के सिद्धांत ने अपने से पूर्व प्रचलित मानवीय उद्विकास के बारे में सभी सिद्धांतों का निषेध किया।

यहां एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि निषेध किसी वस्तु अथवा प्रघटना में बाहर से प्रविष्ट नहीं करता है, अपितु यह उस वस्तु अथवा प्रघटना के आंतरिक विकास का ही परिणाम होता है। वस्तुएं अथवा प्रघटनाएं स्वयं में निहित आन्तरिक विरोधाभासों के आधार पर विकसित होती हैं। वे अपने ही विनाश की दशायें उत्पन्न करती हैं ताकि एक नई उच्चतर गुणात्मक स्थिति में परिवर्तित हो सकें। निषेध का अभिप्राय वस्तुओं और प्रघटनाओं के आंतरिक विरोधाभासों, स्वविकास तथा स्वत: परिवर्तन के माध्यम से पुरानी स्थिति को नई स्थिति में बदलना है। इस प्रकार समाजवाद पूंजीवाद का स्थान इसलिये लेता है क्योंकि यह पूँजीवाद व्यवस्था के आंतरिक विरोधाभासों का समाधान करता है।

अत: वाद-संवाद प्रक्रियापरक निषेध एक ऐसे तथ्य से उभरता है, जिसमें कि किसी भी वस्तु की निषेधित वस्तु का कुछ भाग लुप्त हो जाता है। कुछ भाग नई व्यवस्था का भाग बन जाता है यद्यपि यह परिवर्तित स्वरूप में होता है और इस नई व्यवस्था में कुछ विशुद्ध रूप से नया जुड़ जाता है। इस प्रकार निषेध की मार्क्सवादी व्याख्या का प्रमुख गुण यह है कि यह निरन्तरता (continuity) को मान्यता प्रदान करती है जो कि विकास में नये और पुराने के मध्य एक कड़ी का कार्य करती है। हमें यह बात भी ध्यान रखनी चाहिये कि नई अवस्था कभी भी पुरानी अवस्था को पूरी तरह से नहीं बदलती है। यह पुरानी अवस्था में से कुछ विशिष्ट तत्वों अथवा पक्षों को अपने में समेट लेती है और यह क्रिया भी इसमें यान्त्रिक रूप से घटित नहीं होती, अपितु अपनी स्वयं की प्रकृति के अनुरूप नई अवस्था प्राचीन तत्वों को अपने आप में आत्मसात तथा परिवर्तित करती है।

उदाहरण के लिये, भारत में उपनिवेशवाद को उखाड़ फेंकने के बाद हमने एक नये राष्ट्र की रचना प्रारंभ की। इस प्रक्रिया में हमने राष्ट्रीय विकास को अवरुद्ध करने वाले सभी उत्पीड़क तत्त्वों और संस्थाओं को हटाने का प्रयास किया, फिर भी हमने उपनिवेशवाद द्वारा पीछे छोड़े गये शैक्षणिक, वैधानिक तथा प्रशासन तंत्रीय ढाँचे तथा यातायात एवं संचार की आधुनिक अधोसंरचना को अपना लिया व उसको बनाये रखा।

इन्हीं कारणों से विकास की अवस्थाओं में क्रमिक परिवर्तन प्रगतिशील होता है। यद्यपि कोई भी

अवस्था पूर्ण रूप से पुनर्घटित नहीं होती, फिर भी गत अवस्थाओं की कुछ विशेषताएं बाद की अवस्थाओं में रूपांतरित स्वरूप में घटित होती हैं। इस प्रकार प्राचीन तो नष्ट हो जाता है और नया उदित होता है। यह विकास की एक अवस्था मात्र है, अन्तिम स्थिति नहीं। क्योंकि विकास कभी नहीं रुकता। कोई भी नई अवस्था सदैव नई नहीं रहती। विकास की प्रक्रिया में और अधिक नई तथा प्रगतिशील अवस्था के लिये दशायें बनने लगती हैं और जब नई दशायें परिपक्व हो जाती हैं तो एक बार पुन: निषेध घटित होता है और इसी को निषेध **का** निषेध कहते हैं। इस प्रक्रिया में पहले निषेध के बाद वाला निषेध और भी उच्चतर स्थिति का होता है और यह प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती रहती है। इस प्रकार विकास की प्रक्रिया में असंख्य क्रमिक निषेध घटित होते हैं, जिसके द्वारा पुरानी स्थितियों अथवा वस्तुओं का स्थान नई वस्तुयें लेती हैं।

### 9.3.3 मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तन का नियम

प्रकृति में प्रत्येक वस्तु निरंतर गति और परिवर्तन की स्थिति में है। किसी भी नियत समय पर कुछ वस्तुएं अस्तित्व में आ रही हैं, कुछ वस्तुएं विकसित हो रही हैं तथा कुछ वस्तुएं क्षरित हो रही हैं अथवा उनका अस्तित्व समाप्त हो रहा है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक वस्तु निरंतर परिवर्तनशील है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि मार्क्स की मान्यता थी कि यथार्थ का नियम परिवर्तन का नियम है। अब परिवर्तन की प्रकृति के बारे में प्रश्न उठता है कि यह परिवर्तन किस प्रकार का परिवर्तन है ? प्रस्तुत नियम इस विशिष्ट समस्या का समाधान करता है। इस नियम के अनुसार, परिवर्तन की प्रक्रिया सरल अथवा क्रमिक नहीं होती, अपितु यह अनेक मात्रात्मक परिवर्तनों का परिणाम होती है, जो कि अंतत: परिपक्व दशाओं की उपलब्धि होने पर किसी भी निश्चित समय पर अमूर्त गुणात्मक परिवर्तनों से गुज़रती है। घटनाओं की पुनरावृत्ति कभी नहीं होती। यह परिवर्तन सदैव निम्न से उच्चतर की ओर, सरल से जटिल की ओर, तथा यथार्थ के समांग (homogenous) स्तर से विषमांग (heterogenous) स्तरों की ओर होता है।

आइए, अब हम मात्रात्मक और गुणात्मक परिवर्तनों को विस्तार से समझें। किसी भी नई अवस्था के प्रादुर्भाव या जन्म तथा किसी भी प्राचीन अथवा पुरानी अवस्था की समाप्ति या विलुप्ति को तार्किक एवं दार्शनिक रूप से गुणात्मक परिवर्तन कहा जा सकता है। जबकि अन्य सभी परिवर्तन जिनमें किसी भी वस्तु के विभिन्न अंग अथवा पक्ष पुनर्व्यवस्थित हो जाते हैं, बढ़ जाते हैं, अथवा घट जाते हैं, परंतु उस वस्तु की मूल पहचान नहीं बदलती, तो उस स्थिति को **मात्रात्मक परिवर्तन** कहा जा सकता है। इसको और अधिक सरल रूप से समझने के लिये, यह कहा जा सकता है कि गुणात्मक परिवर्तनों के दो स्वरूप होते हैं: (i) कोई वस्तु जिसका अस्तित्व नहीं था, लेकिन अब वह अस्तित्व में आ गई है, तथा (ii) कोई वस्तु जो पहले अस्तित्व में थी, लेकिन अब उसका अस्तित्व समाप्त हो गया। दूसरी ओर मात्रात्मक परिवर्तन असीमित रूप से व्यापक होते हैं। उदाहरणार्थ छोटा-बड़ा, कम-अधिक, कभी-कभी, तेज़-धीमा, गर्म-ठण्डा, भारी-हल्का, बेहतर-घटिया, समृद्ध-निर्धन, आदि। वस्तुत: प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में मात्रात्मक परिवर्तन निरंतर घटित होते रहते हैं और प्रत्येक प्रक्रिया की प्रकृति द्वारा निर्धारित सीमा तक पहुंच जाते हैं तो इनमें अपरिहार्य महापरिवर्तन होते हैं। जब निरंतर परिवर्तन एक विशिष्ट सीमा तक पहुंच जाता है, जिसके परे और अधिक मात्रात्मक परिवर्तन संभव नहीं है। परिपक्वता की स्थिति को दर्शनशास्त्र में मापात्मकता (measure) की सीमा कहते हैं। यह महापरिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन है। इसका एक ठोस उदाहरण दिया जा सकता है, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये एक शताब्दी से अधिक समय तक चलता रहा तथा इसमें निरंतर मात्रात्मक परिवर्तन आते रहे और जब वह अपनी सीमा पर पहुंच गया तो 15 अगस्त, 1947 की मध्य रात्रि को महापरिवर्तन घटित हुआ और भारत एक स्वतंत्र राष्ट्र बन गया। उपनिवेशवाद से मुक्ति गुणात्मक परिवर्तन था। इसी प्रकार व्यक्ति में आयु बढ़ने की प्रक्रिया एक

क्षण के लिये भी नहीं रुकती। व्यक्ति प्रति क्षण उम्र में बढ़ते रहते हैं। अर्थात् लोग निरंतर मात्रात्मक परिवर्तनों से गुज़रते रहते हैं और जब वे प्रकृति द्वारा निर्धारित सीमा पर पहुंच जाते हैं तो उनमें गुणात्मक परिवर्तन आता है, अर्थात् मृत्यु हो जाती है। इसी उदाहरण को किसी शिशु के जन्म पर भी लागू किया जा सकता है। गर्भधारण के दिन से ही पूरे गर्भकाल में गर्भस्थ शिशु में मात्रात्मक परिवर्तन होते रहते हैं, परन्तु गुणात्मक परिवर्तन उसी क्षण होता है, जब शिशु का इस विश्व में आगमन होता है, अर्थात् उसका जन्म होता है। अत: यहाँ पर मात्रात्मक परिवर्तनों से गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तन के नियम अथवा गुणात्मक परिवर्तनों से मात्रात्मक परिवर्तनों के नियम अथवा इस स्तर का अर्थ परिपक्वता अथवा मापात्मकता (measure) की स्थिति प्राप्त करने तक निरंतर मात्रात्मक परिवर्तन से है, जिनके कारण यकायक गुणात्मक परिवर्तन होते हैं, जो कि आगे होने वाले निरंतर मात्रात्मक परिवर्तनों को निर्धारित करते हैं। आइए, अब हम देखें कि मार्क्स ने मानव इतिहास में सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए वाद-संवाद प्रक्रियापरक भौतिकवाद के नियमों का प्रयोग कैसे किया। लेकिन पहले बोध प्रश्न 1 को ज़रूर पूरा कर लें ताकि अभी तक इस इकाई में पढ़ी पाठ्य सामग्री को दुहराया जा सके।

**बोध प्रश्न 1**

i) वाद-संवाद प्रक्रियापरक भौतिकवाद के नियमों के नाम लिखिये।

.....

.....

.....

ii) दो पंक्तियों में मात्रात्मक परिवर्तन की परिभाषा दीजिये।

.....

.....

iii) गुणात्मक परिवर्तन को तीन पंक्तियों में परिभाषित कीजिये।

.....

.....

.....

## 9.4 वाद-संवाद प्रक्रियापरक भौतिकवाद के नियमों का प्रयोग

प्रकृति, विश्व एवं समाज पर समान रूप से वाद-संवाद प्रक्रियापरक भौतिकवाद के सिद्धांत अथवा नियम लागू होते हैं। जब इन नियमों को समाज के इतिहास पर लागू किया जाता है तो ये ऐतिहासिक भौतिकवाद का रूप ले लेते हैं। जैसा कि आपने पूर्ववर्ती इकाइयों में अध्ययन किया है कि मार्क्स के अनुसार, मानवीय समाज चार प्रमुख उत्पादन प्रणालियों से होकर गुज़रा है, जिनके नाम एशियाटिक, प्राचीन, सामंतवादी एवं पूंजीवादी प्रणाली हैं। अंतत: मार्क्सवादी सिद्धांत की भविष्यवाणी के अनुसार समाज के ये क्रमिक स्वरूप साम्यवाद की अवस्था तक पहुंचेंगे।

यहां हमें यह देखना है कि उत्पादन के क्रमिक तरीक़ों, स्वरूपों एवं सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिये वाद-सवांद प्रक्रियापरक भौतिकवाद के नियमों को किस प्रकार प्रयुक्त किया जाता है।

### 9.4.1 आदिम साम्यवादी समाज

आदिम साम्यवादी समाज उत्पादन प्रणाली का सर्वप्रथम, सरलतम तथा निम्नतम स्वरूप था। इस उत्पादन प्रणाली के काल में नये तथा उन्नत किस्म के औज़ारों जैसे कि तीर-कमान आदि

का विकास हुआ तथा मनुष्य ने आग का प्रयोग करना सीखा। वाद-संवाद प्रक्रियापरक भौतिकवाद के नियमों के संदर्भ में, ये परिवर्तन मात्रात्मक परिवर्तन के उदाहरण थे। कृषि एवं पशुपालन की शुरूआत भी इसी प्रकार के परिवर्तनों के उदाहरण थे। उत्पादन शक्तियां अत्यधिक निम्न स्तर की थी तथा उत्पादन अनुरूप ही संबंध थे। समाज में उत्पादन के साधनों पर समान व सामुदायिक स्वामित्व था। अत: उत्पादन के संबंध सहकारिता और परस्पर सहायता पर आधारित थे। ये संबंध इस तथ्य से निर्धारित होते थे कि प्रकृति की महाकाय शक्तियों का मुक़ाबला आदिम व्यक्ति अपने आदिम औज़ारों के साथ सामूहिक रूप से ही कर सकता था।

आदिम समाज में भी उत्पादक शक्तियाँ निरंतर विकसित होती रहीं। नये औज़ार बनाए गये और कार्य कौशल को धीरे-धीरे बढ़ाया गया। इस समाज का सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन था, धातु के औज़ार बनाना। उत्पादकता के विकास के साथ-साथ समाज की सामुदायिक संरचना टूट कर परिवारों के रूप में फैलने लगी। ऐसी स्थिति में निजी सम्पत्ति की अवधारणा विकसित हुई तथा धीरे-धीरे उत्पादन के साधनों पर परिवारों का स्वामित्व होने लगा। यहां पर उत्पादन के सामुदायिक संबंधों तथा शोषक वर्ग के संभावित स्वरूपों के मध्य विरोधाभास के कारण गुणात्मक परिवर्तन हुआ, अर्थात् आदिम साम्यवादी उत्पादन प्रणाली का प्राचीन उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन हुआ। इस व्यवस्था में विपरीत शक्तियों के मध्य संघर्ष था जिसके परिणामस्वरूप आदिम साम्यवादी व्यवस्था का निषेध हुआ। इसके फलस्वरूप दास प्रथा की एक नई अवस्था अस्तित्व में आई। दास प्रथा को आदिम साम्यवादी व्यवस्था के निषेध के रूप में वर्णित किया जा सकता है।

### 9.4.2 दास प्रथावादी समाज

समाज के इस स्वरूप में आदिम समानता का स्थान सामाजिक असमानता ने ले लिया तथा दासों और मालिकों के वर्गों का उदय हुआ। उत्पादन शक्तियों में और अधिक मात्रात्मक परिवर्तन हुए। दास प्रथावादी समाज में उत्पादन के संबंध मालिकों के सम्पूर्ण स्वामित्व पर आधारित थे। मालिकों का उत्पादन के साधनों, दासों तथा उनके द्वारा किए गए उत्पादन पर स्वामित्व होता था।

इस समाज में मालिक और दासों के मध्य विरोध मौजूद था। जब इन विरोधाभासों के मध्य संघर्ष परिपक्व दशाओं तक पहुंच गया तो समाज में गुणात्मक परिवर्तन हुआ। अर्थात् दास प्रथावादी समाज का निषेध हुआ, जिसके फलस्वरूप यह समाज सामन्तवादी समाज में बदल गया। विपरीतों के संघर्ष अर्थात् मालिक और दासों के बीच संघर्ष के कारण हिंसक दास क्रांतियां हुई, यह दास प्रथावादी समाज का निषेध था। अत: सामंतवादी व्यवस्था को निषेध का निषेध कहा जा सकता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यहां पर सामंतवादी समाज को दास प्रथावादी समाज के निषेध के उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है, जो कि स्वयं आदिम साम्यवादी समाज का निषेध है।

### 9.4.3 सामंतवादी समाज

दास प्रथा पहली अवस्था थी, जिसमें मालिक वर्ग द्वारा दास वर्ग के शोषण तथा आधिपत्य पर उत्पादन के संबंध आधारित थे। यह वह अवस्था थी, जहां से वर्ग असमानता और वर्ग संघर्ष का इतिहास शुरू हुआ है। पूर्व अवस्था की तुलना में, इस अवस्था में ही उत्पादन के संबंधों में मौलिक गुणात्मक अंतर आये। सामंतवादी अवस्था के दौरान उत्पादन की शक्तियों में तीव्र मात्रात्मक परिवर्तन हुये, जिनके अंतर्गत पहली बार ऊर्जा के, जल तथा वायु जैसे अजैवकीय साधनों का प्रयोग हुआ। इन उत्पादक शक्तियों के विकास में सामंतवादी उत्पादन के संबंधों से सहायता मिली। सामंतवादी भूपतियों ने भूमिहीन किसानों को उत्पीड़ित एवं शोषित किया। कालांतर में नगरों का विकास हुआ। इस अवस्था में व्यापार व वाणिज्य तथा उत्पादन भी बढ़ा।

ऐसी स्थिति में सामंतवादी जागीरों से अनेक भूमिहीन किसान नवविकसित नगरों में भाग गये ताकि वे वहां व्यापार कर सकें। सामंतवादी व्यवस्थायें विपरीतों का संघर्ष, (अर्थात् भूमिहीन किसानों और सामंतवादी भूपतियों के बीच संघर्ष) अपनी परिपक्वता पर पहुंच गया। सामंतवादी व्यवस्था का पतन हुआ तथा इसका निषेध पूंजीवादी व्यवस्था थी।

### 9.4.4 पूंजीवादी समाज

निजी पूंजीवादी स्वामित्व पर आधारित पूंजीवादी उत्पादन संबंधों ने उत्पादक शक्तियों की अत्यधिक तेज़ प्रगति में सहायता दी। उत्पादक शक्तियों के इस तीव्र विकास के बाद उत्पादन के पूंजीवादी संबंध इन शक्तियों के अनुरूप नहीं रह गये थे। धीरे-धीरे ये संबंध शक्तियों के विकास में बाधा बन गए। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विरोधाभास उत्पादन के सामाजिक स्वरूप तथा उपभाग के निजी पूंजीवादी स्वरूप में निहित है। पूंजीवादी समाज में उत्पादन का स्पष्ट सामाजिक स्वरूप होता है। विशालकाय फैक्ट्रियों के लाखों श्रमिक एक साथ मिलकर काम करते हैं तथा सामाजिक उत्पादन में भाग लेते हैं, जबकि उत्पादन के साधनों के स्वामियों का एक छोटा सा समूह उनके श्रम के लाभ हड़प लेता है। यह पूंजीवाद का मूलभूत आर्थिक विरोधाभास है। ये विरोधाभास अथवा विपरीतों के संघर्ष, आर्थिक संकट और बेरोज़गारी को जन्म देते हैं। यह स्थिति पूंजीवादी और सर्वहारा वर्गों के बीच ज़बरदस्त वर्ग संघर्ष का कारण बनती है, अर्थात् दूसरे शब्दों में मात्रात्मक परिवर्तनों का कारण बनती है। यह श्रमिक वर्ग एक सामाजवादी क्रांति लाएगा। मार्क्स के अनुसार, यह क्रांति पूंजीवादी उत्पादन के संबंधों को समाप्त कर देगी तथा एक नया गुणात्मक परिवर्तन लायेगी अर्थात् साम्यवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना स्थापित होगी।

जैसे कि हमने पहले देखा नई साम्यवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना समाजवाद एवं साम्यवाद की दो अवस्थाओं से गुज़रकर विकसित हुई है। समाजवाद में उत्पादन के साधनों का निजी स्वामित्व समाप्त हो जाता है, और साथ ही साथ सभी प्रकार के असमानता और उत्पीड़न के स्वरूप और शोषण भी समाप्त हो जाते हैं। इसमें उत्पादन के साधनों का सार्वजनिक स्वामित्व होता है। इस प्रकार का समाज वर्गविहीन होता है। ऐसे समाज मे सर्वहारा वर्ग सामूहिक रूप से उत्पादन के साधनों का स्वामी होगा तथा समाज के सदस्यों की आवश्यकता के अनुसार उत्पादन वितरित होगा। यह अवस्था सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व (dictatorship of proletariat) की अवस्था है, जो कि बाद में राज्य व्यवस्था को भी समाप्त करके राज्यविहीन समाज की स्थापना करेगी। राज्यविहीन समाज की यह अवस्था साम्यवाद में संभव होगी। जहां कि वाद-संवाद प्रक्रिया अन्ततः समाप्त हो जाएगी और एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना होगी जो किसी भी प्रकार के विरोधाभास से मुक्त होगी। लेकिन वाद-संवाद प्रक्रिया के नियमों के अनुसार विरोधाभास बने रहेंगे, क्योंकि ये विकास के मूल आधार है। साम्यवाद के अंतर्गत मानव तथा प्रकृति के बीच विरोधाभास उत्पन्न होंगे; जैसा कि आदिम साम्यवाद में होता था। वर्तमान स्थिति में अंतर केवल इतना है कि उच्च तकनीकी से प्रकृति का अधिक प्रभावशाली तरीके से शोषण किया जाएगा। इस प्रकार हमने देखा कि वाद-संवाद प्रक्रिया के ये तीन नियम मार्क्स द्वारा दी गई समाज के इतिहास की व्याख्या में क्या भूमिका निभाते हैं।

अब समय है बोध प्रश्न 2 को हल करने का, आइये, अगले भाग (9.5) पर जाने से पहले इसे पूरा कर लें।

**बोध प्रश्न 2**

i) उत्पादन की चार प्रणालियों के नाम बताइये।

अ) ब)

स) द)

ii) वर्ग संघर्ष चरमोत्कर्ष पर पहुंचकर किस अवस्था में बदलता है?

अ) क्रांति ब) दास प्रथा

स) बुर्जुआ द) सर्वहारा वर्ग (प्रोलितेरियत)

iii) वर्गविहीन समाज किस अवस्था में होता है ?

.....

.....

iv) कौन सी अवस्था समाजवाद के बाद आती है तथा इसकी विशेषता क्या होती है ?

.....

.....

## 9.5 सामाजिक परिवर्तन एवं क्रांति

आइये, अब हम सामाजिक परिवर्तन एवं क्रांति पर मार्क्स के विचारों की विवेचना करें। *जर्मन आइडियोलॉजी* (1845-46) में मार्क्स और एंजल्स दोनों ने ही इतिहास को एक नई परिकल्पना दी। इसमें उत्पादन प्रणाली पर आधारित क्रमिक ऐतिहासिक अवस्थाओं के बारे में प्रमुख विचार दिये गये हैं। मार्क्स तथा एंजल्स ने एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तन को क्रांति की अवस्था माना है जो प्राचीन संस्थाओं और नई उत्पादक शक्तियों के बीच संघर्ष के कारण हुई। बाद में मार्क्स और एंजल्स दोनों ने ब्रिटिश, फ्रांसीसी तथा अमरीकन क्रांतियों पर अधिक ध्यान दिया और उनका गहन अध्ययन किया। उन्होंने इन क्रांतियों को बुर्जुआ क्रांति कहा। बुर्जुआ क्रांति की मार्क्स की परिकल्पना ने यूरोप और अमरीका में सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन के लिये हमें एक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया। सामाजिक परिवर्तन पर विद्वानों को और आगे शोध करने के लिये इस परिप्रेक्ष्य ने प्रेरणा दी।

मार्क्स ने एक दूसरे प्रकार की क्रांति की चर्चा की। यह क्रांति साम्यवाद से संबंधित थी। मार्क्स ने साम्यवाद को पूंजीवाद के बाद की अवस्था माना है। मार्क्स के अनुसार, साम्यवाद सभी प्रकार के वर्ग विभाजनों को समाप्त कर देगा; इस प्रकार नैतिक तथा सामाजिक परिवर्तन के लिये एक नई शुरूआत करेगा। भावी समाज के बारे में मार्क्स और एंजल्स दोनों इसी प्रकार की छवि रखते थे।

समाजवादी क्रांति की मार्क्स की अवधारणा पूंजीवाद से समाजवाद में परिवर्तन को मानकर चलती है। वह बुर्जुआ क्रांति की व्याख्या कुलीनतन्त्र (aristocracy) की पराजय के रूप में करता है। इसके अनुसार यह पराजय पूंजीवाद के चरम सीमा पर पहुंचने के बाद होती है। दूसरी ओर, बुर्जुआ वर्ग की पराजय पूँजीवाद से समाजवाद में क्रांतिकारी परिवर्तन की पहली अवस्था है। मार्क्स के अुनसार क्रांति की इस समाजवादी अवस्था में वर्ग, श्रम का व्यावसायिक विभाजन तथा बाज़ार अर्थव्यवस्था बने रहेंगे। प्रत्येक की आवश्यकताओं के अनुसार वस्तुओं का वितरण क्रांति की उच्चतर अवस्था में ही संभव होगा। यह अवस्था साम्यवाद की अवस्था होगी। अत: मार्क्स के अनुसार साम्यवाद तक का परिवर्तन कई चरणों में से गुज़र कर आता है तथा यह सम्पूर्ण उत्पादन प्रणाली में क्रांतिकारी परिवर्तन लाता है। भारत में मार्क्सवादी विचारों का प्रभाव देखने के लिये 'सोचिए और करिये 2' में दिये प्रश्नों को हल करिये।

**सोचिए और करिए 2**

यह सभी मानते हैं कि मार्क्सवादी विचारों ने अनेक भारतीय विद्वानों, राजनीतिज्ञों, साहित्यकारों तथा चिन्तकों को प्रभावित किया है। निम्न प्रश्नों का उत्तर देते हुये उन्हें पहचानने का प्रयास कीजिये।

(i) मैं कौन हूँ? मैंने हिन्दू धर्म के उद्विकास की आलोचनात्मक विवेचना देने वाला एक उपन्यास लिखा है। मेरा एक उपन्यास दूरदर्शन पर सीरियल के रूप में 1990 में प्रदर्शित किया गया था।

(ii) मैं कौन हूँ? मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद ने मुझे प्रभावित किया। इससे प्रभावित होकर मैंने 1966 में *लाइट ऑन अर्ली इण्डियन सोसायटी एण्ड इकॉनॉमी* नामक पुस्तक लिखी।

(iii) मैं कौन हूँ? मुझे ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के भारतीय सिद्धांत शास्त्री के रूप में माना जाता रहा है।

(iv) मेरा नाम क्या है? मैं केरल का वयोवृद्ध इतिहासवेत्ता तथा कम्युनिस्ट पार्टी का नेता रहा हूँ।

(v) मैं कौन हूँ? मैंने भौतिकवाद पर एक पुस्तक लिखी तथा मार्क्सवादी ऐतिहासिक सिद्धांत की आलोचना की। भारतीय क्रांतिकारियों के लिये प्रशिक्षण केन्द्र आयोजित करने के लिये मुझे 1920 में ताशकन्द भेजा गया था। मैंने कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल की दूसरी कांग्रेस में भाग लिया था। मैंने कांग्रेस द्वारा स्वीकृत उपनिवेश सिद्धांत (colonial thesis) का प्रारूप बनाया। इस प्रारूप को लेनिन ने परिवर्तित किया था।

वस्तुत: मार्क्स ने वर्ग विरोध का चरमोत्कर्ष पूंजीवाद में ही माना है। क्योंकि उत्पादन की नई शक्तियां उत्पादन संबंधों के अनुरूप नहीं होती। उत्पादन के वितरण के स्तर में दोनों वर्गों के मध्य खाई बढ़ती जाती है। इसके फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग अपने वर्ग हितों के प्रति अत्यधिक जागरूक तथा गहन रूप से अलगावित (alienated) महसूस करता है। पूंजीवाद में उत्पादन की नई शक्तियां वृहत् स्तरीय उत्पादन में सक्षम होती हैं तथा इसके कारण बुर्जुआ वर्ग की समृद्धि बढ़ जाती है। लेकिन इससे सर्वहारा वर्ग की दशा में कोई अन्तर नहीं होता और सर्वहारा वर्ग निर्धनता और तंगहाली में गुज़र-बसर करता रहता है। इसके कारण वर्ग चेतना में वृद्धि होती है तथा समाजवादी क्रांति की दशाएं परिपक्व हो जाती हैं। मार्क्स के अनुसार, समाजवादी क्रांति विगत काल की सभी क्रांतियों से गुणात्मक रूप में भिन्न होगी। क्योंकि शोषण और असमानता के इतिहास के प्रारंभ होने के बाद यह पहला अवसर होगा जब कि समाज में एक वर्गविहीन स्थिति आयेगी और समाज के सभी सदस्यों के लिये आशा का संचार करेगी।

## 9.6 सारांश

इस खंड की प्रस्तुत अंतिम इकाई में हमने मार्क्स के वाद-सवांद प्रक्रियापरक भौतिकवाद व सामाजिक परिवर्तन के गंभीर दार्शनिक योगदान का अध्ययन किया। सर्वप्रथम आपको वाद-संवाद प्रक्रिया की अवधारणा से अवगत कराया गया, तत्पश्चात् वाद-सवांद प्रक्रिया एवं परिवर्तन के मौलिक नियम बताये गये। तदुपरांत समाज में क्रमिक उत्पादन प्रणालियों व सामाजिक परिवर्तन की विवेचना की गई। इस इकाई में हमने कार्ल मार्क्स द्वारा दिये गये वाद-संवाद प्रक्रिया के सिद्धांतों के संदर्भ में क्रमिक सामाजिक अवस्थाओं अथवा उत्पादन प्रणालियों का अध्ययन किया। अन्त में हमने क्रांति एवं सामाजिक परिवर्तन पर मार्क्स के विचारों की विवेचना की।

## 9.7 शब्दावली

**वाद-सवांद प्रक्रिया** दो परस्पर विरोधी शक्तियों अथवा प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष।

**वाद-संवाद प्रक्रियापरक** यह वह मार्क्सवादी सिद्धांत है जो प्रत्येक वस्तु की व्याख्या

**भौतिकवाद** परिवर्तन के संदर्भ में करता है। यह परिवर्तन पदार्थ में अंतर्निहित परस्पर विरोधी शक्तियों के निरंतर विरोधाभास के कारण होता है।

**निषेध** एक नई अवस्था, जो कि गुणात्मक परिवर्तन का परिणाम होती है तथा प्राचीन को प्रतिस्थापित करने के लिये एक प्रगतिशील परिवर्तन है।

**निषेध का निषेध** जब कोई वस्तु किसी प्राचीन व्यवस्था के निषेध के फलस्वरूप अस्तित्व में आती है तथा दुबारा इस वस्तु का निषेध गुणात्मक परिवर्तन के माध्यम से हो जाता है।

**गुणात्मक परिवर्तन** नये का प्रादुर्भाव या प्राचीन की विलुप्ति गुणात्मक परिवर्तन है।

**मात्रात्मक परिवर्तन** किसी भी वस्तु में ऐसा छोटा अथवा बड़ा परिवर्तन जिसमें कि वस्तु की पहचान परिवर्तित नहीं होती।

## 9.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

मार्क्स, कार्ल एण्ड एंजल्स, एफ., 1975. *कलैक्टेड वर्क्स* (वाल्यूम 6). मास्को प्रोग्रेस पब्लिशर्स लंदन

सांस्कृत्यायन, राहुल, 1954. *कार्लमार्क्स.* किताब महल: इलाहाबाद

## 9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तन का नियम, निषेध का निषेध नियम, विपरीत की एकता व संघर्ष का नियम।

ii) किसी भी वस्तु में ऐसा लघु अथवा वृहत् परिवर्तन जिसमें कि वस्तु की पहचान परिवर्तित नहीं होती।

iii) नये का प्रादुर्भाव या प्राचीन की विलुप्ति गुणात्मक परिवर्तन है।

**बोध प्रश्न 2**

i) अ) एशियाटिक उत्पादन प्रणाली
   ब) प्राचीन उत्पादन प्रणाली
   स) सामंतवादी उत्पादन प्रणाली
   द) पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली

ii) अ)

iii) समाजवाद

iv) समाजवाद के बाद साम्यवाद अवस्था आती है, इसकी एक विशेषता है सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्त्व।

# संदर्भ ग्रंथ सूची

(यह सूची उन विद्यार्थियों के लिये दी गई है जिन्हें कुछ विशिष्ट विषयों का अध्ययन विस्तार से करना हो।)

**अ)**


आरों, रेमण्ड, 1967. *मेन करेंट्स इन सोश्यिॉलॉजिकल थॉट.* पैन्गुइन बुक्स: लंदन

बर्लिन, आइज़ाया, 1939. *कार्ल मार्क्स: हिज़ लाइफ़ एण्ड एन्वायरमैंट.* थॉर्नटन बटरवर्थ लिमिटेड: लंदन

बोटोमोर, टी.बी., 1975. *मार्क्सिस्ट सोश्यिॉलॉजी.* मैकमिलन: लंदन

बोटोमोर, टी.बी. व अन्य (सम्पादित) 1983. *ए डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट,* ऑक्सफ़ोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस: दिल्ली

बखारिन, एन.आई., 1926. *हिस्टॉरिकल मैटीरियलिज़्म: ए सिस्टम ऑफ़ सोश्यिॉलॉजी.* एलेन एण्ड अन्विन: लंदन

कोज़र, लेविस ए., 1971. *मास्टर्स ऑफ़ सोश्यिॉलॉजिकल थॉट: आइडियाज़ इन हिस्टॉरिकल एण्ड सोशल कंटेक्स्ट.* हाकोर्ट ब्रेस जोवानेविच: न्यूयार्क

एंजल्स, फ्रेडरिक, मैनुस्क्रिप्ट 1847-1914. *प्रिंसिपल्स ऑफ़ कम्युनिज़्म.* एडअर्ड बर्नस्टाइन: बर्लिन

ह्युबरमैन, लिओ, 1969. *मैन्स वर्ल्डली गुड्स,* पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस: नई दिल्ली

मैकरे, एच.जी., 1962. कार्ल मार्क्स, टिमोथी रायज़न में (संपादित) *दी फ़ाऊंडिंग फ़ादर्स ऑफ़ सोशल साइंसिज़.* पैन्गुइन बुक्स: हैमंड्सवर्थ, पृष्ठ 56-67

मार्क्स, के.एच., (मैनुस्क्रिप्ट 1957-58), 1939. *गुंडरीज़.* (अंग्रेजी अनुवाद मार्टिन निकोलॉन के आमुख सहित) पैन्गुइन बुक्स: हैमंड्सवर्थ, (1957-58 में लिखित तथा 1939-41में) दो खंडों में सर्वप्रथम मास्को में फ़ॉरेन लैंग्वेज पब्लिशिंग हाऊस द्वारा प्रकाशित

मार्क्स, के.एच., *मैनुस्क्रिप्ट ऑफ़ 1859. ए कंट्रीब्यूशन टू द क्रिटीक ऑफ़ पॉलिटिकल इकानॉमी.* फ्रांत्ज डुंकर: बर्लिन

मार्क्स, के.एच., *मैनुस्क्रिप्ट 1861-1879. कैपीटल.* (खंड I,II एवं III) ऑटो माइसनर: हानबुरी

मार्क्स, के.एच., *मैनुस्क्रिप्ट 1844-1959. इकॉनॉमिक एंड फिलॉसॉफ़िकल मैनुस्क्रिप्ट.* डिस्क जे. स्तनीक द्वारा संपादित व मार्टिन मिलीगन द्वारा अनुदित. लॉरेंस एंड विस्हार्ट: लंदन

मार्क्स, के.एच. एण्ड एंजल्स एफ़, (*मैनुस्क्रिप्ट ऑफ़ 1845-46) 1937. द जर्मन आइडियोलॉजी.* हिस्टोरिष-(क्रिटिष) गेजाम्ट आऊसगाबे (ऐतिहासिक-आलोचनात्मक सम्पूर्ण संस्करण)

मावर्स, के.एच. एण्ड एंजल्स एफ़, (मैनुस्क्रिप्ट 1848). *मैनीफ़ेस्टो ऑफ़ द कम्युनिस्ट पार्टी.* बुर्गहार्ट: लंदन

मार्क्स, के.एच. एण्ड एंजल्स एफ़, 1975 *कलैक्टैड वर्क्स* (50 ग्रंथों में) मॉस्को प्रोग्रेस पब्लिशर्स: लंदन

पैत्रोविक, गाजो, 1983. एलिनेशन. इन टी.बी. बॉटोमोर संपादित में *ए डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट*. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: नई दिल्ली

**ब) हिन्दी में उपलब्ध पुस्तकें**

बोटोमोर, टी.बी., 1975. *मार्क्सवादी समाजशास्त्र*. (अनुवादक: सदाशिव द्विवेदी) मैकमिलन कंपनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड: नई दिल्ली

मिश्र, शिव कुमार, 1973. *मार्क्सवादी साहित्य चिंतन: इतिहास तथा सिद्धान्त*. मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी: भोपाल

यशपाल, 1983. *मार्क्सवाद*. लोकभारती प्रकाशन: इलाहाबाद

शर्मा, रामविलास, 1986. *मार्क्स, त्रोत्स्की और एशियाई समाज*. लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद

शर्मा, रामविलास, 1986. *मार्क्स और पिछड़े हुए समाज*. राजकमल प्रकाशन: नई दिल्ली

सांकृत्यायन, राहुल, 1954. *कार्ल मार्क्स*. किताब महल: इलाहाबाद

# इकाई 10 समाजशास्त्र विज्ञान के रूप में

## इकाई की रूपरेखा


10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 समाज के विज्ञान की स्थापना के सामान्य प्रतिबंध

10.3 समाजशास्त्र "सामाजिक तथ्यों" के अध्ययन के रूप में

- 10.3.1 सामाजिक तथ्य
- 10.3.2 सामाजिक तथ्यों के प्रकार
- 10.3.3 सामाजिक तथ्यों की प्रमुख विशेषताएं
- 10.3.4 बाह्यता एवं बाध्यता

10.4 समाजशास्त्रीय पद्धति

- 10.4.1 सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियम
- 10.4.2 सामान्य एवं व्याधिकीय (pathological) में विभेद के नियम
- 10.4.3 सामाजिक प्ररूप के वर्गीकरण के नियम
- 10.4.4 सामाजिक तथ्यों की व्याख्या के नियम

10.5 सारांश

10.6 शब्दावली

10.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 10.0 उद्देश्य

मनुष्य सदैव समाज में रहता आया है तथा समाज के सदस्य इसकी प्रकृति के बारे में सोचते रहे हैं। यह कुछ इस प्रकार से कहना हुआ कि मनुष्य के पास शरीर है तथा उसे अपने शरीर के बारे में सदैव कुछ जानकारी रही है। शरीर के भिन्न-भिन्न भागों की रचना और उसकी कार्यविधि के बारे में जानकारी क्रमश: शरीर रचना विज्ञान तथा शरीर-क्रिया विज्ञान जैसे विशिष्ट विषयों के रूप में बाद में विकसित हुई। अत: हमारे शरीर व हमारे निकट की अन्य वस्तुओं के बारे में वैज्ञानिक ज्ञान का विकास इस ज्ञान को प्राप्त करने की नवीन पद्धतियों के साथ-साथ हुआ। इस पद्धति को वैज्ञानिक पद्धति कहा गया। इसी प्रकार समाज के बारे में, उसके कार्य करने के बारे में व इसके स्वरूपों में होने वाले परिवर्तनों के बारे में जानने का प्रयास किया जाता है। समाज के अध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण लाने में दर्खाइम ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। अत: इस इकाई में यह जानने का प्रयास किया जायेगा कि उसने इस दिशा में क्या कार्य किया तथा इस कार्य को कैसे किया? इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए यह समझना संभव होगा कि किस प्रकार दर्खाइम ने

- विज्ञान की विशेषताओं का पता लगाया।
- सामाजिक तथ्यों की परिभाषा के आधार सुनिश्चित किये।
- यह बताया कि समाजशास्त्र अन्य विषयों से कैसे भिन्न है।
- समाज के प्रकारों का वर्णन किया।

- सामाजिक तथ्यों का वर्गीकरण किया।
- सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियमों को सूचीबद्ध किया।
- तथ्यों की व्याख्या के नियमों को सुनिश्चित किया।

## 10.1 प्रस्तावना

एमिल दर्खाइम (1858-1917) को सबसे अधिक एक स्वतंत्र शैक्षणिक विषय के रूप में समाजशास्त्र को मान्यता दिलाने के प्रयासों के लिए जाना जाता है। दर्खाइम ने समाज के विज्ञान के विचार के लिए ऐसी मान्यता स्थापित की जिससे आधुनिक समाज की नैतिक व बौद्धिक समस्याओं के अध्ययन में योगदान किया जा सका। दर्खाइम की समाजशास्त्र की अवधारणा का विवेचन करते समय तीन महत्वपूर्ण पक्षों पर ध्यान केन्द्रित किया जायेगा।

(अ) **सामाजिक विज्ञान** की स्थापना के सामान्य **प्रतिबंध**, (देखें उपभाग 10.2) (ब) समाजशास्त्र 'सामाजिक तथ्यों' के अध्ययन के रूप में (देखें उपभाग 10.3) तथा (स) समाजशास्त्रीय पद्धति (देखें उपभाग 10.4)।

## 10.2 समाज के विज्ञान की स्थापना के सामान्य प्रतिबंध

दर्खाइम के जीवन काल में समाजशास्त्र एक अलग विषय के रूप में उभरा था। इससे पहले विश्वविद्यालयों के विद्वानों सहित अधिकतर शिक्षित व्यक्तियों की दृष्टि में समाजशास्त्र एक नाम मात्र का विषय था। जब दर्खाइम ईकोल नॉरमेल (Ecole Normale) में विद्यार्थी था उस समय फ्रांस में सामाजिक विज्ञान की एक भी प्रोफेसरशिप नहीं थी। यह 1887 में ही सम्भव हो सका जब फ्रांस सरकार ने बॉर्दो विश्वविद्यालय (University of Bordeaux) में दर्खाइम के लिए प्रोफेसर का पद बनाया। इसके कई वर्षों बाद उसे सॉरबॉन (पेरिस) में समाजशास्त्र के प्रोफेसर की उपाधि से सम्मानित किया गया।

इन परिस्थितियों में दर्खाइम के सामने प्रत्यक्ष रूप से समाजशास्त्र की प्रकृति व इसके क्षेत्र की रूपरेखा तैयार करने का कार्य था। दर्खाइम ने सामाजिक विज्ञानों को प्राकृतिक विज्ञानों से अलग माना क्योंकि सामाजिक विज्ञान मानव संबंधों से जुड़े हुए हैं। फिर भी प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयोग की जाने वाली पद्धति को सामाजिक विज्ञानों में भी प्रयोग किया जा सकता है। उसने समाजशास्त्र को दर्शनशास्त्र तथा मनोविज्ञान से अलग करते हुए उसकी प्रकृति का एक सामाजिक विज्ञान के रूप में प्रतिपादन किया। दर्शनशास्त्र का संबंध विचारों व धारणाओं से है जबकि विज्ञान का संबंध वस्तुपरक वास्तविकताओं से है। दर्शनशास्त्र एक ऐसा स्रोत है जहां से सभी विज्ञानों का उद्भव हुआ अत: दर्खाइम ने समाजशास्त्र के स्रोत के रूप में दर्शनशास्त्र के महत्व को हमारे सामने रखा। इसी बात को चित्र 10.1 में दिखाया गया है।

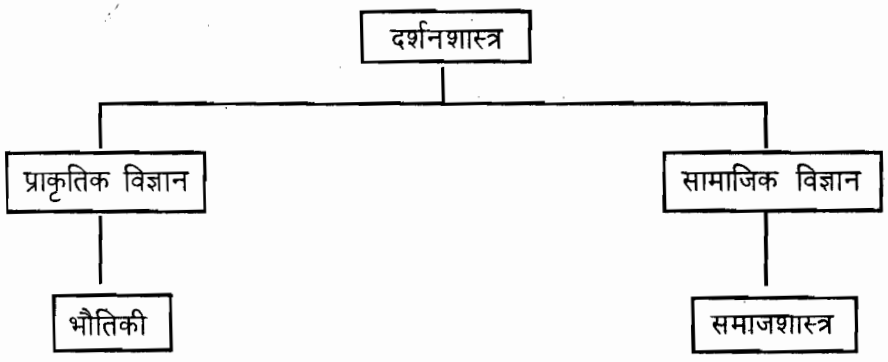


**चित्र 10.1: समाजशास्त्र के स्रोत के रूप में दर्शनशास्त्र**

दर्खाइम ने 1892 में प्रकाशित अपनी पुस्तक, *मॉन्टेस्क्यू एण्ड रूसो,* में सामाजिक विज्ञान की स्थापना के सामान्य प्रतिबंधों को स्थापित किया, जो समाजशास्त्र पर भी लागू होते हैं। आइए उन पर एक दृष्टि डालें।

i) सर्वप्रथम उसने यह बताया कि विज्ञान का मानवीय ज्ञान व विचारों के साथ-साथ विस्तार नहीं हो सकता। मस्तिष्क में आने वाले प्रत्येक प्रश्न का सत्यापन विज्ञान द्वारा नहीं किया जा सकता। यह संभव है कि किसी दार्शनिक अथवा कलाकार का कुछ इस प्रकार का उद्देश्य होता हो परन्तु यह निश्चित रूप से विज्ञान के दायरे में नहीं आता। विज्ञान का एक विशिष्ट क्षेत्र है अथवा उसकी अपनी एक विषय-वस्तु होती है। इसकी परिधि में सम्पूर्ण ज्ञान नहीं आता।

ii) दूसरे, वैज्ञानिक खोज या छान-बीन के लिए एक निश्चित क्षेत्र होना आवश्यक है। विज्ञान का संबंध तथ्यों व वस्तुपरक वास्तविकताओं से है। सामाजिक विज्ञान के अस्तित्व के लिए भी उसकी एक निश्चित विषय-वस्तु का होना आवश्यक है। दर्खाइम ने यह बताया कि यद्यपि नियम, परम्परा, धर्म आदि वास्तविकताओं के बारे में दार्शनिक जानते हैं, लेकिन जब वे वास्तविकताओं को मानव इच्छा की अभिव्यक्तियों के रूप में देखते हैं तो इनकी यथार्थता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार तथ्यों के बाह्य स्वरूपों का परीक्षण करने की अपेक्षा दर्शनशास्त्र व धर्म के तहत् किये गये अध्ययन आन्तरिक इच्छाओं तक ही केन्द्रित रह जाते हैं। परन्तु वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करने में तथ्यों को उसी रूप में देखना महत्वपूर्ण है जिस रूप में वे संसार में दिखायी देते हैं।

iii) विज्ञान व्यक्तियों का वर्णन नहीं करता। वह विषय-वस्तु के प्रकारों अथवा वर्गों का वर्णन करता है। यदि मानव समाजों का वर्गीकरण किया जाए तो यह व्यवहार के सामान्य नियमों तक पहुँचने तथा व्यवहार की नियमितता की खोज करने में हमारी सहायता कर सकता है।

v) सामाजिक विज्ञान विभिन्न मानव समाजों का वर्गीकरण करता है। यह प्रत्येक प्रकार के समाज में सामाजिक जीवन की स्थिति का वर्णन करता है। इसका सीधा सा कारण यह है कि इस प्रकार सामाजिक विज्ञान में उसी सामाजिक प्रकार का ही वर्णन होता है, जो कुछ भी उस प्रकार विशेष से जुड़ा है तथा सभी के लिये समान रूप से लागू होता है, तथा जो कुछ भी सभी पर समान रूप से लागू होता है वह समाज के लिए स्वास्थ्यकर है।

v) विज्ञान का प्रयास समान रूप से लागू होने वाले सिद्धांतों या नियमों को प्राप्त करना है। यदि समाजों में नियमितता नहीं पायी जाती तो किसी भी प्रकार के सामाजिक विज्ञान की सम्भावना नहीं रहती। दर्खाइम ने पुन: इस ओर संकेत किया है कि यदि यह सिद्धांत कि सृष्टि की सभी घटनाएं परस्पर गहनता से सम्बद्ध हैं, प्रकृति के दूसरे क्षेत्रों के लिए सत्य सिद्ध हो चुका है, तो यह मानव समाजों के लिए भी सत्य है, जो प्रकृति का ही एक भाग है। इस विचार को आगे बढ़ाने में कि प्राकृतिक तथा सामाजिक जगत में एक निरन्तरता है, दर्खाइम का चिन्तन कॉम्ट के विचारों से बहुत अधिक प्रभावित रहा है।

vi) यद्यपि प्राकृतिक व सामाजिक जगत के बीच एक निरन्तरता है परन्तु सामाजिक जगत, उतना ही विशिष्ट व स्वतंत्र विषय-वस्तु का क्षेत्र है, जितना कि भौतिक व जीवविज्ञान का क्षेत्र।

दर्खाइम ने कुछ विद्वानों के इस मत का बहुत अधिक विरोध किया कि समाज की प्रत्येक घटना को मानवीय इच्छा की अभिव्यक्तियों तक सीमित कर देना चाहिये। उसने स्पष्ट किया कि मानव इच्छा व उसकी अभिव्यक्तियों की श्रेणियां मनोविज्ञान के क्षेत्र में आती हैं न कि सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में। यदि सामाजिक विज्ञान को अपना अस्तित्व बनाये

रखना है तो समाजों को इस रूप में मानना होगा कि उनका एक निश्चित स्वरूप होता है जो उनका निर्माण करने वाले तत्वों की प्रकृति व व्यवस्था का परिणाम है।

vii) अन्त में, समाज की एकरूपताओं, प्रकारों तथा नियमों की विवेचना के लिए हमें एक पद्धति की आवश्यकता है। विज्ञान की जो पद्धतियां प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में लागू होती हैं, वे सामाजिक क्षेत्र के लिए भी वैध हैं।

समाजविज्ञान का जो आधार दर्खाइम ने अपने प्रथम प्रकाशित कार्य में बताया था वह जीवन पर्यन्त समाजविज्ञान व उनके द्वारा कथित समाजशास्त्र के लक्षणों को सुनिश्चित करने का मूल आधार बना रहा। यह जाँचने के लिए कि उपरोक्त विचार बिंदु आपको पूरी तरह से समझ में आ गए हैं, सोचिए और करिए 1 को पूरा करें।

**सोचिए और करिए 1**

नीचे दिये गए रेखा चित्र में विभिन्न प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानों को सूचीबद्ध कीजिए जिनसे आप अवगत हों।

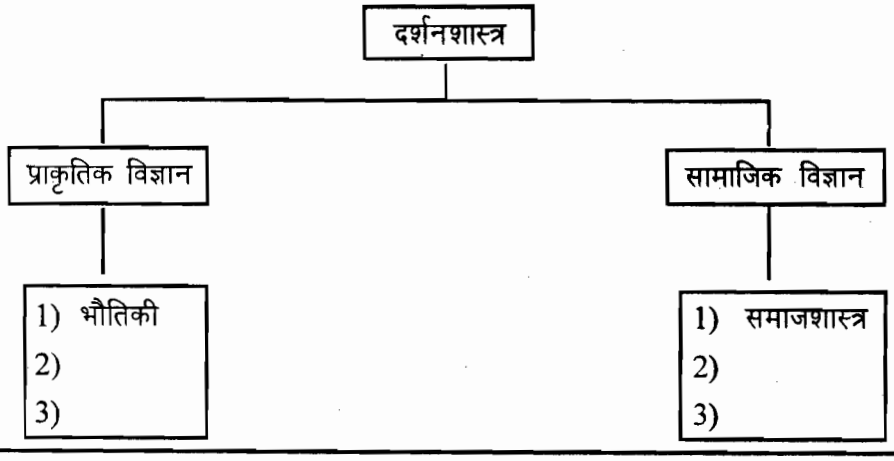


## 10.3 समाजशास्त्र "सामाजिक तथ्यों" के अध्ययन के रूप में

समाजशास्त्र की विषय वस्तु को निर्धारित करने में दो पहलू सम्मिलित हैं (अ) अध्ययन के सम्पूर्ण क्षेत्र को परिभाषित करना तथा (ब) उस प्रकार की वस्तु को परिभाषित करना जिसका इस क्षेत्र में अध्ययन किया जाएगा। दर्खाइम (1950: 30) ने 1895 में प्रकाशित अपनी पुस्तक, *द रूल्स ऑफ़ सोशियोलॉजिकल मैथड,* में सामाजिक तथ्यों को समाजशास्त्र की विषय वस्तु बताते हुए दूसरे पहलू को निष्पादित किया है। उसने सामाजिक तथ्यों को "कार्य करने, सोचने तथा अनुभव करने के उन तरीक़ों" के रूप में परिभाषित किया है जो "व्यक्ति से बाह्य हैं तथा एक दबावकारी शक्ति से युक्त हैं जिसके द्वारा वे व्यक्ति पर नियन्त्रण रखते हैं"।

दर्खाइम के लिए समाज एक ऐसी वास्तविकता है जो **सूइ जेनेरिस (sui generis)** है (इस शब्द का अर्थ शब्दावली में देखिए)। समाज व्यक्तियों के साहचर्य से बना है अत: समाज एक विशिष्ट वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। समाज की यह विशिष्ट वास्तविकता उन अन्य वास्तविकताओं से अलग है जिनका अध्ययन भौतिक तथा जीवविज्ञान में किया जाता है। इसके अतिरिक्त, सामाजिक वास्तविकता व्यक्तियों से अलग है तथा उनसे ऊपर है। अत: सामाजिक वास्तविकता को समाजशास्त्र की विषय वस्तु होना चाहिए। किसी भी सामाजिक घटना की वैज्ञानिक समझ सामाजिक संरचना में दिखायी देने वाली **सामूहिक** अथवा सहयोगात्मक विशेषताओं से उत्पन्न होनी चाहिए। इस दिशा में कार्य करते हुए दर्खाइम ने विविध प्रकार की अवधारणाओं को विकसित किया तथा उनका उपयोग किया। "सामूहिक प्रतिनिधित्व" उन अग्रणी धारणाओं में से एक है जो दर्खाइम के चिन्तन में पायी जाती

हैं। "सामूहिक प्रतिनिधित्व" (इकाई 12 की विषय-वस्तु) के बारे में जानने से पूर्व यह आवश्यक है कि आप यह समझ लें कि दर्खाइम के लिए "सामाजिक तथ्यों" का अर्थ क्या है।

### 10.3.1 सामाजिक तथ्य

दर्खाइम ने समाजशास्त्र की अपनी वैज्ञानिक दृष्टि को जिस मूलभूत सिद्धांत पर आधारित रखा वह सामाजिक तथ्यों की वस्तुपरक वास्तविकता है। सामाजिक तथ्य कार्य करने, सोचने व अनुभव करने का वह तरीका है जो किसी भी समाज में लगभग सामान्य रूप से पाया जाता है। दर्खाइम ने सामाजिक तथ्यों का वस्तुओं की भांति प्रयोग किया है। वे वास्तविक हैं तथा व्यक्ति की इच्छा या चाह से परे हैं। वे व्यक्तियों से बाहर हैं तथा उन पर दबाव डालने में समर्थ हैं। दूसरे शब्दों में उनकी प्रकृति दबावकारी या नियंत्रणकारी है।

अत: सामाजिक तथ्यों का अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व होता है। वे व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों से स्वतंत्र हैं। सामाजिक तथ्यों की सही प्रकृति समाज में मौजूद सामूहिकता अथवा सहयोग की विशेषताओं में अंतर्निहित है। कानूनी संहिताएं तथा प्रथाएं, नैतिक नियम, धार्मिक विश्वास तथा रीतियां, भाषा आदि सभी सामाजिक तथ्यों की श्रेणी में आते हैं।

### 10.3.2 सामाजिक तथ्यों के प्रकार

दर्खाइम के दृष्टि में सामाजिक तथ्य एक सतत क्रम में होते हैं जिसके एक सिरे पर संरचनात्मक अथवा स्वरूप संबंधी सामाजिक घटनाएं होती हैं। ये सामाजिक जीवन के आधार को बनाती हैं। यहां उसका तात्पर्य समाज का निर्माण करने वाले मूलभूत भागों की प्रकृति व संख्या, वे जिस क्रम में व्यवस्थित हैं तथा उनके संयोजन के परिमाण से है। इस श्रेणी के सामाजिक तथ्यों में भौगोलिक क्षेत्रों में जनसंख्या का वितरण, आवासों की रचना, संचार-व्यवस्था की प्रकृति आदि सम्मिलित हैं।

दूसरी श्रेणी में, सामाजिक तथ्यों के संस्थागत स्वरूप आते हैं । यह समाज में लगभग सामान्य तथा विस्तृत रूप से व्याप्त रहते हैं। ये संपूर्ण समाज की सामूहिक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस श्रेणी में समाज में विद्यमान कानूनी तथा नैतिक नियम, धार्मिक मत तथा विश्वास व प्रथाएं सम्मिलित हैं।

तीसरी श्रेणी में, वे सामाजिक तथ्य हैं जो संस्थागत नहीं हो पाये हैं। इस प्रकार के सामाजिक तथ्यों का एक स्पष्ट रूप नहीं बन पाया है। वे समाज के संस्थागत आदर्शों से परे स्थित हैं, साथ ही इस प्रकार के सामाजिक तथ्यों ने संस्थागत सामाजिक तथ्यों की तुलना में अभी तक पूर्णतया वस्तुपरक व स्वतंत्र अस्तित्व नहीं प्राप्त किया है। इसके अतिरिक्त व्यक्तियों पर उनकी बाह्यता तथा उन पर बाध्यता अभी पूर्ण रूप से नहीं है। इस प्रकार के सामाजिक तथ्यों को "सामाजिक प्रवाह" (social currents) कहा गया है। उदाहरण के लिए विशिष्ट स्थितियों में उत्पन्न मतों का यत्र-तत्र प्रवाह, साहित्य में उपजी विचारधाराएं (नई कविता), भीड़ में उत्पन्न उन्माद, लोगों की भीड़ में क्षणिक क्रोध, विशिष्ट घटनाओं द्वारा तिरस्कार या करुणा की भावना का उपजना, आदि।

उपरोक्त सभी सामाजिक तथ्य एक सतत क्रम (continuum) बनाते हैं तथा समाज के सामाजिक परिवेश को संगठित करते हैं।

इसके अतिरिक्त दर्खाइम ने सामान्य तथा व्याधिकीय (pathological) प्रकार के सामाजिक तथ्यों में अंतर किया है। एक सामाजिक तथ्य उस दशा में सामान्य है जब वह उद्विकास की किसी निश्चित अवस्था में किसी निश्चित प्रकार के समाज में सामान्य रूप से मिल जाता है। इससे विचलित तथ्य व्याधिकीय हैं। उदाहरण के लिए किसी भी समाज में अपराध की कुछ मात्रा होना

आवश्यक है। अत: दर्खाइम के अनुसार उस सीमा तक अपराध एक सामान्य सामाजिक तथ्य है (जैसे 'आटे में नमक के बराबर' कहावत में)। जबकि अपराध की दर में असामान्य वृद्धि होना व्याधिकीय सामाजिक तथ्य है। अपराध की नैतिक भर्त्सना में कमी होना तथा विशिष्ट प्रकार के आर्थिक संकट जो समाज को अराजकता की ओर ले जाते हैं, व्याधिकीय सामाजिक तथ्यों के अन्य उदाहरण हैं।

### 10.3.3 सामाजिक तथ्यों की प्रमुख विशेषताएं

दर्खाइम के मत में एक वस्तुपरक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र को दूसरे विज्ञानों के प्रारूप के अनुरूप चलना चाहिये। ऐसा करने के लिए दो बातों का होना आवश्यक है। प्रथम, समाजशास्त्र का "विषय" निश्चित होना चाहिये तथा इसको सभी दूसरे विज्ञानों से अलग किया जाना चाहिये। द्वितीय, समाजशास्त्र का "विषय" ऐसा होना चाहिये जिसका अवलोकन व व्याख्या उसी प्रकार से की जा सके जिस प्रकार से अन्य विज्ञानों में तथ्यों का अवलोकन व व्याख्या की जाती है। दर्खाइम की दृष्टि में समाजशास्त्र का "विषय", सामाजिक तथ्य हैं तथा इन सामाजिक तथ्यों को "वस्तु" की भांति समझना चाहिये। सामाजिक तथ्यों की प्रमुख विशेषताएं हैं: (i) बाह्यता, (ii) बाध्यता, (iii) स्वतंत्रता तथा (iv) सामान्यता।

दर्खाइम के अनुसार सामाजिक तथ्यों का अस्तित्व व्यक्तिगत चेतना के बाहर होता है। उनका अस्तित्व व्यक्तियों के परे होता है। उदाहरण के लिए कानून व प्रथाओं में पारिवारिक अथवा नागरिक या संविदात्मक दायित्वों (contractual obligations) की परिभाषा व्यक्तियों से बाह्य होती है। धार्मिक विश्वास व व्यवहार व्यक्ति से परे व पहले से ही विद्यमान होते हैं। व्यक्ति समाज में जन्म लेता है और उसे छोड़ जाता है जबकि सामाजिक तथ्य समाज में पहले से ही विद्यमान रहते हैं। उदाहरणार्थ, भाषा किसी भी व्यक्ति पर निर्भर न रहते हुए स्वतंत्र रूप से कार्यरत है।

सामाजिक तथ्यों की एक अन्य विशेषता यह है कि ये व्यक्ति के ऊपर एक दबाव डालते हैं। सामाजिक तथ्यों की मान्यता का कारण है कि ये स्वयं को व्यक्ति पर अधिरोपित करते हैं। उदाहरण के लिए, कानून, शिक्षा, विश्वास आदि प्रत्येक व्यक्ति से पहले ही स्थापित रहते हैं। वे सभी के लिए प्रभावशाली व दायित्वपूर्ण होते हैं। जब एक भीड़ में कोई अनुभव या सोच को अधिरोपित किया जाता है तो यह विवशता या एक प्रकार की बाध्यता का उदाहरण है। इस प्रकार की घटना सिद्धांत रूप से सामाजिक है क्योंकि इसका आधार तथा विषय पूरा समूह है न कि कोई व्यक्ति विशेष।

सामाजिक तथ्य वह है जो समाज में लगभग सामान्य रूप से घटित होता है। साथ ही मानव प्रकृति के सार्वभौमिक गुणों व व्यक्तियों के व्यक्तिगत गुणों से सीमित न होने के अर्थ में स्वतंत्र है। इसके उदाहरण किसी समूह द्वारा सामूहिक रूप से किये गये कार्य, अनुभव तथा विश्वास हैं। संक्षेप में सामाजिक तथ्य विशिष्ट होते हैं। उनका जन्म व्यक्तियों के पारस्परिक साहचर्य से होता है। सामाजिक तथ्य सामाजिक समूह अथवा समाज के सामूहिक प्रकरणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये व्यक्तिगत चेतना से उत्पन्न तथ्यों से गुणों में भिन्न होते हैं। सामाजिक तथ्यों को वर्गीकृत व श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक तथ्य समाज के विज्ञान (समाजशास्त्र) की विषय-वस्तु हैं। सामाजिक तथ्यों की इस प्रकृति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामाजिक तथ्यों में सामान्यता पाई जाती है अर्थात् सभी समाजों में ऐसे सामाजिक तथ्य होते हैं जिन्हें वर्गीकृत तथा श्रेणीबद्ध किया जा सकता है।

अगले उपभाग (10.3.4) में सामाजिक तथ्यों की प्रमुख विशेषताओं अर्थात् बाह्यता तथा बाध्यता पर विस्तार में चर्चा होगी। अगले उपभाग को पढ़ने से पहले बोध प्रश्न1को पूरा कर लें।

**बोध प्रश्न 1**

निम्न कथन आपके द्वारा अभी तक प्राप्त जानकारी पर आधारित हैं। उपयुक्त शब्दों द्वारा खाली स्थानों की पूर्ति कीजिए।

i) समाज व्यक्तियों का योग मात्र ..... है। यह व्यक्तियों के ..... द्वारा निर्मित व्यवस्था है।

ii) समाज एक ऐसी वास्तविकता है जो ..... है।

iii) समाज में कानूनी संहिताएं, प्रथाएँ, नैतिक नियम, धार्मिक विश्वास तथा सोचने, अनुभव करने व कार्य करने के तरीके, आदि होते हैं, दर्खाइम ने इन्हें ..... कहा है।

iv) दर्खाइम ने सामाजिक तथ्यों को ..... की भांति माना है।

v) सामाजिक तथ्य व्यक्तियों की इच्छा या चाह से ..... होते हैं।

vi) सामाजिक तथ्य व्यक्तियों से ..... होते हैं। वे उन पर ..... डालने में सक्षम होते हैं।

vii) समाज में सामान्य सामाजिक तथ्य होते हैं। ..... साथ ही समाज में तथ्य भी होते हैं।

## 10.3.4 बाह्यता एवं बाध्यता

यहाँ सामाजिक तथ्यों की दो विशेषताओं अर्थात् बाह्यता व बाध्यता के आधारों की कुछ विस्तार से विवेचना की जायेगी।

(अ) बाह्यता: सामाजिक तथ्य दो अर्थों में व्यक्ति से बाह्य होते हैं।

i) प्रथम, प्रत्येक व्यक्ति ऐसे अविरल समाज में जन्म लेता है जिसका पहले से ही एक निश्चित संगठन या संरचना होती है। समाज में मूल्य, आदर्श, विश्वास व व्यवहार आदि व्यक्तियों के जन्म से पूर्व ही विद्यमान होते हैं तथा इन्हें व्यक्ति **समाजीकरण** की प्रक्रिया द्वारा सीखते हैं। क्योंकि ये सामाजिक घटनाएं व्यक्ति से पूर्व ही विद्यमान रहती हैं तथा ये वस्तुपरक वास्तविकताएं हैं अत: ये व्यक्ति से बाह्य हैं।

ii) द्वितीय, सामाजिक तथ्य व्यक्ति से इस अर्थ में बाह्य हैं कि कोई एक व्यक्ति समाज का निर्माण करने वाले संबंधों की सम्पूर्णता में केवल एक तत्व मात्र होता है।

ये संबंध किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं बनाये जाते अपितु व्यक्तियों के मध्य होने वाली विभिन्न अन्त:क्रियाओं द्वारा नियत होते हैं। व्यक्तियों तथा उनके द्वारा संगठित समाज के मध्य संबंध को समझने के लिए दर्खाइम ने रासायनिक तत्वों व उनसे निर्मित पदार्थों के मध्य संबंध का समानान्तर उदाहरण लिया है। दर्खाइम (1950: x) के अनुसार जब भी किन्हीं तत्वों के संयोग से कोई नया पदार्थ बनता है तो इस पदार्थ की प्रकृति इसके सम्पूर्ण स्वरूप की प्रकृति होती है तथा इसके निर्माणकारी तत्वों की प्रकृति (गुणों) से भिन्न होती है।

एक जीवित कोशिका में खनिज लवण होते हैं परन्तु हाइड्रोजन, ऑक्सीजन जैसे भागों की अपेक्षा जीवन का गुण अधिक महत्वपूर्ण है। भागों के संचयन मात्र की अपेक्षा सम्पूर्णता अधिक महत्वपूर्ण है। सम्पूर्णता (समाज) की अभिव्यक्ति इसके व्यक्तियों की अभिव्यक्तियों से भिन्न होती है। आपने नित्य-प्रति के जीवन में देखा होगा कि व्यक्तियों व समूह में अंतर होता है (विशेष रूप से उस समय जब समूह द्वारा मांगें उठायी जाती हैं)। व्यक्तिगत रूप से किसी बात पर समूह के सदस्य सहमत हो सकते हैं परन्तु सामूहिक रूप से वे सहमत नहीं होते हैं। विस्तृत समाज में

व्यवहार के कुछ नियम पाए जाते हैं जो उस समाज में विशिष्ट रूप में पाये जाते हैं जिसमें वे निर्मित हुए हैं न कि उसका (समाज का) निर्माण करने वाले भागों अर्थात् उसके सदस्यों में (दर्खाइम 1950)। इस आधार को आगे बढ़ाकर दर्खाइम ने यह दिखाना चाहा है कि सामाजिक तथ्य व्यक्तिगत या मनोवैज्ञानिक तथ्यों से भिन्न होते हैं। अत: इनका अध्ययन मनोविज्ञान से पृथक एक अलग विषय के रूप में करना चाहिये और यह विषय समाजशास्त्र है।

(ब) बाध्यता: द्वितीय आधार, जिसके द्वारा सामाजिक तथ्यों को परिभाषित किया जाता है, वह नैतिक दबाव है जो सामाजिक तथ्य व्यक्ति पर डालते हैं। जब व्यक्ति सामाजिक तथ्यों का प्रतिरोध करने का प्रयास करते हैं तो वे (सामाजिक तथ्य) स्वयं को स्थापित करते हैं। यह आग्रह (दबाव के रूप में) हल्के उपहास से लेकर सामाजिक बहिष्कार तथा नैतिक व क़ानूनी प्रतिबंध तक हो सकता है। यद्यपि अधिकतर परिस्थितियों में व्यक्ति सामाजिक तथ्यों के अनुरूप ही चलते हैं तथा इस कारण से उनके बाध्यकारी प्रभाव को प्रत्यक्ष रूप से महसूस नहीं करते हैं। यह अनुसरण व्यावहारिक प्रतिबंधों के भय के कारण उतना नहीं है जितना कि सामाजिक तथ्यों की वैधता को मानने के कारण है (देखिए, गिडंस 1971: 88)।

दर्खाइम (1950: 4) के अनुसार "सामाजिक" को बाध्यता तथा नियंत्रण के अर्थ में परिभाषित करना "निरंकुश व्यक्तिवाद के उत्साही अंध समर्थकों के अनुचित जोखिम लेने की भांति है। यद्यपि आजकल यह सामान्य रूप से माना जाता है कि हमारे अधिकतर विचार तथा प्रवृत्तियां स्वयं हमारे द्वारा विकसित नहीं होतीं बल्कि बाहर से हम तक आती हैं। अत: वे हमारा भाग कैसे बन सकती हैं। सिवाय इसके कि वे स्वयं को हम पर अधिरोपित करें।" दर्खाइम ने अपने विचारों को उस समय प्रचलित उपयोगितावादी दृष्टिकोण का खण्डन करने के लिए प्रतिपादित किया था। इस दृष्टिकोण के अनुसार समाज को संबद्ध रखा जा सकता है तथा सबसे अधिक सुख उस समय प्राप्त होगा जब प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के लिए कार्य करेगा। दर्खाइम ने इस दृष्टिकोण को सहमति नहीं दी। उसके अनुसार व्यक्ति के हित व समाज के हितों में परस्पर मेल नहीं है। सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि समाज अपने सदस्यों पर कुछ नियंत्रण या दबाव बनाये रखे।

सामाजिक तथ्यों के दबावकारी प्रभावों को सुनिश्चित करने के लिए दर्खाइम (1950: 6) ने शिक्षा के प्रयासों को बालक तथा बालिकाओं पर ऐसे कार्य करने, देखने व अनुभव करने के तरीक़ों का अधिरोपण करने के रूप में देखा है जिन्हें कि वे (बालक-बालिकाएं) स्वयं प्राप्त नहीं कर सकते। शिक्षा का उद्देश्य, संक्षेप में, मानव का समाजीकरण है। इस प्रक्रिया में माता-पिता तथा शिक्षक उस सामाजिक परिवेश के प्रतिनिधि व अभिप्रेरक मात्र हैं जो उसकी अपनी छवि के अनुरूप ढालने के लिए विवश हैं।

दर्खाइम (1950: 7) ने आगे कहा है कि सामाजिक तथ्यों को उनकी सार्वभौमिकता मात्र द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता। कोई विचार या क्रिया इस कारण सामाजिक तथ्य नहीं है क्योंकि वह सभी व्यक्तियों द्वारा दोहरायी गयी है। इस संबंध में समूह के विश्वासों, प्रवृत्तियों, तथा व्यवहारों का संस्थागत या सामूहिक पक्ष अधिक महत्वपूर्ण है जो सामाजिक घटना के लक्षणों को सही प्रकार से वर्णित करता है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि इन घटनाओं का हस्तांतरण समाजीकरण के सामूहिक साधनों के माध्यम से किया जाता है।

अत: सामाजिक तथ्य इसलिए भी मान्य हो सकते हैं कि एक ओर तो वे व्यक्तियों से बाह्य हैं तथा दूसरी ओर वे उन पर दबाव डालने में भी समर्थ होते हैं। वे व्यक्ति से बाह्य हैं, वे सामान्य भी हैं तथा वे सामूहिक भी हैं। अत: उन्हें समाज में रहने वाले व्यक्तियों पर अधिरोपित भी किया जा सकता है।

सामाजिक तथ्यों पर विस्तार में चर्चा के बाद, आइए, पहले सोचिये और करिये 2 को पूरा करें और फिर समाजशास्त्रीय पद्धति पर दर्खाइम के विचारों को समझें।

**सोचिए और करिए 2**

कुछ ऐसे सामाजिक तथ्यों का उदाहरण दीजिए जो व्यक्ति से बाह्य हों तथा जिनकी बाह्यता व नियंत्रण के अर्थ में परिभाषा दी जा सके? उनके विषय में व्यक्ति कैसे जानता है? इन प्रश्नों पर एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए तथा इसकी तुलना अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणियों से कीजिए।

## 10.4 समाजशास्त्रीय पद्धति

समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को परिभाषित करने के पश्चात् दर्खाइम ने समाजशास्त्र के अध्ययन की पद्धति का वर्णन किया है। उसकी समाजशास्त्रीय पद्धति दृढ़ रूप से जीवविज्ञान के अनुभव पर टिकी हुई है जिसका उस समय तक जीवित वस्तुओं के विज्ञान के रूप में उदय हो चुका था।

### 10.4.1 सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियम

दर्खाइम (1950: 14) ने हमें इस संबंध में पहला नियम यह दिया कि सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं की भांति माना जाए। सामाजिक तथ्य वास्तविक हैं परन्तु वस्तुओं की तरह ठोस वास्तविकताओं के रूप में इन पर सीधे ध्यान देने व अध्ययन करने के स्थान पर अन्य लेखकों ने इन्हें कल्पना या भावों की अभिव्यक्ति के रूप में देखा है। एक विषय के रूप में उदय होने तक यह सभी विज्ञानों के लिए सत्य है-विज्ञान से पहले चिन्तन तथा अनुचिंतन होते हैं। विज्ञान से पूर्व की अवस्था को केवल अवधारणात्मक वाद-विवाद द्वारा नहीं तोड़ा जा सकता अपितु **अनुभव-सिद्ध** अध्ययनों द्वारा इस कार्य को किया जा सकता है। सामाजिक विज्ञानों के लिए शायद यह प्राकृतिक विज्ञानों की तुलना में और भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इनमें सामाजिक तथ्यों को कुछ इस प्रकार देखने की प्रवृत्ति रही है। जैसे वे वास्तविक तथ्य ही न हों (व्यक्तिगत इच्छा से निर्मित रचनाएं) या इसके विपरीत पहले ही पूर्ण रूप से परिचित शब्द हों जैसे "लोकतंत्र", "समाजवाद" आदि जिन शब्दों का प्रयोग स्वतंत्र रूप से किया जाता है, मानो कि वे एकदम उसी रूप में ज्ञात तथ्यों को व्यक्त करते हैं, जबकि वास्तव में "वे हमारे भीतर भ्रांतिपूर्ण विचारों, अस्पष्ट धारणाओं, पूर्वाग्रहों व भावनाओं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जागृत करते" (दर्खाइम 1950: 22)। दर्खाइम ने कहा कि इन प्रवृत्तियों का सामना करने के लिए सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं की भांति समझना चाहिये। उनका अध्ययन सहज अंतर्दृष्टियों से नहीं, अनुभव-सिद्ध पद्धति से करना चाहिये। न ही साधारण ऐच्छिक प्रयासों से सामाजिक तथ्यों को बदला जा सकता है।

सामाजिक तथ्यों का वस्तुओं की भांति अध्ययन करते समय वस्तुपरकता बनाये रखने के लिए तीन नियमों का पालन करना चाहिये।

i) सभी पूर्व धारणाओं को दूर किया जाना चाहिये। समाजशास्त्री को साधारण मनुष्यों के मस्तिष्क पर प्रभाव करने वाले साधारण स्तर के विचारों से स्वयं को मुक्त रखना चाहिये तथा उसे अपने अध्ययन के विषय के प्रति भावनात्मक रूप से निष्पक्ष रुख अपनाना चाहिये।

ii) समाजशास्त्री को अवधारणाओं का नियमन एकदम सही ढंग से करना चाहिये। शोध के प्रारंभ में समाजशास्त्री को विवेचित की जा रही घटना के विषय में बहुत कम ज्ञान होता है अत: उसे अपनी विषय-वस्तु को पर्याप्त रूप से बाह्य दिखने वाले गुणों के रूप में सूत्रबद्ध करते हुए आगे बढ़ना चाहिये। अत: श्रम-विभाजन के अध्ययन में किसी समाज में एकता के प्रकार को यह देखकर समझा जा सकता है कि इस समाज में किस प्रकार का क़ानून, दमनकारी या क्षतिपूर्तिकारी, फ़ौजदारी या दीवानी प्रभावशाली है। इसकी चर्चा इकाई 11 एवं 13 में की गयी है।

iii) जब समाजशास्त्री किन्हीं सामाजिक तथ्यों की जांच का उत्तरदायित्व ले तो उसे उन्हें अपनी अभिव्यक्तियों से पृथक करके देखने का प्रयास करना चाहिये। सामाजिक तथ्यों की वस्तुपरकता मुख्यत: उनकी विवेचना करने वाले व्यक्तियों से उन्हें अलग किये जाने पर निर्भर करती है। वे समाज के सदस्यों के लिए एक समाज मानक प्रदान करते हैं। वे कानूनी नियमों, नैतिक नियंत्रकों, कहावतों, सामाजिक सम्मेलनों आदि के रूप में विद्यमान होते हैं। सामाजिक जीवन के बारे में जानने के लिए समाजशास्त्री को इनका अध्ययन करना चाहिये।

सामाजिक तथ्यों को "धारणा के प्रवाहों" में भी देखा जा सकता है। ये धारणाएँ स्थान व काल के अनुरूप बदलती रहती हैं। उदाहरण के लिए कुछ निश्चित समूहों को या तो अधिक विवाह करने हेतु या अधिक आत्महत्याओं के लिए अथवा अधिक या कम जन्म दर के लिए प्रोत्साहित करती हैं। ये प्रवाह स्पष्ट रूप से सामाजिक तथ्य हैं। पहली दृष्टि में ये प्रवाह उन स्वरूपों से अभिन्न दिखायी देते हैं जिनमें ये व्यक्तिगत व्यवहार के रूप में मिलते हैं। परन्तु सांख्यिकी हमें इन्हें पृथक करने का साधन उपलब्ध कराती है। वास्तव में जन्म, विवाह तथा आत्महत्या आदि की दरों में उनका यथार्थता के साथ सामूहिक प्रतिनिधित्व होता है (दर्खाइम 1950: 7)।

सामाजिक प्रवाह सैद्धांतिक परिवृत्य (variables) हैं जबकि सांख्यिकी दरें इन परिवृत्यों से संबंधित प्रस्थापनाओं की पुष्टि के लिए प्राप्त किये जाने वाले साधन हैं। यह मानते हुए कि इन सामाजिक प्रवाहों का प्रेक्षण नहीं किया जा सकता, दर्खाइम ने इस बात पर बल दिया है कि "पद्धति के साधनों" का इस प्रकार से प्रयोग करना चाहिये कि अनुभव सिद्ध पुष्टि की जा सके। यहां यह नोट किया जाना चाहिये कि "आत्महत्या की दरों" का प्रकरण दर्खाइम द्वारा उस तरीके के सर्वोत्तम उदाहरण के रूप में दिया गया जिससे सामाजिक तथ्यों का अध्ययन किया जा सकता है।

## 10.4.2 सामान्य एवं व्याधिकीय में विभेद के नियम

सामाजिक तथ्यों का अवलोकल करने के नियम बताने के पश्चात् दर्खाइम ने "सामान्य" तथा "व्याधिकीय" सामाजिक तथ्यों में अंतर किया है। दर्खाइम ने इसको इसलिए महत्वपूर्ण माना है क्योंकि, जैसा कि उसने बताया है, मनुष्य का वैज्ञानिक अध्ययन बहुत कुछ इस कारण से पीछे रह गया क्योंकि बहुत से मनीषियों में अपने (समाज) से भिन्न व्यवहार को "व्याधिकीय" स्वरूप में देखने की प्रवृत्ति थी। परन्तु दर्खाइम (1950: 64) ने यह स्पष्ट किया कि एक सामाजिक तथ्य किसी एक सामाजिक प्ररूप के संदर्भ में इसके विकास की दी हुई एक अवस्था में सामान्य है जब यह उस प्रजाति के औसत समाज में इसके उद्विकास की उपयुक्त अवस्था में पाया जाता है। उसने आगे बताया है कि एक सामाजिक तथ्य किसी समाज के लिए केवल उसी दशा में "सामान्य" होता है जब तक वह उस सामाजिक प्ररूप के लिए उपयोगी है।

इसके उदाहरण के रूप में उसने अपराध का उल्लेख किया है। अपराध व्याधिकीय तथ्य माने जाते हैं। परन्तु दर्खाइम का तर्क है कि, यद्यपि अपराध को अनैतिक माना जा सकता है क्योंकि यह प्रचिलित मूल्यों की अवहेलना करता है, वैज्ञानिक दृष्टि से इसे असामान्य कहना उचित नहीं होगा। पहले तो अपराध न केवल एक विशिष्ट प्रकार के समाजों में अधिकतर पाया जाता है अपितु सभी प्रकार के समाजों में पाया जाता है। दूसरा यदि आदर्शों में नियमित विचलन अथवा उनकी अवहेलना नहीं होगी तो मानव व्यवहार में कोई परिवर्तन कहां होगा। साथ ही इस बात की कोई संभावनाएं नहीं रह जाएंगी कि समाज अपने वर्तमान आदर्शों की पुन: पुष्टि कर सके अथवा इस प्रकार के व्यवहार का पुनर्मूल्यांकन करके स्वयं ही आदर्श को परिवर्तित कर सके। यह प्रदर्शित करने के लिए कि अपराध नैतिकता व कानून के सामान्य उद्विकास के लिए उपयोगी है, दर्खाइम ने सुकरात का उदाहरण प्रस्तुत किया है। जो अपने विचारों की स्वतंत्रता के कारण

एथेन्सिय कानून की दृष्टि में अपराधी था। परन्तु इस अपराध से उसने अपने समाज की महान सेवा की। क्योंकि इससे नई नयी नैतिकता व विश्वास का संचार हुआ जिसकी उस समय एथेन्सवासियों को आवश्यकता थी। इससे इस अर्थ में मानवता की भी सेवा हुई क्योंकि आज अनेक समाजों में लोगों द्वारा उपभोग की जा रही विचारों की स्वतंत्रता उस जैसे व्यक्तियों के प्रयासों से ही संभव हो सकी।

दर्खाइम उन तरीक़ों से प्रभावित था जिनके प्रयोग से चिकित्सा का अध्ययन वैज्ञानिक हो गया था। चिकित्सक शरीर की सामान्य कार्य-विधि तथा इसके व्याधिकीय लक्षणों दोनों का ही अध्ययन करते हैं। इन दोनों लक्षणों का अध्ययन शरीर की प्रकृति को पहचानने में सहायक होता है। उसने इस पद्धति को सामाजिक तथ्यों के अध्ययन में प्रयोग किया। समाज में श्रम विभाजन के अपने अध्ययन में उसे प्रथम दो भागों में सामान्य लक्षणों की व्याख्या तथा तीसरे भाग में असामान्य लक्षणों की व्याख्या की है। उसने अपराध तथा दण्ड दोनों को कुछ सीमा तक सामान्य ही माना है।

एक सामाजिक तथ्य किस प्रकार से समान रूप से विद्यमान होता है? अधिकतर अपराध की दर एक समाज में लगभग स्थिर रहती है। लेकिन जब यह दर अप्रत्याशित रूप से बढ़ती है तो इसे असामान्य या व्याधिकीय सामाजिक तथ्य कहते हैं। इसी प्रकार, इस आधार का प्रयोग करते हुए आत्महत्या एक सामान्य तथ्य है (यद्यपि इसको "ग़लत" या "अनैतिक" माना जाता है क्योंकि यह उन मूल्यों तथा **प्रतिमानों** के विरुद्ध है जो जीवन के संरक्षण को श्रेष्ठ बनाते हैं)। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में आत्महत्या की दर में अप्रत्याशित वृद्धि उन कारणों में से एक थी जिनके कारण दर्खाइम ने इस घटना का अध्ययन करने का निर्णय लिया।

### 10.4.3 सामाजिक प्ररूप के वर्गीकरण के नियम

विद्वानों में सामूहिक जीवन की विभिन्न अवधारणाएं रही हैं। कुछ इतिहासविदों का मत है कि प्रत्येक समाज विशिष्ट है तथा इस कारण हमारे द्वारा समाजों की तुलना नहीं की जा सकती। दूसरी ओर दार्शनिक यह मानते हैं कि सभी समाजों की एक ही प्रजाति, मानव प्रजाति, है तथा मानव प्रकृति के समान लक्षणों के कारण ही सभी सामाजिक उद्विकास प्रस्फुटित हुए हैं।

इस संबंध में दर्खाइम की स्थिति मध्य में है। उसने सामाजिक प्रजातियों या सामाजिक प्ररूपों का उललेख किया है। यद्यपि सामाजिक तथ्यों में बहुत अधिक भिन्नता है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें वैज्ञानिक तरीक़े से वर्णित नहीं किया जा सकता अर्थात् उनकी तुलना, वर्गीकरण व व्याख्या ही नहीं की जा सकती हो। यदि दूसरी ओर सिर्फ़ एक प्रजाति की बात की जाती है तो महत्वपूर्ण गुणात्मक भिन्नताएं हमारे द्वारा छोड़ दी जायेंगी और उन्हें एक साथ समझना असंभव होगा।

समाजों का उनके प्ररूपों में वर्गीकरण करना उनकी व्याख्या करने की दिशा में उठाया गया एक महत्वपूर्ण क़दम है क्योंकि प्रत्येक (सामाजिक) प्ररूप की समस्याएं व व्याख्याएं भिन्न होंगी। यह निर्णय लेने की भी आवश्यकता है कि एक सामाजिक तथ्य समान है अथवा असमान, क्योंकि एक सामाजिक तथ्य किसी सामाजिक प्ररूप विशेष के संदर्भ में ही समान या असमान होता है। दर्खाइम ने सामाजिक प्ररूपों के वर्गीकरण के लिए "सामाजिक आकारिकी" (social morphology) शब्द का प्रयोग किया है। प्रश्न यह है कि सामाजिक प्ररूप किस तरह से बनते हैं? यहां "प्ररूप" शब्द का अर्थ एक समूह में विभिन्न इकाइयों की समान विशेषताओं से है। उदाहरण के लिए, "कुंवारे" तथा "विवाहित व्यक्ति" दो प्रकारों के अंतर्गत आते हैं तथा दर्खाइम ने अपने समाजशास्त्रीय शोध से सफलतापूर्वक यह प्रदर्शित किया कि "कुंवारों" में आत्महत्या की दर अधिक थी। कृपया इसे व्यक्तिगत घटनाओं से भ्रमित न करें।

हमें पहले प्रत्येक विशिष्ट समाज का पूर्णरूपेण अध्ययन करना चाहिये और तभी इनकी समानताएं व विभिन्नताएं देखने के लिए तुलना करनी चाहिये। तद्नुसार, हमारे द्वारा उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। दर्खाइम (1950: 78) का कहना था कि क्या विज्ञान का यह नियम नहीं है कि विशिष्ट का अवलोकन करने के पश्चात् ही समानता पर पहुंचना चाहिये और वह भी उसको समग्रता में देखने के पश्चात्? यह जानने के क्रम में, कि क्या एक तथ्य सम्पूर्ण प्रजाति या सामाजिक प्ररूप के लिए समान है अथवा नहीं, यह आवश्यक नहीं कि हम इस प्रकार के सभी समाजों का अवलोकन करें, केवल कुछ का अवलोकन ही पर्याप्त होगा। दर्खाइम (1950: 80) के अनुसार अनेकों प्रकरणों में एक सही प्रकार से किया गया अवलोकन भी पर्याप्त होगा, जैसा कि क़ानून की स्थापना के लिए सही प्रकार से निर्मित प्रयोग (अध्ययन) पर्याप्त होता है (तुलनात्मक पद्धति पर इकाई 11 देखें)। दर्खाइम "एक खण्डीय समाज" अथवा "पूर्णत: सरल समाज", जैसे **होर्ड (Horde)** को आधार के रूप में लेकर समाजों का वर्गीकरण उनके संगठन के स्तर के अनुसार करना चाहता था। होर्डस् के संयोग से निर्मित होने वाले समाज को "सरल **बहुखण्डीय"** (simple polysegmental) कहा जा सकता है। इनके संयोग से "सरलीकृत संयुक्तांगी बहुखण्डीय समाजों" (polysegmental societies simply compounded) का निर्माण होता है। इस प्रकार के समाजों के संयोग से और अधिक जटिल समाज उत्पन्न होते हें जिन्हें "युग्मित संयुक्तांगी बहुखण्डीय समाज" (poly segmental societies doubly compounded) कहा जाता है तथा इसी प्रकार आगे अन्य समाजों का निर्माण हो सकता है।

इन प्ररूपों के अंतर्गत विभिन्न उपभेद भी किये जा सकते हैं जिसका आधार यह होगा कि इन प्रारंभिक खण्डों का विलयन पूर्ण रूप से हुआ अथवा नहीं।

समाजों की सामाजिक प्रजातियाँ अथवा प्ररूपों का वर्गीकरण करने के लिए दर्खाइम द्वारा प्रयुक्त कार्य-प्रणाली के संबंध में जॉन रेक्स (1961) ने जाँच की है कि यह जीव-विज्ञानीय उपागम किस सीमा तक समाजशास्त्रीय शोध में उपयोगी है। रेक्स ने ऐसे प्रकरणों को खोज निकाला जहां यह उपयोगी हो सकता है तथा वे प्रकरण जहां इसका प्रयोग कठिन है। पहले प्रकार के प्रकरणों में वर्णन, वर्गीकरण तथा औसत (सामाजिक) प्ररूपों के निर्माण संबंधी प्रयोग आते हैं। कठिनाई उस समय होती है जब समाजों का इतिहास अध्ययन की विषय-वस्तु बन जाता है, इस प्रकार के प्रकरणों में प्रजातियों की खोज लेखक द्वारा ऐतिहासिक प्रक्रिया से बाहर जाकर कर ली जाती है तथा उद्विकास का सिद्धांत (समाजशास्त्र के लिए) अधिक उपयोगी नहीं है (देखिए रेक्स 1961: 14)।

आइए, अब सामाजिक तथ्यों के अवलोकन और सामाजिक प्ररूपों के वर्गीकरण पर चर्चा के बाद उपभाग 10.4.4 में सामाजिक तथ्यों की व्याख्या के नियमों को समझें।

### 10.4.4 सामाजिक तथ्यों की व्याख्या के नियम

सामाजिक तथ्यों की व्याख्या के लिए दो प्रकार के उपागमों का प्रयोग किया जा सकता है। ये हैं कारणात्मक तथा प्रकार्यात्मक। पहले का संबंध यह व्याख्या करने से है कि अध्ययन की जाने वाली घटना "क्यों" घटित होती है। दूसरे का संबंध यह स्थापित करने से है कि अध्ययन किये जा रहे तथ्य की सामाजिक प्राणी की सामान्य आवश्यकताओं के लिए क्या उपयोगिता है (दर्खाइम 1950: 95)।

किसी सामाजिक तथ्य को जन्म देने वाले कारणों की पहचान अलग से की जानी चाहिये। चाहे उसका सामाजिक प्रकार्य कुछ भी हो। सामान्य रूप से, प्रकार्यों का निर्धारण करने से पूर्व कारणों को जानने का प्रयत्न करना चाहिये। यह इसलिए क्योंकि ऐसे कारणों की जानकारी, जो किसी घटना के घटित होने के लिए उत्तरदायी हैं, किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उसके सम्भावित प्रकार्यों के बारे में हमें कुछ अन्तर्दृष्टियां प्रदान कर सकती है। यद्यपि "कारण" तथा "प्रकार्य"

दो अलग-अलग विशेषताएं हैं परन्तु दोनों के मध्य एक अनुपूरक संबंध होने से रोका नहीं जा सकता तथा इन्हें किसी भी ओर से देखा जा सकता है। वास्तव में, दर्खाइम श्रम-विभाजन के अपने अध्ययन के प्रथम भाग में प्रकार्यों से प्रारंभ करके तथा इसके द्वितीय भाग में कारणों पर आने में एक अर्थ देखता है। इस अध्ययन से "दण्ड" के उदाहरण को हमारे द्वारा लिया जा सकता है: अपराध समाज की सामूहिक भावनाओं पर आघात करता है। जबकि दण्ड का प्रकार्य इन भावनाओं को प्रखरता के उस स्तर तक बनाये रखना होता है। यदि भावनाओं के विरुद्ध किये जाने वाले अपराध को दण्डित नहीं किया जाए तो सामजिक स्थिरता को बनाये रखने के लिए आवश्यक भावनाओं की दृढ़ता को पहले की तरह नहीं रखा जा सकता। (यहां यह बताया जा सकता है कि समाजशास्त्र में विशेष रूप से अमेरिका में 1940 व 1950 के दशकों में "प्रकार्यवाद" के प्रभावशाली रहने का कारण दर्खाइम की "प्रकार्य" की अवधारणा रही है। इसकी चर्चा हमने इन पाठ्यक्रम के अन्तिम दो खण्डों (6 तथा 7) में की है।)

सामाजिक तथ्यों की व्याख्या में प्रयोग किये जाने वाले दो उपागमों में अंतर करने के पश्चात् दर्खाइम का अगला कार्य उस पद्धति का निर्धारण करना था जिसके द्वारा सामाजिक तथ्यों को विकसित किया जा सके। सामाजिक तथ्यों की प्रकृति ही इन तथ्यों की व्याख्या करने वाली पद्धति को निर्धारित करती है। क्योंकि समाजशास्त्र की विषय-वस्तु सामूहिक प्रकृति का सामाजिक गुण है अत: इसकी व्याख्या का स्वरूप भी सामाजिक होना चाहिये। दर्खाइम ने व्यक्ति और समाज के बीच एक स्पष्ट रेखा खींची है। (समाज एक अलग यथार्थ है व इसको निर्मित करने वाले व्यक्तियों से भिन्नता रखता है तथा इसकी अपनी अलग विशेषताएं होती हैं।) साथ ही उसने समाजशास्त्र व मनोविज्ञान के बीच स्पष्ट भेद किया है। सामाजिक तथ्यों की व्याख्या सीधे व्यक्तिगत विशेषताओं के रूप में अथवा मनोविज्ञान के शब्दों में करने का कोई भी प्रयास व्याख्या को ग़लत कर देगा। इसलिए कारणात्मक व्याख्या के प्रकरण में "सामाजिक तथ्य की व्याख्या करने वाले कारण की खोज इससे पूर्व घटित सामाजिक तथ्यों में करनी चाहिये न कि व्यक्तिगत चेतना की स्थितियों में"। प्रकार्यात्मक व्याख्या के प्रकरण में "सामाजिक तथ्य का प्रकार्य सदैव किसी सामाजिक उद्देश्य के संबंध में खोजा जाना चाहिये" (दर्खाइम 1950: 110)।

दर्खाइम ने व्याख्या संबंधी तर्क के अंत में सामाजिक विज्ञान की तुलनात्मक प्रवृत्ति पर बल दिया है। यह दिखाने के लिए कि एक तथ्य दूसरे तथ्य का कारण है "हमें उन प्रकरणों की तुलना करनी होगी जिनमें वे समान रूप से उपस्थित या अनुपस्थित रहते हैं। ऐसा यह देखने के लिए करना होगा कि परिस्थितियों के विभिन्न संयोजनों में उनके द्वारा प्रदर्शित भिन्नता यह संकेत करती है कि एक तथ्य दूसरे पर निर्भर करता है" (दर्खाइम 1950: 125)।

समाजशास्त्री सामान्य रूप से प्रयोगशाला में नियंत्रित प्रयोग नहीं करते अपितु वे रिपोर्ट किये जा चुके तथ्यों का अध्ययन करते हैं या अध्ययन क्षेत्र में जाकर इन सामाजिक तथ्यों का अवलोकन करते हें जो समाज में स्वत: उत्पन्न हो चुके होते हैं। अत: वे अप्रत्यक्ष प्रयोग अथवा तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करते हैं। दर्खाइम ने फ्रेंच भाषा में ऑगस्ट कॉम्ट तथा अंग्रेज़ी भाषा में जे. एस.मिल्स की पुस्तक, *सिस्टम ऑफ़ लॉजिक* का अनुसरण करते समय तुलनात्मक पद्धति की कार्य-प्रणाली के रूप में "सहगामी भिन्नताओं की पद्धति" (method of concomitant variations) का उदाहरण प्रशंसापूर्वक देते हुए इसे 'समाजशास्त्रीय शोध का श्रेष्ठ उपकरण' बताया है। इस पद्धति के विश्वसनीय होने के लिए उन सभी परिवृत्यों को दृढ़ता से अलग करना आवश्यक नहीं जिन्हें हमने अपने द्वारा तुलना किये जा रहे परिवृत्यों से भिन्न माना है। पर्याप्त संख्या व विभिन्न प्रकरणों में पायी जाने वाली किन्हीं दो घटनाओं का केवल समानांतर स्थितियों में पाया जाना इस बात का सबूत है कि उनके मध्य एक संभावित संबंध विद्यमान है। इसकी वैधता इस तथ्य के कारण है कि सहगामी भिन्नताएं कारणात्मक संबंधों को संयोगवश नहीं अपितु स्वाभाविक रूप से प्रदर्शित करती है कि सहगामी भिन्नताएं कारणात्मक संबंधों को संयोगवश नहीं अपितु

स्वाभाविक रूप से प्रदर्शित करती हैं। यह उन्हें इस प्रकार दिखाता है जैसे वे एक निरंतर शैली में एक दूसरे को प्रभावित कर रही हैं, कम से कम जहां तक उनके गुण का संबंध है। दर्खाइम के अनुसार स्थिर सहगामिता स्वयं में एक नियम है चाहे तुलना से पृथक की गयी घटना की दशा कुछ भी रही हो। जब दो घटनाएं सीधे ही एक दूसरे के साथ परिवर्तित होती हैं तो इस संबंध को कुछ प्रकरणों में उस समय भी स्वीकार करना चाहिये जब उन घटनाओं में से एक दूसरी घटना के बिना भी उपस्थित हो। ऐसा या तो इस कारण से हो सकता है कि कुछ विपरीत कारणों की क्रिया द्वारा इस घटना के कारण को अपना प्रभाव उत्पन्न करने से रोक दिया गया है या इसलिए कि यह उपस्थित तो है परन्तु यह दिखायी देने वाले स्वरूप से भिन्न अवस्था में है। उदाहरण के लिए जब पौधे को सूर्य की रोशनी सीधे मिलती है तब वह सीधा उगता है। परन्तु जब इसी पौधे को बंद कमरे में रख कर एक आढ़ी दिशा से रोशनी दी जाए तो यह उसी रोशनी की दिशा में झुक जाता है। अत: यह दर्शाता है कि पौधे के बढ़ने का सूर्य की रोशनी से सीधा संबंध है। जब एक परिवृत्य बदलता है तो दूसरा उसके अनुरूप बदल जाता है। यद्यपि हमें इसकी पुन: परीक्षण करने की आवश्यकता है लेकिन हमें विधिवत् किये गये अध्ययनों के परिणामों को जल्दबाज़ी में नहीं छोड़ देना चाहिये।

सहगामी भिन्नता को कई स्तरों पर देखा जा सकता है: एक समाज में, समान प्रजाति अथवा समान प्ररूप के समाजों में, या कई भिन्न प्रकार की सामाजिक प्रजातियों के समाजों में। यद्यपि किसी दी हुई सामाजिक प्रजाति से संबंधित सामाजिक संस्था की सम्पूर्ण व्याख्या के लिए न केवल इन समाजों में विभिन्न स्वरूपों की अपितु इसकी पूर्वगत प्रजातियों में भी इसके विभिन्न स्वरूपों की तुलना करनी होगी। अत: परिवार, विवाह, सम्पत्ति आदि की वर्तमान अवस्था की व्याख्या करने के लिए उनकी उत्पत्ति के बारे में व उन तत्वों के बारे में जानना आवश्यक होगा जिनसे ये संस्थाएं बनी है। इसके लिए हमें इस संस्था को प्रारंभिक प्रकार के समाजों में पारिवारिक संगठन, विवाह या सम्पत्ति के सबसे अधिक मूल स्वरूप से लेकर विभिन्न सामाजिक प्रजातियों में उसके क्रमिक विकास का अध्ययन करना होगा। "किसी भी जटिल सामाजिक तथ्य की व्याख्या उस समय तक नहीं की जा सकंती जब तक कि सभी प्रजातियों में हो चुके इसके सम्पूर्ण विकास को न देखा जाए" (दर्खाइम 1950: 139)। ऐसे अध्ययन से हमें यह पता चलेगा कि किसी भी व्यवस्था के मूल तत्व क्या हैं तथा वे कैसे विकसित हुए हैं। इसके साथ यह भी निश्चित किया जा सकता है कि उन व्यवस्थाओं का स्वरूप किन-किन परिस्थितियों पर निर्भर होता है।

दर्खाइम के लिए तुलनात्मक पद्धति समाज के विज्ञान का वास्तविक ढांचा है। दर्खाइम (1950: 139) के अनुसार "तुलनात्मक समाजशास्त्र को एक शाखा के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए, यह स्वयं समाजशास्त्र है, जब तक कि यह स्वयं को विशुद्ध रूप से वर्णनकारी होने से बचाये रखता है तथा तथ्यों का विवरण देने का आकांक्षी है"। इस पद्धति के स्पष्टीकरण के लिए तुलनात्मक पद्धति पर इकाई 11 देखिए।

**बोध प्रश्न 2**

i) सामाजिक तथ्यों का वस्तुपरकता से अवलोकन करने के क्या नियम हैं? आठ पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) सामाजिक तथ्यों की व्याख्या करने के दो पक्ष क्या हैं? अपना उत्तर दस पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 10.5 सारांश

दर्खाइम की समाजशास्त्र की अवधारणा की चर्चा को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए यह कहा जा सकता है कि दर्खाइम ने समाजशास्त्र को स्पष्ट रूप से एक वैज्ञानिक विषय के रूप में माना है, जिसकी विषय-वस्तु अलग है। उसने विशेषकर मनोविज्ञान, से इसे पृथक किया है। उसने सामाजिक तथ्यों की पहचान करने, अवलोकन व व्याख्या करने के नियम स्थापित किये। उसने सामाजिक तथ्यों की व्याख्या दूसरे सामाजिक तथ्यों द्वारा किये जाने पर बल दिया। उसके लिए व्याख्या का अर्थ प्रकार्यों व कारणों का अध्ययन करना था तथा उसने इन कारणों को तुलनात्मक पद्धति द्वारा प्राप्त किया है। उसने विभिन्न प्रकार की एकरूपताओं में श्रम-विभाजन के अध्ययन, विभिन्न प्रकार के समाजों में आत्महत्या की दर के अध्ययन, एक सामाजिक प्ररूप में धर्म के अध्ययन द्वारा इस प्रकार के अध्ययनों की प्रकृति दिखाने का प्रयास किया। समाजशास्त्र को एक विषय के रूप में वैध आधार प्रदान करने के प्रयासों के रूप में उसके जीवन व कार्यों को देखा जाता है। यद्यपि प्राकृतिक विज्ञानों, विशेषकर जीवविज्ञान, में ऐसा अध्ययन वैध अनुभव सिद्ध पद्धति से किया जाता है जिसमें अवलोकन, वर्गीकरण तथा व्याख्या द्वारा "नियमों" की प्राप्ति की जाती है, समाजशास्त्र में यह कार्य तुलनात्मक पद्धति से किया जाता है।

## 10.6 शब्दावली

**सामूहिक** — परस्पर अन्त:क्रिया कर रहे व्यक्तियों द्वारा निर्मित एक संयुक्त क्रिया, विचार या आदर्श।

**अनुभव सिद्ध** — वस्तुपरक तरीके से आंकड़ों को इकट्ठा करने के लिए अवलोकन तथा अन्य परीक्षित पद्धतियों का प्रयोग।

**होर्ड (Horde)** — ऐसे लोगों का समूह जो परस्पर नातेदारी संबंध से जुड़े हों। ये प्राय: खानाबदोश शिकारियों व खाद्य संचयी समहों में पाये जाते हैं।

**प्रतिमान** — यह क्रिया का विशिष्ट मार्गदर्शक है जो यह परिभाषित करता है कि विशिष्ट परिस्थितियों में क्या उचित व स्वीकृत व्यवहार है।

**बहुखण्डीय** एक से अधिक खण्ड से निर्मित।

**प्रतिबंध** आदर्श को लागू करने के लिए पुरस्कार व दण्ड। पहले को सकारात्मक व दूसरे को नकारात्मक प्रतिबंध करते है।

**समाजीकरण** वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्ति समाज की संस्कृति सीखते हैं।

**सामाजिक विज्ञान** एक ऐसी पद्धति जिसका प्रयोग उन मानव संबंधों व संगठनों के स्वरूपों का वैज्ञानिक अध्ययन करने में किया जाता है जो समाज में व्यक्तियों को एक साथ रखने के लिए उत्तरदायी हैं।

**सूइ जेनेरिस (sui generis)** वह जो स्वयं से उत्पन्न हो, वह जिसका अस्तित्व स्वयं में हो, वह जो अपने उद्भव तथा अस्तित्व के लिए अन्य वस्तुओं पर निर्भर न हो, दर्खाइम ने समाज को सुई जेनॅरिस् माना है। यह सदैव उपस्थित रहता है तथाा इसके उद्भव का कोई बिन्दु नहीं है। (यह शब्द यूरोप की शास्त्रीय भाषा का है।)

## 10.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आरों, रेमों, 1967. मेन करेंट्स इन सोशियोलॉजिकल थॉट. वॉल्यूम 2, पेगुइन बुक्स: लंदन

दर्खाइम, एमिल, 1950, द रूल्स् ऑफ सोशियोलॉजिकल मेथड् (ट्रांसलेटिड बाय् एस.ए. सोलोवे एण्ड जे.एच. म्यूलर, एण्ड एडिटिड बाय् इ.जी. कैटलिन, द फ्री प्रेस ऑफ ग्लेनको: न्यूयार्क

पिकरिंग, डब्ल्यू. एस.एफ (सम्पादित) 2002 *दर्खाइम टुडे*. दर्खाइम प्रेस: ऑक्सफ़र्ड

## 10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) नहीं, साहचर्य

ii) सूइ जेनॅरिस्

iii) सामाजिक तथ्य

iv) वस्तुओं

v) स्वतंत्र

vi) बाह्य, दबाव

vii) व्याधिकीय

**बोध प्रश्न 2**

i) दर्खाइम ने सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं की भांति वस्तुपरक रूप से अध्ययन करने के तीन नियम बनाये:

   (क) सभी पूर्व-धारणाओं का उन्मूलन किया जाना चाहिये।

   (ख) प्रत्येक समाजशास्त्रीय अध्ययन की विषय-वस्तु में ऐसी घटनाओं के समूह को सम्मिलित करना चाहिये जिन्हें प्रारंभ में ही कुछ निश्चित बाह्य विशेषताओं द्वारा परिभाषित किया जा चुका हो तथा इस प्रकार परिभाषित सभी घटनाओं को इस समूह में शामिल करना चाहिये।

(ग) जब समाजशास्त्री किसी प्रकार के सामाजिक तथ्यों की खोज का उत्तरदायित्व लेता है तो उसे उन्हें अपनी व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों से स्वतंत्र होकर देखना चाहिये।

ii) सामाजिक तथ्यों की व्याख्या के लिए दो उपागमों अर्थात् कारणात्मक तथा प्रकार्यात्मक का प्रयोग किया गया है। कारणात्मक उपागम का संबंध यह व्याख्या करने से है कि सामाजिक तथ्य "क्यों" विद्यमान रहते हैं। प्रकार्यात्मक उपागम सामाजिक तथ्य की यह प्रदर्शित करते हुए व्याख्या करता है कि यह समाज (सामाजिक सावयव) की किस आवश्यकता की पूर्ति करता है। किसी सामाजिक तथ्य की पूर्ण व्याख्या करने के लिए दोनों की आवश्यकता पड़ती है। तार्किक रूप से प्रकार्यात्मक व्याख्या से पहले कारणात्मक व्याख्या करनी चाहिये, क्योंकि कुछ विशेष परिस्थितियों में कारण की जानकारी हमें उसके सम्भावित प्रकार्यों के बारे में कुछ पूर्वाभास दे देती है। यद्यपि दोनों अलग-अलग हैं परन्तु दोनों के मध्य एक अनुपूरक संबंध है। उदाहरण के लिए, दण्ड (जो सामाजिक प्रतिक्रिया है) का अस्तित्व उन सामूहिक भावनओं की प्रखरता के कारण होता है जिन्हें अपराध आघात पहुंचाता है। दण्ड का प्रकार्य इन भावनाओं को उसी प्रखर स्तर तक बनाये रखना है। यदि इनके विरुद्ध किये गये अपराध को दण्डित नहीं किया गया तो सामाजिक स्थिरता के लिए आवश्यक भावनाओं की दृढ़ता को पूर्ववत् नहीं रखा जा सकेगा।

# इकाई 11 तुलनात्मक अध्ययन

**इकाई की रूपरेखा**


11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 दैनिक जीवन में तुलनाएं

11.3 तीन प्रकार की तुलनाएं

11.4 दर्खाइम द्वारा की गई तुलनाओं के प्रकार

- 11.4.1 एक ही समाज की विभिन्नताओं की तुलना
- 11.4.2 विभिन्न समाज - एक समय पर
- 11.4.3 विभिन्न समाज - विभिन्न समय पर

11.5 अप्रत्यक्ष प्रयोग के रूप में तुलनाएं (Indirect Experiment)

11.6 एक अध्ययन द्वारा प्रयोग

11.7 सारांश

11.8 शब्दावली

11.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.10 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 11.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ कर यह समझ में आएगा कि दैनिक जीवन में तुलनाएं कैसे की जाती है: समाज के अध्ययन में उनका उपयोग कैसे होता है और फ्रांस के प्रमुख समाज वैज्ञानिक दर्खाइम (Durkheim) ने तुलनाओं का उपयोग अधिक से अधिक सार्थक रूप से करके कैसे हमें समाज के वैज्ञानिक दृष्टिकोण तक पहुँचाया। अगर हम इस पाठ्यक्रम का मंतव्य भली-भाँति समझ सकें तो हमारे लिए संभव होगा

- अपनी दैनिक बातचीत व व्यवहार में तुलनाओं का महत्व और उनके उपयोग को समझना
- कहाँ व कब तुलनाएं ग्राहय नहीं हैं, यह पहचानना
- कहाँ व कब तुलनाएं वैज्ञानिक आधार देती हैं, यह समझना
- इन विचार प्रणालियों में फ्रांस के समाजशास्त्री दर्खाइम के योगदान को समझना और दूसरे समाजशास्त्री, जर्मनी के वेबर के विचारों को समझने की पृष्ठभूमि (खंड 4 के लिए) तैयार करना।

## 11.1 प्रस्तावना

आइए देखें कि कहाँ तुलनाएं करना सार्थक है, कहाँ अनावश्यक है। फिर यह स्पष्ट करें कि दैनिक अनुभवों से तुलनात्मक पद्धति का कैसे निर्माण होता है। फ्रांस के प्रमुख समाजशास्त्री एमिल दर्खाइम (Emile Durkheim) ने तुलनाओं की कुछ सीमाएं व संभावनाएं बताईं और उनसे वैज्ञानिक अध्ययन की ओर क़दम बढ़ाए। सामाजिक जीवन के तथ्यों को आँकड़ों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और एक उदाहरण इन्हीं लेखक के अध्ययन से लिया जा सकता है।

कभी-कभी आँकड़ों के अतिरिक्त व्यक्तियों व समूहों की मनोदशाओं की तुलना शब्द चित्र द्वारा की जाती है। मानव ने अपने इतिहास में सदैव ही तुलना योग्य उदाहरणों को खोजा है। यह भी एक बहुत प्रसिद्ध उदाहरण से समझा जा सकता है। इसका विवेचन जर्मनी के प्रमुख समाजशास्त्री मैक्स वेबर (Max Weber) ने किया है।

## 11.2 दैनिक जीवन में तुलनाएं

आजकल जब भी रेडियो या टेलीविज़न चालू कीजिए, पहले जो बातें सामने आती हैं वे हैं दंत मंजन, कपड़े के आकार-प्रकार, साइकिल व मोटरों के टायर, चाय-कॉफ़ी के नए-नए पैकिटं। सबके सब श्रोताओं व दर्शकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं - चाहते हैं कि हम लोग इन विभिन्न सामग्रियों को देखें-परखें, और किसी विशेष मार्क या ब्रांड के पक्ष में अपनी राय का पलड़ा झुकाएँ। किसी भी राजनैतिक चुनाव की सरगरमी में एक उम्मीदवार की भी यही इच्छा होती है कि उसकी ओर ही मतदाता का झुकाव हो, या प्रमुख पार्टी की ओर। फिर हर नौकरी के साक्षात्कार में भी यह सवाल होता है और हाँ, क्रिकेट का शौक़ हो, तो यह सवाल होता है कि बोलिंग शुरू करने में कौन किसका साथ देगा या पहले कौन बल्ला उठाएगा। कभी यह सवाल पूछा जाता था कि गावस्कर का साथ देने कौन-कौन व्यक्ति आ सकते हैं। कभी श्रीकांत, अरुण लाल, रवि शास्त्री, नवजोत सिद्धू में से, काफ़ी पहले चेतन चौहान भी इस पंक्ति में थे। ऐसे में यह समझिए कि तुलना करना, यह देखना कि किसका पलड़ा भारी उतरता है - एक ऐसा काम है जिससे कुछ विकल्पों में से किसी एक को चुनने का काम, या निर्णय करने की क्रिया प्रारम्भ होती है। पर अब एक क्षण ठहरिए। देखिए हमने यह तो नहीं कहा कि कपिल या गावस्कर की तुलना अन्य पांच खिलाड़ियों से कीजिए। ऐसा क्यों? सोचिए। क्या यह माना जा सकता है कि कपिल की तुलना इन गेंदबाज़ों से की जा सकती है? या फिर अगर मुक़ाबला करना ही हो तो न्यूज़ीलैंड के रिचर्ड हैडली से कीजिए, पाकिस्तान के इमरान से, या इंग्लैंड के ईअन बॉथम से। शायद गावस्कर की तुलना समकालीन खिलाड़ियों से न की जा सकती हो। तो हमें भारत में विजय मर्चेंट तक या इंग्लैंड के जैक हॉब्स, या ऑस्ट्रेलिया के सिड बार्न्स, अथवा कुछ सीमा तक इंग्लैंड के बॉयकॉट तक जाना होगा। तो इन उदाहरणों से अब हम विवेचन की ओर बढ़ें। अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि

अ) कुछ वस्तुएं, स्थितियाँ, या सामाजिक स्थितियाँ इस तरह की हैं कि उनकी तुलना करना सार्थक है।

ब) कुछ स्थितियाँ ऐसी हैं जिनमें तुलना करने का कोई अर्थ नहीं है।

चर्चा के इसी बिन्दु को आगे बढ़ाते हुए अब बोध प्रश्न 1 को पूरा करने का समय आ गया है।

**बोध प्रश्न 1**

i) अब आपके सामने कुछ नई स्थितियाँ रखी जा रही हैं। आप सोचिए कि क्या इनमें तुलना करना सार्थक है? सही कोष्ठ पर चिन्ह लगाइये।

| | | |
|---|---|---|
| अ) उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश | सार्थक | निरर्थक |
| ब) उत्तर प्रदेश और मणिपुर | सार्थक | निरर्थक |
| स) मणिपुर और गोवा | सार्थक | निरर्थक |
| द) लखनऊ व जयपुर | सार्थक | निरर्थक |
| इ) पटना व दिल्ली | सार्थक | निरर्थक |
| फ) राजा भोज व गंगू तेली | सार्थक | निरर्थक |

आशा है कि आपने सभी उत्तर ठीक लिखे हैं। तो अब थोड़ा ठहरिए। चाय पीजिए, या कम से कम पानी ही सही।

बस आपके भरोसे के लिए इतना ही संकेत है कि इन छः बिंदुओं में तीन की तुलना सार्थक है।

## 11.3 तीन प्रकार की तुलनाएं

अब यह समझा जाए कि तुलना करने से क्या मिलता है। पहली बात तो यह है कि तुलना से सामाजिक तथ्यों का वर्गीकरण करना सीखा जाता है अर्थात् किस सीमा तक के तथ्यों को एक सांस में बोला जा सकता है। बात कुछ ऐसी ही है कि जब साधारण बोलचाल की भाषा में लोग कहते हैं गधे घोड़े में तो अंतर करना ही चाहिए, राजा भोज व गंगू तेली में भी, तो स्पष्ट हो जाता है कि ये तथ्य एक दूसरे के इतने निकट नहीं कि उनकी तुलना की जाए। जो तथ्य एक दूसरे के निकट हैं उन्हें एक श्रेणी में रखा जा सकता है। अब यहीं देखिए कि परम्परागत जाति व्यवस्था में पुरोहित से बढ़ई तथा तेली की दूरी इतनी अधिक है कि उनकी तुलना करना सार्थक नहीं है। दूसरी ओर पंचब्रह्म समूह की जातियाँ हैं - बढ़ई, लुहार, ठठेरे इत्यादि जो एक दूसरे के पर्याप्त निकट हैं कि उनकी प्रारंभिक समानता उन्हें एक श्रेणी में ला सकती है। अब देखिए, कहावत है कि घोड़े पर रईस बैठता है या सईस। फिर भी रईस तो मालिक है, और सईस नौकर है और उनमें तुलना तो बहुत दूर की बात है। आजकल का रईस मोटर गाड़ी रखता है तो सईस ड्राइवरी करता है। ग्रामीण प्रदेशों में एक शब्द है "जोड़ीदार"। पूछा जाता है, या कहा जाता है कि "यह आपका जोड़ीदार है"। अर्थ है उसके लक्षण आपके समान हैं। अब या तो आप दोनों की बुद्धि समान है, या उन दोनों की नासमझी एक सी है। और अगर कहीं दंगल या कुश्ती की बात है तो उनमें यह प्रतियोगिता कराना उचित है। वैसे आजकल भी मुक्केबाज़ी, कुश्ती व भार उठाने की प्रतियोगिताओं में तोल या वज़न के हिसाब से पहले प्रतियोगियों का वर्गीकरण किया जाता है और फिर अपने वर्ग में ही मुक़ाबला होता है। समाज के संदर्भ में इस प्रकार के वर्गीकरण सामाजिक स्तर को समझने के लिए कभी जाति के आधार पर, कभी वर्ग के आधार पर होते हैं, शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर प्राथमिक, हाई स्कूल, डिग्री इत्यादि, आय के आधार पर टैक्स व स्तर दोनों को आंकने के लिए किये गये हैं। इन उदाहरणों की संख्या तो इतनी अधिक हो सकती है कि सामान्य सिद्धांतों के प्रश्न पत्र में लगभग हर अध्याय में वे मिल जायेंगे।

अब थोड़ा सा इस बात पर भी विचार करें कि कहाँ विभिन्नताएँ अपना विशेष अर्थ खो देती हैं। कहने को तो दो तीन वस्तुओं में अंतर किया जाता है, पर लगती वे एक सी ही हैं। कोई कहता है "एक साँप-नाथ है, दूसरा नाग-नाथ या कभी कोई कहता है "एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं", अर्थात समानता ही समानता है, अंतर कोई विशेष नहीं, या फिर पंजाब व दिल्ली में मुहावरा प्रचलित है "कोई फ़र्क नहीं पड़ता जी"। जब वास्तव में ऐसा हो तो मान लेना चाहिए ऐसे स्थानों पर अंतर या फ़र्क देखना केवल बाल की खाल निकालने वाली बात है। एक सज्जन दावत पर बैठे। दाल-सब्ज़ियाँ दस कटोरियों में परोसी गईं। मेहमान का स्वागत जो हो रहा था और घर वाले की प्रतिष्ठा का सूचक कटोरियों की संख्या थी। पर मेहमान उतना मिर्च मसाला खाने के आदी न थे। उन्हें हर कटोरी से एक सा ही स्वाद आता, मिर्च मसाले का, सब्ज़ी व दाल का अंतर भी लुप्त हो गया। अब जिसे शास्त्रीय संगीत न समझ में आता हो, उसे राग भैरवी या मालकोस में क्या अंतर लगेगा। बाद के दो उदाहरण तो ऐसे हैं जिनमें व्यक्ति विशेष के स्वाद या ज्ञान की भूमिका प्रमुख रही, परन्तु इसके पूर्व के उदाहरण ज्ञान की सामान्य स्थिति दर्शाते हैं। समाज में पारस्परिक संबंधों का निर्माण समान भाषा से होता है, अतः पहले के उदाहरण अधिक उपयुक्त हैं। इनमें यह स्पष्ट होगा कि हर छोटे अंतर का महत्व नहीं है और उस पर तुलनात्मक दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक भी नहीं।

(अ) जहाँ अंतर बहुत बड़ा हो, वहाँ तथ्य तुलना से परे हैं।

(ब) जहाँ अंतर बहुत कम हो, वहाँ तथ्य तुलना योग्य ही नहीं है।

(स) जहाँ तथ्य श्रेणी में रखे जा सकते हों, और उनमें आपस का अंतर महत्वपूर्ण हो, वहाँ तुलनात्मक पद्धति सबसे सक्षम पद्धति है।

## 11.4 दर्खाइम द्वारा की गई तुलनाओं के प्रकार

वैज्ञानिक अध्ययनों में सार्थक अंतर को समझने का बहुत महत्व है। दर्खाइम के अनुसार निम्नलिखित प्रकार की तुलनाएं सार्थक रूप से की जा सकती है।

(अ) एक ही समाज में विभिन्न भागों के तथ्य में पाए जाने वाले अंतरों की तुलना

(ब) एक समय पर विभिन्न समाजों के एक तथ्य में पाए जाने वाले अंतरों की तुलना

(स) अपने विकास के स्तर के अनुसार, विभिन्न समयों पर विभिन्न समाजों में एक तथ्य में पाए जाने वाले अंतरों की तुलना।

आइए, इन तीनों प्रकारों की तुलना को अलग-अलग समझें।

### 11.4.1 एक ही समाज की विभिन्नताओं की तुलना

हम समाज में घटित होने वाले तथ्यों को देखें। पता चलेगा कि वे तथ्य सारे समाज में अलग-अलग अनुपात में फैले हुए हैं। अब साक्षरता को ही लें। वर्ष 2003-2004 के दौरान भारत में इंटरनैट सुविधा लेने वालों की संख्या चौवालीस लाख थी। वर्ष 2001 में तीस लाख थी जबकि मार्च, 1999 में यह संख्या मात्र अट्ठाइस हज़ार थी। ध्यान रहे कि छिहत्तर प्रतिशत इंटरनैट उपभोक्ता पुरूष हैं जबकि चौबीस प्रतिशत महिला हैं।

यहाँ हम लोगों ने एक सामाजिक तथ्य, इंटरनैट का प्रसार अन्य वर्षों से जैसे 2003, 2001, 1999 वर्षों में व महिला-पुरुष वर्गों में देखा, या यह कहिए कि एक सामाजिक तथ्य के प्रसार की तुलना इन दो बिंदुओं पर की। फ्रांस के समाजशास्त्री दखाईम ने एक सामाजिक तथ्य, समूह विशेष में पाई जाने वाली **आत्महत्या** की दर पर ध्यान दिया। एक वर्ष में प्रति एक लाख व्यक्तियों की जनसंख्या में जितने व्यक्ति आत्महत्या कर लेते हैं, उससे आत्महत्या की दर आँकी जाती है। उन्होंने फ्रांस में इस दर का विस्तार कहाँ कितना रहा है इन तथ्यों पर ध्यान दिया, जैसे शहरों व गांवों में, विवाहित व अविवाहित व्यक्तियों में, पुरुषों व महिलाओं में, प्रोटेस्टेंट व कैथोलिक मतावलम्बियों में। इस प्रकार के वर्णन एक घटना या तथ्य को जब एक ही देश के विभिन्न भागों में देखते हैं, तब हम पहले प्रकार की तुलनात्मक पद्धति अपनाते हैं। इनमें तथ्य एक है, देश एक है, उसके विभिन्न भागों में उसका विस्तार अलग-अलग समूहों में भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार की भिन्नता समाजशास्त्री को आकर्षित करती है।

तुलना के उपरोक्त प्रकार को भली-भाँति समझने के बाद सोचिये और करिये 1 को पूरा करें।

**सोचिए और करिए 1**

भारत में साक्षरता दर का उदाहरण दीजिए, जिसे भारत के विभिन्न भागों में समझा जा सके तथा महिला-पुरुष से जुड़ी दर की जानकारी भी दीजिए। यदि संभव हो तो अपने उदाहरण की तुलना अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों के उदाहरणों से कीजिए।

### 11.4.2 विभिन्न समाज - एक समय पर

यूरोप जैसे महाद्वीप में कई देश हैं। पश्चिमी यूरोप के सभी देशों का क्षेत्रफल मिला कर भारत के बराबर होता है। वहाँ एक देश के नागरिक सुगमता से एक दूसरे के यहाँ आते जाते हैं। कई बार तो गर्मी की छुट्टियाँ मनाने भी अन्य देश चले जाते हैं। पश्चिमी यूरोप के देशों में आपस में कुछ बड़ी-बड़ी समानताएँ हैं। इसी प्रकार पूर्वी यूरोप में भी। अमरीकी महाद्वीप के मध्यवर्ती भाग में कई छोटे-छोटे देशों में भी आपस में कई समानताएँ हैं। जब देशों में मोटे तौर पर समानताएँ हो, तब उनमें व्याप्त विभिन्नताओं की तुलना की जा सकती है। इस प्रकार का अध्ययन दर्खाइम ने पश्चिमी यूरोप के विभिन्न देशों में आत्महत्या की दर के आंकड़ों को एक साथ रख कर किया।

दर्खाइम ने प्रोटेस्टेंट मत मानने वाले जर्मनी तथा कैथलिक मत मानने वाले स्पेन में आत्महत्या दर की तुलना की तथा पाया कि स्पेन की तुलना में जर्मनी में आत्महत्या दर अधिक है। इस प्रकार यह बात सामने आई कि कैथलिक मत मानने वालों की तुलना में प्रोटेस्टेंट मत मानने वाले आत्महत्या के अधिक शिकार होते हैं। यहूदियों में और भी कम आत्महत्या दर है। इस तरह जब इस तरह की तुलना करने का अर्थ है कि तुलना एक नये स्तर पर की जा रही है। दर्खाइम ने एक की बजाय दो बातों में भिन्नता (variation) का अध्ययन किया। उसने आत्महत्या दर को लिया और धर्मों को लिया। यदि एक में बदलाव आता है तो दूसरे में भी ऐसा होगा। जब दो चीज़ों में बदलाव साथ-साथ हो तो उसे सहगामी भिन्नताएं कहते हैं। उदाहरणार्थ, खेल और अनुशासन साथ-साथ जाते हैं। इस तरह तुलनात्मक प्रणाली में निम्नलिखित शामिल हैं

i) एक प्रघटना में कितने प्रकारांतर (variation) हैं?

ii) जिन भिन्नताओं का परीक्षा हो रहा है, उनके अतिरिक्त और कौन सी भिन्नताएं दृष्टिगत होती हैं?

इसका अर्थ है कि तुलनात्मक प्रणाली से प्रयास उसे कहते हैं जिसमें परीक्षा की जाने वाली प्रघटना का संभावित कारण ढूँढ़ा जाये।

इस प्रक्रिया में कुछ समस्या आ सकती है। संभव है कि एक ही समय में दो से भी अधिक चीज़ें बदल जायें। इस बात को चित्र में इस प्रकार देखा जा सकता है। (देखें चित्र 11.1)।

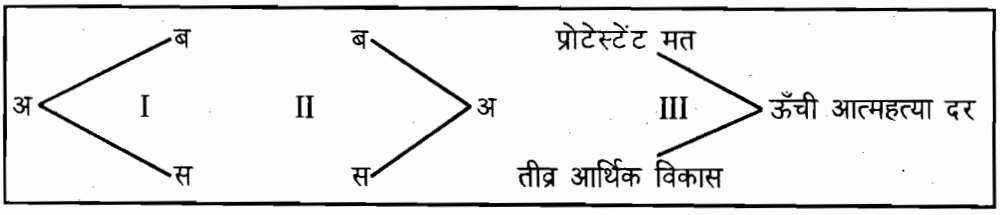


**चित्र 11.1: प्रकारांतरों के रूप**

अ में बदलाव से ब तथा स में भी बदलाव आता है देखें 11.1 का I। संभव है कि आगे द तथा इ (इन्हें चित्र में नहीं दिखाया गया है) में भी बदलाव हो। दूसरी ओर, ब तथा स से भी अ में बदलाव आ सकता है तब क्या यह कहना संभव है कि ब और स ने अ में परिवर्तन पैदा किया, देखें चित्र 11.1 का II। इसी बात को दर्खाइम के उदाहरण में फ़िट किया जाये तो जैसा चित्र 11.1 के III में दिया है, प्रोटस्टेंट मत तथा आर्थिक विकास की तीव्र गति से आत्महत्या दर बढ़ती है। यही जर्मनी में पाया गया। दूसरी ओर स्पेन में कैथलिक मत के साथ धीमा आर्थिक विकास पाया जाता है और वहाँ आत्महत्या दर कम है। इसका अर्थ क्या निकला? क्या यह कहा जा सकता है कि धार्मिक अंतर महत्त्वपूर्ण है या हम कहें कि आर्थिक विकास का स्तर महत्त्वपूर्ण है? दर्खाइम ने इस प्रश्न का एक हल दिया। उसने एक ही देश में विभिन्न मत मानने वालों तथा आर्थिक विकास के समान स्तर वालों में आत्महत्या दर का पता लगाया।

तो उसके अध्ययन का प्रारूप चित्र 11.2 की भाँति बना।

| आर्थिक विकास का स्तर | धार्मिक विश्वास या मत | आत्महत्या दर |
|---|---|---|
| i) उँचा | प्रोटेस्टेंट | उँची |
| ii) उँचा | कैथलिक | कम |

**चित्र 11.2: आत्महत्या दर पर दर्खाइम के अध्ययन का प्रारूप**

उपरोक्त प्रारूप के माध्यम से यह कहना संभव है कि आत्महत्या दर में बदलाव धार्मिक मत में बदलाव के अनुरूप होता है। इसी को सहगामी भिन्नता (concomitant variation) कहा जाता है। हमने देखा कि इस उदाहरण में एक तत्त्व को स्थायी या नियंत्रित रखा गया अर्थात् आर्थिक विकास के स्तर को स्थायी रखकर विभिन्न धार्मिक मत मानने वालों में आत्महत्या दर का पता लगाने पर मालुम हुआ कि विभिन्न धार्मिक मतों का आत्महत्या दर पर प्रभाव पड़ता है।

बॉटोमोर (1972) ने तुलनात्मक पद्धति का दूसरा स्वरूप विभिन्न देशों में एक ही सामाजिक तथ्य के प्रसार में देखा है। इस प्रकार के अध्ययनों के अन्य उदाहरण हैं, औद्योगिक देशों में सामाजिक गतिशीलता (बैंडिक्स व लिपसैट 1966), भारत, श्रीलंका, पाकिस्तान व नेपाल में जाति व्यवस्था (एडमंड लीच)। यह समझने की कोशिश बराबर रखिए कि जब सभी देशों के समूह एक साथ रखे जा सकते हैं, तभी उनकी विभिन्नता का कोई अर्थ होता है। भूमध्य सागरीय देश, औद्योगिक देश, भारतीय उपमहाद्वीप के देश तीन प्रकार के समूह हैं। ये तीन समूह आपस में तुलना योग्य नहीं है। दूसरी ओर, अपने-अपने समूह में ये सभी देश आपस में तुलना योग्य है।

### 11.4.3 विभिन्न समाज - विभिन्न समय पर

कई बार कुछ व्यक्ति समान स्तरीय देशों के स्थान पर विभिन्न प्रकार के देशों की तुलना कर बैठते हैं। इसमें बड़ी कठिनाई है। अगर हम आर्थिक व गणतंत्रीय व्यवस्थाओं के विभिन्न स्वरूपों को देखें, तब पता चलता है कि कुछ देश बहुत विकसित हैं, कुछ विकासशील हैं, कुछ अल्पविकसित हैं। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि जिसे संयुक्त राष्ट्र संघ ने स्वीकार कर लिया है, ऐसा वर्गीकरण मान्य है। फिर प्रश्न है कि क्या आज का एशिया व अफ़्रीका आज के यूरोप व उत्तरी अमरीका के सामने खड़ा हो सकता है? क्या प्रथम दो महाद्वीपों की इक्कीसवीं सदी के आरंभ में तुलना की भी जा सकती है? इसका एक उत्तर यह है कि ऐसी तुलना करना बहुत ईमानदारी की बात नहीं होगी। दर्खाइम का कहना है कि एक देश का बाल्यकाल दूसरे की युवा या प्रौढ़ावस्था के सम्मुख रख कर नहीं आंका जा सकता। यह अधिक उपयुक्त होगा कि दोनों के बाल्यकालों की तुलना की जाये। या यह कहिए कि दोनों की युवावस्थाओं की तुलना हो। इसका एक उदाहरण किंग्सले डेविस (1969) द्वारा विश्व में नगरीकरण के अध्ययन में मिलता है। उन्होंने विश्व भर में नगरीकरण की दर और विकास के आंकड़े सामने रखे, फिर कहा कि देशों में नगरीकरण के प्रभावों की तुलना उस समय के लिए की जाए जब उन देशों में नगरीय जीवन का प्रतिशत समान था। मान लीजिए भारत व जापान में शहरी जीवन का प्रभाव देखना है। भारत में अगर बीस प्रतिशत लोग 20,000 से अधिक जनसंख्या वाले स्थानों में रहते हैं और यह स्थिति जापान मे अस्सी वर्ष पहले थी, तो आज का भारत अस्सी वर्ष के पूर्व के जापान की तुलना में रखा जा सकता है। यहाँ हमने पद्धति की बात की है, यह एक उदाहरण मात्र है। इसे भारत व जापान पर टीका के रूप में न देखा जाए। इस पद्धति का मूल बिंदु है कि विकास की समान दर पर विभिन्न देशों में तुलना की जाए। वर्तमान में यदि दो देश विभिन्न विकास दरों पर हैं, तब तुलना में कोई मज़बूती नहीं।

आत्महत्या पर दखाईम का अध्ययन कई कारणों से महत्वपूर्ण है। वर्ष 1897 में प्रकाशित यह पुस्तक समाज विज्ञान को नई दिशा देने वाले ग्रंथों में गिनी जाती है। इसमें आत्महत्या की घटती बढ़ती दरों को अधिक से अधिक वैज्ञानिक ढंग से समझने का प्रयत्न किया गया है। **प्रोटेस्टेंट** व **कैथोलिक** मतावलम्बियों के आंकड़ों से पता चला कि इनकी आत्महत्या की दरों में अंतर इतना महत्वपूर्ण है कि उस पर विचार करना आवश्यक है। कैथोलिक लोग परम्परावादी हैं, उनका जीवन धार्मिक बंधनों से अधिक संचालित है, वे अपने धर्म व समाज से अधिक एकनिष्ठ हैं और इसी का प्रभाव है कि वे आत्महत्या द्वारा अपने को समाज से अलग कर लेने के लिये कम प्रेरित होते हैं। दूसरी ओर अपेक्षाकृत प्रोटेस्टेंट मतावलम्बी कैथोलिक धर्म का विरोध करते-करते धर्म व उसके कर्म-काण्डों से अपने को विमुक्त कर लेते हैं, समाज में उनकी समरूपता कम होती है और व्यक्तिगत प्रश्नों को वे अधिक महत्व देते हैं। इस प्रकार वे समाज से विमुख भी जल्दी हो जाते हैं और उनमें आत्महत्या की दर अधिक हो जाती है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन में कई और बिंदु भी आए हैं। यह तो हुआ कि किसी समाज में जैसे-जैसे प्रोटेस्टेंट समर्थकों का प्रतिशत बढ़ता है, आत्महत्या की दर भी बढ़ती है। दर्खाइम ने इसे समानान्तर परिवर्तन या साथ-साथ होने वाले परिवर्तनों की संज्ञा दी है। समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करने में प्रत्यक्ष रूप से "**प्रयोग**" या एक्सपेरिमेंट नहीं किए जा सकते, पर अप्रत्यक्ष रूप से यह काम हो सकता है। साथ-साथ होने वाले परिवर्तनों को देख पाना इसी दिशा में बड़ा कदम है। इस तरह ऐसे अध्ययन को और भी सशक्त बनाया जा सकता है। यदि दो घटनाएं एक साथ तो घटित हों, पर उसका कारण कहीं और हो, तो ऐसी स्थिति में तीसरी शक्ति का प्रभाव नियमित करके देखा जाता है। आइए देखें दखाईम ने ऐसा कैसे किया। परंतु पहले बोध प्रश्न 2 को पूरा कर लें।

**बोध प्रश्न 2**

i) "तुलनात्मक पद्धति केवल तुलना करना ही नहीं है"। छः पंक्तियों में इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) दर्खाइम द्वारा प्रतिपादित तुलनाओं के प्रकार तीन पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

## 11.5 अप्रत्यक्ष प्रयोग के रूप में तुलनाएं (Indirect Experiment)

यूरोप में स्पेन एक कैथोलिक देश है। जर्मनी प्रोटेस्टेंट है। स्पेन में आत्महतया की दर कम है, जर्मनी में अधिक। तो बात स्पष्ट है जहाँ प्रोटेस्टेंट अधिक हैं वहाँ आत्महत्या की दर भी अधिक है। क्या इससे प्रमाणित हुआ कि एक तथ्य दूसरे का नियामक है, उसे प्रभावित करता है? थोड़ा और सोचिए। क्या कोई तीसरा तथ्य तो बीच में नहीं आ रहा? आर्थिक स्थिति देखें तो पता चलता है कि स्पेन कम विकसित देश है, जर्मनी अधिक विकसित है। तो यह भी कहा जा सकता है कि आर्थिक स्थिति से अधिक विकसित देश में आत्महत्या की दर अधिक होती हैं। इस तर्क का क्या

कोई उत्तर है? हो सकता है। और दर्खाइम ने इस पर विचार भी किया। उसने कहा हम एक ही छोटे देश के दो भाग लें। एक प्रोटेस्टेंट व दूसरा कैथोलिक, तो अब आर्थिक स्तर का तत्व तो समाज हो गया क्योंकि एक ही देश है। अंतर रहा धर्म का। अब भी अगर आत्महत्या की दर में अंतर आता है, तो इसे एक अन्य अंतर ही समझा जा सकता है तथा समानता नहीं। तो पता चला कि धार्मिक अंतर अब भी आत्महत्या की दर के साथ चल रहा था अर्थात् प्रोटेस्टेंट क्षेत्र में आत्महत्या दर अधिक थी। इस प्रकार फ्रांस के समाजशास्त्री दर्खाइम ने समाज का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने की दिशा में महत्वपूर्ण क़दम उठाए। उसने निम्नलिखित प्रकार से अध्ययन किया।

अ) पहले दो सामाजिक तथ्यों को सामने रखकर उनमें साथ-साथ होने वाले परिवर्तनों को खोजा,

ब) फिर तीसरे प्रकार के तथ्य को भी पहचाना,

स) तत्पश्चात तीसरे प्रकार के तथ्य को समान रखा और फिर पहले दो के सम्बन्धों को देखा,

द) उनके अध्ययन में पहले दो के संबंध पुष्ट हुए।

इस प्रकार दर्खाइम ने वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग किया।

अब सोचने की बात यह है कि क्या तीसरे बिंदु को हम जब चाहें तब सामने लाया जा सकता है? बात कठिन है। मान लीजिए कि एक देश में दो मतावलम्बी पर्याप्त संख्या में न मिलें। यह तो नहीं किया जा सकता कि दोनों मतावलम्बियों को एक ही देश में इकट्ठा करें और उनसे कहें कि हमारे अध्ययन की प्रामणिकता की ख़ातिर आप लोग पास-पास बस जाइए। अगर ऐसा किया जा सकता तो हमारा अध्ययन तो प्रामाणिक हो जाता, पर हमारा खजाना मुआवजा देते देते खाली हो जाता और लोगों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आघात अलग से पहुँचता। लोग कहते "आप अपना विज्ञान अपने पास रखिए, हमें अमन चैन से रहने दीजिए। अब देखिए कि व्यक्तियों के स्थान पर हमें तीन निर्जीव रसायनों का मिश्रण इस प्रकार करना होता तो क्या कठिनाई थी? कोई नहीं, रसायन शास्त्र की प्रयोगशाला में टेस्ट ट्यूब में रसायन डाला जैसे ज़िंक को सल्फ़्यूरिक एसिड में डाला, कुछ हलचल हुई और ज़िंक ऑक्साईड व सल्फ़र बन गए। प्राकृतिक विज्ञानों में अपने प्रयोग करने के लिए तीसरी वस्तु (शक्ति) को जब विद्यार्थी चाहें टैस्ट ट्यूब में डालें। सामाजिक विज्ञान में इंतज़ार कीजिए, या खोज करते रहिए कि ऐसी अवस्था कब और कहां पैदा हो या पता चले जिसमें तीसरी शक्ति पर नियंत्रण करके उसके प्रभाव को निर्मूल किया जाये। प्राकृतिक विज्ञान में जो काम सीधे तरीक़े से हो सकता है, सामाजिक अध्ययन में घुमा फिरा कर करना होता है। पहला काम प्रत्यक्ष रूप से होता है, दूसरा-अप्रत्यक्ष रूप से। इसलिए जो तुलनाएं दर्खाइम ने तीसरी शक्ति को सामने रखकर (नियंत्रित रखकर) की, उन्हें स्वयम् उस लेखक ने "अप्रत्यक्ष प्रयोग" कहा। प्रयोग का मूल विचार तो बना रहा, पर पद्धति अप्रत्यक्ष रही और दो परिवर्तनों के बीच साम्य बना रहा, तो तुलना भी बनी रही। तुलनाओं को इस प्रकार करना कि मोटे रूप में जहाँ समानता हो, एक सा आर्थिक विकास हो, और जहाँ धर्म या मत भिन्न हों, और यह भिन्नता किसी और भिन्नता (आत्महत्या की दर) से जुड़ी हो तो सब तत्त्व तुलनात्मक पद्धति को सक्षम बनाते हैं। सक्षम इस अर्थ में कि इससे दो बातों का प्रभावी संबंध स्पष्ट होता है। एक घटना क्रम दूसरे घटना क्रम को प्रभावित करता है, कुछ अधिक भरोसे से ऐसा कहा जा सकता है। इसीलिए जिन व्यक्तियों ने सामाजिक गतिविधियों को समझाने की कोशिश की है, उन्होंने एक का दूसरे पर प्रभाव समझाने का रास्ता दिया है। ऐसे लोगों में दर्खाइम का विशेष स्थान है, और पद्धति जो उसने बताई व जिसकी संभावना दर्शाई वह तुलनात्मक पद्धति या अप्रत्यक्ष प्रयोग कही गई है। समाजशास्त्री की सफलता तथा देन पद्धति के प्रतिपादन में है, फिर उसका अधिक व्यापक प्रयोग कई लोग कई जगह करते हैं। जी हाँ, जाने-अनजाने रूप से हम और आप भी।

फिर से दुहराइए कि अभी तक हमने

i) दैनिक जीवन की घटनाओं में तुलना करने की क्रियाएं पहचानीं (सब्ज़ी खरीदते समय, साड़ियाँ पसन्द करते समय)

ii) जीवन में प्रयुक्त कुछ मुहावरों को समझा। जहाँ तुलना करना आवश्यक नहीं, क्योंकि बात बहुत छोटी है, जहाँ तुलना होती ही नहीं क्योंकि अंतर बहुत बड़े हैं अर्थात् यह जाना कि किन सीमाओं में तुलना करना सार्थक है।

iii) यह भी देखा कि समाज के क्षेत्र में एक लेखक ने इस पद्धति को इस तरह आगे बढ़ाया कि उसका उपयोग देश के अंदर, विभिन्न देशों में एक समय पर, और विभिन्न देशों में विभिन्न समयों पर सम्भव हुआ। इस समाजशास्त्री का नाम है दर्खाइम।

iv) अंत में तुलनात्मक पद्धति को एक सामाजिक गतिविधि द्वारा दूसरी को प्रभावित करने की क्षमता के रूप में भी समझा।

उपरोक्त बिंदुओं को समझने के बाद, आइए सोचिये और करिये 2 को पूरा करें।

**सोचिये और करिए 2**

निम्नलिखित तथ्यों के तीन-तीन उदाहरण दीजिए।

(अ) जहाँ तुलनाएँ सीमा पार कर जाती हैं।

(ब) जहाँ विभिन्नताएँ सार्थक नहीं है।

यदि संभव हो तो अपने उदाहरण की तुलना अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों के उदाहरणों से कीजिए।

अब हम एक और प्रसिद्ध उदाहरण की ओर ध्यान दें। यह अध्ययन मैक्स वेबर (Max Weber) द्वारा किया गया। फिर से याद दिला दें कि ईसाई धर्म में प्रोटेस्टेंट व कैथोलिक दो प्रमुख संप्रदाय हैं। प्रमुख प्रोटेस्टेंट देश हैं - जर्मनी, इंग्लैंड व संयुक्त राज्य अमरीका। कैथोलिक देश हैं - इटली, फ्रांस, स्पेन, मध्य तथा दक्षिणी अमरीका के देश। इन दो प्रकार के देशों में कुछ अंतर है। प्रथम प्रकार के देशों में उन्नीसवीं शताब्दी में व्यापक रूप से पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का प्रसार हुआ। इसके विकास के लिए व्यक्तिगत साहस, कठोर मेहनत, काम में निष्ठा व भावी लाभ प्राप्त करने की लालसा एवं निजी गुणों का उस हेतु उपयोग एक प्रकार से ईश्वर के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने का माध्यम सहायक माना गया। वे लक्षण प्रोटेस्टेंट मत से प्रेरित होते हैं, कैथोलिक से नहीं। मैक्स वेबर ने देखा कि जहां प्रोटेस्टेंट मान्यतायें हैं वहां आर्थिक विकास व उसके पूँजीवादी रूप का विकास अधिक हुआ है, और इसके विपरीत जहां इन मान्यताओं का अभाव है वहां पूँजीवादी विकास भी कम है। इस प्रकार उसने पूँजीवादी विकास के आधिक्य व कमी का स्पष्टीकरण धार्मिक मान्यताओं में प्रोटेस्टेंट सिद्धांतों की उपस्थिति व अनुपस्थिति में देखा। आइये एक चित्र (11.3) द्वारा इसे व्यक्त करें।

| धार्मिक मान्यता प्रोटेस्टेंट मत | पूँजीवादी विकास की व्यवस्था का उदय | उदाहरण |
|---|---|---|
| उपस्थित | तीव्र गति से | इंग्लैंड, जर्मनी उत्तर पूर्वी अमरीका |
| अनुपस्थित | विलंब से | फ्रांस, स्पेन, मध्य व दक्षिण अमरीका |

**चित्र 11.3: विभिन्न मतों में पूँजीवाद का उदय**

मैक्स वेबर ने पहले यह बात ईसाई मतों के अंतर द्वारा समझाई और बाद में प्रोटेस्टेंट मत की अनुपस्थिति की श्रेणी में शेष ग़ैर-ईसाई धर्मों की मान्यताओं की भी चर्चा की और उस श्रेणी में इस्लाम, कन्फ़ूसियस, बौद्ध व हिन्दू धर्मों को भी लिया। यह स्पष्ट है कि गीता का "कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन" सिद्धांत उस प्रोटेस्टेंट मत से मेल नहीं खाता जिसमें फल की प्राप्ति ही कर्म करने का मुख्य आकर्षण है। इस अध्याय में वेबर के इन सिद्धांतों को पुष्ट या अपुष्ट करने का काम नहीं किया जा रहा है। यहाँ केवल इन बातों पर ध्यान दिया गया है कि

i) वेबर ने एक सामाजिक गतिविधि (पूँजीवाद का उदय) की ओर ध्यान दिया व विभिन्न देशों के संदर्भ में उसकी तुलना की।

ii) उसने दूसरी सामाजिक गतिविधि (प्रोटेस्टेंट मान्यता) की उपस्थिति या अधिक सबल रूप में जनसंख्या में व्याप्त होने पर ध्यान दिया और उसकी तुलना की।

iii) पहली गतिविधि की उपस्थिति या द्रुतगामी गति से आने को दूसरी गतिविधि की उपस्थिति या आधिक्य से सम्बद्ध कर स्पष्ट रूप से समझा।

iv) इन उदाहरणों को बटोरने का काम विश्व इतिहास में छितरी सामग्री को उक्त बिंदुओं पर संजो कर किया।

पहली तीन बातों या क़दमों के कारण यह अध्ययन विधि तुलनात्मक हुई। चौथे बिंदु के जुड़ने पर यह विधि ऐतिहासिक भी हुई। अत: सभी को मिलाकर ऐतिहासिक तुलनात्मक विधि बन गई। इसमें भी प्रयोगशाला के बाहर, ऐतिहासिक विवेचन में समुचित सामग्री की तलाश की गई, यह भी अप्रत्यक्ष प्रयोग रहा। ऐतिहासिक इसलिए भी कि इतिहास में क्षण विशेष (काल) में स्थान विशेष (देश) में यह घटना (पूँजीवाद का उदय) हुई।

आइए अब एक और प्रयोग की चर्चा करें जिसे दर्खाइम ने केवल एक अध्ययन के माध्यम से किया। इसमें एक अध्ययन के आधार पर ही समाज की गतिविधि विशेष के मूलभूत रूप को समझने का प्रयास किया गया।

परंतु इस प्रयोग के बारे में पढ़ना शुरू करने से पहले बोध प्रश्न 3 को पूरा करें।

**बोध प्रश्न 3**

i) दर्खाइम ने कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट मतावलम्बियों में आत्महत्या की दर में क्या अंतर पाया? दो पंक्तियों में अपना उत्तर लिखिए।

.....

.....

ii) मैक्स वेबर ने प्रोटेस्टेंट मान्यता तथा पूँजीवाद के अध्ययन में किस प्रकार की तुलनात्मक पद्धति का उपयोग किया? एक पंक्ति में उत्तर लिखिए।

.....

## 11.6 एक अध्ययन द्वारा प्रयोग

सामान्य रूप से प्रयोग की विधि इस प्रकार है कि दो समूहों के अध्ययन में एक में परिवर्तन किया जाए, दूसरे को यथावत रखा जाए। फिर देखा जाए कि कुछ समय के बाद क्या हुआ? कोई परिवर्तन नहीं, तब परिवर्तन लाने वाली प्रक्रिया का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यदि परिस्थिति बदली तो इस भाँति पता चला कि नई स्थिति से क्या प्रभाव पड़ता है। एक उदाहरण से इस बात को समझिए।

एक कक्षा में दो समूह बनाए जाएँ, एक में पुरानी किताब से पढ़ाई की जाए, दूसरे में नई किताब से। फिर दोनों समूहों की परीक्षा ली जाए। अगर परीक्षा में दोनों समूहों के अंक समान रहे, तो कहा जाएगा कि नई किताब निष्फल रही। अगर दूसरे समूह का परीक्षाफल, पहले वाले समूह से अधिक अच्छा रहे, तब कहा जाएगा कि नई किताब ने अपना असर दिखाया। "प्रयोग" द्वारा नई किताब एक समूह में चालू की गई थी और "कंट्रोल" समूह वह हुआ जिसे यथावत रखा गया था। इस प्रकार प्रयोग में दो समूहों- (i) प्रायोगिक समूह (experimental group) व (ii) यथावत रखने वाले समूह (control group) का अध्ययन किया जाता है। तभी प्रामाणिक नतीजे प्राप्त होते हैं। यह विज्ञान की सामान्य पद्धति है। अब सवाल है क्या एक ही समूह के अध्ययन से भी "प्रयोग" जैसे नतीजे निकल सकते हैं?

दर्खाइम ने इस प्रश्न के उत्तर को परिस्थिति विशेष में खोजा। दर्खाइम का कहना है कि एक बढ़िया प्रामाणिक अध्ययन भी निर्णायक हो सकता है। कैसे? इसका उत्तर उसने धर्म के मूल तत्व को समझने में खोजा।

प्रश्न है मूल तत्व हम कहाँ देखें? पाँच, छह धर्मों की तुलना करके उनमें समाज तत्व ढूँढना तो इस कार्य में सहायक नहीं होगा, क्योंकि भिन्न धर्मों ने अपने विकास में कई बातों का समावेश कर लिया है और कई बाहरी चीज़ें धर्म से जुड़ गई हैं। उदाहरण के लिए कई "अनुष्ठान" धर्म का भाग बन गए हैं, ईश्वर के अस्तित्व को प्रतिमाओं में स्थापित कर दिया गया है, या चित्रों की या चिन्हों की पूजा होती है। और फिर बुद्ध को स्वयम् प्रतिमा के रूप में पूजा जाने लगा है। इस भाँति कई लोग कहते हैं कि धर्म का पवित्र स्वरूप तो पहले था, अब तो उसका बिगड़ा रूप सामने आता है। आज का रूप "बिगड़ा" हो सकता है, या "विकसित" भी। पर असली रूप देखना हो तो उसके उद्‌गम पर जाइए। अब देखिए न, गंगा का पवित्र जल तो गंगोत्री पर है। कुछ ऐसी ही बात दर्खाइम ने कही कि धर्म का असली रूप, उसके मूल तत्व वहाँ हैं जहाँ उसका उद्‌गम या पहला पहचान सकने वाला स्थल हो। तो प्राचीनतम धर्म ही सरलतम तथा पवित्रतम है। ऐसा मानकर एक ऐसे धर्म व उसके अनुयायियों की जीवन शैली का अध्ययन धर्म के मूल तत्व को समझने के लिए प्रामाणिक होगा। और इस भाँति एक स्थिति का अध्ययन भी "प्रयोग" की मान्यताओं को पूरा करेगा। यहाँ हमारा तर्क पूर्ण हुआ। आपकी जानकारी हेतु यह बता दें कि दर्खाइम ने ऑस्ट्रेलिया की जन-जाति (अरुंता) की जीवन शैली से धर्म का प्राथमिक रूप निर्धारित किया और उसके लक्षणों को धर्म का मूल रूप माना।

## 11.7 सारांश

इस लेख में हम ने जो भी बात समझने का प्रयास किया, उसमें मैक्स वेबर का एक और प्रसिद्ध उदाहरण जोड़कर तुलनात्मक पद्धति के सफलतम व प्रभावी रूप को स्पष्ट किया। यह पद्धति प्रारंभ में समाज-शास्त्र के दो प्रमुख स्तम्भ दर्खाइम व वेबर के योगदान से बढ़ी, अब इस पद्धति का उपयोग कई जगह होता है। कुछ उदाहरण दिए जा चुके हैं। अन्य दिए जा सकते हैं। एक बार जब पद्धति का निरूपण हो जाता है, फिर उसके व्यापक उपयोग की संभावनाएँ बहुत बढ़ जाती हैं। गतिविधियों के उन उदाहरणों के स्थान पर अन्य गतिविधियां रखी जा सकती हैं और पता चल सकता है कि क्या अधिक शिक्षित व्यक्ति अधिक प्रतिशत में वोट देते हैं? क्या कुछ समूहों में व्यापार, सैन्य संचालन, या प्रशासन के प्रति अधिक झुकाव है? जो अधिक धनवान हैं क्या अधिक बुद्धिमान भी? एक गतिविधि को दूसरी गतिविधि से सम्बद्ध करना, और एक या दो अन्य गतिविधियों को समान रख कर देख पाना तुलनात्मक दृष्टिकोण का प्रमुख आकर्षण है। बॉटोमोर (1972) का विचार है कि अगर समाजशास्त्री इन मूल लेखकों की पथ निर्देशक पद्धतियों का पूरा उपयोग करते तो आज का समाजशास्त्र कहीं आगे पहुँच गया होता।

## 11.8 शब्दावली

**आत्महत्या** — व्यक्ति द्वारा स्वयम् अपने जीवन का अन्त करना। किसी समाज में एक वर्ष में जितनी आत्महत्याएँ हुई, उनका पूर्ण जनसंख्या से विभाजन करके फलांक को 10,000 से गुणा करने से पता चलता है कि अमुक समाज में प्रतिवर्ष, प्रति दस हज़ार व्यक्तियों के अनुपात में कितनी आत्महत्याएं हुई। इन्हें आत्महत्या की दर से अंकित किया जाता है। विभिन्न समूहों व समाजों में तुलना करने के लिए आत्महत्या की दर का उपयोग किया जाता है।

**प्रयोग** — प्रमाण की विधा जिसमें सामान्यत: एक समूह यथावत रख कर दूसरे में कोई परिवर्तन करने वाला कारक डाला जाता है और फिर पुन: दोनों समूहों की तुलना की जाती है। यदि उनमें विभेद आए, तब यह विभेद उस कारक का परिणाम है। जब यह विधि खोजकर्ता स्वयम् प्रयोगशाला में दो समूहों का निर्माण करता है, इसे प्रत्यक्ष प्रयोग माना जाता है। जब प्रयोगशाला न हो, समाज में घटित तथ्य इस भाँति खोज के लिए व्यवस्थित किए जाते हों वहाँ प्रयोग का विचार तो बना रहता है, पर विधि परिपक्व नहीं हो पाती। अत: उसे **अप्रत्यक्ष प्रयोग** (indirect experiment) कहते हैं।

**प्रोटेस्टेंट मत** — ईसाई धर्म का नवीन तार्किक आधार पर बना मत जो पुरातन रूढ़ियों को अस्वीकार करता है, बहुत कुछ जैसे आर्य समाज का हिंदू धर्म में स्थान है। इसमें रूढ़ियों की प्रति विद्रोह सा है, व्यक्ति व समूह का संगठन कुछ हलका है।

**कैथोलिक मत** — परम्परावादी ईसाई मत जिसमें नवीन तर्कों का स्वागत नहीं, बहुत कुछ हिंदू धर्म के सनातनी रूप के समान ईसाई मत है। इसमें अनुशासन अधिक है।

## 11.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

दर्खाइम, एमिल, 1982. *समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम,* अनुवादक: हरिश्चन्द्र उप्रेती, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी: जयपुर

बॉटोमोर, टी. बी., 1972. *समाजशास्त्र* राजस्थान. हिंदी ग्रंथ अकादमी: जयपुर

आरों, रेमों, 1967. मेन करँट्स् इन सोशियोलॉजिकल थॉट, वाल्यूम-II, पेंगुइन बुक्स: लंदन

पिकरिंग, डब्ल्यू. एस.एफ. 2002. *दर्खाइम टुडे.* दर्खाइम प्रेस: ऑक्सफ़र्ड

## 11.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) सार्थक (अ), (स) व (द)
निरर्थक (ब), (इ) व (फ)

**बोध प्रश्न 2**

i) तुलना करना सामान्य जीवन की अनुभूति है। तुलना का अर्थ है कि तुला में रख कर चीज़ों के वज़न को देखकर यह जाना जाता है कि कौन सा पलड़ा भारी है। सामाजिक जीवन में कौन अधिक प्रभावी है, कौन सा शिक्षक अधिक प्रतिभावान है, कौन सा ज्योतिषी या डाक्टर विश्वसनीय है, इस बारे में एक से अधिक व्यक्तियों की तुलना की जाती है। इन तुलनाओं को तुलनात्मक पद्धति नहीं कहेंगे। पद्धति के कुछ नियम हैं, समान समूह में भिन्नताओं का अध्ययन और उन भिन्नताओं को अन्य भिन्नताओं से जोड़ना जिससे कि एक प्रकार के तथ्य दूसरे तथ्य द्वारा स्पष्ट किए जा सकें, तुलनात्मक पद्धति है।

ii) पहली-एक ही तथ्य का समाज के विभिन्न समूहों में विस्तार; दूसरी-एक ही तथ्य की विभिन्न समाजों में व्यापकता; तीसरी-विभिन्न समाजों में विभिन्न समय पर एक ही तथ्य का आंकलन।

**बोध प्रश्न 3**

i) कैथोलिक मतावलम्बियों में आत्महत्या की दर कम है जबकि प्रोटेस्टेंट मतावलम्बियों में यह दर अधिक है।

ii) ऐतिहासिक तुलनात्मक पद्धति

# इकाई 12 सामूहिक प्रतिनिधान

## इकाई की रूपरेखा


12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 समाज और वैयक्तिक चेतना

12.3 सामूहिक चेतना

12.4 सामूहिक प्रतिनिधान की संकल्पना

- 12.4.1 सामूहिक प्रतिनिधान-परिभाषा
- 12.4.2 वैयक्तिक प्रतिनिधान
- 12.4.3 सामूहिक प्रतिनिधान के बनने की प्रक्रिया

12.5 अन्त:बोध और सामूहिक प्रतिनिधान

12.6 धर्म और सामूहिक प्रतिनिधान

12.7 सारांश

12.8 शब्दावली

12.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

12.10 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 12.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए संभव होगा

- समाज और व्यक्ति चेतना के मध्य संबंध को स्पष्ट करना
- दर्खाइम के सामूहिक बोध की अवधारणा पर चर्चा करना
- सामूहिक प्रतिनिधान के अर्थों की व्याख्या करना
- "अवधारणाओं" या "विचार की श्रेणियों" की सामूहिक प्रकृति को जानना
- धर्म द्वारा सामूहिक प्रतिनिधान की विवेचना करना।

## 12.1 प्रस्तावना

दर्शन से दर्खाइम के अलग होने के बारे में, आपको इकाई 10 में पहले ही मालुम हो चुका है। आपने यह भी पढ़ा है कि उसने समाजशास्त्र को विज्ञान की प्रस्थिति तक लाने का प्रयास किया। आइए अब हम दर्खाइम के विचारों के केन्द्रीय मूल-विषय अर्थात् सामूहिकता और व्यक्तियों के मध्य संबंध पर चर्चा करें। दर्खाइम का प्रयास था कि वह इस संबंध में वैज्ञानिक धारणा के विभिन्न स्वरूपों को विकसित करे। उसे अपने से पूर्व के सभी सामाजिक सिद्धांत (जिनमें "व्यक्ति" उसका प्रारंभिक बिन्दु माना गया था) असंतोषजनक लगते थे। उसने व्यक्ति के "संकल्प", "इच्छा" या "इच्छा शक्ति" के आधार पर बने समाज के सिद्धांतों को नकार कर एक सामाजिक समूह, समुदाय या समाज की सामूहिक प्रकृति से उत्पन्न हर सामाजिक प्रक्रिया के वैज्ञानिक अध्ययन को अपनाया।

सामूहिक प्रतिनिधान (representation) अथवा सामूहिक प्रतिनिधान की दर्खाइम की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए इस इकाई में पांच मुख्य पहलुओं पर चर्चा की गई है। प्रथम, यह भाग 12.2 में समाज और वैयक्तिक चेतना के विषय में आपको बताती है, फिर यह **सामूहिक चेतना** की अवधारणा का उल्लेख भाग 12.3 में करती है। भाग 12.4 में, यह मुख्य मूल-विषय, सामूहिक प्रतिनिधान, की सविस्तार विवेचना करती है। अन्त में भाग 12.5 तथा भाग 12.6 में हमने सामूहिक प्रतिनिधान के बारे में आत्मबोध और धर्म के संदर्भ में विवेचना की है।

## 12.2 समाज और वैयक्तिक चेतना

समाज की एक प्रकृति होती है, जो अपने आप में विशिष्ट है। यह व्यक्ति की प्रकृति से भिन्न होती है। समाज उन लक्ष्यों की खोज में रहता है जो समाज विशेष से जुड़े होते हैं। सामूहिक अस्तित्व का दबाव ऐसा है कि व्यक्तियों को अपने विशिष्ट स्वार्थों को छोड़ना पड़ता है। व्यक्तियों को कुछ क़िस्म की असुविधाओं या आत्म-त्याग आदि को मानना होता है जिसके बिना सामाजिक जीवन असंभव है। इस प्रकार समाज अपनी सामूहिकता की प्रकृति को व्यक्तियों पर लागू करता है। उदाहरण के लिए हम अपने जीवन में हर समय आचरण या व्यवहार के नियमों की अधीनता स्वीकार करने के लिए स्वयं बाध्य हैं। इनको न तो हमने बनाया, ना ही उनका चुनाव किया। ऐसे आचरण के नियम कभी-कभी व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों और रुचियों के विरोध में होते हैं। तथापि, हमसे उनको मानने और अनुसरण करने की अपेक्षा की जाती है। इस प्रक्रिया में समाज की यथार्थता व्यक्ति के लिए चिन्तन, व्यवहार और चेतना को विशिष्ट रूप देती है।

समाज व्यक्तियों के ऊपर नैतिक सत्ता का प्रयोग करता है। यह नैतिक सत्ता समाज को आदर व सम्मान देती है। विचार, विश्वास, भावनाएं आदि जिन्हें समाज व्यक्तियों पर लागू करता है, समाज के उपादान हैं। ऐसे विचार, विश्वास और नैतिक संहिताएं आदि सामूहिकता द्वारा अनुमोदित हैं। अत: एक व्यक्तिगत उल्लंघन भी सामाजिक क्रिया या दण्ड को आमंत्रित करने के लिए उत्तरदायी है। ये सभी व्यवहार जो समाज के लिए लाभदायक हैं, समाज के द्वारा प्रतिपादित हैं और इन्हें **पवित्र** माना जाता है। धार्मिक मत, टोटम के चिन्ह या आधुनिक युग में झण्डा आदि सभी पवित्र वस्तुएं हैं। ये व्यक्ति में एकाएक भय और श्रद्धा की अनुभूति को प्रेरित करते हैं। पवित्र वस्तुओं के विपरीत साधारण **लौकिक** वस्तुएं भी हैं। इन वस्तुओं को वैसी श्रद्धा प्राप्त नहीं है जैसी पवित्र वस्तुओं को दी गयी है। इसके अतिरिक्त, समाज लौकिक वस्तुओं को पवित्र वस्तुओं से अलग रखता है। दर्खाइम ने माना है कि पवित्र वस्तुएं वे हैं जो निषेधों द्वारा सुरक्षित और अलग रखी जाती हैं। लौकिक वस्तुएं वे हैं जिन्हें सम्मान से वंचित किया गया है और साथ ही लोगों को इनसे दूरी बनाए रखने के लिये कहा गया है। अन्ततः समाज में आचरण के नियम होते हैं जो पवित्र वस्तुओं के संबंध में लोगों के व्यवहार को निर्धारित करते हैं।

समाज व्यक्तियों से आत्म-त्याग या प्रयासों को मांगने तक ही अपने को सीमित नहीं रखता। समाज की सामूहिक ताक़त व्यक्तियों से पूर्णत: बाहर नहीं है। यह व्यक्तियों पर पूर्णत: बाहर से कार्य नहीं करती। समाज वैयक्तिक चेतना में और वैयक्तिक चेतना द्वारा अपना अस्तित्व रखता है। इसलिए, सामाजिक ताक़त को व्यक्तियों के अंदर प्रवेश करना होता है और अपने को उनमें संगठित करना होता है। इस तरीक़े से यह वैयक्तिक चेतना सामूहिक चेतना का एक अभिन्न हिस्सा बन जाती है। यही कारण है कि सामाजिक विश्वास, नैतिकता और नियम आदि व्यक्तियों द्वारा उन्नत किए गए और बढ़ाये गये हैं। उनकी उत्पत्ति के स्रोत को अकेले व्यक्तियों में ढूंढा या आरोपित नहीं किया जा सकता। बल्कि उनकी सतत मान्यता सामूहिक अस्तित्व में हैं। फिर भी ऐसे विश्वास, विचार, भावनाएं आदि वैयक्तिक चेतना का एक स्थिर भाग होते हैं।

इस प्रकार एक तरफ़ पवित्र वस्तुओं का संसार है। यह संसार एक सामूहिकता द्वारा प्रतिपादित है। यह वैयक्तिक-आत्म-बोध को धर्म समाज में मिला देता है। यह प्रेम एवं सम्मान को लागू करता

है और समाज को व्यक्ति के मानस में स्थान देता है। यह व्यक्तियों को उन चीजों से जोड़ता है जो उनकी पहुंच से परे हैं। दूसरी तरफ़ साधारण लौकिक वस्तुओं का संसार है। यह व्यक्तिगत सावयवों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। यह उन सभी वस्तुओं को भी अभिव्यक्त करता है जिससे व्यक्ति प्रत्यक्षत: संबंधित हैं। यह मुनष्यों के साधारण जीवन से सम्बद्ध होता है। इसमें दिन-प्रतिदिन की जीवनचर्या शामिल होती है। इस प्रकार वैयक्तिक चेतना को समाज से दो तरह के स्वरूप, पवित्र और लौकिक, मिलते हैं।

समाज और वैयक्तिक चेतना पर तथा पवित्र एवं लौकिक की अवधारणा पर दर्खाइम के विचारों की चर्चा के बाद, आइए, सोचिये और करिये 1 को पूरा करें।

**सोचिये और करिए 1**

(अ) गंगा जल और पानी ($H_2O$) तथा

(ब) प्रसाद और जलपान के बीच क्या अंतर है? इनमें से क्या पवित्र है और क्या नहीं?

उपरोक्त प्रश्न के उत्तर और व्याख्या एक संक्षिप्त टिप्पणी में कीजिए।

यदि संभव हो, तो अपनी टिप्पणी अपने अध्ययन केन्द्र की अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणी से मिलाइये।

## 12.3 सामूहिक चेतना

दर्खाइम के चिंतन में सामूहिक चेतना की धारणा सर्वोपरि है। दर्खाइम ने सामूहिक चेतना का वर्णन एक समाज के अधिकांश सदस्यों की सामान्य भावनाओं और विश्वासों के रूप में किया है। इन विश्वासों और भावनाओं की व्यवस्था का अपना स्वयं का एक जीवन है। इसका पूरे समाज में अस्तित्व बना हुआ है। इसका विशिष्ट स्वरूप है, जो इसे एक वास्तविकता प्रदान करता है। सामूहिक चेतना उन विशेष दशाओं से स्वतंत्र है जिनमें व्यक्तियों को रखा गया है। यह एक समाज के सम्पूर्ण क्षेत्र (बड़े और छोटे क़स्बों एवं गांवों) में फैली हुई है। यह सभी व्यवसायों या पेशों आदि में सामान्य है। यह विभिन्न पीढ़ियों को एक दूसरे से जोड़ती है। व्यक्ति समाज में आते हैं और चले जाते हैं जबकि सामूहिक चेतना निरंतर बनी रहती है। यद्यपि सामूहिक चेतना केवल व्यक्तियों द्वारा ही निर्मित होती है, लेकिन इसकी सीमा व्यक्ति विशेष तक सीमित नहीं है बल्कि उससे उच्च स्तर पर क्रियान्वित होती है।

विस्तार एवं ताक़त के अर्थ में, सामूहिक चेतना एक समाज से दूसरे में भिन्न होती है। अल्पविकसित समाजों में सामूहिक चेतना वैयक्तिक चेतना को अपने अन्दर ही समविष्ट कर लेती है। इस प्रकार के समाजों में सामूहिक चेतना का विस्तार स्पष्ट एवं सर्वव्यापी है। उदाहरणार्थ आदिम समाजों में प्रचलित सामाजिक नियंत्रण और निषेध व्यक्गित सदस्यों के ऊपर दृढ़तम रूप से आरोपित होते हैं, और सभी सदस्य इनका वर्चस्व मानते हैं। यह सामूहिक चेतना ही है जो व्यक्तियों के अस्तित्व को नियंत्रित करती है। परस्पर अनुभव की गई सामूहिक भावनाओं में अत्यधिक ताक़त होती है तथा निषेधों का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों पर ये कठोर दण्ड के रूप में प्रतिबिम्बित होती हैं। एक समाज की सामूहिक चेतना जितनी दृढ़तर होगी उतना ही व्यापक अपराध के विरोध में या अन्य किसी सामाजिक आदेश के उल्लंघन पर आक्रोश होगा। सामूहिक चेतना एक समाज की सम्बद्धता, एकीकरण या पूर्ण एकता को भी दर्शाती है। आदिम समाजों में सामूहिक चेतना सबसे दृढ़तम और पूर्णरूप से अंगीकृत है। जबकि विकसित समाजों में व्यक्तियों के बीच अधिकाधिक विभेदीकरण हो जाता है। अधिकतर परिस्थितियों में, प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वयं के या अपने समूह की प्राथमिकताओं के अनुसार विश्वास करने, इच्छा करने और कार्य करने के लिए अधिकाधिक स्वतंत्र होता है। इस प्रकार सामूहिक चेतना के प्रभाव का क्षेत्र घट जाता है। निषेधों आदि के उल्लंघन के विरुद्ध सामूहिक प्रतिक्रियाएँ कमज़ोर पड़ जाती है।

दर्खाइम ने सामूहिक चेतना की अवधारणा का प्रयोग और विकास मूलत: अपने प्रथम कार्य, *समाज में श्रम विभाजन (द डिविज़न ऑफ लेबर इन सोसाइटी,* 1893) में किया। सामूहिक चेतना की क्षमता का वर्णन **सामाजिक एकता** की प्रकृति के साथ किया जायेगा जो इकाई 13 का भाग है। अपने बाद के कार्यो में, दर्खाइम ने सामूहिक प्रतिनिधान की अवधारणा को विकसित किया जिसमें सैद्धांतिक विकास की महती सम्भावनाएँ हैं।

सामूहिक चेतना का स्वरूप समझने के बाद, अब बोध प्रश्न 1 को पूरा कर लें।

**बोध प्रश्न 1**

i) समाज और वैयक्तिक चेतना के मध्य संबंध पर दर्खाइम के विचारों को अपनी समझ द्वारा चार पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

ii) सामूहिक चेतना की परिभाषा अपने शब्दों में दीजिए। दो पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

## 12.4 सामूहिक प्रतिनिधान की संकल्पना

दर्खाइम ने सभी समाजों में सामूहिक विश्वासों और भावनाओं, और विशेषकर नैतिकता और धर्म की भूमिका को देखा है। ये कैसे मन में बैठाये गये और कैसे ये समाज के ऊपर नियंत्रण करते हैं? ये कैसे समाज द्वारा प्रभावित हुए, और बदले में कैसे ये सामाजिक जीवन के अन्य रूपों को प्रभावित करने हैं। एक समाज की विभिन्न अवस्थाओं के दौरान सामूहिक विश्वास एवं भावनाएं कैसे बदलती हैं? ऐसे उत्तरों को व्यक्त करने के लिए दर्खाइम ने सामूहिक प्रतिनिधान की अवधारणा का उपयोग किया।

### 12.4.1 सामूहिक प्रतिनिधान - परिभाषा

दर्खाइम के सामाजिक सिद्धांत का एक प्रमुख योगदान सामूहिक प्रतिनिधान की अवधारणा है। वास्तव में, दर्खाइम के बाद के कार्य (1897 और उसके बाद) में "सामूहिक प्रतिनिधान" को एक व्यवस्थित अध्ययन के रूप में देखा जा सकता है। दर्खाइम ने सामूहिक प्रतिनिधान की प्रथम परिभाषा अपनी पुस्तक "*आत्महत्या*" (*सुइसाइड*) में बताई है कि वास्तव में सामाजिक जीवन प्रतीकों का बना हुआ है। एक वस्तु और उसे देखने के ढंग के बीच अंतर होता है। सामान्यत: एक समाज में ढंग विशेष से उसका वर्णन होता है और इसका अर्थ समझा जाता है। वस्तु को पुन: प्रस्तुत किया जाता है और अभिप्रायों के संबंध में एक शब्द को एक अर्थ दिया जाता है। वस्तु या शब्द को इस प्रकार "निरूपित" किया जाता है: एक वैज्ञानिक के लिए पानी का प्रतीक $H_2O$ फ़ार्मूला है, चिकित्सक के लिए $99^0$ (फारेनहाइट) से ऊपर का तापमान बुखार का प्रतीक है। इसी प्रकार धर्म के संदर्भ में एक पत्थर का टुकड़ा महादेव का प्रतीक हो सकता है। महाविद्यालय या स्कूल की टीमें (दल) अपने प्रतीक रंगों जैसे हल्का नीला, गहरा नीला, हरा और सफ़ेद, गुलाबी और नीला आदि द्वारा या "एशियाड" और "ओलम्पिक्स" प्रतियोगिताओं में अलग-अलग राष्ट्रीय टीमें अपने रंगों द्वारा निरूपित होती हैं।

सामूहिक प्रतिनिधान सामूहिक चेतना की वह स्थिति हैं जिनकी प्रकृति वैयक्तिक चेतना की स्थिति से भिन्न है। ये ऐसे ढंग को अभिव्यक्त करते हैं जिसमें एक समूह के लोग अपने को वस्तुओं के रूप में प्रकट करते हैं तथा सामाजिक समूह को प्रभावित करते हैं। सामाजिक जीवन की ओर उन्मुखता से सामूहिक प्रतिनिधान निर्मित हुए हैं। ये समाज से जुड़े हैं तथा कुछ अर्थ में समाज के बारे में हैं।

### 12.4.2 वैयक्तिक प्रतिनिधान

दर्खाइम ने सामूहिक प्रतिनिधान की स्वतंत्र यथार्थता को महत्व दिया है। इसके लिए उसने वैयक्तिक प्रतिनिधान का उदाहरण दिया है। वैयक्तिक प्रतिनिधान का आधार शरीर की मस्तिष्क कोशिकाओं की तरह है। वैयक्तिक प्रतिनिधान इस आधार की संयुक्त क्रिया के परिणामस्वरूप निर्मित होते हैं। लेकिन आधार के संघटक भागों के संदर्भ में ही इनकी व्याख्या नहीं की जा सकती। वास्तव में, वैयक्तिक प्रतिनिधान की अपनी स्वयं की विशेषताएँ हैं और आधार से स्वतंत्र इनकी सापेक्ष स्वायत्तता होती है। पुन: विभिन्न वैयक्तिक प्रतिनिधान जो (भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से है) एक दूसरे को प्रत्यक्षत: प्रभावित कर सकते हैं और एक दूसरे से जुड़ सकते हैं।

### 12.4.3 सामूहिक प्रतिनिधान के बनने की प्रक्रिया

दर्खाइम के अनुसार सामूहिक प्रतिनिधान सम्बद्ध व्यक्तियों से बने आधार से निरूपित होते हैं। लेकिन इन्हें अलग-अलग व्यक्तियों तक सीमित नहीं किया जा सकता तथा न ही उनके संदर्भ में इनकी पूर्णत: व्याख्या की जा सकती है। इनका स्वयं का अस्तित्व (sui generis) होता है तथा ये स्वनिर्मित होते हैं। सामूहिक प्रतिनिधान के मूल और आधारभूत स्वरूप में उनकी उत्पत्ति के चिन्ह अंकित होते हैं। इस तरह सम्बद्ध व्यक्तियों की प्रकृति से सामाजिक चेतना के मूल विषय का घनिष्ठ संबंध होता है। यह आधार सामाजिक तत्वों की प्रकृति व संख्या, उनके सम्मिलित होने की पद्धति और भौगोलिक क्षेत्र विशेष में उनके वितरण आदि से निर्धारित होता है। लेकिन जब प्रतिनिधानों का मूल आधार बन जाता है तो ये आंशिक रूप में स्वायत्त वास्तविकताएँ बन जाते हैं। तब इनका अपना ही अस्तित्व होता है जिसमें एक दूसरे को आकर्षित व विकर्षित करने की शक्ति होती है। इसके अतिरिक्त ये वास्तविकताएं सभी प्रकार से समन्वित होती रहती हैं जिससे नए-नए सामूहिक प्रतिनिधान निर्मित होते हैं। उदाहरणार्थ, दर्खाइम ने मिथकों, दन्तकथाओं, धार्मिक अवधारणाओं और धार्मिक सम्प्रदायों आदि की अत्यधिक वृद्धि पर ध्यान दिया है। वे कालान्तर में, संयुक्त एवं पृथक रूप से जटिल विश्वासों, मूल्यों और नैतिकताओं आदि या अवधारणाओं या विचार की श्रेणियों में रूपान्तरित होते रहते हैं।

## 12.5 अन्त:बोध और सामूहिक प्रतिनिधान

वस्तुओं के लक्षणों को ग्रहण करने और जानने की प्रक्रिया को बोध कहते हैं। यह एक मानसिक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से अपने इर्द-गिर्द की घटनाओं के बारे में ज्ञान प्राप्त किया जाता है। सामूहिक स्थितियों में लोग इन घटनाओं के बारे में बातचीत करते हैं इस प्रकार एक दूसरे की जागरूकता को बढ़ाते हैं। इस तरह मानसिक आदान-प्रदान से विचार प्रतीक का रूप धारण कर लेते हैं जिन्हें स्वीकृति और मान्यता दी जाने लगती है। अत: सामूहिक प्रतिनिधान या तो एक अवधारणा है या विचार की एक श्रेणी, जिसको अधिकांश लोग लगभग एक ही तरह से समझते हैं। इससे लोगों में प्रभावशाली सम्पर्क संभव होते हैं। संयुक्त रूप से निर्मित व विकसित होने के कारण इन सामूहिक प्रतीकों की अपनी एक शक्ति होती है। ये व्यक्ति विशेष या समूह के विचार से स्वतंत्र होते हैं। इनका व्यक्तियों पर गहरा प्रभाव होता है। यह समाज पर भी समुचित प्रभाव बनाए रखते हैं। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय झंडा एक राजनैतिक प्रतिनिधान है तथा पवित्र ग्रंथ प्राय: धार्मिक प्रतिनिधान होते हैं जैसे कि बाइबल, रामायण या गुरुग्रंथ साहिब।

आइए अब विचार (thought) की अवधारणाओं की प्रकृति की कुछ विस्तार में विवेचना करें और देखें कि दर्खाइम की दृष्टि में वे किस प्रकार सामूहिक प्रतिनिधान का स्वरूप धारण कर लेते हैं।

इन्द्रियजन्य (sensual) प्रतिनिधान जैसे संवेदनाएं, अनुभव-बोध या कल्पनाओं आदि से विचार (thought) की अवधारणाएं विपरीत हैं। इन्द्रियजन्य प्रतिनिधान वाली विचार की अवधारणाएं एक अनन्त प्रवाह में बहती हैं। ये एक दूसरे के बाद नदी की लहरों की भांति आती हैं। कुछ समय के लिए भी ये स्थिर रूप में नहीं रहतीं। यह कभी निश्चित नहीं होता कि जैसा हमने पहली बार इसका अनुभव किया, उसी तरह का अनुभव बोध पुनः प्राप्त हो। दूसरी ओर, अवधारणा का एक विशिष्ट स्थिर अस्तित्व होता है, अवधारणा स्वयं नहीं बदलती और किसी भी परिवर्तन का प्रतिरोध करती है। यह तभी बदलती है जब समाज इसमें कुछ त्रुटि पाता है और इसमें सुधार करता है। उदाहरण के लिए, जिससे लोग दिन-प्रतिदिन के जीवन में सोचते हैं, अवधारणाओं की ऐसी व्यवस्था की अभिव्यक्ति उनकी मातृभाषा की शब्दावली में देखने को मिलती है। प्रत्येक "शब्द" एक अवधारणा का प्रतिनिधि है। भाषा का स्थायी अस्तित्व होता है। भाषा बहुत धीरे-धीरे परिवर्तित होती है। यही स्थिति अवधारणात्मक व्यवस्था के साथ भी है जो स्पष्ट ही है। वैज्ञानिक शब्दावली के बारे में भी यही मान्य है। ये स्थायी हैं एवं इनमें बदलाव धीरे-धीरे ही आता है। सामूहिक प्रतिनिधान और अंत:बोध में सम्बन्ध समझने के बाद सोचिये और करिये 2 को पूरा करें तथा सामूहिक प्रतिनिधान के अर्थ को आत्मसात करें।

**सोचिये और करिए 2**

पिता, पिता के भाई, पिता के पिता, और माता के भाई के लिए प्रयुक्त शब्दों को अपनी भाषा तथा दो अन्य भाषाओं में लिखिए। देखिए, कैसे ये शब्द सभी भाषाओं में समानार्थक हैं और लोग इनका एक अर्थ लगाते हैं? कुछ ऐसे शब्द लिखिए जो विवाह और जन्म की रीतियों का वर्णन करते हैं जैसे "कन्यादान" या "नामकरण" आदि। इन्हें हिन्दुओं में "संस्कार" माना जाता है। अपनी मातृभाषा और धर्म से ऐसे शब्दों को चुनिए जो सामूहिक प्रतिनिधान के विचारों को व्यक्त करते हैं। इन शब्दों की सूची बनाकर अपने अध्ययन केन्द्र में समाजशास्त्र के छात्र-छात्राओं के साथ इस सूची के शब्दों पर चर्चा कीजिये।

अवधारणा सर्वव्यापी होती है या कम से कम ऐसा होने की क्षमता रखती है। संभव है कि व्यक्ति किसी अवधारणा को दूसरों के साथ ही अभिव्यक्त करें। लोगों के बीच संपर्क एक अवधारणा द्वारा स्थापित होता है। दूसरी ओर अनुभव बोध (sensation) व्यक्ति की जैविक रचना और व्यक्तित्व से संबंधित होता है। यह न तो अलग किया जा सकता है और ना ही दूसरे व्यक्तियों को दिया जा सकता है। जबकि व्यक्तियों के बीच विचार-विमर्श और सभी बौद्धिक सम्प्रेषण अवधारणाओं के आदान-प्रदान से संभव हो जाता है। इस प्रकार अवधारणाएं और विचार की श्रेणियां निश्चित रूप से आवश्यक अवैयक्तिक प्रतिनिधान हैं। इन्हीं के द्वारा बोध संरचनाएं और मानव बौद्धिकताएं परस्पर समझी जाती हैं।

समुदाय अवधारणाओं की उत्पत्ति करता है। ये अवधारणाएं व्यक्ति विशेष की मानसिक स्थिति से नहीं बनती हैं। ये समूह या सामूहिकता की सहयोगी प्रकृति से पैदा होती हैं। व्यक्तिगत अनुभव बोध से विचार की श्रेणियां अधिक स्थिर होती हैं। इससे अभिप्राय है कि सामूहिक प्रतिनिधान वैयक्तिक प्रतिनिधान की अपेक्षा अधिक स्थिर हैं। सामाजिक परिवेश में हो रहे मामूली परिवर्तन भी वैयक्तिक प्रतिनिधान को प्रभावित करते हैं। परन्तु इसकी तुलना में समाज की मानसिक अथवा वास्तविक स्थिति में परिवर्तन अत्यधिक महत्वपूर्ण घटनाओं जैसे क्रांति या राजनैतिक आंदोलन आदि से ही होता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए भारत का राष्ट्रीय आंदोलन इसका एक उदाहरण है।

भाषा और इसके द्वारा निर्मित अवधारणाओं की व्यवस्था सामूहिक विवेचन की उत्पत्ति है। भाषा

उसी तरह से अभिव्यक्त होती है जिस तरह समाज सामूहिक अनुभवों के तथ्यों को प्रस्तुत करता है। भाषा के विभिन्न तत्वों के अनुरूप विचार ही सामूहिक प्रतिनिधान होते हैं।

अवधारणाएं सामूहिक प्रतिनिधान हैं और सम्पूर्ण समाज से संबंधित होती हैं। यदि ये सम्पूर्ण सामाजिक समूह से संबंधित हैं तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ये वैयक्तिक प्रतिनिधान के औसत को प्रस्तुत करती हैं। क्योंकि ऐसा होने से तो सामूहिक प्रतिनिधान बौद्धिकता में वैयक्तिक प्रतिनिधान से निम्न हो जाएंगे। वास्तव में सामूहिक प्रतिनिधान आम व्यक्तियों के ज्ञान से अधिक विस्तृत होते हैं।

सामूहिक प्रतिनिधान की तरह समाज में व्यापक प्रचलित विचार ही अवधारणाएं होती है। ये विशिष्ट वस्तुओं की अपेक्षा वर्गों और श्रेणियों को व्यक्त करते हैं। इसका कारण यह है कि वस्तुओं की अनोखी और परिवर्तनशील विशेषताओं में समाज की रुचि कम ही रहती है। सामूहिक प्रतिनिधान समाज द्वारा ही पैदा होते हैं और ये सामाजिक अनुभवों द्वारा ही फलते-फूलते हैं। उदाहरण के लिए आधुनिक राष्ट्र राज्यों के सन्दर्भ में सामूहिक प्रतिनिधान संविधान, राष्ट्रीय झंडा और राष्ट्रीय गान आदि में केन्द्रीकृत सामाजिक तथ्य हैं।

आइए, अपनी चर्चा में आगे बढ़ने से पहले, बोध प्रश्न 2 पूरा कर लें

**बोध प्रश्न 2**

i) समाजशास्त्र में प्रयुक्त कुछ अवधारणाएं यहां दी गई हैं, उदाहरण के लिए समाजीकरण, समुदाय, सामाजिक व्यवस्था आदि। पांच अन्य अवधारणाएं जो आपने समाजशास्त्र के पाठ्यक्रमों की पाठ्य-सामग्री में पाई हों, उनकी सूची बनाइए।

अ.....

ब.....

स.....

द.....

इ.....

ii) निम्नांकित वाक्य में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

वैयक्तिक ..... का ..... शरीर की मस्तिष्क कोशिकाओं की तरह है।

## 12.6 धर्म और सामूहिक प्रतिनिधान

दर्खाइम ने धर्म को प्रकृति और समाज से मानव के संबंध का प्रतिबिम्ब माना है। धर्म को देवताओं में विश्वास तक सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसे भी धर्म हैं जिसमें देवताओं का प्रकट स्वरूप नहीं है। उदाहरण के लिए बौद्ध धर्म ईश्वर के अस्तित्व को नकारता है। पुन: सभी धर्मों में ऐसे प्रमुख तत्व हैं जो जीवन की दिनचर्या से जुड़े हैं, जैसे खाना, पीना, भौतिक वातावरण की वस्तुएँ आदि जिसका देवी-देवताओं से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता है।

धर्म का आधार समाज के यथार्थ में होता है। दर्खाइम ने धर्म के सामाजिक आधार और समाज के धार्मिक आधार का वर्णन किया है। धर्म समाज की पवित्रता का स्वरूप है। धर्म मूल रूप में समाज के लिए व्यक्ति का सम्मान निरूपित करता है। यह गहन प्रतीकात्मक क्रिया द्वारा व्यक्त होता है। धर्म समाज का या विशेषकर सामूहिक प्रतिनिधान का प्रतिबिम्ब होता है।

धर्म की प्रकृति की व्याख्या के लिए दर्खाइम ने पवित्र के विचार का समुदाय के साथ-साथ विश्लेषण किया है। धार्मिक विचार की यह विशिष्ट विशेषता है कि विश्व का विभाजन दो क्षेत्रों में है, एक वह जो सभी पवित्र को समाए हुए है और दूसरा वह जो सभी साधारण लौकिक वस्तुओं को दर्शाता है। विश्वास, मिथक (पौराणिक कथा), धर्म सिद्धांत और दन्त कथाएं आदि प्रतिनिधान की वे व्यवस्थाएं हैं जो पवित्र वस्तुओं के सद्गुणों और शक्तियों की प्रकृति को अभिव्यक्त करती हैं। ये पवित्र और लौकिक वस्तुओं के मध्य सम्बन्धों का भी निरूपण करती हैं।

पवित्र की धारणा के अतिरिक्त दर्खाइम ने धार्मिक प्रथाओं के पीछे धार्मिक विश्वासों की बाध्यकर विशेषता या दबाव डालने की क्षमता को देखा है। समाज अपने सदस्यों को व्यापक धार्मिक विश्वास से विचलित होने से रोकने के लिए दबाव का प्रयोग करता है। धर्म संगठित व्यवस्थाओं से बनता है। ये अनिवार्य विश्वासों से जुड़ी हुई प्रचलित प्रथाओं का सामूहिक रूप होती हैं। ये प्रथाएं विश्वासों में पाए जाने वाली वस्तुओं से संबंधित होती हैं। धर्म की प्रकृति बाध्यकर है और जो बाध्यकर है उसकी उत्पत्ति समाज में निहित है। व्यक्ति की धर्म के प्रति मान्यता का अभिप्राय समाज की नैतिक शक्ति में श्रद्धा से है। इस प्रकार समाज व्यक्ति को आस्थाओं और अनुष्ठानों का पालन करने के लिए बाध्य करता है। अत: अनुष्ठानों और आस्थाओं की रचना समाज ही करता है। धार्मिक क्रियाओं को निर्धारित करने वाले कारक समाज की प्रकृति में निहित होते हैं। समय के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तनों के परिणामस्वरूप, धार्मिक आस्थाओं और रीति-रिवाजों आदि के विभिन्न स्वरूपों में परिवर्तन और विकास होता रहता है।

दर्खाइम के अनुसार "सामाजिक अस्तित्व की स्थितियों के विश्लेषण से धर्म की वास्तविक प्रकृति व्यक्त की जा सकती है। धार्मिक प्रतिनिधान को सामूहिक चेतना की प्रकृति के रूप में देखना चाहिए। ये सामाजिक जीवन में विचारों के निर्माण तथा सामूहिक प्रतिनिधान में गहरी रुचि विकसित करने में सहायक होते हैं।"

सामूहिक प्रतिनिधान साधारण से साधारण वस्तु को एक शक्तिशाली पवित्र स्वरूप प्रदान कर सकते हैं। इस प्रकार किसी वस्तु को दी गई शक्तियां केवल विचार पर आधारित होती हैं लेकिन फिर भी वे वास्तविक स्वरूप धारण कर लेती हैं। भौतिक ताक़त की तरह, वे व्यक्तियों के आचरण का सुनिश्चित करती हैं। इस प्रकार सामाजिक विचार व्यक्तिगत विचार के ऊपर आदेशात्मक सत्ता प्राप्त कर लेता है। सामाजिक विचार परिस्थितियों के अनुसार वास्तविकता में वृद्धि में कमी कर सकता है। इस प्रकार एक विचार भी सामाजिक जीवन में एक यथार्थ बन सकता है। इसलिए धार्मिक विचार या आस्थाएं भौतिक वस्तुओं से जुड़ी रहती हैं जो उनको प्रतिबिम्बित करती हैं।

धार्मिक शक्ति समूह द्वारा अपने सदस्यों में व्याप्त एक मुख्य भावना है। यह व्यक्तियों की चेतना के बाहर प्रक्षेपित है। ये धार्मिक भावनाएं किसी वस्तु से सम्बद्ध हो जाती हैं जो पवित्र बन जाती है। यह वस्तु किसी भी तरह की हो सकती है। पूजा की वस्तु के आन्तरिक गुणों से धार्मिक आस्था का कोई मतलब नहीं होता। समाज धार्मिक आस्थाओं को पूजा की वस्तुओं से जोड़ देता है। ये साधारणत: सामूहिक प्रतिनिधान के प्रतीक स्वरूप हैं।

आदिम समाजों में, एक कुल (clan) के सदस्य अनुभव करते हैं कि वे एक सामान्य प्रतीक जैसे पौधा, जानवर, या वस्तु से संबंधित हैं। एक समूह को "कौआ" कहा जाता है जबकि दूसरे को "हंस" या "नाग"। कुछ ऐसे भी समूह हैं, जिनका नाम किसी "जगह" से जुड़ा होता है। यह नाम उन्हें कई तरह से सहायता करता है। ऐसे प्रतीकों को कई समाजों में 'टोटम' कहा जाता है। टोटम (totem) के प्रति उन समाजों में सदस्यों की मनोवृत्ति श्रद्धा वाली होती है। वे उस पौधे या जानवर को हानि नहीं पहुँचाते। गंभीर आकस्मिक संकट के समय भी वे पहले इसकी पूजा करते हैं और उसे मारने या नष्ट करने के पहले सामूहिक क्षमा याचना करते हैं। अपने टोटम के प्रतीक को सुरक्षित रखने के लिए अनुष्ठानों की एक व्यवस्था होती है। इस प्रकार एक कुल

का टोटम बाह्य रूप से टोटम के सिद्धांत की एक अभिव्यक्ति है, अर्थात् परमशक्ति (a superior power)। यह एक निर्धारित समाज जैसे कुल (clan) का प्रतीक भी होता है। यही कुल की पताका है। इस चिन्ह से एक कुल अन्य कुलों से अपनी अलग अस्मिता बनाए रखता है। यह कुल के अस्तित्व का एक स्पष्ट प्रतीक होता है। इसलिए यह एक साथ समाज और अलौकिक शक्ति का प्रतीक होता है। कुल का देवता अर्थात् ऐसा टोटम सिद्धांत अपने आप में ही कुल होता है। अत: पौधे या जानवर जैसे प्रत्यक्ष टोटम के स्वरूप में कुल अपना अस्तित्व निरूपित कर लेता है। पवित्र वस्तु का सामूहिक प्रतिनिधान पूजा पद्धति है। धर्म का विचार सामूहिक प्रतिनिधान में शुरू होता है व इन्हीं द्वारा प्रचलित होता है। विश्वासों, विचारों, मूल्यों और धार्मिक विचारधाराओं के द्वारा ये प्रतिनिधान प्रतिबिम्बित होते हैं। ये आस्था रखने वालों के समुदाय में अनुष्ठान एवं पूजा पद्धति के माध्यम से व्यवहार में लाए जाते हैं।

दर्खाइम ने मानव, समाज और प्रकृति के संबंध पर विचार किया है। उसके अनुसार प्रकृति का अध्ययन विज्ञान द्वारा अधिकाधिक होने लगा है। इस प्रकार विज्ञान के विस्तार ने धर्म के क्षेत्र को कम कर दिया है। ज्ञान के सभी स्वरूपों अर्थात् पवित्र एवं लौकिक को पहले धर्म निरूपित करता था। विज्ञान के विकास से अब लौकिक का क्षेत्र बढ़ गया है। पहले धार्मिक कर्त्तव्य को नैतिकता समझा जाता था। दर्खाइम ने उस कर्त्तव्य के धार्मिक भाव को अस्वीकार किया और लौकिक नैतिकता में अपना विश्वास व्यक्त किया। उसके अनुसार आधुनिक समय में समाज में नैतिक व्यवस्था के लिए लौकिक नैतिकता आधार प्रस्तुत करेगी। इस प्रकार लौकिक नैतिकता समूह चेतना का एक नया स्वरूप बन सकती है।

**बोध प्रश्न 3**

i) लौकिक नैतिकता का क्या अर्थ है? चार पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

ii) धर्म समाज की आत्मा है, इस कथन की आठ पंक्तियों में व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 12.7 सारांश

दर्खाइम ने समाज और व्यक्ति के मध्य संबंध का अध्ययन किया है। उसका विश्लेषण समाज पर आधारित है किसी व्यक्ति विशेष या उसकी इच्छा पर नहीं। भाषा और विचार की श्रेणियाँ तभी अर्थपूर्ण हैं जब एक से अधिक व्यक्ति उनका उपयोग करते हैं। इस प्रकार, विचार अपने व्यवहार और उत्पत्ति में सामूहिक हैं। धर्म भी व्यवहार और विचार की एक सामूहिक पद्धति है। सरल

समाज के धर्म में सामूहिक पद्धति को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, उदाहरणत: ऑस्ट्रेलिया की जन-जातियाँ इसी प्रकार सामूहिक पद्धति का पालन करके धर्म निर्वाह करती हैं। सामान्य पूजा पद्धतियां कुल में संगठित लोगों की सामूहिक अस्मिता को निरूपित करती हैं। टोटम इस अस्मिता को प्रतिबिम्बित करता है और धर्म ऐसे समाज की आत्मा बन जाता है। प्रकृति की जानकारी जैसे-जैसे बढ़ती है, विज्ञान लोगों की लौकिक दृष्टि बढ़ाता है तथा सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए लौकिक नैतिकता को अधिक महत्व दिया जाने लगता है।

## 12.8 शब्दावली

**सामूहिक चेतना** — किसी समाज के सदस्यों के बीच सामान्य विश्वासों, मान्यताओं एवं भावनाओं की एक व्यवस्था की रचना को सामूहिक चेतना कहा जाता है।

**लौकिक (profane)** — दैनिक जीवन से संबंधित साधारण सांसारिक वस्तुएं को दर्खाइम ने लौकिक कहा है।

**पवित्र (sacred)** — विशिष्ट एवं धार्मिक वस्तुएँ जिन्हें लौकिक से उत्कृष्ट समझा जाता है।

**सामाजिक एकता** — जिसमें सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सहयोग, सद्भाव में सामूहिकता हो। ऐसी स्थिति को दर्खाइम ने सामाजिक एकता कहा है।

## 12.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चौहान, ब्रजराज 1994. *समाज विज्ञान के प्रेरक स्रोत: वेबर, मार्क्स, दुर्कहैम.* ए.सी.ब्रदर्स: उदयपुर

ल्यूक्स, एस. 1973. एमिल दर्खाइम हिज़ लाइफ़ एंड वर्क: *ए हिस्टॉरिकल एंड क्रिटीकल स्टडी.* एलेन लेन एंड द पेंगुइन प्रेस: लंदन

निस्बत, आर.ए., 1974. द सोशियोलॉजी ऑफ़ एमिल दर्खाइम ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: न्यूयार्क

रेमों, आरों 1979. (रीप्रिन्ट), मेन करॅन्ट्स इन सोशियोलॉजिकल थॉट-II पेंगुइन: हरमंड्स वर्थ (देखिए एमिल दर्खाइम), पृष्ठ 21-108

## 12.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) समाज का अपना एक अस्तित्व होता है जो समाज में व्यक्तियों के सामूहिक अस्तित्व से अलग होता है। समाज वैयक्तिक चेतना की सीमाएं निश्चित करता है तथा लोगों को आचरण अथवा व्यवहार के सामाजिक नियमों का पालन करने के लिए बाध्य करता है। इस तरह समाज के सामूहिक अस्तित्व को बनाए रखने के लिए सामूहिक हितों को व्यक्तिगत हितों से अधिक महत्व दिया जाता है।

ii) किसी समाज के सदस्यों के बीच सामान्य विश्वासों, मान्यताओं एवं भावनाओं की एक व्यवस्था की रचना को सामूहिक चेतना कहा जाता है। इसका अस्तित्व सर्वव्यापी है।

**बोध प्रश्न 2**

i) (अ) प्रकार्य (ब) संरचना (स) स्तरीकरण (द) सामाजिक परिवर्तन और (इ) संघर्ष

ii) प्रतिनिधान, आधार

**बोध प्रश्न 3**

i) व्यक्ति का व्यवहार नैतिक शक्ति से नियंत्रित होता है। यह शक्ति व्यक्ति को सामाजिक आदेशों या प्रतिमानों का पालन करवाती है। पूर्ववर्ती सरल समाजों में, यह शक्ति धर्म के द्वारा अनुमोदित होती थी।

आधुनिक समाजों में धार्मिक शक्ति का महत्व कम हो गया है। फिर भी समाज ही व्यक्ति के व्यवहार को नियमित करता है। समाज में नैतिकता का अस्तित्व तो है, लेकिन अब यह धर्म से पृथक हो गई है। इसे ही लौकिक नैतिकता कहा जाता है।

ii) समाज की सामाजिक भावनाएं हैं। कुछ विशिष्ट वस्तुएं और स्थान पवित्र समझे जाते हैं, श्रद्धायुक्त होते हैं, और कभी-कभी ये देवताओं और देवमूर्तियों की आराधना से जुड़े होते हैं। कुछ ऐसी भी वस्तुएं हैं, जो अशुद्ध समझी जाती हैं, जैसे मृत पशु, गन्दे कपड़े और शमशान घाट (दफ़नाने की जगह) आदि। ऐसी वस्तुओं और स्थानों से संपर्क प्रदुषित समझा जाता है। शुद्ध और अशुद्ध, वांछनीय और अवांछनीय की परिभाषा सामूहिक है। इस प्रकार, समाज ही स्वर्ग या नर्क और यहां तक कि देवता और शैतान के विचारों को उत्पन्न करता है। ये विचार और व्यवहार, जैसे पूजा-पद्धति या शुद्धीकरण, लोगों को एक समूह भावना से जोड़ते हैं। इसलिए, समूह अपने विश्वासों और पूजा पद्धतियों के लिए श्रेय है और इस प्रकार समाज की आत्मा को धर्म व्यक्त करता है।

# इकाई 13 एकात्मकता के प्रकार

## इकाई की रूपरेखा


13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 सामाजिक एकात्मकता

13.3 यांत्रिक एकात्मकता

- 13.3.1 सामूहिक चेतना
- 13.3.2 सामूहिक चेतना: प्ररूप के आधार पर
- 13.3.3 सामूहिक चेतना: तत्वों के आधार पर

13.4 सावयवी एकात्मकता

- 13.4.1 सावयवी एकात्मकता में सामूहिक चेतना के नए रूप
- 13.4.2 प्ररूप के आधार पर
- 13.4.3 विषय-वस्तु के आधार पर

13.5 सारांश

13.6 शब्दावली

13.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप के द्वारा सम्भव होगा

- यान्त्रिक एकात्मकता व इसके विशेष प्रकार का सामाजिक संरचना (आदिम समाज जैसी) से सम्बन्ध
- खण्डात्मक सामाजिक संरचना (आदिम समाज) में **दण्डात्मक क़ानून** द्वारा एकात्मकता मज़बूत करने में योग-दान
- अविकसित समाजों में सामूहिक चेतना का महत्व
- जटिल सामाजिक संरचना में सावयवी एकात्मकता श्रम के विभाजन पर आधारित
- जटिल सामाजिक संरचना में एकात्मकता के सन्दर्भ में **क्षति-पूरक क़ानून** की भूमिका इनमें सामूहिक चेतना का परिवर्तित रूप आदि की व्याख्या तथा विवेचना करना।

## 13.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई के भाग 13.2 में सामाजिक एकात्मकता के विचार को संक्षेप में दिया गया है तथा एकात्मकता के पहले प्रकार का वर्णन 13.3 भाग में **यांत्रिक एकात्मकता** के सन्दर्भ में किया गया है। दण्ड समाज द्वारा उस व्यक्ति को दिया जाता है जिसने सामाजिक मान्यताओं की अवहेलना की है। दण्ड देने से समाज की प्रभुता व एकात्मकता पुन: निर्धारित होती है। इस भाग के उपभागों में सामाजिक संरचना में **सामूहिक चेतना** के महत्व व परिभाषा को तथा इसकी प्रकृति को समझा गया है। **सावयवी एकात्मकता** पर भाग 13.4 में चर्चा की गई है। इस भाग में जटिल समाजों

की संरचना के सन्दर्भ में कानून के क्षति-पूर्ति वाले पक्ष को प्रस्तुत किया गया है तथा सामाजिक संरचना में श्रम विभाजन सदस्यों को पारस्परिक निर्भर बनाता है व समाज में एकात्मकता बनाए रखता है, इसकी चर्चा की गई है। इस भाग के उपभागों में सामूहिक चेतना के प्ररूप व गुणों (content) में किस प्रकार बदलती हुई परिस्थितियों से परिवर्तन आ गया है उसको भी दर्शाया गया है। इकाई के अन्त में (भाग 13.5) सारांश प्रस्तुत किया गया है।

## 13.2 सामाजिक एकात्मकता

इस इकाई में आर्थिक एवम् सामाजिक एकात्मकता अथवा एकात्मकता से सम्बन्धित दर्खाइम के विचारों की चर्चा की गयी है। दर्खाइम ने इनका अध्ययन अपनी पुस्तक, *द डिविज़न ऑफ़ लेबर इन सोसाइटी*, में किया है। दर्खाइम की रुचि सामाजिक जीवन के नियंत्रण और संचालन की शक्तियों को जानने में थी। अपने विचारों को धारणात्मक रूप देने हेतु उसने खण्डात्मक व जटिल समाजों के बीच विभेद किया। इन समाजों के क्या लक्षण हैं तथा उनमें किस प्रकार से एकात्मकता आती है? इन प्रश्नों का उत्तर उसने एकात्मकता के दो प्रकारों में वर्गीकरण द्वारा दिया है। इन प्रश्नों का उत्तर सकारात्मक रूप से देते हुए उसने कहा है कि एकात्मकता दो प्रकार की (i) यांत्रिक व (ii) सावयवी होती है। उसने इनमें भेद निहित कानूनों द्वारा किया है।

दर्खाइम के समाजशास्त्रीय चिंतन में **सामाजिक एकात्मकता** (solidarity) का विशेष महत्त्व है। इस इकाई में हमने दर्खाइम के एकात्मकता पर विचारों को विस्तार में समझाते हुए यांत्रिक तथा सावयवी एकात्मकता पर विशिष्ट चर्चा की है। आइए, पहले यांत्रिक एकात्मकता को समझें।

## 13.3 यांत्रिक एकात्मकता

यांत्रिक एकात्मकता की प्रकृति को दर्खाइम ने सूइ जेनरिस (sui generis) माना है अर्थात् जिसका जन्म स्वत: सहजता से हुआ हो। यह व्यक्ति को समाज से प्रत्यक्ष रूप से जोड़ती है। इस एकात्मकता का उदय समूह के सदस्यों के समान जीवन क्रम व एक से ही अनुभवों से होता है। एक यंत्र या मशीन से बनी वस्तुएं सभी समान आकार व गुण की होती हैं, इसी प्रकार आदिम समाज में ऐसा लगता है कि हर व्यक्ति (लिंग व आयु समान होते हुए) दूसरे व्यक्ति जैसा ही है। उनमें ऐसी समरूपता हैं कि वह यंत्रवत् हों या एक ही मशीन की उत्पत्ति हों। ऐसी समरूपता के आधार पर जो समाज में एकात्मकता बनती है, उसे यांत्रिक एकात्मकता कहा गया है।

दर्खाइम ने इस बात का समर्थन किया है कि एक विशिष्ट प्रकार की सामाजिक संरचना समरूपता प्रदान करती है। इनके लक्षणों का वर्णन एक समरूपी खण्डों की व्यवस्था की तरह किया जा सकता है, जिसमें प्रत्येक खण्ड एक दूसरे के समान है। समरूपी तत्व खण्डों में स्वयंमेव निहित होते हैं, अत: समाज अत्यंत ही छोटे-छोटे भागों में विभक्त हो जाता है जो व्यक्ति को पूर्णत: ढक लेता है। मूल रूप से, खण्डात्मक समाज **कुल (clan)** पर आधारित थे तथा ये लक्षण अविकसित समाजों में व्यापक रूप से पाये जाते थे। किन्तु विकास की प्रक्रिया में खण्डात्मक लक्षण समाज में अधिक समय तक लोकप्रिय नहीं रह सके। इनका विस्तार क्षेत्रीय आधारों पर होने लगा और जनसंख्या का बहु भाग धीरे-धीरे रक्त संबंधों (वास्तविक अथवा कल्पित) द्वारा विभाजित न होकर क्षेत्रीय होने लगा। खण्डात्मक सामाजिक संरचना में अन्तर-आश्रिता कम से कम पाई जाती है। इस संरचना के एक खण्ड में जो घटित होता है उससे अन्य खण्डों पर नाममात्र का प्रभाव भी नहीं पड़ता। अन्तत: यह कहा जा सकता है कि खण्डात्मक सामाजिक संरचनाओं में सापेक्षित रूप से पारस्परिक सम्बन्धों का भौतिक व नैतिक घनत्व कम होता है। इसका अर्थ है कि केवल कम संख्या वाले लोगों में (कम विस्तार) आपसी अत: क्रिया होती है तथा लोग कम बार (घनत्त्व) अंत:क्रिया करते हैं। इसका कारण यह है कि जो काम एक व्यक्ति कर सकता है, वह काम अन्य भी कर सकते हैं अत: लोगों को एक दूसरे पर निर्भर नहीं होना पड़ता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि **प्रथा** के कौन से ढंग यांत्रिक एकात्मकता की परिस्थितियों को व्यावहारिक रूप से नियंत्रित करते हैं? इस प्रश्न की व्याख्या दर्खाइम ने सामूहिक चेतना से की है। उसकी धारणा यह है कि चेतना की समरूपता ऐसे नियमों को जन्म देती हैं जो समान विश्वासों व रीतियों पर आधारित हैं। सामाजिक जीवन में धार्मिक तथा आर्थिक संस्थाएं एक दूसरे से घुली-मिली होती हैं और इस तरह के समाज में विभेदीकरण कम होते हैं व एक तरह का आदिम साम्यवाद पाया जाता है। सम्पत्ति पर समानाधिकार होता है, एक से अनुभव होते हैं और नियम, क़ायदे-क़ानून सामान्य जीवन से जुड़े होते हैं। रीतिरिवाजों तथा क़ानूनों से समूह की रक्षा होती है तथा उन्हीं से समूह की सम्पत्ति व भावनाओं का संरक्षण किया जाता है। इस तरह क़ानून की प्रकृति सामूहिक होती है और सामूहिक रूप से ही ग़लत काम करने वाले को दण्ड मिलता है। दंड व्यवस्था से निकली क़ानूनी अनुज्ञाएं (sanctions) सामाजिक सम्बन्धों की संख्या के अनुरूप होती हैं। सामूहिक चेतना इन अनुज्ञाओं का नियमन तथा नियंत्रण करती है। इस प्रकार दंड व्यवस्था तथा अनुज्ञाओं के सापेक्षिक महत्त्व को समझा जा सकता है। समूह के प्रति किये गये ग़लत काम को दंड दिया जाता है। जहाँ एक ओर व्यक्ति विशेष को दंड मिलता है, दूसरी ओर दंड से समाज के **विश्वास** तथा मूल्य मज़बूत होते हैं। हर अपराध समूह की भावनाओं को ठेस पहुँचाता है और हर दंड समूह की सत्ता को पुन: स्थापित करता है।

प्रश्न है कि यदि व्यक्तियों का समूह एक दूसरे पर कम निर्भर है व और स्वयं में सक्षम है, और ऐसे समाज में यदि संचार की सघनता भी कम है, तो ऐसे समूह में सामूहिक चेतना का विकास कैसे हो सकता है? ऐसे समाज के सारे समूहों में सामाजिक नियंत्रण तथा अनुज्ञाएं कैसे संभव हैं?

### 13.3.1 सामूहिक चेतना

सांस्कृतिक अथवा आदर्शात्मक स्तर पर सामूहिक चेतना के तहत् यांत्रिक एकात्मकता कैसे हो सकती है? दर्खाइम ने सामूहिक चेतना को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है: सामूहिक चेतना विश्वासों तथा भावनाओं की वह श्रेणी है जो किसी भी समाज में औसतन प्रकट हो तथा निश्चित प्रकार की व्यवस्था बनाती हो एवम् इसकी अपनी निश्चित प्रकार की जीवनशैली हो। कोई भी सदस्य इनके प्ररूप तथा गुण से सम्बन्धित लक्षणों के आधार पर इनकी पहचान कर सकता है।

### 13.3.2 सामूहिक चेतना: प्ररूप के आधार पर

सामूहिक चेतना के प्ररूप के सन्दर्भ में दर्खाइम का कहना है कि सामाजिक बंधनों की शक्ति यांत्रिक एकात्मकता का लक्षण है तथा यांत्रिक एकात्मकता के तीन रूप में सामने आते हैं।

i) सामूहिक चेतना तथा व्यक्तिगत चेतना के आयतन के बीच का सम्बन्ध

ii) सामूहिक चैतना की दशाओं की औसत तीव्रता

iii) उन सभी दशाओं की अधिक व कम दृढ़ता।

दूसरे शब्दों में, जितने ही दृढ़ विश्वास व अनुज्ञाएं समाज में विद्यमान होते हैं उतनी ही कम व्यक्ति की स्वतंत्रता की संभावनाएँ होती हैं। अत: जहाँ यांत्रिक एकात्मकता प्रभावशाली होती है वहाँ सामूहिक चेतना विस्तृत व मज़बूत होती है। यह मनुष्यों की गतिविधियों में व्यापक रूप से तारतम्यता लाती है। ऐसी परिस्थितियों में व्यक्तिगत चेतना कठिनाई से सामूहिक चेतना से अलग करने योग्य होती है। यहाँ सामूहिक सत्ता ही पूर्णता की द्योतक है, चाहे यह पूरे समुदाय में विलीन हो अथवा समुदाय के मुखिया में यह सत्ता अवतरित हो।

### 13.3.3 सामूहिक चेतना: तत्वों के आधार पर

सामूहिक चेतना के गुण के सन्दर्भ में विभेद करने वाले अनेक तत्व होते हैं। मुख्य रूप से इनकी

प्रकृति धार्मिक होती है तथा धर्म का फैलाव मुख्यत: पूरे समाज में होता है। यह इसलिए होता है क्योंकि सामाजिक जीवन मुख्यत: उभयनिष्ट विश्वासों व अनुज्ञाओं द्वारा नियंत्रित होता है जो सर्वसम्मति से स्वीकार किये जाते हैं।

वास्तविकता यह है कि पुराने समय के अविकसित समाजों में हर वस्तु में धर्म का फैलाव हो गया था। सामाजिक वही था जो धार्मिक था, दोनों शब्द आदिम समाजों में पर्यायवाची थे। अपनी बनावट में सामूहिक व सामाजिक लीन कर चेतना मनुष्यों को उसकी इच्छाओं से भी उच्च जगत में पहुँचाती थी। साकार रूप में सामूहिक चेतना की दशाएँ क्षेत्रीय परिस्थितियों से जुड़कर भी प्रजातीय व वातावरण की विशिष्टता के कारण व्यक्ति को उसके उद्देश्यों जैसे जानवर, पेड़, पौधे व अनेकों प्राकृतिक शक्तियों से जोड़ती थीं, बस तभी से लोग इन प्रघटनाओं द्वारा जुड़े हुए हैं। ये प्रघटनाएँ सभी चेतनाओं को समान रूप से प्रभावित करती हैं। सभी व्यक्तियों की चेतना के परिणामस्वरूप समूह-चेतना बनी और ये ही उसके प्ररूप व उद्देश्यों को निश्चित करती हैं। इस प्रकार निर्मित चेतना के निश्चित लक्षण होते हैं।

यांत्रिक एकात्मकता पर चर्चा के बाद सावयवी एकात्मकता पर चर्चा उपभाग 13.4 में होगी। परंतु इसके पहले बोध प्रश्न 1 पूरा करें।

**बोध प्रश्न 1**

i) निम्नलिखित में से जो सही हो उस पर (V) का निशान लगाइये।

मूल रूप से खण्डात्मक समाज आधारित होते थे।

(अ) जाति पर

(ब) वर्ण पर

(स) प्रजाति पर

(द) कुल पर

ii) निम्नलिखित में से जो सही हो उस पर (V) का निशान लगाइये।

दण्डात्मक कानूनों का उद्देश्य

(अ) व्यक्तियों को अधिक स्वतंत्रता देना था।

(ब) समाज को विभाजित करने का था।

(स) अविकसित समाजों में सामूहिक इच्छा अथवा सामूहिक चेतना के विरुद्ध कार्यों को रोक कर एकात्मकता प्रदान करना था।

(द) समाज में श्रम विभाजन करने का था।

iii) सामूहिक चेतना की परिभाषा तीन पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

iv) यांत्रिक एकात्मकता के अर्थ को तीन पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

## 13.4 सावयवी एकात्मकता

जहाँ यांत्रिक एकात्मकता सरल समाजों की विशेषता है वहीं सावयवी एकात्मकता जटिल समाजों का लक्षण है।

दर्खाइम ने जटिल समाजों का अध्ययन किया। जटिलता का अर्थ है - कई प्रकार के व्यक्तियों का होना। बढ़ई, लुहार, नाई, प्रकाशक, डॉक्टर, वकील इत्यादि कई प्रकार के व्यक्ति होते हैं। इन सारी असमानताओं के बीच एकात्मकता कैसे हो? यह प्रश्न भिन्न प्रकार का है। यांत्रिक एकात्मकता समानता पर आधारित है। विभिन्नता पर आधारित एकात्मकता "सावयवी एकात्मकता" (organic solidarity) बताई गई है। अवयव का अर्थ शरीर व उसके अंगों से है। हमारे शरीर के अंग असमान हैं- हाथ, आँख, नाक में भिन्नता है। वस्तुओं को उठाना, देखना या वास लेना उनके अलग-अलग कार्य हैं। इसी प्रकार फेफड़े, पेट व दिल विभिन्न अंग (अवयव हैं)। इन सब के अलग होने पर भी संपूर्ण शरीर की अपनी ही एकात्मकता है। सभी अंग अपना-अपना काम करते हैं। ये काम अलग-अलग हैं, और इसी प्रकार शरीर की एकात्मकता इन विभिन्नताओं के बीच है। ऐसी तुलना करने पर इसे सावयवी एकात्मकता कहा गया है। अगर हम यह मान लें कि समाज भी एक अवयव (शरीर) की भाँति है, और विभिन्न प्रकार के व्यक्ति उसके अंग हैं, तब समाज की सावयवी एकात्मकता की कल्पना भी की जा सकती है। यह एकात्मकता विभिन्नता पर आधारित है और इससे व्यक्ति समझता है कि वह स्वयम् में पूर्ण नहीं है, पूर्णता तो समाज में है। इस पूर्णता का आधार श्रम-विभाजन और विभाजित कार्यों का समायोजन है।

दर्खाइम के अनुसार समाज में सावयवी एकात्मकता की अनिवार्य विशेषता श्रम विभाजन का होना है तथा इसने धीरे-धीरे सामाजिक समरूपता को कम कर दिया। व्यक्ति अब समाज के उन अवयवों पर आश्रित रहने लगा जिससे समाज की रचना हुई। समाज इस अर्थ में विभिन्न एवम् विशेष कार्यों की एक व्यवस्था है जो निश्चित परस्पर सम्बन्धों द्वारा जुड़ी है। इस मान्यता के अनुसार व्यक्तियों की विभिन्नता इस सीमा तक सम्भव है कि प्रत्येक व्यक्ति की क्रिया का एक क्षेत्र होता है और व्यक्ति उस क्षेत्र तक सीमित रहता है, इस सब का फल व्यक्ति का स्वयं का व्यक्तित्व है। इस प्रकार यहाँ व्यक्ति विशेष की चेतना सामूहिक चेतना से अवश्य ही स्वतंत्र होती है। अत: यहाँ वे विशेष कार्य निश्चित किए जायें जिसे सामूहिक चेतना नियंत्रित न करती हो और समाज में जितनी ही ये क्रियाएँ अधिक होती हैं सामाजिक एकात्मकता उतनी ही दृढ़ होती है, यह सावयवी एकात्मकता का परिणाम है।

### 13.4.1 सावयवी एकात्मकता में सामूहिक चेतना के नए रूप

जिन समाजों में सावयवी एकात्मकता अधिक प्रभावशाली होती है उन समाजों की सामाजिक संरचना खण्डात्मक स्वरूपों के विपरीत गुण लिए होती है। इस प्रकार की सामाजिक संरचना में दूसरे विभिन्न अवयवों की विशिष्ट भूमिकाएँ होती हैं जो स्वयं भी विभिन्न भागों से बने होते हैं, तथा इन भागों में परस्पर आश्रितता तथा तारतम्यता एक केन्द्रीय अंग द्वारा नियंत्रित होती है तथा इस विशिष्ट अंग का प्रभाव अन्य सभी अंगों पर होता है। इस प्रकार के गुण के कारण खण्डों का विलयन पूर्णत: हो जाता है तथा व्यक्ति के सम्बन्ध अन्य क्षेत्रों से होने लगते हैं। सम्बन्धों की इन प्रक्रियाओं के आगे बढ़ने से सम्बन्धों का क्षेत्र भी बढ़ता है। अत: व्यक्ति का जीवन केन्द्र वहीं तक सीमित नहीं रहता जहाँ वह रहता है। खण्डों के इस विलयन की प्रक्रिया में बाज़ारों का विलयन भी सम्मिलित होता है जिससे एक बाज़ार (नगर) की धारणा अस्तित्व में आती है तथा यह सम्पूर्ण समाज को अपने में समा लेती है। समाज स्वयं ही एक बड़े बाज़ार में विलीन हो जाता है तथा यह बाज़ार सम्पूर्ण जनसंख्या को अपनी चार दीवारी के अन्दर कर लेता है। यहाँ व्यक्ति अधिक समय तक अपनी **वंश-परम्परा** के आधार पर जुड़े नहीं रहते अपितु इनकी समूहता विशिष्ट प्रकार की सामाजिक क्रियाओं पर होती है। व्यक्ति इन क्रियाओं व समूहों के प्रति निष्ठावान होते हैं। इस

प्रकार की क्रियाओं व सम्बन्धों की प्रकृतियाँ अधिक समय तक व्यक्ति को उसकी जन्मभूमि तक ही सीमित नहीं रखती बल्कि इनका फैलाव उनके कार्य करने के स्थान तक भी हो जाता है।

संगठित सामाजिक संरचना का गुण इसकी अन्तर-निर्भरता की अधिक मात्रा है। उद्योगों की बढ़ती हुई संख्या व श्रम विभाजन में प्रगति सामाजिक समूहों की एकात्मकता को निश्चित करती है। जैसे ही एक स्थान पर परिवर्तन होता है वह धीरे-धीरे दूसरे सिरों पर पहुँचा दिया जाता है। यहाँ पर राज्यों के हस्तक्षेप तथा वैधानिक चलनों की आवश्यकता होती है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि संगठित सामाजिक संरचना में सापेक्षित रूप से उच्च आयतन तथा भौतिक तथा नैतिक घनत्व भी उच्च होता है। सामान्यत: अधिक विकास की मात्रा के कारण समाज का आयतन अधिक हो जाता है। परिणामत: श्रम विभाजन भी बढ़ जाता है तथा मनुष्यों की प्रगतिशीलता के क्रम में जनसंख्या अधिक सघन होने लगती है। जैसे ही सामाजिक प्रथाएँ सावयवी एकात्मकता के अनुरूप होती हैं, श्रम विभाजन के वैधानिक नियम भी निर्धारित होने लगते हैं। ये नियम विभाजित कार्यों की प्रकृति व उनके सम्बन्धों को निश्चित करते हैं। इन कार्यों व सम्बन्धों की अवहेलना का निपटारा क्षति-पूरक उपायों से होता है। ऐसे क़ानून अथवा सहयोगात्मक क़ानून, सामाजिक मान्यताओं के साथ सावयवी एकात्मकता की आपात् स्थिति में एक संकेत की भाँति कार्य करते हैं। इसका निर्माण सिविल क़ानून, वाणिज्य क़ानून, संविदा क़ानून, प्रशासनिक क़ानून, तथा संवैधानिक क़ानूनों द्वारा होता है। इस प्रकार के क़ानूनों की उत्पत्ति पैनल दण्डात्मक क़ानूनों से हुई है जो साधारण समाजों में मिलते थे। यहाँ पैनल क़ानून व यांत्रिक एकात्मकता में जैसा परस्पर संबंध देखा गया था कुछ उस प्रकार ही सहयोगात्मक क़ानूनों की सीमा व सामाजिक जीवन बंधन, जो विभाजित श्रम से उत्पन्न हुए, उनमें भी है। कोई भी, तार्किकता द्वारा उन सभी परस्पर निर्भरता के सम्बन्धों को जो समान कार्यों द्वारा लोगों को जोड़कर प्रथाओं द्वारा नियंत्रित होते हैं, मानने से इनकार कर सकता है। इन सभी वैधानिक एवम् प्रथात्मक नियमों की आवश्यकता सावयवी एकात्मकता हेतु होती है। इस प्रकार की एकात्मकता के बने रहने के लिए आवश्यक है कि विभिन्न अवयव एक निश्चित प्रकार से सहयोग करें। यदि ये हर प्रकार से सहयोग नहीं करते तो कम से कम पूर्व निर्धारित परिस्थितियों के अनुसार अवश्य ही करते हैं। अत: मात्र अनुबन्ध ही पूर्णता का द्योतक नहीं है बल्कि इसके सुचारू रूप से पालन हेतु नियमों की जरूरत होती है, ये नियम भी उतने ही जटिल होते हैं जितना कि स्वयं जीवन।

### 13.4.2 प्ररूप के आधार पर

प्रश्न यह उठता है कि सावयवी एकात्मकता की परिस्थितियों में सामूहिक चेतना का रूप क्या होता है? सामूहिक चेतना के आयतन, तीव्रता एवं निश्चितता को ध्यान में रखते हुए दर्खाइम ने इसके प्ररूप के बारे में तर्क दिया है कि इसका आयतन स्थिर व छोटा होता है जबकि तीव्रता और निश्चितता अवश्य ही क्षीण होने लगती है सामूहिक चेतना विकसित समाजों का मात्र सीमित भाग है। औसतन रूप से सामूहिक चेतना की तीव्रता और निश्चितता की मात्रा विलुप्त होने लगती है, इस प्रकार जब श्रम विभाजन विकसित होने लगता है तो सामूहिक चेतना दुर्बल तथा अस्पष्ट होने लगती है। इसकी प्रवृत्ति कमज़ोर होने से व्यक्ति को समूह की दिशा में ले जाते हुए क्षीण प्रतीत होती है तथा आचरण के नियम अनिश्चित हो जाते हैं, इसलिए व्यक्ति को अपने बारे में चिन्तन-मनन के अधिक अवसर मिलते हैं तथा स्वतंत्रता के भी अधिक अवसर होते हैं।

### 13.4.3 विषय-वस्तु के आधार पर

सामूहिक चेतना के लक्षण सावयवी एकात्मकता के अन्तर्गत धीरे-धीरे धर्म-निरपेक्ष, मानवतावादी एवं तार्किक होने लगते हैं। ये सामूहिक उत्सुकता के मूल्यों को समाज से समाप्त अथवा क्षीण करने लगते हैं। वैज्ञानिक विचारों के कारण धर्म का संसार तीव्रता से सिकुड़ने लगा तथा कभी न कम होने वाला सामूहिक विश्वास व भावना जो धर्म के कारण दृढ़ थी उनका ह्रास सम्भव हुआ।

सामाजिक संगठन के अद्भुत गुण जो मनुष्य की रुचि से भी उत्कृष्ट थे बहुत तेज़ी से घटते जा रहे हैं।

दर्खाइम ने समूह चेतना के लक्षण विश्वास-व्यवस्था के रूप में देखे थे। आधुनिक समाजों में इसके उच्च मूल्य व्यक्ति को प्रतिष्ठा ही नहीं अपितु अवसर की समानता भी प्रदान करते हैं। इन तथ्यों की व्याख्या दर्खाइम ने एक अन्य कृति, *प्रोफ़ेशनल एथिक्स एण्ड सिविक मॉरल्स (Professional Ethics and Civic Morals)* में की है।

**बोध प्रश्न 2**

i) निम्नलिखित कथनों में जो सही हों उन पर (v ) निशान लगाइये।

यांत्रिक एकात्मकता उन समाजों में मिलती है जिनमे

(अ) समूह समरूपता पर आधारित होते हैं तथा दण्डात्मक क़ानून का प्रचलन होता है।

(ब) समूह विभिन्नता पर आधारित होते हैं तथा दण्डात्मक क़ानून का प्रचलन होता है।

(स) समूह समानता पर आधारित होते हैं तथा क्षति-पूरक क़ानून का प्रचलन होता है।

(द) समूह असमानता पर आधारित होते हैं तथा क्षति-पूरक क़ानून का प्रचलन होता है।

ii) जो निम्नलिखित में सही हों उस पर (v) निशान लागाइये।

दर्खाइम ने यांत्रिक तथा सावयवी एकात्मकता का विवेचन किस पुस्तक में किया है?

(अ) द सुइसाईड

(ब) द एलीमैंट्री फ़ार्म्स ऑफ़ रिलिजस लाइफ़

(स) द डिवीज़न ऑफ़ लेबर इन सोसाइटी

(द) द रूल्स ऑफ़ सोशियोलॉजिकल मैथड

iv) निम्न में से जो सही है उसे ख़ाली स्थान में भरकर कथन को पूरा कीजिए।

सावयवी एकात्मकता जिन समाजों में मिलती है उनकी सामाजिक संरचना ..... ..... प्रकार की होती है।

(अ) सरल

(ब) जटिल

(स) मिश्रित

(द) काल्पनिक

v) सावयवी एकात्मकता के स्वरूप की पाँच पंक्तियों में चर्चा कीजिये।

.....

.....

.....

.....

.....

## 13.5 सारांश

इकाई का सार नीचे तालिका के रूप में स्पष्ट किया जा रहा है। आशा है कि तालिका के माध्यम से यांत्रिक एकात्मकता तथा सावयवी एकात्मकताओं में अंतर याद रखने में आपको मदद मिलेगी। दोनों में अंतर का पहला आधार संरचनात्मक है। दूसरा आधार प्रतिमानों के प्रकार से निर्धारित

होता है। तीसरा आधारा सामूहिक चेतना के लक्षणों अर्थात् प्ररूपों तथा विषय-वस्तु के अनुसार है।

| क्रम | यांत्रिक एकात्मकता | सावयवी एकात्मकता |
|---|---|---|
| i) संरचना के आधार | समानता पर आधारित होती है। | श्रम विभाजन पर आधारित होती है। |
| | सर्वाधिक रूप से अविकसित समाजों में मिलती है। | सर्वाधिक रूप से अधिक विकसित समाजों में मिलती है। |
| | खण्डात्मक प्रकार की होती है, पहले कुल पर आधारित बाद में क्षेत्रीय आधारों पर। | जंटेल प्रकार की होती है (पहले बाज़ारों का विलयन और बाद में नगर की उत्पत्ति)। |
| | परस्पर आश्रिता की मात्रा कम, सामाजिक सम्बन्ध सापेक्षित रूप से दुर्बल | परस्पर आश्रिता की मात्रा अधिक, सामाजिक सम्बन्ध सापेक्षित रूप से मजबूत। |
| | सापेक्षित रूप से जनसंख्या का कम आयतन। | सापेक्षिक रूप से जनसंख्या का अधिक आयतन। |
| | सापेक्षित रूप से भौतिक व नैतिक घनत्व कम। | सापेक्षिक रूप से भौतिक तथा नैतिक घनत्व अधिक। |
| ii) प्रतिमानों के प्रकार पर | दण्डात्मक नियमों की मान्यताएँ | क्षति-पूरक नियमों की मान्यताएँ। |
| | पीनल क़ानून का चलन | सहयोगात्मक क़ानून का चलन सिविल, वाणिज्य, संविद, प्रशासनिक तथा संवैधानिक कानून। |
| iii) सामूहिक चेतना के लक्षण | | |
| (अ) प्ररूप | उच्च आयतन | निम्न आयतन |
| | उच्च तीव्रता | निम्न तीव्रता |
| | उच्च निश्चितता | निम्न निश्चितता |
| | पूर्ण रूपेण सामूहिक सत्ता | व्यक्ति के आत्म प्रयास व विचार के लिए अधिक अवसर। |
| (ब) विषय-वस्तु | अधिक धार्मिक | धर्मनिरपेक्ष तथा मानवता पर आधारित |
| | मानव कल्याण से महान तथा वाद-विवाद से परे समाज से उच्च मूल्यों द्वारा संलग्न | मानव कल्याण से सम्बन्धित तथा वाद-विवाद हेतु स्वतंत्र व्यक्ति की अस्मिता उच्च मूल्यों से संलग्न, समान अवसर, कार्य आचरण तथा सामाजिक न्याय |
| | प्रत्यक्ष एवं विशिष्ट | सैद्धांतिक एवं सामान्य |

## 13.6 शब्दावली

**कुल (clan)** — क्लैन (clan) का हिन्दी शब्द कुल है। इसको कई वंशजों के ऐसे समूह के लिए प्रयोग करते हैं जिसके सदस्य अपने को किसी दूरस्थ अथवा काल्पित पूर्वज की संतान मानते हैं। आदिम समाजों में पूर्वज को दर्शाने वाले प्रतीक में पशु, पौधा अथवा प्राकृतिक शक्तियों के स्रोत शामिल हो सकते हैं। यह रक्त समूह होता है तथा इसके अन्दर विवाह नहीं होता है।

**विश्वास** — ऐसे विचार व भावनाएं जो समाज में व्यक्तियों की क्रियाओं को संचालित करते हैं विश्वास कहलाते हैं।

**प्रथा** — जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाले सामाजिक मान्यता प्राप्त व्यवहार को प्रथा कहते हैं। इस व्यवहार का उल्लंघन, सामाजिक दबाव के कारण, सामाजिक रूप से अनुचित माना जाता है। प्रथाओं की शक्ति के सामने राज्य की शक्ति भी दुर्बल प्रतीत होती है।

**वंश-परम्परा (lineage)** — रक्त मूलक, एकपक्षीय समूह को वंश-परम्परा कहते हैं। जिसके सदस्य रक्त द्वारा अपने पूर्वजों से जुड़े होते हैं। पूर्वजों से जुड़ी कड़ियाँ सदस्यों को ज्ञात होती हैं। प्रत्येक कड़ी का पूरा ज्ञान कुल में प्रायः नहीं होता।

**सामूहिक चेतना** — किसी समाज के सदस्यों के बीच समान विश्वासों, मान्यताओं एवं भावनाओं की एक व्यवस्था की रचना को सामूहिक चेतना कहते हैं।

**सामाजिक एकात्मकता** — किसी समूह की उस स्थिति को सामाजिक एकात्मकता कहते हैं जिसमें सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सहयोग, सद्भाव में सामूहिकता होती हो तथा जो सामाजिक संगठन को उसके स्थायित्व के माध्यम से दर्शाता हो। समाज का उक्त स्वरूप सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में बदलता रहता है। इसी कारण दर्खाइम ने दो प्रकार के समाजों में दो प्रकार की एकात्मकताओं को बताया है।

**यांत्रिक एकात्मकता** — अविकसित समाजों में सरल सामाजिक संरचना के नाते समरूपता का लक्षण था। जिससे व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व सामूहिक व्यक्तित्व में विलय हो जाता था तथा वह प्रथाओं, धर्म के नियंत्रण से यंत्रवत कार्य करता था। इसी कारण ऐसी सामाजिक एकात्मकता को दर्खाइम ने यांत्रिक एकात्मकता कहा है।

**सावयवी एकात्मकता** — विकसित समाजों में जटिल सामाजिक संरचना कार्य के अत्यधिक विभाजन से हुई, किन्तु विभाजिक कार्य की इस असमानता ने समाज के व्यक्तियों को आवश्यकताओं के संदर्भ में एक दूसरे पर आश्रित बना दिया। समाज में विद्यमान इन गुणों के कारण व्यक्ति को एक दूसरे से जुड़े रहने को दर्खाइम ने सावयवी एकात्मकता कहा है।

**दण्डात्मक कानून** — इसका प्रयोग दर्खाइम ने यांत्रिक एकात्मकता को समझाने में

किया है। इसका उद्देश्य सामूहिक चेतना अथवा सामूहिक इच्छा के विरुद्ध कार्यों को रोकना है।

**क्षति-पूरक क़ानून**

इस क़ानून को दर्खाइम ने आधुनिक समाज की संरचनात्मक विशेषता को समझाने के लिए किया है तथा इसके द्वारा जिसे हानि हुई है उसकी क्षति-पूर्ति का अवसर दिया जाता है।

## 13.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बियेर्स्टेड, राबर्ट, 1966. *एमिल दर्खाइम.* वेडेन्फ़ेल्ड निकोल्सन: लंदन

दर्खाइम, एमिल, 1893. *द डिवीज़न ऑफ़ लेबर इन सोसाइटी.* मैकमिलन: लंदन

ल्यूक्स, स्टीवन, 1973. *एमिल दर्खाइम: हिज़ लाइफ़ एण्ड वर्क.* अलेन लेन, द पेंगुइन प्रैस: लंदन

स्मैल्सर, नील जे., 1976. *द सोशियोलॉजी ऑफ़ इकोनोमिक लाइफ़.* प्रेन्टिस हाल आफ़ इंडिया प्राइवेट लिमिटेड: नई दिल्ली

## 13.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) (द)

ii) (स)

iii) सामूहिक चेतना विश्वासों तथा भावनाओं की वह श्रृंखला है जो अविकसित समाजों में मूलत: प्रकट होती है तथा निश्चित प्रकार की व्यवस्था के आधार पर जीवन की एक विशिष्ट शैली रखती है। यह व्यक्ति की स्वतंत्रता को कम करके उन समाजों के स्वरूप को धार्मिक बना देती है।

iv) अविकसित समाजों में, सरल सामाजिक संरचना के नाते समरूपता की विशेषता, जिसमें व्यक्ति की इच्छाएँ सामूहिकता में मिल जाती हैं तथा वह धार्मिक प्रथाओं व नियंत्रण के कारण यंत्रवत कार्य करते हुए समाज को एकीकृत करती है, यांत्रिक एकात्मकता कहलाती है।

**बोध प्रश्न 2**

i) (अ)

ii) (स)

iii) (ब)

iv) विकसित समाजों में कार्य के अत्यधिक विभाजन से सामाजिक संरचना जटिल हो गयी। कार्यों में विभाजन की विभिन्नताओं ने आवश्यकताओं के संदर्भ में व्यक्तियों को एक दूसरे पर आश्रित कर दिया। समाज में विद्यमान इन गुणों द्वारा व्यक्ति के एक दूसरे से अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े होने को दर्खाइम ने सावयवी एकात्मकता कहा है।

# संदर्भ ग्रंथ सूची


**(अ)**

आरों, रेमों. 1967. *मेन करेंट्स इन सोशियोलॉजिकल थॉट.* वाल्यूम 2, पेंगुइन बुक्स: लंदन

रॉबर्ट बी., 1966. *एमिल दर्खाइम.* वाईडनफेल्ड एण्ड निकोल्सन्: लंदन

दर्खाइम, एमिल, 1947. *सुइसाइड-ए स्टडी इन सोशियोलॉजी.* (अनुवादक सिम्पसन्) मैकमिलन: न्यूयार्क

दर्खाइम, एमिल, 1950. *द रूल्स ऑफ़ सोशियोलॉजिकल मेथड्,* अनुवादक एस. ए. सोलोवे एण्ड जे. एच. म्यूलर तथा (सम्पादित) ई. जी. कैटलिन, द फ्री प्रेस, ग्लेनको: न्यूयार्क

दर्खाइम, एमिल, 1957. *प्रोफ़ेशनल एथिक्स एण्ड सिविक मॉरल्स.* सी. ब्रुकफील्ड द्वारा अंग्रेजी में अनुवादित. रटलज एण्ड केगन पॉल: लंदन

दर्खाइम, एमिल, 1960. *मॉनटैस्क्यू एण्ड रूसो: प्रीकरसर्स ऑफ़ सोशियोलॉजी.* यूनिवर्सिटी ऑफ़ मिशीगन प्रेस, एन आर्बर: मिशीगन

दर्खाइम, एमिल, 1964. *द डिविज़न ऑफ़ लेबर इन सोसाइटी.* द फ्री प्रेस, ग्लेनको: न्यूयार्क

किंग्सले, डेविस, 1969 *वर्ल्ड अरबनाइज़ेशन, 1950-1970.* यूनीवर्सिटी ऑफ़ कैलीफ़ोर्निया प्रेस: बर्कले

बैंडिक्स, आर. एण्ड एस.एम. लिपसेट, 1966. *क्लास स्टेटस एण्ड पॉवर.* सोशल स्ट्रेटीफ़िकेशन इन कम्पैरेटिव पर्सपेक्टिव: रटलेज एण्ड केगन पॉल लिमिटेड: लंदन

लीच, एडमंड 1982. *सोशल एंथ्रोपॉलजी.* ऑक्सफ़र्ड यूनीवर्सिटी प्रेस: ऑक्सफ़र्ड

ल्यूक्स, स्टीवन, 1973. *एमिल दर्खाइम: हिज़ लाइफ एण्ड वर्क.* ऐलन लेन. द पेंगुइन प्रेस: लंदन

मिल, जे. एस. 1979. *सिस्टम ऑफ़ लॉजिक.* 10वां एडीशन, 2 वाल्यूम, लॉंगमन्स, ग्रीन: लंदन

नंदन, यश, 1980. *एमिल दर्खाइम: कॉंट्रिब्यूशन्स् टू ल एने सोशियोलॉजिक.* द फ्री प्रेस, एक डिविज़न ऑफ़ मैकमिलन पब्लिशिंग कंपनी : न्यूयार्क

निस्बत, आर. ए., 1974. *द सोशियोलॉजी ऑफ़ एमिल दर्खाइम.* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: न्यूयार्क

पिकरिंग, डब्ल्यू.एस.फ. 2002. *दर्खाइम टुडे.* दर्खाइम प्रेस: ऑक्सवर्ड

रेक्स, जॉन, 1961. *की प्राब्लम्स् इन सोशियोलॉजिकल थ्यरी.* रटलेज एण्ड केगन पॉल: लंदन

स्मेलसर. नील जे, 1976. *द सोशियोलॉजी ऑफ़ ऐकनोमिक लाइफ़.* प्रेंटिस हाल ऑफ़ इंडिया लिमिटेड: नई दिल्ली

स्मिथ, ऐडम, 1921. *इनक्वायरी इन टू द नेचर एण्ड काजिज ऑफ़ द वेल्थ ऑफ़ नेशन्स.* वाल्यूम. I, II बेल एण्ड सन्स: लंदन

**(ब) हिंदी में उपलब्ध पुस्तकें**

दर्खाइम, एमिल, 1982. *समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम.* (अनुवादक) हरिश्चन्द्र उप्रेती, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी: जयपुर क्रमांक: 516

चौहान, ब्रजराज, 1994. *समाज विज्ञान के प्रेरक स्रोत: वेबर, मार्क्स, दुर्कहैम.* ए.सी. ब्रदर्स: उदयपुर

श्रीवास्तव, सुरेन्द्र कुमार, *समाज विज्ञान के मूल विचारक.* उत्तरप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी: लखनऊ, क्रमांक: 541

वर्मा, ओकप्रकाश, 1983-84. *दर्खाइम एक अध्ययन.* विवेक प्रकाशन: दिल्ली

# इकाई 14 आदर्श प्ररूप

## इकाई की रूपरेखा


14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 आदर्श प्ररूपः व्याख्या, संरचना और विशेषताएं

- 14.2.1 व्याख्या
- 14.2.2 संरचना
- 14.2.3 विशेषताएं

14.3 आदर्श प्ररूप के उद्देश्य और उपयोग

14.4 वेबर द्वारा निर्धारित आदर्श प्ररूप

- 14.4.1 विशिष्ट ऐतिहासिक तत्वों के आदर्श प्ररूप
- 14.4.2 सामाजिक यथार्थ के अमूर्त तत्व
- 14.4.3 व्यवहार विशेष की पुनर्रचना

14.5 सारांश

14.6 शब्दावली

14.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 14.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपके लिए संभव होगा

- आदर्श प्ररूपों के अर्थ और विशेषताओं की चर्चा करना
- सामाजिक विज्ञानों के आदर्श प्ररूपों के उद्देश्य और उपयोग की विवेचना करना
- मैक्स वेबर ने अपनी रचनाओं में आदर्श प्ररूप का उपयोग कैसे किया है, इसकी व्याख्या करना।

## 14.1 प्रस्तावना

इस पाठ्यक्रम के पहले खंड में आपने समाजशास्त्र के संस्थापक विद्वानों के प्रमुख धारणाओं के विषय में जाना। दूसरे और तीसरे खंड में कार्ल मार्क्स (1818-1883) और एमिल दर्खाइम (1858-1917) के समाजशास्त्रीय विचारों के बारे में बताया गया। इस खंड में हमने समाजशास्त्र में मैक्स वेबर (1864-1920) के प्रमुख योगदान की चर्चा की है।

मैक्स वेबर के सिद्धांतों के बारे में यह इस खंड की पहली इकाई है। सामाजिक विज्ञानों की विचार पद्धति को समझने के लिए मैक्स वेबर ने आदर्श प्ररूप की अवधारणा प्रस्तुत की। इस इकाई में मैक्स वेबर के प्रमुख सिद्धांतों को उचित परिप्रेक्ष्य और पृष्ठभूमि को समझने तथा परखने हेतु आदर्श प्ररूप की अवधारणा को समझने का प्रयास किया गया है।

इस इकाई में सबसे पहले आदर्श प्ररूपों का सामान्य अर्थ स्पष्ट किया गया है। मैक्स वेबर के सिद्धांतों के अनुसार आदर्श प्ररूप की समाजशास्त्रीय अवधारणा और विशेषताओं की व्याख्या की गई है। यहां इन दो प्रश्नों का भी उत्तर दिया गया है कि समाजशास्त्रियों को आदर्श प्ररूप विकसित करने की ज़रूरत क्यों पड़ती है और ऐसे प्ररूप कैसे तैयार किए जाते हैं। वेबर ने तीन विशिष्ट तरीक़ों से आदर्श प्ररूपों का उपयोग किया। तीनों संदर्भों में आदर्श प्ररूपों के उपयोग की चर्चा की गई है। ये संदर्भ हैं

(क) विशिष्ट ऐतिहासिक तत्वों के आदर्श प्ररूप

(ख) सामाजिक यथार्थ के अमूर्त तत्वों के आदर्श प्ररूप और

(ग) किसी विशिष्ट व्यवहार की पुनर्रचना के आदर्श प्ररूप।

उचित उदाहरणों के साथ इन तीन तरह के प्ररूपों की विवेचना की जा रही है।

## 14.2 आदर्श प्ररूपः व्याख्या, सरंचना और विशेषताएं

मैक्स वेबर के अनुसार 'आदर्श प्ररूप' शब्द का अपना विशिष्ट अर्थ है और इसकी संरचना में कुछ बुनियादी सिद्धांत हैं। इस भाग में 'आदर्श प्ररूप' शब्द सामान्य तथा वेबर द्वारा बताया गया अर्थ, इसकी संरचना और विशेषताओं के बारे में बताया गया है।

### 14.2.1 व्याख्या

सबसे पहले आइए हम 'आदर्श' और 'प्ररूप' शब्दों के शब्दकोषीय अर्थ की चर्चा करें। न्यू वेबस्टर डिक्शनरी के अनुसार 'आइडियल' (जिसका हिन्दी पर्याय 'आदर्श' है) का अर्थ "अधिक से अधिक पूर्णता की स्थिति वाला मानक स्वरूप या धारण है।" इसकी चर्चा किसी मानसिक छवि या धारणा के रूप में होती है, किसी भौतिक पदार्थ के रूप में नहीं। कॉलिंस कॉबिल्ड इंगलिश लैंगएज डिक्शनरी के अनुसार, "किसी संदर्भ में आपका आदर्श व व्यक्ति या वस्तु होगी जो आपको उस संदर्भ में सर्वोत्तम उदाहरण लगे।"

'टाइप' (जिसका हिन्दी पर्याय 'प्ररूप' है) का अर्थ है "कोई प्रकार, वर्ग अथवा समूह जिसे अपनी ख़ास विशेषता के कारण अन्य वर्गों से अलग रखा जा सके" (*न्यू वेबस्टर डिक्शनरी, 1985*)। इस तरह, आमतौर से आदर्श प्ररूप किन्हीं वस्तुओं या व्यक्तियों के ऐसे प्रकार, वर्ग अथवा समूह को कहा जा सकता है जिसकी अपनी ख़ास विशेषता अथवा लक्षण हो और वह विशेषता अपने वर्ग या समूह में सर्वोत्तम लगे।

वेबर ने 'आदर्श प्ररूप' का इस्तेमाल एक विशिष्ट अर्थ में किया। उसके अनुसार 'आदर्श प्ररूप' एक मॉडल की तरह, दिमाग़ी तौर पर बनाई गई ऐसी विधि है जिसके आधार पर वास्तविक स्थिति अथवा घटना को परखा जा सकता है और उसका क्रमबद्ध तरीक़े से चित्रण किया जा सकता है। वेबर ने सामाजिक यथार्थ को समझने और परखने के लिए आदर्श प्ररूप को विचार पद्धति के साधन के रूप में प्रयुक्त किया।

विचार पद्धति अवधारणाओं और तर्कों पर आधारित शोध विधि का ऐसा तरीक़ा है जिससे ज्ञान विकसित होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो सामाजिक विज्ञानों की विचार पद्धति में ज़्यादातर ज़ोर इनकी वैज्ञानिक प्रमाणिकता निर्धारित करने पर दिया गया है (मिचेल 1968: 118)। मैक्स वेबर की सामाजिक विज्ञानों में वस्तुपरकता के प्रति विशेष रूचि थी। इसलिए उसने आदर्श प्ररूप को विचार पद्धति के ऐसे साधन के तौर पर प्रयोग किया जो यथार्थ को वस्तुपरक दृष्टि से देखें। यह सामाजिक यथार्थ को किसी व्यक्तिपरक पूर्वाग्रह के बिना परखता है तथा वर्गीकृत, क्रमबद्ध और परिभाषित करता है।

आदर्श प्ररूप का मूल्यों से कुछ संबंध नहीं है। शोध के साधन के रूप में आदर्श प्ररूप का प्रयोग वर्गीकरण और तुलना के लिए होता है। मैक्स वेबर (1971:63) के अनुसार, आदर्श प्ररूप की अवधारणा शोध कार्य में संभावित कारणों की खोज में हमारी मदद करती है। यह यथार्थ का विवरण नहीं है लेकिन इसका उद्देश्य ऐसे विवरण की स्पष्ट अभिव्यक्ति देना है जिन तथ्यों को आनुभाविक शोध के लिए सतर्कता से और जांच-परखकर एकत्र किया गया है। इस दृष्टि से, आदर्श प्ररूप ऐसी अवधारणाएं अथवा संरचनाएं हैं, जिनका किसी सामाजिक समस्या को समझने और विश्लेषित करने की विचार पद्धति में साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है।

यह समझने के लिए कि मैक्स वेबर ने आदर्श प्ररूपों का कैसे उपयोग किया, आइए देखें कि इन प्ररूपों की रचना कैसे होती है।

### 14.2.2 संरचना

आदर्श प्ररूप अनिश्चित संख्या में ऐसे तत्वों के अमूर्तीकरण और संयोग से विकसित किए जाते हैं, जो तत्व यथार्थ में पाए तो जाते हैं लेकिन अपने विशिष्ट रूप में या तो कभी नहीं पाए जाते या बहुत ही कम पाए जाते हैं। इसलिए, वेबर ने यह नहीं माना कि उसने कोई नई अवधारणा पर आधारित पद्धति प्रस्तुत की। वेबर ने इस बात पर ज़ोर दिया कि व्यवहार में जो पहले से किया जा रहा है, वह उसी को अधिक स्पष्ट कर रहा है। आदर्श प्ररूप तैयार करने के लिए समाजशास्त्री पूरे ढांचे से कुछ विशेषताओं को चुनता है, क्योंकि संपूर्ण ढांचा अस्पष्ट और भ्रमित करने वाला होता है। उदाहरण के लिए, यदि हम भारत में लोकतंत्र (अथवा धर्मनिरपेक्षता, साम्प्रदायिकता, समानता) का अध्ययन करना चाहें तो सबसे पहले हमें लोकतंत्र की अवधारणा को इसकी अनिवार्य तथा प्रारूपिक विशेषताओं के आधार पर परिभाषित करना होगा। यहां लोकतंत्र की कुछ अनिवार्य विशेषताओं का उल्लेख करना उचित होगा, जैसे कि बहुदलीय प्रणाली, सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार, जन समुदाय के प्रतिनिधियों द्वारा सरकार का गठन, निर्णयों में जनसमुदाय की भागीदारी, समानता का अधिकार, बहुमत का सम्मान। लोकतंत्र का शुद्ध या आदर्श प्ररूप तैयार होने के बाद यह प्ररूप हमारे विश्लेषण की दिशा निर्धारित करेगा और विश्लेषण का साधन बनेगा। भारत के लोकतंत्र की विशेषताओं का इस प्ररूप के अनुरूप अथवा प्रतिकूल होना ही यथार्थ का सही चित्र हमार सामने रखेगा (उदाहरणार्थ देखें चित्र 14.1: न्यायालय का आदर्श प्ररूप)। इस प्रकार, आदर्श प्ररूप से सामान्य अथवा औसत विशेषताएं नहीं, बल्कि प्रारूपिक और अनिवार्य विशेषताएं प्रकट होती हैं। उदाहरण के लिए, अपनी पुस्तक *द* **प्रोटेस्टेंट एथिक** *एंड स्पिरिट ऑफ़ कैपिटलिज़्म* में वेबर ने कल्विन धर्म की विशेषताओं का विश्लेषण किया है। ये विशेषताएं विभिन्न ऐतिहासिक लेखों से ली गई हैं। इनमें कल्विन सिद्धांतों के ऐसे हिस्से शामिल हैं जो वेबर के अनुसार पूंजीवादी प्रवृत्ति विकसित करने की दृष्टि से विशेष महत्व के रहे हैं। इस तरह, आदर्श प्ररूप कुछ ऐसे तत्वों, गुणों अथवा विशेषताओं का चयन है जो संबंधित अध्ययन के लिए विशेष रूप से प्रासंगिक होते हैं। लेकिन एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि आदर्श प्ररूप यथार्थ तथ्यों से विकसित तो किए जाते हैं, परन्तु ये पूर्ण यर्थाथ का प्रतिनिधित्व नहीं करते अथवा उनका विवरण प्रस्तुत नहीं करते। तार्किक आधार पर ही ये शुद्ध प्ररूप होते हैं। वेबर के अनुसार ऐसी आदर्श मानसिक संरचना, अपने अवधारणात्मक शुद्ध स्वरूप में, यथार्थ में व्यावहारिक रूप से कहीं भी नहीं मिल सकती। आदर्श प्ररूप विकसित करने का यही तरीक़ा है। इसे और अच्छी तरह समझने के लिए, इसी इकाई के भाग 14.4 में वेबर द्वारा उपयोग में लाई गई आदर्श प्ररूप की अवधारणाओं की विवेचना की गई है।

**चित्र 14.1: न्यायालय का आदर्श प्ररूप**

### 14.2.3 विशेषताएं

उपरोक्त चर्चा के आधार पर आदर्श प्ररूपों की निम्न विशेषताएं बताई जा सकती हैं।

i) आदर्श प्ररूप सामान्य अथवा औसत प्ररूप नहीं है। इसका अर्थ है कि ये विचारधीन समूह, वस्तु अथवा घटना की सभी सामान्य विशेषताओं के रूप में परिभाषित नहीं किए जाते। ये कुछ ऐसे विशिष्ट गुणों पर आधारित हैं जो आदर्श प्ररूप की अवधारणा विकसित करने के लिए अनिवार्य हैं।

ii) ये पूर्ण यथार्थ की प्रस्तुति नहीं हैं, न ही ये सभी बातों की व्याख्या करते हैं। ये पूर्ण यथार्थ की आंशिक अवधारणा को ही व्यक्त करते हैं।

iii) आदर्श प्ररूप यथार्थ की किसी निश्चित अवधारणा की व्याख्या नहीं करते, ये यथार्थ की कोई परिकल्पना भी नहीं प्रस्तुत करते, लेकिन यथार्थ की व्याख्या और विवरण में सहायक होते हैं। आदर्श प्ररूपों का क्षेत्र और उपयोग वर्णनात्मक अवधारणाओं से भिन्न है। उदाहरण के लिए, यदि विभिन्न सम्प्रदायों के वर्गीकरण में वर्णनात्मक अवधारणा का प्रयोग किया जाए और फिर आर्थिक गतिविधि के लिए इनकी अलग-अलग विशेषताओं के महत्व को निर्धारित करना हो तो संप्रदाय की धारणा का फिर निर्धारण करना होगा ताकि संप्रदायों के ऐसे विशिष्ट गुणों पर ध्यान दिया जा सके जो आर्थिक कार्यकलापों को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार, यह धारणा आदर्श विशिष्ट बन जाती है। इसका अर्थ है कि जब किसी वस्तु अथवा घटना के वर्णन की बजाय उसकी व्याख्या या विश्लेषण करना हो तो कुछ तत्वों का अमूर्तीकरण और पुनर्निर्धारण करके किसी भी वर्णनात्मक धारणा को आदर्श विशिष्ट धारणा में बदला जा सकता है।

iv) इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि आदर्श प्ररूप घटनाक्रम के कार्यकारण विश्लेषण से जुड़े हैं, लेकिन ये पूर्व-निर्धारित व्याख्या के अर्थ में नहीं जुड़े हैं।

v) सामान्य निष्कर्षों तक पहुँचने और तुलनात्मक विश्लेषण में भी ये सहायक हैं।

vi) आदर्श प्ररूप आनुभाविक शोध के निर्देशन में भी सहायक होते हैं। ये ऐतिहासिक और सामाजिक यथार्थ के आंकड़ों को क्रमबद्ध करने में भी उपयोगी होते हैं।

**बोध प्रश्न 1**

i) निम्नलिखित कथनों में सही कथन पर निशान लगाइए।

क) आदर्श प्ररूप सामान्य प्ररूप हैं।

ख) आदर्श प्ररूप औसत प्ररूप हैं।

ग) आदर्श प्ररूप शुद्ध प्ररूप हैं।

घ) आदर्श प्ररूप आदर्शात्मक प्ररूप हैं।

ii) नीचे दिए गए तथ्यों में से प्रत्येक के सामने बने कोष्ठक में "सही" अथवा "ग़लत" पर निशान लगाइए।

क) आदर्श प्ररूप यथार्थ का विवरण है सही/ग़लत

ख) आदर्श प्ररूप किसी सामाजिक स्थिति अथवा घटना के विश्लेषण और व्याख्या में सहायक हैं। सही/ग़लत

ग) आदर्श प्ररूप विशिष्ट और अनिवार्य गुणों के चयन द्वारा विकसित किए जाते हैं। सही/ग़लत

घ) आदर्श प्ररूप परिकल्पना हैं। सही/ग़लत

च) आदर्श प्ररूप पूर्ण यथार्थ का प्रतिनिधित्व करते हैं। सही/ग़लत

छ) आदर्श प्ररूप कार्य-कारण संबंधों के और तुलनात्मक विश्लेषण में सहायक हैं। सही/ग़लत

## 14.3 आदर्श प्ररूप के उद्देश्य और उपयोग

आदर्श प्ररूप व्यावहारिक समस्याओं के विश्लेषण के लिए तैयार किए जाते हैं। बहुत से शोधकर्ताओं को इनका पूरा ज्ञान नहीं होता, जिनका उन्हें अपने अध्ययन में उपयोग करना है। इससे उनका शोध कार्य अस्पष्ट और अनिश्चित हो जाता है। वेबर का कहना है कि इतिहासवेत्ताओं के विवरण में जिस भाषा का प्रयोग होता है, उसमें सैकड़ों अस्पष्ट शब्द होते हैं। ये शब्द सही भाषा की तलाश की अचेतन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इस्तेमाल किए जाते हैं। सही अभिव्यक्ति क्या होगी, यह महसूस तो किया जाता है, लेकिन उस पर स्पष्ट रूप से विचार नहीं हो पाता (वेबर 1949: 92-93)।

समाज वैज्ञानिकों का दायित्व है कि वे विषय-वस्तु से अस्पष्टता दूर करके इसे बोधगम्य बनाएँ । उदाहरण के लिए, आइए हम सत्ता के आदर्श प्ररूपों की संरचना पर चर्चा करें। वेबर ने **सत्ता** के तीन प्रमुख प्रकार **तर्क-विधिक सत्ता,** पारंपरिक और **करिश्माई अथवा चमत्कारिक सत्ता** बताए हैं। इनमें से प्रत्येक तरह की सत्ता का पालन करने की प्रेरणा अथवा नेता की वैधता के दावे के आधार पर परिभाषित किया जाता है। यथार्थ में इन तीनों प्ररूपों का मिश्रण या मिला-जुला रूप पाया जाता है। इसीलिए सत्ता के प्ररूपों के बारे में हमारी समझ एकदम स्पष्ट होनी चाहिए। यथार्थ में ये सभी प्ररूप मिले-जुले रूप में होते हैं, इसलिए इन प्ररूपों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाना आवश्यक है।

आदर्श प्ररूप पूरी तरह अवधारणात्मक विचार से नहीं बनते। इन्हें वास्तविक समस्याओं के आनुभाविक अध्ययन से विकसित किया जाता है, संशोधित किया जाता है और अधिक स्पष्ट बनाया जाता है। इससे विश्लेषण की शुद्धता बढ़ जाती है।

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि आदर्श प्ररूप आनुभाविक सस्याओं के विश्लेषण

की शोध पद्धति के साधन हैं। साथ ही इनसे प्रयोग की गई अवधारणा की अस्पष्टता और भ्रम दूर होते हैं तथा विश्लेषण की शुद्धता बढ़ती हैं।

**सोचिए और करिए 1**

आपको गाँवों में ग्राम पंचायत या शहरों में नगर निगम के कामकाज के तरीके की जानकारी होगी। अगर आपका निवास गाँव में है तो ग्राम पंचायत का आदर्श प्ररूप तैयार करिए। अगर शहर में है तो नगर निगम का आदर्श प्ररूप तैयार करिए। अगर संभव हो तो अध्ययन केंद्र में अपनी टिप्पणी की अन्य विद्यार्थियों के साथ तुलना कीजिए।

वेबर के विचार पद्धति संबंधी लेखों में आदर्श प्ररूप एक प्रमुख धारणा है और इसका इस्तेमाल ऐतिहासिक विन्यास अथवा विशिष्ट ऐतिहासिक समस्या को समझने के साधन के तौर पर किया गया है। इसके लिए उसने आदर्श प्ररूप तैयार किए और यह समझा कि घटनाएँ वास्तव में कैसे घटती हैं। साथ ही यह भी दिखाया कि अगर उसके पहले का कोई घटनाक्रम नहीं हुआ होता या दूसरे रूप में होता है, तो जिस घटना की व्याख्या का प्रयास किया जा रहा है, वह भी दूसरे तरीके से ही घटी होती। उदाहरण के तौर पर हमारे देश के गाँवों में भूमि सुधार लागू होने तथा आधुनिक शक्तियों जैसे शिक्षा, आधुनिक व्यवसाय आदि के प्रवेश ने संयुक्त परिवार व्यवस्था को क्षति पहुँचाई है। इसका अर्थ है कि किसी घटना (भूमि सुधार, शिक्षा आदि) और तात्कालिक स्थिति (संयुक्त परिवार) के बीच कार्य-कारण संबंध हैं। इस प्रकार, आदर्श प्ररूप की अवधारणा से किसी घटना की कार्य-कारण संबंध के आधार पर व्याख्या भी की जा सकती है।

इसका यह अर्थ नहीं हैं कि हर घटना के पीछे कोई विशिष्ट कारण ही हो। वेबर का यह मानना नहीं है कि समाज का एक तत्व किसी दूसरे तत्व द्वारा निर्धारित होता है। उसने इतिहास और समाजशास्त्र के कार्य-कारण संबंधों को मात्र आंशिक और संभावित ही माना है। इसका अर्थ है कि यथार्थ का एक अंश किसी दूसरे अंश को संभावित या असंभावित, अनुकूल या प्रतिकूल बना सकता है। उदारहण के लिए, कुछ मार्क्सवादियों का कहना होगा कि उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व का परिणाम यही होगा कि इन साधनों के स्वामी, अल्पसंख्यक वर्ग के पास ही राजनीतिक सत्ता भी आ जाएगी। लेकिन वेबर की इस बारे में राय होगी कि संपूर्ण नियोजन की आर्थिक व्यवस्था में किसी खास राजनीतिक संगठन की संभावनाएं ज्यादा प्रबल हो जाती हैं। वेबर के लेखों में कार्य-कारण संबंधों का यह विश्लेषण विश्व भर के घटनाक्रम के तुलनात्मक अध्ययन अथवा घटनाओं की जांच परख तथा सामान्य सिद्धांत निर्धारित करने की उसकी दिलचस्पी से जुड़ा हुआ है। उसने किसी विशेष ऐतिहासिक घटना की अवधारणा प्रस्तुत करने और तुलनात्मक अध्ययन के लिए आदर्श प्ररूपों का प्रयोग किया। वेबर की आदर्श प्ररूप की अवधारणा में इतिहास और समाजशास्त्र की परस्पर निर्भरता सबसे ज़्यादा स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

इतिहास की विशिष्ट घटनाओं के विवेचन के अलावा, वेबर ने सामाजिक यथार्थ के अमूर्त तत्वों के विश्लेषण और विशेष तरह के सामाजिक व्यवहार की व्याख्या में आदर्श प्ररूपों का प्रयोग किया। अगले भाग (14.4) में इन पर विस्तृत अध्ययन किया गया है। 14.4 में वेबर की रचनाओं में दिए गए आदर्श प्ररूपों की भूमिका की चर्चा की जाएगी। परंतु अब समय है बोध प्रश्न 2 को हल करने का, क्यों न उसे ही पहले करें।

**बोध प्रश्न 2**

i) आदर्श प्ररूप कैसे बनाए जाते हैं? दो पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

ii) आदर्श प्ररूप क्यों बनाए जाते हैं? तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

## 14.4 वेबर द्वारा निर्धारित आदर्श प्ररूप

वेबर ने तीन विशिष्ट रूपों में आदर्श प्ररूपों का प्रयोग किया। ये तीन रूप अमूर्तीकरण के तीन स्तरों के आधार पर विभाजित किए गए हैं। पहले प्रकार के आदर्श प्ररूपों का आधार ऐतिहासिक विशिष्टताओं में होता है, जैसे पश्चिमी नगर, प्रोटेस्टेंट नैतिकता आदि। वास्तव में, ये आदर्श प्ररूप विशिष्ट ऐतिहासिक कालों और विशेष सांस्कृतिक क्षेत्रों में निर्दिष्ट होते हैं। दूसरी तरह के आदर्श रूप सामाजिक यथार्थ के अमूर्त तत्वों पर आधारित हैं, उदाहरण के लिए, नौकरशाही अथवा सामंतवाद की अवधारणाएं। सामाजिक यथार्थ के ये तत्व विभिन्न ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों में पाए जाते हैं। तीसरे प्रकार के आदर्श प्ररूप व्यवहार-विशेष की पुनर्रचना से जुड़े हैं (कोज़र 1977: 224)। अब हमने इन प्रकारों का अलग-अलग अध्ययन किया है।

### 14.4.1 विशिष्ट ऐतिहासिक तत्वों के आदर्श प्ररूप

वेबर के अनुसार, आधुनिक पाश्चात्य समाज में पूँजीवाद पूरी तरह आ गया है। वेबर ने संपूर्ण ऐतिहासिक तत्वों में से खास विशेषताओं को लेकर पूँजीवाद का आदर्श प्ररूप निर्मित किया ताकि यह एक बोधगम्य स्वरूप ले सके। इस स्वरूप से यह बताया गया कि आधुनिक पूँजीवादी कार्यकलापों के आर्थिक विचार और **कल्विन धर्म** की प्रवृत्तियों में काफ़ी निकटता है। यह सिद्ध करने के लिए वेबर ने कल्विन धर्म के ऐसे पक्ष प्रस्तुत किए जो उसकी राय में पूँजीवादी प्रवृत्ति के विकास में विशेष महत्व के थे।

वेबर के अनुसार, **पूँजीवाद** का मूल रूप उस उद्यमी प्रवृति में निहित है, जिसका उद्देश्य अधिकाधिक लाभ पाना और अधिकाधिक संग्रह करना है। ये लक्ष्य कार्य और उत्पादन के तार्किक संगठन पर आधारित हैं। लाभ की इच्छा तथा तार्किक अनुशासन का मेल ही, ऐतिहासिक दृष्टि से पाश्चात्य पूँजीवाद की विशिष्टता का आधार है। लाभ की इच्छा सट्टेबाजी अथवा विजय या फिर साहस से संतुष्ट नहीं होती। यह तो अनुशासन और तार्किकता से ही संतुष्ट होती है। ऐसा आधुनिक राज्य या तर्कसंगत नौकरशाही के कानूनी प्रशासन के द्वारा ही संभव हो सकता है। इस प्रकार, पूँजीवाद को ऐसे उद्यम के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो असीमित लाभ प्राप्त करने के लिए नौकरशाही तार्किकता के अनुरूप काम करता है।

वेबर ने यह दिखाने का प्रयास किया कि इस प्रकार की आर्थिक गतिविधि और कल्विन सिद्धांत के तत्वों के बीच काफ़ी समानता है। कल्विन धर्म की नैतिकता के अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान और सामान्य जन से ऊपर है। मनुष्य को पृथ्वी पर ईश्वर के गौरव के लिए काम करना है और ऐसा तर्कसंगत तरीक़े से और लगातार तथा नियमित रूप से मेहनत

करके ही किया जा सकता है। व्यक्ति चाहे वह अमीर हो या ग़रीब उसका यह दायित्व है कि वह दैनिक जीवन में नैतिक आचार-विचार अपना कर ईश्वर के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करे। ऐसे व्यक्ति के लिए परिश्रम ही पूजा है और आलसीपन की उसकी ज़िंदगी में कोई गुंजाइश नहीं है। जिसमें वैध आर्थिक गतिविधि से धन कमाना निहित है, कल्विन सिद्धांत का यह विशिष्ट तत्व पूंजीवादी प्रवृति के अनुरूप है। इसका आधार एक व्यवसाय में योग्य तरीक़े से काम करने के जीवन-मूल्य को कर्तव्य और सदाचार मानना है। कल्विन धर्म और पूँजीवाद के बीच यह घनिष्ठ संबंध और वेबर द्वारा परिभाषित पूँजीवाद आर्थिक व्यवस्था के उदय की यह स्थिति केवल पश्चिमी देशों में रही है। इसीलिए यह ऐतिहासिक दृष्टि से एक खास घटनाक्रम है। कल्विन नैतिकता में धार्मिक और आर्थिक गतिविधियों का एक संयोग है, जो न तो कैथोलिक धर्म में है, न ही हिंदू धर्म, इस्लाम, कन्फ्यूशियस धर्म, यहूदी तथा बौद्ध धर्मों में ऐसा संयोग पाया जाता है। वेबर ने इन सभी धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया।

### 14.4.2 सामाजिक यथार्थ के अमूर्त तत्व

सामाजिक यथार्थ के ये तत्व अनेक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों में पाए जाते हैं। **नौकरशाही,** सत्ता के प्रकार और क्रिया के प्रकार इन अमूर्त तत्वों के प्रमुख उदाहरण हैं। आइए, अब हम इन तीनों उदाहरणों पर विचार करें।

#### (i) नौकरशाही

नौकरशाही शब्द का सामान्य अर्थ ऐसे विभागीय और प्रशासनिक अधिकारियों से है, जो कड़ी कार्यप्रणाली का पालन करते हैं। मैक्स वेबर ने औद्योगिक समाज में किसी संगठन के लक्ष्यों की विवेकपूर्ण तरीक़े से प्राप्ति के लिए नौकरशाही को अपरिहार्य माना (मिचेल 1967: 21)।

वेबर के अनुसार, नौकरशाही संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति के तर्कसंगत अथवा कुशल प्रयासों के लिए सर्वोत्तम प्रशासनिक स्वरूप है। वेबर द्वारा निर्धारित नौकरशाही के आदर्श प्ररूप में अनेक तत्व शामिल हैं। जैसे

क) उच्च श्रेणी का विशिष्टीकरण और स्पष्ट रूप से निर्धारित श्रमविभाजन, जिसमें सरकारी कार्य के रूप में काम को बाँट दिया जाता है,

ख) सत्ता का पद क्रमानुसार ढाँचा, जिसमें निर्देश और दायित्व के क्षेत्रों का स्पष्ट निर्धारण हो,

ग) नियमों की औपचारिक संस्था, जिसमें संगठन का कामकाज चलाया जाए तथा प्रशासन लिखित प्रलेखों पर आधारित हो,

घ) संगठन के सदस्यों के परस्पर तथा इसकी सेवाएं लेने वालों के साथ निर्वैयक्तिक संबंध हों,

च) अधिकारियों की नियुक्ति योग्यता और तकनीकी ज्ञान के आधार पर हो,

छ) दीर्घ, अवधि की नौकरी हो तथा वरिष्ठता और योग्यता के आधार पर पदोन्नति हो,

ज) निश्चित वेतन और निजी तथा सरकारी आय के बीच स्पष्ट विभेद हो।

आधुनिक पूँजीवाद के उदय से पहले भी विश्व के अनेक भागों में विकसित नौकरशाही के उदाहरण मिलते हैं लेकिन पूँजीवाद के अंतर्गत पाई जाने वाली नौकरशाही ही आदर्श प्ररूप से अधिक मेल खाती है। वेबर ने नौकरशाही के इन अमूर्त तत्वों के आधार पर ही एक निश्चित व्यवस्था की व्याख्या की।

### (ii) सत्ता के प्रकार

सत्ता के विभिन्न पक्षों को समझने के लिए मैक्स वेबर ने तीन प्रकार की सत्ता के अनुरूप ही इसके आदर्श प्ररूप बनाए। ये हैं, पारंपरिक, तर्क-विधिक और करिश्माई अथवा चमत्कारिक।

पारंपरिक सत्ता प्राचीन रीति-रिवाजों और नियमों की पवित्रता में विश्वास पर आधारित है। तर्क पर आधारित सत्ता कानूनों, आदेशों और प्रावधानों पर आधारित है। करिश्माई सत्ता का आधार नेता के व्यक्तित्व में निहित है या अनुयायियों द्वारा मान लिए गए असाधारण अथवा चमत्कारी गुण हैं। ऐसे व्यक्ति में लोगों को विश्वास होता है तथा वह उनकी श्रद्धा का पात्र बन जाता है। अवधारणा के इन आदर्श प्ररूपों का उपयोग वास्तविक राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझने में किया जाता है। इनमें से ज़्यादातर व्यवस्थाओं में प्रत्येक प्ररूप के अंश होते हैं (विस्तृत अध्ययन के लिए इकाई 17 पढ़िए)।

### (iii) कार्य के प्रकार

मैक्स वेबर के अनुसार समाजशास्त्र ऐसा विज्ञान है जिसमें सामाजिक कार्य को भली-भांति समझने का प्रयास इसलिए किया जाता है ताकि सामाजिक कार्य के कारण और प्रभावों की कार्य-कारण संबंधों के आधार पर व्याख्या की जा सके। यहाँ सामाजिक कार्य की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताऐं दी जा रही हैं।

i) इसमें सभी प्रकार का मानवीय व्यवहार शामिल है।

ii) इसे मानवीय व्यवहार को व्यक्तिपरक अर्थ मिलता है।

iii) इसमें कार्य कर रहे व्यक्ति अथवा समूह परस्पर व्यवहार को ध्यान में रखते हैं।

iv) इसकी दिशा निश्चित होती है।

इस प्रकार सामाजिक कार्य का शुद्ध प्ररूप बनाना समाजशास्त्रियों के लिए एक आदर्श प्ररूप की तरह सहायक होता है जिसको स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है और जिसमें अस्पष्टता नहीं होती है (वेबर 1984: 128-128)। सामाजिक कार्य सामाजिक व्यवहार को दर्शाता है। इस अवधारणा का उपयोग समाज-मनोविज्ञानी और समाजशास्त्री दोनों करते हैं। अनेक समाजशास्त्रियों ने सामाजिक कार्य को सामाजिक विज्ञानों में प्रेक्षण की उचित इकाई माना। कोई कार्य सामाजिक तब कहा जाता है, जब इसे करने वाला ऐसे व्यवहार करे कि उसका कार्य एक या अधिक व्यक्तियों को प्रभावित करने के लिए हो। समाजशास्त्र में सर्वप्रथम मैक्स वेबर ने व्यापक रूप से सामाजिक कार्य की अवधारणा का उपयोग किया और इस बात पर ज़ोर दिया कि सामाजिक कार्य समाजशास्त्रीय सिद्धांत का आधार है (मिचेल 1968: 2)।

वेबर ने सामाजिक कार्य के चार प्रकार बताए हैं। ये हैं - लक्ष्यों के संदर्भ में कार्य, मूल्यों के संदर्भ में कार्य, पारंपरिक कार्य और **भावात्मक कार्य**। इनका वर्गीकरण इसके स्वरूप अथवा दिशा के अनुसार होता है। लक्ष्यों के संदर्भ में तार्किक कार्य का वर्गीकरण उन दशाओं अथवा साधनों के द्वारा किया जाता है जिनका प्रयोग व्यक्ति अपने तार्किक रूप से चुने हुए लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए करता है। मूल्यों के संदर्भ में कार्य का वर्गीकरण किसी निरपेक्ष मूल्य के प्रति तार्किक दृष्टि के आधार पर किया जाता है, जैसे कर्त्तव्य सम्मान या किसी उद्देश्य के प्रति निष्ठा के चरम आदर्श के लिए किया गया कार्य। पारंपरिक कार्य के प्ररूप का वर्गीकरण लम्बे समय से चले व्यवहार, रीति-रिवाज और आदतों के अनुरूप किए गए कार्य से होता है। प्रभाव पर आधारित कार्य का वर्गीकरण

भावात्मक प्रभाव से निश्चित होने वाली दिशा के अनुसार किया जाता है। इसके निर्धारण में कार्य करने वाले पर पड़े विशिष्ट प्रभाव और भावात्मक स्थिति को ध्यान में रखा जाता है। वास्तविकता में इन चारों प्रकार की सामाजिक कार्य का मिला जुला रूप ही पाया जाता है, लेकिन विश्लेषण और समझने के लिए इन्हें शुद्ध या आदर्श प्ररूपों में विभाजित कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए, तार्किक कार्य के आदर्श प्ररूप से असंगत विचलन को आंका जा सकता है तथा यह समझा जा सकता है कि वह कार्य चारा प्रकारों में से किससे अधिक मेल खाता है। आइए, अब सोचिये और करिए 2 को पूरा करें।

**सोचिए और करिए 2**

रोज़मर्रा की जिंदगी से मैक्स वेबर द्वारा निर्धारित कार्य के इन चार प्रकारों में से प्रत्येक के दो-दो उदाहरण दीजिए। यदि संभव हो तो इनकी तुलना अपने अध्ययन केंद्रों में अन्य विद्यार्थियों द्वारा दिए गए उदाहरणों से कीजिए।

### 14.4.3 व्यवहार विशेष की पुनर्रचना

इस प्ररूप में ऐसे तत्व शामिल हैं जिनके आधार पर किसी व्यवहार-विशेष की तार्किक पुनर्रचना होती है। उदाहरण के लिए, वेबर के अनुसार आर्थिक सिद्धांत की सभी मान्यताएं किसी विशेष परिस्थिति में लोगों के संभावित व्यवहार के आदर्श प्ररूपों की संरचनाएँ ही हैं, जैसे कि जब लोग पूरी तरह आर्थिक आधार पर ही व्यवहार करें। इसमें आवश्यकता व पूर्ति के क़ानून, वस्तुओं की उपयोगिता की सीमा आदि शामिल हैं। बाज़ार में वस्तुओं की पूर्ति ही आवश्यकता के अनुसार उनकी क़ीमत नियंत्रित करती है। इसी तरह उपभोग के लिए वस्तुओं की उपयोगिता अधिक है या कम, इस पर निर्भर होती है कि बाजार में उपभोग के लिए वे कितनी मात्रा में उपलब्ध हैं। आर्थिक सिद्धांत अपने मूल रूप में आर्थिक व्यवहार के अनुरूप चलते हैं। यह मूल रूप निश्चित तरीक़े से परिभाषित किया जाता है (वेबर 1967: 210)।

समय हो गया है कि अब बोध प्रश्न 3 पूरा किया जाए।

**बोध प्रश्न 3**

i) वेबर ने कल्विन धर्म की नैतिकता और पूँजीवादी प्रवृति के बीच संबंध बताने के लिए आदर्श प्ररूप की धारणा का किस तरह उपयोग किया? तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

ii) मैक्स वेबर द्वारा निर्धारित नौकरशाही के आदर्श प्ररूप की मुख्य विशेषताएं क्या हैं? पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

iii) मैक्स वेबर ने सामाजिक कार्य के कौन-कौन से चार आदर्श प्ररूप बताए हैं? लगभग आठ पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 14.5 सारांश

इस इकाई के प्रारंभ में 'आदर्श' और 'प्ररूप' शब्दों का सामान्य अर्थ बताया गया। फिर हमने मैक्स वेबर के सिद्धांतों के अनुसार आदर्श प्ररूप की अवधारणा और विशेषताओं की चर्चा की। आदर्श प्ररूप ऐसी संरचनाएं अथवा अवधारणाएं हैं, जो सामाजिक यथार्थ के स्पष्टीकरण और व्याख्या के लिए बनाई जाती हैं। वेबर ने आदर्श प्ररूपों का तीन विशिष्ट रूपों में प्रयोग किया। पहले, उसने विशिष्ट ऐतिहासिक तत्वों के आदर्श प्ररूपों का प्रयोग प्रोटेस्टेंट नैतिकता की व्याख्या करने के लिए किया, जो एक विशिष्ट ऐतिहासिक काल और सांस्कृतिक क्षेत्र में विकसित हुआ। दूसरे, उसने सामाजिक यथार्थ के अमूर्त तत्वों जैसे नौकरशाही, सत्ता के प्रकार, सामाजिक कार्य के प्रकार आदि की व्याख्या में आदर्श प्ररूपों का उपयोग किया। तीसरे, वेबर ने व्यवहार-विशेष की पुनर्रचना के लिए भी आदर्श प्ररूप का प्रयोग किया। हमने इस इकाई में वेबर द्वारा निर्धारित आदर्श प्रारूपों का विस्तृत अध्ययन किया।

## 14.6 शब्दावली

**भावात्मक कार्य (affective action)** ऐसी क्रिया जो किसी भावनात्मक स्थिति के प्रभाव में की जाए

**सत्ता (authority)** ऐसी शक्ति जिसे लोग वैध मानते हों

**नौकरशाही (bureaucracy)** प्रशासन की ऐसी प्रणाली जो श्रम विभाजन, कर्मचारियों के पद-क्रम, कामकाज चलाने के नियमों की औपचारिक संस्था, लिखित प्रलेखों, निर्वैयक्तिक संबंधों, योग्यता के आधार पर नियुक्ति तथा निजी और सरकारी आय के विभेद पर आधारित हो

**कल्विन धर्म (calvinism)** ईसाई धर्म के प्रोटेस्टेंट धर्म की चार मुख्य धाराएं हैं - मैथाडिज़्म, पाइटिज़्म, बैप्टिज़्म और कल्विनिज़्म। कल्विन धर्म के तीन मुख्य आधारभूत सिद्धांत हैं - ब्रहमांड ईश्वर के महान गौरव के प्रसार के लिए बनाया गया है, सर्वशक्तिमान ईश्वर की लीला के उद्देश्य मानवीय समझ से परे हैं, तथा बहुत थोड़े से लोग ईश्वर की शाश्वत कृपा के लिए चुने जाते हैं; अर्थात् पूर्वानियति में विश्वास।

| | |
|---|---|
| **पूंजीवाद** | ऐसा आर्थिक संगठन जिसमें सम्पत्ति का निजी स्वामित्व, पूंजी पर निजी नियंत्रण, बाज़ार प्रणाली और श्रमिकों की व्यवस्था हो तथा जिसका लक्ष्य अधिक से अधिक लाभ कमाना हो |
| **करिश्माई अथवा चमत्कारिक सत्ता (charismatic authority)** | ऐसी सत्ता में नेता के आदेश इसलिए माने जाते हैं, क्योंकि अनुयायियों को नेता के असाधारण गुणों में विश्वास होता है। |
| **तर्क-विधिक सत्ता (legal rational authority)** | इस प्रकार की सत्ता में नियमित और सार्वजनिक प्रक्रिया से बने नियमों का पालन किया जाता है। |
| **प्रोटेस्टेंट नैतिकता** | ईसाई धर्म का एक सिद्धांत, जिससे पूंजीवाद के सांस्कृतिक स्वरूप का प्रमुख अंश बना है जैसे - व्यक्तिवाद, उपलब्धियों के लिए प्रेरणा, विरासत में मिली संपत्ति और विलासिता का विरोध, काम तथा मुनाफे पर जोर, जादू-टोने तथा अंधविश्वास का विरोध एवं तर्कसंगत संगठन के लिए प्रतिबद्धता। |

## 14.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आरों, रेंमों, 1967. *मेन करेंट्स इन सोशियोलॉजिकल थॉट्स.* वाल्यूम 2, पेंगुइन बुक्सः लंदन, पृष्ठ 193-210

बेन्डिक्स, आर., 1960. *मैक्स वेबरः इन इंटलैक्चुअल पोट्रेट.* ऐन्करः न्यूयार्क

टर्नर, स्टीफ़न (सम्पादन) 2000. *द केम्ब्रिज कंपेनियन टु वेबर.* केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेसः केम्ब्रिज

## 14.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

(i) ग)

(ii) क) ग़लत
ख) सही
ग) सही
घ) ग़लत
च) ग़लत
छ) सही

**बोध प्रश्न 2**

(i) आदर्श प्ररूप विचाराधीन वस्तु या घटना के अनिवार्य तथा विशिष्ट समझे जाने वाले तत्वों अथवा विशेषताओं के चयन से बनाए जाते हैं।

(ii) आदर्श प्ररूप किसी विशिष्ट सामाजिक प्रवृति या समस्या को समझने और विश्लेषित करने के लिए उपयोग में लाए जाते हैं, दूसरे ये प्रयुक्त धारणाओं में अस्पष्टता और भ्रम की स्थिति भी दूर करते हैं, तीसरे, इनके उपयोग से विश्लेषण ज्यादा स्पष्ट और शुद्ध होता है।

**बोध प्रश्न 3**

(i) वेबर ने पूंजीवाद का आदर्श प्ररूप निर्मित किया और प्रोटेस्टेंट नैतिकता के ऐसे पक्षों का पता लगाया, उसकी राय में जिनका पूंजीवाद प्रवृत्ति के बनने में महत्वपूर्ण योगदान रहा और जो आधुनिक पाश्चात्य पूंजीवाद के उदय के कारण बने।

(ii) वेबर के अनुसार नौकरशाही के आदर्श प्ररूप की विशेषताएं हैं - श्रम विभाजन तथा विशेषज्ञता, सरकारी कार्य के रूप में काम का वितरण, अधिकारियों का पदक्रम जिसमें निर्देश और दायित्व के क्षेत्रों का स्पष्ट निर्धारण हो, कामकाज के नियमों की औपचारिक संस्था लिखित प्रलेख, निर्वैयक्तिक संबंध, योग्यता के आधार पर नियुक्ति, निजी तथा सरकारी आय में विभेद, पदोन्नति और निश्चित वेतन।

(iii) मैक्स वेबर ने सामाजिक कार्य के निम्नलिखित चार प्रकार बताए हैं।

क) **लक्ष्य के संदर्भ में तार्किक कार्य:** उदाहरण के लिए, ज़िला कलेक्टर द्वारा आगामी चुनावों की व्यवस्था करना

ख) **मूल्यों के संदर्भ में तार्किक कार्य:** उदाहरण के लिए, सैनिक द्वारा देश के लिए अपना जीवन खतरे में डालना

ग) **भावात्मक कार्य:** जैसे क्रिकेट मैच में अम्पायर द्वारा बल्लेबाज़ को आउट न मानने पर गेंदबाज का अम्पायर से अभद्र व्यवहार करना

घ) **पारंपरिक कार्य:** जैसे शमशान से लौटने के बाद व्यक्ति का स्नान करना

# इकाई 15 धर्म और आर्थिकी

## इकाई की रूपरेखा


15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 धर्म और आर्थिकी के अर्थ तथा उनके परस्पर संबंध

- 15.2.1 धर्म
- 15.2.2 आर्थिकी
- 15.2.3 धार्मिक नैतिकता तथा आर्थिकी की बीच परस्पर संबंध
- 15.2.4 कल्विन धर्म को मानने वालों के विश्वास

15.3 प्रोटेस्टेंट नैतिकता तथा पूंजीवाद की प्रवृत्ति

- 15.3.1 पूंजीवाद की प्रवृत्ति
- 15.3.2 प्रोटेस्टेंट नैतिकता: पूंजीवाद के विकास को प्रभावित करने वाली विशेषताएं
- 15.3.3 कल्विनवाद की मुख्य विशेषताएं
- 15.3.4 कल्विन धर्म को मानने वालों के विश्वास

15.4 धर्म के संबंध में वेबर का तुलनात्मक अध्ययन

- 15.4.1 चीन में कन्फ्यूशसवाद
- 15.4.2 पश्चिम एशिया में यहूदी धर्म
- 15.4.3 भारत में हिन्दू धर्म

15.5 वेबर के धर्म तथा आर्थिकी संबंधी अध्ययनों का समालोचनात्मक मूलयांकन

15.6 सारांश

15.7 शब्दावली

15.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.9 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 15.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपके लिए संभव होगा

- धर्म तथा आर्थिकी के अर्थ तथा उनके परस्पर संबंधों का विवेचन करना
- वेबर द्वारा चर्चित आधुनिक पूंजीवाद के विकास पर प्रोटेस्टेंट नैतिकता के प्रभावों की व्याख्या करना
- विश्व के तीन धर्मों, चीन में कन्फ्यूशसवाद, पश्चिम एशिया में यहूदी धर्म तथा भारत में हिन्दू धर्म के बारे में वेबर प्रस्तुत तुलनात्मक अध्ययनों की समीक्षा
- धर्म तथा आर्थिकी पर मैक्स वेबर के अध्ययनों का मूल्यांकन करना।

## 15.1 प्रस्तावना

पूर्ववर्ती इकाई में आपने वेबर द्वारा प्रतिपादित आदर्श प्ररूप की अवधारणा का अध्ययन किया। इस इकाई में वेबर के धर्म तथा आर्थिकी अथवा अर्थव्यवस्था संबंधी विश्लेषण में आदर्श प्ररूप के विचार को प्रयुक्त करके दिखाया गया है।

इस इकाई के प्रारंभ में भाग 15.2 में आपको धर्म तथा आर्थिकी अथवा अर्थव्यवस्था नामक

शब्दों के अर्थ स्पष्ट होंगे। फिर धार्मिक विश्वासों तथा आर्थिक क्रियाकलाप के बीच पारस्परिक संबंधों की जांच का आपको अवसर मिलेगा।

इनके बीच परस्पर संबंधों को स्पष्ट करने के लिए भाग 15.3 में मैक्स वेबर की प्रसिद्ध पुस्तक *द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज़्म* में दिए गए प्रमुख तर्क का विवेचन किया गया है। आपको यह स्पष्ट होगा कि पूंजीवाद की प्रवृत्ति से वेबर का क्या अभिप्राय था और यह परंपरावाद से कैसे भिन्न थी। इसके बाद "प्रोटेस्टेंट नैतिकता" के कुछ पहलुओं पर चर्चा होगी, वेबर के अनुसार प्रोटेस्टेंट नैतिकता ने पश्चिमी दुनिया में पूंजीवाद के विकास में काफी योगदान किया था।

भाग 15.4 में वेबर द्वारा प्रस्तुत तीन धर्मों चीन में कन्फ्यूशसवाद, प्राचीन पश्चिम एशिया में यहूदी धर्म तथा भारत में हिन्दू धर्म के तुलनात्मक अध्ययनों का वर्णन किया गया है। अंत में भाग 15.5 में आपको अर्थव्यवस्था तथा धर्म के बारे में वेबर के विचारों का मूल्यांकन करने का अवसर मिलेगा।

## 15.2 धर्म और आर्थिकी के अर्थ तथा उनके परस्पर संबंध

इस भाग में आप धर्म तथा आर्थिकी के अर्थ की संक्षेप में चर्चा को पढ़िये। इन दोनों शब्दों के अर्थ जानने के बाद आप अगले भाग में धर्म तथा आर्थिकी के बीच संबंध के बारे में वेबर द्वारा प्रतिपादित प्रारंभिक विचारों का विवेचन करें।

### 15.2.1 धर्म

धर्म शब्द से तात्पर्य "अलौकिक" शक्तियों के बारे में विचारों तथा विश्वासों के एक समुच्चय तथा उसे मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव से है। मानव के समक्ष हमेशा से कुछ ऐसी समस्याएं और संकट आते रहे हैं जिनका कोई तार्किक समाधान नहीं किया जा सका है।

ऐसा क्यों होता है कि जो हमें प्रिय होते हैं उनकी मृत्यु हो जाती है? ऐसा क्यों होता है कि एक अच्छा व्यक्ति तकलीफ़ उठाता है और बुरा व्यक्ति फलता-फूलता है? प्राकृतिक आपदाएं क्यों आती हैं? इन कठिन प्रश्नों का समाधान उन धार्मिक विश्वासों में मिलता है जो इसका "अलौकिक" या "दैवी" उत्तर प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए मानव जीवन के दुःखों का कारण यह बताया जाता है कि यह मनुष्य के विश्वास की परीक्षा करने का "दैवी ढंग" होता है या फिर ये पूर्व जन्म के पापों का दंड होता है। धार्मिक विश्वास जीवन को एक अर्थ प्रदान करते हैं। ये लोगों को उनके तथा उस दुनिया के अस्तित्व के बारे में जिज्ञासाओं का समाधान देते हैं, जिसमें उनका जीवन बीतता है ये विश्वास लोगों के लिए आचार व्यवहार के नियमित निर्देश व्यवस्थित करते हैं जिन पर चलने की उनसे अपेक्षा की जाती है।

### 15.2.2 आर्थिकी

आर्थिकी से क्या तात्पर्य है? समाज से अस्तित्व के लिए कुछ बुनियादी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होना ज़रूरी होता है। खाना, कपड़ा और आवास जीवन की अनिवार्य ज़रूरतें हैं। आर्थिकी या अर्थव्यवस्था का संबंध हमारे समाज द्वारा बनाई गई वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन, उपभोग तथा वितरण से संबंधित प्रबंधों से होता है।

क्या उत्पादित किया जाना है? कितना उत्पादित किया जाना है? ज़रूरतमंदों को वस्तुएं किस प्रकार उपलब्ध कराई जाएं? काम का विभाजन कैसे किया जाए? ये कुछ ऐसे विषय हैं जिनका संबंध अर्थव्यवस्था से होता है।

### 15.2.3 धार्मिक नैतिकता तथा आर्थिकी के बीच परस्पर संबंध

अभी आपने धर्म और आर्थिकी का संक्षेप में तात्पर्य पढ़ा है। ऊपर से देखने में ये दोनों एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न लगते हैं। धर्म का संबंध पारलौकिक से है तो आर्थिकी का संबंध कार्य करने, उत्पादन करने और उपभोग करने के व्यावहारिक कार्य-व्यापार से होता है। एक दूसरे से भिन्न दिखाई देने वाली इन दोनों व्यवस्थाओं के बीच क्या कोई संबंध होता है?

मैक्स वेबर के अनुसार इन दोनों के बीच आपसी संबंध होता है। उसके मतानुसार मानव समाज के विचार, विश्वास, मूल्य तथा विश्व के प्रति दृष्टिकोण ही उनके सदस्यों के कार्यकलापों और यहां तक कि उनके आर्थिक क्षेत्र के कार्यकलापों का दिशा-निर्देश करते हैं। जैसा आपने पहले पढ़ा है, धर्म मनुष्य के आचार-व्यवहार के लिए कुछ दिशा-निर्देश निर्धारित करता है। इन दिशा-निर्देशों के अनुसार ही धर्मावलम्बी अपने कार्यकलापों को निदेशित या निरूपित करते हैं। ये दिशा-निर्देश प्रत्येक धार्मिक पद्धति के धार्मिक नैतिक मूल्यों में समाहित होते हैं (नैतिकता पर स्पष्टीकरण हेतु कोष्ठक 15.1 देखें)।

**कोष्ठक 15.1**

**नैतिकता (Ethic)**

नैतिकता केवल धर्म तक ही सीमित नहीं होती, यहां व्यावसायिक नैतिकता, राजनीतिक नैतिकता तथा इसी प्रकार की अन्य नैतिकता का उल्लेख किया जा सकता है। नैतिकता का सामाजिक संरचना के साथ संबंध होता है, क्योंकि इसका समाज के सदस्यों के सामाजिक आचार-व्यवहार के कुछ ऐसे मानक निर्धारित करती है जो वास्तविक व्यवहार के मूल्यांकन करने या उन्हें जांचने में पुयक्त किए जाते हैं। दूसरे शब्दों में नैतिक नियम "क्या करना चाहिए" के द्योतक होते हैं। वे उन सामाजिक समूहों के विशेष मूल्यों तथा विश्वासों को प्रकट करते हैं, जिनसे वे निरूपित होते हैं।

आइए, वेबर के विचारों को अपने समाज से एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करें।

यदि कोई स्वास्थ्य विशेषज्ञ यह सुझाव दे कि यदि भारत के लोग गाय का मांस खाने लगें तो भूख तथा कुपोषण की समस्या कम की जा सकती है। किन्तु गौवध का मात्र विचार ही अधिकांश हिंदुओं के लिए घृणा करने योग्य है और इसे पूरी तरह अस्वीकार कर दिया जाएगा। इसलिए गौवध चाहे आर्थिक दृष्टि से तार्किक या युक्तिपूर्ण लगे किन्तु समाज के मूल्य तथा विचार (इस संदर्भ में यह विचार कि गाय को पवित्र माना जाता है) कुछ निर्णयों पर निश्चिततः अपना प्रभाव डालते हैं। हमारे विश्वास और मूल्य ही हमारे व्यवहार का रूप निर्धारण करते हैं।

धार्मिक विश्वासों तथा आर्थिक व्यवहार के बीच इसी संबंध को वेबर ने अपनी कृतियों में उजागर करने की कोशिश की। उसके अनुसार प्रोटेस्टेंट धर्म तथा पूंजीवाद के नाम से विख्यात आर्थिक व्यवस्था के बीच कुछ अनुरूपताएं या समानताएं विद्यमान थीं। वेबर ने कहा कि इन्हीं समानताओं ने पश्चिमी जगत में पूंजीवाद के विकास में सहायता दी।

**बोध प्रश्न 1**

i) "धर्म" से आपका क्या तात्पर्य है? चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

ii) धर्म के दो प्रकार्य बताइए। दो पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

iii) धार्मिक विश्वास आर्थिक व्यवहार को कैसे प्रभावित करते हैं? दो पंक्तियों में बताइए।

.....

.....

## 15.3 प्रोटेस्टेंट नैतिकता तथा पूंजीवाद की प्रवृत्ति

वेबर ने प्रोटेस्टेंट नैतिकता और पूंजीवाद की प्रवृत्ति के बीच एक सकारात्मक संबंध स्थापित किया है। वेबर के अनुसार पाश्चात्य पूंजीवाद ने जो स्वरूप लिया, वह प्रोटेस्टेंट नैतिकता की व्यवस्था पर आधारित था। वेबर का यह मत था कि प्रोटेस्टेंट नैतिकता का पूंजीवाद की प्रवृत्ति से घनिष्ठ संबंध है। इस संबंध को दर्शाने के लिए वेबर ने प्रोटेस्टेंट नैतिकता की प्रवृत्ति के आदर्श प्ररूप निर्मित किए। आइए, अब हम देखें कि वेबर का पूंजीवाद की प्रवृत्ति से क्या अभिप्राय है।

### 15.3.1 पूंजीवाद की प्रवृत्ति

लोग काम क्यों करते हैं? हममे से अधिकांश का उत्तर होगा "पैसा कमाने के लिए।" धन इसलिए कमाया जाता है कि हम और हमारा परिवार खाना खा सके, कपड़े पहन सके और सिर ढकने के लिए मकान बना सके। धन इसलिए भी कमाया जाता है कि हमें कुछ ऐसी आरामदायक और विलासिता की वस्तुओं का उपभोग उपलब्ध हो ताकि जिंदगी खुशहाल बने।

सम्पत्ति या लाभ अर्जित करने की इच्छा उतनी ही पुरानी है जितना कि मानव जाति का इतिहास। सम्पत्ति हमेशा से ही शक्ति, प्रस्थिति तथा प्रतिष्ठा का प्रतीक मानी जाती रही है। लेकिन मानव इतिहास में पहले कभी भी संपत्ति की इच्छा ऐसा संगठित तथा व्यवस्थित रूप धारण नहीं कर सकी जैसा कि उसने आधुनिक या तार्किक पूंजीवाद में ग्रहण किया है। वेबर इसी तार्किक पूंजीवाद का अध्ययन करना चाहता था। उसने पूर्वकालिक पारंपरिक या जोखिम भरे पूंजीवाद तथा आधुनिक काल के तार्किक पूंजीवाद के बीच भेद किया (देखिए कोष्ठक 15.2)।

**कोष्ठक 15.2**

**पारंपरिक पूंजीवाद तथा तार्किक पूंजीवाद**

पारंपरिक पूंजीवाद बहुत से कालों तथा स्थानों में विद्यमान रहा है। इस तरह के व्यापार में पूंजीपति को अनिश्चितता का सामना करना पड़ता है अर्थात् उसको व्यापार में पर्याप्त लाभ की पूरी निश्चितता नहीं होती है। दूसरे शब्दों में कहें कि उसे जोखिम उठाना पड़ता है। विशेष रूप से यह इटली के शहरों में स्पष्ट रूप से विद्यमान था। पारंपरिक पूंजीवाद एक जोखिमी व्यवसाय था, जिसमें दूरस्थ स्थानों से विलासिता की वस्तुओं का आयात करना शामिल होता था। विदेशी रेशम, मसाले, हाथी दांत की वस्तुओं आदि को बढ़ी-चढ़ी कीमतों पर ग्राहकों को बेचा जाता था। इसका उद्देश्य

यह होता था कि यथा संभव ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफा कमा लिया जाए, क्योंकि कोई नहीं जानता था कि अगला सौदा कब और कहां हो पाएगा। इस तरह यह एक ही झटके में सौदा करने की कड़ी के रूप में होता था। दूसरी ओर तार्किक पूंजीवाद वस्तुओं के बहुत बड़े पैमाने पर उत्पादन और वितरण पर आधारित होता है। औद्योगिक क्रांति तथा कारखाना उत्पादन प्रणाली के कारण ऐसा करना संभव हो गया। ध्यान देने योग्य बात यह है कि तार्किक पूंजीवाद के अंतर्गत केवल कुछ विलासिता की वस्तुओं का ही व्यापार नहीं किया जाता अपितु इसमें रोज़मर्रा की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली लगभग सभी वस्तुओं जैसे रोटी (bread) से लेकर कपड़ा और कार तक का व्यापार किया जाता है। तार्किक पूंजीवाद का लगातार विस्तार हो रहा है, इसमें नई विधियों, नए आविष्कारों, नए उत्पादों तथा नए उपभोक्ता वर्गों का समावेश हो रहा है। व्यवस्थित रूप से कार्य होने और नियमित सौदे होने की वजह से इस प्रकार का पूंजीवाद पारंपरिक पूंजीवाद की तुलना में गुणात्मक और मात्रात्मक दोनों ही रूपों में भिन्न है।

वेबर के अनुसार पूंजीपति संपत्ति की इच्छा सुखी या विलासी जिंदगी बिताने के लिए नहीं अपितु उसके माध्यम से और अधिक संपत्ति अर्जित करने के लिए करते थे। धन की खातिर धन अर्जित करने की यह प्रबल इच्छा ही आधुनिक पूंजीवाद का सार-तत्व है। पूंजीवाद एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है जिसका लक्ष्य उत्पादन के तर्कपूर्ण संगठन के माध्यम से असीमित लाभ संचित करना होता है।

पूंजीवाद इंग्लैंड तथा जर्मनी जैसे पश्चिमी देशों में उभरा जहां औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी। इन देशों में कारखाना प्रणाली के विकास, उत्पादन की नई तकनीकों की खोज, नए-नए औज़ारों और मशीनों के प्रयोग ने पूंजीपतियों तथा मालिकों को असीम मात्रा में धन कमाना संभव कर दिया। इसके लिए उत्पादन की प्रक्रिया को तार्किक दृष्टि से संगठित किया जाना ज़रूरी था अर्थात् दूसरे शब्दों में दक्षता तथा अनुशासन लागू करना अनिवार्य था।

श्रमिक एक साध्य का साधन मात्र बन गया और साध्य लाभ हो गया। काम के प्रति अभिवृति यह हो गई कि काम को ठीक तरह से केवल इसलिए नहीं किया जाना है कि व्यक्ति को काम करना ही चाहिए, अपितु इसलिए किया जाना है कि उसके साथ अंतर्भूत पारिश्रमिक जुड़ा है। प्रसिद्ध अमरीकी कहावत "कोई भी काम जो करने लायक है वह अच्छी तरह करने लायक होता है" इस अभिवृति की परिचायक है। कड़ी मेहनत के साथ तथा दक्षता के साथ काम करना स्वयं में एक साक्ष्य बन गया।

वेबर ने इस कार्य-नैतिकता और परंपरावाद के बीच अंतर को दर्शाया।

परंपरागत समाज में श्रमिक को अधिक वेतन की अपेक्षा कम काम तथा मेहनत की बजाय आराम को अधिक पसंद था। वे नई कार्य-विधियों तथा तकनीकों को अपनाने में अक्षम थे या अनिच्छुक थे।

जैसा पहले कहा जा चुका है, पूंजीवाद में पूंजीपति श्रमिक को साध्य का एक साधन ही मानता है। लेकिन परंपरावाद के अंतर्गत श्रमिक और पूंजीपति के बीच संबंध अनौपचारिक, प्रत्यक्ष और वैयक्तिक थे।

परंपरावाद पूंजीवाद के विकास में बाधक होता है। पूंजीवाद के अंतर्गत व्यक्तिवाद, नए-नए आविष्कार तथा लाभ कमाने की अनथक चेष्टा को अधिक महत्व दिया जाता है। लेकिन परंपरावाद, जैसा कि ऊपर कहा गया है, उत्पादन की अपेक्षाकृत कम अनुशासित

तथा कम दक्ष प्रणाली पर आधारित होता है। दूसरी ओर, पूंजीवाद की प्रवृत्ति एक ऐसी कार्य-नैतिकता पर आधारित होती है जिसका उद्देश्य संपत्ति के लिए **पूंजी संचयन** करना होता है। ऐसा करने के लिए कार्य को एक दक्षतापूर्ण, अनुशासित ढंग से संगठित करना होता है। मेहनत के साथ काम करना एक ऐसा गुण होता है जिसके साथ अन्तर्भूत पारिश्रमिक जुड़ा होता है।

परंपरावाद के विपरीत पूंजीवाद की प्रवृत्ति में व्यक्तिवाद अभिनव प्रयोग, मेहनत तथा संपत्ति के लिए ही संपत्ति संचित करने की चाह की ज़रूरत होती है। इसलिए यह ऐसी आर्थिक नैतिकता है जो पहले की सभी नैतिकताओं से बिल्कुल भिन्न है।

आइए, अब वेबर की "प्रोटेस्टेंट नैतिकता" को समझने की चेष्टा करें अर्थात् प्रोटेस्टेंट धर्म के प्रमुख सिद्धांतों या आदर्शों की चर्चा करें। परंतु इसके पहले ज़रा बोध प्रश्न 2 को पूरा कर लें ताकि अभी तक पढ़े बिंदुओं को दुहराया जा सके।

**बोध प्रश्न 2**

निम्नलिखित तीन प्रश्नों के सही उत्तरों पर सही का चिन्ह लगाइये।

i) वेबर के अनुसार पूंजीवाद का सारतत्व क्या है?

क) श्रमिकों का पूंजीपतियों द्वारा शोषण किया जाता है।

ख) पूंजीपतियों का उद्देश्य अपने लाभ को बढ़ाना होता है ताकि वे विलासी जीवन बिता सकें।

ग) **धन कमाना** स्वयं में साध्य हो जाता है।

घ) उपर्युक्त सभी

सही उत्तर बताइए।

ii) पूंजीवाद तब पैदा हुआ जब पश्चिमी राष्ट्र निम्नलिखित में से किस घटना से होकर गुज़रे?

क) फ्रांसीसी क्रांति

ख) हरित क्रांति

ग) औद्योगिक क्रांति

घ) उपर्युक्त में कोई नहीं

सही उत्तर बताइए।

iii) उत्पादन के "तार्किक संगठन" के लिए क्या आवश्यक हैं?

क) दक्षता, अनुशासन तथा कड़ी मेहनत

ख) श्रमिकों के लिए कम काम और ज़्यादा वेतन

ग) अत्यधिक धनराशि

घ) उपर्युक्त सभी

iv) निम्नलिखित विशेषताओं को कॉलम 'अ' तथा 'ब' के सही शीर्षक के अंतर्गत लिखिए।

| | अ | ब |
|---|---|---|
| | परंपरावाद | पूंजीवाद |
| क) मालिक के साथ अनौपचारिक संबंध | | |
| ख) कार्य को साध्य मानकर काम करना | | |
| ग) अभिनव विधियां तथा व्यक्तिवाद | | |

घ) परिवर्तन का विरोध

ड़) श्रमिक साध्य की पूर्ति के लिए साधन

च) लाभ की असीमित चाह

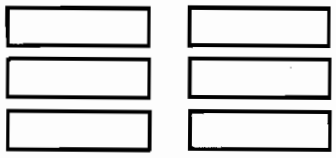

## 15.3.2 प्रोटेस्टेंट नैतिकताः पूंजीवाद के विकास को प्रभावित करने वाली विशेषताएं

सबसे पहले आइए कुछ ऐतिहासिक ब्यौरों को स्पष्ट करें। प्रोटेस्टेंटवाद क्या है? जैसा कि इसके नाम से मालूम पड़ता है, यह प्रोटेस्ट या विरोध का धर्म है। इसका सोलहवीं सदी में यूरोप में **सुधारवाद** के काल में प्रादुर्भाव हुआ।

इसके प्रवर्तक मार्टिन लूथर तथा जॉन कल्विन ने **कैथोलिक चर्च** के साथ संबंध विच्छेद कर लिया। उन्होंने अनुभव किया कि चर्च रूढ़ सिद्धांतों तथा अनुष्ठानों में उलझ गया था और इसका आम आदमी से संपर्क टूट गया था। लालच, भ्रष्टाचार तथा बुराइयों ने चर्च को जकड़ लिया था। पादरी लोग राजाओं जैसी ज़िंदगी जीने लगे थे। संपूर्ण यूरोप में उभरे प्रोटेस्टेंट पंथों ने चर्च की खोई हुई विचारधारा को पुनः स्थापित करने की चेष्टा की। उन्होंने सादगी, सरलता तथा निष्ठा पर ज़ोर दिया। फ्रांसीसी विद्वान जॉन कल्विन द्वारा सीपित "कल्विनवाद" एक ऐसा ही पंथ था। इंग्लैंड में कल्विन के अनुयायियों को प्यूरिटन (puritan) कहा जाता था। वे उत्तरी अमरीका में चले गए और उन्होंने अमरीकी राष्ट्र की नींव डाली।

वेबर के प्रेक्षण के अनुसार पश्चिम में अधिकांशतः इन प्रोटेस्टेंट मतानुयायियों ने ही शिक्षा तथा रोज़गार के क्षेत्र में सबसे ज़्यादा प्रगति की। वे नौकरशाही के उच्चस्थ पदों पर आसीन हो गए। वे सर्वाधिक कुशल तकनीकी कामगार तथा अग्रणी उद्योगपति बने। क्या उनके धर्म में ऐसी कोई बात थी जिससे प्रेरणा लेकर वे इतनी प्रगति कर सके? वेबर का कुछ ऐसा ही विचार था और उसने इसे सिद्ध करने का प्रयास भी किया। जिस प्रकार के पूंजीवाद में वेबर की सबसे ज़्यादा रूचि थी वह कल्विनवाद से ही प्रेरित था। इसकी मुख्य विशेषताओं की जांच करने पर हमें पता चलेगा कि धर्म तथा अर्थव्यवस्था के बीच कितना गहरा संबंध है।

जैसा कि हमने पहले कहा है, धर्म तथा अर्थव्यवस्था या इस विशेष मामले में पूंजीवाद की प्रवृत्ति तथा कल्विनवाद के बीच संबंध दर्शाने के लिए हमें सबसे पहले कल्विनवाद की मुख्य विशेषताओं का विवेचन करना होगा।

## 15.3.3 कल्विनवाद की मुख्य विशेषताएं

वेबर के अध्ययन के अनुसार, कल्विनवाद में निम्नलिखित विशेषताएं हैं।

### (i) कल्विन द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की छवि

कल्विन के अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान, परमोत्कृष्ट है। उसकी दैवी इच्छा अज्ञेय होती है। ईश्वर की इच्छा को समझने की चेष्टा करना मनुष्य की मूर्खता होगी।

### (ii) नियति का सिद्धांत

कल्विनवाद का मूलाधार एक विश्वास है कि ईश्वर ने कुछ लोगों को स्वर्ग में प्रवेश के लिए चुन या निर्वाचित कर रखा है और शेष नरकभोगी होते हैं। चुने हुए लोग स्वर्ग अवश्य पहुंचेंगे फिर चाहे वे पृथ्वी पर कुछ भी करें। शेष जन साधारण स्वर्ग में स्थान पाने के लिए प्रार्थना या बलि देकर ईश्वर को लुभा नहीं सकते। यह इच्छा अज्ञेय होती है,

अतः जनसाधारण के लिए इसे बदल सकना संभव नहीं है। इस कठोर धर्म के अनुयायी की असुरक्षा के बारे में कल्पना करके देखिए। उसे नहीं मालुम कि उसे स्वर्ग के लिए चुना गया या नहीं। उसके लिये सांत्वना तथा सहायता हेतु किसी पादरी के पास जाना भी संभव नहीं, क्योंकि उसे मालूम है कि कोई नश्वर प्राणी ईश्वर को समझ ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में अपने अनिश्चित भाग्य के बारे में अपनी चिंता को वह कैसे दूर करे? वह स्वयं को यह कैसे सिद्ध करके दिखाए कि वह चुनें हुए कुछ में से एक हैं?

पृथ्वी पर समृद्ध बनकर ही ऐसा कर पाना उसके लिये संभव है। उसकी भौतिक समृद्धि ही उसके चुनाव का प्रतीक या चिन्ह होगी। उसे ईश्वर की स्तुति के लिए कार्य करना है।

### (iii) कल्विनवाद तथा इहलौकिक आत्म संयम

संयम से हमारा तात्पर्य आत्मानुशासन, नियंत्रण तथा इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर लेना होता है। वेबर ने प्रोटेस्टेंटवाद में और विशेष रूप से कल्विनवाद में इहलौकिक आत्म संयम बरतने की प्रवृत्ति पाई। इसके अंतर्गत वातावरण पर नियंत्रण करने के लिए कठोर आत्मानुशासन पर बल दिया गया। सांसारिक या इंद्रिय सुखों को जघन्य माना गया। उनके अनुसार अच्छे कपड़े पहना, नृत्य और संगीत, थियेटर तथा उपन्यास आदि शैतान की उपज है, क्योंकि वे व्यक्ति को ईश्वरीय आराधना के मार्ग से विमुख कर सकते हैं। यहां तक कि हंसने जैसी मानवीय अभिव्यक्ति पर भी अप्रसन्नता प्रकट की गई।

कड़ी मेहनत पर केवल कल्विनवादी ही ज़ोर नहीं देते थे, अपितु इस पर सभी प्रोटेस्टेंट पंथ भी बल देते थे। ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है, यह विचार प्रारंभिक पूंजीवाद का एक सिद्धांत बन गया था। वेबर (1948: 313) ने मैथोडिस्ट पंथ से कुछ उदाहरण दिए हैं, जिनके अनुसार उनके मतावलंबियों के लिए निम्नलिखित काम निषिद्ध बताए गए हैं।

क) किसी वस्तु को बेचते या खरीदते समय मोल भाव करना

ख) आवश्यक कर तथा प्रशुल्क अदा किए बिना वस्तुओं का व्यापार करना

ग) देश के क़ानून द्वारा अनुमत ब्याज दर से अधिक ब्याज वसूल करना

घ) पृथ्वी पर खज़ाना इकट्ठा करना (अर्थात् निवेश पूंजी को "निधिक संपत्ति"के रूप में परिवर्तित करना)

ड) ऋण को वापिस करने की क्षमता सुनिश्चित किए बिना उधार लेना

च) सभी प्रकार के भोग विलास

कड़ी मेहनत के फल को सांसारिक सुखों पर खर्च नहीं किया जा सकता। इसलिए धन न केवल एक ही उपयोग है कि और अधिक धन कमाने के लिए उसका फिर से निवेश कर दिया जाए। एक क्षण भी व्यर्थ बरबाद न किया जाए, क्योंकि "कार्य ही साधना" है और "समय ही धन" है।

### (iv) ईश्वरीय आहवान (notion of 'calling')

क्या कोई विश्वविद्यालय का विद्यार्थी सफाई का काम स्वीकार करेगा? शायद नहीं। हममे से अधिकांश लोग सफाई मज़दूर या कूड़ा इकट्ठा करने वाले के काम को बहुत छोटा या बहुत गंदा काम मानते हैं। इसके विपरीत कल्विनवाद की नैतिकता यह कहती है कि सभी काम महत्वपूर्ण तथा पवित्र होते हैं। यह केवल काम नहीं होता अपितु एक ईश्वरीय आहवान या एक मिशन होता है और इसलिए इसे निष्ठा तथा लगन के साथ

संपन्न करना चाहिए। यही विचार चित्र 15.1 पूंजीवाद की मूल भावना में प्रस्तुत किया गया है।

**चित्र 15.1:** पूँजीवाद की मूल रचना

**सोचिए और करिए 1**

किसी भी धार्मिक पंथ के बारे में दो पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए जिसमें उस पंथ द्वारा प्रतिपादित व्यक्ति के रोज़मर्रा के आचार-व्यवहार के बारे में दिशा-निर्देशों का उल्लेख हो। यदि संभव हो तो अपनी टिप्पणी का अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों के साथ मिलान कीजिए।

### 15.3.4 कल्विन धर्म को मानने वालों के विश्वास

अब तक आपने देखा कि वेबर ने विश्व के प्रति अध्यात्मिक दृष्टिकोण और आर्थिक कार्यकलाप की एक निश्चित शैली के बीच घनिष्ठ संबंधों का किस प्रकार वर्णन किया है। यह संबंध कल्विन धर्म के अनुयायियों में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। वेबर ने निष्कर्ष के रूप में उनके बारे में निम्नलिखित पांच बातें कही हैं।

क) उनके अनुसार एक परम श्रेष्ठ ईश्वर विद्यमान है जो सृष्टिकर्ता है और उसका शासन है लेकिन वह सीमित मानव मस्तिष्क के लिए अज्ञेय और अगम्य होता है।

ख) इस सर्वशक्तिमान और रहस्यमय ईश्वर ने हम सबकी मोक्ष या नरकवास के लिए नियति तय कर रखी है। इसलिए अपने कर्म से इस देवी आदेश को बदला नहीं जा सकता, क्योंकि यह तो हमारे जन्म से पहले ही तय किया जा चुका होता है।

ग) ईश्वर ने अपने परमानंद के लिए ही इस विश्व की सृष्टि की है।

घ) चाहे उसे मोक्ष मिले या नरकवास, मनुष्य को ईश्वर के आनंद के लिए काम करना ही पड़ेगा और उसे पृथ्वी पर ईश्वर का साम्राज्य सीपित करना होगा।

ड) भौतिक वस्तुएं, मानव प्रकृति तथा हाड़मांस पाप और मृत्यु की व्यवस्था से संबंधित हैं और मोक्ष उसे दैवी कृपा से ही मिल सकता है। (देखिये आरों 1967: 221-222)

इसकी वजह से ही एक अनुशासित तथा निष्ठावान श्रमबल निर्मित करने में सहायता मिली और इसके अभाव में पूंजीवाद का जन्म ही नहीं हो सकता था। कड़ी मेहनत, बचत तथा पुनःनिवेश और समृद्ध बनने की इच्छा का "पूंजीवाद की प्रवृति" के साथ घनिष्ठ संबंध होता है।

आइए अब उस संबंध पर विचार करें जो वेबर स्थापित करना चाहता था। विचार मानव आचरण पर हावी होते हैं या प्रभाव डालते हैं और मानव आचरण को उसके पीछे काम

कर रहे विचारों के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। दिन रात मेहनत करने के बाद भी उस श्रम के फल का उपभोग न करना हममें से कुछ लोगों को अविवेकपूर्ण लग सकता है। लेकिन यदि हम नियति के सिद्धांत और ईश्वर द्वारा चुने जाने को सिद्ध करने के लिए समृद्ध होने की आवश्यकता को ध्यान में रखें तो यह तर्कहीन व्यवहार सार्थक हो जाएगा। जैसा आपने पहले पढ़ा है कि धार्मिक विश्वास कर्म करने के लिए मार्ग निर्देश तय करते हैं, वे हमें एक विशेष ढंग से आचार करने के लिए प्रेरित करते हैं।

प्रोटेस्टेंट नैतिकता तथा पूंजीवाद के बारे में उपरोक्त जानकारी के बाद अब बोध प्रश्न 3 पूरा करने का समय आता है, क्यों न यही किया जाये?

**बोध प्रश्न 3**

i) मैक्स वेबर प्रोटेस्टेंट नैतिकता तथा पूंजीवाद के बीच संबंध क्यों स्थापित करना चाहता था? चार पंक्तियों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

ii) कल्विनवादी किसी भी काम को "छोटा" क्यों नहीं मानते थे? चार पंक्तियों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

## 15.4 धर्म के संबंध में वेबर का तुलनात्मक अध्ययन

धार्मिक नैतिकता तथा आर्थिक व्यवहार के बीच वेबर जो संबंध स्थापित करना चाहता था उसके बारे में आपने अभी पढ़ा है। आइए, अब हम देखें कि वेबर ने अपने इस विचार को विश्व के विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की सहायता से किस तरह प्रमाणित तथा सिद्ध करने की कोशिश है। इस भाग में प्राचीन चीन में कन्फ्यूशसवाद, प्राचीन भारत में हिन्दू धर्म तथा फ़िलिस्तीन (पश्चिम एशिया) में यहूदी धर्म के बारे में वेबर के अध्ययनों की व्याख्या की गई है।

### 15.4.1 चीन में कन्फ्यूशसवाद

प्राचीन चीन में एक सुविकसित अर्थव्यवस्था विद्यमान थी। उस समय व्यापार, वाणिज्य, वित्त-व्यवस्था तथा विनिर्माण कार्य काफ़ी उन्नत थे। इन भौतिक परिस्थितियों की विद्यमानता के बावजूद वहां पश्चिम शैली का पूंजीवाद तथा **औद्योगिक क्रांति** विकसित नहीं हो पाये। इसका कारण क्या था? वेबर के अनुसार कन्फ्यूशियस मत की नैतिकता ऐसा नहीं होने देती। कन्फ्यूशियस मत के विचारों को संक्षेप में नीचे दिये प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है।

i) विश्व अर्थात् ब्रहमांड की व्यवस्था में विश्वास

ii) मनुष्य का ध्येय प्रकृति तथा विश्व के साथ समरसता बनाए रखना होना चाहिए।

iii) हमारा व्यवहार परंपरा द्वारा निदेशित हो क्योंकि ज्ञान का स्रोत अतीत में ही पाया जाता है

iv) परिवार तथा वंश के साथ संबंधों तथा दायित्वों की कभी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए

समरसता, परंपरावाद तथा पारिवारिक दायित्वों पर बल देना लाभ के लिए लाभ कमाने के अनथक प्रयास से बिल्कुल भिन्न विचार है। वास्तव में इसके अंतर्गत पूंजीवाद की प्रवृत्ति को ही संभवतः ग़लत आचार माना जाता।

### 15.4.2 पश्चिम एशिया में यहूदी धर्म

यह धर्म यहूदी समुदाय का है जो मूल रूप से पश्चिम एशिया के फ़िलिस्तीन क्षेत्र के निवासी थे। यहूदी धर्म सबसे प्राचीन एकश्वरवादी धर्म है और यह सर्वशक्तिमान तथा सर्वप्रभुत्वधारी एक ईश्वर में विश्वास करता है। यहूदियों का विश्वास है कि वे ईश्वर या "जहोवा" के चुने हुए प्रतिनिधि हैं। उनके पैगम्बर ने उन्हें इस विश्वास के साथ संगठित किया कि वे ईश्वर के चुने हुए प्रतिनिधि हैं और उन्हें पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य स्थापित करना है। कन्फ्यूशसवाद और हिंदू धर्म के विपरीत यहूदी धर्म पर्यावरण के साथ समरस होने की नहीं अपितु उस पर विजय प्राप्त करने की बात करता है।

वेबर का कहना है कि यहूदी धर्म पूंजीवाद की प्रवत्ति पैदा कर सकता था। लेकिन कुछ ऐतिहासिक शक्तियों ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। अत्याचार के कारण उन्हें अपनी मातृभूमि से **महानिष्क्रमण** या सामूहिक प्रवास करना पड़ा और वे समूचे विश्व में तितर-बितर हो गए। उनकी आर्थिक प्रतिभागिता पैसा उधार देने तक सीमित हो गई और इस कार्य को उन्होंने सफलतापूर्वक संपन्न किया।

### 15.4.3 भारत में हिन्दू धर्म

भारत में धर्म के संबंध पर चर्चा करते समय वेबर ने हिन्दू धर्म की नैतिकता में तर्कसंगत पूंजीवाद के पनपने की संभावना को नकार दिया। उसके अनुसार भारत जैसे जाति प्रथा-आधारित समाज में आधुनिक पूंजीवाद का संगठन बिल्कुल असंभव है और न ही पश्चिमी दुनिया से आयातित पूंजीवाद यहां फल-फूल सकता है।

चीन की तरह भारत भी आर्थिक दृष्टि से काफ़ी उन्नत था। संभवतः आपको मालूम होगा कि प्राचीन भारत का विज्ञान के क्षेत्र में भी अमूल्य योगदान रहा है। विश्वव्यापी बाज़ार में यहां का विनिर्मित माल बिकता था और विश्व के विभिन्न भागों के साथ भारत के व्यापारिक संबंध स्थापित हो गए थे।

लेकिन वेबर का कहना है कि हिन्दू धर्म पूंजीवाद के विकास के लिए उपयुक्त नैतिकता प्रदान नहीं कर सका। कर्म, धर्म तथा पुनर्जन्म (जन्म तथा पुनर्जन्म का चक्र) के विचारों ने भारतीयों को निराशावादी एवं नियतिवादी बना दिया। आपने लोगों को यह कहते तो सुना ही होगा, "मुझे अपने पिछले जन्म के कर्मों का दण्ड मिल रहा है।" चूंकि वर्तमान स्थिति पिछले कर्मों का परिणाम है अतः वेबर के विचार अनुसार हिन्दू लोग अपनी वर्तमान आर्थिक स्थिति में सुधार करने के लिए प्रेरित नहीं होते। वेबर का कहना है कि हिन्दू उस तरह की कड़ी मेहनत करना अभीष्ट नहीं समझते जो पूंजीवाद के लिए ज़रूरी है।

"मोक्ष या मुक्ति" के हिन्दू आदर्श के अनुसार हमारी आत्मा को मुक्ति तभी मिल सकती

है जब हम सांसारिक इच्छाओं या "वासनाओं " का मोह त्याग दें। भौतिक संसार तो एक भ्रम या माया है। हमें सच्चा आनन्द तभी मिलेगा, जब हम "मायाजाल" से मुक्त हो जाएं। हिन्दू धर्म "पारलौकिक संयम" का उपदेश देता है। भौतिक संसार को महत्वहीन माना गया है। भौतिक समृद्धि अस्थायी तथा भ्रमित करने वाली होती है, इसलिए उसको कोई महत्व नहीं दिया जाता है।

अनश्वर आत्मा का कल्याण ही ज़्यादा महत्वपूर्ण है। वे धर्म जो पारलौकिक संयम पर ज़ोर देते हैं और भौतिक संसार को हीन मानते हैं, पूंजीवाद का संवर्धन करने की अभिवृति पैदा नहीं कर सकते।

अतः यह स्पष्ट है कि भौतिक स्थितियां जैसे वित्त, व्यापार तथा प्रौद्योगिकी ही पूंजीवाद के संवर्धन के लिए काफ़ी नहीं है। भारत और चीन दोनों देशों में ये स्थितियां मौजूद थीं, लेकिन इन समाजों की मूल्य व्यवस्थाएं ऐसी थीं कि संपत्ति अर्जन करने की प्रकृति और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए तार्किक संगठन बनाना दोनों का यहां कोई महत्व नहीं था। यह इन समाजों के आदर्शों और नैतिकताओं के अनुरूप नहीं थी।

हिन्दू धर्म पर मैक्स वेबर के विचारों को पढ़ने के बाद उपयुक्त समय है कि आप सोचिये और करिये 2 को पूरा करें।

**सोचिए और करिए 2**

आपने प्रसिद्ध दूरदर्शन धारावाहिक "महाभारत" देखा होगा। इस धारावाहिक में हिन्दू नैतिकता किस रूप में प्रस्तुत की गई है? यह वेबर द्वारा प्रतिपादित हिन्दू नैतिकता से किस सीमा तक भिन्न या समान है? आप अपने विचार दो पृष्ठों में व्यक्त करिए। यदि संभव हो तो अपने अध्ययन केंद्र में अपनी टिप्पणी की अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणियों से तुलना करिए।

## 15.5 वेबर के धर्म तथा अर्थव्यवस्था संबंधी अध्ययनों का समालोचनात्मक मूल्यांकन

धर्म तथा आर्थिकी संबंधी वेबर के विचारों की अक्सर आलोचना की जाती रही है। कुछ विद्वान यह महसूस करते हैं कि वेबर ने धार्मिक नैतिकता के कुछ पहलुओं को अपनी इच्छानुसार चुनकर उन्हें बड़े संकीर्ण ढंग से इस तरह विवेचित कर दिया है कि वे उसके सिद्धांत के अनुरूप ठीक बैठ जाएं।

उदाहरण के लिए, हिन्दू नैतिकता के अध्ययन में वेबर ने उसके केवल एक पहलू पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया और उसके नियतिवादी तथा निष्क्रिय पहलू को ही बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया। कुछ विद्वानों और अध्येताओं ने यह तर्क दिया है कि कर्म और धर्म की धारणाएं वास्तव में तो व्यक्ति को कार्य करने, अपने कर्त्तव्य का पालन करने और अपने दायित्वों को निभाने के लिए प्रेरित करती है। यह उल्लेखनीय है कि व्यवसाय की अवधारणा जो पूंजीवाद की प्रवृत्ति की आधारशिला है, हिन्दू धर्म में भी प्रचलित है। फल की इच्छा किए बिना अपने कर्त्तव्य का पालन करने का भगवत गीता का सिद्धांत तथा व्यवसाय का सिद्धांत दोनों समान ही हैं। व्यवसाय का सिद्धांत पश्चिमी देशों में ही भौतिक प्रगति का केंद्र बिंदु है। मिल्टन सिंगर ने मद्रास (चेन्नई) शहर के कुछ अग्रणी उद्योगपतियों का अध्ययन किया था और इस अध्ययन में उसने प्रोटेस्टेंट नैतिकता की भारत में प्रकार्यात्मक समानता प्रस्तुत की है। उसके अनुसार जाति की पृष्ठभूमि तथा परंपरा भारत के औद्योगिक विकास में समान रूप से उपयुक्त बैठती है। जाति पर

आधारित श्रम-विभाजन को औद्योगिक श्रमिकों की विशेषज्ञता के क्षेत्र में सफलतापूर्वक प्रयुक्त किया गया है। सिंगर ने देखा कि "विभागीकरण" की प्रक्रिया के ज़रिए बहुत से उद्योगपतियों ने अपने व्यवसायिक दायित्वों तथा आनुष्ठानिक दायित्वों को अलग-अलग यानी बिल्कुल पृथक विभागों में रखा। इसलिए एक ओर व्यक्ति की व्यवसायी के रूप में भूमिका और दूसरी ओर धार्मिक व्यक्ति के रूप में उसकी भूमिका के बीच कोई संघर्ष नहीं पैदा हुआ।

मिल्टन सिंगर के अनुसार यदि भारत में पूंजीवाद को विकसित होना है तो यह पश्चिम की मात्र नक़ल नहीं होनी चाहिए, क्योंकि यह पारंपरिक जीवन शैली को क्षति पहुंचाने वाली है। भारत में पूंजीवाद का विकास सांस्कृतिक प्रतिमानों तथा सामाजिक संस्थानों की परिधि में ही हो सकता है (सिंगर 1977)।

आइए, इस बिंदु पर बोध प्रश्न 4 को पूरा करें।

**बोध प्रश्न 4**

निम्नलिखित तीनों प्रश्नों के सही उत्तरों पर सही का निशान लगाइये।

i) कन्फ्यूशसवाद निम्नलिखित में से किस पर बल देता है?
   क) व्यक्तिवाद
   ख) विश्व के साथ समरसता
   ग) नियतिवाद तथा निष्क्रियता

ii) वेबर के अनुसार हिन्दू लोग काम करने की ओर नीचे से दिए किस कारण से प्रेरित नहीं होते?
   क) उनके धर्म में उन्हें नियति में विश्वास करने वाला बना दिया है।
   ख) उनकी प्रौद्योगिकी तथा विनिर्माण कार्य काफ़ी अच्छी तरह से विकसित रहे हैं
   ग) वे आलसी होते हैं।

iii) प्राचीन फिलस्तीन में पूंजीवाद नीचे दिए कारणों में से किस कारणवश विकसित नहीं हो पाया?
   क) यहूदी धर्म "पारलौकिक संयम" पर बल देता है।
   ख) यहूदी लोग पूरी दुनिया में छितर गए।
   ग) यहूदी पैंगबरों ने पर्यावरण पर विजय करने का उपदेश दिया।

## 15.6 सारांश

इस इकाई में सबसे पहले हमने "धर्म" और आर्थिकी की अवधारणाओं को स्पष्ट किया। हमने वेबर द्वारा वर्णित इन दोनों अवधारणाओं के बीच संबंध को देखने का प्रयास किया। हमने पश्चिमी देशों में तार्किक पूंजीवाद के विकास के बारे में वेबर द्वारा प्रस्तुत तर्कों का विवेचन किया। हमने वेबर द्वारा प्रस्तुत उन तर्कों को भी देखा जिनके अनुसार चीन, पश्चिमी एशिया तथा भारत में पूंजीवाद क्यों नहीं विकसित हो पाया। अंत में, हमने भारतीय समाज के संदर्भ में वेबर द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत की कुछ आलोचनाओं पर भी विचार किया।

## 15.7 शब्दावली

**कैथोलिक चर्च** इसे रोम का चर्च भी कहा जाता है। इसका मुख्यालय वैटिकन सिटी में है और इस चर्च का प्रमुख पोप होता है। सुधारवाद से पहले यही ईसाई धर्म का मुख्य चर्च था। सुधारवाद के बाद इससे कई अलग पंथ बन गए, जैसे कल्विनवादी, लूथरवादी, बैप्टिस्ट आदि।

**पूंजी संचयन** इसका आशय संसाधनों के संग्रहण से है और इसे उद्योग में पुनःनिवेश कर दिया जाता है ताकि उद्योग का विस्तार किया जा सके।

**महानिष्क्रमण (exodus)** धार्मिक अत्याचारों की वजह से यहूदी धर्मावलंबियों द्वारा पश्चिम एशिया से बाहर भाग जाने की प्रक्रिया को इस इकाई में महानिष्क्रमण कहा गया है।

**औद्योगिक क्रांति** इस शब्द का तात्पर्य 1750-1850 की अवधि में आर्थिक क्षेत्र में आने वाले आमूल परिवर्तनों से है। इंग्लैंड इस क्रांति का केंद्र था, इसके बाद यह संपूर्ण यूरोप में फेल गई। भाप शक्ति जैसी नई खोजों, पावरलूम, कलाई मशीन आदि जैसे आविष्कारों ने उत्पादन के क्षेत्र में क्रांति ला दी। इसी अवधि के दौरान कारखाना प्रणाली तथा पूंजीवाद का उदय हुआ।

**सुधारवाद** यह एक धार्मिक क्रांति थी जो सोलहवीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में चर्च में फैले भ्रष्टाचार के विरूद्ध हुई। इसकी वजह से प्रोटेस्टेंट मत का जन्म हुआ जो कैथोलिक चर्च से अलग होकर बना था।

## 15.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आरों, रेमों, 1967. *मेन करंट्स इन सोसियोलॉजिकल थॉट.* वाल्यूम 2, पेंगुइन बुक्सः लंदन पृभठ 210-237

हरलम्बोस, एम., 1980. *सोशियोलॉजी थीम्स एण्ड पर्सपैक्टिव्स्.* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसः लंदन

कसलर, डर्क 1988. *एन इंट्रोडक्शन टु हिज़ लाइफ़ एण्ड वर्क,* फ़िलिप्पा हर्ड द्वारा अनुवादित. शिकागो युनीवर्सिटी प्रैसः शिकागो

## 15.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) धर्म से हमारा आशय अलौकिक या ऐसी घटनाओं के बारे में कुछ विचारों तथा विश्वासों से होता है जिनको स्पष्ट नहीं किया जा सकता। धर्म का संबंध मानव आचरण से संबंधित ऐसे कुछ मूल्यो, विचारों और दिशा-निर्देशों से होता है जो उसे स्वयं को तथा अपने इर्द-गिर्द की दुनिया को समझने में सहायता करते हैं।

ii) क) धर्म मनुष्य को अपने नियंत्रण से बाहर की घटनाओं के साथ मेल रखने में सहायता करता है।

ख) धर्म आचरण के कुछ ऐसे दिशा-निर्देश प्रदान करता है, जो उसके अनुयायियों को उनके कार्यकलापों में निर्देश देकर सहायता करते हैं।

iii) धार्मिक विश्वास ऐसे मूल्य प्रतिपादित करते हैं जिन पर चलने या डटे रहने की अनुयायियों से अपेक्षा की जाती है। इसलिए आर्थिक व्यवहार का रूप समाज की धार्मिक व्यवस्था द्वारा प्रतिपादित मूल्यों तथा निर्देशों द्वारा तय किया जाता है।

**बोध प्रश्न 2**

i) ग)

ii) ग)

iii) क)

iv)

| परंपरावाद | पूंजीवाद |
|---|---|
| क) | ख) |
| घ) | ग) |
| | ड) |
| | च) |

**बोध प्रश्न 3**

i) मैक्स वेबर ने देखा कि यूरोप में प्रोटेस्टेंट समुदाय ने ही आर्थिक क्षेत्र में सबसे ज़्यादा उन्नति की है। वे उद्योग, शिक्षा तथा नौकरशाही में अग्रणी थे। वेबर ने यह देखने का प्रयत्न किया कि उनकी उन्नति में कहीं उनके धर्म का तो योगदान नहीं था। इसीलिए वेबर ने प्रोटेस्टेंट नैतिकता तथा पूंजीवाद की प्रवृत्ति के बीच संबंध स्थापित करने का प्रयास किया।

ii) कल्विन सिद्धांतों का यह कहना है कि यह व्यक्ति की नियति में होता है कि व स्वर्गवासी होगा या नरकवासी। कल्विन धर्म के अनुयायियों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि वे ही पृथ्वी पर समृद्ध बनने के द्वारा स्वर्ग के लिए चुने गए व्यक्ति हैं। समृद्धि प्राप्त करने का एकमात्र उपाय कड़ी मेहनत तथा बचत करना है। इसीलिए उन्होंने कड़ी मेहनत और अनुशासन पर बल दिया

iii) कल्विनवादी कार्य को ईश्वरीय आहवान या एक मिशन मानते थे। कार्य पूर्ण निष्ठा तथा ईमानदारी से किया जाना चाहिए। कार्य के साथ "अन्तर्भूत पारिश्रमिक" होता है, कर्त्तव्य को कर्त्तव्य के लिए करना चाहिए। कार्य ही उपासना है अतः कोई भी काम छोटा या गंदा नहीं होता।

**बोध प्रश्न 4**

i) ख)

ii) ख)

iii) ख

# इकाई 16 शक्ति व सत्ता

## इकाई की रूपरेखा


16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 शक्ति और सत्ता की अवधारणाएं

- 16.2.1 शक्ति
- 16.2.2 सत्ता
- 16.2.3 सत्ता के तत्व

16.3 सामाजिक कार्य के प्रकार व सत्ता के प्रकार

- 16.3.1 सामाजिक कार्य के प्रकार
- 16.3.2 सत्ता के प्रकार
  - 16.3.2.1 पारंपरिक सत्ता
  - 16.3.2.2 करिश्माई अथवा चमत्कारिक सत्ता
  - 16.3.2.3 तर्क-विधिक सत्ता

16.4 नौकरशाही

- 16.4.1 नौकरशाही के मुख्य लक्षण
- 16.4.2 नौकरशाही में अधिकारी वर्ग की विशेषताएं

16.5 सारांश

16.6 शब्दावली

16.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 16.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपके लिए संभव होगा

- शक्ति और सत्ता की मैक्स वैबर द्वारा परिभाषित अवधारणाओं को समझना
- वेबर के सामाजिक कार्य के प्रकारों और सत्ता के प्रकारों के बीच संबंध को स्पष्ट करना
- सत्ता के तीन प्रकारों पारंपरिक, करिश्माई और तर्क-विधिक की विस्तार से व्याख्या करना
- तर्क-विधिक सत्ता का प्रयोग नौकरशाही द्वारा किस तरह किया जाता है, उसकी विवेचना करना।

## 16.1 प्रस्तावना

इस खंड की इकाई 14 और 15 में आपने प्ररूप तथा धर्म एवं आर्थिकी के बीच संबंध के बारे में वेबर के विचारों की जानकारी प्राप्त की। इस इकाई में **शक्ति** और **सत्ता** को समझने में वेबर के महत्वपूर्ण योगदान पर प्रकाश डाला जाएगा। भाग 16.2 में शक्ति और

सत्ता की समाजशास्त्रीय अवधारणाओं का संक्षेप में विवेचन किया गया है जिसमें इन शब्दों के संबंध में वेबर की दृष्टि की विशेष चर्चा की गई है। भाग 16.3 में वेबर द्वारा बताए गए सामाजिक कार्य के प्रकारों की चर्चा की गई है। सत्ता के प्रकारों मुख्यतः पारंपरिक, करिश्माई तथा तर्क विधिक सत्ता का उल्लेख किया गया है। भाग 16.4 में आपका ध्यान नौकरशाही पर केंद्रित किया गया है जो तर्क विधिक सत्ता को प्रयोग में लाने का एक प्रमुख उदाहरण है।

## 16.2 शक्ति और सत्ता की अवधारणाएं

आइए, इन मुख्य अवधारणाओं का व्यापक समाजशास्त्रीय दृष्टि तथा वेबर की विशिष्ट दृष्टि से विश्लेषण करें।

### 16.2.1 शक्ति

सामान्य प्रयोग में "शक्ति" शब्द का अर्थ है ताक़त अथवा नियंत्रण की क्षमता। समाजशास्त्रियों ने इसकी परिभाषा एक व्यक्ति अथवा समूह की अपनी इच्छा पूर्ण करने तथा अपने निर्णयों एवं विचारों को कार्यान्वित करने के सामार्थ्य के रूप में की है। इसमें दूसरों की इच्छा के विपरीत भी उन्हें प्रभावित करने अथवा उनके आचरण को नियंत्रित करने की क्षमता निहित है।

मैक्स वेबर के अनुसार, शक्ति सामाजिक संबंधों का एक पहलू है। इसका संबंध एक व्यक्ति द्वारा दूसरे के आचरण पर अपनी इच्छा थोपने की संभावना से है। शक्ति का अस्तित्व सामाजिक अन्तर्क्रियाओं में है और यह असमानता की स्थितियां पैदा करती है क्योंकि जिसके हाथ में शक्ति है उसमें इसे दूसरों पर थोपने की प्रवृत्ति होती है। शक्ति का प्रभाव अलग-अलग स्थिति में अलग-अलग होता है। एक ओर यह प्रभाव शक्तिशाली व्यक्ति की क्षमता पर निर्भर करता है। वेबर की मान्यता है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में शक्ति का प्रयोग संभव है।

यह युद्ध क्षेत्र अथवा राजनीति तक ही सीमित नहीं है। इसे बाज़ार, भाषण मंच तथा किसी सामाजिक समारोह, खेल-कूद, वैज्ञानिक गोष्ठियों और यहां तक कि परोपकार की गतिविधियों में भी देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए दान अथवा भिक्षा देना अपनी आर्थिक शक्ति प्रदर्शित करने का एक सूक्ष्म तरीक़ा है। एक अमीर व्यक्ति अपनी आर्थिक शक्ति द्वारा भिखारी को कुछ देकर उसे खुश कर सकता है और इंकार करके उसे निराश भी कर सकता है।

शक्ति के स्रोत क्या हैं? वेबर ने शक्ति के दो परस्पर-विरोधी स्रोतों का उल्लेख किया है। ये नीचे दिए प्रकार से है।

क) वह शक्ति जो **धन-अर्थव्यवस्था** के अंतर्गत औपचारिक मुक्त बाज़ार में पनपने वाले हितों के मेल से प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए चीनी उत्पादकों का एक समूह अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने के लिए अपने उत्पादन की सप्लाई को नियंत्रित करे।

ख) सत्ता की एक सीमित प्रणाली, जो आदेश देने के अधिकार तथा उसके पालन के कर्त्तव्य का निर्धारण करती है। उदाहरण के लिए सेना में एक जवान अपने अधिकारी का आदेश मानने को बाध्य है। अधिकारी को आदेश देने की शक्ति सदैव सत्ता की सीमित प्रणाली से मिलती है।

जैसा कि आपने दूसरे विषय में देखा, शक्ति की चर्चा करते हमें उसकी वैधता पर विचार

करना पड़ता है। वेबर के अनुसार, यही वैधता सत्ता का मूल पक्ष है। आइए अब हम सत्ता की अवधारणा पर विचार करें।

### 16.2.2 सत्ता

सत्ता के लिए वेबर द्वारा प्रयुक्त जर्मन शब्द "हैरशाफ़्ट" (herrschaft) का अनुवाद कई रूपों में हुआ है। कुछ समाजशास्त्रियों ने इसे सत्ता (authority) कहा है, जबकि कुछ विद्वानों ने इसका अनुवाद "प्रभुत्व" (domination) अथवा "आदेश" (command) किया है। "हैरशाफ़्ट" का अर्थ है ऐसी स्थिति जिसमें "हैर" (herr) अथवा स्वामी अन्यों पर प्रभुत्व जमाता है अथवा हुक्म चलाता है। रेमो आरों (1967: 187) के अनुसार, हैरशाफ़्ट की परिभाषा स्वामी की वह क्षमता है जिसमें वह उन लोगों से आज्ञापालन करवाता है जो सैद्धांतिक रूप से उसके प्रति आज्ञाकारी है। इस इकाई में हमने वेबर की "हैरशाफ़्ट" की अवधारणा को सत्ता (authority) शब्द द्वारा व्यक्त किया हैं।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि शक्ति (power) और सत्ता (authority) में क्या अंतर है। जैसा कि आपने पढ़ा, शक्ति का अर्थ है किसी अन्य को नियंत्रित करने की योग्यता अथवा क्षमता। सत्ता से अभिप्राय है, वैध शक्ति । इसका अर्थ है कि स्वामी को समादेश देने का अधिकार है और वह उसके अनुपालन की अपेक्षा कर सकता है।

आइए, अब हम उन तत्वों का विवेचन करें, जो सत्ता को निरूपित करते हैं।

### 16.2.3 सत्ता के तत्व

सत्ता की व्यवस्था के अस्तित्व के लिए निम्नलिखित तत्वों का होना आवश्यक है।

i) कोई शासक/स्वामी अथवा शासकों/स्वामियों का समूह

ii) कोई व्यक्ति/समूह, जिस पर शासन किया जाना है

iii) शासित लोगों के आचरण को प्रभावित करने की शासक की इच्छा जो आदेशों के माध्यम से व्यक्त होती है।

iv) शासित द्वारा प्रदर्शित आज्ञा-पालन के रूप में शासकों के प्रभाव का प्रमाण

v) इस बात का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रमाण कि शासित लोगों ने यह तथ्य स्वीकार कर लिय है कि शासक के आदेशों का अवश्य पालन किया जाना है।

आपने देखा कि सत्ता का अभिप्राय शासक और शासित के बीच पारस्परिक संबंध होना आवश्यक है। शासक ये मानते हैं कि उन्हें सत्ता का प्रयोग करने का वैध अधिकार है। दूसरी ओर, शासित लोग शासक की इस शक्ति को स्वीकार करते हैं और उसका पालन करते हैं, जिससे उसकी वैधता ओर पुष्ट होती है।

इस बिंदु पर सोचिये और करिये 1 को पूरा करें।

> सत्ता के तत्वों के संदर्भ में अपने दैनिक जीवन में सत्ता का कोई उदाहरण दीजिए। इस पर एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए। यदि संभव हो तो अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों के साथ अपनी टिप्पणी का मिलान कीजिए।

**बोध प्रश्न 1**

i) शक्ति की परिभाषा दो पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

ii) शक्ति के महत्वपूर्ण स्रोतों का उल्लेख लगभग चार पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

iii) सत्ता के तीन महत्वपूर्ण तत्वों का परिचय दीजिए।

.....

.....

.....

आइए, अब हम वेबर द्वारा बताए गए सत्ता के प्रकारों का विश्लेषण करें। किन्तु पहले हमें वेबर द्वारा दिये गये सामाजिक कार्य के वर्गीकरण को समझना होगा। अगले भाग 16.3 में आपको यह स्पष्ट होगा कि वेबर ने सत्ता के जिन प्रकारों की चर्चा की है, वे सामाजिक कार्य के प्रकारों के साथ गहराई से जुड़े हैं।

## 16.3 सामाजिक कार्य के प्रकार तथा सत्ता के प्रकार

इकाई 14 में हमने सामाजिक कार्य के बारे में वेबर की अवधारणा का पहले भी विवेचन किया है। मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र को सामाजिक कार्य का व्यापक विज्ञान बताया है (आरों 1967: 187)। वेबर ने सामाजिक कार्य का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, उसकी यहां संक्षेप में विवेचना की जा रही है।

### 16.3.1 सामाजिक कार्य के प्रकार

वेबर ने सामाजिक कार्य के निम्नलिखित चार प्रमुख प्रकार बताए हैं

i) किसी लक्ष्य के संदर्भ में तार्किक कार्य अथवा स्वैकरैशनल (Zweckrational) कार्यः इसका एक उदारहण है पुल का निमार्ण कर रहा एक इंजीनियर। उसकी गतिविधियां अपने लक्ष्य यानि निर्माण को पूरा करने की दिशा में संचालित होती है।

ii) किसी मूल्य के संदर्भ में तार्किक कार्य अथवा वैर्टरैशनल (wertrational) कार्यः इस कार्य में अपने देश के लिए अपने प्राण न्यौछावर करने वाले सैनिक का उदाहरण दिया जा सकता है। उसका कार्य धन-दौलत की प्राप्ति जैसे किसी भौतिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि गौरव और देश-भक्ति जैसे विशिष्ट मूल्यों के लिए है।

iii) भावात्मक कार्यः इस प्रकार का कार्य व्यक्ति की भावात्मक स्थिति के फलस्वरूप होता है। जैसे कि बस में यदि कोई व्यक्ति किसी लड़की से छेड़खानी करता है तो वह लड़की नाराज़ होकर उसको थप्पड़ मार देती है।

iv) परम्परागत कार्यः यह कार्य उन परम्पराओं और विश्वासों से प्रेरित होता है, जो हमारे स्वभाव का अंग बन गए हैं। परम्परागत भारतीय समाज में बड़ों को प्रणाम अथवा नमस्कार करना एक तरह से स्वभाव का अंग है और सहज ही ऐसा हो जाता है।

यह देखा जा सकता है कि सामाजिक कार्य के उपर्युक्त वर्गीकरण की झलक वेबर की सत्ता की अवधारणा में भी मिलती है। इसकी चर्चा अगले उपभाग 16.3.2 में की गई है।

### 16.3.2 सत्ता के प्रकार

जैसा कि आपने उपभाग 16.2.2 में पढ़ा है, सत्ता का अभिप्राय वैधता से है। वेबर के अनुसार वैधता की तीन प्रणालियां हैं, और इनमें से प्रत्येक के अनुरूप नियम हैं, जो आदेश देने की शक्ति को औचित्य प्रदान करते हैं। वैधता की निम्नलिखित तीन प्रणालियों को सत्ता के प्रकारों का नाम दिया गया है (देखें चित्र 16.1: सत्ता के प्रकार)।

i) पारम्परिक सत्ता

ii) करिश्माई अथवा चमत्कारिक सत्ता

iii) तर्क-विधिक सत्ता

आइए, अब हम तीनों प्रकारों का उप-उपभागों में विस्तार से विवेचन करें।

**चित्र 16.1: सत्ता के प्रकार**

#### 16.3.2.1 पारंपरिक सत्ता

वैधता की यह प्रणाली पारम्परिक कार्य से निरूपित होती है। दूसरे शब्दों में यह व्यवहारिक कानून पर तथा प्राचीन परंपराओं की मान्यता पर आधारित है। इसका आधार यह विश्वास है कि किसी विशेष सत्ता का सम्मान किया जाना चाहिए क्योंकि यह युग-युगान्तरों से चली आ रही है।

पारंपरिक सत्ता के अंतर्गत शासक पीढ़ी दर पीढ़ी मिली प्रस्थिति के कारण व्यक्तिगत सत्ता का उपभोग करते हैं। उनके आदेश रीति-रिवाजों के अनुरूप होते हैं और उन्हें शासित लोगो से अपना आदेश मनवाने का भी अधिकार होता है। प्रायः वे अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। जो लोग उनके आदेशों का पालन करते हैं, वे उनकी प्रजा कहलाते हैं। यह प्रजा व्यक्तिगत निष्ठा के कारण अथवा प्राचीन काल से मान्यता प्राप्त पद के प्रति पवित्र सम्मान के कारण अपने स्वामी के आदेशों का पालन करती है। आइए, अब हम इस संबंध में अपने समाज का ही एक उदाहरण लें। आप भारत में प्रचलित जाति प्रथा से भली भांति परिचित हैं। "निम्न" जातियां सदियों तक "उच्च" जातियों के अत्याचार क्यों सहती रहीं? इसका एक स्पष्टीकरण यह हो सकता है कि "उच्च" जातियों की सत्ता को परम्पराओं तथा प्राचीन मान्यताओं का समर्थन प्राप्त था। कुछ लोगों का कहना है कि "निम्न" जातियों ने अपने दमन को सामाजिक स्वीकृति दे

दी थी। इस प्रकार यह देखा जाता है कि पारंपरिक सत्ता प्राचीन परंपराओं को पवित्र मानने के विश्वास पर आधारित है। इससे सत्ता का इस्तेमाल करने वालों को वैधता प्राप्त हो जाती है।

पारंपरिक सत्ता का संचालन लिखित नियमों और विधानों के अंतर्गत नहीं होता। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी विरासत में मिलता है। पारंपरिक सत्ता का कार्यान्वयन सगे-संबंधियों तथा समर्थकों के बल पर किया जाता है।

आधुनिक युग में पारंपरिक सत्ता में क्षीणता आई है। पारंपरिक सत्ता का सर्वाधिक सशक्त उदाहरण राजतंत्र (monarchy) अभी प्रचलित है, किन्तु उसका स्वरूप अब काफ़ी दुर्बल हो चुका है। इंग्लैंड की महारानी पारंपरिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करती है, किन्तु जैसा कि आपको मालूम होगा वह अपनी सत्ता का वास्तविक प्रयोग नहीं करती। इंग्लैंड के क़ानून महारानी के नाम पर लागू किए जाते हैं किन्तु इन क़ानूनों का निर्माण जनता के प्रतिनिधि अर्थात संसद सदस्य करते हैं। महारानी के अधीन संसद है, जो देश का शासन चलाती है, किन्तु वह मंत्रियों की नियुक्ति नहीं करती। वह नाम मात्र की राज्याध्यक्ष है।

संक्षेप में, पारंपरिक सत्ता को वैधता प्राचीन परंपराओं से प्राप्त होती है, जो कुछ लोगों को आदेश देने की क्षमता प्रदान करती है तथा अन्य लोगों को उनका पालन करने को बाध्य करती है। यह सत्ता विरासत में मिलती है और इसके लिए लिखित विधानों की आवश्यकता नहीं होती। शासक अपनी सत्ता का इस्तेमाल अपने समर्थक संबंधियों एवं मित्रों की सहायता से करते हैं। वेबर ने इस प्रकार की सत्ता को तर्कहीन माना है। इसलिए आधुनिक विकसित समाज में यह सत्ता बहुत कम पाई जाती है।

### 16.3.2.2 करिश्माई अथवा चमत्कारिक सत्ता

करिश्मा अथवा चमत्कार का अर्थ है कुछ व्यक्तियों के असाधारण गुण (देखें कोष्ठक 16.1 करिश्मा)। ऐसे गुण से इन व्यक्तियों में सामान्य लोगों की निष्ठा तथा भावनाओं पर अधिकार कर लेने की क्षमता आ जाती है। करिश्माई सत्ता किसी व्यक्ति के प्रति असाधारण आस्था और उस व्यक्ति द्वारा बताई गई जीवन-शैली पर आधारित होती है। ऐसी सत्ता की वैधता व्यक्ति की अलौकिक अथवा मायावी शक्ति में निहित होती है। ऐसे नेता चमत्कारों, सैनिक या अन्य प्रकार की विजयों अथवा अपने अनुयायियों की आकस्मिक समृद्धि के माध्यम से अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हैं। जब तक ये करिश्माई नेता अपने अनुयाइयों अथवा समर्थकों की नज़र में अपनी चमत्कारिक शक्तियों को सिद्ध करते रहते हैं, तब तक उनकी सत्ता बराबर बनी रहती है। आपने महसूस किया होगा कि करिश्माई सत्ता से जो सामाजिक क्रिया जुड़ी है, वह भावात्मक क्रिया है। करिश्माई नेताओं के प्रवचनों तथा उपदेशों के प्रभाव से समर्थक अत्यंत भावुक हो जाते हैं। यहां तक कि वे अपने नेता की पूजा तक करते हैं।

**कोष्ठक 16.1 करिश्मा**

**करिश्मा (चमत्कार) शब्द का शब्दकोशीय अर्थ है ईश्वरीय वरदान।**

यह ईश्वर की कृपा से मिली योग्यता होती है। वेबर के अनुसार यह दूसरों पर लागू एक प्रकार की शक्ति है, जिसे लोग सत्ता के रूप में भी मानते हैं। जिस व्यक्ति के पास करिश्मे का गुण है उसकी सत्ता दैविक ध्येय, अंतदृष्टि, नैतिक गुण आदि से संबंधित मिथ्या के रूप में देखी जा सकती है।

करिश्माई सत्ता परंपरागत विश्वासों अथवा लिखित नियमों पर आधारित नहीं होती। यह अपनी विशेष क्षमता के बल पर शासन करने वाले नेता के विशेष गुणों का ही परिणाम होती है। करिश्माई सत्ता संगठित नहीं होती, अतः इसमें कर्मचारियों अथवा प्रशासनिक तंत्र की आवश्यकता नहीं होती। नेता और उसके सहयोगियों का अपना कोई निश्चित व्यवसाय नहीं होता और वे प्रायः ,पारिवारिक दायित्वों से विमुख रहते हैं। ये गुण कभी-कभी चमत्कारिक व्यक्तियों को क्रांतिकारी भी बना देते हैं, क्योंकि उन्होंने सभी परंपरागत सामाजिक प्रतिमानों तथा दायित्वों को अस्वीकार किया होता है।

व्यक्तिगत गुणों पर आधारित होने के कारण संबद्ध नेता की मृत्यु अथवा उसके लापता होने की स्थिति में उत्तराधिकार की समस्या पैदा होती है। जिस व्यक्ति ने नेता का स्थान लिया है, संभव है उसमें वैसी चमत्कारिक शक्ति न हो। ऐसी स्थिति में नेता का मूल संदेश लोगों तक पहुंचाने के लिए जब किसी प्रकार का संगठन विकसित होता है तब मूल करिश्माई सत्ता या तो पारंपरिक सत्ता या तर्क-विधिक सत्ता का रूप ग्रहण कर लेती है। वेबर के अनुसार यह करिश्मा अथवा चमत्कार का **सामान्यीकरण** है।

यदि चमत्कारिक नेता का पुत्र, पुत्री अथवा कोई निकट संबंधी उसका उत्तराधिकारी बनता है तब पारंपरिक सत्ता का अस्तित्व बना रहता है। किन्तु यदि चमत्कारिक गुणों का स्पष्ट उल्लेख होता है या वे लिखित रूप में मौजूद होते हैं तो वह तर्क-विधिक सत्ता के रूप में बदल जाती है जिसके अंतर्गत इन गुणों से संपन्न कोई भी व्यक्ति नेता बन सकता है। इस प्रकार करिश्माई सत्ता को अस्थिर एवं अस्थायी माना जा सकता है। हमारे समाज में करिश्माई नेताओं के उदाहरण समूचे इतिहास में मौजूद रहे हैं। संत, पैगम्बर तथा कुछ राजनेता ऐसी सत्ता के उदाहरण हैं। उदाहरणतः कबीर, नानक, ईसा मसीह, मोहम्मद पैगम्बर, लेनिन और महात्मा गांधी आदि। लोगों ने उनका सम्मान पारंपरिक सत्ता या तर्क-विधिक सत्ता के कारण नहीं बल्कि उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं तथा उनके द्वारा दिए गए संदेश और उपदेश के कारण किया। आइए अब मैक्स वेबर द्वारा बताए गए सत्ता के तीसरे प्रकार की व्याख्या करें।

**कोष्ठक 16.2**

**सामान्यीकरण (routinisation)**

वेबर ने इस शब्द का प्रयोग "चमत्कारिक नेतृत्व के संस्थागत नेतृत्व में परिवर्तित हो जाने के लिए किया, जिसमें व्यक्ति की बजाय पद सत्ता का केंद्र बन जाता है।" स्क्रूटन (1982: 415)

**बोध प्रश्न 2**

निम्नलिखित तीन प्रश्नों के सही उत्तर बताइए।

i) वेबर के अनुसार निम्नलिखित में से कौन सा सत्ता का प्रकार नहीं है?
   क) पारंपरिक सत्ता
   ख) तर्क-विधिक सत्ता
   ग) करिश्माई अथवा चमत्कारिक सत्ता
   घ) व्यक्तिगत सत्ता

ii) जब किसी नेता की मूल करिश्माई अथवा चमत्कारिक क्षमता पारंपरिक अथवा तर्क-विधिक सत्ता में बदल जाती है तो वेबर के अनुसार क्या स्थिति होती है?
   क) करिश्मा अथवा चमत्कार का समान्यीकरण

ख) सत्ता का सामान्यीकरण

ग) नेतृत्व का सामान्यीकरण

घ) शक्ति का सामान्यीकरण

iii) पारंपरिक सत्ता को किसके द्वारा वैधता मिलती है?

क) देश का कानून

ख) प्राचीन परंपराएं

ग) नेता की श्रेष्ठ उपलब्धियां

घ) उपर्युक्त सभी

### 16.3.2.3 तर्क-विधिक सत्ता

यह शब्द सत्ता की उस प्रणाली का बोध कराता है, जो तार्किक है तथा क़ानूनी भी।

यह सत्ता नियमित कर्मचारी वर्ग में निहित है, जिन्हें कुछ लिखित क़ानूनों एवं नियमों के अंतर्गत काम करना होता है। इस वर्ग के लोगों की नियुक्ति उनकी योग्यताओं के आधार पर की जाती है। ये योग्यताएं निर्धारित तथा संहिताबद्ध होती है। जिन के पास यह सत्ता होती है, उनका यह व्यवसाय होता है तथा वे इसके लिए वेतन पाते हैं। इस प्रकार यह एक तार्किक प्रणाली है।

यह वैधानिक इसलिए है क्योंकि यह देश के क़ानून के अनुरूप है जिसे सभी की मान्यता प्राप्त होती है और उसका पालन करना सभी का कर्त्तव्य समझा जाता है। आदेशों और नियमों तथा उन नियमों को कार्यान्वित करने वालों की प्रस्थिति तथा पद दोनों की वैधता को स्वीकार किया जाता है एवं उसका सम्मान होता है।

तर्क-विधिक सत्ता आधुनिक समाज का विशिष्ट पहलू है। यह तार्किकता की प्रक्रिया की अभिव्यक्ति हैं। याद रखें कि वेबर ने तार्किकता को पश्चिमी सभ्यता की मुख्य विशेषता माना है। वेबर के अनुसार यह मानव चिंतन तथा विचार-विमर्श की विशेष देन है। अब तक आपने तर्क-विधिक सत्ता तथा लक्ष्य प्राप्त करने के लिए तार्किक कार्य के परस्पर संबंध को भली प्रकार समझ लिया होगा।

आइए, अब हम तर्क-विधिक सत्ता के उदाहरणों को देखें। सभी लोग कर समाहर्ता (tax-collector) की आज्ञा मानते हैं क्योंकि उसके द्वारा जारी किए जाने वाले आदेश की वैधता में सब को विश्वास है। यह भी मान्य है कि उसे लोगों को कर संबंधी नोटिस भेजने का क़ानूनी अधिकार है। जब ट्रैफ़िक पुलिस वाला लोगों को गाड़ी रोकने का इशारा करता है तो उनका वाहन इसीलिए रोका जाता है क्योंकि उनमें क़ानून द्वारा उसे दिए गए अधिकार का सम्मान है। आधुनिक समाज में व्यक्ति से नहीं, बल्कि क़ानूनों एवं अध्यादेशों से शासन चलता है। लोग पुलिस के व्यक्ति का कहना उसके पद और वर्दी के कारण मानते हैं, जो क़ानून का प्रतिनिधित्व करती है। वे उसका कहना इसलिए नहीं मानते कि वह श्रीमान "क" अथवा "ख" नाम का व्यक्ति है। तर्क-विधिक सत्ता केवल राजनीतिक एवं प्रशासनिक क्षेत्र में नहीं बल्कि बैंक, उद्योग आदि आर्थिक क्षेत्रों तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक संगठनों में भी चलती है।

सामाजिक कार्य तथा सत्ता के प्रकारों के बारे में उपर्युक्त चर्चा के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि पारंपरिक सत्ता का संबंध परम्परागत क्रिया से, तर्क-विधिक सत्ता का संबंध लक्ष्य के संदर्भ में तार्किक कार्य से और करिश्माई सत्ता का संबंध भावात्मक कार्य से है।

परन्तु एक बात साफ़ नज़र आती है कि वेबर ने सामाजिक कार्य के चार प्रकार और सत्ता के केवल तीन प्रकार बताए हैं।

सामाजिक कार्य और सत्ता के वर्गीकरण में यह अंतर चर्चा का विषय हो सकता है जिसे स्नातकोत्तर पाठ्य सामग्री में शामिल किया जाएगा।

तर्क-विधिक सत्ता के संचालन के ढंग को अच्छी तरह से समझने के लिए "नौकरशाही" का विवेचन करना आवश्यक है। नौकरशाही के माध्यम से ही तर्क-विधिक सत्ता को कार्यान्वित किया जा सकता है। अगले भाग में इसी विषय की विवेचना की गई है। अगले भाग को पढ़ने से पहले सोचिये और करिये 2 को अवश्य पूरा कर लें।

**सोचिए और करिए 2**

अपने समाज में तर्क-विधिक सत्ता या पारंपरिक सत्ता का उदाहरण दीजिए, जिसमें उस सत्ता की वैधता के आधार का विशेष रूप से उल्लेख कीजिए तथा एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए। यदि संभव हो तो अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों से अपनी टिप्पणी का मिलान कीजिए।

## 16.4 नौकरशाही

जैसे कि ऊपर बताया गया है, नौकरशाही वह तंत्र है जिससे तर्क-विधिक सत्ता लागू होती है। मैक्स वेबर ने नौकरशाही का विस्तृत विवेचन किया है और एक **आदर्श प्ररूप** की परिकल्पना प्रस्तुत की है, जिसमें नौकरशाही की सभी विशेषताएं समाहित हैं। आइए, अब हम इसी आदर्श प्ररूप की व्याख्या करें, जिससे नौकरशाही के प्रमुख पहलुओं की जानकारी प्राप्त होगी।

### 16.4.1 नौकरशाही के मुख्य लक्षण

i) नौकरशाही का संचालन अधिकार क्षेत्रों के सिद्धांत पर होता है, जो कुछ क़ानूनों अथवा प्रशासनिक नियमों पर आधारित होते हैं। इनको नीचे दिया जा रहा है।

   क) अधिकारी वर्ग में नौकरशाही की गतिविधियों का बंटवारा सरकारी कर्त्तव्य के रूप में किया जाता है।

   ख) एक स्थायी अथवा नियमित प्रणाली होती है, जिसके अंतर्गत अधिकारी में सत्ता निहित होती है। यह सत्ता देश के क़ानूनों के अधीन होती है।

   ग) कठोर एवं विधिवत कार्यप्रणाली होती है, ताकि अधिकारी वर्ग अपना कर्त्तव्य उचित रूप में निभा सके।

इन तीन लक्षणों के मूल से "नौकरशाही सत्ता" की रचना होती है, जो आधुनिक विकसित समाजों में विद्यमान है।

ii) नौकरशाही का दूसरा लक्षण है सत्ता सम्पन्न अधिकारियोंका पदक्रम। इससे तात्पर्य यह है कि उच्च तथा निम्न अधिकारियों एवं कर्मचारियों का एक निश्चित ढांचा होता है। निचले पदों पर काम करने वाले कर्मचारियों को उच्च अधिकारियों के निर्देशन में काम करना होता है और उनके प्रति जवाबदेह रखनी होती है। इस तंत्र का एक लाभ यह है कि निचले अधिकारियों के प्रति अपने असंतोष की अभिव्यक्ति उच्च अधिकारियों से अपील के रूप में शासित लोगों द्वारा की जाती है। उदाहरण

के लिए यदि आप किसी कार्यालय में क्लर्क अथवा अनुभाग अधिकारी के आचरण से असंतुष्ट हीं तो यह संभव है कि आप अपनी शिकायत उच्च अधिकारी तक पहुंचाएं।

iii) नौकरशाही कार्यालय का प्रबंध लिखित दस्तावेज़ों या फ़ाइलों के द्वारा चलता है। ये दस्तावेज़ उन कर्मचारियों द्वारा सुरक्षित तथा सही ढंग से रखे जाते हैं, जिनकी नियुक्ति इसी काम के लिए होती है।

iv) नौकरशाही कार्यालयों का काम विशिष्ट प्रकार का होता है और इसके लिए कर्मचारियों को समुचित प्रशिक्षण दिया जाता है।

v) पूर्ण विकसित नौकरशाही कार्यालय के संचालन के लिए कर्मचारियों को पूरी दक्षता से काम करना होता है। ऐसी स्थिति में कर्मचारियों को निर्धारित कार्य-समय से अधिक समय तक भी काम करना पड़ सकता है।

नौकरशाही तंत्र के मुख्य लक्षणों का अध्ययन करने के बाद आइए, अब हम इसमें पाए जाने वाले कर्मचारी वर्ग के संबंध में कुछ चर्चा करें।

### 16.4.2 नौकरशाही में अधिकारी वर्ग की विशेषताएं

वेबर ने नौकरशाही में अधिकारी की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है।

i) अधिकारी के लिए कार्यालय का काम उसका "व्यवसाय" है।

ii) उसके काम के बारे में अधिकारी को विशेष रूप से प्रशिक्षित किया जाता है।

iii) कार्यालय में उसकी प्रस्थिति और पद उसकी योग्यताओं के अनुसार निर्धारित होता है।

iv) उससे अपेक्षा की जाती है कि वह ईमानदारी से काम करे।

आइए, अब हम इस पर विचार करें कि अधिकारी की सरकारी स्थिति से उसका निजी जीवन किस प्रकार प्रभावित होता है।

i) नौकरशाही अथवा सरकारी अधिकारियों का समाज में ऊंचा दर्जा होता है।

ii) प्रायः एक स्थान से दूसरे स्थान या एक विभाग से दूसरे विभाग में उसका स्थानांतरण होता रहता है। इससे उसके व्यावसायिक तथा व्यक्तिगत जीवन में एक तरह की अस्थिरता रहती है।

iii) अधिकारियों को वेतन उत्पादकता के अनुसार नहीं बल्कि उनके पद के अनुसार मिलता है। जितना ऊंचा उनका पद होगा, उतना अधिक उनका वेतन होगा। उन्हें पेंशन, भविष्यनिधि, चिकित्सा तथा अन्य प्रकार की सुविधाएं भी मिलती हैं। उनकी नौकरी अति सुरक्षित मानी जाती है।

iv) अधिकारियों को जीवन में आगे बढ़ने के अच्छे अवसर मिलते हैं। अनुशासित ढंग से काम करने वाले अधिकारी के लिए निचले स्तर से तरक्की करके उच्च स्तर पर पहुंचना संभव है।

**बोध प्रश्न 3**

i) निम्नलिखित प्रश्न का सही उत्तर बताइए

नौकरशाही निम्न में से किसका उदाहरण है?

क) पारंपरिक सत्ता

ख) तर्क-विधिक सत्ता

ग) करिश्माई सत्ता

घ) इनमे से कोई नहीं

ii) नौकरशाही सत्ता के महत्वपूर्ण लक्षणों का तीन पंक्तियों में उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

iii) नौकरशाही में अधिकारियों की महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख चार पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

## 16.5 सारांश

इस इकाई के प्रारंभ में हमने "शक्ति" और "सत्ता" के बारे में वेबर की अवधारणाओं पर चर्चा की। इसके बाद वेबर द्वारा बताए गए सामाजिक कार्य के प्रकारों तथा सत्ता के प्रकारों का विवेचन किया गया। हमने पारंपरिक, करिश्माई अथवा चमत्कारिक एवं तर्क-विधिक सत्ता का अध्ययन किया। अंत में हमने उस तंत्र अर्थात् नौकरशाही के पहलुओं पर ध्यान दिया, जिसके माध्यम से तर्क-विधिक सत्ता का संचालन होता है। हमने नौकरशाही में अधिकारी वर्ग की विशेषताओं का भी अध्ययन किया।

## 16.6 शब्दावली

| | |
|---|---|
| **शक्ति (power)** | दूसरों पर अपनी इच्छा थोपने की क्षमता |
| **सत्ता (authority)** | शक्ति को जब वैधता मिल जाती है तो वह सत्ता का रूप ले लेती है। |
| **आदर्श प्ररूप (ideal type)** | वेबर द्वारा विकसित एक शोध पद्धति का साधन जिसमें किसी वस्तु या घटना के सामान्य लक्षणों को सिद्धांत रूप में व्यक्त किया जाता है। आदर्श प्ररूप एक विश्लेषणात्मक विधि है, जिससे समाजशास्त्री अपने समय की वास्तविकताओं की तुलना करता है। |
| **सामान्यीकरण (routinisaton)** | करिश्माई अथवा चमत्कारिक सत्ता के पारंपरिक अथवा तर्क-विधिक सत्ता में परिवर्तित होने की प्रक्रिया |
| **धन-अर्थव्यवस्था (money-economy)** | धन द्वारा किया गया कोई भी आर्थिक लेन-देन |

## 16.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ऐलन, कीयर्न 2004. *मैक्स वेबरः ए क्रिटिकल इंट्रोडक्शन.* प्लूटो प्रैसः एन आर्बर, मिशिगन

बेन्डिक्स, रैनआरी, 1960. *मैक्स वेबरः एन इंटलैक्चुअल पोर्ट्रेट* हाइनमनः लंदन

फ्राएंड, जूलियन, 1968. *द सोशियोलॉजी ऑफ़ मैक्स वेबर.* रैंडम हाउसः न्यूयार्क

## 16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) दूसरों पर अपनी इच्छा थोपने की किसी व्यक्ति की क्षमता को शक्ति कहते हैं।

ii) शक्ति औपचारिक मुक्त बाज़ार में पनपने वाले हितों के मेल से प्राप्त की जा सकती है। यह सत्ता की सुव्यवस्थित प्रणाली से भी प्राप्त की जा सकती है जो आदेश देने के अधिकार तथा उसका पालन करने के कर्त्तव्य का निर्धारण करती है।

iii) क) किसी शासक/स्वामी अथवा शासकों/स्वामियों के समूह की विद्यमानता।

ख) शासित व्यक्ति/समूह की विद्यमानता

ग) शासितों द्वारा आज्ञा माने जाने और निष्ठा प्रदर्शन के रूप में शासकों के प्रभाव का प्रमाण

**बोध प्रश्न 2**

i) घ)

ii) क)

iii) ख)

**बोध प्रश्न 3**

i) क)

ii) नौकरशाही सत्ता के तीन प्रमुख लक्षण हैं

क) इसका संचालन अधिकार क्षेत्र के उस सिद्धांत पर होता है, जो कुछ प्रशासनिक नियमों पर आधारित रहता है।

ख) एक स्थायी नियमित प्रणाली होती है, जिसके अंतर्गत अधिकारियों में सत्ता निहित होती है।

ग) कठोर तथा विधिवत कार्यप्रणाली, जिनसे यह सुनिश्चित किया जाता है कि अधिकारी अपना कर्त्तव्य उचित रूप से निभाते रहें।

iii) नौकरशाही के अधिकारियों की विशेषताएं हैं

क) कार्यालय का काम अधिकारियों का "व्यवसाय" होता है।

ख) उन्हें अपने काम के बारे में विशेष रूप से प्रशिक्षित किया जाता है।

ग) कार्यालय में उनकी स्थिति और पद उनकी योग्यताओं के अनुसार निर्धारित होता है।

घ) उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे ईमानदारी से काम करें।

# इकाई 17 तार्किक दृष्टिकोण

## इकाई की रूपरेखा


17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 तर्कसंगति अथवा तार्किक दृष्टिकोण और तर्कसंगतिकरण का अभिप्राय

17.3 वेबर की रचनाओं में तर्कसंगति की अवधारणा

- 17.3.1 प्रोटेस्टेंटवाद
- 17.3.2 पूंजीवाद
- 17.3.3 नौकरशाही
- 17.3.4 तर्कसंगत के प्रकारः मूल्य-विमुक्त समाजशास्त्र

17.4 समाजशास्त्रीय शोध में तर्कसंगतिः मूल्य-विमुक्त समाजशास्त्र

17.5 सारांश

17.6 शब्दावली

17.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 17.0 उद्देश्य

इस इकाई में तार्किक दृष्टिकोण अथवा तर्कसंगति के विषय में चर्चा की गई है। इस अवधारणा का वेबर की रचनाओं में बार बार उल्लेख है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा

- तर्कसंगति और तर्कसंगतिकरण, दोनों अवधारणाओं का अर्थ स्पष्ट करना
- प्रोटेस्टेंटवाद, पूंजीवाद और नौकरशाही व्यवस्था के संदर्भ में तर्कसंगति पर वेबर के अध्ययन की व्याख्या करना
- समाजशास्त्रीय शोध और मूल्य-विमुक्त समाजशास्त्र के क्षेत्र में तर्कसंगति के विषय पर वेबर के विचारों में चर्चा करना।

## 17.1 प्रस्तावना

इस खंड की पिछली इकाइयों में आपने आदर्श प्ररूप, धार्मिक नैतिकता और आर्थिक व्यवहार के बीच संबंधों तथा शक्ति और **सत्ता** के बारे में समाजशास्त्र के क्षेत्र में मैक्स वेबर के महत्वपूर्ण योगदान के बारे में जाना। इस इकाई में उसकी रचनाओं के मूल विषय अर्थात् तर्कसंगति की अवधारणा और तर्कसंगतिकरण के बारे में चर्चा की गई है। इस **परिकल्पना** का वेबर की सभी रचनाओं में उल्लेख हैं इसलिए हो सकता है कि आपको इस इकाई के कुछ भाग पिछली इकाइयों की पुनरावृत्ति प्रतीत हों। इस इकाई में आपको अपनी पूर्व पठित अवधारणाओं को दोहराने का और तर्कसंगति के संदर्भ में उनका अध्ययन करने का अवसर मिलेगा।

इस इकाई को तीन भागों में बांटा गया है। पहले भाग (17.2) में तर्कसंगति और

तर्कसंगतिकरण के अर्थ के बारे में संक्षेप में बताया गया है। दूसरे भाग(17.3) में वेबर द्वारा अपनी रचनाओं में प्रयोग की गई तर्कसंगति की अवधारणा के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। इस भाग में प्रोटेस्टेंटवाद, पूंजीवाद, नौकरशाही व्यवस्था और तर्कसंगति के प्रकारों की चर्चा की गई है। तीसरे और अंतिम भाग(17.4) में वेबर द्वारा मूल्य-विमुक्त समाजशास्त्र के विशिष्ट संदर्भ में समाजशास्त्रीय शोध के लिए तर्कसंगति के अनुप्रयोग पर ध्यान केंद्रित किया गया है।

## 17.2 तर्कसंगति अथवा तार्किक दृष्टिकोण और तर्कसंगतिकरण का अभिप्राय

"तर्कसंगति" का मतलब ऐसे विचारों और व्यवहारों से है जो **तर्क** की दृष्टि से संगत और अनुरूप है और जिनकी अनुभव के आधार पर जांच की जा सकती है। तर्कसंगति की प्रक्रिया का अभिप्राय उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा तर्कसंगति का प्रयोग जीवन के विभिन्न पक्षों और गतिविधियों में किया जाता है। तर्कसंगति मानव मात्र का विशिष्ट अभिलक्षण है। इस विश्वास ने दो सौ से भी अधिक वर्षों से तर्कसंगति को पाश्चात्य दर्शन का मूल विषय बना दिया है (मिचेल 1968: 142)।

वेबर के मत में तर्कसंगति आधुनिक युग की विशेषता है। मैक्स वेबर का यह भी विश्वास है कि आधुनिक समाज को समझने के लिए हमें इसके तर्कसंगत अभिलक्षणों और तर्कसंगत शक्तियों को समझना होगा। उसके अनुसार आधुनिक पाश्चात्य जगत की विशेषता तर्कसंगति ही है। इसके कारण मानव गतिविधियों में विधिवत गणना, परिमाण-निर्धारण, पूर्वानुमान और नियमितता का महत्व बढ़ गया है। अब लोग अलौकिक शक्तियों पर विश्वास करने के बजाय तर्क, विवेक और परिकलन में अधिक विश्वास करते हैं। वेबर के मत में तर्कसंगति प्रक्रिया का अभिप्राय यह है कि सिद्धांत रूप से ऐसी किसी प्रकार की रहस्यमय अनिश्चित शक्तियां नहीं हैं जिनसे हमें अपने कार्य में किसी प्रकार की सहायता मिलती है बल्कि सिद्धांततः सभी चीजों को परिकलन द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है। प्राचीन काल के लोगों की तरह हमें भूतप्रेत आदि को बस में करने के लिए रहस्यमयी जादुई शक्तियों की ज़रूरत नहीं है (वेबर 1946: 139; हर्न 1985: 76)। आइए, हम एक उदाहरण द्वारा समझें। अगर किसी को अच्छी फ़सल लेना हो तो वह या तो अपना समय, शक्ति और पैसा पूरा करे और प्रार्थना आदि में नष्ट करे अथवा व अपनी शक्ति और धन का उपयोग सिंचाई के लिए नहरों की खुदाई में अथवा ट्यूबवैल लगाने में करके अच्छी फ़सल प्राप्त करे। इनमें पहली स्थिति में वह रहस्यमयी अनिश्चित शक्तियों पर निर्भर है और दूसरी स्थिति में उसने तर्कसंगत परिकलन का सहारा लिया है।

वेबर के मत में तर्कसंगतिकरण पाश्चात्य संस्कृति की वैज्ञानिक विशेषज्ञता और प्रौद्योगिक विभेदीकरण का परिणाम है। उसने इस प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए कहा कि तर्कसंगतिकरण का अभिप्राय पूर्णता के लिए प्रयास करना है ताकि जीवन के व्यवहार में पूर्ण परिष्कार हो सके और बाह्य जगत पर नियंत्रण स्थापित हो सके (देखिए फ्राएंड 1972: 18)। अपने विश्वासों को रहस्यमुक्त करना और विचारों को लौकिक बनाना, ये दोनों तर्क संगति की प्रक्रिया के महत्वपूर्ण पहलू हैं। इनकी मदद से मनुष्य का संसार पर प्रभुत्व हो सकता है। इस प्रक्रिया से क़ानूनों और संगठनों को उचित रूप प्रदान किया जा सकता है।

जैसा कि इससे पहले उल्लेख किया जा चुका है वेबर की रचनाओं में तर्कसंगति की

अवधारणा का बार-बार उल्लेख हुआ है और तर्कसंगतिकरण (यानी और अधिक तर्कसंगत बनाना) की भी बार-बार चर्चा हुई है। वेबर समाज को तर्कसंगत स्वरूप में प्रस्तुत करने के लिए प्रयत्नशील रहा है। उसने अपनी रचनाओं में तर्कसंगति और तर्कसंगतिकरण दोनों अवधाणाओं का प्रयोग कई बार कई अर्थों में किया है। वेबर ने अपनी सभी कृतियों में सामाजिक रूपों की तर्कसंगति और उनके परिवर्तन से संबधित तर्क को भी खोजने का प्रयास किया है।

वेबर ने तर्कसंगति को सामाजिक व्यवस्था के तर्कसंगतिकरण की प्रक्रिया के रूप में देखा। यह सब मानव समाज में तर्कसंगत संगठनों और संस्थानों के उद्भव से संभव हुआ है। उसने मानव मूल्यों, विश्वासों, विचारों और क्रियाओं में तर्कसंगतिकरण की प्रक्रिया का प्रतिबिंब पाया। उसने सामाजिक विज्ञानों में भी तर्कसंगति के तत्वों का अस्तित्व खोजा।

आधुनिक समाजों में तर्कसंगतिकरण की विशेषता की अभिव्यक्ति स्वैकरैशनल कार्यों के संदर्भ में हुई है, ये क्रिया उससे प्राप्त होने वाले लक्ष्य से संबंधित है। इस प्रकार तर्कसंगति की प्रक्रिया के क्षेत्र का विस्तार आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि व्यवस्थाओं और संगठनों तक है। वेबर ने तर्कसंगति की अवधारणा का व्यापक रूप से प्रयोग सामाजिक क्रियाओं, सामाजिक संगठनों और सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन के लिए किया है। उसने इसका प्रयोग समाज की वैज्ञानिक जांच की प्रणाली के रूप में भी किया। इस प्रकार वेबर की रचनाओं में तर्कसंगति का समावेश दो पूर्णतया भिन्न लेकिन परस्पर संबंद्ध विधियों से हुआ है। इनके बारे में हमने इस इकाई के अगले भाग (17.3) में विवेचना की है। अगले भाग को पढ़ने से पहले, बोध प्रश्न 1 को पूरा करें।

**बोध प्रश्न 1**

i) निम्नलिखित वाक्यों में सही शब्दों से खाली जगह भरिए।

क) वेबर के मत में तर्कसंगतिकरण वैज्ञानिक ..... और ..... ..... विभेदीकरण का परिणाम है।

ख) तर्कसंगतिकरण का अभिप्राय ..... पर नियंत्रण है।

ii) निम्नलिखित कथनों में सही अथवा ग़लत पर चिन्ह लगाइए।

क) तर्कसंगति का मतलब भूत-प्रेतों और जादू-टोने पर विश्वास करना है।
सही/ग़लत

ख) मानवीय मूल्यों और विश्वासों को कभी भी तर्कसंगत नहीं बनाया जा सकता।
सही/ग़लत

ग) तर्कसंगतिकरण का विस्तार समाज के सभी पक्षों तक हो सकता है।
सही/ग़लत

## 17.3 वेबर की रचनाओं में तर्कसंगति की अवधारणा

वेबर ने अपने अध्ययन में तर्कसंगति की अभिवयक्ति पूर्णतया अलग लेकिन परस्पर संबद्ध तरीक़ों से की है। इनकी चर्चा नीचे की जा रही है।

### (i) समाजः तर्कसंगतिकरण की प्रक्रिया

पहले अर्थ के अनुसार समाज का अध्ययन तर्कसंगतिकरण की प्रक्रिया है। समाज में होने वाले परिवर्तनों के पीछे यह नियम है कि पुराना कम तर्कसंगत स्वरूप बाद के

अधिक तर्कसंगत स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रक्रिया को उसने तर्कसंगतिकरण कहा है यानी कि तर्क इतिहास अथवा ऐतिहासिक प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण घटक बन जाता है।

वेबर ने इतिहास के विकास, विशेष रूप से आधुनिक इतिहास के विकास को तर्कसंगति और तर्कसंगतिकरण रूप में देखा है। प्रोटेस्टेंटवाद, पूंजीवाद और नौकरशाही इस तर्कसंगतिकरण की प्रक्रिया स्वरूप है। इन्हें ऐतिहासिक विकास के एक भाग के रूप में ही सार्थकता मिलती है यानी ठीक उसी प्रकार जैसे पहले की अपेक्षा बाद का विकास अधिक तर्कसंगत होता है।

(ii) **तर्कसंगतिः विज्ञान पद्धति का साधन**

तर्कसंगति पर विचार करने का एक दसरा तरीक़ा भी है। इसमें तर्क संगति को विचार पद्धति का सिद्धांत अथवा शोध पद्धति माना जाता है। यहां वेबर का उद्देश्य विभिन्न सामाजिक रूपों और प्रक्रियाओं के पीछे निहित तर्क को खुले रूप में प्रस्तुत करना है। चाहे वे पहली नज़र में तर्कहीन या तर्क-विरोधी क्यों न प्रतीत हों। इस दृष्टि से तर्कसंगति एक जांच की पद्धति है जो किसी सामाजिक स्वरूप या सामाजिक विकास के पीछे निहित तर्क को खोजने का प्रयास करती है।

आगे के उपभागों में हमने समाज की तर्कसंगतिकरण की प्रक्रियाओं के तर्कसंगत अभिलक्षणों के बारे में विचार करें।

## 17.3.1 प्रोटेस्टेंटवाद

वेबर द्वारा *द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पिरिट ऑफ़ कैपीटलिज़्म* का अध्ययन प्रायः उसके सबसे महत्वपूर्ण योगदानों में से एक माना जाता है। वेबर का विश्वास विचारों की, विशेषतः धार्मिक विचारों की प्रभावशीलता में है। ये विचार समाज और विभिन्न सामाजिक स्वरूपों और भौतिक यथार्थ का सृजन व रूपांतरण कर सकते हैं। इस प्रकार दोनों ही की दृष्टियों में पूंजीवाद और समकालीन समाज के सामाजिक संगठनों में पूंजी की प्रमुखता है। पूंजीवाद समाज पर आधिपत्य जमाने का प्रमुख साधन है। वेबर पूंजीवाद को उत्पादनकारी शक्तियों की वृद्धि मानता है लेकिन यह एक विशेष प्रकार की धार्मिक चेतना के उद्भव और विकास का परिणाम है जिसे प्रोटेस्टेंट नैतिकता कहा जाता है। इस प्रोटेस्टेंट नैतिकता को कल्विनवादी नैतिकता कहते हैं। इसका मध्यकालीन प्रोटेस्टेंट मत से संबंध था। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें ईसाई धर्म के परम्परागत सिद्धांतों की तर्कसंगत व्याख्या की गई हैं, जिसमें सांसारिक भौतिक लाभों को पारलौकिक महत्वाकांक्षाओं के साथ जोड़ दिया गया है। वेबर ने उन परिशुद्ध तरीक़ो की ओर ध्यान आकृभट किया जिनमें निजी धार्मिक मुक्ति के साथ-साथ भौतिक समृद्धि और प्रभुता को पाने का भी प्रयास किया गया है। वेबर का कथन है कि इसी उदात तार्किकता के कारण पूंजीवाद का जन्म हुआ। वेबर के अनुसार इस रूपांतरण के संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण तर्कसंगत व्याख्या लौकिक आत्मसंयम के विकसित होने की थी जिसके अंतर्गत विषयासक्ति से दूर रहने तथा बचत एवं संचय की भावना पैदा हुई। इसके द्वारा ईश्वर में विश्वास रखने वाला व्यक्ति प्रभु की कृपा का अधिकारी बन सकता है। वेबर के मत में प्रोटेस्टेंट नैतिकता में सन्निहित तर्कवाद ने आधुनिक पूंजीवाद की भौतिक परिस्थितियों के और अधिक विकास में मदद की (देखिए हर्न 1985: 76)।

## 17.3.2 पूंजीवाद

मैक्स वेबर ने आधुनिक समाज में तर्कसंगत पूंजीवाद के विकास के लिए कुछ महत्वपूर्ण

परिस्थितियों की पहचान की। ये हैं - उत्पादन के सभी भौतिक साधनों का निजी स्वामित्व, विपणन स्वातंत्र्य, यंत्रीकरण, लिखित क़ानून और प्रशासन **उन्मुक्त श्रम** तथा आर्थिक जीवन का वाणिज्यीकरण। वेबर का दृढ़ विश्वास है कि विश्व के अनेक भागों में ऐसी स्थितियां बन रही हैं लेकिन वे सबसे पहले आधुनिक तर्कसंगत पूंजीवाद में दिखाई दीं जहां प्रोटेस्टेंटवाद की धार्मिक नैतिकता का दबदबा था। उसके अनुसार प्रोटेस्टेंटवाद तर्कसंगत पूंजीवाद के भौतिक आधार के विकास के परम्परागत विरोध को कम करने में सहायक हुआ (देखिए हर्न 1985: 77)।

वेबर, पूंजीवादी समाज की तर्कसंगति से तथा सामाजिक स्वरूपों और प्रक्रियाओं की व्यवस्थाबद्ध तर्कसंगति से बहुत प्रभावित था। सामाजिक संगठन और संघ की प्रणाली में राजनीतिक प्रक्रिया के स्वरूप, सत्ता की प्रकृति और लोगों की मनोवृति में तर्कसंगति की झलक मिलती है। वेबर ने काफ़ी विस्तारपूर्वक लिखा है कि विभिन्न प्रकार से पूंजीवादी समाज न केवल पूर्ववर्ती समाज या समाजों से अधिक तर्कसंगत है बल्कि वह तर्क को एक आवश्यक प्रक्रिया और संगठन के सिद्धांत के रूप में प्रवर्तित और स्थापित करता है। वेबर ने अपनी प्रमुख कृति *इकोनॉमी एण्ड सोसाइटी* में यह बताया है कि किस प्रकार पूंजीवाद समाज में जिसमें उसके अनुरूप तर्क पर आधारित अपने स्पष्ट सिद्धांत और तर्कसंगत संगठन हैं। वेबर ने यह भी जांच की है कि तर्कसंगतिकरण की यह निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया किस तरह पूंजीवाद के विकास के तर्क का एक भाग है।

### 17.3.3 नौकरशाही

वेबर के अनुसार आधुनिक नौकरशाही व्यवस्था औपचारिक तर्कसंगति की सामाजिक अभिव्यक्ति है। औपचारिक तर्कसंगति का अभिप्राय विश्वास और भावुकता के स्थान पर नियमों और प्रक्रियाओं को महत्व देना है। नौकरशाही का विकास शासकों को शासितों से, आम व्यक्तियों को पद की प्रतिष्ठा से और भावनाओं व विश्वासों को कार्यप्रणालियों और विनियमों से अलग करने पर आधारित है। अतः वेबर कई तरह से नौकरशाही को तर्कसंगतिकरण के रूप में देखता है। इनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया गया है। उदाहरणतः

i) प्रयोजनों और कार्यप्रणालियों को सुव्यवस्थित करने से नौकरशाही व्यवस्था अधिक व्यवहार्य हो जाती है।

ii) पूर्व स्थापित और परिभाषित प्रतिमानों के आधार पर अधिकारों और कर्त्तव्यों को सीमित करने से कार्यक्षमता में वृद्धि होती है और

iii) सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि नौकरशाही व्यवस्था में कार्यरत अधिकारियों की भर्ती, पदोन्नति और सेवानिवृति की कार्यप्रणालियों की तार्किकता से उनका जीवन अधिक सुरक्षित और व्यवस्थित बन जाता है।

वेबर की दृष्टि से नौकरशाही व्यवस्था तर्कसंगत प्रभुता का ढांचा है। जैसा कि आपने इस खंड में अन्यंत्र पढ़ा है कि नौकरशाही तर्कविधिक सत्ता की विशिष्ट अभिव्यक्ति है। इसलिए शक्ति तभी वैध कही जाती है जब इसका उपयोग औपचारिक, व्यक्ति निरपेक्ष नियमों और विनयमों द्वारा किया जाये जो नौकरशाही व्यवस्था के आधार हैं। इसके साथ ही नौकरशाही व्यवस्था अपने सदस्यों के तर्कसंगत कार्यों को बढ़ावा देती हैं (देखिए हर्न 1985: 79)। वेबर नौकरशाही के विकास को पूंजीवाद के तर्कसंगत विकास के अनिवार्य अंग के रूप में देखता है क्योंकि यह अत्याधिक तर्कसंगत और तर्कपरक है। वेबर ने एक महत्वपूर्ण विरोधाभास या अंतर्विरोध की ओर भी ध्यान दिलाया है।

नौकरशाही मनोवृति के विकास से सृजनशीलता और साहसिकता की भावना समाप्त हो जाती है, ये ही ऐसे कारण हैं जिनकी वजह से पूंजीवादी व्यवस्था संभव हुई है।

इकाई के इस बिंदु पर बोध प्रश्न 2 तथा सोचिए और करिए 1 को पूरा करें।

**बोध प्रश्न 2**

i) मैक्स वेबर ने अपनी कृति में तर्कसंगति को कैसे प्रस्तुत किया है? उत्तर छः पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) उस प्रक्रिया का वर्णन कीजिए जिसमें प्रोटेस्टेंट नैतिकता ने ईसाई धर्म के विश्वासों को तर्कसंगत बनाया और जो यूरोप में पूंजीवाद के उद्भव के लिए अनुकूल थी। लगभग पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

**सोचिए और करिए 1**

किसी सरकारी या अर्धसरकारी कार्यालय में जाइए और उस कार्यालय की विशेषताओं की जांच नौकरशाही के तर्कसंगतिकरण के संदर्भ में कीजिए। अपने प्रेक्षण के आधार पर दो पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए। यदि संभव हो तो अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणियों से अपनी टिप्पणी की तुलना कीजिए।

### 17.3.4 तर्कसंगति के प्रकारः स्वैकरैशनलिटैट और वैर्टरेशनलिटैट

ऊपर दिए गए उपभागों को पढ़ने के बाद आपने यह निष्कर्ष निकाला होगा कि तर्कसंगति केवल आधुनिक पूंजीवादी समाज की विशेषता है। क्या इसका यह मतलब है कि गैर-पूंजीवादी स्वरूप के सामाजिक संगठन अतर्कसंगत हैं। समाजशास्त्र के विद्यार्थी होने के नाते आपको यह मालूम ही है कि समाज का इसके सदस्यों के लिए एक विशेष लक्ष्य और संगतिकरण होता है। हर समाज के विकास के पीछे अपना एक तर्क होता है, इसकी अपनी क्रम व्यवस्था और सामाजिक संबंध की व्यवस्था होती हैं। इस अर्थ में, सभी समाजों की, चाहे वे पूंजीवादी हों या गैर-पूंजीवादी हों, उनकी अपनी तर्कसंगति होती है। कई प्रकार के सामाजिक स्वरूपों और प्रतिमानों का अध्ययन करने के बाद वेबर ने तर्कसंगति के दो विशिष्ट प्रकार प्रस्तुत किए। इनमें पहली स्वैकरैशनलिटैट या लक्ष्य पर आधारित तर्कसंगति है और दूसरी वैर्टरैशनलिटैट या मूल्य पर आधारित तर्कसंगति।

इनमें पहली आधुनिक, पूंजीवादी समाज की विशेषता है और इसका आधार लक्ष्योन्मुख सामाजिक क्रिया है, जिसके बारे में आपने पहले ही पढ़ा है। स्वैकरैशनलिटैट का संबंध उस तार्किकता से है जो साधन और साध्य/लक्ष्य पर केंद्रित है। अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तर्क और तार्किक चिंतन आवश्यक है।

इसके विपरीत "वैर्टरैशनलिटैट" पारम्परिक सामाजिक स्वरूप की विशेषता है। इसमें नैतिक मूल्यों का महत्व है और यह व्यक्ति के मनोवेगों, भावनाओं और विश्वासों को प्रभावित करती है। इसमें व्यक्तिगत क्रियाओं के समाज द्वारा अनुमोदन को महत्वपूर्ण माना जाता है। वेबर के अनुसार परम्परागत समाजों में सामाजिक संगठन के तर्कसंगत तत्व तो थे लेकिन वे इन्हें नैतिक मूल्यों या प्रतिमानों के रूप में स्वीकार करते थे।

**चित्र : 17.1 समाज और तर्कसंगति**

इस संबंध में चित्र 17.1 समाज और तर्कसंगति देखिये और एक उदाहरण लीजिए। आप परम्परागत (पूर्व पूंजीवाद) समाज में कृषि के बारे में विचार कीजिए। खेत में कब हल चलाया जाए, कब बीज बोया जाए या कब फ़सल काटी जाए, ये सब बातें मौसम, तापमान या मिट्टी में नमी की मात्रा आदि तर्कसंगत आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर निश्चित की जाती थी। लेकिन इसके साथ ही इन अवसरों और क्रियाओं का नैतिक महत्व भी था। इन अवसरों के लिए उत्सवों और अनुष्ठानों का विधान था। इसके विपरीत आधुनिक कारखाने (पूंजीवाद व्यवस्था) में साधन और लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए वहां के सभी क्रियाकलाप यांत्रिक रूप से उत्पाद में अधिक से अधिक वृद्धि करने के लिए संचालित होते हैं। ऐसा लगता है कि समय के अंतराल के साथ देश-विदेश में उपभोगितावाद के चलते पूंजीवाद व्यवस्था में भी उत्सवों और अनुष्ठानों का प्रवेश हो गया है।

समाज और तर्कसंगति के बिंदु को अधिक आत्मसात् करने के लिये सोचिये और करिए 2 को पूरा करें।

**सोचिए और करिए 2**

उपभाग 17.3.3 को एक बार फिर ध्यान से पढ़िए। अब आप ऐतिहासिक सामाजिक प्रक्रियाओं की तर्कसंगति का अनुसरण करते हुए अपने समाज की तर्कसंगति के बारे में अपने प्रेक्षण के आधार पर विवरण दीजिए। यदि संभव हो तो अपनी टिप्पणी की तुलना अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणियों से कीजिए।

## 17.4 समाजशास्त्रीय शोध में तर्कसंगतिः मूल्य-विमुक्त समाजशास्त्र

यह पहले भी उल्लेख किया जा चुका है कि वेबर के अध्ययन में तर्कसंगति पर दो भिन्न-भिन्न लेकिन परस्पर संबद्ध दृष्टियों से विचार हुआ है, यानी एक तो ऐतिहासिक दृष्टि से तत्कालीन समाज में तर्कसंगतिकरण का आगमन हुआ और दूसरे तर्क का एक प्रमुख पद्धति तथा समाज की जांच की एक पद्धति के रूप में आगमन हुआ।

वेबर समाजशास्त्र के विकास की मुख्य धारा का एक हिस्सा है और समाजशास्त्र के विकास में सबसे महत्वपूर्ण योगदान करने वालों में उसका प्रमुख स्थान है। अन्य समाजशास्त्रियों के समान वेबर ने अपना समय विभिन्न पद्धतियों पर विचार करने और उनका विस्तार करने तथा इन पद्धतियों का वास्तविक उपयोग करने में लगाया और वह स्वयं भी अपने समय के महत्वपूर्ण, साहसी ऐतिहासिक कार्यों में उलझा रहा।

मैक्स वेबर की मूल चिंता का एक विषय था विज्ञान और मानवीय कार्यों के बीच संबंध। उसने समाजशास्त्र को सामाजिक कार्य के व्यापक विज्ञान के रूप में समझा। वेबर की दृष्टि में मानव-जगत की प्रमुख विशेषता तर्कसंगतिकरण है। आधुनिक समाजों की तर्कसंगतिकरण की विशेषता को क्रियाकलापों के रूप में अभिव्यक्त किया गया है जिसमें कार्य अपने लक्ष्य या परिणाम से जुड़े होते हैं। उसने विज्ञान को तार्किकता की प्रक्रिया के महत्वपूर्ण पक्ष के रूप में भी देखा, जो आज के यूरोपीय समाजों की विशेषता है (आरों 1867: 1897)। वेबर ने तर्कसंगतिकरण के अंश के रूप में मूल्य-विमुक्त सामाजिक विज्ञान की बात कही जो हमारे समय में भी काफी वाद-विवाद का विषय रहा, चाहे इसका संदर्भ कुछ भिन्न ही क्यों न रहा हो। वेबर विश्व को अधिक तर्कसंगत बनाने के प्रयास से सामाजिक-जांच की तर्कसंगति को अलग करने के मत का दृढ़ समर्थक था। उसके अनुसार समाजशास्त्रियों का व्यक्तिगत मूल्यांकन उनके द्वारा किए गए समाज के अध्ययन के विश्लेषण से अलग रहना चाहिए। वेबर के मूल्य-विमुक्त समाजशास्त्र की मुख्य बातों को संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार से बताया जा सकता है।

i) अपने समाज के अध्ययन में समाजशास्त्री की दिलचस्पी मुख्य रूप से मूल्यों के विश्लेषण करने और उसको समझने में होती है, क्योंकि ये समाज के महत्वपूर्ण तत्व हैं। समाजशास्त्री चाहे जिस किसी भी विषय का अध्ययन करे उसे अपने मूल्यों को, समाज को समझने के मार्ग में रुकावट नहीं बनने देना चाहिए। यह मूल्य-विमुक्त समाजशास्त्र का मूल आधार है।

ii) एक मनुष्य के नाते समाजशास्त्री को मूलतः मूल्यांकन, मूल्यनिर्धारण और अवमूल्यन करना होता है। जहां तक उसका व्यक्तिगत संबंध है उसके लिए मूल्यों के बिना जीना संभव नहीं। जिन मूल्यों के साथ समाजशास्त्र का विकास होता है वे निस्संदेह रूप से वे मूल्य हैं, जिनसे ज्ञान और विज्ञान का विकास होता है, तथा वे निष्पक्ष जांच के योग्य हैं। इस जांच में समाजशास्त्री का मूल्य निर्धारण करने या अवमूल्यन करने का अपना अनुभव ही आधार सामग्री होता है जो समाजशास्त्री के अध्ययन की सार्थकता और प्रासंगिकता को अंतदृष्टि प्रदान करता है।

iii) मूल्य-विमुक्त सामाजिक विज्ञान के विकास के लिए एक ऐसी संस्था के निर्माण की आवश्यकता है जिसके पास विश्वसनीय और सुनिश्चित जानकारी हो। बाद में यह जानकारी किसी आगे के अध्ययन का आधार भी बन सकती है। यह बात ज्ञान की एक शाखा के रूप में केवल समाजशास्त्र के क्षेत्र के अंतर्गत नहीं है। कोई ज्ञान

तभी किसी क्रिया का निर्देशक बन सकता है, जबकि ज्ञान की वह शाखा स्वयं में विश्वसनीय हो।

इस संदर्भ में यहां यह उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि वेबर स्वयं एक प्रख्यात समाजशास्त्री होने के साथ-साथ दो विश्व युद्धों के बीच की अवधि में संकटग्रस्त जर्मनी का एक जाना माना राजनीतिज्ञ भी था। आज वेबर को उसके समाजशास्त्रीय और राजनैतिक क्रियाकलापों के कारण याद किया जाता है। उसने ऐसे समय में तर्क के पक्ष का समर्थन किया, जबकि उसे चारों ओर से चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा था। अतः जब वेबर के मूल्य-विमुक्त समाजशास्त्र के प्रतिपादन के संबंध में विचार किया जाए, तब हमें इस उपर्युक्त तथ्य को भी ध्यान में रखना होगा।

आइए, अब बोध प्रश्न 3 को पूरा करें

**बोध प्रश्न 3**

i) स्वैकरैशनल समाज का वर्णन लगभग तीन पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

ii) वैर्टरैशनल समाज का वर्णन तीन पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

iii) मूल्य-विमुक्त समाजशास्त्र का चार पंक्तियों में वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

## 17.5 सारांश

इस इकाई में आपने तर्कसंगति और इसकी सहगामी प्रक्रिया अर्थात तर्कसंगतिकरण के बारे में पढ़ा। ये दोनों विषय मैक्स वेबर की रचना के आधारभूत विषय हैं। इन शब्दों के भाव को समझने के बाद आपने देखा कि कैसे वेबर ने प्रोटेस्टेंटवाद, पूंजीवाद और नौकरशाही व्यवस्था के अपने विश्लेषण में इनका अध्ययन किया। आपने यह भी देखा कि कैसे वेबर ने तर्कसंगति को स्वैकरैशनलिटैट और वैर्टरैशनलिटैट दो प्रकारों में वर्गीकृत किया। अंत में आपने पढ़ा कि किस तरह वेबर ने तर्कसंगति का प्रयोग समाजशास्त्रीय जांच में किया और मूल्य-विमुक्त समाजशास्त्र का समर्थन किया।

## 17.6 शब्दावली

**उन्मुक्त श्रम** यह ऐसे मज़दूरों का श्रम है, जो ठेके पर काम करते हैं तथा अपना रोज़गार, नियोक्ता और रोज़गार की शर्तें चुनने के लिए स्वतंत्र होते हैं।

| | |
|---|---|
| **तर्क** | किसी कार्य या विचार की व्याख्या या औचित्य आदि |
| **परिकल्पना** | ऐसी परस्पर संबंद्ध अवधारणाओं का कथन जिनकी वैधता की जांच की जा सके |
| **सत्ता** | संस्थागत विधि द्वारा वैध शक्ति |

## 17.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आरों, रेमों, 1967. *मेन करंट्स ऑफ सोशियोलॉजिकल थॉट.* वाल्यूम 2, पेंगुइन बुक्सः लंदन

थॉम्पसन, के. एंड जे. टनस्टाल, (सम्पादक) 1971. *सोशियोलॉकिल पर्सपैक्टिव्स.* पेंगुइन बुक्सः मिडलसेक्स

व्हिम्स्टर, सैम (सम्पादक) 2004. *द एशौंशियल वेबरः ए रीडर.* रटलजः न्यूयॉर्क

## 17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) क) विशेषज्ञता, प्रौद्योगिक
   ख) बाह्य जगत

ii) क) ग़लत
   ख) ग़लत
   ग) सही

**बोध प्रश्न 2**

i) मैक्स वेबर के अध्ययन में तर्कसंगति दो भिन्न-भिन्न प्रकारों में दिखाई देती है। सर्वप्रथम उसने समाज का अध्ययन तर्कसंगतिकरण की प्रक्रिया के रूप में किया अर्थात् समाज में परिवर्तन का एक नियम है जो कम तर्कसंगत रूप से अधिक तर्कसंगत रूप की ओर होता है, दूसरे उसने तर्कसंगति का प्रयोग विचार पद्धति के साधन के रूप में किया, जिसे विचारपद्धति का सिद्धांत या शोध की विधि कहा जाता है। इस दृष्टि से तर्कसंगति शोध की एक पद्धति है, जिसके द्वारा सामाजिक स्वरूप या विकास के पीछे निहित तर्क की खोज की जाती है।

ii) वेबर का कथन था कि परंपरागत प्रोटेस्टेंट नैतिकता के पीछे तर्कसंगतिकरण के कारण पूंजीवाद का उद्भव हुआ। सबसे महत्वपूर्ण तर्कसंगत व्याख्या अंतर्मुखी संयम के विकसित होने की है, जिसके कारण प्रोटेस्टेंटवाद को मानने वालों के मन में विषयसक्ति से दूर रहने और बचत व संचय करने की भावना पैदा होती है। इसके द्वारा ईश्वर पर विश्वास रखने वाला व्यक्ति प्रभु की कृपा का पात्र बनने के लिए आश्वस्त हो जाता है।

**बोध प्रश्न 3**

i) स्वैकरैशनल समाज एक पूंजीवादी समाज है। यह समाज साधनों और लक्ष्यों की तार्किकता का प्रतिनिधित्व करता है और अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रभावशाली साधन के रूप में तर्क का सहारा लेता है।

ii) वैर्टरैशनल समाज पूंजीवाद से पहले का परंपरागत समाज है। इस समाज का संबंध विशेष रूप से नैतिकता से है जो मनोवेगों, मूल्य-निर्णयों को प्रभावित करती है और व्यक्तिगत क्रियाकलापों के सामाजिक अनुमोदन पर बल देती है।

iii) समाजशास्त्रियों की दिलचस्पी मुख्य रूप से अपने समाज के अध्ययन तथा मूल्यों के विश्लेषण और उनको समझने में होती है, क्योंकि ये किसी भी समाज के अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व हैं। लेकिन जब समाजशास्त्री किसी विषय का अध्ययन करे तो उसे अपने स्वयं के मूल्यों को अपने अध्ययन में रुकावट नहीं बनने देना चाहिए।

# संदर्भ ग्रंथ सूची

(अ)

ऐलन, कीयर्न 2004. *मैक्स वेबरः ए क्रिटिकल इंट्रोडक्शन.* प्लूटो प्रैसः एन आर्बर, मिशिगन

आरों, रेमों, 1967. *मेन करंट्स ऑफ सोशियोलॉजिकल थॉट.* वाल्यूम 2, पेंगुइन बुक्सः लंदन

बेंडिक्स, आर., 1960. *मैक्स वेबरः एन इंटेलैक्चुअल पोर्ट्रेट.* एंकरः न्यूयार्क

कालबर्ग, स्टीफ़न 1994. *मैक्स वेबर कम्पेरिटिव–हिस्टोरिकल सोशियोलजी.* द यूनिवर्सिटी आफ़ शिकागो प्रेस. शिकागो

कसलर, डर्क 1988. *एन इंट्रोडक्शन टु हिज़ लाइफ़ एण्ड वर्क,* फ़िलिप्पा हर्ड द्वारा अनुवादित. शिकागो युनीवर्सिटी प्रैसः शिकागो

कोलिन्स, कोबल्ड, *इंगलिश डिक्शनरी.* कोलिन्स पब्लिशर्सः लंदन

कोज़र, एल.ए. 1977. *मास्टर्स ऑफ़ सोशियोलॉजिकल थॉटः आइडियाज़ इन हिस्टोरिकल एंड सोशल कॉन्टेक्स्ट.* हरकोर्ट प्रेस जोवानोविचः न्यूयार्क

फ़ाएंड, जे. 1972. *द सोशियोलॉजी ऑफ़ मैक्स वेबर.* (ट्रांसलेटेड फ़्रॉम द फ्रेंच बार मैरी इलफ़ोर्ड), पेंगुइन बुक्सः मिडिलसेक्स

गर्थ एच.एच.एंड मिल्स, सी. डब्ल्यू.,(सम्पादक) 1952. *फ़्रॉम मैक्स वेबरः एस्सेज़ इन सोशियोलॉजी,* रूटलेज एंड केगनपॉलः लंदन

हर्न, एफ़., 1985. *रीज़न एंड फ़्रीड्म इन सोशियोलॉजिकल थॉट.* एलेन एंड अनविनः बोस्टन

कैप्लान, ए., 1972. 'पॉज़िटिविज्म' इन डी.एल. सिल्स (संपादित) *इंटरनैशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ सोशल साइंसेज़,* द मैकमिलन कं. एंड द फ्री प्रैसः न्यूयॉर्क, वाल्यूम-2, 389-395

मिचेल, जी. डी.(संपादित), 1968. *ए डिक्शनरी ऑफ़ सोशियोलॉजी.* रूटलेज एंड केगन पॉलः लंदन

स्क्रूटन, आर., 1982. *ए डिक्शनरी ऑफ़ पोलिटिकल थॉट.* पैन बुक्सः लंदन

स्वेन, एलियासन 2002. *मैक्स वेबर्स मैथडॉलजीसः इंटरप्ररेशन एंड क्रिटीक.* पॉलिटीः मल्डन, मडिसन

सिंगर, एम., 1969. *'मॉडर्नाइज़ेशन रिचुअल एंड बिलीफ़ एमग इंडस्ट्रियल लीडर्स इन मद्रास* सिटी' इन ए. के. सिंह (सम्पादित) *मॉडर्नाइज़ेशन इन इंडिया स्टडीज़ इन सोशियो-कल्चरल एस्पैक्टस्.* एशिया पब्लिशिंग हाउसः मुम्बई

टर्नर, स्टीफ़न (सम्पादन) 2000. *द केम्ब्रिज कंपेनियन टु वेबर.* केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेसः केम्ब्रिज

वेबर, एम, 1948. *द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पिरिट ऑफ़ कैपिटलिज़्म.* (ट्रांसलेटेड बाय टॉलकॅट पार्सन्स विद ए फ़ार्वर्ड बाय आर. एच.टॉनि) एलेन एंड अनविनः लंदन

वेबर एम. 1949 *मैक्स वेबर ऑन द मैथोडोलॉजी ऑफ़ सोशल साइंस* (ट्रांसलेटेड एंड एडिटिड बाय एडवर्ड शिल्स एंड एच. ए. फ़िंच), फ्री प्रैसः गलैन्को

वेबर एम. 1964. *द थ्योरी ऑफ़ सोशल एंड इकोनॉमिकल आर्गेनाइज़ेशन* (ट्रांसलेटेड एंड एडिटिड बाय ए. एम. हैंडरसन एंड टॉलकॅट पार्सन्स), फ्री प्रैसः गलैन्को

वेबर एम. 1971. आइडियल टाइप्स, इन के. थॉम्पसन एंड जे. टन्सटाल(संपादित) *सोशियोलॉजिकल परस्पैक्टिव्स,* पेंगुइन बुक्सः मिडिलसेक्स, पृभठ 63-67

व्हिम्स्टर, सैम (सम्पादक) 2004. *द एशौशियल वेबरः ए रीडर.* रटलजः न्यूयॉर्क

वेब्स्टर. एन., 1985. *न्यू वेब्स्टर डिक्शनरी ऑफ़ इंगलिश लैंगवेज़,* डिलेयर पब्लिशिंग कंः यू.एस.ए.

**(ब) हिन्दी में उपलब्ध कुछ पुस्तकें**

सिंह, आर. जी. समाजशास्त्र की मूल अवधारणाएं. मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमीः भोपाल

श्रीवास्तव, सुरेन्द्र कुमार, समाजविज्ञान के मूल विचारक. उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमीः लखनऊ

# इकाई 18 समाजशास्त्रीय पद्धति: मार्क्स, दर्खाइम और वेबर

## इकाई की रूपरेखा


18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 विचार पद्धति: व्याख्या और महत्व

- 18.2.1 विचार पद्धति की व्याख्या
- 18.2.2 विचार पद्धति तथा शोध तकनीक में अंतर
- 18.2.3 विचार पद्धति का महत्व

18.3 कार्ल मार्क्स की विचार पद्धति

- 18.3.1 इतिहास का भौतिकवादी विश्लेषण
- 18.3.2 सामाजिक संघर्ष और परिवर्तन
- 18.3.3 "प्रैक्सिस" (praxis) की अवधारणा

18.4 एमिल दर्खाइम की विचार पद्धति

- 18.4.1 व्यक्ति और समाज
- 18.4.2 समाजशास्त्र की विषयवस्तु: सामाजिक तथ्य
- 18.4.3 समाज का प्रकार्यात्मक विश्लेषण
- 18.4.4 सामाजिक संघर्ष बनाम सामाजिक व्यवस्था

18.5 मैक्स वेबर की विचार पद्धति

- 18.5.1 "फर्स्टेहन" या अंतर्दृष्टि
- 18.5.2 आदर्श प्ररूप
- 18.5.3 कार्य कारण संबंध (causality) और ऐतिहासिक तुलना
- 18.5.4 समाजशास्त्र में मूल्य
- 18.5.5 समाजशास्त्रियों की भूमिका

18.6 सारांश

18.7 शब्दावली

18.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

18.9 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 18.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए संभव होगा

- कार्ल मार्क्स, एमिल दर्खाइम और मैक्स वेबर की विचार पद्धतियों का विवेचन करना
- इनकी समानताओं और भिन्नताओं पर चर्चा करना।

## 18.1 प्रस्तावना

खंड 2, 3 और 4 में आपने मार्क्स, दर्खाइम और वेबर के महत्वपूर्ण योगदान का बारीकी से अध्ययन किया। इस खंड में हमें उनकी विशिष्ट विचारधाराओं का तुलनात्मक अध्ययन करना

है। इससे पहले कि हम उन ठोस मुद्दों पर चर्चा करें जिन पर इन तीनों ने कार्य किया, उनकी विचार पद्धतियों का अध्ययन करना ज़रूरी है।

इस इकाई को चार भागों में विभाजित किया गया है। भाग 18.2 में विचार पद्धति की व्याख्या की गई है और इसके महत्व को बताया गया है। कार्ल मार्क्स की विचार पद्धति के बारे में हमने भाग 18.3 में चर्चा की है। भाग 18.4 में दर्खाइम और अंतिम भाग 18.5 में वेबर की विचार पद्धतियों पर ग़ौर किया गया है।

## 18.2 विचार पद्धति: व्याख्या और महत्व

अब तक आपने मार्क्स, दर्खाइम और वेबर के अनेक विचारों का अध्ययन किया है। मार्क्स द्वारा विकसित ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग संघर्ष और द्वंद्व की अवधारणा से आप परिचित हैं। दर्खाइम और वेबर के महत्वपूर्ण योगदान के बारे में भी आपको जानकारी है। परन्तु इनकी विचार पद्धतियों का व्यवस्थित अध्ययन आपने अब तक नहीं किया है। इसका कारण यह है कि विचार पद्धति जैसी अमूर्त परिकल्पना को समझने के लिये इन विचारकों के व्यावहारिक पहलुओं के प्रति योगदान को समझना आवश्यक है। विचार पद्धति, इस शब्द का प्रयोग हमने बार-बार किया है। अब इसकी व्याख्या करना उचित होगा।

### 18.2.1 विचार पद्धति की व्याख्या

विचार पद्धति से हमारा तात्पर्य शोध तकनीकी की उस प्रणाली (system) या प्रक्रिया (procedures) से है जिसके द्वारा किसी समस्या या प्रश्न का अध्ययन किया जाता है।

### 18.2.2 विचार पद्धति तथा शोध तकनीक में अंतर

ध्यान रहे शोध तकनीक (method) और विचार पद्धति (methodology) में अंतर है। शोध तकनीक विचार पद्धति का छोटा-सा हिस्सा मात्र है। विचार पद्धति में अनेक तकनीकों का समन्वय होता है। विभिन्न शोध तकनीकों का उपयोग कर समाजशास्त्रियों द्वारा अपनी विशिष्ट विचार पद्धतियाँ विकसित की जाती है। आइए, उदाहरण द्वारा इस भेद को स्पष्ट करें। खंड 3 में आपने पढ़ा है कि एमिल दर्खाइम ने किस प्रकार आत्महत्या का अध्ययन किया। आत्महत्या को सामाजिक तथ्य के रूप में देखना दर्खाइम की विचार पद्धति की विशेषता है।

सहगामी भिन्नता (concomitant variations) के माध्यम से आत्महत्या के सामाजिक तथ्य का अध्ययन करना दर्खाइम की शोध तकनीक है।

प्रश्न यह उठता है कि विचार पद्धति का अध्ययन क्यों आवश्यक है? इसका क्या महत्व है? क्या इन विचारकों के ठोस योगदान का अध्ययन पर्याप्त नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर अगले उपभाग में दिया जायेगा।

### 18.2.3 विचार पद्धति का महत्व

विचार पद्धति का अध्ययन तकनीकों की सूची मात्र बनाना नहीं है। किसी विचारक के समस्त परिप्रेक्ष्य की झलक हमें उसकी विचार पद्धति के अध्ययन द्वारा मिलती है। समाजशास्त्र की विषयवस्तु मानव जीवन और समाज है। मनुष्य की जीवन-पद्धतियों, व्यवहारों और समस्याओं का अध्ययन ही समाजशास्त्रियों का मुख्य काम है। समाजशास्त्रीय विचार पद्धति में सामाजिक दृष्टि, व्यक्ति और समाज के बीच संबंध इत्यादि महत्वपूर्ण पक्ष शामिल हैं। विचार पद्धति के अध्ययन के द्वारा यह भी समझा जा सकता है कि विभिन्न चिंतकों के उद्देश्य और लक्ष्य क्या हैं। समाजशास्त्र की विषयवस्तु समाजशास्त्रियों से अलग नहीं है बल्कि समाजशास्त्री भी उसी समाज का अंग हैं

जिसका अध्ययन करना उनका काम है। इसलिये विचार पद्धति का अध्ययन न सिर्फ़ महत्वपूर्ण है बल्कि रोचक भी है।

आइए, अब कार्ल मार्क्स की विचार पद्धति का अध्ययन करें। खंड 2 में आपने पढ़ा है कि मार्क्स मूलत: "समाजशास्त्री" नहीं था। वह अर्थशास्त्री, राजनीतिशास्त्री और क्रांतिकारी भी था। दर्खाइम और वेबर की तरह ही मार्क्स ने समाजशास्त्र के लिये विशिष्ट विचार पद्धति विकसित नहीं की परन्तु इसमें संदेह नहीं कि विचार पद्धति की दृष्टि से तथा ठोस काम करने की दृष्टि से भी उसके विचारों का समाजशास्त्र पर गहरा प्रभाव पड़ा है और पड़ रहा है।

## 18.3 कार्ल मार्क्स की विचार पद्धति

कार्ल मार्क्स ने अपने समकालीन सामाजिक विज्ञान में एक नयी विचार पद्धति और अनेक नयी परिकल्पनाओं और अवधारणाओं का समावेश किया जिनका इतिहास, राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र पर गहरा प्रभाव पड़ा। समाज के प्रति अपने दृष्टिकोण और उसके अध्ययन की पद्धति को मार्क्स अपने पूर्ववर्ती सामाजिक चिंतकों की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट और **प्रत्यक्षवादी** स्वरूप देता है। सबसे पहले आइए हम मार्क्स की विचार पद्धति (methodology) के प्रकाश में उसके इतिहास के भौतिकवादी विश्लेषण पर एक नज़र डालें।

### 18.3.1 इतिहास का भौतिकवादी विश्लेषण

आजीविका के लिए मनुष्य प्रकृति से जीवन-साधन प्राप्त करता है। मार्क्स के अनुसार यही इतिहास की प्रेरक शक्ति है। भौतिक साधनों का उत्पादन ही इतिहास का पहला क़दम है। प्रारंभिक आवश्यकताओं की पूर्ति से मनुष्य संतुष्ट नहीं होते। नई ज़रुरतें जन्म लेती हैं जिनकी पूर्ति के लिये मनुष्य को एक दूसरे से सामाजिक संबंध बनाने पड़ते है। भौतिक जीवन के विकास के साथ-साथ सामाजिक संबंध भी पेचीदा होते जाते हैं। समाज में श्रम का विभाजन होता है और सामाजिक वर्गों का निर्माण होता है। मार्क्स के अनुसार सामाजिक वर्गों का आधार है उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व। परिणामस्वरूप, समाज दो वर्गों में बंट जाता है - पहला वर्ग उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है (मालिक वर्ग) और दूसरा वर्ग स्वामित्व से वंचित है (श्रमिक वर्ग)।

आपने पहले पढ़ा है कि मार्क्स समाज की आर्थिक या भौतिक नींव पर ज़ोर देता है। यही समाज का मूल आधार है जो अन्य सामाजिक पक्षों को ढाल कर विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है। संपूर्ण सांस्कृतिक "अधिसंरचना" (superstructure) उत्पादन की विशिष्ट प्रणाली और उससे जुड़े अन्य सामाजिक संबंधों पर स्थित है। न्याय, राजनीति, सांस्कृतिक संरचना इत्यादि को उनके आर्थिक आधार से अलग किया जा सकता है। इस प्रकार, मार्क्स समाज को एक संपूर्ण इकाई के रूप में देखता है।

वह समाज के विभिन्न समूहों, संस्थाओं, मान्यताओं और विचारधाराओं के बीच अंतर्संबंध को खोजता है। समाज को व्यवस्था के रूप में देखना और उसके विभिन्न घटकों या अंगों के परस्पर संबंधों को देखना मार्क्स की विचार पद्धति की पहचान है।

इसके बावजूद मार्क्स मानता है कि आर्थिक या भौतिक नींव (आधार) ही मूलत: समाज की अधिसंरचना को विशिष्ट स्वरूप प्रदान करने में निर्णायक होती है। इतिहास के इस भौतिकवादी विश्लेषण को दर्शाते हुए मार्क्स इतिहास को निश्चित काल खंडों में विभाजित करता है। प्रत्येक काल खंड की विशिष्ट उत्पादन प्रणाली होती है जिसके फलस्वरूप विशिष्ट प्रकार के सामाजिक संबंध और वर्ग-संघर्ष निर्मित होते हैं।

खंड 2 में आपने मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण के बारे में पढ़ा। मार्क्स को "सापेक्षवादी इतिहासकार" कहा जाता है क्योंकि वह सामाजिक संबंधों और विचारों को उनके

विशिष्ट परिवेश में देखता है। हालांकि वह मानता है कि हर ऐतिहासिक काल में वर्ग संघर्ष पाया जाता है, फिर भी इन संघर्षों के स्वरूप और उनमें भाग लेने वाले व्यक्ति भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिये प्राचीन युग के दास, सांमती कृषिदास और आधुनिक औद्योगिक मज़दूर समान नहीं हैं।

संक्षेप में, मार्क्स मानता है कि आर्थिक या भौतिक आधार ही अंततः समाज के अन्य अगों का स्वरूप तय करने में निर्णायक होता है। मार्क्स समाज को एक संपूर्ण इकाई मान कर उसके विभिन्न अंगों के अंतर्संबंधों का अध्ययन करता है, साथ ही वह इतिहास के काल खंडों की विशिष्टताओं को भी ध्यान में रखता है। उसके अनुसार मानव समाज के इतिहास को वर्ग संघर्षों के संदर्भ में देखना चाहिए। लेकिन वह मानता है कि हर ऐतिहासिक युग और वर्ग संघर्ष की अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं।

मार्क्स की विचार पद्धति का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू है सामाजिक संघर्ष और सामाजिक परिवर्तन। आइए, इस पर चर्चा करें।

### 18.3.2 सामाजिक संघर्ष और परिवर्तन

खंड 1 में आपने पढ़ा है कि किस तरह प्रारंभिक समाजशास्त्र उद्विकास की अवधारणा से प्रभावित था। ऑगस्ट कॉस्ट और हर्बर्ट और स्पेंसर जैसे चिंतक सामाजिक परिवर्तन को उद्विकास की क्रिया मानते हैं। यह कहना ग़लत नहीं होगा कि प्रारंभिक समाजशास्त्रियों ने परिवर्तन को शान्तिमय वृद्धि और क्रमिक विकास की दृष्टि से देखा है। सामाजिक संतुलन उनका मूल मंत्र है। इसलिए उन्होंने संघर्ष या तनाव को हानिकारक और व्याधिकीय अथवा रोगात्मक माना है।

इन विचारों के परिवेश को ध्यान में रखते हुए हमें मार्क्स के विचारों के महत्व का एहसास होगा। मार्क्स यह मानता है कि समाज मूलतः परिवर्तनशील है। परिवर्तन अंदरूनी अंतर्विरोधों और संघर्षों का फल है। इतिहास के प्रत्येक युग में अंतर्विरोध और तनाव होते है। समय बीतते-बीतते ये तनाव इतने तीव्र हो जाते हैं कि रूढ़ सामाजिक व्यवस्था टूट जाती है और एक नयी व्यवस्था का जन्म होता है। दूसरे शब्दों में हर युग का सर्वनाश उसके अपने अंदरूनी तनावों का परिणाम है। नया युग पुराने तनाव भरे युग की कोख से जन्म लेता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मार्क्स संघर्ष को रोगात्मक नहीं, बल्कि एक रचनात्मक शक्ति मानता है। उसके अनुसार संघर्ष ही विकास का बीज़ है।

संघर्ष की यह परिकल्पना उसकी विशिष्ट विचार पद्धति में झलकती है जिससे वह न केवल सिर्फ अतीत और वर्तमान का अध्ययन करता है, बल्कि साथ-साथ भविष्य की प्रत्याशा भी करता है। मार्क्सवादी चिंतन का यह एक समस्यामूलक पक्ष है, जहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या समाज का तटस्थ अध्ययन और राजनैतिक प्रतिबद्धता परस्पर विरोधी हैं? आइए, पहले सोचिए और करिये 1 को पूरा करें तथा फिर इस प्रश्न पर चर्चा करें।

**सोचिए और करिए 1**

दैनिक समाचार पत्र ध्यान से पढ़कर किसी एक राष्ट्रीय या अतंराष्ट्रीय संघर्ष का चयन कीजिये। मार्क्स की विचार पद्धति का उपयोग कर इस संघर्ष का अध्ययन करने का प्रयास कीजिए। एक पृष्ठ का विवरण लिखिए और यदि संभव हो तो अपने विवरण की अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों द्वारा लिखे विवरणों से तुलना कीजिए।

### 18.3.3 "प्रैक्सिस" (prexis) की अवधारणा

सामाज़िक सिद्धांतों और राजनैतिक प्रतिबद्धता के परस्पर संबंध या विरोध के बारे में समाजशास्त्र के उद्गम से लेकर आज तक विवाद होता रहा है। मार्क्स उस पक्ष का प्रतिनिधि है जो मानता

है कि सामाजिक सिद्धांत और राजनैतिक विचारधारा एक-दूसरे के पूरक हैं। पूँजीवादी समाज के बारे में मार्क्स अपने मत स्पष्ट करता है। उसके अनुसार पूँजीवादी समाज एक अमानवीय, अत्याचारी व्यवस्था है। उसका पूर्वानुमान यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था अपने अंदरूनी संघर्षों और तनावों के कारण नष्ट होगी और उसकी जगह एक नई साम्यवादी व्यवस्था जन्म लेगी। सामाजिक विरोध और वर्गीकरण की समाप्ति होगी। मार्क्स "प्रैक्सिस" या आचरण पर ज़ोर देता है जिसमें न सिर्फ़ समाज का अध्ययन शामिल है, बल्कि समाज को बदलने का कार्यक्रम भी। "प्रैक्सिस" की अवधारणा के बारे में कोष्ठक 18.1 में कुछ विस्तार से जानकारी दी गई है। इसे आप पढ़ें और इस अवधारणा को स्पष्ट रूप से समझें।

**कोष्ठक 18.1: प्रैक्सिस की अवधारणा**

प्रैक्सिस शब्द मूलत: यूनानी है। इसका अर्थ है हर प्रकार की क्रिया या हर तरह का कार्य। लैटिन भाषा के माध्यम से इस शब्द का समावेश आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में हुआ। अरस्तु नामक प्रख्यात यूनानी दार्शनिक ने इस शब्द के अर्थ को नपे-तुले ढंग से स्पष्ट किया और मनुष्य के कार्य तक ही सीमित किया। उसने इसकी तुलना सिद्धांत (थ्योरेटिका) से की।

मध्यकालीन यूरोपीय दर्शन में इस शब्द का प्रयोग सिद्धांतों को आचरण या व्यवहार में लाने के संबंध में किया गया है। उदाहरण के तौर पर सैद्धांतिक ज्यामिति (थ्योरेटिका) और व्यावहारिक या प्रायोगिक ज्यामिति ("प्रैक्सिस")। मध्यकालीन यूरोपीय विद्वान फ्रांसिस बेकन का यह मानना था कि सच्चा ज्ञान वही है जो आचरित होता है, जिसे "प्रैक्सिस" में लाया जाता है। लॉक ने इसके नैतिक पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित किया। उसके अनुसार प्रैक्सिस वह क्रिया है जिससे सभी व्यक्तियों के लिए अपनी शक्ति और कर्म का उपयोग कर अच्छी और उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त करना संभव होता है। इमानुएल कंत (Kant) ने *क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न* नामक अपनी कृति में दर्शन के सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप स्पष्ट किये। सिद्धांत हमें बताते हैं कि वस्तु स्थिति क्या है जब कि व्यवहार बतलाता है कि क्या होना चाहिए। कंत ने व्यावहारिक दर्शन को अधिक महत्व दिया। हीगल भी सिद्धांत और आचरण/व्यवहार के इस वर्गीकरण से सहमत था और आचरण को अधिक महत्व देता था। जब सिद्धांत और आचरण एक होते हैं तब तीसरे और उच्च स्तर की उत्पत्ति होती है। हीगल की दार्शनिक प्रणाली के तीन भाग हैं--तर्क, प्राकृतिक दर्शन और आत्मा का दर्शन। प्रत्येक भाग में सिद्धांत और व्यवहार/आचरण के द्वंद्व से एक नया, उच्च संश्लेषण प्रकट होता है। हीगल के विचार में "प्रैक्सिस" परम सत्य का क्षण है। मार्क्स की विचारधारा का केन्द्र बिन्दु "प्रैक्सिस" ही है। वह मानता है कि दर्शन को क्रांतिकारी कार्यों द्वारा आचरित कर दुनिया को बदला जा सकता है। मार्क्स के विचार में प्रैक्सिस स्वतंत्र सचेतन क्रिया है जिसके द्वारा अलगाव (alienation) को मिटाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में प्रैक्सिस द्वारा अलगावादी श्रम को रचनात्मक स्वतंत्र कार्य में परिवर्तित किया जा सकता हैं।

मार्क्स की विचार पद्धति के इस विवेचन के बाद आइए हम दर्खाइम की समाजशास्त्रीय पद्धति के बारे में पढ़ें। जैसा कि आपको ज्ञात है कि दर्खाइम ने अपने जीवन काल में समाजशास्त्र को एक नये विषय के रूप में विकसित कर उसे एक सम्माननीय दर्जा दिया। कॉलिन्स (1985: 1123) के अनुसार दर्खाइम ने समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान का स्वरूप दिया जिसके अपने नियम और सिद्धांत थे।

**बोध प्रश्न 1**

निम्नलिखित प्रश्नों में हर प्रश्न का उत्तर तीन वाक्यों में लिखिए।

i) "शोध तकनीक" और "विचार पद्धति" में क्या अंतर है?

.....

.....

.....

ii) मार्क्स ने समाज का अध्ययन एक संपूर्ण इकाई के रूप में किस तरह किया है?

.....

.....

.....

iii) "मार्क्स सापेक्षवादी इतिहासकार है।" इसकी व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

iv) निम्नलिखित वाक्यों को रिक्त स्थानों की पूर्ति द्वारा पूरा कीजिए।

क) मार्क्स के अनुसार सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख कारण ..... है।

ख) मार्क्स के अनुसार "प्रैक्सिस" का अर्थ ..... का मेल है।

## 18.4 एमिल दर्खाइम की विचार पद्धति

समाजशास्त्र के लिए एक विशिष्ट पद्धति विकसित करने में एमिल दर्खाइम का महत्वपूर्ण योगदान है। अपनी कृतियों में विभिन्न प्रश्नों के सामाजिक पहलुओं पर उसने ज़ोर दिया। वैयक्तिक या मनोवैज्ञानिक व्याख्या की जगह उसने सामाजिक और समाजशास्त्रीय व्याख्या का प्रयोग किया। निश्चित रूप से दर्खाइम ने समाजशास्त्र को अपनी अलग-सी पहचान दी। इस भाग में आइए हम देखें कि किस प्रकार दर्खाइम ने व्यक्ति और समाज के अंतर्संबंध को दर्शाया है। दर्खाइम के अनुसार "सामाजिक तथ्य" (social facts) समाजशास्त्र की विषयवस्तु है, इस पर भी हमने चर्चा की है। अंत में हमने दर्खाइम द्वारा प्रस्तुत "प्रकार्यात्मक विश्लेषण" (functional analysis) की व्याख्या की है।

### 18.4.1 व्यक्ति और समाज

दर्खाइम के अनुसार मानव-जाति शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से तृप्त नहीं होती। मनुष्य की इच्छाएँ और अभिलाषाएँ अपार हैं। इन्हें नियंत्रित करने के लिए सामाजिक नियम आवश्यक हैं। सामाजिक नियंत्रण के द्वारा ही व्यक्तिगत इच्छाओं को काबू में रखा जा सकता है। जब सामाजिक नियम टूट जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं तब व्यक्ति को नियंत्रित करने वाली शक्ति भी नष्ट हो जाती है।

वे तमाम नीतियां और नियम जिनके सहारे जनसमूह अपना जीवन व्यतीत करते हैं, यदि निरर्थक हो जाते हैं तो इस स्थिति को दर्खाइम **प्रतिमानहीनता (anomie)** कहता है। लुविस कोज़र (1971: 133) मानता है कि दर्खाइम के समाजशास्त्र का प्रमुख सूत्र है -- सामाजिक संतुलन और असंतुलन। दर्खाइम उन प्रक्रियाओं की व्याख्या करना चाहता है जो सामाजिक संतुलन या असंतुलन को प्रभावित करती हैं। व्यक्तिगत इच्छाओं और सामाजिक एकता की प्रवृत्ति के बीच तनाव पर चर्चा कर वह इसका समाधान खोजता है।

तनाव का विश्लेषण करने पर ध्यान केंद्रित करने की झलक उसकी सारी कृतियों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। उदाहरण के तौर पर *डिविज़न ऑफ लेबर* (1893) में दर्खाइम दो प्रकार के समाजों (**यांत्रिक एकात्मकता और सावयवी एकात्मकता** पर आधारित) का वर्णन करता है।

जिस समाज में यांत्रिक एकात्मकता (mechanical solidarity) पायी जाती है उसमें **सामूहिक चेतना (collective consciousness)** व्यक्ति पर हावी होती है। जिस समाज में सावयवी एकात्मकता (organic solidarity) पायी जाती है उसमें मनुष्य के व्यक्तित्व को फलने-फूलने का अवसर मिलता है। दर्खाइम का झुकाव सावयवी एकात्मकता वाले समाज की ओर है। उसके अनुसार व्यक्तिवाद से सामाजिक बंधन ज़्यादा मजबूत बन सकते हैं। व्यक्ति और समाज के बीच अंतर्संबंध के प्रति दर्खाइम का दृष्टिकोण काफ़ी जटिल है। व्यक्ति को महत्व देकर वह समाज की भूमिका को नकारता नहीं है। दूसरी ओर, दर्खाइम यह भी नहीं कहता कि समाज की शक्ति के सामने व्यक्ति निरर्थक या तुच्छ है।

वह मानता है कि समाज का अपना एक अस्तित्व (sui generis) है। समाज हमारे से पहले भी था और हमारे बाद भी रहेगा। उसके सदस्य आएंगे और चले जाएंगे परन्तु समाज बना रहेगा। व्यक्ति समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों के परे भी समाज बना रह सकता है, परन्तु व्यक्ति समाज के बिना रह नहीं सकते। व्यक्ति और समाज के बीच अंतर्संबंध के बारे में आपने ध्यान से पढ़ने के बाद अब हमें देखना है कि दर्खाइम ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु के बारे में क्या कहा।

## 18.4.2 समाजशास्त्र की विषय वस्तु: सामाजिक तथ्य

अपनी प्रमुख कृतियों में *(द डिविज़न ऑफ़ लेबर इन सोसाइटी, सुइसाइड, एलिमेंटरी फ़ार्म्स ऑफ़ रिलिजस लाइफ़)* दर्खाइम मनोवैज्ञानिक व्याख्या को नकार कर समाजशास्त्रीय व्याख्या का प्रयोग करता है। उदाहरण के तौर पर *सुइसाइड* में आत्महत्या के सामाजिक कारण खोजे गये हैं। पागलपन, शराब की लत इत्यादि वैयक्तिक या मनोवैज्ञानिक कारणों पर दर्खाइम ज़ोर नहीं देता है। उसके अनुसार आत्महत्या का सामाजिक पहलू है और यह सामाजिक एकीकरण के अभाव को दर्शाता है। दर्खाइम के अनुसार समाजशास्त्र मूलत: सामाजिक तथ्यों के अध्ययन से और इन तथ्यों की समाजशास्त्रीय व्याख्या से संबंधित है। *रूल्स ऑफ़ सोशियोलॉजिकल मेथड* (1895) में दर्खाइम ने इस बात को स्पष्ट रूप से समझाया है। वह इस बात को स्थापित करना चाहता है कि समाजशास्त्र भी एक विज्ञान बन सकता है, जो कि अन्य विज्ञानों के स्वरूप पर आधारित है। समाजशास्त्र की एक विशिष्ट विषय वस्तु होना आवश्यक है, किन्तु तथ्यों का प्रेक्षण और उनकी व्याख्या अन्य विज्ञानों की तरह ही होनी चाहिए।

समाज के वैज्ञानिक अध्ययन को संभव बनाने के लिए दर्खाइम दो नियम प्रस्तुत करता है: (i) सामाजिक तथ्य वस्तुओं के समान हैं. (ii) सामाजिक तथ्य व्यक्तियों पर बाधक होते हैं।

आइए, पहले नियम पर चर्चा करें। दर्खाइम का कहना है कि सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करने से पहले हमें अपनी पूर्वकल्पनाओं और पूर्वाग्रहों को हटाकर सामाजिक तथ्य को बाहर से देखना चाहिये। भौतिक या प्राकृतिक तथ्यों की तरह ही सामाजिक तथ्यों को हमें खोजना और देखना होगा। एक उदाहरण से इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। आपको भारत में लोकतांत्रिक प्रणाली का अध्ययन करना है। दर्खाइम के अनुसार आपको सबसे पहले अपनी पूर्व कल्पनाओं को अलग करना होगा, उदाहरण के तौर पर भारत में "लोकतांत्रिक प्रणाली असफल है" या "लोकतंत्र जनता का राज है" इत्यादि। आपको लोकतांत्रिक प्रणाली का परीक्षण तटस्थ, निष्पक्ष और वैज्ञानिक तरीक़े से करना होगा। सामाजिक तथ्यों को हम कैसे पहचानें? इस प्रश्न का उत्तर दूसरे नियम में मिलता है। दर्खाइम का कहना है कि सामाजिक तथ्य व्यक्ति पर बाधक होते हैं। चुनाव के दौरान लोकतांत्रिक प्रणाली स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। राजनैतिक उम्मीदवार लोगों से वोट मांगते हैं। लोग चुनाव करने या कोई निर्णय लेने पर विवेश हो जाते हैं। इस प्रकार, सामाजिक तथ्य व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

आइए, अब दूसरा उदाहरण देखें। क्रिकेट मैच के दौरान जब सचिन तेंदुलकर शानदार छक्का मारता है तब सारे दर्शक तालियों से इसका स्वागत करते हैं। कुछ दर्शक न चाहने पर भी दूसरों की तरह उत्तेजित हो जाते हैं। दर्शक-गण में शामिल होने के फलस्वरूप ऐसे दर्शक एक विशेष प्रकार का बर्ताव करने पर विवश हो जाते हैं। सामाजिक तथ्यों को वस्तु के रूप में देखना और उनका बाधक स्वरूप पहचानना दर्खाइम की समाजशास्त्रीय पद्धति का मूल-तंत्र है (आरों 1970: 72)।

सामाजिक तथ्यों का बाहर से और निरपेक्ष रूप से परीक्षण करने की यह धारणा समाजशास्त्र पर विज्ञान का प्रभाव स्पष्ट रूप से दर्शाती है। आपको याद होगा कि दर्खाइम के जीवन-काल में समाजशास्त्र एक नया विषय था जो अपना विशिष्ट स्थान बनाने का प्रयास कर रहा था। समाजशास्त्रीय पद्धति में दर्खाइम के योगदान को हमें इसी संदर्भ में देखना चाहिए। आइए, अब हम दर्खाइम द्वारा प्रस्तुत प्रकार्यात्मक विश्लेषण (functional analysis) के बारे में संक्षेप में पढ़ें।

### 18.4.3 समाज का प्रकार्यात्मक विश्लेषण

समाजशास्त्रीय पद्धति के क्षेत्र में दर्खाइम का एक महत्वपूर्ण योगदान प्रकार्यात्मक व्याख्या का विश्लेषण है। सामाजिक प्रक्रियाओं को अध्ययन का केन्द्र बनाने की प्रवृत्ति जीव-विज्ञान से ली गई है। जीव का हर अंग या अवयव एक विशेष कार्य करता है, जिससे वह जीवित और स्वस्थ रहता है। यदि हम मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंगों को प्रकार्यात्मक दृष्टि से देखें तो यह पाया जाता है कि प्रत्येक अंग पूरे शरीर को बनाए रखने में सहायक है। हृदय शरीर में रक्त संचरित करता है, फेफड़े हवा को शुद्ध करते हैं, अमाशय खाना पचाने का काम करता है, मस्तिक दूसरे अंगों को नियंत्रण में रखता है। इन विभिन्न अंगों के संपूर्ण प्रकार्य ही हमें जीवित और स्वस्थ रखते हैं।

समाज के प्रकार्यात्मक अध्ययन के दौरान समाज को पूर्ण और स्वस्थ बनाए रखने में विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं और संस्थाओं की भूमिका को अध्ययन का केन्द्र बनाया जाता है। सामाजिक तथ्यों के अध्ययन के लिए दर्खाइम ने स्पष्ट रूप से प्रकार्यात्मक प्रक्रिया की स्थापना की। दर्खाइम (1966: 97) के अनुसार, "तथ्यों की व्याख्या के लिए प्रकार्यों का निर्धारण आवश्यक है एक सामाजिक तथ्य की व्याख्या के लिए वह कारण मात्र दिखा देना जिस पर वह आधारित है, पर्याप्त नहीं है, सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने में उसके प्रकार्यों को दिखाना भी आवश्यक है"(रूल्स ऑफ़ सोशियोलॉजिकल मैथड)।

दूसरे शब्दों में, दर्खाइम के लिए तथ्यों की समाजशास्त्रीय समझ तब तक पूरी नहीं होगी जब तक कि सामाजिक व्यवस्था कायम करने में इन तथ्यों के प्रकार्यों या उनकी भूमिका को न समझा जाए। दर्खाइम की समस्त कृतियों में प्रकार्य की अवधारणा की महत्वपूर्ण भूमिका है। *डिविज़न ऑफ़ लेबर* में वह यह देखने का प्रयास करता है कि व्यावसायिक विशिष्टीकरण की प्रक्रिया किस प्रकार सामाजिक व्यवस्था और संबद्धता बनाए रखने में काम करती है। इस विषय में आपको इस खंड की इकाई 20 में अधिक विस्तार से जानकारी मिलेगी। इकाई 19 में आपको मालूम होगा कि दर्खाइम ने *एलिमेंट्री फ़ार्म्स ऑफ़ रिलीजस लाइफ़* में यह दिखाया है कि धार्मिक अनुष्ठान और विश्वास के प्रकार्य सामाजिक बंधनों को मज़बूत करते हैं। दर्खाइम की सारी कृतियों में सामाजिक व्यवस्था के निरूपण की आवश्यकता दिखाई देती है। इस बिंदु पर दर्खाइम की प्रकार्यात्मक विश्लेषण पद्धति को आत्मसात करने हेतु सोचिए और करिए 2 को पूरा करें।

**सोचिए और करिए 2**

अपने समाज की दो सामाजिक संस्थाओं का चयन कीजिए। उदाहरण के तौर पर विवाह, परिवार, जाति, गोत्र इत्यादि। प्रकार्यात्मक विश्लेण कर इन्हें समझाने का प्रयास कीजिए। दो पृष्ठों का निबंध लिखिए और यदि संभव हो तो अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यर्थियों के निबंधों के साथ इसकी तुलना कीजिए।

संक्षेप में दर्खाइम ने समाजशास्त्र के लिए एक ऐसी विषय वस्तु निर्धारित करने का प्रयास किया जिसके द्वारा समाजशास्त्री सामाजिक तथ्यों के प्रति वस्तुनिष्ठ और तटस्थ दृष्टिकोण अपना सकें। दर्खाइम के अनुसार समाजशास्त्री का काम सामाजिक तथ्यों को समाजशास्त्रीय ढंग से समझाना है। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने में सहायक सामाजिक तथ्यों के प्रकार्यों से जुड़ी व्याख्या संभव होगी।

यदि आपने मार्क्स और दर्खाइम की विचार पद्धतियों पर उपरोक्त पृष्ठ ध्यान से पढ़े हैं तो दोनों में एक मुख्य अंतर अवश्य पाया होगा, वह यह कि मार्क्स द्वंद्व और संघर्ष पर ज़ोर देता है, जबकि दर्खाइम व्यवस्था पर। आइए अब इन चिंतकों के सापेक्ष महत्व की तुलना संक्षेप में करें। किन्तु इससे पहले आपने अभी तक कितना समझा है, यह बोध प्रश्न 2 को पूरा कर देख लें।

**बोध प्रश्न 2**

i) निम्नलिखित वाक्यों के सामने "सही या ग़लत" लिखिये।

क) दर्खाइम के अनुसार सर्वशक्तिमान समाज की तुलना में व्यक्ति निरर्थक है।
सही/ग़लत

ख) सावयवी एकात्मता का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति समाज से अलग रह सकते हैं।
सही/ग़लत

ii) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर तीन पंक्तियों में दें।

क) किसी "सामाजिक तथ्य" को किस प्रकार पहचाना जा सकता है? एक उदाहरण दें।

.....

.....

.....

ख) दर्खाइम के प्रकार्यात्मक विश्लेषण के दो उदाहरण दें।

.....

.....

.....

## 18.4.4 सामाजिक संघर्ष बनाम सामाजिक व्यवस्था

समाज के विकास के लिए मार्क्स ने द्वंद्व और संघर्ष की भूमिका पर बल दिया है जबकि दर्खाइम ने सामंजस्य और व्यवस्था पर। जहाँ एक ओर दर्खाइम, संघर्ष या द्वंद्व को रोगात्मक, विकृति या असामान्य मानता है वहीं मार्क्स इसे सामाजिक परिवर्तन का पहिया मानता है। एक और जहां दर्खाइम सामाजिक तथ्यों का अध्ययन सामाजिक व्यवस्था में उसके योगदान की दृष्टि से करता है वहीं मार्क्स सतत समाज में विद्यमान विसंगतियों, अंतर्विरोधों और तत्जन्य तनावों की खोज में रहता है जिससे कि समाज में परिवर्तन होंगे।

ध्यान देने की बात यह है कि दोनों ही चिंतक समाज को अपने आप में एक वास्तविकता मान

कर चलते हैं। मार्क्स विभिन्न उपव्यवस्थाओं के अंतर्संबधों को देखकर समाज को एक सम्पूर्ण इकाई की दृष्टि से देखता है, और मानता है कि सम्पूर्ण समाज का एक चरण से दूसरे में परिवर्तन होना ऐतिहासिक गति से सम्बद्ध है। दर्खाइम भी ऐसे समाज की चर्चा करता है जिसका अपना एक अस्तित्व है। दोनों चिंतक वैयक्तिक आचरण और भावनाओं की अपेक्षा सामाजिक सम्पूर्णता पर बल देते हैं, क्योंकि उनके अनुसार वैयक्तिक आचरण और भावनाएँ किसी सामाजिक परिवेश विशेष की उपज होती हैं। अत: मार्क्स और दर्खाइम दोनों को सामाजिक यथार्थवादी कहा जा सकता है।

यह मुद्दा और प्रासंगिक हो जाता है जब उनकी विचार पद्धति की तुलना मैक्स वेबर की विचार पद्धति के साथ की जाती है। वेबर की समाजशास्त्रीय पद्धति एकदम अलग है। वेबर का अध्ययन सामाजिक क्रिया के अध्ययन से शुरू होता है। वह वैयक्तिक-आचरण पर बल देता है जो कि उसके अनुसार व्यक्ति की मनोवृत्ति, मूल्यों और विश्वासों से प्रभावित होता है। अपने आस-पास के संसार को कर्ता जो अर्थ देता है वेबर उसी की व्याख्या करता है। आइए अब उसकी समाजशास्त्रीय पद्धति का थोड़ा विस्तार से अध्ययन करें।

## 18.5 मैक्स वेबर की विचार पद्धति

मैक्स वेबर के अनुसार, सामाजिक क्रिया का एक विस्तृत विज्ञान ही समाजशास्त्र है। वह कर्ता द्वारा अपने विशिष्ट सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भ में की गई क्रिया और पारस्परिक क्रिया को दिए गए व्यक्तिपरक अर्थ पर ज़ोर देता है। यही उसकी विशिष्ट विचारपद्धति का द्योतक है। वह इस बात से भी सहमत नहीं है कि समाज विज्ञान भी अन्य सामान्य विज्ञानों (प्राकृतिक विज्ञानों) के रूप में विकसित किया जा सकता है। इस प्रकार वह समाज विज्ञानों के लिए अपनी अलग विशिष्ट विषय वस्तु और पद्धतियों की रूपरेखा प्रस्तुत करता है।

सामान्य (प्राकृतिक) विज्ञान और समाजशास्त्र या समाज (सांस्कृतिक) विज्ञान के उद्देश्यों और पद्धतियों के समान होने की प्रत्यक्षवादी विचारधारा का भी वेबर खंडन करता है। उसका मानना है कि अन्य चीज़ों या प्राकृतिक वस्तुओं के विपरीत मनुष्य में एक प्रकार की अंत: या अंदरूनी अभिप्रेरणा होती है जिसे समझने का प्रयास समाजशास्त्रियों को करना चाहिए। इसी को समझने-समझाने के लिए वेबर एक अलग समाजशास्त्रीय पद्धति प्रस्तुत करता है। आइए अब इस पद्धति का अध्ययन करें।

### 18.5.1 "फर्स्टेहन" या अंतर्दृष्टि

वेबर का मत है कि एक सामान्य वैज्ञानिक द्वारा किसी प्राकृतिक तथ्य का परीक्षण बाहर से ही होता है। उदाहरण के तौर पर, एक रसायनशास्त्री द्वारा किसी रसायन की विशेषताओं का अध्ययन बाहर से ही किया जा सकता है। परन्तु एक समाजशास्त्री द्वारा मानव समाज और संस्कृति को समझने का प्रयास मानव होने के नाते उस समाज या संस्कृति के सहभागी या आंतरिक सदस्य होने की हैसियत से किया जाता है। मनुष्य होने के नाते दूसरे मनुष्य की अभिप्रेरणाओं और भावनाओं को कर्ता द्वारा दिए गए व्यक्तिपरक अर्थ को जांचने से समाजशास्त्री द्वारा मानव क्रिया समझी जा सकती है। इस तरह समाजशास्त्रीय व्याख्या, अन्य विज्ञानों की व्याख्या से मूलभूत रूप से भिन्न है। वेबर के मतानुसार समाजशास्त्र को फर्स्टेहन (जर्मन भाषा का शब्द जिसका अर्थ है समझना) अर्थात अंतर्दृष्टि या व्यक्तिगत बोध की पद्धति अपनानी चाहिए। फर्स्टेहन पद्धति के अनुसार समाजशास्त्री को कर्ता की भावनाओं और उसकी परिस्थिति की समझ की व्याख्या करने का प्रयास कर उसकी अभिप्रेरणा की कल्पना करनी होगी। पर क्या फर्स्टेहन समाजशास्त्रीय व्याख्या के लिए पर्याप्त है? वेबर के अनुसार यह प्रथम चरण ही है। विश्लेषण का दूसरा चरण है कार्य कारण संबंधी व्याख्या करना, यानी किसी भी सामाजिक क्रिया

के पीछे छिपे कारणों को तलाश करना। समाजशास्त्रीय विश्लेषण को सरल बनाने के लिए वेबर ने एक महत्वपूर्ण पद्धति विकसित की जिसके बारे में आपने इस पाठ्यक्रम के खंड 4 में विस्तारपूर्वक पढ़ा है। यह है आदर्श प्ररूप, जिसके विषय में हमने यहां पुनः चर्चा की है।

## 18.5.2 आदर्श प्ररूप

तुलनात्मक अध्ययन के लिए आदर्श प्ररूप एक बुनियादी पद्धति तैयार करता है। यह अध्ययन किए जाने वाले तथ्य की मूलभूत विशेषताओं के साथ एक प्रकार का नमूना या मॉडल तैयार करता है। एक प्रकार से यह किसी विशेष वास्तविकता की अतिरंजित तस्वीर है। उदाहरण के लिए यदि किसी भारतीय सिनेमा के खलनायक का आदर्श प्ररूप तैयार करना हो तो धूर्त आँखों वाले, बड़ी मूछों वाले, भारी आवाज़ वाले, क्रूर हँसीवाले, चमकीले सूट पहने, बंदूकधारी, गुंडों से घिरे किसी व्यक्ति की कल्पना की जा सकती है। हां, भले ही भारतीय सिनेमा के सभी खलनायक ऐसे ही नहीं होते हैं, किन्तु सामान्यतया पाई जाने वाली विशेषताओं के साथ एक विश्लेषणात्मक ख़ाका अवश्य बनाया जा सकता है। इस आदर्श प्ररूप को मापदंड बनाकर समाजशास्त्रियों द्वारा समाज में पाई जाने वाली वास्तविकताओं की तुलना की जा सकती है।

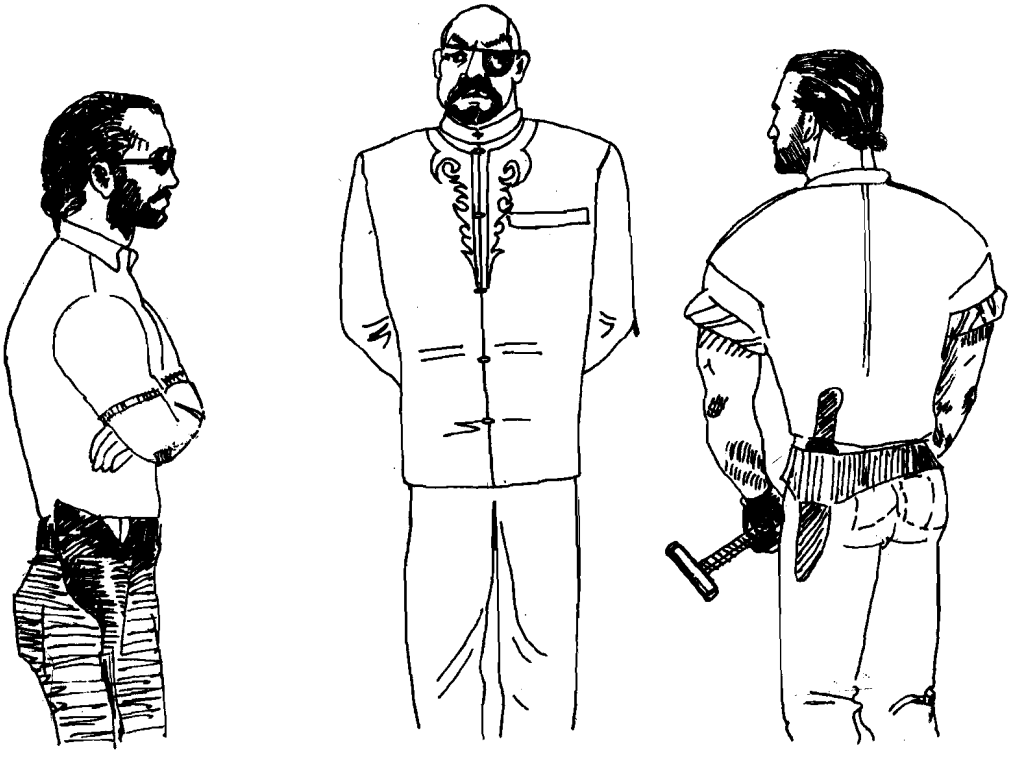

**चित्र 18.1: फिल्मी खलनायक का आदर्श-प्ररूप**

आदर्श प्ररूप काल्पनिक उदाहरण तैयार करने में सहायक होता है। यहां भाव यह है कि आदर्श प्ररूप के द्वारा समाजशास्त्री वास्तविकता को मापकर उस के महत्वपूर्ण पक्षों को स्पष्ट करें। खंड 4 में आपने देखा कि किस प्रकार वेबर ने "प्रोटेस्टेंट नैतिकता और पूँजीवादी प्रवृत्ति" के आदर्श प्ररूपों का प्रयोग कर इन दोनों के बीच संबंध को स्पष्ट किया है। वेबर के "धर्म के समाजशास्त्र" से आप वाकिफ़ हैं जो ऐतिहासिकता को प्रतिबिम्बित करता है। 'ऐतिहासिकता' वेबर की पद्धति का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। इस बिंदु पर वेबर द्वारा दी गई आदर्श प्ररूप की अवधारणा को आत्मसात करने हेतु सोचिए और करिए 3 को पूरा करें।

**सोचिए और करिए 3**

संयुक्त परिवार अथवा/और शहरी गंदी बस्ती में जीवन के आदर्श प्ररूप बनाइए। यथार्थ की तुलना इन आदर्श प्ररूपों से कीजिए। यह बताइये कि आपके आदर्श प्ररूपों और यथार्थ में कितना अंतर है?

### 18.5.3 कार्य कारण संबंध (causality) और ऐतिहासिक तुलना

हमने अब तक वेबर की समाजशास्त्रीय पद्धति के विषय में जो पढ़ा है, वह यह है कि वेबर सामाजिक कार्य के अध्ययन पर बल देता है। इसके लिए वह कर्ता की अभिप्रेरणा और उसके मूल्यों की व्याख्यात्मक समझ को उचित मानता है। आदर्श प्ररूप का प्रयोग समाजशास्त्रियों को ठोस वास्तविक घटनाओं के लिए अंतर्दृष्टि प्रदान करने में सहायक होगा। वेबर कारणों की व्याख्या को भी महत्व देता है। किन्तु साथ ही वह यह भी कहता है कि चूंकि मनुष्य समाज इतना उलझा हुआ है कि तथ्यों को समझाने के लिए कोई एक या संपूर्ण कारण दे सकना संभव नहीं है। अत: वह कारणों के बाहुल्य की बात करता है। कुछ कारण अन्य कारणों से अधिक महत्वपूर्ण होते है। उदाहरण के लिए पूँजीवाद की व्याख्या करते हुए वेबर धार्मिक नैतिकता की बात करता है। किन्तु उसका यह भी कहना नहीं है कि मात्र धार्मिक मूल्य ही आधुनिक पूंजीवाद के विकास का कारण हैं। पूंजीवाद के विकास को प्रभावित करने वाले धार्मिक मूल्यों के महत्व को समझाने के लिए वह ऐतिहासिक तुलना की पद्धति इस्तेमाल करता है।

आपने इस पाठ्यक्रम के खंड 4 की इकाई 15 में देखा ही है कि किस प्रकार वेबर ने पश्चिम में पूँजीवाद के विकास और प्राचीन चीन और भारत में इसके अभाव की तुलना की है। इस अंतर का कारण बताते हुए वह यथोचित नैतिकता और मूल्य व्यवस्था को अंत में इसका कारण ठहराता है। यह व्यवस्था पश्चिम में थी, किन्तु चीन और भारत में नहीं। अत: वेबर की समाजशास्त्रीय पद्धति में कार्य कारण संबंध की व्याख्या और शोध भी शामिल हैं लेकिन वह एक ही कार्य कारण व्याख्या को नकार देता है। चूंकि वेबर सामाजिक क्रिया मूल्यों और विश्वासों की इतनी अधिक बातें करता है, इसलिए समाजशास्त्र में मूल्यों के प्रति उसका क्या रुख है जानना रोचक होगा। क्या वेबर को, मार्क्स की तरह सिद्धांत और राजनीति को मिला देना पंसद था? कया दर्खाइम की शुद्ध वस्तुपरकता उसे पंसद थी? इसकी व्याख्या अगले उपभाग में दी गई है।

### 18.5.4 समाजशास्त्र में मूल्य

विज्ञान को बहुधा सत्य के लिए तटस्थ खोज कहा गया है। इसे मूल्य-विमुक्त और निष्पक्ष माना गया है। आपने देखा कि किस प्रकार दर्खाइम सामाजिक तथ्यों के वस्तुनिष्ठ या निष्पक्ष अध्ययन की बात करता है और किस प्रकार समाजशास्त्रियों को स्वयं को पूर्वाग्रहों और पूर्व कल्पनाओं से मुक्त रखना चाहिए। क्या वस्तुनिष्ठ और मूल्य-विमुक्त विज्ञान (प्राकृतिक या सामाजिक विज्ञान) संभव है? वेबर के अनुसार, अध्ययन के लिए विषय विशेष चुनने में मूल्यों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आपने समाजशास्त्र को ही वैकल्पिक पाठ्यक्रम के लिए क्यों चुना? कुछ मूल्यों ने आपका मार्ग दर्शन कराया होगा। आपने या तो इसे रोचक पाया, या आसान या संभवत: आपको अन्य वैकल्पिक पाठ्यक्रम पसंद नहीं आए। उसी प्रकार यदि कोई वैज्ञानिक रसायन का अध्ययन करने का निर्णय ले और कोई वैज्ञानिक ग्रामीण भारत के रीति-रिवाजों का अध्ययन करना चाहे, तो उसके निर्णय भी किसी मूल्य के आधार पर ही किए गए होंगे।

किन्तु वेबर ने मूल्य निर्धारण (value orientation) और मूल्य निर्णय (value-judgement) के बीच स्पष्ट अंतर किया है। एक शोधकर्ता या वैज्ञानिक किसी विषय विशेष के अध्ययन के लिए कुछ मूल्य निर्धारण द्वारा अभिमुख है किन्तु वेबर के अनुसार उस विषय पर उसे किसी प्रकार का नैतिक मूल्यांकन नहीं देना चाहिए। उसे विषय के संबंध में नैतिक तटस्थता बरतनी चाहिए।

उसका काम तथ्यों का अध्ययन करना है, न कि यह निर्णय देना कि वह अच्छा या बुरा है। संक्षेप में यही वेबर की समाजशास्त्रीय पद्धति और उसमें उसका योगदान है।

अब तक आपने समाजशास्त्र के तीन संस्थापकों की विचार पद्धतियों के विषय में पढ़ा है। यहां एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाना आवश्यक है। वह यह कि उन्होंने समाजशास्त्रियों की भूमिका और कार्य-भार की किस प्रकार व्याख्या की। इस प्रश्न के उत्तर से आपको संक्षेप में उनके द्वारा बताए गए सामाजिक तथ्यों के अध्ययन के लक्ष्य और उद्देश्यों की जानकारी मिलेगी।

### 18.5.5 समाजशास्त्रियों की भूमिका

आपने पढ़ा कि किस प्रकार एमिल दर्खाइम ने समाजशास्त्र की सामाजिक तथ्यों के अध्ययन के रूप में व्याख्या की। उसके अनुसार समाजशास्त्री अपनी पूर्व-कल्पनाओं और पूर्वाग्रहों को छोड़ कर तटस्थ रूप से सामाजिक तथ्यों और उनकी विशेषताओं का अध्ययन कर सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने में सामाजिक संस्थाओं की भूमिका का अध्ययन करें।

वेबर के अनुसार समाजशास्त्रियों को मनुष्य की अरिप्रेरणा को समझ कर अंतर्दृष्टि अथवा व्यक्तिगत बोध से उसका अध्ययन करना चाहिए। समाज और संस्कृति को समझने में समाजशास्त्री का स्वयं समाज का भाग होना सहायक होता है क्योंकि समाजशास्त्री द्वारा सामाजिक तथ्यों का अध्ययन समाज के अंदर से ही किया जाता है। आदर्श प्ररूप और ऐतिहासिक तुलना द्वारा कार्य कारण संबंध भी खोजे जा सकते हैं। किन्तु नैतिक तटस्थता बनाए रखना आवश्यक है। मार्क्स के विचारों में समाजशास्त्री की भूमिका और राजनैतिक कार्यकर्ता की भूमिका एक-दूसरे से जुड़ी हुई है। मार्क्स के अनुसार तनाव और संघर्ष जो कि समाज की विशेषता है, इनके अध्ययन से समाजशास्त्री विरोध और शोषण से मुक्त एक आदर्श समाज की कल्पना कर उसके लिए रास्ता बनाएं।

**बोध प्रश्न 3**

i) निम्नलिखित वाक्यों को रिक्त स्थानों की पूर्ति द्वारा पूरा कीजिए।

   क) वेबर के अनुसार अपने व्यवहार और क्रियाओं को कर्ता द्वारा दिए गए ..... को जांचने से समाजशास्त्री मानव क्रियाओं को समझ सकते हैं।

   ख) विद्यमान वास्तविकताओं को मापने के लिए ..... को मापदंड के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है।

   ग) वेबर मूल्य निर्धारण (value orientation) और ..... में स्पष्ट अंतर करता है।

ii) निम्नलिखित कथन सही हैं या ग़लत, बताइए।

   क) वेबर का मानना था कि समाजशास्त्रियों को सामाजिक तथ्यों को समझने के लिए कोई एक या संपूर्ण कारण का होना आवश्यक है। सही/ग़लत

   ख) चूँकि समाजशास्त्र मूल्य विमुक्त नहीं हो सकता है, अतः समाजशास्त्रियों द्वारा नैतिक तटस्थता बनाए रखना भी संभव नहीं है। सही/ग़लत

## 18.6 सारांश

इस इकाई में हमने पढ़ा है कि विचार पद्धति क्या है और उसका अध्ययन क्यों आवश्यक है। इसके बाद हमने समाजशास्त्र के तीन संस्थापकों की विचार पद्धतियों और दृष्टिकोणों का विश्लेषण किया और साथ ही उनकी तुलना की।

हमने देखा कि किस प्रकार मार्क्स ने भौतिकवादी पद्धति द्वारा समाज के इतिहास की अवधारणा दी। सामाजिक संस्थाओं के आपसी संबंधों का अध्ययन करते हुए मार्क्स ने समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्ति पर ज़ोर दिया। उसके अनुसार सामाजिक संघर्ष ही परिवर्तन का कारण है और यह राजनैतिक रूप से प्रतिबद्ध समाजशास्त्रियों का काम है कि वे भविष्य के वर्ग रहित अर्थात् साम्यवादी समाज की कल्पना और उसका अध्ययन करें।

एमिल दर्खाइम समाजशास्त्र को एक वैध या प्रतिष्ठित विज्ञान के रूप में स्थापित करना चाहता था। उसने समाजशास्त्रीय पद्धतियों में कुछ अनुशासन लाने का प्रयास किया। उसने सामाजिक तथ्यों को समाजशास्त्रीय खोज की उचित विषय वस्तु माना और मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्री व्याख्या में अंतर स्पष्ट किया। दर्खाइम ने एक स्पष्ट प्रकार्यात्मक विश्लेषण की पद्धति बतलाई जो कि आज भी प्रयोग में लाई जाती है।

मैक्स वेबर की समाजशास्त्रीय पद्धति ने समाजशास्त्र में अध्ययन का केन्द्र बदल दिया। जब कि दर्खाइम और मार्क्स सामाजिक यथार्थ के रास्ते चले, वेबर ने मनुष्य की अभिप्रेरणा की अंतर्दृष्टि द्वारा समझ पर ज़ोर दिया। उसने तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन को अपनाया और सामाजिक तथ्यों के बहुपरतीय और बहु-कारणात्मक विश्लेषण पर ज़ोर दिया।

इन चिंतकों ने जिन लक्ष्यों और उद्देश्यों के लिए समाज का अध्ययन किया वे अलग-अलग थे। दर्खाइम और वेबर इस बात पर ज़ोर देते थे कि समाजशास्त्र का अध्ययन करते समय एक प्रकार का वैज्ञानिक अलगाव बनाए रखना चाहिए जबकि मार्क्स इस बात में विश्वास करता था कि सिद्धांतों का उपयोग राजनैतिक कार्यों के लिए किया जा सकता है।

## 18.7 शब्दावली

**प्रतिमानहीनता (anomie)** — एक ऐसी स्थिति जिसमें सामाजिक नियम निरर्थक हो जाते हैं। मनुष्य अपने आपको अकेले या समाज से कटे हुए महसूस करते हैं

**सामूहिक चेतना (collective conscience)** — समाज के सदस्यों के सामान्य विश्वास, मान्यताएँ और भावनाएँ

**यांत्रिक एकात्मकता और सावयवी एकात्मकता** — दर्खाइम के अनुसार यांत्रिक एकात्मकता का आधार है एकरूपता और गहरे सामाजिक बंधन जो कि लघु और पारंपरिक समाजों में देखे जाते हैं। सावयवी एकात्मता अंतर्निभरता और विशेषीकरण पर आधारित है, और आधुनिक, औद्योगिक समाजों में पायी जाती है।

**प्रत्यक्षवादी** — अनुभव पर आधारित। प्रारंभिक समाजशास्त्र पर प्रत्यक्षवादी प्रवृत्ति का गहरा असर रहा।

## 18.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ऐरों, रेमों, (1970). *मेन करेंट्स ऑफ़ सोशियोलॉजिकल थॉट*. भाग 1 और 2, पेंगुइन: लंदन (मार्क्स, दर्खाइम और वेबर से संबंधित भाग पढ़ें।

कोज़र, लुविस, (1971). *मास्टर्स ऑफ़ सोशियोलॉजिकल थॉट आइडियाज़ इन हिस्टॉरिकल एंड सोशल कॉंटेक्स्ट*. हरकोर्ट ब्रेस जोवानोविच: न्यूयार्क (मार्क्स, दर्खाइम और वेबर से संबंधित भाग पढ़ें)

## 18.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) विचार पद्धति शोध तकनीकों का समन्वयन है जिससे किसी विषय का अध्ययन किया जा सकता है। शोध तकनीक वे साधन हैं जो कि विचार पद्धति के अंग हैं।

ii) मार्क्स समाज के विभिन्न समूहों, संस्थाओं, मान्यताओं और विचारधाराओं के बीच अंतर्संबंध, खोजता है। समाज को व्यवस्था मानकर और उसके विभिन्न अंगों के परस्पर संबंधों को देखकर मार्क्स ने समाज का अध्ययन सम्पूर्ण इकाई के रूप में किया।

iii) मार्क्स सामाजिक संबंधों और विचारों को विशिष्ट ऐतिहासिक परिवेश में देखता है। उदाहरण के तौर पर मार्क्स के अनुसार वर्ग-संघर्ष हर ऐतिहासिक युग में पाया जाता है। फिर भी वह इस बात पर जोर देता है कि इस वर्ग संघर्ष का स्वरूप बदलता रहता है। इसीलिए मार्क्स "सापेक्षवादी इतिहासकार" कहलाया जाता है।

iv) क) संघर्ष और अंतर्विरोध

ख) सामाजिक सिद्धांत और राजनैतिक प्रतिबद्धता

**बोध प्रश्न 2**

i) क) ग़लत

ख) ग़लत

ii) क) सामाजिक तथ्य व्यक्ति पर बाधक होते हैं और व्यक्ति को विशिष्ट प्रकार का बर्ताव करने पर विवश करते हैं। उदाहरण के तौर पर क्रिकेट मैच देखते समय जब दर्शक उत्तेजित होते हैं तब आपका बर्ताव भी अन्य दर्शकों जैसा होगा।

ख) श्रम विभाजन के बारे में लिखते समय दर्खाइम ने देखा कि किस प्रकार का प्रक्रिया सामाजिक एकात्मता बनाने में सहायक होती है। धर्म के संदर्भ में दर्खाइम ने यह दिखाने का प्रयास किया कि किस तरह अनुष्ठान और मान्यताएँ सामाजिक संबंधों को मजबूत बनाने का कार्य करती हैं।

**बोध प्रश्न 3**

i) क) व्यक्तिपरक अर्थ

ख) आदर्श प्ररूप

ग) मूल्य निर्णय

ii) क) ग़लत

ख) ग़लत

# इकाई 19 धर्म: दर्खाइम और वेबर

इकाई की रूपरेखा


19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 धर्म के समाजशास्त्र में एमिल दर्खाइम का योगदान

- 19.2.1 धर्म की व्याख्या - मान्यताएँ और अनुष्ठान
- 19.2.2 टोटमवाद का अध्ययन
- 19.2.3 धर्म और विज्ञान

19.3 मैक्स वेबर का योगदान

- 19.3.1 भारतीय धर्म
- 19.3.2 चीनी धर्म
- 19.3.3 प्राचीन यहूदी धर्म

19.4 दर्खाइम और वेबर: तुलना

- 19.4.1 विश्लेषण की इकाइयाँ
- 19.4.2 धर्म की भूमिका
- 19.4.3 देवता, भूत-प्रेत और पैगम्बर
- 19.4.4 धर्म और विज्ञान

19.5 सारांश

19.6 शब्दावली

19.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

19.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 19.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए संभव होगा

- धर्म से संबंधित एमिल दर्खाइम के विचारों का विवेचन करना
- धर्म के समाजशास्त्र में मैक्स वेबर के योगदान पर चर्चा करना
- इन दोनों चिंतकों के दृष्टिकोण में अंतर बताना।

## 19.1 प्रस्तावना

जैसा कि आपको मालूम है, धर्म को मानव समाज का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। धर्म का संबंध मनुष्यों की मान्यताओं और अनुष्ठानों की उस प्रणाली से है जो उसके क्रियाकलापों और विचारधाराओं को मार्गदर्शित करती है। धर्म वह माध्यम है जिसके द्वारा लोग एकजुट होते हैं, जिससे उनमें एकता और आत्मीयता की भावना पैदा होती है। कभी-कभी इसका परिणाम बिल्कुल विपरीत होता है जब कोई एक धार्मिक समूह दूसरे समूह के प्रति विरोध प्रकट करने के उद्देश्य से काम करता है। धर्म वह माध्यम है जिसके द्वारा लोग जीवन की समस्याओं और संकटों के समाधान ढूँढते हैं।

धर्म एक सामाजिक सत्य है और समाज की अन्य व्यवस्थाओं से उसका गहरा संबंध है। धर्म, समाजशास्त्रियों और नृशास्त्रियों के लिये हमेशा से रोचक विषय रहा है। इस संबंध में दर्खाइम और वेबर के योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

इस खंड की पहली इकाई में हमने समाजशास्त्र के संस्थापकों की विशिष्ट विचार पद्धतियों का अध्ययन किया। इस इकाई में आइए हम देखें कि किस प्रकार दर्खाइम और वेबर ने अपनी समाजशास्त्रीय पद्धतियों का प्रयोग धर्म के अध्ययन द्वारा किया।

भाग 18.2 में धर्म के समाजशास्त्र में दर्खाइम के योगदान को प्रस्तुत किया जायेगा। उसकी महत्वपूर्ण कृति *द एलिमेंटरी फ़ार्म्स ऑफ़ रिलीजस लाइफ़* (1912) में उसकी प्रमुख संभावनाओं पर चर्चा की जायेगी। भाग 19.3 में धर्म संबंधित वेबर की प्रमुख अवधारणाओं पर विचार किया जायेगा। अंतिम भाग 19.4 में इन चिंतकों के दृष्टिकोण में अंतर पर नज़र डाली जायेगी।

## 19.2 धर्म के समाजशास्त्र में एमिल दर्खाइम का योगदान

*द एलिमेंटरी फ़ॉर्म्स ऑफ़ रिलीजस लाइफ़* दर्खाइम की महत्वपूर्ण कृति है। इस की प्रमुख स्थापनाओं पर आज भी विद्वानों और विद्यार्थियों के बीच वाद विवाद होते हैं।

इससे पहले कि इस कृति के प्रमुख विचारों पर चर्चा करें, आइए एक महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर नज़र डालें। दर्खाइम ने विश्व के विकसित धर्मों के अध्ययन (जैसे कि हिन्दू धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म) की अपेक्षा धर्म के सरलतम रूप पर ही ध्यान क्यों केन्द्रित किया?

आइए, एक उदाहरण द्वारा इस प्रश्न का उत्तर दें।

यदि आपको साइकिल चलाना आता है तो मोटर साईकिल चलाने में आपको ज़्यादा दिक्कत नहीं होगी। इसी तरह यदि आप धर्म के सरल रूप समझें, तो जटिल, सुव्यवस्थित धर्मों को समझने में सहायता मिलेगी। धर्म का सरलतम रूप उन समाजों में पाया जा सकता है जिनकी सामाजिक व्यवस्था उतनी ही सरल हो, यानी आदिम जनजातीय या आदिवासी समाज। दर्खाइम का उद्देश्य "आदिवासी" (aborigines) समाज में आदिवासी धर्म के अध्ययन द्वारा जटिल विचार प्रणालियों और मान्यताओं पर प्रकाश डालना था।

अगले उपभागों में इसी प्रयास का विवेचन किया जायेगा। सबसे पहले आइए देखें कि दर्खाइम किस प्रकार धर्म की व्याख्या करता है।

### 19.2.1 धर्म की व्याख्या - मान्यताएँ और अनुष्ठान

दर्खाइम का कहना है कि धर्म की व्याख्या करने से पहले हमें अपनी पूर्वाकल्पनाओं और पूर्वाग्रहों को दूर करना होगा। वह इस मान्यता को नकारता है कि देवताओं और भूत-प्रेतों जैसी रहस्यम और अलौकिक बातों मात्र से धर्म संबंधित है। उसके अनुसार धर्म न सिर्फ़ असाधारण बातों से बल्कि आम जीवन की सामान्य घटनाओं से संबद्ध है। सूर्योदय और सूर्यास्त, ऋतुओं का चक्र, पेड़-पौधों, फ़सलों का उगना-बढ़ना, नये जीवों का जन्म- सब धार्मिक विचारों के विषय हैं।

धर्मों की व्याख्या करने के लिये विभिन्न धार्मिक प्रणालियों का अध्ययन ज़रूरी है, जिससे उनके समान तत्वों को पहचाना जा सके। दर्खाइम (1912: 38) का कहना है कि "धर्म की परिभाषा उन समान गुणों के संदर्भ में ही की जा सकती है जो हर धर्म में पाये जाते हैं।"

दर्खाइम के अनुसार सभी धर्मों में दो मूल तत्व होते हैं धार्मिक विश्वास और धार्मिक अनुष्ठान। ये विश्वास **सामूहिक प्रतिनिधान (collective representations)** हैं (जिनका विस्तृत अध्ययन खंड 3 में किया जा चुका है), और धार्मिक अनुष्ठान समाज द्वारा स्थापित वे क्रियाएँ हैं जो इन विश्वासों से प्रभावित होती हैं।

जैसा कि आपने पहले पढ़ा है, धार्मिक विश्वास पवित्र और लौकिक इस विभाजन पर आधारित है। **पवित्र और लौकिक क्षेत्र** एक दूसरे के विपरीत हैं और इस आपसी भेद को धार्मिक अनुष्ठानों और कर्मकांडों द्वारा नियंत्रित किया जाता है। पवित्र अथवा दिव्य क्षेत्र वह है जिसे उच्च स्तर दिया जाता है और जिसके प्रति सम्मान अथवा भय की भावना पैदा होती है। दिव्य क्षेत्र को लौकिक क्षेत्र से अधिक महत्व और प्रतिष्ठा दी जाती है। उसके अस्तित्व और शक्ति को सामाजिक नियमों द्वारा सुरक्षित किया जाता है। दूसरी और लौकिक क्षेत्र के अंतर्गत आम दैनिक जीवन के सामान्य पहलू शामिल हैं। दर्खाइम के अनुसार दिव्य और लौकिक क्षेत्रों को एक दूसरे से अलग रखना आवश्यक माना जाता है, क्योंकि वे एक दूसरे से मूल रूप से भिन्न, विपरीत और विरोधी हैं।

आइए, इस बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करें। मंदिर में जूते पहनकर जाना मना क्यों है? जूते या चप्पल आम जीवन में इस्तेमाल किये जाते हैं, अत: वे लौकिक क्षेत्र से संबद्ध हैं। किन्तु मंदिर को दिव्य, शुद्ध स्थल माना जाता है। जूतों की गंदगी से मंदिर को सुरक्षित रखना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार, दिव्य और लौकिक क्षेत्रों को अलग रखा जाता है।

दर्खाइम के अनुसार धार्मिक विश्वास और अनुष्ठानों का एकीकरण धर्म का स्वरूप लेता है। विश्वास से उसका तात्पर्य है विभिन्न नियम, नैतिक विचार, शिक्षा और मिथक। ये सब वे सामूहिक प्रतिनिधान हैं जो व्यक्ति के बाहर होते हुए भी उसे धार्मिक व्यवस्था से एकीकृत करते हैं। विश्वासों के माध्यम से व्यक्ति दिव्य क्षेत्र और उसके साथ अपना संबंध समझ सकते हैं, जिसके अनुरूप वह अपना जीवन बिता सकते हैं।

विश्वासों पर आधारित धार्मिक अनुष्ठान वे नियम हैं जो दिव्य क्षेत्र से संबंधित व्यक्तिगत व्यवहार का मार्ग दर्शन करते हैं। धार्मिक अनुष्ठान सकारात्मक होते हैं (जिससे व्यक्ति को दिव्य क्षेत्र के नज़दीक लाया जाता है, जैसे कि हवन या यज्ञ) और नकारात्मक भी (इनमें दिव्य और लौकिक क्षेत्रों को एक दूसरे से दूर रखा जाता है)। उदाहरण के तौर पर शुद्धिकरण, उपवास, तपस्या आदि धार्मिक अनुष्ठान विश्वासों को और अधिक तीव्र या शक्तिशाली बनाते हैं। व्यक्तियों को एक दूसरे के क़रीब लाकर उनके सामाजिक स्वभावों को सशक्त किया जाता है। धार्मिक अनुष्ठान सामूहिक चेतना को अभिव्यक्त करते हैं। जैसा कि आपने पढ़ा है, सामूहिक चेतना का अर्थ है कि समान मूल्य, विश्वास और विचार जो सामाजिक एकात्मता को संभव बनाते हैं (देखिए गिडन्स 1974: 84-89)।

धर्म की व्याख्या विश्वासों और अनुष्ठानों की शब्दावली में करने से एक समस्या सामने आती है, क्योंकि इसके अंर्तगत जादू-टोना भी शामिल हो जाता है। क्या धर्म और **जादू-टोना** में कोई अंतर नहीं? नृशास्त्री रॉबर्टसन् स्मिथ की तरह दर्खाइम धर्म और जादू-टोने में स्पष्ट भेद करता है। जादू-टोना निजी, स्वार्थी मामला है जो व्यक्तिगत स्तर पर किया जाता है। उदाहरण के लिये यदि जादू में विश्वास करने वाला अपने पड़ोसी से ज़्यादा सफल होना चाहे तो उसे जादू-टोना करवा कर पड़ोसी पर विपत्ति लाने का प्रयास करना होगा। ओझा (magician) को पैसा देकर तंत्र-मंत्र के द्वारा जादू में विश्वास करने वाले के लिए अपने पड़ोसी की फ़सल नष्ट करवाना संभव है, या उसकी गाय-भैंसे मरवाना संभव है। जादू-टोने में ओझा और ग्राहक के बीच संबंध निजी स्वार्थ से प्रेरित होता है। यह केवल व्यक्तिगत इच्छाओं के अनुरूप प्रकृति को प्रभावित करने का एक प्रयास है।

दूसरी ओर धर्म का सार्वजनिक और सामाजिक रूप है। भक्तों के बीच सामाजिक बंधन होते हैं, जो उन्हें समान जीवन बिताने वाले एक समूह के रूप में एकीकृत करते हैं। इन पक्षों पर ध्यान देते हुए दर्खाइम ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा कि पवित्र चीज़ों के संबंधित विश्वासों और अनुष्ठानों की एकीकृत व्यवस्था को धर्म कहते हैं और इन विश्वासों और अनुष्ठानों को मानने वाले अनुयायी एक नैतिक समूह में एकीकृत होते हैं।

आइए, अब हम देखें कि किस प्रकार आस्ट्रेलिया के आदिवासी समूह में प्रचलित **टोटमवाद** का

अध्ययन कर दर्खाइम ने धर्म के सरलतम रूप को समझने का प्रयास किया। लेकिन इससे पहले, बोध प्रश्न 1 के उत्तर दीजिए।

**बोध प्रश्न 1**

i) निम्नलिखित वाक्यों को रिक्त स्थानों की पूर्ति द्वारा पूरा कीजिए।

क) दर्खाइम ने धर्म के सरलतम रूप का अध्ययन किया क्योंकि

.....

ख) दर्खाइम के अनुसार प्रत्येक धर्म में पाए जाने वाले समान तत्व

.....

ग) लौकिक क्षेत्र ..... से संबद्ध है।

ii) दर्खाइम धर्म और जादू-टोने के बीच किस प्रकार भेद करता है? तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

## 19.2.2 टोटमवाद का अध्ययन

जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है, दर्खाइम का यह मानना था कि जटिल धर्मों को समझने के लिये पहले सरलतम धर्मों को समझना आवश्यक है। उसके अनुसार **टोटमवाद** धर्म का सबसे सरल रूप है। मध्य आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में यह धर्म प्रचलित है। इन समाजों के बारे में नृशास्त्रीय जानकारियाँ भरपूर मात्रा में उपलब्ध थीं। समाजशास्त्री और नृशास्त्री इनकी सामाजिक व्यवस्था को सरलतम मानते थे।

यह धर्म उन समाजों में पाया जाता है जिनमें सामाजिक व्यवस्था के आधार कुल (clan) हैं। कुल के सदस्य मानते हैं कि वे एक ही पूर्वज के वंशज है। यह पूर्वज या तो कोई प्राणी या वनस्पति हो सकता है अथवा कोई वस्तु। प्रतीक के रूप में इस पूर्वज को टोटम-वस्तु कहते हैं। इसी वस्तु से कुल अपना नाम और पहचान प्राप्त करता है। टोटम नाम मात्र नहीं, बल्कि एक चिन्ह है जो कि अक्सर उस कुल की विभिन्न वस्तुओं पर यहाँ तक कि लोगों के शरीर पर अंकित रहता है। इससे लौकिक वस्तुओं को विशेष महत्व मिलता है। वे पवित्र बन जाती हैं। टोटम वस्तु के संबंध में अनेक प्रतिबंध होते हैं। उसकी हत्या करना या उसे खाना मना है। उसे सम्मान का दर्जा दिया जाता है। कुल से संबंधित हर वस्तु टोटम से संबद्ध होती है और टोटम का अंग मानी जाती है। खून का रिश्ता न होते हुए भी कुल के सदस्यों को एक ही वंश का माना जाता है, क्योंकि उनका नाम, और चिन्ह एक है। परिणामस्वरूप कुल से बाहर विवाह करना एक महत्वपूर्ण नियम होता है। इस प्रकार इन सरल समाजों में धर्म और सामाजिक व्यवस्था पूरी तरह से अंतर्संबंधित हैं।

टोटम वस्तु और उससे संबंधित अन्य वस्तुओं को पवित्र क्यों माना जाता है? दर्खाइम के अनुसार टोटम-प्राणी या वनस्पति को वास्तव में पूजा नहीं जाता है बल्कि एक ऐसी अमूर्त अदृश्य शक्ति की पूजा होती है जो हर भौतिक वस्तु में छिपी रहती है। इस शक्ति को अनेक नाम दिये गये हैं, जैसे कि समोआ में "माना", मेलनीशिया में "वाकान" और कुछ उत्तर अमरीकी जनजातियों में "ओरेंडा"। टोटम-वस्तु उस टोटम सिद्धांत का प्रतीक मात्र है जो कि स्वयं कुल ही है। कुल को अपना अस्तित्व प्रदान किया जाता है। टोटम वस्तु द्वारा उसे मूर्त रूप दिया जाता है। दर्खाइम के अनुसार "ईश्वर" की परिकल्पना समाज के **दैवीकरण** से उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में

"ईश्वर" की परिकल्पना द्वारा समाज को नया रूप दिया जाता है। समाज को क्यों पूजा जाता है? दर्खाइम का कहना है कि समाज व्यक्ति की अपेक्षा हर क्षेत्र में अधिक शक्तिशाली है। उसका स्वतंत्र अस्तित्व है और उसकी शक्ति के प्रति भय की भावना पैदा होती है। अत: उसकी सत्ता सम्मानीय होती है। उदाहरण के लिये जब युद्ध में किसी युवा ने राष्ट्रीय ध्वज को ऊँचा रखने के लिये अपनी जान न्यौछावर की तो कहा जाएगा कि उसने ध्वज के लिये नहीं बल्कि अपने राष्ट्र के लिये अपनी जान न्यौछावर की। ध्वज राष्ट्र का चिन्ह मात्र है।

समाज व्यक्तिगत चेतना द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। समाज हमसे त्याग और समर्पण के आग्रह द्वारा हमारे अंदर की पवित्रता की भावना को बढ़ावा देता है। धार्मिक समारोहों और त्यौहारों के दौरान यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। कुल के सारे सदस्य धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेते हैं। **सामूहिक उत्तेजना** और उत्साह की भावना पैदा होती है जिनसे सामाजिक बंधन और अधिक मज़बूत बनते है और सामाजिक एकात्मकता को बढ़ावा मिलता है।

संक्षेप में कुल के सदस्य अपने समान पूर्वज को पूजते हैं। यह टोटम वस्तु का रूप लेता है, जिससे कुल को अपना नाम और विशिष्ट पहचान मिलती है। लेकिन दर्खाइम का मानना है कि वास्तव में स्वयं कुल की ही पूजा टोटम वस्तु के माध्यम से होती है। धर्म का वास्तविक अर्थ है समाज को दिव्य रूप देकर उसकी पूजा करना, क्योंकि उसे व्यक्तियों से अधिक शक्तिशाली माना जाता है व्यक्ति पर समाज भौतिक और नैतिक प्रतिबंध लगाता है। समाज को पूजने से उसके सदस्यों में एकात्मकता और उत्साह की भावना को बढ़ावा मिलता है जिससे वे सामूहिक जीवन और उसकी सामूहिक अभिव्यक्ति में भाग ले सकते हैं।

आदिम अथवा सरलतम धर्मों पर दर्खाइम ने अनेक रोचक और महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं। उसने इन विचारों का जटिल विचार प्रणालियों को समझने में किस प्रकार उपयोग किया? जैसा कि आपको मालूम है, आधुनिक युग में विज्ञान का तीव्र गति से विकास हुआ है। क्या धर्म और विज्ञान एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत है? अगले उप-भाग में आइए देखें कि इस संबंध में दर्खाइम का मत क्या है।

**सोचिए और करिए 1**

भारत में प्रचलित किन्हीं दो धर्मों के पाँच विश्वासों एवं अनुष्ठानों की सूची बनाइए। अपनी सूची की तुलना अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों की सूची से कीजिए।

### 19.2.3 धर्म और विज्ञान

दर्खाइम के अनुसार धार्मिक विचारधाराओं से ही वैज्ञानिक विचारधारा की उत्पत्ति हुई। धर्म और विज्ञान दोनों प्रकृति, मानव जाति और मानव समाज से संबंधित हैं। वस्तुओं का वर्गीकरण उनकी व्याख्या और उनके बीच पारस्परिक संबंधों को समझने का प्रयास धर्म और विज्ञान दोनों द्वारा किया जाता है।

विज्ञान वास्तव में धार्मिक विचारों का अधिक शुद्ध और विकसित रूप है। बल और शक्ति जैसी वैज्ञानिक परिकल्पनाएँ मूलत: धार्मिक परिकल्पनाएँ है। दर्खाइम का विश्वास है कि ऐसा समय आयेगा जब धार्मिक विचारों का स्थान विज्ञान ले लेगा। वह इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करता है कि समाज-विज्ञानों में धर्म का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा रहा है।

धार्मिक विचार और वैज्ञानिक विचार दोनों सामूहिक प्रतिनिधान हैं, अत: उनके बीच संघर्ष होना असंभव है। धर्म और विज्ञान दोनों ही सार्वभौमिक सिद्धांत की खोज करने के दो प्रकार से प्रयास हैं। उनका उद्देश्य मानव-जाति को व्यक्तिगत स्वभाव की सीमाओं से बाहर लाकर एक ऐसी जीवन पद्धति को प्रोत्साहित करना है जो एक साथ व्यक्तिवादी और सामूहिक हो। संपूर्ण मानव

कहलाने के लिये व्यक्ति को समाज की आवश्यकता है। व्यक्ति और समाज को एक बनाने में धर्म और विज्ञान दोनों सहायक होते हैं।

हमने देखा कि किस प्रकार दर्खाइम धर्म का अध्ययन सामूहिक एकात्मकता के संदर्भ में करता है। सामूहिक एकात्मकता व्यक्तियों में एकता उत्पन्न कर तथा समाज की पूजा करवा कर और अधिक मज़बूत और गहरी बन जाती है।

दर्खाइम के विचारों ने विशेष कर इंग्लैंड और फ्रांस के समाजशास्त्रियों और नृशास्त्रियों को प्रभावित किया। उसका भाँजा मार्सेल मॉस उन महत्वपूर्ण नृशास्त्रियों में से था जिन्होंने दर्खाइम की पद्धति को अपनाया। उस के विषय में आपको कोष्ठक 19.1 में जानकारी दी गई है।

**कोष्ठक 19.1 मार्सेल मॉस**

मार्सेल मॉस (1872.1950) एमिल दर्खाइम का भांजा था। लोरै (फ्रांस) के एक आत्मीय, धर्मनिष्ठ यहूदी परिवार में उसका जन्म हुआ। किन्तु मॉस ने यहूदी धर्म को नकार दिया। मॉस का अपने मामा के प्रति बहुत लगाव था और उसी के मार्गदर्शन में उसने बोर्दो में दर्शन-शास्त्र का अध्ययन प्रारंभ किया। दर्खाइम ने मार्सेल को पढ़ाई में बहुत सहायता की। इनके इस आपसी लगाव से एक ऐसा बौद्धिक संबंध पैदा हुआ जिसके परिणामस्वरूपा *फ़ार्म्स ऑफ़ प्रिमिटिव क्लासिफ़िकेशन* (दर्खाइम और मॉस, 1903) और ऐसी अन्य कृतियां लिखी गई। *"ऐनी सोश्योलोजीक"* नामक दर्खाइम द्वारा स्थापित पत्रिका में मॉस संपादक के रूप में काम करने लगा। इसी दौरान अन्य मेधावी नौजवान विद्वानों से उसका परिचय हुआ, जिनके साथ वह काम करने लगा। हयूबैर्ट, फ़ॉसोने, बीशा के साथ उसने धर्म, जादू-टोना, यज्ञ, बलि, प्रार्थना, स्वयं की परिकल्पना इत्यादि विषयों पर महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किये।

सैक्रिफ़ाइस: *इट्स नेचर एंड फ़ंक्शन* (ह्यूबर्ट और मॉस 1899) में यज्ञ का अध्ययन किया गया, जिसे पवित्र और लौकिक क्षेत्रों के बीच संपर्क के रूप से देखा गया। जिस वस्तु की यज्ञ में आहुति दी जाती है, उसका विनाश हो जाता है।

*द गिफ़्ट* (1925), मॉस की सबसे महत्वपूर्ण कृति मानी जाती है। प्राचीन समाजों में पायी जाने वाली भेंटों की लेन-देन की प्रणालियों पर मॉस ने ध्यान केन्द्रित किया। उसकी मुख्य परिकल्पनाएं इस प्रकार थीं: i) लेन-देन, जिसमें लेना, देना और भरपाई शामिल है। ये प्रत्येक समाज में पाये जाते हैं; ii) भेंटों का आदान-प्रदान सभी सामाजिक बंधनों को मजबूत करता है, चाहे वे सहकारी, प्रतिस्पर्धात्मक या संघर्षमय हों। मॉस ने सामाजिक व्यवस्था और लेन-देन के स्वरूप के बीच अंतर्संबंध दिखाने का प्रयास किया।

दोनों महा-युद्ध मॉस के जीवन में अनेक विपत्तियां लाये। पहले महा-युद्ध में उसने अनेक मित्र और सहकर्मी खो दिये। उसके प्रिय मामा दर्खाइम का पुत्र आंद्रे युद्ध में शहीद हो गया। यह सदमा दर्खाइम बर्दाश्त न कर सका और जल्द ही वह भी चल बसा। दूसरे महायुद्ध में फ्रांस में जर्मन सत्ता के दौरान मित्रों-सहकर्मियों को खोने का अनुभव उसे दोबारा झेलना पड़ा जिससे उसके मानसिक संतुलन पर बुरा असर हुआ। उसकी अनेक कृतियाँ अधूरी ही रह गईं। वह अपने बहुस्तरीय, व्यापक लेखों को इकट्ठा नहीं कर सका। 1950 में मॉस का देहान्त हो गया। आगे वाली पीढ़ी के लिये उसने एक महत्वपूर्ण बौद्धिक विरासत छोड़ दी। विशेष तौर पर ब्रिटिश और फ्रांसीसी समाजशास्त्री और नृशास्त्री उसके विचारों से अत्यंत प्रभावित हुए।

**बोध प्रश्न 2**

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो पंक्तियों में लिखिए।

i) टोटम पर आधारित कुल के सदस्य दूसरे कुल में ही विवाह क्यों करते हैं?

.....

.....

ii) दर्खाइम के अनुसार समाज को क्यों पूजा जाता है?

.....

.....

iii) दर्खाइम का कहना है कि धर्म और विज्ञान के बीच संघर्ष असंभव है। क्यों?

.....

.....

## 19.3 मैक्स बेबर का योगदान

मैक्स वेबर द्वारा प्रस्तुत धर्म के समाजशास्त्रीय अध्ययन का आधार है व्यक्तियों को कर्ता के रूप में देखना, और कर्ता द्वारा अपने परिवेश संबंधित व्यक्तिपरक अर्थ को समझना। वेबर अपना अध्ययन धार्मिक नीतियों या मान्यताओं पर केन्द्रित करता है, और अन्य सामाजिक उप-व्यवस्थाओं (जैसे कि अर्थव्यवस्थाओं और राजनीति) के साथ इनका पारस्परिक संबंध भी देखता है। इस प्रकार, वेबर की पद्धति में इतिहास का महत्व स्पष्ट होता है। इस पाठ्यक्रम के खंड 4, इकाई 15 में आपने वेबर द्वारा प्रस्तुत धर्म और आर्थिकी के बीच अंतर्संबंध का विस्तृत अध्ययन किया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वेबर ने धर्म संबंधी विभिन्न कृतियाँ लिखीं, जिनमें *द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पिरिट ऑफ़ कैपिटलिज़्म* और प्राचीन भारतीय, चीनी और यहूदी धर्म के तुलनात्मक अध्ययन प्रमुख हैं, देखिए इस पुस्तक के अंत में दी गई संदर्भ ग्रंथ सूची। इस भाग में वेबर की धर्म संबंधित तुलनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टि को स्पष्ट करने के लिये विश्व में विभिन्न धर्मों के बारे में उसके विचारों पर नज़र डाली जायेगी।

इस इकाई में हमने *प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पिरिट ऑफ़ कैपिटलिज़्म* का विवेचन तो नहीं किया है, फिर भी यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण कृति है।

इस कृति के मुख्य विचारों के बारे में आपने पहले विस्तार से पढ़ा है। इस खंड की इकाई 21 में भी (जिसमें पूँजीवाद के संबंध में वेबर के विचार दिये जायेंगे) इस पर पुन: चर्चा होगी। फिर भी, आपको यह सलाह दी जाती है कि आगे बढ़ने से पहले खंड 4 की इकाई 16 में प्रोटेस्टेंट नीतियों पर दी गई जानकारी पर एक सरसरी नज़र डालें। आइए, अब वेबर द्वारा प्रस्तुत विश्व के विभिन्न धर्मों से संबंधित कुछ मुद्दों का संक्षेप में अध्ययन करें। सबसे पहले भारतीय धर्मों पर उसके विचारों के बारे में पढ़ें।

### 19.3.1 भारतीय धर्म

1916 में लिखी गई *द रिलिजन ऑफ़ इंडिया* नामक कृति में वेबर हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म का उल्लेख करता है। उसके अनुसार हिन्दू धर्म को जाति व्यवस्था के संबंध में देखना चाहिए। जाति व्यवस्था शुरू में काम-काज में विशेषज्ञता पर आधारित थी। लेकिन कालान्तर में यह वंशानुगत हो गई, ब्राह्मण जाति सबसे शक्तिशाली बनी। इस जाति के सदस्यों को ही शास्त्र पढ़ने का अधिकार था, अत: पारंपरिक विचारों का प्रचार इन्हीं के हाथों में केन्द्रित रहा। निम्न

जातियाँ, खास कर के शूद्र अत्यंत शोषित थीं, चूकि उन्हें "अपवित्र" माना जाता था। इसलिये ये धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन से वंचित थीं। परिणामस्वरूप वे मोक्ष के लायक़ भी समझी नहीं जाती थीं। मोक्ष या मुक्ति ही हिन्दुओं का परम उद्देश्य माना जाता है। वेबर के अनुसार हिन्दू धर्म का मूल मंत्र "कर्म" की अवधारणा है। मनुष्य की परिस्थिति पिछले जन्म में किये गये अच्छे या बूरे कर्मों का फल है। यदि व्यक्ति इस जन्म में धर्मानुसार कर्म करे, तब अगले जन्म में इसका उचित फल मिलेगा। ब्राह्मण का धर्म है शास्त्रों का अध्ययन करना, क्षत्रिय का धर्म है उसकी प्रजा और भूमि की रक्षा करना, वैश्य का धर्म व्यापार है और शूद्र से अन्य जातियों की सेवा अपेक्षित है। पिछले कर्मों से ही इस जन्म में व्यक्ति की जाति निर्धारित होती है, और अगले जन्म में ऊँची जाति में जन्म लेने के लिये धर्म का पालन अति आवश्यक है। लेकिन सबसे परम लक्ष्य मोक्ष ही है, जिससे जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति मिलती है। मोक्ष ही जीवन की अनिश्चितता और दु:ख का अंतिम समाधान है।

भौतिक उन्नति वांछनीय है, किन्तु यह क्षणिक है। आध्यात्मिक उन्नति में स्थिरता है। आध्यात्मक पूँजी का मूल्य कभी कम नहीं होता। इसी के द्वारा जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति मिल सकती है। आध्यात्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति से ही मोक्ष मिलता है। वेबर यह दिखाने का प्रयास करता है कि इसी आध्यात्मिक संयम वाली प्रकृति ने पूँजीवाद को नहीं पनपने दिया। यह उल्लेखनीय है कि मध्यकालीन भारतीय नगर उत्पादन के विख्यात केन्द्र माने जाते थे। तकनीकी काफ़ी विकसित थी। भौतिक परिस्थितियाँ उपयुक्त थीं। परन्तु हिन्दू मान्यताओं के अनुरूप भौतिक क्षेत्र को विशेष महत्व नहीं दिया गया।

वेबर के अनुसार बौद्ध और जैन धर्म शान्तिप्रिय धर्म थे। इन्होंने हिन्दू धर्म की रूढ़ियों का विरोध किया। ये धर्म ध्यान (contemplation) पर ज़ोर देते थे। इनके अनुयायी सन्यासी या भिक्षुक थे, जिन्होंने लौकिक संसार को त्याग दिया था। सामान्य लोग भिक्षुक को दान देकर पुण्य प्राप्त कर सकते थे, परन्तु निर्वाण या मुक्ति पाने के लिये सांसारिकता को त्यागकर सन्यास लेना अनिवार्य था।

जाति व्यवस्था तथा हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म के विश्वास एक दूसरे के पूरक थे, और पूँजीवाद के पनपने में बाधक सिद्ध हुए, हालांकि पूँजीवाद के फूलने-फलने के लिये मध्यकालीन भारतीय नगर केन्द्र थे। भारत एक परंपरागत देश बना रहा जिसकी सामाजिक व्यवस्था अत्यंत मज़बूत थी (देखिये कॉलिन्स 1986: 111-118)।

### 19.3.2 चीनी धर्म

1916 में वेबर ने *द रिलिजन ऑफ़ चाइना* (चीनी धर्म) भी लिखी। चीन के पांरपरिक कन्फ्यूशियस धर्म का उल्लेख करते हुये उसने कहा कि यह धर्म भी प्रोटेस्टेंट धर्म की तरह "इहलौकिक आत्मसंयम"(this worldly asceticism) पर ज़ोर देता है। किन्तु प्रोटेस्टेंट नीतियाँ विश्व के नियंत्रण और परिवर्तन पर ज़ोर देती हैं जबकि दूसरी ओर कान्फ्यूशियस नीतियाँ संतुलन की परिकल्पना को अपनाती हैं। विश्व और ब्रह्मांड की व्यवस्था उपयुक्त अनुष्ठानों और कर्मकांडों द्वारा बनायी जाती है। बोलने-चालने के उचित ढंग को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता था। सत्ताधारी वर्ग (चीन का मंडारिन या पंडित वर्ग) बोलचाल के तरीक़ों और नीति नियमों का रक्षक था। सामाजिक व्यवस्था और संतुलन को बनाये रखने को इतना अधिक महत्व देने के परिणामस्वरूप विश्व को बदलने की प्रवृति (जो कि पूँजीवाद की मूल प्रवृति है) को प्रोत्साहन नहीं दिया गया। इस प्रकार कन्फ्यूशियस धर्म की प्रमुख नीतियाँ, संयम और संतुलन आदि पूँजीवाद की प्रवृति के विपरीत थीं।

### 19.3.3 प्राचीन यहूदी धर्म

*एंशिएंट जुडाइज़्म* नामक वेबर की महत्वपूर्ण कृति 1917 और 1919 के दौरान लिखी गई। पाश्चात्य समाज के परिवर्तनों को समझने के लिये यह कृति अत्यंत महत्वपूर्ण है।

यहूदी धर्म से ही इस्लाम और ईसाई धर्म का उद्गम हुआ। ये सभी धर्म विश्व के परिवर्तन पर ज़ोर देते हैं। आपने खंड 4, इकाई 16 में पढ़ा है कि किस प्रकार यहूदी धर्म पृथ्वी पर ही स्वर्ग निर्माण करने का विचार सामने लाता है। इस विचार के परिणाम अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इससे दुनिया को नियंत्रित कर उसे बदलने को अनुयायी प्रेरित होते हैं। परिवेश पर नियंत्रण पाना ही आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता का प्रमुख लक्षण है। यहूदी पैग़म्बर **नैतिक पैग़म्बर** थे, जिन्होंने अनुयाइयों को अपने आदेशों और संदेशों द्वारा एक जुट करने का प्रयास किया। वे फ़िलिस्तीन के असंतुष्ट, शोषित किसानों को यह सीख देते थे कि दैविक प्रकोप देश को नष्ट कर देगा। वे कहते थे कि ईश्वर शहरों में बसे ऐशो-आराम की ज़िन्दगी बिताने वाले सत्ताधारी वर्ग से क्रुद्ध था। जब तक इस वर्ग का पतन नहीं होता और ईश्वर के मार्ग पर चलने वाला समाज स्थापित नहीं होता तब तक फ़िलिस्तीन में खुशहाली नहीं हो सकती। इस्लाम और ईसाई धर्म में भी नैतिक पैग़म्बर होते हैं, जो एक विशिष्ट प्रकार की आचार-पद्धति का प्रचार करते हैं।

1920 में वेबर का देहान्त हो गया। ईसाई धर्म और इस्लाम पर वेबर के लेख अधूरे ही रह गये। वह विश्व के धर्म संबंधी अपने सारे शोधकार्य को मिलाकर पूँजीवाद के उदय और विकास से जुड़े इस प्रश्न का समाधान खोजना चाहता था, परन्तु इस स्वप्न को वह साकार नहीं कर सका।

आगे पढ़ने से पहले सोचिए और करिए 2 का पूरा करें।

**सोचिए और करिए 2**

उपरोक्त जानकारी को पढ़ने के बाद, धर्म पर वेबर के विचारों को ध्यान में रखते हुए पैग़म्बर मुहम्मद और ईसा मसीह के बारे में जानकारी इकट्ठा करें। इसके आधार पर दो पृष्ठ का लेख लिखें। आपके लेख में जो महत्वपूर्ण बातें होनी चाहिए वे इस प्रकार हैं : (क) उनकी जीवन वृतान्त (ख) उनके उपदेश (ग) उनके उपदेशों का प्रभाव।

इस भाग को पढ़कर शायद आपको यह लग रहा हो कि यह खंड 4, इकाई 16 की पुनरावृति है। किन्तु इसका उद्देश्य वेबर के धर्म संबंधी अध्ययन के मुख्य विषय यानि धार्मिक विचारों और मनुष्य के क्रियाकलाप के बीच संबंध को उजागर करना है। याद रहे, वेबर ने कर्ता की सार्थकता के संदर्भ में मानवीय कार्यों की व्याख्या की है। प्राचीन भारत में एक अछूत जाति व्यवस्था से विद्रोह क्यों नहीं कर सकता था इस प्रश्न के उत्तर में वेबर ने धार्मिक विश्वास पर आधारित उस व्यवस्था को दर्शाया, जिसमें व्यक्ति द्वारा विश्व को बदलने की रोक थी। इसी प्रकार **पूर्वनियति** और **ईश्वरीय आह्वान** की धारणाओं ने प्रोटेस्टेंट लोगों को मेहनत करने और पूँजी इकट्ठा करने के लिये प्रेरित किया। धर्म के संबंध में वेबर के विचारों से अनेक अमरीकी और भारतीय समाजशास्त्री प्रभावित हुए हैं।

वेबर की कृतियाँ पैगम्बरों की भूमिका को दर्शाती हैं। वेबर यह भी दिखाता है कि किस प्रकार धार्मिक विश्वास समाज के विशिष्ट वर्गों से संबंधित है। कन्फ्यूशियस धर्म सत्ताधारी मंडारिन वर्ग से जुड़ा था, हिन्दू धर्म जाति व्यवस्था को प्रोत्साहित करने वाले ब्रह्मणों से, और यहूदी धर्म शोषित, असंतुष्ट ग्रामीण लोगों से।

अगले भाग में, दर्खाइम और वेबर के विचारों की तुलना की जायेगी। लेकिन इससे पहले, बोध प्रश्न 3 के उत्तर दीजिए।

i) निम्नलिखित वाक्यों को रिक्त स्थानों की पूर्ति द्वारा पूरा करें।

क) वेबर के अनुसार, हिन्दू धर्म का प्रमुख विश्वास ..... है।

ख) हिन्दू धर्म का परम उद्देश्य ..... की प्राप्ति है।

ग) ..... की कन्फ्यूशियस कल्पना के कारण ही चीन में पूँजीवाद पनप नहीं सका।

घ) विश्व का ..... और ..... ही आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता का प्रमुख लक्षण है।

ड.) वेबर ने मानवीय क्रिया की व्याख्या के संदर्भ में की है।

## 19.4 दर्खाइम और वेबर: तुलना

प्रत्येक चिंतक की विचारपद्धति उसे एक दृष्टिकोण प्रदान करती है जिससे उसे व्यावहारिक मुद्दों का अध्ययन करने में मदद मिलती है। खंड की पहली इकाई में आपने पढ़ा है कि किस प्रकार दर्खाइम सामाजिक तथ्यों को बाहरी वस्तुओं की तरह देखता है। समाज का स्वतंत्र अस्तित्व (sui generis) है, समाज व्यक्ति के महले भी था, और व्यक्ति के बाद भी रहेगा। व्यक्ति को समाज का अंग बनाने के लिये समाज उस पर कुछ प्रतिबंध लगाता है।

दूसरी और वेबर व्यक्ति या कर्ता पर ध्यान केन्द्रित करता है। कर्ता की आचार पद्धति उसके मूल्यों और विश्वासों पर आधारित होती है। वेबर के अनुसार बोध अथवा जर्मन शब्द फ़र्स्टेहन (verstehen) द्वारा इनका अध्ययन करना समाजशास्त्री का उद्देश्य होना चाहिए। दर्खाइम तथा वेबर की इन विपरीत विचारधाराओं का प्रयास धर्म के अध्ययन द्वारा स्पष्ट होता है।

आइए, सबसे पहले दर्खाइम और वेबर की विश्लेषण की इकाइयाँ देखें। उन्होंने बहुत ही भिन्न धर्म-व्यवस्थाओं को चुना जिनकी सामाजिक पृष्ठभूमि भी बहुत भिन्न है।

### 19.4.1 विश्लेषण की इकाइयाँ

जैसे कि आपने पढ़ा है, दर्खाइम ने धर्म के सरलतम रूप का अध्ययन किया। उसने जनजातीय समाजों का अध्ययन किया है जिनमें सामूहिक जीवन अत्यधिक महत्वपूर्ण है। समान मान्यताएँ और भावनाएँ ऐसे समाजों को एकात्म करती हैं। इन समाजों का कोई लिखित इतिहास नहीं होता है। धर्म और कुल (clan) व्यवस्था का गहरा संबंध होता है। इस प्रकार दर्खाइम धर्म को एक सामूहिक तथ्य के रूप में देखता है जिससे सामाजिक बंधन और अधिक मज़बूत बनते हैं।

दूसरी ओर वेबर के विश्लेषण की इकाई में विश्व के विकसित धर्म के अध्ययन हैं। उनके ऐतिहासिक आधार और आर्थिक गतिविधियों में उनके योगदान पर उसका अपना ध्यान आकृष्ट होता है। वह विश्व के इन महान धर्मों को समकालीन सामाजिक परिस्थितियों की प्रतिक्रियाओं के रूप में देखता है। उदाहरण के लिये बौद्ध धर्म और जैन धर्म ने जाति व्यवस्था का विरोध किया गया। यहूदी धर्म शोषित फ़िलिस्तीनी ग्रामवासियों का धर्म था। प्रोटेस्टेंट धर्म कैथोलिक चर्च की विलासिताओं के प्रति विरोध का प्रतीक था। संक्षेप में दर्खाइम सरलतम धर्मों के अध्ययन द्वारा धर्म को सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने में सहायक मानता है। दूसरी ओर वेबर देखता है कि किस प्रकार आचार-विचार के नये तरीके विकसित करने में धर्म की रचनात्मक भूमिका होती है।

### 19.4.2 धर्म की भूमिका

यह कहा जा सकता है कि दर्खाइम धर्म को सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति मानता है। टोटम

की पूजा का वास्तविक अर्थ है, कुल (clan) की पूजा। इस प्रकार कुल द्वारा सम्मानित विचार और विश्वास व्यक्तिगत चेतना के अंग बन जाते हैं। पवित्र और लौकिक क्षेत्रों के बीच मध्यस्थता अनुष्ठानों द्वारा की जाती है। कुछ महत्वपूर्ण अनुष्ठानों में कुल के सारे सदस्य भाग लेते हैं, जिससे सामूहिक उत्साह उत्पन्न हो जाता है। व्यक्ति सामाजिक बंधनों में बाँधे जाते हैं, समाज की महानता और शक्ति का उन्हें अहसास दिलाया जाता है।

दूसरी ओर, वेबर धर्म को आर्थिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहता है। समाज की अन्य व्यवस्थाओं से उसका पारस्परिक संबंध किस प्रकार का है? समाज और धर्म एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं?

प्रत्येक समाज की अलग-अलग सांस्कृतिक विशेताओं पर वेबर ध्यान देता है। धर्म को वह उस व्यापक ऐतिहासिक प्रक्रिया का अंग मानता है, जिसके अंतर्गत पूँजीवाद, औद्योगीकरण और तर्कसंगति का विकास शामिल है। इस खंड की इकाई 21 में इस मुद्दे पर और अधिक विस्तार से चर्चा की जायेगी।

आपने पढ़ा कि किस प्रकार इन चिंतकों के विश्लेषण की इकाइयाँ भिन्न थीं। धर्म की भूमिका के संबंध में भी उनके विचार भिन्न-भिन्न थे। परिणामस्वरूप दर्खाइम और वेबर द्वारा इस्तेमाल की गई परिकल्पनाओं और अवधारणाओं में भी अंतर है। वेबर बिना झिझक के उन परिकल्पनाओं का प्रयोग करता है जिन्हें दर्खाइम ने हमेशा दूर रखा। आइए इस बात पर आगे और अधिक विस्तार से चर्चा करें।

**सोचिए और करिए 3**

विश्व के मानचित्र पर i) भारत ii) चीन iii) फ़िलिस्तीन iv) आस्ट्रेलिया को अंकित कीजिए। इन देशों में व्याप्त धर्मों की सूची बनाइए।

### 19.4.3 देवता, भूत-प्रेत और पैग़म्बर

दर्खाइम इस बात से सहमत नहीं है कि देवताओं, भूत-प्रेतों जैसी रहस्मय बातों से धर्म संबंधित है। वह मानता है कि स्वयं समाज को ही पूजा जाता है, जिसे प्रतीकात्मक वस्तुओं द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। वेबर देवताओं और भूत-प्रेतों के बारे में लिखने से नहीं हिचकता। याद रखें, वह ऐसे धर्मों का अध्ययन करता है जिनका विकास जनजातीय धर्मों की तुलना में बहुत देर से हुआ। इन धर्मों में व्यक्तिगत गुणों का समावेश है, और उनमें एक प्रकार की अमूर्तता है। अमूर्तता का संबंध प्रतीकात्मकता से होता है।

आइए, इस संदर्भ में टोटमवाद का उदाहरण लें। दर्खाइम के अनुसार, टोटम कुल का प्रतीक है। वेबर ऐसे टोटम का उदाहरण देता है जिसकी पूजा भी होती है, साथ-साथ उसकी आहुति देकर उसे खाया भी जाता है। ऐसी दावत में जनजाति के देवताओं और भूत-प्रेतों को भी बुलाया जाता है। टोटम प्राणी को खाने से कुल के सदस्यों में एकात्मता की भावना उत्पन्न होती है। वे मानते हैं कि प्राणी की आत्मा उनमें प्रवेश करती है। इस प्रकार के टोटम को एक चिन्ह या प्रतीक मात्र नहीं मानते हैं बल्कि उसका सार-तत्व आपस में बाँटकर (जो कि न सिर्फ हाड़-माँस अपितु आत्मा भी है) कुल के सारे सदस्य एकात्म हो जाते हैं।

दर्खाइम की तुलना में वेबर पैग़म्बरों की भूमिका को अधिक महत्वपूर्ण मानता है। यहूदी धर्म, इस्लाम और ईसाई धर्म के इतिहास में अनेक नैतिक पैग़म्बरों का उल्लेख है जिन्हें लोग ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे, और यह मानते थे कि ईश्वर के साथ पैग़म्बरों का सीधा सम्पर्क है। इस संदर्भ में इब्राहीम, मूसा, मुहम्मद, ईसा जैसे करिश्माई नेतृत्व वाले व्यक्तियों के नाम गिने जा सकते हैं, जिन्होंने लोगों को अत्यधिक आकृष्ट किया।

संक्षेप में, दर्खाइम इस बात को नकारता है कि धर्म मूलत: भूत-प्रेतों और देवताओं से संबंधित है। वह मानता है कि धर्म के द्वारा स्वयं समाज को ही पूजा जाता है ताकि सामाजिक बंधन और अधिक मज़बूत बनें और व्यक्ति समाज की शक्ति और अमरत्व को अनुभव कर सकें। वेबर धर्म के प्रतीकात्मक पक्ष पर ध्यान देता है। भूत-प्रेत और देवताओं जैसी अमूर्त कल्पनाएं इन्ही प्रतीकात्मक विचारों के उदाहरण होते हैं। धार्मिक विश्वासों का स्वरूप बदलने और पुननिर्मित करने में करिश्माई व नैतिक पैग़म्बरों के योगदान के संबंध में भी वह चर्चा करता है।

आइए, अब धर्म और विज्ञान के अंतर्संबध के बारे में दखाईम और वेबर के विचारों पर एक नज़र डालें।

### 19.4.4 धर्म और विज्ञान

जैसा कि आपने पढ़ा है, दर्खाइम धर्म और विज्ञान दोनों को सामूहिक प्रतिनिधान मानता है। वैज्ञानिक वर्गीकरण मूलत: धर्म से लिया जाता है। इस प्रकार, धर्म और विज्ञान के बीच कोई संघर्ष या भेद नहीं हो सकता है। वेबर इससे सहमत नहीं है। विश्व के धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उसने स्थापित किया कि किस प्रकार भारतीय और चीनी नेताओं ने पूँजीवाद को पनपने का अवसर नहीं दिया। प्रोटेस्टेंट धर्म ने ही तर्कसंगत पूँजीवाद के पनपने के लिये उपयुक्त विचारधारा प्रदान की। वेबर के अनुसार विज्ञान **तर्कसंगति** का प्रतीक है जो कि धर्म की रहस्यवादी और परंपरागत मान्यताओं को चुनौती देता है। विज्ञान मनुष्य को **आनुभाविक** जानकारी देता है और उसे अपने परिवेश को समझने में और उस पर नियंत्रण करने में सहायता देता है। इस प्रकार, वेबर मानता है कि धर्म और विज्ञान एक दूसरे से विपरीत हैं।

इन चिंतकों के विचारों की तुलना करना आसान नहीं है जिन समाजों की वे बात कर रहे हैं, वे इतने भिन्न हैं कि उनके निष्कर्ष में अंतर होना स्वाभाविक ही है। फिर भी कुछ बातें उल्लेखनीय है। दर्खाइम धर्म को वह माध्यम मानता है, जिसके द्वारा व्यक्ति समाज की भौतिक और नैतिक शक्ति को स्वीकार करता है। धर्म वस्तुओं और परिकल्पनाओं के वर्गीकरण का एक प्रयास है। विज्ञान का उद्गम इसी से होता है।

वेबर धर्म का अध्ययन अनुयाईयों द्वारा दिये गये अर्थों और उनके क्रियाकलापों और अन्य सामाजिक गतिविधियों पर उसके प्रभाव के संदर्भ में करता है, विज्ञान धर्म को चुनौती देता है, और भूत-प्रेतों को भगाकर उनकी जगह प्रयोगसिद्ध जानकारी स्थापित करता है।

धर्म के अध्ययन हेतु विचार दर्शन की दृष्टि से दर्खाइम एवं वेबर में तुलना करते हुए तालिका 19.1 में दिखाया गया है कि इन दोनों विचारकों ने किस प्रकार धर्म को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा।

| एमिल दर्खाइम का विचार दर्शन | मैक्स वेबर के विचार दर्शन |
|---|---|
| i) प्राचीन धर्मों का अध्ययन | विश्व के विकसित धर्मों का अध्ययन |
| ii) धर्म सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति है | धर्म, राजनीति, अर्थव्यवस्था, इतिहास आदि अंतर्संबंधित हैं |
| iii) "देवता", "भूत-प्रेत", "पैगम्बर" जैसी परिकल्पनाओं की उपेक्षा | इन्हीं परिकल्पनाओं का भरपूर इस्तेमाल |
| iv) धर्म और विज्ञान एक दूसरे के पूरक है। अत: इनके बीच संघर्ष नहीं है। | धर्म और विज्ञान विपरीत हैं। |

**तालिका 19.1: धर्म के अध्ययन हेतु विचार दर्शन**

**बोध प्रश्न 4**

निम्नलिखित वाक्यों को पूरा करें।

क) दर्खाइम धर्म के ..... रूप का अध्ययन करता है, जबकि वेबर ..... का अध्ययन करता है।

ख) ईसा, मूसा, ईब्राहीम और मोहम्मद ..... थे।

ग) भूत-प्रेत और देवता की कल्पनाएं ..... का परिणाम है।

## 19.5 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि एमिल दर्खाइम और मैक्स वेबर ने किस प्रकार धर्म को सामाजिक तथ्य मानकर उसका अध्ययन किया। सबसे पहले हमने दर्खाइम के विचारों पर चर्चा की। सरलतम धर्म का अध्ययन करने में उसका उद्देश्य, धर्म की व्याख्या, टोटमवाद का अध्ययन, धर्म और विज्ञान के बीच अंतर्संबधं के पक्षों पर हमने नज़र डाली।

इसके पश्चात् हमने वेबर के योगदान की चर्चा की। "प्रोटेस्टेंट एथिक" संबंधित उसके विचार न दोहराते हुए भी बार-बार उसका उल्लेख किया गया। हमने देखा कि किस प्रकार वेबर ने भारतीय और चीनी धर्मों और प्राचीन यहूदी धर्म का अध्ययन किया, और पूँजीवाद के उदय के संदर्भ में उसने किस प्रकार धर्म और अन्य सामाजिक उप-व्यवस्थाओं के बीच अंतर्संबंध को स्थापित किया।

अंत में हमने इन चिंतकों के विचारों में निम्नलिखित पक्षों में अंतर देखा।

1) विश्लेषण की इकाइयाँ
2) धर्म की भूमिका
3) परिकल्पनाओं और अवधारणाओं में अंतर
4) धर्म और विज्ञान का अंतर्संबंध।

## 19.6 शब्दावली

**दैवीकरण** — दिव्य स्तर प्रदान करना

**ईश्वरीय आह्वान** — काम काज को न सिर्फ आर्थिक आवश्यकता बल्कि धार्मिक कर्तव्य मानना

**सामूहिक उत्तेजना** — सामूहिक उत्साह की भावना। इससे व्यक्तियों के आपसी बंधन और अधिक मजबूत बन जाते हैं, और जिससे वे समाज में अपनी सदस्यता पर गर्व करते हैं।

**सामूहिक प्रतिनिधान** — इससे दर्खाइम का तात्पर्य है समाज के वे सभी विचार, कल्पनाएं और परिकल्पनाएं जो समान होती हैं। उदाहरण के लिये सौंदर्य, सत्य, सही, गलत आदि।

**नैतिक पैग़म्बर** — ये लोगों को प्रभावशाली उपदेश देते हैं, जो अक्सर धार्मिक होते हैं। वे पुरानी सामाजिक व्यवस्था का पतन चाहते हैं जिसे वे बुरा मानते हैं। वे अनुयायियों को एक नयी दिशा देते हैं और

ईश्वर से संपर्क सिद्ध करने के प्रयास करते हैं। यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम पैग़म्बरों के धर्म हैं।

**आनुभाविक** अनुभव, प्रेक्षण पर आधारित

**जादू-टोना** प्रकृति को व्यक्तिगत स्वार्थ्य हेतु प्रभावित करने का प्रयास। लगभग सभी सरल समाजों में और कई विकसित समाजों में भी यह पाया जाता है।

**पूर्व नियति** एक कैल्विविनिवादी (प्रोटेस्टैंट) विश्वास। इसके अनुसार यह माना जाता है कि व्यक्ति को मुक्ति के लिये ईश्वर द्वारा चुना जाता है। चुनाव ईश्वर की इच्छा पर आधारित है, और व्यक्ति इस संबंध में कुछ नहीं कर सकता है।

**तर्क संगति** पाश्चात्य सभ्यता का मुख्य लक्षण। इसके द्वारा जीवन को नियंत्रित, नियमबद्ध बनाया जाता है। व्यक्ति अपने परिवेश का गुलाम न रहकर उसका मालिक बन जाता है।

**पवित्र और लौकित क्षेत्र** दर्खाइम के अनुसार विश्व को इन दो क्षेत्रों में बांटा जाता है। पवित्र क्षेत्र, शुद्ध और उच्च स्तर का होता है। जबकि लौकिक क्षेत्र साधारण या आम वस्तुओं से संबद्ध है।

**टोटमवाद** प्राचीन धर्म जिसमें किसी पशु, पेड़ पौधे आदि को समूह का पूर्वज माना जाता है, जिसकी पूजा होती है।

## 19.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आरों, रेमों, 1970. *मेन करैंट्स इन सोशियोलॉजिकल थॉट* खंड 1 और 2, पेंगगुइन बुक्स: लंदन (वेबर और दर्खाइम से संबंधित भाग देखें)

कालिन्स, रैंडल, 1986. मैक्स वेबर: *ए स्केलेटन की*. सेज पब्लिकेशन इंक: बेवर्ली हिल्स

जोन्स, रॉबर्ट एलन, 1986. एमिल दर्खाइम: *ऐन इंट्रोडक्शन टू फ़ोर मेज़र वर्क्स*. सेज पब्लिकेशन इंक: बेवर्ली हिल्स

## 19.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) क) इससे जटिल धर्म को समझना आसान हो जाता है।
   ख) विश्वास और अनुष्ठान
   ग) आम, साधारण वस्तुओं

ii) दर्खाइम के अनुसार जादू टोना निजी और स्वार्थी मामला है। इसमें जादूगर और ग्राहक के बीच ही संबंध होता है। दूसरी ओर धर्म सार्वजनिक और सामाजिक है। सामाजिक बंधनों द्वारा अनुयायी एक दूसरे के साथ जुड़ जाते हैं। इस प्रकार, सामाजिक एकात्मता को बढ़ावा मिलता है।

**बोध प्रश्न 2**

i) टोटम के सदस्य अपने आप को एक समान पूर्वज के वंशज मानते है। इसलिए खून का रिश्ता न होते हुए भी वे एक दूसरे से शादी नहीं कर सकते हैं।

ii) समाज व्यक्ति से पहले था और उसके जाने के बाद भी रहेगा। समाज व्यक्ति से ज्यादा शक्तिशाली और अमर है, अत: उसे पूजा जाता है।

iii) दर्खाइम धर्म और विज्ञान दोनों को सामूहिक प्रतिनिधान मानता है। उसके अनुसार, विज्ञान का उद्गम धर्म से ही हुआ। व्यक्ति, प्रकृति और समाज को समझने के इन दोनों प्रयासों (विज्ञान और धर्म द्वारा) के बीच संघर्ष अंसभव है।

**बोध प्रश्न 3**

i) क) कर्म की धारणा
   ख) मोक्ष
   ग) संतुलन
   घ) नियंत्रण, परिवर्तन
   ड) कर्ता की सार्थकर्ता

**बोध प्रश्न 4**

i) क) सरलतम, विश्व के धर्मो
   ख) नैतिक पैगम्बर
   ग) प्रतीकात्मकता

# इकाई 20 श्रम विभाज़न: दर्खाइम और मार्क्स

इकाई की रूपरेखा


20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 सामाजिक-आर्थिक परिवेश और श्रम विभाजन से तात्पर्य

- 20.2.1 सामाजिक-आर्थिक परिवेश
- 20.2.2 श्रम विभाजन से तात्पर्य
- 20.2.3 श्रम विभाजन और आर्थिक प्रगति

20.3 श्रम विभाजन पर दर्खाइम के विचार

- 20.3.1 श्रम विभाजन के प्रकार्य
- 20.3.2 श्रम विभाजन के कारण
- 20.3.3 श्रम विभाजन के असामान्य रूप

20.4 श्रम विभाजन पर मार्क्स के विचार

- 20.4.1 सामाजिक श्रम विभाजन तथा औद्योगिक श्रम विभाजन
- 20.4.2 औद्योगिक श्रम विभाजन के परिणाम
- 20.4.3 मार्क्स द्वारा समस्या का हल: क्रांति और बदलाव

20.5 दर्खाइम तथा मार्क्स के विचारों की तुलना

- 20.5.1 श्रम विभाजन के कारण
- 20.5.2 श्रम विभाजन के परिणाम
- 20.5.3 श्रम विभाजन के संबंधित समस्याओं के समाधान
- 20.5.1 समाज के बारे में दर्खाइम का "प्रकार्यात्मक" मॉडल और मार्क्स का "संघर्ष" मॉडल

20.6 सारांश

20.7 शब्दावली

20.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

20.9 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 20.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए संभव होगा

- दर्खाइम की पुस्तक *डिविज़न ऑफ़ लेबर इन सोसाइटी* में व्यक्त श्रम विभाजन के विचारों का विवेचन करना
- श्रम विभाजन पर कार्ल मार्क्स के विचार प्रस्तुत करना
- श्रम विभाजन पर दर्खाइम और मार्क्स के विचारों की तुलना करना।

## 20.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हमने "श्रम विभाजन" पर एमिल दर्खाइम तथा मार्क्स के विचारों में समानताओं और विषमताओं का अध्ययन किया है।

प्रारम्भ में, भाग 20.2 में उस सामाजिक-आर्थिक परिवेश की संक्षेप में चर्चा ही जायेगी जिसमें इन दोनों चिंतकों ने अपने विचार व्यक्त किए। इसके पश्चात् "श्रम विभाजन" की अवधारणा की व्याख्या की जाएगी।

भाग 20.3 में हमने श्रम विभाजन के संबंध में एमिल दर्खाइम के विचारों को समझने का प्रयास किया है। ये विचार उस ने पी.एच.डी. डिग्री के लिए प्रस्तुत अपने शोध प्रबंध "द डिवीज़न ऑफ़ लेबर सोसाइटी" (1893) में प्रस्तुत किये थे।

भाग 20.4 में इस विषय पर कार्ल मार्क्स के दृष्टिकोण का विवेचन किया जाएगा।

अंतिम भाग 20.5 में इन दोनों विचारकों के दृष्टिकोणों की तुलना की जाएगी।

## 20.2 सामाजिक-आर्थिक परिवेश और "श्रम विभाजन" से तात्पर्य

इन उप-भागों में प्रारम्भ में हमने दर्खाइम तथा मार्क्स के समय की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की जानकारी दी है। इससे उनके विचारों को अच्छी तरह समझने में सहायता मिलेगी। इसके बाद हमने यह जानने का प्रयास किया है कि "श्रम विभाजन" से तात्पर्य क्या है और इसमें क्या-क्या बातें शामिल है? श्रम विभाजन क्यों होता है? इस भाग में हमने इन्हीं पक्षों की चर्चा की है।

### 20.2.1 सामाजिक-आर्थिक परिवेश

दर्खाइम तथा मार्क्स के जीवन-काल में यूरोप में "औद्योगिक क्रांति" चल रही थी। इस पाठ्यक्रम में आपने पहले ही पढ़ा है कि औद्योगिक क्रांति के दौरान उत्पादन की तकनीकों में परिवर्तन हुए। छोटे स्तर पर घरेलू और कुटीर उत्पादन के स्थान पर कारखानों में व्यापक उत्पादन होने लगा।

यह परिवर्तन आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा। शहरों और उनकी जनसंख्या में बढ़ोतरी हुई और इसके साथ ही ग़रीबी, अपराध वृद्धि तथा अन्य समस्याएं सामने आईं। सामाजिक स्थिरता और व्यवस्था पर भी आँच आने लगी। परम्परागत सामंतवादी समाज व्यवस्था डगमगा उठी और आधुनिक औद्योगिक समाज का जन्म हुआ। इस बदलते हुए समाज को समझने के प्रयास दर्खाइम और मार्क्स द्वारा किये गये। हमें यह देखना है कि किस प्रकार श्रम विभाजन की प्रक्रिया के प्रति उन्होंने भिन्न दृष्टिकोण अपनाये। यह प्रक्रिया औद्योगीकरण के कारण दिनों-दिन महत्वपूर्ण होती जा रही थी।

आइए, अब हम यह समझने की कोशिश करें कि श्रम विभाजन से तात्पर्य क्या है।

### 20.2.2 श्रम विभाजन से तात्पर्य

श्रम विभाजन का अर्थ है किसी काम को कई भागों अथवा छोटी प्रक्रियाओं में विभाजित करना। ये छोटी प्रक्रियाएं अलग-अलग व्यक्तियों या समूहों द्वारा संपादित की जाती हैं और इस प्रकार काम करने की गति बढ़ जाती है। आइए यह बात हम एक उदाहरण से समझें। एक कमीज़ बनाने के लिए यदि आप पूरा काम अपने आप करें तो बहुत समय लगेगा। यदि कुछ दोस्त भी इस काम में मददगार बन जाएं तो काम बहुत जल्दी निपट जाएगा। एक व्यक्ति कपड़े की कटाई करे, दूसरा मशीन से सिलाई कर दे, तीसरा हाथ की सिलाई का काम कर दे तो उसमें समय और ताक़त दोनों की काफ़ी बचत हो जाएगी। जितने समय में एक व्यक्ति अकेले एक कमीज़ तैयार करे उतने समय में मित्रों के साथ मिलकर कई कमीज़ें तैयार हो सकती है। इस तरह श्रम का बंटवारा कर समय बचा तथा उत्पादकता भी बढ़ी।

श्रम विभाजन में विशेषता पनपती है अर्थात प्रत्येक व्यक्ति अपने काम का विशेषज्ञ है, जिससे लागत में बचत होने के साथ-साथ उत्पादकता में वृद्धि होती है।

### 20.2.3 श्रम विभाजन और आर्थिक प्रगति

स्काटलैंड के अर्थशास्त्री एडम स्थिम ने अपनी पुस्तक *वैल्थ ऑफ़ नेशन्स* (1776) में श्रम विभाजन की अवधारणा का व्यवस्थाबद्ध विश्लेषण किया। स्मिथ का विचार था कि श्रम विभाजन आर्थिक प्रगति का मुख्य स्रोत है। यही आर्थिक विकास का वाहन है। कोष्ठक 20.1 में आपको एडम स्मिथ के संबंध में और अधिक पढ़ने को मिलेगा।

**कोष्ठक 20.1: एडम स्मिथ**

आधुनिक अर्थशास्त्र के संस्थापकों में एडम स्मिथ का नाम गिना जाता है। एडिनबरा (स्काटलैंड) के पास स्थित किर्कॉल्डी नामक छोटे से शहर में 1723 में उसका जन्म हुआ। किर्कॉल्डी में उसकी प्रारम्भिक शिक्षा हुई और 1740 में उसने एडिनबरा विश्वविद्यालय से एम ए डिग्री प्राप्त की। इसके पश्चात् वह आक्सफ़ोर्ड गया। 1751 में उसे ग्लास्गो विश्वविद्यालय में नैतिक दर्शन का प्राध्यापक नियुक्त किया गया। इसी पद पर वह 1763 तक रहा और इस दौरान उसने अपनी पहली कृति *द थ्योरी ऑफ़ मॉरल सेंटिमैंटस* भी लिखी।

यूरोप में दो साल रहने के पश्चात् उसने अपनी महान कृति *द वैल्थ ऑफ़ नेशन्स* लिखनी शुरू की। यूरोप में वह अनेक दार्शनिकों से मिला, खास तौर पर फ्रांसीसी दार्शनिक वॉल्टैर, जिनसे वह अत्यंत प्रभावित हुआ। *द वैल्थ आफ़ नेशन्स* मार्च 1776 में प्रकाशित हुई। इस कृति में उसने आर्थिक विकास के इतिहास, कारण और सीमाओं का अध्ययन करने का प्रयास किया। स्मिथ के अनुसार आर्थिक विकास का मूल स्त्रोत इस तथ्य में है कि मनुष्य द्वारा अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के निंरतर प्रयास होते हैं। स्मिथ के अनुसार आर्थिक विकास की गति बढ़ाने वाली प्रक्रिया श्रम विभाजन है। अपने व्यापक अध्ययन और तीक्ष्ण प्रेक्षण द्वारा इकट्ठा किये गये अनेक आकड़ों का उसने प्रयोग किया जो कि आज भी अर्थशास्त्रियों के लिए उपयोगी हैं।

*द वेल्थ ऑफ़ नेशन्स* को सामाजिक विज्ञान की सबसे महत्वपूर्ण कृतियों में गिना जाता है क्योंकि यह प्रतिस्पर्धात्मक और व्यक्तिवादी औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था का व्यवस्थित अध्ययन करने के पहले प्रयासों में से एक है। इस कृति में समकालीन समाज और सरकार का मूल्यांकन और कड़ी आलोचना भी शामिल हैं। स्मिथ को आर्थिक मामलों में सरकारी हस्तक्षेप से सख्त विरोध था। वह मानता था कि मनुष्यों को अपने आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए पूरी स्वतंत्रता देनी चाहिये, जिससे न सिर्फ़ व्यक्तिगत लाभ बल्कि सामाजिक उद्धार भी होगा। इस कृति के प्रकाशन के पश्चात् स्मिथ एडिनबरा में बस गया। 17 जुलाई 1790 को उसका देहांत हुआ। अर्थशास्त्रीय विचार के इतिहास में एक महत्वपूर्ण हस्ती के रूप में उसे याद किया जाता है।

अभी तक हमने श्रम विभाजन के अर्थ की आर्थिक संदर्भ में व्याख्या की है। इसका सामाजिक पक्ष भी है। एमिल दर्खाइम ने अपनी पुस्तक *द डिवीज़न ऑफ़ लेबर इन सोसाइटी* में इसी सामाजिक पहलू का विवेचन किया। अगले भाग में इस पुस्तक के प्रमुख मुद्दों की चर्चा की जाएगी। परंतु पहले बोध प्रश्न 1 को तो पूरा कर लें।

**बोध प्रश्न 1**

i) निम्नलिखित वाक्यों में खाली स्थान भरिए।

क) औद्योगिक क्रांति के दौरान वस्तुओं के ..... उत्पादन के स्थान पर कारखानों में ..... उत्पादन होने लगा।

ख) औद्योगीकरण के कारण ..... अधिक महत्वपूर्ण होता जा रहा था।

ग) ..... ने कहा कि श्रम विभाजन आर्थिक विकास का मुख्य स्त्रोत है।

ii) निम्नलिखित वाक्यों के सामने ग़लत या सही लिखिए।

क) श्रम विभाजन से समय की बरबादी होती है। गलत/सही

ख) दर्खाइम श्रम विभाजन के आर्थिक पहलू का अध्ययन करना चाहता था। ग़लत/सही

ग) श्रम विभाजन से विशेषज्ञता को बढ़ावा मिलता है। ग़लत/सही

## 20.3 श्रम विभाजन पर दर्खाइम के विचार

इकाई 18 में हमने पढ़ा कि समाजशास्त्री के रूप में दर्खाइम का मुख्य विषय सामाजिक व्यवस्था तथा एकीकरण रहा। समाज को एक सूत्र में पिरोए रखने वाली शक्ति कौन-सी है? किन बातों के कारण यह एक पूर्ण इकाई बना रहता है? पहले हमने यह देखा है कि दर्खाइम के पूर्ववर्ती विद्वानों जैसे आगॅस्ट कॉम्ट और हर्बर्ट स्पेंसर के विषय पर क्या विचार थे।

ऑगस्ट कॉम्ट की मान्यता है कि सामाजिक तथा नैतिक सर्वसम्मति ही समाज को एक बनाए रखने के लिए ज़िम्मेदार है। विचारों, मूल्यों, नियमों आदि की समानता मनुष्यों और समाज को एक सूत्र में पिरोए रखती है।

हर्बर्ट स्पेंसर का विचार इससे भिन्न है। उसके अनुसार व्यक्तियों के निजी स्वार्थों के कारण समाज एकजुट बना रहता है। एकताबद्ध रहने से व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति होती है और इस प्रकार सामाजिक जीवन संभव हो जाता है।

किन्तु दर्खाइम के विचार इन दोनों दृष्टिकोणों से मेल नहीं खाते। कॉम्ट के कथनानुसार यदि नैतिक सर्वसम्मति के कारण ही समाज बना रहता है तो आधुनिक औद्योगिक समाज का टिके रहना असंभव है। आधुनिक समाज में विषमता गतिशीलता और कार्यों तथा मूल्यों में विविधता विद्यमान है। ऐसे समाज में व्यक्तिवाद को महत्व दिया जाता है। दर्खाइम ने स्पेंसर के इस कथन का भी खंडन किया कि स्वार्थ के कारण समाज एकजुट रहता है। यदि व्यक्तिगत स्वार्थ ही सब कुछ होता तो उसके कारण पैदा होने वाली अंधी होड़ तथा कटुता के कारण समाज का आधार ही टूट जाता। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की हानि की परवाह किए बिना अपने ही फ़ायदे के लिए संघर्ष करता रहता। इस प्रकार टकराव तथा तनाव से सामाजिक विखंडन हो जाता।

प्रश्न यह है कि क्या व्यक्तिवाद, सामाजिक एकीकरण तथा सामंजस्य का शत्रु है? क्या औद्योगीकरण से सामाजिक एकता छिन्न-भिन्न हो जाएगी? दर्खाइम के विचार इससे कुछ भिन्न हैं।

उसके अनुसार औद्योगिक क्रांति से पहले और बाद के समाजों में सामाजिक एकता के आधार तथा मूलभूत अलग-अलग रहे हैं। वह यह दिखाता है कि किस प्रकार विषमता, भिन्नता तथा जटिलता के ग्रस्त समाज में विशेषज्ञता अथवा श्रम विभाजन से एकता का संचार होता है। जैसा कि आपने खंड 3 में पढ़ा, ये वे समाज हैं जो सावयवी एकात्मता पर आधारित हैं। अगले उप-भागों में हमने यह जानने की कोशिश की है कि दर्खाइम ने निम्नलिखित संदर्भों में श्रम विभाजन का विवेचन किस प्रकार किया।

i) श्रम विभाजन के कार्य

ii) श्रम विभाजन के कारण

iii) श्रम विभाजन की सामान्य रूपों से भिन्नता अर्थात् असामान्य रूप

## 20.3.1 श्रम विभाजन के प्रकार्य

जैसा कि आपने पहले पढ़ा है दर्खाइम ने समाजों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया।

i) "यांत्रिक एकात्मता" पर आधारित समाज

ii) "सावयवी एकात्मता" पर आधारित समाज

### i) यांत्रिक एकात्मता

जैसा कि आपको मालूम है, यांत्रिक एकात्मता से अभिप्राय है समरूपता अथवा एक जैसा होने की एकात्मता। ऐसी अनेक समरूपताएं तथा घनिष्ठ सामाजिक रिश्ते होते हैं जो व्यक्ति को उसके समाज से बांधे रहते हैं। सामूहिक चेतना अत्यंत सुदृढ़ होती है। सामूहिक चेतना से हमारा अभिप्राय उन समान विश्वासों तथा भावनाओं से है जिनके आधार पर समाज के लोगों के आपसी संबंध परिभाषित होते हैं। सामूहिक चेतना की शक्ति इस प्रकार के समाजों को एकजुट रखती है और व्यक्तियों को दृढ़ विश्वासों और मूल्यों के माध्यम से जोड़े रखती है। इन मूल्यों को उपेक्षा या उल्लंघन को बहुत गंभीर माना जाता है। दोषी लोगों को कठोर दण्ड मिलता है। यहां यह बताना आवश्यक है कि यांत्रिक एकात्मता पर आधारित समाज में एकरूपता अथवा समरूपता की एकात्मता है। व्यक्तिगत भिन्नताएं बहुत कम होती हैं तथा श्रम का विभाजन अपेक्षाकृत सरल स्तर का होता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के समाजों में व्यक्तिगत चेतना सामूहिक चेतना में विलीन हो जाती है।

### ii) सावयवी एकात्मता

सावयवी एकात्मता से दर्खाइम का तात्पर्य है भिन्नताओं एवं भिन्नताओं की पूरकता पर आधारित एकात्मता। एक कारख़ाने का उदाहरण लें। वहां कामगार तथा प्रबंधक के कार्य, आय, सामाजिक प्रस्थिति आदि में काफ़ी अंतर है। किन्तु साथ ही वे एक-दूसरे के **पूरक** हैं। श्रमिकों के बिना प्रबंधक का होना व्यर्थ है और श्रमिकों को संगठित होने के लिए प्रबंधकों की आवश्यकता है। उनका अस्तित्व ही एक दूसरे पर निर्भर है।

सावयवी एकात्मता पर आधारित समाज औद्योगीकरण के विकास से प्रभावित और परिवर्तित होते हैं। इसलिए श्रम विभाजन इस प्रकार के समाजों का उल्लेखनीय पक्ष है। सावयवी एकात्मता पर आधारित समाज वे समाज होते हैं, जिनमें विषमता, भिन्नता तथा विविधता होती है। **विषमरूपी** समाज में बढ़ती हुई ये जटिलता विभिन्न तरह के व्यक्तित्व में संबंधों तथा समस्याओं में प्रतिबिंबित होती है। ऐसे समाजों में व्यक्तिगत चेतना विशिष्ट हो जाती है और सामूहिक चेतना दुर्बल होने लगती है। व्यक्तिवाद का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। यांत्रिक एकात्मता में सामाजिक प्रतिमान का जो बंधन व्यक्तियों पर रहता है, वह ऐसे समाजों में ढीला पड़ जाता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा स्वायत्तता का सावयविक एकात्मता पर आधारित समाज में उतना ही महत्व होता है, जितना सामाजिक एकात्मता का महत्व यांत्रिक एकात्मता पर आधारित समाजों में होता है।

क्या इसका अर्थ यह है कि आधुनिक समाज में एकीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है? दर्खाइम का कहना है कि श्रम विभाजन ऐसी प्रक्रिया है, जो समाज को एकजुट रखने में सहायक होगी। किन्तु यह कैसे होगा? जैसे कि हमने पहले देखा है, श्रम विभाजन का अर्थ कुछ खास कामों को मिल-जुलकर करना है। दूसरे शब्दों में इसे सहयोग कहा जा सकता है। काम में अधिक विभाजन के साथ साथ दो मुख्य परिणाम सामने आते हैं। एक ओर तो प्रत्येक व्यक्ति अपने क्षेत्र में विशेषज्ञ है जिससे अपने विशेष क्षेत्र में नई पहल तथा सृजन का समावेश संभव है। दूसरी ओर, व्यक्ति

की समाज पर अधिकाधिक निर्भरता होती जाती है। सहयोग तथा पूरकता इस प्रकार के समाजों के अनिवार्य तत्व होते हैं। दर्खाइम के अनुसार, इस प्रक्रिया से उत्पन्न सावयविक एकात्मता यांत्रिक एकात्मता की तुलना में उच्च स्तर की होती है। इससे यह संभव होता है कि व्यक्ति अपनी पहल और स्वंतत्रता से काम लें और साथ ही एक-दूसरे से तथा समाज से जुड़े रहें। इस प्रकार जो प्रक्रिया व्यक्तिवाद तथा सामाजिक एकता दोनों के विकास में सहायक है, वह है श्रम विभाजन। इस अवधारणा के तात्पर्य को पूरी तरह से समझने हेतु सोचिए और करिए 1 को पूरा करें।

**सोचिए और करिए 1**

घर-परिवार में श्रम का विभाजन कैसे होता है? निम्नलिखित मुद्दों पर लगभग दो पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए। i) कार्य का स्वरूप और विभाजन ii) घर-परिवार को सुचारू रूप से चलाने के लिए श्रम-विभाजन किस हद तक सहायक अथवा बाधक सिद्ध होता है। यदि संभव हो तो अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणियों से अपनी टिप्पणी का मिलान कीजिए।

आइए, अब हम दर्खाइम द्वारा बताए गए श्रम विभाजन के कारणों का विवेचन करें।

## 20.3.2 श्रम विभाजन के कारण

श्रम विभाजन की प्रक्रिया के लिए कौन-से तत्व ज़िम्मेदार हैं या इसके कारण क्या हैं? दर्खाइम ने इस प्रश्न का समाजशास्त्रीय उत्तर प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार समाज में भौतिक तथा नैतिक सघनता में वृद्धि के फलस्वरूप श्रम विभाजन अस्तित्व में आता है। भौतिक सघनता (material density) से दर्खाइम का अभिप्राय है किसी समाज में व्यक्तियों की संख्या बढ़ना अर्थात् जनसंख्या वृद्धि। नैतिक सघनता (moral density) से तात्पर्य है संख्या में वृद्धि के फलस्वरूप लोगों के परस्पर संबंधों में तीव्रता आना।

भौतिक एवं नैतिक सघनता में बढ़ोतरी के परिणामस्वरूप अस्तित्व के लिए संघर्ष पैदा होता है। यांत्रिक एकात्मता वाले समाज में लोगों में यदि समानता पनपती है तो एक जैसे लाभ और स्रोत प्राप्त करने के लिए संघर्ष और प्रातियोगिता भी जन्म लेते हैं। जनसंख्या में वृद्धि और प्राकृतिक संसाधनों में कमी आने से यह होड़ और तेज़ हो जाएगी। किन्तु श्रम विभाजन के फलस्वरूप व्यक्ति विभिन्न क्षेत्रों और कार्यों के विशेषज्ञ बन जाते हैं। इस प्रकार वे सह-अस्तित्व से रहते हैं, तथा एक-दूसरे के पूरक बनते हैं। किन्तु यह आदर्श स्थिति क्या सदैव बनी रहती है? दर्खाइम का इस संबंध में क्या मत है, इसकी भी समीक्षा कर ली जाए।

## 20.3.3 श्रम विभाजन के असामान्य रूप

यदि-श्रम विभाजन समाज में नई तथा उच्चतर एकात्मता क़ायम करने में सहायता देता है तो तत्कालीन यूरोपीय समाज में अव्यवस्था क्यों थी? क्या श्रम विभाजन से समस्याएं पैदा हो रही थीं?

दर्खाइम के अनुसार, उस समय श्रम का जो विभाजन हो रहा था, वह सामान्य प्रकार का नहीं था, जिसके बारे में उसने लिखा था। समाज में असामान्य प्रकार का श्रम विभाजन हो रहा था या सामान्य श्रम विभाजन के विपरीत काम हो रहा था। संक्षेप में इनमें निम्नलिखित असामान्य रूप शामिल थे।

### i) प्रतिमानहीनता (anomie)

इसका अर्थ है एक ऐसी स्थिति जिसमें सामाजिक नियम निरर्थक बन गये हैं। भौतिक जीवन में तेज़ी से बदलाव आता है, परन्तु नियम, रीति-रिवाज तथा मूल्य उसी गति से नहीं बदलते। ऐसा लगता है कि नियम और प्रतिमान पूरी तरह टूट गये हैं। कार्यक्षेत्र में यह स्थिति कामगारों तथा प्रबंधकों के बीच टकराव के रूप में प्रकट होती है। काम में गिरावट आती है, व्यर्थ के काम होते हैं तथा वर्ग-संघर्ष में वृद्धि होती है।

सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि लोग काम करते हैं और उत्पादन भी करते हैं, किन्तु उन्हें अपने काम की कोई सार्थकता प्रतीत नहीं होती। उदाहरण के लिए कारख़ाने में **असेम्बली लाइन** के श्रमिकों को दिनभर कील ठोंकने, पेच कसने जैसे सामान्य तथा उकता देने वाले काम करने पड़ते है। उन्हें अपने काम की कोई सार्थकता नज़र नहीं आती। उन्हें यह एहसास नहीं कराया जाता कि वे कोई उपयोगी काम कर रहे हैं। उन्हें यह भी नहीं बताया जाता कि वे समाज के महत्वपूर्ण अंग है। कारख़ाने के काम से संबंधित नियमों और विधियों में इतना परिवर्तन नहीं किया गया कि श्रमिकों के काम को सार्थक माना जाए और उन्हें यह अनुभूति हो कि समाज में उनका भी महत्वपूर्ण स्थान है।

### ii) असमानता (inequality)

दर्खाइम के अनुसार, अवसर की असमानता पर आधारित श्रम विभाजन स्थायी एकता लाने में विफल रहता है। श्रम विभाजन के इस प्रकार के असमान्य रूप से व्यक्तियों में समाज के प्रति कुंठा और नाराज़गी पैदा होती है। इस प्रकार तनाव, कटुता, द्वेष तथा विरोध-भाव पनपने लगते हैं। भारतीय जाति-व्यवस्था को असमानता पर आधारित श्रम विभाजन का उदाहरण माना जा सकता है। लोगों को अपनी क्षमता नहीं बल्कि जन्म के आधार पर विशेष प्रकार के काम करने पड़ते है। यह स्थिति उन लोगों के लिए अत्यंत दुखदायी है, जो कुछ अन्य संतोषप्रद तथा लाभप्रद काम करने के इच्छुक हैं, किन्तु उचित अवसरों से वंचित हैं।

### iii) अपर्याप्त संगठन

इस असामान्य रूप में श्रम विभाजन का मूल उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। काम समुचित रूप से संगठित तथा समन्वित नहीं होता। कामगार प्राय: निरर्थक कामों में लगे रहते हैं। कार्य एकता का अभाव रहता है। इसलिए एकात्मता भंग हो जाती है और अव्यवस्था फैल जाती है। बहुत से दफ्तरों में आपने अनेक कर्मचारियों को खाली बैठे देखा होगा। कई लोगों को तो पता ही नहीं होता कि उनका काम क्या है। जब अधिकतर लोगों को अपने कर्तव्य की जानकारी तक न हो तब सामूहिक कार्य कठिन हो जाता है। श्रम विभाजन से उत्पादकता और एकीकरण में वृद्धि होनी चाहिये। जो उदाहरण हमने अभी बताया है, उससे विपरीत स्थिति बन जाती है अर्थात् उत्पादकता कम होती है तथा एकीकरण का ह्रास होता है (देखिए गिडन्स, 1978:21.23)।

इस इकाई में हमने अभी तक यह देखा है कि दर्खाइम श्रम विभाजन को केवल आर्थिक ही नहीं, सामाजिक क्रिया भी मानता है। उसके अनुसार इसकी भूमिका आधुनिक औद्योगिक समाज को एकजुट बनाना है। जो भूमिका सामूहिक चेतना यांत्रिक एकात्मता के मामले में निभाती थी, वही भूमिका श्रम विभाजन सावयविक एकात्मता के लिए निभाता है। श्रम विभाजन का जन्म बढ़ती हुए भौतिक तथा नैतिक सघनता के कारण उपजी अस्तित्व की होड़ से होता है। विशेषज्ञता ऐसी स्थिति का निर्माण सकती है जिसमें विभिन्न व्यक्ति एक-साथ रह सकते हैं और परस्पर सहयोग कर सकते हैं। परन्तु समकालीन यूरोपीय समाज में श्रम-विभाजन के भिन्न और नकारात्मक परिणाम सामने आए। सामाजिक व्यवस्था के लिए गंभीर ख़तरा पैदा हो गया।

दर्खाइम इस स्थिति को श्रम विभाजन के सामान्य रूप से पृथकता का नाम देता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, वह इसे तीन रूपों में परिभाषित करता है। ये रूप है: (i) **प्रतिमानहीनता** जिसमें श्रम विभाजन से संबंधित नए नियम तथा सिद्धांत अस्तित्व में नहीं आते, (ii) असमानता, जिसके फलस्वरूप असंतोष, तनाव और संघर्ष पैदा होता है, और (iii) अपर्याप्त संगठन, जिससे श्रम का बंटवारा निरर्थक बन जाता है और बिखराव तथा विखंडन को बल मिलता है।

आइए, अब हम अगले भाग की ओर बढ़ें तथा श्रम विभाजन के बारे में कार्ल मार्क्स के विचारों का अध्ययन करें। किन्तु उससे पूर्व बोध प्रश्न 2 को पूरा कीजिए।

**बोध प्रश्न 2**

i) निम्नलिखित कथनों में से सही अथवा ग़लत बताइए।

क) ऑगस्ट कॉम्ट ने सामाजिक एकता की व्याख्या व्यक्तिगत हितों के संदर्भ में की।
सही/गलत

ख) दर्खाइम मानता था कि नैतिक सर्वसम्मति आधुनिक औद्योगिक समाज को बांधे हुए है।
सही/गलत

ग) दर्खाइम के अनुसार, व्यक्तिवाद तथा सामाजिक एकीकरण एक-दूसरे के शत्रु हैं।
सही/गलत

घ) दर्खाइम के अनुसार, सावयविक एकात्मता में सामूहिक चेतना और सुदृढ़ हो जाती है।
सही/गलत

ii) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर चार पंक्तियों में दीजिए।

क) दर्खाइम के अनुसार सावयविक एकात्मता यांत्रिक एकात्मता से उच्च क्यों हैं?

.....

.....

.....

.....

ख) भौतिक तथा नैतिक सघनता श्रम विभाजन का कारण कैसे बनती है?

.....

.....

.....

.....

ग) प्रतिमानहीनता से दर्खाइम का क्या अभिप्राय है?

.....

.....

.....

.....

## 20.4 श्रम विभाजन पर मार्क्स के विचार

अगले उप-भागों में हमने निम्नलिखित पक्षों को मार्क्स की दृष्टि से समझने का प्रयास किया है

i) सामाजिक श्रम विभाजन तथा उद्योग अथवा निर्माण में श्रम विभाजन के बीच मार्क्स द्वारा किया गया भेद

ii) औद्योगिक श्रम विभाजन के विभिन्न पक्ष

iii) श्रम विभाजन से उत्पन्न समस्याओं के लिए मार्क्स के समाधान अर्थात् क्रांति और परिवर्तन।

### 20.4.1 सामाजिक श्रम विभाजन तथा औद्योगिक श्रम विभाजन

सबसे पहले यह समझना होगा कि मार्क्स के अनुसार श्रम विभाजन का अर्थ क्या है। मार्क्स ने अपनी पुस्तक *कैपीटल* के पहले भाग में इस विषय का विवेचन करते हुए श्रम विभाजन के दो प्रकारों का उल्लेख किया है। ये दो प्रकार हैं: सामाजिक श्रम विभाजन और औद्योगिक श्रम विभाजन।

i) **सामाजिक श्रम विभाजन:** यह सभी समाजों विद्यमान है। यह ऐसी प्रक्रिया है जिसका होना अनिवार्य है ताकि किसी समाज के सदस्य सामाजिक एवं आर्थिक जीवन को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए आवश्यक कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकें। यह समाज में श्रम के सभी उपयोगी रूपों को विभाजित करने की जटिल प्रणाली है। उदाहरण के लिए कुछ लोग किसान हैं जो खाद्य पदार्थ का उत्पादन करते हैं और कुछ हस्तशिल्प की वस्तुएं तो कुछ हथियार एवं अन्य सामान तैयार करते हैं।

सामाजिक श्रम विभाजन से विभिन्न समूहों के बीच वस्तुओं के आदान-प्रदान को बढ़ावा मिलता है। उदाहरण के लिए, कुम्हार द्वारा बनाए गए मिट्टी के बर्तनों के बदले किसान के चावल या बुनकर से कपड़ा प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार के लेन-देन से विशेषज्ञता पनपती है।

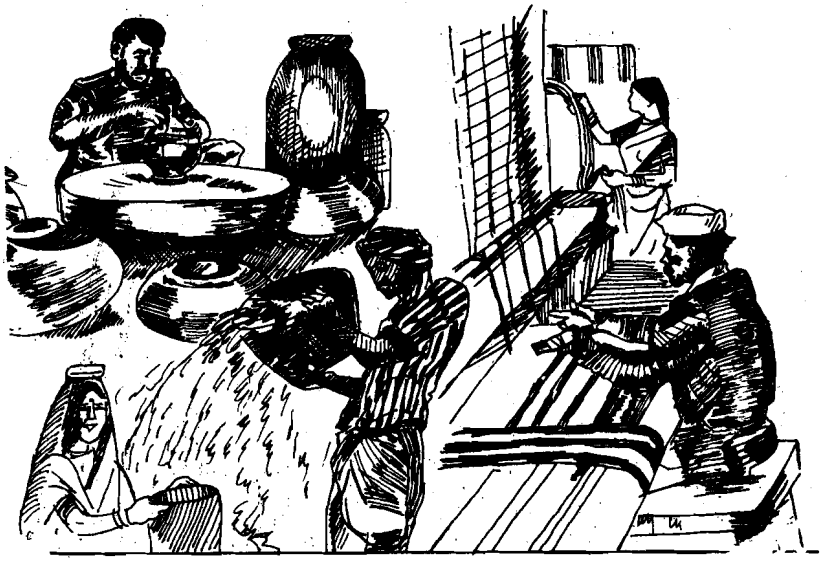

**चित्र 20.1: सामाजिक श्रम विभाजन**

ii) **औद्योगिक श्रम विभाजन:** यह प्रक्रिया औद्योगिक समाजों में विद्यमान है, जहां पूँजीवाद तथा उत्पादन की फैक्टरी व्यवस्था प्रचलित है। इस प्रक्रिया में किसी वस्तु के निर्माण को अनेक प्रक्रियाओं में बांट दिया जाता है। प्रत्येक श्रमिक का काम एक छोटी प्रक्रिया (जैसे कि एसेम्बली लाइन का काम) तक सीमित रहता है। यह काम सामान्यत: नीरस तथ उकता देने वाला होता है। श्रम के इस विभाजन का उद्देश्य एकदम सरल है। यह है उत्पादकता बढ़ाना। जितनी अधिक उत्पादकता होगी, उतना ही ज्यादा उससे उत्पन्न **अतिरिक्त मूल्य (surplus value)** होगा। यह अतिरिक्त मूल्य ही पूँजीपतियों को अपनी उत्पादन प्रक्रिया को इस प्रकार नियोजित करने की प्रेरणा देता है, जिससे कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन किया जाए। आधुनिक औद्योगिक समाजों में श्रम विभाजन के बल पर ही माल का व्यापक स्तर पर उत्पादन हो रहा है। सामाजिक श्रम विभाजन में स्वतंत्र उत्पादक अपनी वस्तुएं तैयार कर दूसरे स्वतंत्र निर्माताओं के साथ उनका आदान-प्रदान करते हैं, किन्तु औद्योगिक श्रम विभाजन भिन्न है इसमें कामगार का अपने उत्पाद से कोई सरोकार

नहीं रहता। आइए अब हम इस मुद्दे पर अधिक विस्तार से अध्ययन करें जिससे औद्योगिक श्रम विभाजन के परिणाम को समझा जा सकता है। औद्योगिक श्रम विभाजन को पूरी तरह से समझने हेतु सोचिए और करिए 2 को पूरा करें।

**सोचिए और करिए 2**

किसी कारख़ाने अथवा हस्त-शिल्प उद्योग में श्रम विभाजन और उसके संभावित परिणामों का अध्ययन कीजिए। इसके आधार पर लगभग दो पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए। यदि संभव हो तो अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणियों से अपनी टिप्पणी का मिलान कीजिए।

## 20.4.2 औद्योगिक श्रम विभाजन के परिणाम

i) **लाभ पूँजीपतियों के हिस्से में:** जैसा कि पहले बताया गया है, औद्योगिक श्रम विभाजन से अतिरिक्त मूल्य के अधिक से अधिक उत्पादन में सहायता मिलती है, जिससे पूँजी की मात्रा बढ़ती जाती है। मार्क्स ने अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न किया है कि लाभ किसके हिस्से में जाता है? उसके अनुसार लाभ कामगारों के नहीं बल्कि पूँजीपतियों के हिस्से में जाता है। लाभ पर उनका हक़ नहीं है, जो वास्तव में उत्पादन करते हैं, बल्कि उनका कहना है जिनका उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण है। मार्क्स के अनुसार श्रम विभाजन तथा निजी सम्पति की प्रथा, ये दोनों तत्व मिलकर पूँजीपति की ताक़त को और मज़बूत करते है। चूंकि उत्पादन के साधनों का मालिक पूँजीपति है, इसलिए उत्पादन की प्रक्रिया इस ढंग से निर्धारित की जाती है कि उसका अधिकतम लाभ पूँजीपति को ही मिले।

ii) **कामगारों का अपने उत्पादन पर नियंत्रण नहीं रहता:** मार्क्स के अनुसार, निर्माण में श्रम विभाजन के फलस्वरूप श्रमिक का उत्पादन के वास्तविक निर्माता का दर्जा समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत, वे पूँजीपतियों द्वारा तैयार की गई उत्पादन श्रृंखला की एक कड़ी मात्र बन जाते हैं (देखिये चित्र 20.2: उत्पादन में श्रम विभाजन)। श्रमिकों को उनके अपने श्रम से बनाई गई वस्तु से अलग कर दिया जाता है। सच तो यह है कि वे अपने श्रम के अंतिम परिणाम को देख तक नहीं पाते। उसके क्रय-विक्रय पर उनका कोई नियंत्रण नहीं होता। उदाहरण के लिए भारत में वाशिंग मशीन के कारख़ाने की असेम्बली लाइन में काम करने वाला मज़दूर क्या अंतिम रूप से तैयार वाशिंग मशीन को देख पाता है। हाँ हो सकता है किसी विज्ञापन अथवा दुकान में रखी वाशिंग मशीन को वह देख लेता है। वह उस मशीन के निर्माण की प्रक्रिया का एक छोटा सा हिस्सा मात्र है और न उसे बेचने में उसकी कोई दखल है और न ही वह उसे खरीद पाने में सक्षम है। उस पर वास्तविक नियंत्रण पूँजीपतियों का है। स्वतंत्र निर्माता या उत्पादक के रूप में श्रमिक का अस्तित्व मिट चुका है। उत्पादन प्रक्रिया ने श्रमिक को गुलाम बना दिया है।

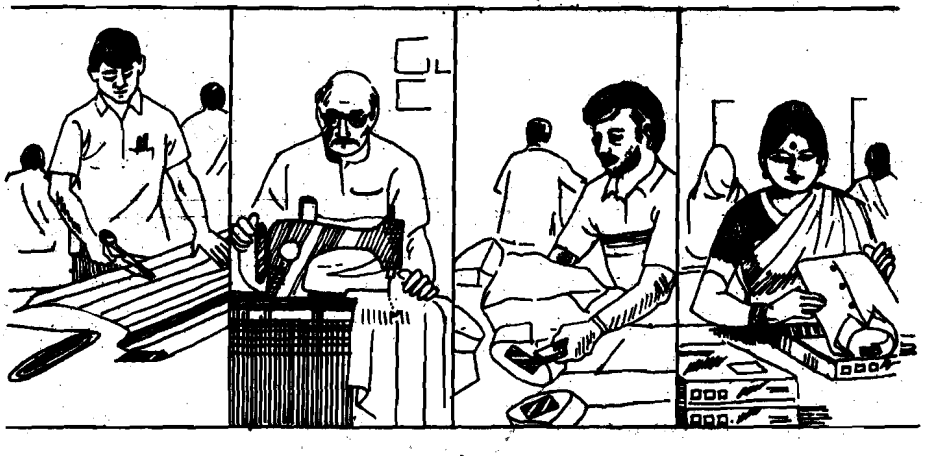

**चित्र 20.2: उत्पादन में श्रम-विभाजन**

iii) **श्रमिक वर्ग का अमानवीकरण**: श्रम विभाजन से युक्त पूँजीवादी प्रणाली में वस्तुओं के स्वतंत्र उत्पादक के रूप में श्रमिकों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वे उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम शक्ति के पूर्तिकर्ता मात्र रह जाते हैं। श्रमिका का अलग व्यक्तित्व उसकी ज़रूरतें तथा इच्छाएँ पूँजीपति के लिए कोई महत्व नहीं रखतीं। पूँजीपति की चिंता यही रही है कि मज़दूरी या वेतन के बदले पूँजीपति श्रमिक की श्रम-शक्ति मिलती रहे। मार्क्स के अनुसार श्रमिक वर्ग का मानव-रूप इस प्रकार विलुप्त हो जाता है और श्रम-शक्ति एक वस्तु बन कर रह जाती है जिसे पूँजीपति द्वारा ख़रीदा जाता है।

iv) **अलगाव: (alienation)** मार्क्स ने औद्योगिक जगत की यथार्थ स्थितियों को समझने की जो अवधारणाएँ विकसित की हैं, उनमें से एक महत्वपूर्ण अवधारणा है अलगाववाद जिसके बारे में खंड 2 में जानकारी दी जा चुकी है।

उत्पादन तथा श्रम विभाजन की प्रक्रिया श्रमिक को उकता देने वाले काम बार-बार करने को विवश करती है। श्रमिक का अपने ही काम पर कोई नियंत्रण नहीं होता। जिस वस्तु का निर्माण होता है, उसकी उत्पादन प्रक्रिया के श्रमिक भाग हैं परंतु उससे तथा अपने सहयोगी श्रमिकों और अंतत: पूरे समाज से श्रमिक एक तरह से कट जाते हैं (देखें कोलकोवस्की 1978: 281-287)। नियंत्रण रहने, अमानवीय और अलगाव आदि की समस्याओं का क्या कोई समाधान है? मार्क्स का कहना है कि निजी सम्पत्ति की व्यवस्था समाप्त करना और वर्ग-विहीन समाज की रचना से ही इन समस्याओं का समाधान होगा।

### 20.4.3 मार्क्स द्वारा समस्या का हल: क्रांति और बदलाव

क्या श्रमिक को उत्पादन प्रक्रिया का गुलाम बनने को विवश किया जाये? क्या श्रमिकों की रचनात्मक शक्ति तथा उनके अपने काम पर नियंत्रण को समाप्त करके उनपर श्रम विभाजन हमेशा के लिए थोपा जा सकता है? मार्क्स का कहना है कि सामाजिक श्रम विभाजन का जारी रहना आवश्यक है ताकि मानव जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। परन्तु औद्योगिक श्रम विभाजन को नया रूप देना होगा। सर्वहारा वर्ग की क्रांति के माध्यम से निजी सम्पत्ति को समाप्त करके श्रमिक वर्ग अपने ऊपर थोपे गए श्रम विभाजन से मुक्ति पा सकता है।

मार्क्स की मान्यता है कि साम्यवादी समाज की स्थापना से उत्पादन के साधनों पर श्रमिकों का स्वामित्व एवं नियंत्रण हो सकेगा। पुनर्गठित उत्पादन प्रक्रिया के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता को पहचानेगा और अपनी रचनात्मक शक्ति का उपयोग करेगा। मार्क्स और ऐंगल्स (जर्मन *आइडियोलॉजी*, भाग 1, अनुभाग I.A.I) ने अपने दृष्टिकोण को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है।

> साम्यवादी समाज में, जिसमें किसी व्यक्ति का कोई विशिष्ट कार्यक्षेत्र नहीं होता, किन्तु, प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी कार्य में दक्षता प्राप्त कर सकता है, समाज ही सामान्य उत्पादन को नियंत्रित करता है और इस प्रकार मेरे लिए यह संभव हो जाता है कि मैं आज एक काम करूं तथा कल कोई और कार्य कर सकूं। संभव है कि मैं सबेरे शिकार पर निकल जाऊँ, दोपहर बाद मछली पकड़ूं, शाम को पशु-पालन करुं और रात्रिभोज के पश्चात् आलोचना करुं। ये सभी काम शिकारी, मछुआरा, चरवाहा या आलोचक कहलाए बिना अपनी इच्छा के अनुसार करना मेरे लिए संभव है।

इस चर्चा में हमने देखा कि कार्ल मार्क्स ने सामाजिक श्रम विभाजन और औद्योगिक श्रम विभाजन में किस प्रकार भेद किया। सभी समाजों में भौतिक जीवन के आधार के लिए सामाजिक श्रम विभाजन आवश्यक है। किन्तु औद्योगिक श्रम-विभाजन औद्योगीकरण तथा पूँजीवाद के विकास के कारण ही अस्तित्व में आता है।

उत्पादन में श्रम विभाजन के अस्तित्व के निम्नलिखित पक्ष हैं।

i) लाभ पूँजीपति के हिस्से में जाता है।

ii) श्रमिकों का अपने उत्पादों पर नियंत्रण नहीं रहता।

iii) श्रमिक वर्ग का अमानवीकरण होता है।

iv) सभी स्तरों पर अलगाव पैदा होता है।

इन समस्याओं से निपटने के लिए मार्क्स ने "सर्वहारा की क्रांति" का उद्घोष किया, जिसमें निजी सम्पत्ति समाप्त हो जाएगी और उत्पादन के साधनों का स्वामित्व मज़दूरों के हाथों में चला जाएगा। इसके फलस्वरूप उत्पादन प्रक्रिया स्वयं श्रमिकों द्वारा विकसित और संचालित हो सकेगी तथा श्रमिकों को अपनी रचनात्मक शक्ति को इस्तेमाल करने और विभिन्न कार्यों में श्रेष्ठता प्राप्त करने के अवसर मिल सकेंगे। उकता देने वाली तथा शोषक कार्य पद्धति उनपर नहीं थोपी जाएगी।

आइए, अब बोध प्रश्न 3 को पूरा करें।

**बोध प्रश्न 3**

i) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर तीन पंक्तियों में दीजिए।

क) "सामाजिक श्रम विभाजन" से मार्क्स का क्या अभिप्राय था?

.....

.....

.....

ख) औद्योगिक श्रम विभाजन के फलस्वरूप श्रमिक अपने उत्पादों पर नियंत्रण खो देते हैं।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

ii) सही विकल्प पर निशान लगाइए।

क) मार्क्स के अनुसार, श्रमिक वर्ग का अमानवीकरण हो जाता है क्योंकि

i) कारखानों में मशीनों से काम होने लगता है।

ii) श्रमिकों को श्रम-शक्ति का पूर्तिकर्ता मात्र समझा जाता है।

iii) श्रमिक अपने द्वारा निर्मित वस्तुएं नहीं खरीद सकते।

ख) उत्पादन के प्रति श्रमिक अलगाव महसूस करते हैं क्योंकि

i) उन्हें एक जैसे काम बार-बार करने पड़ते हैं।

ii) लाभ में उनका कोई हिस्सा नहीं होता और अपने उत्पादों पर उनका कोई नियंत्रण नहीं होता।

iii) वे वेतन के बदले अपनी श्रम शक्ति बेचते हैं।

ग) साम्यवादी क्रांति के फलस्वरूप

i) श्रम विभाजन पूर्णतया समाप्त हो जाएगा।

ii) औद्योगिक श्रम विभाजन में कोई परिवर्तन नहीं होगा।

iii) उत्पादन प्रक्रिया स्वयं श्रमिकों द्वारा विकसित और संचालित होगी।

## 20.5 दर्खाइम तथा मार्क्स के विचारों की तुलना

हमने श्रम विभाजन के बारे में दर्खाइम तथा मार्क्स के विचारों का अलग-अलग अध्ययन किया है। आइए, अब हम उनके विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करें। आसानी के लिए निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत श्रम विभाजन पर दोनों चिंतकों के विचारों की तुलना की जा रही है।

i) श्रम विभाजन के कारण

ii) श्रम विभाजन के परिणाम

iii) श्रम विभाजन से संबंधित समस्याओं के समाधान

iv) समाज के बारे में दर्खाइम का प्रकार्यात्मक मॉडल और मार्क्स का संघर्ष मॉडल

### 20.5.1 श्रम विभाजन के कारण

दर्खाइम और मार्क्स, दोनों ने सरल पारम्परिक समाज और जटिल औद्योगिक समाज में विद्यमान श्रम विभाजन में स्पष्ट भेद किया है। श्रम विभाजन किसी भी समाज के सामाजिक-आर्थिक जीवन का अनिवार्य अंग है। किन्तु उन्होंने औद्योगिक समाजों में होने वाले श्रम विभाजन पर ही अधिक ध्यान दिया है।

दर्खाइम के अनुसार, औद्योगिक समाजों में श्रम विभाजन भौतिक तथा नैतिक सघनताओं में वृद्धि का परिणाम है। जैसा कि हमने पहले पढ़ा वह विशेषज्ञता अथवा श्रम विभाजन को एक साधन मानता है जिसके ज़रिए स्पर्धा या अस्तित्व के संघर्ष को कम किया जा सकता है। विशेषज्ञता ऐसा गुण है जिससे बड़ी संख्या में लोगों के लिए बिना लड़ाई-झगड़े के मिल-जुलकर रहना संभव होता है क्योंकि समाज में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशिष्ट भूमिका रहती है। इससे सामूहिकता और सह-अस्तित्व का विकास होता है।

मार्क्स भी उत्पादन में श्रम विभाजन को औद्योगिक समाज की एक विशेषता मानता है, परन्तु उसकी मान्यता दर्खाइम की मान्यता से भिन्न है। वह इसे सहयोग एवं सह-अस्तित्व का साधन नहीं मानता है। इसके विपरीत, उसकी धारणा यह है कि श्रम विभाजन श्रमिकों पर थोपी गई एक प्रक्रिया है ताकि लाभ पूँजीपति के हिस्से में जाए। वह इस प्रक्रिया को निजी सम्पत्ति के अस्तित्व के साथ जोड़ता है। इससे उत्पादन के साधनों पर पूँजीपति का नियंत्रण रहता है। इसीलिए पूँजीपति ऐसी प्रक्रिया तैयार करते हैं जिसमें उनको अधिक से अधिक लाभ मिले। इस प्रकार श्रम विभाजन को श्रमिकों पर थोपा जाता है। मज़दूर वेतन के बदले अपनी श्रम-शक्ति बेचते हैं। उनमें एक जैसे उकता देने वाले तथा एक ही तरह के काम कराए जाते हैं। ताकि उत्पादकता बढ़ने के साथ-साथ पूँजीपति के लाभ में भी वृद्धि हो।

संक्षेप में, दर्खाइम की मान्यता है कि श्रम विभाजन के कारण इस तथ्य में निहित हैं कि औद्योगिक समाज को बनाए रखने के लिए व्यक्ति को सहयोग करने तथा विभिन्न प्रकार के काम करने की आवश्यकता है। मार्क्स के अनुसार श्रम विभाजन श्रमिकों पर थोपी गई प्रक्रिया है, जिसका उद्देश्य पूँजीपति का लाभ बढ़ाना है। दर्खाइम सहयोग पर बल देता है, जबकि मार्क्स ने शोषण एवं संघर्ष पर अपना ध्यान केंद्रित किया है।

### 20.5.2 श्रम विभाजन के परिणाम

आधुनिक औद्योगिक समाजों में श्रम विभाजन के कारणों के संबंध में दृष्टिकोण भिन्न होने के

कारण श्रम विभाजन के परिणामों के मामले में भी दर्खाइम और मार्क्स के दृष्टिकोण में अंतर होना स्वाभाविक है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, दर्खाइम श्रम विभाजन को ऐसी प्रक्रिया मानता है, जो लोगों में सहयोग एवं सह-अस्तित्व विकसित करने में सहायक है। हमने पहले ही पढ़ा है कि किस प्रकार वह श्रम विभाजन को सामाजिक एकीकरण की शक्ति मानता है, जिससे एकात्मता को बढ़ावा मिलता है। "सामान्य" स्थिति में श्रम विभाजन से प्रत्येक व्यक्ति का अपनी विशेष भूमिका निभाते हुए सामाजिक एकात्मता में योगदान होता है। प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने विशिष्ट क्षेत्र में रचनात्मक और नवोन्मुखता की अपनी शक्ति का विकास हो सकता है। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति की समाज पर अधिकाधिक निर्भरता होगी और परस्पर पूरक कार्य किये जायेंगे। इस प्रकार, सामाजिक बंधन अधिक पक्के तथा स्थायी होते जाते हैं।

दर्खाइम के अनुसार, श्रम का अपर्याप्त संगठन एवं असमानता पर आधारित मानकशून्य विभाजन श्रम विभाजन का व्याधिकीय अथवा असामान्य रूप है। इस प्रकार के रूप वास्तविक श्रम विभाजन के परिणाम नहीं हैं। ये समाज की अस्थिरता के परिणाम हैं। नए आर्थिक संबंधों के नियम और सिद्धांत अभी व्यवहार में नहीं आए हैं। आर्थिक क्षेत्र में बड़ी तीव्रता से परिवर्तन हो रहा है, किन्तु इसे सही दिशा देने वाले नए नियम-कानून अभी व्यवस्थित रूप में विकसित नहीं हुए हैं।

दूसरी ओर, मार्क्स की दृष्टि में श्रम विभाजन पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों पर थोपी गई एक प्रक्रिया है। जैसा कि हमने पहले भी पढ़ा है, इसके फलस्वरूप श्रमिक वर्ग का अमानवीकरण हो जाता है। अलगाववाद उभर जाता है। श्रमिक व्यक्ति की बजाय वस्तु के रूप में देखे जाते हैं। उनकी सृजनात्मकता छीन ली जाती है और अपनी ही उत्पादों के नियंत्रण से वे वंचित हो जाते हैं। उनका श्रम सामग्री का रूप ले लेता है, जिसे बाज़ार में खरीदा और बेचा जा सकता है। इस प्रकार वे स्वयं उत्पादक न रहकर उत्पादन प्रक्रिया का अंग मात्र बन जाते हैं। उनके नियोजकों यानी मालिकों के लिए उनके व्यक्तित्व और उनकी समस्याओं का कोई महत्व नहीं रहता। उन्हें काम करने की मशीन से अधिक कुछ नहीं समझा जाता। इस प्रकार उनका पूर्णतया अमानवीकरण हो जाता है। वे एक ऐसी व्यवस्था के अंग होते हैं जिसके नियंत्रण से वे वंचित हैं, जिसके परिणामस्वरूप सभी स्तरों पर अलगाव महसूस करते हैं; अपने काम से लेकर साथियों और सामाजिक व्यवस्था तक से वे कट जाते हैं।

संक्षेप में, दर्खाइम की नज़र में श्रम विभाजन ऐसी प्रक्रिया है, जो सामाजिक सामंजस्य का आधार बन सकती है। मार्क्स के अनुसार, यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिससे श्रमिक का अमानवीकरण होता है और अलगाव बढ़ जाता है तथा उत्पादक का अपनी रचना से संबंध टूट जाता है। श्रमिकों को जिस व्यवस्था का स्वामी होना चाहिए, उसके ही वे गुलाम बन कर रह जाते हैं।

### 20.5.3 श्रम विभाजन से संबंधित समस्याओं के समाधान

जैसे कि हमने पढ़ा है दर्खाइम श्रम विभाजन को ऐसी प्रक्रिया मानता है जो सामान्य परिस्थितियों में सामाजिक सामंजस्य का कारण बनती है। समाज में श्रम विभाजन के जो असामान्य रूप प्रचलित हो जाते हैं, उनको इस प्रकार सुधारा जाना चाहिए जिससे श्रम विभाजन सामाजिक एकीकरण की अपनी भूमिका निभा सके।

दर्खाइम का कहना है कि समाज में श्रमिकों को उनकी भूमिका के प्रति जागरूक बनाकर प्रतिमानहीनता की स्थिति को दूर किया जा सकता है। उनमें यह एहसास कराने से कि वे सामाजिक जीवन के अभिन्न अंग है, निरर्थक कार्य करने की उनकी कुंठा को दूर किया जा सकता है। तब यह निरर्थकता उनकी उत्पादक भूमिका के महत्व के प्रति चेतना का रूप ले लेगी।

मार्क्स के अनुसार, पूँजीवाद ही वास्तव में मूल समस्या है। श्रम विभाजन से अमानवीकरण,

अलगाव और नियंत्रण के अभाव जैसी स्थितियां जन्म लेती है। इसका समाधान है क्रांति, जिसके माध्यम से उत्पादन के साधनों पर श्रमिकों का फिर से नियंत्रण हो सकेगा। वे तब उत्पादन प्रक्रिया का विकास और संचालन इस ढंग से करेंगे कि अमानवीकरण और अलगाव जैसी समस्याएँ अतीत का विषय बन जाएँगी।

### 20.5.4 समाज के बारे में दर्खाइम का "प्रकार्यात्मक" मॉडल और मार्क्स का "संघर्ष" मॉडल

श्रम विभाजन के अध्ययन के आधार पर दर्खाइम ने **समाज का प्रकार्यात्मक मॉडल** विकसित किया। वह इसमें देखता है कि किस प्रकार सामाजिक संस्थाएं तथा प्रक्रियाएं समाज को बनाएं रखने में सहायक होती हैं। इसके बारे में आपने इसी खंड की इकाई 18 में पढ़ा है। दर्खाइम सामाजिक संतुलन के प्रश्न का स्पष्टीकरण देने का प्रयास करता हैं। हमें याद रखना चाहिए कि दर्खाइम के जीवन काल में समाज की व्यवस्था पर खतरे मंडरा रहे थे। इसलिए संभवत: उसका काम यह दिखाना था कि जो परिवर्तन हो रहे हैं उनसे समाज-व्यवस्था छिन्न-भिन्न नहीं होगी, बल्कि नए समाज में सामंजस्य लाने में सहायता मिलेगी। दर्खाइम श्रम विभाजन के आर्थिक पहलू मात्र को नहीं बल्कि उसके सामाजिक पहलू अर्थात् सामाजिक एकीकरण में उसके योगदान को भी महत्व देता है।

दूसरी ओर औद्योगीकरण की चुनौतियों के प्रति मार्क्स की प्रतिक्रिया एकदम भिन्न है। वह दर्खाइम की इस मान्यता से सहमत नहीं है कि समाज मूलत: संतुलित स्थिति में है और सामाजिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं का अस्तित्व केवल इसलिए है कि वे समाज को एक बनाए रखने में सहायक है। मार्क्स मानव इतिहास को वर्ग संघर्ष अथवा शोषक एवं शोषितों के बीच संघर्षों की श्रृंखला का इतिहास मानता है। पूँजीवाद मानव इतिहास का एक चरण है, जिसमें बुर्जुआ वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग के बीच संघर्ष चल रहा है। पूँजीवाद के अंतर्गत जो उत्पादन प्रणाली विद्यमान है, वह श्रमिकों का शोषण करने के लिए तैयार की गई है। श्रमिकों और पूँजीपतियों के हित आपस में टकराते हैं। मार्क्स को विश्वास है कि सर्वहारा की क्रांति से पुरानी व्यवस्था का पतन होगा और नई प्रणाली का सूत्रपात होगा। समाज के प्रति मार्क्स के दृष्टिकोण में विरोध, संघर्ष और परिवर्तन का प्रमुख स्थान है। इस अर्थ में मार्क्स ने **समाज का संघर्ष मॉडल** प्रस्तुत किया।

संक्षेप में, दर्खाइम की दृष्टि में समाज एक ऐसी व्यवस्था है, जो अपनी विभिन्न संस्थाओं के योगदान से एकजुट बनी रहती है। मार्क्स इतिहास को "सम्पन्न" और "सर्वहारा" वर्गो के बीच संघर्षों की श्रृंखला मानता है, जिसमें टकराव और परिवर्तन होता है। दोनों विद्वानों के दृष्टिकोण में मुख्य यही अंतर है।

आइए, इस बिंदु पर इकाई की मुख्य चर्चाएं समाप्त होने के समय बोध प्रश्न 4 को पूरा कर लें।

**बोध प्रश्न 4**

i) निम्नलिखित कथनों की क्रम संख्याओं को निम्नलिखित तालिका के अ तथा ब में उपयुक्त शीर्षक के अंतर्गत लिखिए।

1) श्रम विभाजन शोषण पर आधारित है।
2) श्रम विभाजन से सहयोग पैदा होता है।
3) श्रम विभाजन सामाजिक एकता में सहायक है।
4) श्रम विभाजन श्रमिक को सब प्रकार के नियंत्रण से वंचित कर देता है।
5) श्रम विभाजन आधुनिक पूँजीवाद की विशेषता है।
6) औद्योगिक जगत की समस्याएं श्रम विभाजन का असामान्य रूप हैं।

7) पूँजीवाद स्वयं ही औद्योगिक जगत की समस्या है।

8) असमानता पर आधारित श्रम विभाजन समाज में समस्याएँ पैदा करता है।

| अ | ब |
|---|---|
| **दर्खाइम का दृष्टिकोण** | **मार्क्स का दृष्टिकोण** |
| ..... | ..... |
| ..... | ..... |
| ..... | ..... |
| ..... | ..... |
| ..... | ..... |
| ..... | ..... |
| ..... | ..... |
| ..... | ..... |

ii) श्रम विभाजन विषय पर विचार के संदर्भ में दर्खाइम के "प्रकार्यात्मक मॉडल" और मार्क्स के "संघर्ष मॉडल" की तुलना कीजिए। अपना उत्तर छह पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 20.6 सारांश

हमने सबसे पहले यह पढ़ा कि "श्रम विभाजन" शब्द से क्या तात्पर्य है। इसके पश्चात् हमने श्रम विभाजन पर एमिल दर्खाइम के विचारों का अध्ययन किया। उसने ये विचार अपनी पुस्तक *डिवीज़न ऑफ़ लेबर इन सोसाइटी* में व्यक्त किए। इस पुस्तक में व्यक्त मुख्य बातों को निम्नलिखित शीर्षकों में वर्गीकृत किया गया।

i) श्रम विभाजन के कार्य

ii) श्रम विभाजन के कारण

iii) असामान्य रूप

इसके पश्चात् श्रम विभाजन पर कार्ल मार्क्स के विचारों की व्याख्या की गई। हमने सामाजिक श्रम विभाजन तथा औद्योगिक श्रम विभाजन के बीच मार्क्स द्वारा बताए गए अंतर को समझा। हमने औद्योगिक श्रम विभाजन के विभिन्न पक्षों का भी अध्ययन किया, जो इस प्रकार है।

i) लाभ पूँजीपति के हिस्से में जाता है।

ii) श्रमिकों का अपने उत्पादों पर कोई नियंत्रण नहीं रहता।

iii) श्रमिक वर्ग का अमानवीकरण होता है।

iv) सभी स्तरों पर अलगाव महसूस किया जाता है।

इसके उपरांत हमने इन समस्याओं के लिए मार्क्स के समाधान अर्थात क्रांति के बारे में पढ़ा जिससे साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना होगी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सृजनात्मक क्षमता का विकास करने का अवसर मिलेगा।

अंत में हमने निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत दर्खाइम और मार्क्स के विचारों की तुलना की।

i) श्रम विभाजन के कारण

ii) श्रम विभाजन के परिणाम

iii) श्रम विभाजन से संबंधित समस्याओं का समाधान

iv) समाज के बारे में दर्खाइम का "प्रकार्यात्मक" मॉडल और मार्क्स का "संघर्ष" मॉडल।

## 20.7 शब्दावली

**असेम्बली लाइन** यह आधुनिक फैक्टरी प्रणाली का एक तत्व है, जिसमें श्रमिक किसी वस्तु के विभिन्न हिस्सों पुर्जों को "एसेम्बल" करते अर्थात् जोड़ते हैं अथवा उनपर कुछ काम करते हैं, इसमें प्रत्येक श्रमिक का अपना निश्चित काम होता है। इससे उत्पादन में गति आती है।

**प्रतिमानहीनता (anomie)** दर्खाइम ने इस शब्द का इस्तेमाल ऐसी स्थिति के लिए किया है, जिसमें व्यक्ति अपने आपको समाज में रचा-बसा हुआ महसूस नहीं करते।

**पूरक (complementary)** ऐसा काम जिससे सहायता या समर्थन मिलता है। उदाहरण के लिए नर्स की भूमिका डाक्टर की भूमिका की पूरक है।

**समाज का "संघर्ष" मॉडल** यह समाज के प्रति एक दृष्टिकोण है, जिसमें व्यवस्था की बजाय उसके तनावों और संधर्षों पर बल दिया जाता है। मार्क्स के अनुसार, उत्पादन के सामाजिक संबंध तनाव एवं संघर्ष का आधार हैं।

**समाज का "प्रकार्यात्मक" मॉडल** इस दृष्टिकोण में समाज व्यवस्था तथा इस तथ्य पर बल दिया जाता है कि किस प्रकार विभिन्न सामाजिक संस्थाएँ और उप-प्रणालियां सक्रिय रहती हैं और सामाजिक व्यवस्था को क़ायम रखने में योगदान देती हैं।

**विषमरूपी** यह "समरूपी" का विलोम है। इसका अर्थ है विविधता, अलग-अलग प्रकार। उदाहरण के लिए, भारत की जनसंख्या विषमरूपी है। यहां अलग-अलग जातियां, भाषाएं, धर्म, परम्पराएं आदि मौजूद है।

**अतिरिक्त मूल्य (surplus value)** जब श्रमिक अपनी श्रम शक्ति कच्चे माल पर खर्च करता है तो वस्तुओं का निर्माण होता है। इस प्रकार, श्रमिक द्वारा माल के मूल्य में वृद्धि की जाती है। श्रमिक द्वारा पैदा किया गया यह मूल्य उसे दिए गए वेतन से कहीं अधिक होता है। पैदा किए गए मूल्य तथा प्राप्त वेतन के बीच अंतर "अतिरिक्त मूल्य" कहलाता है। मार्क्स का कहना है कि इस "अतिरिक्त मूल्य" को पूँजीपति हड़प जाता है।

## 20.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आरों, रेमों 1970. *मेन करंट्स इन सोशियोलॉजिकल थॉट*. भाग 1 और 2 (मार्क्स और दर्खाइम से संबंधित भाग देखिए), पेंगुइन बुक्स: लंदन

बॉटोमौर, टॉम (संपा.) 1983. *डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट*. ब्लैकवैल: ऑक्सफ़ोर्ड

गिड्डनस, एन्थनी 1978. *दर्खाइम*. हार्वेस्टर प्रेस: हैसॉक्स

## 20.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) क) लघु, व्यापक
   ख) श्रम विभाजन
   ग) एडम स्मिथ

ii) क) ग़लत
   ख) ग़लत
   ग) सही

**बोध प्रश्न 2**

i) क) ग़लत
   ख) ग़लत
   ग) ग़लत
   घ) ग़लत

iii) क) यांत्रिक एकात्मता समरूपता पर आधारित है। सावयविक एकात्मता भिन्नताओं तथा भिन्नताओं की पूरकता पर आधारित है। इस प्रकार, व्यक्ति नवोन्मुखी भी हो सकते हैं और साथ ही दूसरे व्यक्तियों तथा समाज पर निर्भर भी। इस तरह, व्यक्तिवाद और सामाजिक सामंजस्य एक-साथ रह सकते हैं। अत: दर्खाइम ने सावयविक एकात्मता को उच्च स्तर की एकात्मता माना है।

   ख) भौतिक तथा नैतिक सघनता समाज के लोगों को एक-दूसरे के निकट संपर्क में लाती है। अस्तित्व के लिए और कम मात्रा में उपलब्ध साधनों के लिए संघर्ष छिड़ सकता है। सह-अस्तित्व के लिए व्यक्ति अलग-अलग क्षेत्रों में विशेषज्ञता हासिल करते हैं और इस प्रकार श्रम का विभाजन होता है। इस प्रकार, दर्खाइम के अनुसार भौतिक और नैतिक सघनता के फलस्वरूप श्रम का विभाजन होता है।

   ग) दर्खाइम के अनुसार, प्रतिमानहिनता (anomie) असामान्य रूप है। यह वह स्थिति है, जिसमें लगता है कि सभी नियम क़ानून टूट चुके हैं। उदाहरण के लिए व्यक्तियों को काम करना पड़ता है और उत्पादन जारी रखना होता है, परन्तु कोई नए नियम लागू नहीं किए जाते। उन्हें समझ नहीं आता कि उनके काम का क्या अर्थ अथवा उद्देश्य है।

**बोध प्रश्न 3**

i) क) सामाजिक श्रम विभाजन समाज में उपयोगी श्रम के सभी रूपों का बंटवारा करने की एक जटिल प्रक्रिया है। कुछ लोग अनाज पैदा करते हैं तो दूसरे हस्तशिल्प की वस्तुएं

बनाते हैं। इसमें वस्तुओं के आदान-प्रदान को बढ़ावा मिलता है और सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के संचालन के लिए यह अनिवार्य है।

ख) निर्माण में श्रम विभाजन से श्रमिक उत्पादन प्रक्रिया का छोटा सा हिस्सा बन जाते हैं। उत्पादों से श्रमिक का कोई सरोकार नहीं रहता। वह उसे बेच नहीं सकते और प्राय: उसे खरीद पाने की स्थिति में भी नहीं होते। वे वस्तुओं के उत्पादन की प्रक्रिया के स्वामी बनने के बजाय गुलाम बन जाते हैं।

ii) क) ii) ख) i) ग) iii)

**बोध प्रश्न 4**

i)

| दर्खाइम का दृष्टिकोण | मार्क्स का दृष्टिकोण |
|---|---|
| (2) | (1) |
| (3) | (4) |
| (6) | (5) |
| (8) | (7) |

ii) एमिल दर्खाइम के समाज के "प्रकार्यात्मक" मॉडल से हमारा अभिप्राय उस विधि से है, जिसमें उसने सामाजिक सामंजस्य बनाए रखने में सामाजिक संस्थाओं के योगदान का अध्ययन किया। इस मॉडल के अनुरूप उसने श्रम विभाजन का केवल आर्थिक ही नहीं बल्कि सामाजिक प्रक्रिया के रूप में अध्ययन किया। उसने यह दिखाने का भी प्रयास किया कि किस तरह यह प्रक्रिया सामाजिक सामंजस्य में योग देती है।

दूसरी ओर, कार्ल मार्क्स ने समाज का अध्ययन विरोध, संघर्ष और परिवर्तन के संदर्भ में किया। मानव इतिहास में एक समूह दूसरे समूह के शोषण का शिकार होता रहा है। श्रम विभाजन एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके ज़रिए पूँजीपति श्रमिकों का शोषण करते हैं। यह दृष्टिकोण मार्क्स के "संघर्ष" मॉडल को व्यक्त करता है।

# इकाई 21 पूँजीवाद: मार्क्स और वेबर

इकाई की रूपरेखा


21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 पूँजीवाद के बारे में कार्ल मार्क्स के विचार

- 21.2.1 पूँजीवाद - मानव इतिहास का एक चरण
- 21.2.2 पूँजीवाद की मुख्य विशेषताएं
- 21.2.3 पूँजीवाद और वर्ग संघर्ष

21.3 पूँजीवाद के बारे में मैक्स वेबर के विचार

- 21.3.1 तर्कसंगति के बारे में वेबर के विचार
- 21.3.2 तर्कसंगतिकरण और पाश्चात्य सभ्यता
- 21.3.3 परंपरागत और तर्कसंगत पूँजीवाद
- 21.3.4 तर्कसंगत पूँजीवाद की पूर्व-शर्तें: पूँजीवाद किस तरह के सामाजिक आर्थिक परिवेश में पनप सकता है?
- 21.3.5 तर्कसंगत पूँजीवाद के कारक
- 21.3.6 तर्कसंगत पाश्चात्य समाज का भविष्य: "लोहे का पिंजरा"

21.4 मार्क्स और वेबर के विचारों की तुलना

- 21.4.1 दृष्टिकोण में अंतर
- 21.4.2 पूँजीवाद का उदय
- 21.4.3 पूँजीवाद के परिणाम और पूँजीवाद व्यवस्था को बदलने का उपाय

21.5 सारांश

21.6 शब्दावली

21.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

21.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 21.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपके लिए संभव होगा

- इतिहास के एक चरण के रूप में पूँजीवाद के बारे में कार्ल मार्क्स के विचारों को संक्षेप में समझना
- पूँजीवाद के बारे में मैक्स वेबर के विचारों का विवेचन करना
- पूँजीवाद के विश्लेषण में इन दोनों विद्वानों के विचारों में समानताओं और अंतर को समझना।

## 21.1 प्रस्तावना

इस पाठ्यक्रम के अध्ययन से आपको उस सामाजिक-आर्थिक संदर्भ की जानकारी मिल चुकी है जिसके अंतर्गत समाजशास्त्र के संस्थापकों ने अध्ययन किया और इस विषय को अपने स्थायी तथा महत्वपूर्ण योगदान से समृद्ध किया। आपने यह भी पढ़ा कि इन विद्वानों ने एक ऐसे दौर में काम

किया जिसमें समाज अत्यंत तेज़ गति से बदल रहा था। तेज़ी से बदलते विश्व की समस्याओं की छाप इन विद्वानों के अध्ययन और विचारों पर स्पष्ट दिखाई देती है।

इकाई 20 में हमने श्रम विभाजन के बारे में एमिल दर्खाइम और मैक्स वेबर की धारणाओं का अध्ययन किया। इस इकाई में पूँजीवाद के बारे में कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर के विचारों के बारे में बताया जाएगा। भाग 21.2 में कार्ल मार्क्स के विचार प्रस्तुत किये जाएंगे। भाग 21.3 में पूँजीवाद के बारे में मैक्स वेबर का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जाएगा। अंतिम भाग (21.4) में इन दोनों विद्वानों के विश्लेषण में समानताओं और अंतर पर विचार किया जाएगा।

## 21.2 पूँजीवाद के बारे में कार्ल मार्क्स के विचार

खंड 3 में आपने पढ़ा कि कार्ल मार्क्स के अनुसार आर्थिक गतिविधि और आर्थिक ढांचा ही सामाजिक जीवन का आधार है। आर्थिक ढांचे में उत्पादन की एक विशिष्ट प्रणाली तथा उत्पादन के संबंध निहित है। उत्पादन की प्रणाली ऐतिहासिक काल खंडों में समान नहीं होती। यह इतिहास के परिवर्तन के साथ-साथ बदलती है। मार्क्स और एंगल्स ने विश्व इतिहास को विशिष्ट चरणों में विभाजित किया। इनमें से प्रत्येक चरण का आर्थिक स्वरूप अलग-अलग था। इस आर्थिक ढांचे से ही अन्य सामाजिक उपव्यवस्थाओं जैसे राजनैतिक व्यवस्था, धर्म, नैतिक मूल्य और संस्कृति आदि का स्वरूप निर्धारित होता है। इन उप व्यवस्थाओं को अधिसंरचना (superstructure) कहा जाता है। मार्क्स और एंगल्स ने इतिहास को निम्न चार चरणों में बांटा है। (i) प्रारंभिक साम्यवादी (communal) चरण (ii) दास-प्रथा पर आधारित प्राचीन चरण (iii) सामंतवादी चरण (iv) पूँजीवादी चरण। उत्पादन की विशिष्ट प्रणालियों के अनुसार मानव इतिहास के विभिन्न चरणों का अध्ययन मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत का आधार है।

जैसा कि बताया जा चुका है, इनमें से हर चरण में उत्पादन की एक ख़ास प्रणाली है। प्रत्येक चरण को इतिहास की एक कड़ी माना जाता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि हर चरण के अपने अंतर्विरोध और तनाव होते हैं। इन अंतर्विरोधों के एक सीमा से ज्यादा बढ़ जाने पर व्यवस्था ही बिखर जाती है और पिछले चरण के गर्भ से नया चरण जन्म लेता है।

### 21.2.1 पूँजीवाद - मानव इतिहास का एक चरण

मार्क्स के ऐतिहासिक विश्लेषण के अनुसार, पूँजीवादी चरण सामंती व्यवस्था के अंतर्विरोधों का सहज परिणाम है। सामंती व्यवस्था में कृषि दासों का ज़मीदारों (lords) द्वारा शोषण होता था। यह सामंती व्यवस्था जब अपने तनावों से बिखर गई तो ज़मीदारों के कब्ज़े से बड़ी संख्या में काश्तकार (tenants) मुक्त हुए। ये लोग निरंतर बढ़ते हुए नगरों में बसे, इससे वस्तुओं के उत्पादन के लिए बड़ी संख्या में श्रमिक उपलब्ध हुए। नयी मशीनों का विकास, फ़ैक्टरी प्रणाली और बड़े पैमाने पर उत्पादन से नयी आर्थिक प्रणाली पूँजीवाद का जन्म हुआ।

यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि मार्क्स ने पूँजीवाद को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखा। मार्क्स ने अपने सिद्धांत में समाज में अलग-अलग व्यक्ति को केन्द्र बिंदु नहीं बनाया बल्कि पूरे समाज के संदर्भ में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। मार्क्स के अनुसार, पूँजीवाद मानव समाज के विकास का ऐसा चरण है जिसका जन्म उसके पिछले चरण के अंतर्विरोधों के कारण हुआ। इस चरण में भी अपने अंतर्विरोध है, जिनके बारे में आगे चर्चा की जाएगी। पूँजीवाद व्यवस्था में अंतर्निहित अंतर्विरोधों से एक नये चरण के जन्म के लिये योग्य परिस्थितियां बनेंगी। मार्क्स के अनुसार यह आदर्श समाज यानी साम्यवादी (communist) समाज होगा। इस समाज में पिछले चरणों की तरह अंतर्विरोध और तनाव नहीं होंगे।

### 21.2.2 पूँजीवाद की मुख्य विशेषताएं

टॉम बॉटोमोर (1973) ने अपनी पुस्तक *डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट* में पूँजीवाद की कुछ प्रमुख विशेषताओं की चर्चा की है। उत्पादन की प्रणाली के रूप में मार्क्स ने पूँजीवाद की निम्न विशेषताएं स्पष्ट की हैं।

i) **उत्पादन निजी इस्तेमाल की बजाय बिक्री के लिए होता है:** पूँजीवाद गुज़ारा चलाने भर के साधन जुटाने वाली आर्थिक प्रणाली के विकास की अगली कड़ी है। पूर्व पूँजीवादी आर्थिक प्रणालियों में उत्पादन प्राय: सीधे उपभोग के लिए किया जाता है। उदाहरण के लिए, कृषि-केन्द्रित आर्थिक प्रणालियों में किसानों ने अपने इस्तेमाल के लिए ही फ़सलें उगाई हैं। थोड़ा सा हिस्सा ही बिक्री के लिए बच जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि तकनीकी ज़्यादा उन्नत नहीं होती और घर-परिवार के लोग ही सीमित संख्या में काम करते हैं। पूँजीवाद व्यवस्था की स्थिति भिन्न है। इसमें बहुत बड़ी संख्या में श्रमिकों को फ़ैक्टरी में काम करना होता है। उन्हें मशीनों की मदद से और श्रम-विभाजन द्वारा बड़ी मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन करना होता है। यह उत्पादन बाज़ार में बिक्री के लिए किया जाता है। उदाहरण के लिए, साबुन बनाने वाली फ़ैक्टरी में उत्पादकों के अपने इस्तेमाल के लिए साबुन नहीं बनाया जाता बल्कि यह बाज़ार में बिक्री के लिए बनाया जाता है।

ii) **श्रम-शक्ति ख़रीदी और बेची जाती है:** मार्क्स का कहना है कि पूँजीवादी प्रणाली में श्रमिक को केवल श्रम-शक्ति के रूप में आंका जाता है। पूँजीपति या मालिक उनकी श्रम-शक्ति को मज़दूरी देकर खरीदते हैं। श्रमिक अपनी श्रम-शक्ति को बेचने या न बेचने को क़ानूनी तौर से स्वतंत्र है। मानव इतिहास के प्राचीन चरणों की तरह, श्रमिकों से दासों या कृषि-दासों की तरह ज़बरन काम नहीं कराया जाता। उनकी आर्थिक ज़रूरतें ही उन्हें काम करने को विवश करती हैं। उनके सामने दो ही विकल्प हैं - मज़दूरी करें या भूखे रहें। अत: भले ही श्रमिक पूँजीपति से अनुबंध करने के लिए क़ानूनी तौर से स्वतंत्र है पर उनकी दो वक़्त की रोज़ी-रोटी की समस्या उन्हें अपना श्रम बेचने पर मजबूर करती है।

iii) **लेन-देन मुद्रा में होता है:** हमने यह पढ़ा कि उत्पादन बिक्री के लिए होता है और यह बिक्री मुद्रा के ज़रिए होती है। मुद्रा ही वह सामाजिक संबंध है जिससे पूँजीवादी प्रणाली के विभिन्न तत्व एक-दूसरे से जुड़े हैं। इसीलिए इस प्रणाली में बैंकों तथा वित्तीय संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है।

iv) **पूंजीपति का उत्पादन की प्रक्रिया पर नियंत्रण:** यह विशेषता भी मुद्रा संबंध से जुड़ी है। उत्पादन का मूल्य, श्रमिकों की मज़दूरी, वित्तीय निवेश की रक़म आदि सभी फ़ैसले पूँजीपति ही करता है।

v) **पूँजीपति का वित्तीय निर्णयों पर नियंत्रण:** इसका संबंध उत्पादों का नियंत्रण से है। उत्पादकों को मूल्य निर्धारण, श्रमिकों की मजदूरी, वित्तीय निवेश आदि निर्णय पूँजीपति स्वयं लेता है।

vi) **प्रतिस्पर्धा:** चूंकि उत्पादन का प्रमुख उद्देश्य बिक्री है, अत: पूँजीपतियों के बीच में प्रतिस्पर्धा होना स्वाभाविक है। किसका उत्पादन बाजार में सबसे ज़्यादा बिकेगा? किसे सबसे ज़्यादा मुनाफ़ा होगा? इन सवालों से जो स्थिति पैदा होती है उसमें सारे पूँजीपति दूसरे से आगे निकलना चाहते हैं। इसके परिणामस्वरूप नये-नये आविष्कार और नयी तकनीकी का इस्तेमाल होता है। साथ-साथ प्रतिस्पर्धा से एकाधिकार (monopoly) वाली फ़र्में या समान स्वार्थ के लिए मिल जाने वाले **व्यापारी समूह (cartels)** ही भी पनप सकते हैं। ऐसी स्थिति में एक उत्पादक या उत्पादकों का समूह अन्य प्रतियोगियों को पछाड़ कर या जबरन हटा

कर बाज़ार पर अपना दबदबा कायम कर लेता है। इससे पूँजी का केंद्रीकरण कुछ गिने-चुने लोगों के हाथों में हो जाता है, अर्थात् पूँजी कुछ ही लोगों के पास रह जाती है।

इस प्रकार मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद ऐसी व्यवस्था है जिसमें शोषण, असमानता और वर्गों का ध्रुवीकरण अपने चरम पर होता है। इसका मतलब है कि उत्पादन के साधन के मालिकों (अर्थात् बुर्जुआ वर्ग) और श्रमिकों (अर्थात् सर्वहारा वर्ग) के बीच सामाजिक अंतर बढ़ता है। पूँजीवाद के संबंध में मार्क्स की "वर्ग संघर्ष" की धारणा अत्यंत महत्वपूर्ण है। पूँजीवाद की अवधारणा को आत्मसात करने हेतु सोचिए और करिए 1 को पूरा करें।

**सोचिए और करिए 1**

पूँजीवाद की मुख्य विशेषताओं से संबद्ध उपभाग (21.2.1) को ध्यान से पढ़ें। क्या आपको अपने समाज में ऐसी विशेषताएं नज़र आती हैं? एक पृष्ठ में अपने विचार लिखें और संभव हो तो अपने अध्ययन केन्द्र में अन्य विद्यार्थियों के विचारों से इनकी तुलना करें।

### 21.2.3 पूँजीवाद और वर्ग संघर्ष

मार्क्स के अनुसार, मानव समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। मानव इतिहास के हर चरण में समाज दो वर्गों में बंटा रहा है - साधन संपन्न और अभावग्रस्त। इनमें से साधनसंपन्नों का प्रभुत्व रहता है और अभावग्रस्तों का दमन होता है।

पूँजीवाद के बने रहने के मुख्य आधार हैं - निजी संपत्ति, फ़ैक्टरी प्रणाली के अंतर्गत वस्तुओं का बड़े पैमाने पर मुनाफ़े के लिए उत्पादन और ऐसा श्रमिक वर्ग जो अपनी श्रम-शक्ति बेचने पर मजबूर है। इन्हीं पूँजीवादी विशेषताओं से समाज में वर्गों के बीच दूरी बढ़ती रहती है और **वर्गों का ध्रुवीकरण** होता है। जैसे-जैसे पूँजीवाद बढ़ता जाता है, वर्गों के बीच अंतर भी बढ़ता जाता है। बुर्जुआ और सर्वहारा वर्गों के हित भी अलग-अलग होते जाते हैं। सर्वहारा एक जुट हो जाते हैं क्योंकि वे एक सी समस्याओं से जूझ रहे होते हैं, जिनका समाधान भी समान होता है। इसी प्रकार सर्वहारा वर्ग समाज हितों के लिए संघर्षरत वर्ग बन जाता है। मार्क्स के अनुसार, सर्वहारा की क्रांति से इतिहास के नये चरण - "साम्यवाद" का जन्म होगा। इस व्यवस्था में श्रमिक ही उत्पादन के साधनों के स्वामी होंगे, पूँजीवाद के अंतर्विरोध समाप्त होंगे और एक नयी सामाजिक व्यवस्था स्थापित होगी।

संक्षेप में, कार्ल मार्क्स पूँजीवाद को मानव इतिहास की ऐसी स्थिति मानता है जो पिछली स्थिति के अंतर्विरोधों से पनपी है। पूँजीवाद के भी अपने अंतर्विरोध हैं। इस ऐतिहासिक चरण में वर्ग संघर्ष सबसे तीव्र होता है, क्योंकि उत्पादन के साधन कुछ ही हाथों में केंद्रित होते हैं। श्रमिकों को मात्र श्रम-शक्ति के रूप में आंका जाता है जिसे मज़दूरी द्वारा खरीदा-बेचा जा सकता है। इस प्रणाली की असमानताओं से वर्गों का ध्रुवीकरण होता है। सर्वहारा वर्ग को अहसास होता है कि उसके समान हित और समान समस्याएं है। वह इन समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करता है। सर्वहारा अपने हितों के लिए संघर्षरत वर्ग बन जाते हैं। इनकी मुक्ति क्रांति से होगी। सर्वहारा की क्रांति से एक नयी सामाजिक व्यवस्था साम्यवाद का जन्म होगा जिसमें उत्पादन के साधनों पर श्रमिकों का ही स्वामित्व होगा।

अगले भाग में पूँजीवाद के बारे में वेबर के विचारों पर चर्चा की जाएगी। अगले भाग (21.3) पर जाने से पहले बोध प्रश्न 1 को पूरा करें।

**बोध प्रश्न 1**

i) निम्नलिखित वाक्यों में से सही या ग़लत बताइए।

क) मार्क्स के अनुसार, प्रारंभिक साम्यवाद चरण के बाद पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म होता है। सही/ग़लत

ख) केवल पूँजीवाद चरण के ही अपने अंतर्विरोध होते हैं। सही/ग़लत

ग) पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली रोजी-रोटी के साधन भर जुटाने वाली आर्थिक प्रणाली है। सही/ग़लत

घ) पूँजीवादी प्रणाली में श्रमिक दास और कृषि दासों की तरह ही काम करने पर विवश होते है। सही/ग़लत

च) पूँजीवाद के बढ़ने के साथ-साथ वर्गों के बीच संबंध घनिष्ठ होते जाते हैं। सही/ग़लत

ii) निम्नलिखित प्रश्नों का तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

क) कार्ल मार्क्स ने "सर्वहारा क्रांति" का समर्थन क्यों किया?

.....

.....

.....

ख) पूँजीवादी चरण में बैंक और वित्तीय संस्थाएं महत्वपूर्ण क्यों हो जाती है?

.....

.....

.....

ग) पूँजीवाद में वर्गों का ध्रुवीकरण क्यों होता है?

.....

.....

.....

## 21.3 पूँजीवाद के बारे में मैक्स वेबर के विचार

पूँजीवाद पर मैक्स वेबर द्वारा किये गए विश्लेषण की इन उप भागों में चर्चा की जाएगी। इस अध्ययन से स्पष्ट होगा कि मैक्स वेबर ने पूँजीवाद का स्वतंत्र और अधिक जटिल विश्लेषण प्रस्तुत किया। वेबर ने एक विशिष्ट प्रकार के पूँजीवाद "तर्कसंगत पूँजीवाद" का वर्णन किया। उसके अनुसार "तर्कसंगत पूँजीवाद" पाश्चात्य देशों (पश्चिम यूरोप और उत्तरी अमरीका के देश) में पूरी तरह विकसित हुआ। तर्कसंगति की अवधारणा और उससे संबंधित प्रक्रिया मूलत: पाश्चात्य है। "तर्कसंगति" और "तर्कसंगत पूँजीवाद" के बीच संबंध को समझना ज़रूरी है। इसीलिए, सबसे पहले तर्क संगति के बारे में मैक्स वेबर के विचारों की चर्चा की जाएगी।

### 21.3.1 तर्कसंगति के बारे में वेबर के विचार

पूँजीवाद के बारे में मैक्स वेबर के विचारों को समझने के लिए तर्कसंगति की उसकी अवधारणा को समझना ज़रूरी है। पश्चिमी देशों में तर्कसंगति का विकास पूँजीवाद से जुड़ा रहा है। तर्कसंगति तथा तर्कसंगतिकरण से वेबर का क्या तात्पर्य है? आपने खंड 4 की इकाई 15 में पढ़ा था कि

तर्कसंगति वैज्ञानिक विशिष्टीकरण का परिणाम है जो पाश्चात्य संस्कृति की अनोखी विशेषता है। यह बाहरी दुनिया पर स्वामित्व और नियंत्रण प्राप्त करने से संबंधित है। इसके अंतर्गत मानव जीवन को सुसंगठित करने का प्रयास है जिसमें कार्यकुशलता बेहतर हो और उत्पादकता बढ़े।

संक्षेप में, तर्कसंगत बनाने का तात्पर्य मानवीय गतिविधियों को ऐसे नियमित और निर्धारित तरीके से व्यवस्थित और समन्वित करना है जिससे परिवेश पर मानवीय नियंत्रण क़ायम हो सके। घटना-क्रम को प्रकृति या क़िस्मत के भरोसे नहीं छोड़ा जाता। लोगों को अपने आस-पास के परिवेश के व्यवस्था की ऐसी समझ हो जाती है कि प्रकृति रहस्मय और अनिश्चित नहीं रह जाती। विज्ञान और तकनीकी, लिखित नियमों और क़ानूनों के द्वारा मानवीय गतिविधियाँ सुसंबद्ध हो जाती हैं। रोज़मर्रा की जिंदगी से एक उदाहरण लें। किसी कार्यालय में एक पद रिक्त होता है। इस पर भर्ती का एक तरीक़ा यह है कि अपने किसी मित्र या संबंधी को नियुक्त कर दिया जाए। लेकिन वेबर के अनुसार यह तर्कसंगत नहीं होगा। दूसरा तरीक़ा यह है कि पद समाचार-पत्रों में विज्ञापित किया जाए, आवेदन करने वालों के लिए प्रतियोगी परीक्षा आयोजित की जाए, फिर साक्षात्कार परीक्षा हो और सर्वोत्तम परिणाम पाने वाला उम्मीदवार चुन लिया जाए। इस तरीक़े में कुछ नियमों और आचारों का पालन किया गया है। पहले तरीक़े में नियमित प्रक्रिया नहीं थी, जो दूसरे में अपनायी गयी। वेबर के अनुसार यह प्रक्रिया तर्कसंगतिकरण का उदाहरण कहलाती है।

## 21.3.2 तर्कसंगतिकरण और पाश्चात्य सभ्यता

वेबर के अनुसार, तर्कसंगतिकरण पश्चिमी सभ्यता का सबसे विशिष्ट लक्षण है। तर्कसंगति द्वारा प्रभावित पश्चिम देशों में ऐसी अनेक विशेषताएँ शामिल हैं जो विश्व के किसी और भाग में एक साथ कभी नहीं पायी गई हैं। ये विशेषताएं निम्न हैं।

i) **विज्ञान**, यानी पश्चिमी देशों में सुविकसित, प्रमाणित किये जा सकने वाले ज्ञान का भंडार

ii) **एक तर्कसंगत राज्य**, जिसमें विशिष्टीकृत संस्थाएं, लिखित नियम तथा राजनीतिक गतिविधि को नियमित करने के लिए संविधान हो।

iii) **कलाएं**, जैसे पाश्चात्य संगीत, जिसमें स्वरलिपि प्रणाली हो, अनेक वाद्यों का क्रमबद्ध इस्तेमाल हो। इस स्तर की नियमितता अन्य संगीत प्रणालियों में नहीं है। आपको पश्चिमी संगीत के बारे में वेबर के विश्लेषण की और अधिक जानकारी कोष्ठक 21.1 में मिलेगी।

iv) **अर्थव्यवस्था**: तर्कसंगत पूँजीवाद में यह स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। अगले उपभागों में इन सब का विस्तृत विवरण होगा।

तर्कसंगति जीवन के कुछ पक्षों तक ही सीमित नहीं है। यह जीवन के हर क्षेत्र से जुड़ी है। पाश्चात्य समाज का यह सबसे विशिष्ट लक्षण है (देखें फ्राएंड 1972: 17-24)।

**कोष्ठक 21.1: पाश्चात्य संगीत को तर्कसंगत बनाने के प्रयास**

1911 में वेबर ने एक पुस्तिका लिखी *रेशनल एंड सोशल फ़ाउंडेशन म्यूज़िक*। इसमें उसने पाश्चात्य संगीत के विकास में बढ़ती तर्कसंगति का विश्लेषण किया। पाश्चात्य संगीत में सरगम का क्रम (scale) आठ सुरों (octave) में बंटा है और हर सुर की बारह तानें (notes) होती हैं। मंद्र तथा तार स्वरों में समान ध्वनियों वाली तानें है। इसमें संगीत-लहरी एक नियमित क्रम में आगे या पीछे लायी जा सकती है। पाश्चात्य संगीत में "बहुस्वरता" (polyvocality) भी होती है अर्थात् अनेक आवाज़ों में गायन तथा अनेक वाद्यों का वादन एक साथ एक ही तान में होता है। वेबर के अनुसार "बहुस्वरता" से वाद्यवृंद (Orchestra) बनता है और इस तरह पाश्चात्य संगीत एक संगठित प्रयास बन जाता है। संगीतकारों की

विशिष्ट भूमिका का तर्कसंगत ढंग से ताल मेल बिठाया जाता है। इस तरह संगीत भी नौकरशाही की तरह सुसंबद्ध हो जाता है। इसके अलावा पाश्चात्य संगीत के अंकन की अपनी स्वरलिपि प्रणाली है। संगीतकार अपनी संगीत-रचनाओं को इन स्वरलिपि प्रणाली में लिख लेते हैं और इस प्रकार उनके कार्य को मान्यता मिलती है, उन्हें सर्जन कलाकार के रूप में मान्यता मिलती है और अन्य संगीतकारों के लिए उनकी रचनाएं आदर्श बन जाती हैं। भावी संगीतकार उनकी नक़ल करने और उनसे भी आगे निकलने का प्रयास करते हैं। इस तरह पाश्चात्य संगीत एक निश्चित क्रम में व्यवस्थित और संगठित है। इसमें गतिशीलता है और एक-दूसरे से बेहतर कर दिखाने की प्रतिस्पर्धा है। एक तरह से संगीतकार संगीत के क्षेत्र के उद्यमी हैं।

आइए, अब देखें कि वेबर द्वारा दी गई तर्कसंगत अर्थव्यवस्था और तर्कसंगत पूँजीवाद अन्य आर्थिक प्रणालियों से किस प्रकार भिन्न हैं और उसने पूँजीवाद के विकास में सहायक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का किस प्रकार विवेचन किया।

### 21.3.3 परंपरागत और तर्कसंगत पूँजीवाद

खंड 4 की इकाई 15 में आपने "परंपरागत" और "तर्कसंगत" पूँजीवाद के अंतर का संक्षेप में अध्ययन किया। क्या पूँजीवाद मात्र लाभ कमाने वाली प्रणाली है? क्या पूँजीवाद के लक्षण मात्र लालच और धन-दौलत की लालसा ही है? इस रूप में पूँजीवादी प्रणाली दुनिया के अनेक भागों में मौजूद थी। प्राचीन बेबीलोन, भारत, चीन और मध्यकालीन यूरोप के व्यापारियों की शक्तिशाली श्रेणियों वाली प्रणाली भी इस अर्थ में पूँजीवादी प्रणाली ही थी। लेकिन ये तर्कसंगत पूँजीवाद नहीं था।

परंपरागत पूँजीवादी प्रणाली में ज़्यादातर परिवार आत्म-निर्भर थे और अपनी बुनियादी ज़रूरत की वस्तुओं का स्वयं उत्पादन कर लेते थे। परंपरागत पूँजीवाद में केवल विलासिता की वस्तुओं का व्यापार होता था। बिक्री की वस्तुएं बहुत थोड़ी होती थीं और कुछ गिने-चुने लोग ही ख़रीदार होते थे। विदेश में व्यापार करना जोखिम भरा था। मुनाफ़े के लालच में ये व्यापारी बहुत ज़्यादा क़ीमत पर वस्तुएं बेचते थे। व्यापार जुए जैसा था। अच्छा धंधा होने पर भारी लाभ होता था। पर कामयाबी न मिलने पर नुक़सान भी बहुत ज़्यादा होता था।

आधुनिक या तर्कसंगत पूँजीवाद विलासिता की कुछ दुर्लभ वस्तुओं के उत्पादन या बिक्री तक सीमित नहीं है। इसमें रोज़मर्रा की ज़रूरत की तमाम साधारण चीजें खाद्य पदार्थ कपड़े, बर्तन, औज़ार आदि शामिल हैं। परंपरागत पूँजीवाद के विपरीत, तर्कसंगत पूँजीवाद गतिशील है और इसका दायरा फैलता जा रहा है। नये आविष्कार, उत्पादन के नये तरीक़े और नयी-नयी वस्तुए निरंतर विकसित की जा रही हैं। तर्कसंगत पूँजीवाद बड़े पैमाने पर उत्पादन और वितरण पर टिका है। वस्तुओं का लेन-देन पूर्व-निर्धारित और बार-बार दोहराए जाने वाले समान तरीक़े से ही होता है। व्यापार अब जुआ नहीं है। आधुनिक पूँजीपति कुछ चुने हुए लोगों को ऊँची क़ीमत पर चुनी हुई वस्तुएं नहीं बेचते। आधुनिक पूँजीवाद का लक्ष्य ज़्यादा से ज़्यादा लोगों को ज़्यादा से ज़्यादा वस्तुएं उचित दामों पर बेचना है।

संक्षेप में, परंपरागत पूँजीवाद कुछ उत्पादकों, कुछ वस्तुओं और कुछ ख़रीदारों तक सीमित है। उसमें जोखिम बहुत ज़्यादा है। व्यापार जुए जैसा है। दूसरी ओर, तर्कसंगत पूँजीवाद में सभी वस्तुओं को बिक्री-योग्य बनाने का लक्ष्य रहता है। इसमें बड़े पैमाने पर उत्पादन और वितरण होता है। व्यापार नियमबद्ध होता है। इस चर्चा में, हमने परंपरागत और तर्कसंगत पूँजीवाद के अंतर को समझा। तर्कसंगत पूँजीवाद किस प्रकार के सामाजिक-आर्थिक वातावरण में पनपता है? अब तर्कसंगत पूँजीवाद के विकास के लिए अनिवार्य परिस्थितियों की चर्चा की जाएगी।

निम्नलिखित प्रश्नों का तीन पंक्तियों में उत्तर दें।

i) तर्कसंगतिकरण से वेबर का क्या तात्पर्य है?

.....

.....

.....

ii) परंपरागत पूँजीवाद में व्यापार कैसे किया जाता था?

.....

.....

.....

## 21.3.4 तर्कसंगत पूँजीवाद की पूर्व-शर्तें: पूँजीवाद किस तरह के सामाजिक-आर्थिक परिवेश में पनप सकता है?

वेबर के अनुसार, आधुनिक पूँजीवाद का बुनियादी सिद्धांत समाज की रोज़मर्रा की ज़रूरतें पूरी करने वाले उत्पादक उद्यम का तर्कसंगत संगठन है। इस इकाई में तर्कसंगत पूँजीवाद के लिए ज़रूरी पूर्व-शर्तों और उसके लिए उचित सामाजिक-आर्थिक परिवेश की चर्चा की जाएगी।

i) **उत्पादन के भौतिक संसाधनों पर निजी स्वामित्व:** इन भौतिक संसाधनों में भूमि, मशीनें, कच्चा माल, फैक्टरी की इमारत आदि शामिल हैं। उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण होने से ही निजी उत्पादक व्यापार या उद्यम को संगठित कर सकते हैं और उत्पादन के साधनों को व्यवस्थित कर वस्तुओं के उत्पादन की प्रक्रिया शुरू कर सकते हैं।

ii) **मुक्त बाज़ार:** व्यापार पर कोई रोक-टोक नहीं होनी चाहिए। राजनैतिक स्थिति आम तौर पर शांतिपूर्ण होनी चाहिए। इससे आर्थिक गतिविधियां बिना किसी बाधा के चल सकेंगी।

iii) **उत्पादन और वितरण की तर्कसंगत तकनीक:** इस में उत्पादन बढ़ाने के लिए मशीनों का इस्तेमाल शामिल है। साथ ही, इसमें वस्तुओं के उत्पादन और वितरण में विज्ञान और तकनीकी का प्रयोग भी शामिल है ताकि व्यापक मात्रा में विविध प्रकार की वस्तुएं ज़्यादा से ज़्यादा कुशलता से तैयार की जा सकें।

iv) **तर्कसंगत कानून:** समाज के सभी लोगों पर लागू होने वाली क़ानूनी प्रणाली होनी चाहिए। इससे आर्थिक अनुबंध करने की प्रक्रिया सरल हो जाती है। हर व्यक्ति के कुछ क़ानूनी दायित्व और अधिकार हो जाते हैं और इन्हें लिखित नियमों के रूप में संहिताबद्ध कर लिया जाता है।

v) **स्वतंत्र श्रमिक:** श्रमिकों को अपनी इच्छानुसार कहीं भी और कभी भी काम करने की क़ानूनी रूप से स्वतंत्रता होती है। मालिक से उनके संबंध अनिवार्य रूप से बाध्यकारी नहीं, बल्कि स्वेच्छा से किये गये अनुबंध पर आधारित होते हैं। लेकिन मार्क्स की तरह वेबर भी इस बात को स्वीकार करता है कि क़ानूनन स्वतंत्र होते हुए भी आर्थिक दबाव और भूख उन्हें झुकने पर मजबूर कर देती है। उनकी स्वतंत्रता कहने भर की है। वास्तव में तो ज़रूरत उन्हें श्रम करने पर विवश करती है।

vi) **अर्थव्यवस्था का वाणिज्यिक स्वरूप:** तर्कसंगत पूँजीवादी व्यवस्था में यह पाया जाता है कि हर व्यक्ति उद्यम में भाग ले सकता है। हर व्यक्ति को **स्टॉक, शेयर या बांड** खरीदने का अधिकार होता है। इस प्रकार उद्यम में जन सामान्य भाग ले सकते हैं।

संक्षेप में, तर्कसंगत पूँजीवाद ऐसी आर्थिक प्रणाली है जिसमें उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व तथा नियंत्रण होता है। तर्कसंगत तकनीकी की मदद से वस्तुओं का व्यापक स्तर पर उत्पादन होता है तथा बाज़ार में बिना किसी रोक-टोक से व्यापार होता है। श्रमिक नियोजकों से अनुबंध करते हैं क्योंकि वे क़ानूनी तौर पर स्वतंत्र होते हैं। सभी लोगों पर समान क़ानूनी प्रणाली लागू होती है, इससे व्यापारिक अनुबंध करना आसान हो जाता है, इस प्रकार इस प्रणाली के लक्षण अपनी पूर्ववती प्रणालियों से भिन्न हैं।

अब इस बात की चर्चा की जाएगी कि वेबर ने आर्थिक प्रणाली के तर्कसंगत होते चले जाने की कैसे व्याख्या की। तर्कसंगत पूँजीवाद का विकास कैसे हुआ? पिछले भाग में आपने पढ़ा कि कार्ल मार्क्स ने पूँजीवाद के विकास को कैसे समझाया। मार्क्स ने उत्पादन की प्रणाली में परिवर्तन के आधार पर इसकी व्याख्या की। क्या मैक्स वेबर भी मूलत: आर्थिक आधार पर ही ज़ोर देता है? क्या वह सांस्कृतिक और राजनैतिक कारकों पर भी ध्यान देता है? अगले उप-भाग में यह बताया जाएगा कि किस तरह वेबर पूँजीवाद को एक जटिल अवधारणा मानता है और उसके अनुसार किसी एक कारक के आधार पर अथवा **मशीनी या एककारणीय संबंध** से इसे नहीं समझा जा सकता। तर्कसंगत पूँजीवाद के विकास के पीछे अनेक कारक हैं। इन सभी कारकों की आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया से तर्कसंगत पूँजीवाद के लक्षण विकसित होते हैं। आइए अब वेबर द्वारा बताए गए आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक अथवा धार्मिक कारकों पर नज़र डालें।

## 21.3.5 तर्कसंगत पूँजीवाद के कारक

कुछ विद्यार्थी और विद्वानों के मन में आमतौर से यह धारणा है कि वेबर पूँजीवाद के विश्लेषण में आर्थिक कारकों की अनदेखी करता है। यह सही नहीं है। सच्चाई यह है कि वह आर्थिक कारकों पर मार्क्स के बराबर ज़ोर नहीं देता परंतु आर्थिक कारकों के महत्व को नकारता भी नहीं। अब पूँजीवाद के विकास में आर्थिक और राजनैतिक कारकों की भूमिका के बारे में वेबर के विचारों की संक्षिप्त चर्चा की जाएगी।

i) **आर्थिक कारक**: वेबर ने यूरोप में "घरेलू कामकाज" और व्यापार के बीच धीरे-धीरे आये अंतर का उल्लेख किया है। घरेलू इस्तेमाल के लिए छोटे पैमाने पर वस्तुओं के उत्पादन की जगह फ़ैक्टरियों के बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा। घरेलू कामकाज और कारखानों के काम के बीच अंतर बढ़ने लगा। परिवहन और संचार के विकास में अर्थव्यवस्था को तर्कसंगत रूप देने में मदद मिली। समान मुद्रा के चलन तथा **बही-खाता** प्रणाली से आर्थिक लेन-देन आसान हो गया।

ii) **राजनैतिक कारक**: आधुनिक पाश्चात्य पूँजीवाद का विकास **नौकरशाही पर आधारित तर्क-विधिक राज्य** के विकास से जुड़ा है। इसमें नागरिकता की धारणा महत्वपूर्ण हो जाती है। नागरिकों के कुछ वैधानिक अधिकार और कर्तव्य होते हैं। नौकरशाही पर आधारित राज्य में सामंतवादी व्यवस्था टूटती है और इस तरह पूँजीवाद बाज़ार के लिए मुक्त भूमि और श्रम उपलब्ध होते हैं। ऐसी राज्य व्यवस्था विशाल क्षेत्र में शांतिपूर्वक राजनैतिक नियंत्रण बनाये रखने के अनुकूल होती है। फलस्वरूप व्यापरिक गतिविधियों को सुचारू रूप से चलाए जाने का अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण राजनैतिक वातावरण मिल जाता है। तर्कसंगत नौकरशाही राज्य व्यवस्था में संपूर्ण रूप से विकसित हो जाती है। इस प्रकार की राज्य व्यवस्था में तर्कसंगत पूँजीवाद पनप सकता है।

हमने पढ़ा कि वेबर किस तरह पूँजीवाद के विकास में आर्थिक तथा राजनैतिक कारकों के योगदान का विवरण करता है। हमने यह समझा कि कैसे घरेलू उत्पादन के स्थान पर फ़ैक्टरी में उत्पादन, मुद्रा का व्यापक चलन, संचार के साधनों और तकनीकी की सहायता से नयी आर्थिक प्रणाली विकसित होती है। हमने यह भी देखा कि किस प्रकार नौकरशाही पर आधारित राज्य

व्यापार के फलने-फूलने के लिए उपयुक्त राजनैतिक वातावरण तथा वैधानिक अधिकार और सुरक्षा प्रदान करता है।

लेकिन वेबर के अनुसार केवल यही व्याख्याएं पर्याप्त नहीं है। उसके अनुसार मानव-समुदाय अपनी परिस्थितियों को जिस रूप में समझता है, उन्हें जो अर्थ देता है; मानवीय व्यवहार उसी का प्रतिबिंब है। मानवीय व्यवहार के पीछे एक विशिष्ट नैतिकता तथा विश्व के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण होता है। इसी से मनुष्यों की गतिविधियां प्रेरित होती हैं। सबसे प्राचीन पश्चिमी पूँजीपतियों के व्यवहार के पीछे कौन सी नैतिकता थी? परिवेश के प्रति उनकी धारणा क्या थी और वे इस परिवेश में अपनी भूमिका किस प्रकार से समझते थे?

वेबर ने आंकड़ों के आधार पर कुछ रोचक तथ्य प्रस्तुत किये हैं। उसके अनुसार उस समय के ज़्यादातर व्यापारी विभिन्न पेशों के विशेषज्ञ और नौकरशाह प्रोटेस्टेंट धर्म के अनुयायी थे। इसके आधार पर वेबर का ध्यान एक महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर आकर्षित हुआ, वह यह कि क्या प्रोटेस्टेंट मान्यताओं का आर्थिक व्यवहार पर कोई असर है? वेबर की प्रख्यात रचना द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द *स्पिरिट ऑफ़ कैपिटलिज़्म* के बारे में खंड 4 की इकाई 15 में विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। आइए, अब पहले सोचिए और करिए 2 को पूरा करें तथा फिर आर्थिक व्यवहार के निर्धारण में धार्मिक विश्वासों की भूमिका पर नज़र डालें।

**सोचिए और करिए 2**

इस भाग (21.3) को ध्यानपूर्वक पढ़ें। पूँजीवादी व्यवस्था के विकास में आर्थिक कारकों की भूमिका के बारे में वेबर और मार्क्स के विचारों के बारे में एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखें। अगर संभव हो तो अपनी टिप्पणी की अध्ययन केन्द्र में अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणियों से तुलना करें।

iii) **धार्मिक/सांस्कृतिक कारक** - प्रोटेस्टेंट नैतिकता का सिद्धांत: सबसे पहले यह समझना आवश्यक है कि "प्रोटेस्टेंट नैतिकता" और पूँजीवादी प्रवृत्ति (जो कि वेबर द्वारा विकसित आदर्श प्ररूप है) के बीच कोई यांत्रिक संबंध नहीं है, न ही प्रोटेस्टेंट नैतिकता पूँजीवाद के विकास का एकमात्र कारण है। वेबर के अनुसार, प्रोटेस्टेंट नैतिकता तर्कसंगत पूँजीवाद के विकास के विभिन्न स्रोतों में से एक है।

कल्विन धर्म प्रोटेस्टेंट पंथों में से एक है। वेबर ने इस पंथ में पूर्व-नियति की चर्चा की। पूर्व-नियति से तात्पर्य इस विश्वास से है कि कुछ लोगों को ईश्वर ने मुक्ति पाने के लिए चुना है। इसके परिणामस्वरूप अनुयायियों ने धार्मिक ग्रंथों को महत्व देना बंद कर दिया। धार्मिक अनुष्ठानों और प्रार्थना का भी महत्व कम हो गया। पूर्व-नियति के सिद्धांत ने बड़ी व्याकुलता और अकेलेपन की भावना पैदा की। प्रारंभिक प्रोटेस्टेंट मत के अनुयायियों ने

अपने पेशेवर क्षेत्र में सफलता के प्रयास किए और ऐसी सफलता को ईश्वर द्वारा अपने "चयन" का संकेत माना। **ईश्वरीय "आह्वान" (calling)** की धारणा के फलस्वरूप अथक परिश्रम तथा समय के सदुपयोग पर ज़ोर दिया गया। लोगों ने अत्यंत अनुशासित और सुसंगठित तरीक़े से जीना शुरू किया। इच्छा-शक्ति के सुसंबद्ध तरीक़े के इस्तेमाल से निरंतर आत्म-नियंत्रण की प्रवृति पनपी जिससे व्यक्तिगत आचार के तर्कसंगत बनाने में मदद मिली। यह प्रवृत्ति व्यापार के तरीक़ों में भी आयी। मुनाफ़े का इस्तेमाल विलासिता के लिए नहीं किया गया बल्कि व्यापार को और आगे बढ़ाने के उद्देश्य से मुनाफ़े का फिर निवेश किया गया। इस तरह, **इहलौकिक आत्मसंयम (this wordly asceticism)** जोकि प्रोटेस्टेंट विचारधारा का महत्वपूर्ण अंग है, रोज़मर्रा के कामकाज को तर्कसंगत बनाने में सहायक हुआ। यह आत्मसंयम अथवा कड़ा अनुशासन और आत्मनियंत्रण साधु-सन्यासियों और पुरोहितों तक सीमित नहीं था। बल्कि यह सामान्य लोगों का भी जीवन-मंत्र

बन गया जिन्होंने स्वयं को तथा अपने परिवेश को अनुशासित करने का प्रयास किया। परिवेश पर नियंत्रण रखना पूँजीवाद का एक महत्वपूर्ण विचार और लक्षण है। इस तरह प्रोटेस्टेंट नैतिकता और उसके दृष्टिकोण ने तर्कसंगत पूँजीवाद को स्वरूप देने में योगदान दिया।

### 21.3.6 तर्कसंगत पाच्शात्य समाज का भविष्य: "लोहे का पिंजरा"

हमने देखा कि वेबर तर्कसंगति को पाश्चात्य सभ्यता को प्रमुख लक्षण माना है। आर्थिक प्रणाली, राजनैतिक प्रणाली, संस्कृति और रोज़मर्रा के कामकाज को तर्कसंगत बनाने के महत्वपूर्ण परिणाम होते हैं। तर्कसंगतिकरण की इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप **विश्व के प्रति विरक्ति** की भावना पैदा होती है। चूँकि विज्ञान के जरिए लगभग सभी रहस्य, सारे सवाल सुलझाए जा सकते है। इसलिए मानव-जाति का विश्व के प्रति आदरयुक्त भय समाप्त हो जाता है। दैनिक जीवन को तर्कसंगत बनाने से लोग एक घिसे-पिटे तय शुदा तरीके से जीने को मज़बूर हो जाते हैं। जीवन मशीनी, पूर्व निर्धारित, नियमबद्ध और आकर्षणहीन हो जाता है। इससे मानवीय रचनात्मकता कम हो जाती है और लोगों में नीरस एवं नियमबद्ध दिनचर्या को तोड़कर कुछ नया करने का उत्साह कम हो जाता है। मानव जाति अपने ही बनाए कारागार में फंस जाती है। इस "लोहे के पिंजरे" से निकलने का कोई रास्ता नहीं बचता। तर्कसंगत पूँजीवाद और इसकी सहयोगी तर्कसंगत नौकरशाही वाली राज्य-व्यवस्था जीवन की ऐसी पद्धति को स्थायी रूप देते हैं जिसमें मानवीय रचनात्मकता और साहस समाप्त हो जाते हैं। आस-पास के परिवेश का आकर्षण ही समाप्त हो जाता है। इससे मनुष्य मशीन जैसा बन जाता है। बुनियादी तौर से, यह अलगाव पैदा करने वाली प्रणाली है (देखिये चित्र 21.1: भविष्य के बारे में वेबर की कल्पना)।

**चित्र 21.1: भविष्य के बारे में वेबर की कल्पना**

हमने पढ़ा कि वेबर ने तर्कसंगत पूँजीवाद जैसी जटिल व्यवस्था के विकास की कैसे विवेचना की। वेबर अपनी व्याख्या को आर्थिक और राजनैतिक कारणों मात्र तक सीमित नहीं रखता। वह इन कारकों की अनदेखी भी नहीं करता पर वह तर्कसंगत पूँजीवाद में निहित मनोवैज्ञानिक अभिप्रेरणा (psychological motivations) पर ज़ोर देता है। ये अभिप्रेरणाएं परिवेश के बारे में बदलते दृष्टिकोण से पैदा हुई हैं। मानव-जाति ने स्वयं को प्रकृति के चक्र का असहाय शिकार न मानते हुए अपने मन पर और बाहरी दुनिया पर नियंत्रण पाने की नैतिकता को अपनाया है। इस बदले हुए दृष्टिकोण को बनाने में प्रोटेस्टेंट पंथों जैसे कि कल्विनधर्म के विचार सहायक थे। ईश्वरीय आव्हान और पूर्व-नियति की परिकल्पनाओं ने अनुयायियों को दुनिया में फलने-फूलने और इस पर नियंत्रण पाने की प्रेरणा दी। इससे एक ऐसी आर्थिक नैतिकता विकसित हुई जिसमें व्यक्तिगत जीवन और व्यापार को तर्कसंगत बनाने पर ज़ोर दिया गया। काम का बोझ केवल ज़रूरत न मान कर पवित्र कर्तव्य माना गया। ईश्वरीय आव्हान की धारणा के कारण अनुशासित श्रमिकों का दल निर्मित हुआ जिसने पूँजीवाद के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस तरह,

वेबर ने अनेक स्तरों पर पूँजीवाद का विश्लेषण किया। उसने बदलती भौतिक और राजनैतिक स्थितियों के साथ-साथ बदलते जीवन-मूल्यों तथा विचारों के आधार पर यह विश्लेषण किया।

वेबर भविष्य की निराशापूर्ण तस्वीर पेश करता है। आर्थिक-राजनैतिक ढाँचे में तर्कसंगति से जीवन एक नीरस दिनचर्या में ढल जाता है। मानव-जाति के सामने प्रकृति के सभी रहस्य खुल जाते हैं, अत: जीवन का रोमांच तथा आकर्षण समाप्त हो जाता है इस तरह मानव-जाति अपने ही बनाये "लोहे के पिंजरे" में फंस जाती है।

**बोध प्रश्न 3**

i) निम्नलिखित प्रश्नों में प्रत्येक प्रश्न का तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

क) तर्कसंगत पूँजीवाद के विकास के लिए तर्क-विधिक व्यवस्था क्यों ज़रूरी है?

.....

.....

.....

ख) पूर्व-नियति की धारणा से प्रोटेस्टेंट धर्म के लोगों का काम किस प्रकार प्रभावित हुआ?

.....

.....

.....

ii) निम्न वाक्यों में से "सही" या "ग़लत" बताइए।

क) वेबर के अनुसार पूँजीवाद के उदय का सबसे महत्वपूर्ण कारण नौकरशाही पर आधारित राज्य का पनपना है। सही/ग़लत

ख) पूर्व नियति की धारणा ने ज्यादातर प्रोटेस्टेंट धर्म के लोगों को प्रार्थना और धर्मग्रंथों के प्रति समर्पित जीवन बिताने के लिए प्रेरित किया। सही/ग़लत

ग) वेबर के अनुसार तर्कसंगत पाश्चात्य समाज ने मानव जाति को नीरस दिनचर्या से मुक्ति दिलाई। सही/ग़लत

## 21.4 मार्क्स और वेबर के विचारों की तुलना

हमने पूँजीवाद के बारे में कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर के विचारों का अध्ययन किया। इन दोनों के दृष्टिकोण में आपने अनेक समानताएं और अंतर पाये होंगे। आइए, इन समानताओं और अंतर का अब संक्षेप में विवेचन करें।

### 21.4.1 दृष्टिकोण में अंतर

इकाई 18 में आपने इन दोनों चिंतकों की विचार पद्धतियों के अंतर के बारे में पढ़ा। कार्ल मार्क्स अपने विश्लेषण में "समाज" को इकाई मानता है। इस दृष्टिकोण को हमने "सामाजिक यथार्थवाद" का नाम दिया है। इसके अनुरूप मार्क्स पूँजीवाद को समाज का एक ऐतिहासिक चरण मानता है।

दूसरी ओर वेबर समाज का अध्ययन उन व्याख्यात्मक अर्थों के संदर्भ में करता है जिनके द्वारा कर्त्ता या व्यक्ति अपने परिवेश को समझते हैं। वह सामाजिक स्थितियों की व्याख्या कर्त्ता के दृष्टिकोण के संदर्भ में करता है। व्याख्यात्मक दृष्टिकोण के आधार पर वह सामाजिक यथार्थ को समझने का प्रयास करता है। जैसा कि इस इकाई में बताया गया है वेबर व्यक्तियों की

मनोवैज्ञानिक अभिप्रेरणाओं पर ध्यान केंद्रित कर पूँजीवाद का अध्ययन करता है। इसके लिए वह लोगों की विश्वदृष्टि की और उनके कार्यकलापों के साथ जुड़े अर्थ की व्याख्या करता है।

### 21.4.2 पूँजीवाद का उदय

मार्क्स पूँजीवाद के उदय को उत्पादन की बदलती हुई प्रणाली के संदर्भ में देखता है। उसके अनुसार, आर्थिक प्रणाली या भौतिक क्षेत्र वह मूलभूत ढांचा अथवा अधोसंरचना (infrastructure) है जिससे संस्कृति, धर्म, राजनीति जैसी उप-प्रणालियों अर्थात् अधिसंरचना (super structure) का स्वरूप निर्धारित होता है। उसके अनुसार, सामाजिक व्यवस्था का परिवर्तन मूलतः आर्थिक परिवर्तन होता है। इस तरह, पूँजीवाद के उदय को उत्पादन के साधनों में बदलाव के आधार पर समझाया गया है। इस बदलाव का कारण है पिछले ऐतिहासिक चरण अर्थात् सामंतवाद का विरोधाभास।

वेबर का विश्लेषण कहीं अधिक जटिल है जैसा कि आपने पढ़ा वह तर्कसंगत पूँजीवाद के उदय में आर्थिक कारणों की अनदेखी नहीं करता। लेकिन वह व्यक्तियों के दृष्टिकोण, अभिप्रेरणाओं और कार्यों को एवम् उनकी व्याख्या को महत्वपूर्ण मानता है। व्यक्तियों के दृष्टिकोण, नैतिक मूल्यों, विश्वासों और भावनाओं से उनके कार्य निर्देशित होते हैं और इन कार्यों में आर्थिक कार्य भी शामिल हैं। इसलिए तर्कसंगत पूँजीवाद के उदय के कारणों को समझने के लिए वेबर नैतिक मूल्यों की उस प्रणाली पर ध्यान देता है, जिसकी वजह से तर्कसंगत पूँजीवाद पनपा। उसकी पुस्तक द *प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पिरिट ऑफ़ कैपिटलिज़्म* में यही दृष्टिकोण अपनाया गया है।

कुछ लोगों का विचार है कि वेबर के विचार मार्क्स से एकदम विपरीत है। उनका कहना है कि मार्क्स आर्थिक प्रणाली को धर्म से ज़्यादा महत्वपूर्ण मानता है जबकि वेबर धर्म को आर्थिक प्रणाली से ज्यादा महत्व देता है। मार्क्स और वेबर के विचारों की तुलना का यह **सतही और सपाट** तरीक़ा है। यह कहना ज़्यादा उचित है कि वेबर ने अपने विश्लेषण में नये आयाम और नये दृष्टिकोण शामिल करके मार्क्स के विचारों को पूर्णता दी ताकि पूँजीवाद जैसी जटिल धारणा के विविध पक्षों का ज़्यादा गहराई से अध्ययन हो सके।

मार्क्स तथा वेबर के विचारों की तुलना हेतु सोचिए और करिए 3 को पूरा करें।

**सोचिए और करिए 3**

मार्क्स आर्थिक प्रणाली को धर्म से ज़्यादा प्रमुखता देता है जबकि वेबर धर्म को आर्थिक प्रणाली से ज़्यादा महत्वपूर्ण मानता है। क्या आप इस बात से सहमत हैं? साथी विद्यार्थियों से भी विचार-विमर्श करें और अपने विचारों के समर्थन में एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखें।

### 21.4.3 पूँजीवाद के परिणाम और पूँजीवादी व्यवस्था को बदलने का उपाय

कार्ल मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था श्रमिकों के शोषण, अमानवीय और समाज के अलगाव की प्रतीक है। यह असमानता पर आधारित है और इसका बिखर कर नष्ट हो जाना तय है। इस व्यवस्था का पतन इसके अपने ही अंतर्विरोधों से होगा। सर्वहारा वर्ग क्रांति करेगा और मानवीय इतिहास का नया चरण यानी साम्यवाद का उदय होगा। वेबर भी मानता है कि तर्कसंगत पूँजीवाद मूलतः मानवीय समाज में अलगाव पैदा करता है। तर्कसंगत पूँजीवाद और नौकरशाही तर्कसंगत राज्य-प्रणाली साथ-साथ चलते हैं। इससे मानवीय जीवन एक ढर्रे पर आ जाता है, लोग समाज और विश्व से विरक्त हो जाते हैं। लेकिन भविष्य के प्रति वेबर का दृष्टिकोण निराशावादी है (देखिए चित्र 21.1 : भविष्य के बारे में वेबर की कल्पना)। मार्क्स के विपरीत वह मानता है कि क्रांति होने की या व्यवस्था के नष्ट हो जाने की कोई संभावना नहीं है। उसके अनुसार पूँजीवाद की मूलभूत धारणा तर्कसंगति आज की दुनिया की तमाम मानवीय गतिविधियों के लिए बहुत ज़रूरी

है। विज्ञान और तकनीकी की प्रगति, प्रकृति की शक्तियाँ तथा विश्व पर नियंत्रण करने की मानवीय इच्छा ऐसी प्रक्रियाएं हैं, जिन्हें पीछे नहीं लौटाया जा सकता। इसलिए क्रांतियों और विद्रोहों से समाज की प्रगति की दिशा में मूलभूत परिवर्तन नहीं लाया जा सकता।

मार्क्स पूँजीवाद की तर्कहीनता और विरोधों पर अधिक ध्यान देता है। उसके अनुसार तर्कहीनता और विरोधों के कारण परिवर्तन आता है। वेबर तर्कसंगति को अधिक महत्व देता है। यही तर्कसंगति लोगों को "लोहे के पिंजरे" में क़ैद कर देती है।

इस तरह, पूँजीवाद के बारे में मार्क्स और वेबर के दृष्टिकोणों में अंतर है। मार्क्स समाज़ के ऐतिहासिक चरणों के आधार पर पूँजीवाद का अध्ययन करता है। पूँजीवाद पिछले चरण के अंतर्विरोधों का परिणाम है और इसके साथ ही उत्पादन की नयी प्रणाली जन्म लेती है।

वेबर भी आर्थिक कारकों पर ज़ोर देता है। लेकिन पूँजीवाद की उसकी व्याख्या ज़्यादा जटिल है। अपनी समाजशास्त्रीय पद्धति अर्थात् अंतर्दृष्टि के अनुरूप वह व्यक्तिपरक अर्थो, मूल्यों और मान्यताओं पर ज़ोर देता है। दोनों ही विचारक मानते हैं कि मानवीय समाज के लिए पूँजीवाद का प्रभाव हानिप्रद है परंतु भविष्य के प्रति दोनों के दृष्टिकोण में बहुत अंतर है। मार्क्स क्रांति तथा परिवर्तन का संदेश देता है पर वेबर ऐसी कोई उम्मीद नहीं रखता है। मार्क्स के अनुसार, पूँजीवाद का आधार तर्कहीनता है। वेबर के राय में, पूँजीवाद तर्कसंगति का ही परिणाम है। यही दोनों के विचारों में अंतर का मुख्य मुद्दा है। अब इकाई के अंत में बोध प्रश्न 4 को पूरा करें।

**बोध प्रश्न 4**

i) निम्नलिखित वाक्यों के ख़ाली स्थानों में उचित शब्द लिखिए।

   क) मार्क्स ..... को अपने विश्लेषण की इकाई मानता है इस दृष्टिकोण को ..... कहते हैं।

   ख) वेबर सामाजिक स्थिति को ..... के आधार पर समझाने का प्रयास करता है।

   ग) वेबर के अनुसार पूँजीवाद के मूल में तर्कसंगति निहित है, पर मार्क्स की राय में इसका आधार ..... तथा ..... है।

   घ) मार्क्स की राय में आर्थिक प्रणाली वह आधार अथवा ..... है, जिससे ..... का स्वरूप निर्धारित होता है।

ii) मार्क्स और वेबर ने पूँजीवाद के उदय के जो कारण बताए, उनकी तुलना करें। उत्तर छः पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 21.5 सारांश

इस इकाई में हमने पूँजीवाद के संदर्भ में मार्क्स और वेबर के दृष्टिकोण के बारे मे पढ़ा। इन दोनों विचारकों के जीवन-काल में पूँजीवादी व्यवस्था विकसित हुई।

पहले भाग में, हमने मार्क्स के प्रमुख विचारों पर चर्चा की। हमने पढ़ा कि कैसे मार्क्स ने पूँजीवाद को मानवीय इतिहास के एक चरण के रूप में देखा। हमने टॉम बॉटोमार द्वारा बताए गए पूँजीवाद के लक्षणों का विवरण किया। हमने मार्क्स के वर्गों के ध्रुवीकरण के विचार का भी अध्ययन किया जिसके परिणामस्वरूप सर्वहारा क्रांति होगी और पूँजीवाद का विनाश होगा।

अगले भाग में, हमने पूँजीवाद के बारे में मैक्स वेबर के विचारों का विस्तृत अध्ययन किया। हमने देखा कि तर्कसंगित किस प्रकार पाश्चात्य सभ्यता के हर क्षेत्र में छायी हुई है। हमने आर्थिक प्रणाली की तर्कसंगतिकरण की प्रक्रिया का अध्ययन किया जिससे तर्कसंगत पूँजीवाद पनपा। हमने परंपरागत और तर्कसंगत के अंतर को समझा। आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक, धार्मिक कारकों के आधार पर पूँजीवाद के उदय के बारे में वेबर के विचारों पर चर्चा की गई। फिर हमने पाश्चात्य सभ्यता के भविष्य के प्रति वेबर के विचारों की संक्षिप्त चर्चा की।

अंतिम भाग में, हमने दोनों विचारकों की धारणाओं की संक्षेप में तुलना की। हमने यह भी पढ़ा कि पूँजीवाद के प्रति दोनों के दृष्टिकोण तथा इसके पनपने के कारणों तथा भविष्य के बारे में दोनों के विचारों में क्या-क्या अंतर है। निष्कर्ष रूप में हमने देखा कि दोनों ही पूँजीवाद को अलगाव पैदा करने वाली व्यवस्था मानते हैं।

## 21.6 शब्दावली

| | |
|---|---|
| **बही खाता** | लागत तथा मुनाफें का लेखा-जोखा |
| **नौकरशाही पर आधारित तर्क-विधिक राज्य** | यह आधुनिक समाजों का एक प्रमुख लक्षण है। इसमें संहिताबद्ध कानून और सरकार का तर्कसंगत संगठन होता है। |
| **ईश्वरीय आह्वान (calling)** | किसी कार्य या पेशे को ऐसा पवित्र कर्त्तव्य मान कर करना, जिसके लिए स्वयं ईश्वर ने व्यक्ति-विशेष को निर्देश दिया हो। |
| **कार्टेल (cartel)** | उद्योगपतियों का ऐसा समूह, जो मिलकर बाज़ार पर एकाधिकार या पूर्ण नियत्रंण कर लेता है। |
| **विश्व के प्रति विरक्ति (disenchantment of the world)** | विश्व के प्रति आदर-भाव की समाप्ति। लोग विश्व से अब आकर्षित और चकित नहीं होते। वे इसकी शक्तियों तथा रहस्यों को जानकर उन पर नियंत्रण कर लेते हैं, अत: उन्हें यह आकर्षक या रोमांचक नहीं लगता। |
| **व्याख्यात्मक दृष्टिकोण (interpretative understanding)** | वेबर के फर्स्टेहन की पद्धति अंतर्दृष्टि जिसमें सामाजिक घटनाओं का अध्ययन कर्त्ता के दृष्टिकोण के आधार पर किया गया है। |
| **मशीनी या एककारणीय संबंध (monocausal relationship)** | एक ही कारण पर आधारित संबंध जैसे ऊष्मा से पानी गर्म होता है एककारणीय व्याख्या है, जहाँ ऊष्मा को पानी गर्म होने का एकमात्र कारण बताया गया है। |
| **वर्गो का ध्रुवीकरण (polarisation of classes)** | वर्गो के बीच अंतर इतना बढ़ जाता है कि वे पृथ्वी के दो "ध्रुवों" (poles) की तरह एक-दूसरे के विपरीत हो जाते हैं। उनके हित, विचार, भौतिक स्थिति सभी कुछ एक दूसरे के विपरीत हो जाते हैं। |
| **सतही और सपाट (simplistic)** | बड़ा ही सरल, विश्लेषण जिसमें गहन तथा जटिल पक्षों की अनदेखी कर दी गई है। जैसे "सभी नशीली दवाइयां लेने वाले |

युवक/युवतियाँ टूटे परिवारों से आते हैं" सपाट व्याख्या है। इसमें अन्य कारणों, जैसे दोस्तों के असर, ग़रीबी आदि कारकों की अनदेखी की गई है।

**स्टॉक, शेयर या बांड**

कम्पनी अथवा उद्यम शेयर, स्टॉक और बांड जारी करक आम जनता को व्यापारिक पूँजी में अंशदान को आमंत्रित करते हैं। इन तरीकों से जन-साधारण का कंपनी की पूँजी में एक छोटा हिस्सा हो जाता है और उसी अनुपात में लाभांश (डिविडेंड) प्राप्त होता है।

**इहलौकिक आत्मसंयम (this worldly asceticism)**

आत्मसंयम का मतलब दैनिक जीवन में कड़े अनुशासन से है। वेबर के अनुसार प्रारंभिक प्रोटेस्टेंट धर्म को मानने वालों की यह प्रमुख विशेषता थी। वेबर ने हिंदू-धर्म जैसी पारलौकिक आत्मसंयम (other worldly asceticism) से इसकी तुलना की। इस प्रवृति में लोग प्रायश्चित द्वारा विश्व का त्याग करने के लिए स्वयं को संयमित करते हैं।

## 21.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बॉटोमोर, टॉम (संपादित) (1973). *डिकशनरी ऑफ मार्क्सिस्ट थॉट*. ब्लैकवेल: ऑक्सफ़ोर्ड

कॉलिंस रेंडल (1986). मैक्स वेबर - *ए स्कैलेटन की*. सेज पब्लिकेशंस: बेवर्लीहिल्स

फ्रांएड, जूलिएन (1972), *सोशियोलॉजी ऑफ मैक्स वेबर*, पेंगुइन: लंदन

## 21.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) क) ग़लत
   ख) ग़लत
   ग) ग़लत
   घ) ग़लत
   च) ग़लत

ii) क) मार्क्स के अनुसार सर्वहारा की क्रांति से नयी सामाजिक व्यवस्था "साम्यवाद" का जन्म होगा। श्रमिक उत्पादन के साधनों के स्वामी और नियंत्रक होंगे। इस प्रकार, पिछले चरणों के अंतर्विरोध दूर हो जाएंगे।

   ख) पूँजीवादी चरण में वस्तुओं का विनिमय मुद्रा में होता है। पूँजीवादी प्रणाली में मुद्रा ही समाज को बांधने वाली शक्ति है। इसलिए बैंको तथा वित्तीय संस्थानों की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है।

   ग) पूँजीवादी व्यवस्था में बहुत अधिक असमानता होती है। पूँजीपति उत्पादन के साधनों के स्वामी और नियंत्रक होते हैं जबकि श्रमिक अपनी श्रम-शक्ति बेचने को मजबूर होते हैं। इन दो वर्गों के बीच अंतर बढ़ता जाता है और ध्रुवीकरण की स्थिति आ जाती है।

**बोध प्रश्न 2**

i) तर्कसंगतिकरण से वेबर का अभिप्राय दुनिया और मानवीय जीवन-दोनों के संगठन से है। बाहरी दुनिया पर नियंत्रण किया जाना था और मानवीय जीवन को ऐसे व्यवस्थित किया जाना था ताकि ज़्यादा से ज़्यादा कुशलता और उत्पादकता बढ़े। कुछ भी प्रकृति या भाग्य के भरोसें नहीं छोड़ा गया।

ii) परंपरागत पूँजीवाद में व्यापार को जुआ समझा जाता था। बिक्री की वस्तुएँ सीमित और अक्सर बहुत क़ीमती होती थीं। खरीदार बहुत कम थे। विदेशी व्यापार जोखिम भरा था। व्यापार में भी जोखिम और अनिश्चितता थीं।

**बोध प्रश्न 3**

i) क) तर्कविधिक व्यवस्था से तात्पर्य सभी के लिए समान वैधानिक प्रणाली से है। इसमें व्यक्तिगत कर्तव्यों और अधिकारों को लिखित रूप में संहिताबद्ध किया जाता है। इससे व्यापारिक कारोबार करना आसान हो जाता है और पूँजीवाद के विकास में मदद मिलती है।

ख) पूर्व-नियति की धारणा से अनुयायियों के मन में बड़ी व्याकुलता और असुरक्षा पैदा हुई। उन्होंने अपने ईश्वरीय चयन के संकेतों को, प्रार्थना और धार्मिक अनुष्ठानों में नहीं, बल्कि पेशे की सफलता में तलाशा। दुनिया में सफलता के लिए उन्होंने कड़ी मेहनत की ओर अतिरिक्त लाभ को फिर व्यापार में ही लगाया ताकि उत्पादन और बढ़ाने में इसका इस्तेमाल हो सके।

ii) क) ग़लत

ख) ग़लत

ग) ग़लत

**बोध प्रश्न 4**

i) क) समाज, सामाजिक यथार्थवाद

ख) व्यक्तिपरक अर्थ

ग) तर्कहीनता, अंतर्विरोध

घ) अधोसंरचना, अधिसंरचना

ii) कार्ल मार्क्स पूँजीवाद के उदय की व्याख्या उत्पादन की बदलती प्रणाली के संदर्भ में करता है। पिछली प्रणाली, अर्थात् सामंतवाद के अंतर्विरोधों से नयी आर्थिक प्रणाली, अर्थात् पूँजीवाद का उदय होता है। इस प्रकार मार्क्स की व्याख्या मूलतः आर्थिक आधार पर थी। वेबर ने आर्थिक कारकों की अनदेखी तो नहीं की, पर साथ ही उसने राजनैतिक और धार्मिक कारकों की भी चर्चा की। उसकी राय में पूँजीवाद के विकास को समझने के लिए मनोवैज्ञानिक अभिप्रेरणाओं तथा व्यक्तिगत दृष्टिकोण को भी जानना जरूरी है। इस तरह वेबर का विश्लेषण बहु-स्तरीय तथा ज़्यादा जटिल है।

# संदर्भ ग्रंथ सूची


अ)

अल्टशुलर, रिचर्ड (सम्पा.) 1998. *द लिविंग लेगसी आफ़ मार्क्स, दर्खाइम एण्ड वेबर: एप्लीकेशन्स एण्ड एनालिसीस ऑफ़ क्लासिकल सोशियोलॉजिकल थियरी बाइ मॉडर्न साइंटिस्टस.* गॉर्डियन बुक्स: न्यूयॉर्क

आरों, रेमों, 1970. *मेन करेंट्स इन सोशियोलॉजिक्ल थॉट.* भाग 1 और 2, पेंगुइन: लंदन

बीमिश, रॉब 1992. *थियरी एण्ड मैथड्स: मार्क्स, मैथड एण्ड डिवीज़न ऑफ़ लेबर.* यूनीवर्सिटी ऑफ़ इलिनोइ प्रेस: अर्बाना

बॉटोमोर, टॉम, (सं.) 1973. *डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट.* ब्लैकवेल: ऑक्सफ़ोर्ड

बॉटोमोर, टॉम और रूबेल, मैक्सिमिलियन, (सं.) 1986. *कार्ल मार्क्स - सिलेक्टैड राइटिंग्स इन सोशियोलॉजी एण्ड सोशल फिलॉसोफ़ी.* पेंगुइन: लंदन

कॉलिन्स, रैंडल, 1986. *मैक्स वेबर -- स्केलेटन की.* सेज पब्लिकेशंस: बेवर्ली हिल्स

कॉलिन्स, रैंडल, 1985. *थ्री सोशियोलॉजिकल ट्रेडिशन्स.* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: ऑक्सफ़ोर्ड

कोज़र, लुविस, 1971. *मास्टर्स ऑफ़ सोशियोलॉजिकल थॉट -- आइडियाज़ इन हिस्टोरिकल एण्ड सोशल कॉंटेक्स्ट.* हरकोर्ट ब्रेस जोवानोविच: न्यूयार्क

दर्खाईम, एमिल, 1984. *डिविज़न ऑफ़ लेबर इन सोसाइटी.* मैकमिलन लंदन (पुन: मुद्रित)

दर्खाईम, एमिल, 1964. *एलिमेंटरी फॉर्म्स ऑफ़ द रिलिजिस लाइफ.* ऐलन एण्ड अन्विन: लंदन (पुन: मुद्रित)

दर्खाईम, एमिल, और मॉस, मार्सेल, 1963. *प्रिमिटिव क्लासिफ़िकेशन.* यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस: शिकागो (पुन: मुद्रित)

दर्खाईम, एमिल, 1966. *रूल्स ऑफ़ सोशियोलॉजिकल मैथड.* फ्री प्रेस: ग्लेनको (पुन: मुद्रित)

दर्खाईम, एमिल, 1972. *सुइसाइड: ए स्टडी इन सोशियोलॉजी.* रूटलेज एण्ड केगन पॉल: लंदन (पुन: मुद्रित)

फ्रॉएंड, जूलियन. 1972. *द सोशियोलॉज़ी ऑफ़ मैक्स वेबर.* पेंगुइन: लंदन

गिड्डनस, एंथनी, 1978. *दुर्खाइम. हार्वेस्टर* प्रेस: हैसॉक्स

जोन्स, रॉबर्ट एलन, 1986. एमिल दर्खाइम-*ऐन इंट्रोक्शन टु फ़ोर मेजर वर्क्स.* सेज पब्लिकेशन्स: बेवर्ली हिल्स

कंत, इमानुएल, 1950. *"क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न* ह्युमैनिटीज़: न्यूयार्क

कोलाकॉवस्की, लेज़ेक, 1978. *मेन करेंट्स ऑफ़ मार्क्सिज़्म--इट्स ओरिजिन्स,* ग्रोथ एण्ड डिसोल्यूशन. भाग 1, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: ऑक्सफ़ोर्ड

लॉकवुड, डेविड 1992. *सॉलिडैरिटी एंड शिज़्म: "द प्रॉब्लम ऑफ़ डिसऑर्डर इन दर्खाइमियन एंड मार्किसस्ट सोशियॉलाजी.* क्लैरंडन प्रैस: ऑक्सफ़र्ड

मार्क्स, कार्ल, 1958. *कैपिटल: ए क्रिटिकल अनौलिसिस ऑफ़ कैपिटलिस्टिक प्रोडक्शन.* भाग I और II फारेन लैंग्वेज़िज़ पब्लिशिंग हाउस: मॉस्को

मार्क्स, कार्ल, और एंगल्स, एफ. 1938. *जर्मन आइडियॉलोजी.* भाग I और II लॉरेन्स एण्ड विसहॉर्ट: लंदन

मैकिंटॉश, इयन (सम्पा.) 1997. *क्लासिकल सोशियोलॉजिकल थियरी: ए रीडर.* न्यूयॉर्क यूनीवर्सिटी प्रैस: न्यूयॉर्क

मॉस, मार्सेल, 1954. *द गिफ्ट: फ़ार्म्स एण्ड फंक्शन्स ऑफ़ एक्सचेंज इन आर्केइक सोसायटीज़.* यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस: शिकागो

माउस, मार्सेल और ह्यूबर्ट, हैनरी, 1964. *सैक्रिफ़ाइस: इट्स नेचर एण्ड फ़ंक्शन.* यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस: शिकागो

स्मिथ, एडम, 1966. *द थ्योरी ऑफ़ मॉरल सेंटिमेंट्स.* केली:न्यूयॉर्क

स्मिथ, एडम, 1950. *ऐन इंक्वायरी इनटु नेचर एण्ड कॉज़िज़ ऑफ़ द वैल्थ नेशन्स.* मेथ्युएन: लंदन

वेबर मैक्स, 1951. *द रितीज़न ऑफ़ चाइना. कन्फ़्यूशियनिज़्म एण्ड टाओइज़्म.* फ्री प्रेस: ग्लेनको

वेबर मैक्स, 1958. *द प्रॉटेस्टेंट एथिक एण्ड द स्पिरिट ऑफ़ कैपिटलिज़्म.* स्क्रिबनर: न्यूयार्क

वेबर मैक्स, 1958. *द रैशनल एण्ड सोशल फ़ाउँडेशन्स ऑफ़ म्यूज़िक.* सदर्न इलिनॉय यूनिवर्सिटी प्रेस: कार्बनडेल

वेबर मैक्स, 1968. *द रिलीज़न ऑफ़ इंडिया, द सोशियोलॉजी ऑफ़ हिदुइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म.* फ्री प्रेस: ग्लेनको .

वेबर मैक्स, 1966. *द सोशियोलॉजी ऑफ़ रिलीज़न.* मेथ्युएन: लंदन

**ब) हिंदी में उपलब्ध पुस्तकें**

श्रीवास्तव, सुरेन्द्र कुमार, *समाज के मूल विचारक.* उत्तरप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी: लखनऊ, क्रमांक: 541

बॉटोमोर, टॉम, 1975. *मार्क्सवादी समाजशास्त्र.* अनुवादक सदाशिव द्विवेदी. मैकमिलन कंपनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड: नई दिल्ली

यशपाल, 1983. *मार्क्सवाद.* लोकभारती प्रकाशन: इलाहाबाद

दर्खाइम, एमिल, 1982. *समाजशास्त्री पद्धति के नियम.* अनुवाद हरिश्चंद्र उप्रेती. राजस्थान हिंदी ग्रंथ. अकादमी: जयपुर

वर्मा, ओमप्रकाश, 1983-84. *दर्खाइम एक अध्ययन.* विवेक प्रकाशन: दिल्ली

# इकाई 22 संस्कृति तथा प्रकार्य की अवधारणा - मलिनॉस्की

## इकाई की रूपरेखा


22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 मलिनॉस्की के पूर्ववर्ती विचारक

22.2.1 विकासवादी विचारक

22.2.2 प्रसारवादी विचारक

22.3 तथ्य एकत्रीकरण में विशिष्ट अभिरुचि

22.4 संस्कृति - कार्यशील समग्रता के रूप में

22.4.1 मलिनॉस्की तथा टाइलर की संस्कृति की परिभाषाएं

22.4.2 संस्कृति के अध्ययन की विधियाँ

22.5 आवश्यकताओं का सिद्धांत

22.5.1 जैविक आवेग

22.5.2 आवश्यकताओं के प्रकार

22.6 मलिनॉस्की द्वारा विकसित प्रकार्य की अवधारणा

22.7 सारांश

22.8 शब्दावली

22.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

22.10 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 22.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए संभव होगा

- मानवीय संस्थाओं के अध्ययन के विकासवादी तथा विस्तारवादी दृष्टिकोणों का विवेचन करना
- समाज तथा उसकी संस्थाओं के संबंध में प्रत्यक्ष जानकारी एकत्र करने में बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल के समाजशास्त्रियों के बारे में बताना
- मलिनॉस्की की संस्कृति की अवधारणा तथा संस्कृति के अध्ययन की विविध विधियों की व्याख्या करना
- मलिनॉस्की द्वारा प्रतिपादित आवश्यकता की अवधारणा तथा आवश्यकताओं के प्रकारों की जानकारी देना
- मलिनॉस्की द्वारा ट्रोब्रिएण्ड द्वीप समूह में एकत्र किए गए तथ्यों का विश्लेषण करने के लिए प्रकार्य की अवधारणा के इस्तेमाल का विवेचन करना।

## 22.1 प्रस्तावना

ई.एस.ओ.-13 पाठ्यक्रम के पहले पांच खंडों में हमने शास्त्रीय (classical) समाजशास्त्र के

विकास का अध्ययन किया। आइए, अब देखें कि बीसवीं सदी के प्रारंभ में क्या हुआ। इस समय समाजशास्त्र ने तीव्र विकास के दौर में प्रवेश किया। यह दौर प्रकार्यवाद सिद्धांत के उदय के साथ प्रारंभ हुआ। प्रकार्यवाद की अवधारणा को सरल भाषा में समझाना हो तो यह कहा जा सकता है कि कॉम्ट और स्पेंसर जैसे पूर्ववर्ती समाजशास्त्रियों ने भी राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा नैतिक क्षेत्रों के प्रकार्यों में संबंध की चर्चा की थी। उनका मानना था कि इनमें से किसी भी क्षेत्र में परिवर्तन होने पर अन्य क्षेत्रों में भी समतुल्य (corresponding) परिवर्तन होते हैं। उनकी मान्यता थी कि विभिन्न सामाजिक गतिविधियों के बीच इन समतुल्यताओं या अंत: संबंधों की खोज करना ही समाजशास्त्र का लक्ष्य है। बाद में फ्रांस में दर्ख़ाइम तथा अन्य लेखकों (विशेष रूप से उन्नीसवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड के विक्टोरियन युग के नृशास्त्रियों) ने इस विषय पर अनेक पुस्तकें लिखीं। इन पुस्तकों में सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति तथा प्रकार्यों के नियमों की व्याख्या की गई। 1920 तथा 1930 के दौरान ब्रिटिश सामाजिक नृशास्त्रीय विकास के माध्यम से प्रकार्यवाद का विचार आधुनिक समाजशास्त्र में प्रयुक्त हुआ। पोलैंड के प्रतिभाशाली वैज्ञानिक ब्रोनिस्लॉ मलिनॉस्की (जो बाद में नृशास्त्री बन गए) ने ब्रिटेन में प्रकार्यवादी विचारधारा का विकास किया। यह समाजशास्त्र के इतिहास में एक क्रांतिकारी घटना सिद्ध हुई, क्योंकि मलिनॉस्की के नेतृत्व में प्रकार्यवाद ने काफ़ी ज़ोर पकड़ा। इस समय समाज और उसकी संस्थाओं के बारे में वैज्ञानिक ढंग से सामग्री एकत्र की गई। इस तरह के अध्ययन को अनुभवपरक वास्तविकता (empirical reality) का अध्ययन भी कहा गया।

इस खंड में मुख्यतया यह बताया गया है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में समाजशास्त्रियों ने सामाजिक जीवन का अर्थ समझने के लिए किस प्रकार प्रकार्य की अवधारणा का प्रयोग किया। इसकी पहली इकाई में ब्रोनिस्लॉ मलिनॉस्की के योगदान की चर्चा है, उसने आदिम समाजों का सामाजिक सांस्कृतिक इकाई के रूप में अध्ययन किया और संस्कृति के प्रत्येक पहलू की व्याख्या उसके प्रकार्यों के संदर्भ में की।

मलिनॉस्की के प्रकार्यवादी दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि देने के लिए इस इकाई के आरंभ में मलिनॉस्की के पूर्ववर्ती विचारकों के बारे में बताया गया है। फिर यह दिखाया गया है कि कैसे समाज तथा उसकी संस्थाओं के संबंध में तथ्य एकत्र करने को अधिकाधिक महत्व दिया जाने लगा। उसके पश्चात्, मलिनॉस्की द्वारा विकसित संस्कृति तथा आवश्यकताओं की अवधारणाओं पर प्रकाश डाला गया है। अंत में प्रकार्यवाद की अवधारणा की चर्चा की गई है, जिससे उसे न्यू गिनी में क्षेत्रीय कार्यशोध के दौरान एकत्र किए गए तथ्यों का विश्लेषण करने में मदद मिली।

## 22.2 मलिनॉस्की के पूर्ववर्ती विचारक

मलिनॉस्की का कार्य मुख्यतया अपने पूर्ववर्ती बौद्धिक विचारकों के चिंतन पर आधारित था। लीच (1957: 137) ने मलिनॉस्की के बारे में अपने लेख में कहा, "मलिनॉस्की अपने पूर्ववर्ती विचारकों के जाल" में बंधा था। उसने प्रत्यक्षत: उनका गहरा विरोध किया परंतु मूलत: वह उनके विचारों से अपने को दूर नहीं कर सका। एक तरह से यह बात अपने समय की चिंतन-परंपरा को आगे बढ़ाने वाले किसी भी व्यक्ति के संबंध में कही जा सकती है। आइए, हम मलिनॉस्की की स्थिति का परीक्षण करें।

अठारहवीं शताब्दी में, ब्रिटेन में डेविड ह्यूम, एडम स्मिथ और एडम फ़र्गुसन तथा फ्रांस में मांटेस्क्यू और कोंडोसेंट जैसे विद्वानों की रुचि मानवीय संस्थाओं की उत्पति की खोज करने में थी (देखिए कोष्ठक 22.1)। उनका विचार था कि आदिम समाज का विश्लेषण करके वे अपनी समसामयिक सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति के बारे में जान सकते हैं। किंतु उन्होंने आदिम समाजों के बारे में किसी प्रकार की सामग्री एकत्र किए बिना ही उनके बारे में सिद्धांतों की परिकल्पना कर ली। वास्तव में, उनके ये सिद्धांत अपने समय तथा संस्कृतियों में प्रचलित विचारों

पर आधारित थे। किंतु महत्व की बात यह है कि इन विद्वानों ने मानव समाजों को अध्ययन का महत्वपूर्ण विषय माना। उनका विचार था कि प्राकृतिक विज्ञानों की भांति समाज के सार्वत्रिक नियमों को सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन से खोजा जा सकता है। इसी कारण अठारहवीं सदी के इन विद्वानों को आधुनिक समाजशास्त्र का अग्रदूत माना जाता है। इन विद्वानों के बाद आने वाले उन्नीसवीं सदी के विद्वानों को विकासवादी विचारक कहा जाता था। विकासवादी माने जाने वाले इन विद्वानों की भी सामाजिक विकास तथा मानव संस्कृति की प्रगति के अध्ययन में रुचि थी। इन विद्वानों ने भी आदिम संस्कृतियों का अध्ययन करके सामाजिक विकास की कड़ी को समझने की कोशिश की।

**कोष्ठक 22.1 मानवीय समाज के उद्‌भव में रुचि**

यूरोप में अठारहवी शताब्दी के अनेक विद्वानों ने मानव समाज की उत्पत्ति को जानने में तीव्र लगन दिखाई। उनमें सर्वाधिक विख्यात हैं- स्कॉटलैंड के **नैतिक दार्शनिक** डेविड ह्यूम (1711-1776) तथा एडम स्मिथ (1723-1790)। दोनों यह मानते थे कि मानव समाज का उद्‌भव मानव प्रकृति में खोजा जा सकता है। हॉब्स के सामाजिक समझौते के विचार को अस्वीकार करते हुए उन्होंने प्राकृतिक धर्म, प्राकृतिक नियम तथा प्राकृतिक नैतिकता पर बल दिया। वे मानव प्रकृति के सामान्य सिद्धांतों का पता लगाने के पक्ष में थे। यह कार्य उन्होंने मानवीय समाज के विकास के चरणों के संदर्भ में किया। उनकी मान्यता थी कि सभी ज्ञात सामाजिक समूहों के विकास क्रम का पता लगा कर मानव इतिहास की पुनर्रचना की जा सकती है। इसी प्रकार, एडम स्मिथ ने 1767 में एक पुस्तक *एन एस्से ऑन हिस्ट्री आफ सोसाइटी* लिखी, जिसमें उसने भरण-पोषण विधि, जनसंख्या वृद्धि का सिद्धांत, सामाजिक विभाजन आदि विषयों का विवेचन किया। चूंकि इन विद्वानों की चिंता समाज के सामान्य सिद्धांतों का पता लगाने तक सीमित थी, इसलिए आज भी सब उनके विचारों के उद्धरण देते हैं, भले ही उनकी पुस्तकों को आद्योपान्त पढ़ते न हों।

एक वकील तथा राजनीति विज्ञान के विद्वान फ्रांस में मांटेस्क्यू (1689-1755), ने 1748 में सामाजिक-राजनीतिक दर्शन पर एक पुस्तक *दि स्पिरिट ऑफ़ दि लॉज़* लिखी। इस पुस्तक में समाज के सभी पहलुओं के बीच अंतर्संबधों की पड़ताल की गई। उसका विचार था कि समाज के सारे कार्यकलाप प्रकार्यात्मक दृष्टि से परस्पर जुड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए, हमें फ़ौजदारी तथा दीवानी कानून को समझने के लिए न केवल एक-दूसरे के संदर्भ में बल्कि समाज की अर्थव्यवस्था, विश्वास, रीति-रिवाज आदि के संदर्भ में भी उनका अध्ययन करना होगा।

कोंडोसेंट (1743-1794) फ्रांस का एक दार्शनिक और राजनीति विज्ञान का विद्वान था। वह भी मानवीय समाजों की उत्पत्ति की खोज में लगा था।

### 22.2.1 विकासवादी विचारक

विकासवादी उन विचारकों को कहा गया जिनका तर्क था कि कुछ समाज चूंकि अन्य समाजों से अधिक विकसित अवस्था में पाए जाते हैं, अत: सभी समाजों को विकास के कुछ निश्चित चरणों से गुज़रना होता है। मानव प्रजातियों के विकास के बारे में चार्ल्स डार्विन के सिद्धांत से यह विचार और पुष्ट हुआ कि मानव इतिहास की प्रगति का अध्ययन विकासात्मक प्रक्रिया के संदर्भ में ही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यूरोप में बख़ोफ़न, ब्रिटेन में मेन और मैक्लनन और अमरीका में मॉर्गन ने सामाजिक विकास के अनेक चरणों की परिकल्पना की। 1861 और 1871 के दौरान ऐसी पुस्तकें प्रकाशित हुई, जो आज सैद्धांतिक दृष्टि से शास्त्रीय रचनाएं (classics) मानी जाती हैं। इनमें प्रमुख हैं

- हैनरी मेन द्वारा लिखित *एंशेंट् लॉ* (1861) और *विलेज-कम्युनिटिज़ इन दि ईस्ट एण्ड वेस्ट* (1871),
- जे.जे. बख़ोफन द्वारा रचित *द मदर राइट* (1861).
- जे.एफ. मैक्लनन की कृति *प्रिमिटिव मैरिज* (1865).
- ए.बी. टाइलर की पुस्तकें *रिसर्चज़ इनटू दि अरली हिस्ट्री ऑफ़ मैनकांइड* (1865) और *प्रिमिटिव कल्चर* (1871).
- एल.एच. मॉर्गन की पुस्तक *सिस्टम्स ऑफ़ कॉंसगुइनिटि एण्ड अफ़िनिटि ऑफ़ द ह्यूमन, फ़ैमिली* (1871).

इनमें से केवल कुछ पुस्तकें आदिम समाजों के बारे में हैं। मेन की पुस्तकें रोमन संस्थाओं तथा भारत-यूरोपीय समुदायों के संबंध में हैं। बखोफ़न ने यूनान तथा रोमन कालीन परम्पराओं एवं मान्यताओं के बारे में लिखा। किन्तु मैक्लन, टाइलर तथा मॉर्गन ने मुख्यतया आदिम समाजों को अपने अध्ययन का विषय बनाया। उन्होंने विभिन्न स्रोतों से आदिम समाजों के बारे में सामग्री एकत्र की और उन्हें व्यवस्थित रूप दिया।

ये सभी विद्वान अनुमानों पर आधारित ऐसे सिद्धांतों को छोड़ देने के पक्ष में थे, जिनका यथार्थ जगत में कोई आधार नहीं था। उनके पूर्ववर्ती विद्वान (अठारहवीं शताब्दी के नैतिक दार्शनिक) समाज के बारे में दृष्टिकोण बनाने के लिए अपने समाज के अंतरावलोकन (introspection) पर आश्रित थे। अपने समाज से इतर समाजों के अवलोकन का उन्हें कोई अवसर भी उपलब्ध नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी के विद्वान अंतर्संबधों में प्रकारांतर (variations) के माध्यम से समाज के विभिन्न भागों के बीच परस्पर संबंधों का अध्ययन करना चाहते थे। उनका मानना था कि जटिल सामाजिक पहलुओं के अध्ययन के लिए साधारण प्रकारांतरों (variables) का सहारा नहीं लिया जा सकता। सामाजिक संस्थाओं के उद्भव एवं विकास के नियमों के निर्धारण के लिए उन्होंने बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी। उदाहरण के लिए, उन्होंने एकलविवाह का विकास स्वच्छंद काम-संबंधों से माना, उद्योग के विकास की जड़ें खानाबदोशी में ढूंढ़ी और एकेश्वरवाद (monism) का उद्भव जीववाद (animism) में देखा। स्कॉटलैंड के वकील (1822-1888) सर हैनरी मेन का उदाहरण ही लीजिए। उसने लिखा कि सामाजिक जीवन का मूल तथा विश्वव्यापी स्वरूप पितृसत्तात्मक परिवार का है, जिसमें पिता को पूर्ण सत्ता प्राप्त है। किन्तु दूसरी ओर स्विटज़लैंड के एक न्यायविद, बखोफ़न ने परिवार के संबंध में एकदम विपरीत विचार व्यक्त किए। उसने लिखा कि स्वच्छंद संभोग परिवार व्यवस्था का मूल स्वरूप था। उसके पश्चात् मातृवंश परम्परा, **मातृसत्तात्मक व्यवस्था** तथा परिवार व्यवस्था आई और फिर पितृवंश परम्परा तथा **पितृसत्तात्मक व्यवस्था** विकसित हुए।

स्कॉटलैंड के ही एक अन्य न्यायविद्, जे.एफ. मैक्लनन (1827-1881), ने भी सामाजिक विकास के नियमों की रचना की। उसका विचार था कि स्वच्छंद संभोग निश्चय ही सामाजिक जीवन का मूल तथा सार्वत्रिक स्वरूप रहा होगा। उसके पश्चात् **मातृवंश परंपरा** के परिवार तथा टोटमिक समूहों की अवस्था आई होगी और फिर **ब्रहुपति प्रथा** तथा अंतत: **पितृवंश परंपरा** प्रणाली का विकास हुआ होगा (शब्दावली में इन शब्दों को देखिए)।

अमरीकी वकील (1834-1881) एल.एच. मॉर्गन ने विवाह तथा परिवार विकास के पंद्रह चरणों की परिकल्पना की। सर एडवर्ड टाइलर (1832-1917) अकेला ऐसा विद्वान था, जिसने मानव विकास के चरणों के बारे में कुछ नहीं लिखा और केवल धार्मिक विश्वासों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उसने कहा कि आदिम लोगों के सपनों, बीमारी, नींद जीवन, मृत्यु आदि के संबंध में ग़लत अनुमान ही उनके सारे धार्मिक विश्वासों तथा सम्प्रदायों का स्रोत हैं।

आज भी आपको ऐसे लोग मिल जाएंगे जो यह मानते हैं कि मानव समुदाय विकासात्मक दौर से गुज़रते हैं। किन्तु हम जैसे लोगों को जो मानव समुदायों के बारे में आधुनिक खोजों तथा पुस्तकों का अध्ययन कर सकने की स्थिति में हैं, इस तरह का विचार प्रभावित नहीं करता है। उन्नीसवीं शताब्दी के विद्वानों के पास मानव समाजों के बारे में इतनी अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं थी। काफ़ी बाद में, जब समकालीन मानव समाजों के बारे में धीरे-धीरे जानकारी काफ़ी मात्रा में उपलब्ध हो गई तो उन्नीसवीं शताब्दी के विकासवादियों के सिद्धांतों को नए मिले प्रमाणों की कसौटी पर परखा गया। तब यह प्रमाणित किया गया कि उनके सिद्धांत केवल अनुमानमूलक थे और अनुभवपरक यथार्थ पर आधारित नहीं थे। विकासवादी विचारक यह सोच भी नहीं सकते थे कि लोगों के बारे में जिन सिद्धांतों की वे रचना कर रहे हैं, उन्हें सुव्यवस्थित ढंग से एकत्र की गई सामग्री पर आधारित करना आवश्यक है। यह कल्पना करना भी उनके लिए असंभव था कि आदिम समाजों के अध्ययन से उनके ज्ञान में कोई बढ़ोतरी हो सकती है। शायद आपने उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दौर के एक प्रसिद्ध विद्वान सर जेम्स जॉर्ज फ्रेज़र के बारे में प्रचलित एक किस्सा सुना हो। उसने आदिम लोगों के संबंध में *द गोल्डन बाउ* सहित अन्य कई पुस्तकें लिखीं (द गोल्डन बाउ के बारे में देखिए कोष्ठक 22.2)। जब उससे पूछा गया कि क्या वह उनमें से किसी आदिवासी से मिला है तो उसका उत्तर था "भगवान बचाए"। इस प्रतिक्रया से स्पष्ट होता है कि फ्रेज़र जैसे आरामकुर्सी पर बैठे अनुमान लगाने वाले नृशास्त्री अपने समाज को ही सबसे उन्नत मानते थे। वे समझते थे कि उनकी संस्कृति और समाज ही प्रगति के आदर्श हैं। एक तरह से ये विकासवादी विचारक प्रगति की संकल्पना मात्र से ही मोहग्रस्त थे।

**कोष्ठक 22.2: सर जेम्स फ्रेज़र द्वारा रचित *द गोल्डन बाउ***

जब मलिनॉस्की लंबी बीमारी के कारण विज्ञान की अपनी पढ़ाई जारी नहीं रख पाया तो उसने मन लगाने के लिए सर जेम्स फ्रेज़र (1854-1940) की प्रसिद्ध पुस्तक *द गोल्डन बाउ* पढ़ी और वह उससे बहुत प्रभावित हुआ (देखिए कूपर 1975:23)। 1890 में प्रकाशित हुई पुस्तक *द गोल्डन बाउ* के 1907 और 1915 के बीच बारह खण्ड प्रकाशित हुए। 1922 में इसका संक्षिप्त संस्करण भी निकला। इस पुस्तक में प्राचीन सम्प्रदायों तथा लोक-गाथाओं का विवेचन है।

इस पुस्तक में फ्रेज़र ने जादू, विज्ञान तथा धर्म के क्रमिक चरणों के माध्यम से मानव चिंतन की पुरर्रचना की। फ्रेज़र के अनुसार (1922: 55), सर्वप्रथम सामाजिक जीवन पर जादूगरों का प्रभुत्व था और जादूगर प्रकृति के नियमों के प्रति आस्थावान थे। अधिक समझदार लोगों को धीरे-धीरे उनमें कमियां महसूस होने लगीं और उनका जादू से मोहभंग हुआ। उस स्थिति में उन्होंने ऐसी आध्यात्मिक शक्तियों को कल्पना की जो प्रकृति को नियंत्रित कर सकें। फ्रेज़र के अनुसार, यह धर्म का युग था। समय बीतने के साथ यह स्थिति भी भ्रामक प्रतीत होने लगीं और अंततः विज्ञान के दौर का शुभारम्भ हुआ।

हो सकता है कि हम सामाजिक नियमों के फ्रेज़र के सिद्धांत से सहमत न हो पाएं परंतु इस उपलब्धि का श्रेय उसे अवश्य देना होगा कि उसने देश और काल की सीमाओं को पार करके मानव-समाजों में समानताओं का पता लगाने के प्रयास किए। इसके लिए उच्च कोटि की योग्यता, ज्ञान तथा विद्वता की आवश्यकता थी। इसी कारण मलिनॉस्की फ्रेज़र से अत्यंत प्रभावित हुआ और उसे जादू, विज्ञान तथा धर्म के विषयों पर शोध करने की प्रेरणा मिली। मलिनॉस्की के इस शोध के बारे में आपको इकाई 23 में विस्तृत जानकारी दी जाएगी।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक विद्वानों ने अतीत के पुनर्निर्माण के ज़रिए मानव समाजों की व्याख्या करने के विकासवादी दृष्टिकोण की आलोचना करना शुरू कर दिया था। स्टाइनमज़ (1894), नीबो (1900), वेस्टर्मार्क (1906) तथा हॉबहाउस (1906) विकासवादी विचारकों की

पीढ़ी के अंतिम विद्वान थे। इन्होंने आदिम से वैज्ञानिक चरण तक के एक ही दिशा में होने वाले मानव समाज के विचारों में विश्वास की परम्परा को जारी रखा।

इस समय विकासवादी दृष्टिकोण को भले ही चुनौती दी गई, परंतु इस बात से लगभग सभी सहमत थे कि मानव संस्थाओं के उद्भव की खोज करना समाजशास्त्रीय अध्ययन का उद्देश्य है। यही कारण है कि मलिनॉस्की भी, जिसने विकासवादियों को जी-भर कर कोसा, हदय से विकासवादी ही रहा। विकासवादियों की आलोचना तो मुख्य रूप से इसलिए की जा रही थी कि उनके निष्कर्ष अनुमानमूलक तथा मूल्यपरक थे। इस दृष्टि से उनमें तथा अठारहवीं शताब्दी के उनके पूर्ववर्ती विद्वानों में कोई अंतर दिखाई नहीं देता। यह कहा जा सकता है कि उनमें यही अंतर था कि अठारहवीं शताब्दी के नैतिक दार्शनिकों ने किसी तरह के प्रमाण की परवाह किए बिना ही अपने सिद्धांतों की रचना की। जबकि उन्नीसवीं शताब्दी के विद्वानों ने अपने सिद्धांतों की रचना किसी न किसी तरह से एकत्रित सामग्री पर आधारित करने की आवश्यकता मात्र महसूस की। इस प्रकार, विकासवादियों के पास नई-नई जगहों की खोज में निकल पड़ने वाले यात्रियों, धर्म प्रचारकों, सरकारी अधिकारियों तथा एक जगह से दूसरी जगह जाकर बसने वालों से उल्टे-सीधे ढंग से प्राप्त की गई ढेर सारी प्रकाशित सामग्री इकटठी हो गई। इस सामग्री के आधार पर उन्होंने मानव समाजों के सुदूर अतीत के बारे में ऊंचे-ऊंचे सिद्धांत गढ़ लिए। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल के विद्वानों ने इस प्रमाण के औचित्य पर अनेक प्रश्न-चिन्ह लगाए।

विकासवादी सिद्धांतों की आलोचना दो प्रकार के समाजशास्त्रियों ने की। इनमें से एक वर्ग प्रसारवादी तथा दूसरा प्रकार्यवादी कहलाता है। ये दोनों ही वर्ग मानव संस्कृतियों की प्रगति की व्याख्या के लिए आदिम संस्कृतियों के अध्ययन को आवश्यक मानते हैं। दोनों ने आदिम समाजों के बारे में उल्टे-सीधे ढंग से एकत्र किए गए तथ्यों की प्रामाणिकता पर आपत्ति की। दोनों ने आदिम लोगों से संबंधित जानकारी वैज्ञानिक ढंग से एकत्र किए जाने को महत्व दिया। परंतु दोनों ने तथ्य एकत्र करने की अपनी अलग तकनीक विकसित की और दोनों में इससे भी अधिक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि उन्होंने एकत्र किए गए तथ्यों में मानव संस्कृतियों की व्याख्या के लिए अर्थ निकालने के अलग, सैद्धांतिक स्वरूप विकसित किए। यहां हमने पहले प्रसारवादियों, तथ्य एकत्र करने की उनकी विधि तथा मानव संस्कृतियों के बारे में उनके सिद्धांतों का विवेचन किया है। उसके पश्चात् प्रकार्यवादियों, तथ्य एकत्र करने की उनकी विधियों तथा मानव समाजों एवं संस्कृतियों के विश्लेषण के उनके सिद्धांतों का अवलोकन किया है। चूंकि प्रसारवादियों तथा प्रकार्यवादियों दोनों ने आदिम संस्कृतियों के अध्ययन पर बल दिया, इसलिए नीचे दी गयी विवेचना आदिम वर्गों से जुड़े उनके लेखन पर आधारित है। इस बिंदु पर सोचिए और करिए 1 को पूरा करें। इस अभ्यास को करने से आपको अभी तक पढ़ी इस इकाई की पाठ्य सामग्री को समझने तथा आत्मसात करने में सहायता मिलेगी।

**सोचिए और करिए 1**

क्या आपका मानना है कि मानव समाज विकास के क्रमिक चरणों में से गुज़रते हैं? क्या ऐसा है कि इस इकाई में हमने जिस विकासवादी चिंतन का उल्लेख किया है, उसमें समाज के बारे में भारतीय लेखन से उपजे विचार शामिल नहीं हैं? यदि हां तो आपकी क्या धारणा है कि ऐसा क्यों हैं?

## 22.2.2 प्रसारवादी विचारक

प्रसारवादी समाजशास्त्री एक मानव समूह से दूसरे समूह तक संस्कृति के प्रसार के ठोस प्रमाण से बहुत प्रभावित हुए। उनका प्रश्न था कि यदि समूह "क" की किसी सांस्कृतिक विशेषता और समूह "ख" की किसी सांस्कृतिक विशेषता में समरूपता है तो क्या उस तत्व का प्रसार एक से दूसरे समूह में हुआ है और इस प्रकार दोनों समूहों में किसी न किसी तरह का संबंध है? इस प्रश्न का

उत्तर देते हुए प्रसारवादी समाजशास्त्रियों ने विश्वासों, रीति-रिवाज़ों, प्रौद्योगिकी, कला जैसे क्षेत्रों में समानता के तत्वों का उल्लेख किया। संस्कृति के तत्वों के एक समूह से दूसरे समूह तक फैलने का यह सिद्धांत **प्रसारवाद** के रूप में जाना गया।

घोर प्रसारवादी समाजशास्त्रियों ने संपूर्ण मानव संस्कृति के प्रसार की जटिल प्रक्रिया की व्याख्या करने का प्रयास किया। वे सांस्कृतिक विशेषताओं के मूल उद्गम का पता लगाना चाहते थे। उदाहरण के लिए, फ़ादर विल्हम श्मिट (1888-1954) ने आदिम समुदायों की परिस्थितियों के अध्ययन के दौरान मानवता के प्राचीन चरण के अवशेषों की खोज को अत्यंत महत्वपूर्ण समझा। इंग्लैंड में जी. ई. स्मिथ और डब्ल्यू. जे. पैरी ने भी मानव सभ्यता के प्रसार के एकमात्र स्रोत का पता लगाने का अतिवादी दृष्टिकोण अपनाया। मानव सभ्यता के मूल उद्गम की खोज की धुन में वे इस निष्कर्ष पर पहँचे कि प्राचीन मिस्र की सभ्यता से ही संसार में सभी सभ्यताएं फैली (देखिए लोवी 1937)। 1920 के दशक में मिस्र से सभ्यता के फैलाव का यह सिंद्धात व्यापक चर्चा का विषय रहा, किंतु बौद्धिक जगत में इसका विशेष समर्थन नहीं हुआ। ब्रोनिस्लॉ मलिनॉस्की इस सिद्धांत का कट्टर आलोचक था।

अधिकतर प्रसारवादियों ने सांस्कृतिक तत्वों के एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति तक विस्तार के आधार पर मानव समाजों के इतिहास की पुर्नरचना की। उन्होंने मानव समाज के विकास के अध्ययन के लिए भौगोलिक दृष्टिकोण विकसित किया। उन्होंने सांस्कृतिक विशिष्टता वाले क्षेत्रों के जन-समूहों और विभिन्न संस्कृतियों के बीच तुलना पर ध्यान दिया तथा मानव सभ्यता की विकासवादी प्रक्रिया का वर्णन किया। उन्होंने संस्कृतियों की देश और काल के बंधनों को लांघने वाली विशेषताओं के बीच संबंध के स्वरूप की जाँच-पड़ताल की। वे नृजातिशास्त्री (ethnologist) के रूप में भी जाने जाते थे। नृजातिशास्त्री मानव समूह के प्रजातियों में विभाजन, उनकी उत्पत्ति, प्रसार, संबंधों तथा सांस्कृतिक विशेषताओं जैसे पहलुओं का अध्ययन करते हैं। सांस्कृतिक विशेषताओं के अध्ययन की नृशास्त्रीय परम्परा से अमरीका में फ्रेंज़ बोआस के नेतृत्व में सांस्कृतिक नृशास्त्र (cultural anthropology) के विकास को प्रोत्साहन मिला।

**नृजातिशास्त्र** (ethnology) को सामान्यतया **नृजातिविवरण** (ethnography) से पृथक किया जाता है। नृजातिशास्त्र में कुछ समाजों की सांस्कृतिक विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन होता है, जबकि नृजातिविवरण में किसी एक समाज विशेष की जीवन शैली का अध्ययन किया जाता है। यह भी कहा जा सकता है कि नृजातिशास्त्र में विभिन्न संस्कृतियों के सांस्कृतिक तत्वों की तुलना के लिए नृजातिशास्त्रियों को नृजातिविवरण से प्राप्त मूल तथ्यों पर निर्भर होना पड़ता है। इस तरह अलग होते हुए भी दोनों विषय परस्पर जुड़े हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक चरण में नृजातिविवरण (ethnography) में विशिष्ट समाजों के विस्तृत अध्ययन के लिए बड़ा उत्साह था। फलस्वरूप अनेक नृजातिविवरण वाले ग्रंथ प्रकाशित हुए (देखिए कोष्ठक 22.3)। इन अध्ययनों से ब्रिटेन में एक नए विषय, सामाजिक नृशास्त्र, के विकास की पृष्ठभूमि तैयार हुई। सामाजिक नृशास्त्र तथा समाजशास्त्र एक-दूसरे से बहुत जुड़े हुए विषय है। ग़ैर-पश्चिमी समाजों के अध्ययन पर आधारित सामाजिक नृशास्त्र के निष्कर्ष प्राय: सभी प्रकार के समाजों के अध्ययन के लिए भी उपयुक्त होते हैं। यही कारण है कि 1920 और 1930 के बीच सामाजिक नृशास्त्र के विकास ने समाजशास्त्रीय चिंतन की प्रगति में भी मदद पहुँचाई। मलिनॉस्की के नेतृत्व में नृशास्त्रियों द्वारा अध्ययन के लिए प्रत्यक्ष प्रेक्षण को आधार बनाने पर बल दिए जाने से समाजशास्त्रीय सिद्धांत के विकास में महत्वपूर्ण मोड़ आया। सामाजिक नृशास्त्रियों का कहना है कि नृजातिविवरण समाज विशेष में स्वयं जाकर एक वर्ष अथवा उससे अधिक समय तक किए गए अध्ययन के आधार पर किए जाने चाहिए। उनकी यह भी मान्यता है कि मूलत: समाज विशेष का अध्ययन उसी समाज की पूरी जानकारी के लिए किया जाना चाहिए। उन्होंने ऐसे लोगों की आलोचना की, जिन्होंने मानवता के इतिहास की पुनर्रचना मात्र के लिए आदिम संस्कृतियों का अध्ययन करना ज़रूरी समझा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों के नृजातिविवरण विशेषज्ञों में मान्यता उन विद्वानों को मिली, जिन्होंने आदिम समाज के बारे में स्वयं जाकर प्रत्यक्ष तथ्य एकत्र करने की मलिनॉस्की की परम्परा का अनुसरण किया। उनके नेता के रूप में मलिनॉस्की ने विकासवादियों तथा प्रसारवादियों दोनों का विरोध किया और नृशास्त्र को मानव समाजों के अध्ययन की वैकल्पिक विधि के रूप में प्रतिष्ठित करने का अपना अभियान जारी रखा।

आइए, अब हम यह जानने का प्रयास करें कि प्रत्यक्ष प्रेक्षण के आधार पर तथ्य एकत्र करने की इस नई प्रवृत्ति ने किस प्रकार मानव समाजों के अध्ययन की नई विधियों के लिए मार्ग प्रशस्त

**कोष्ठक 22.3: नृजातिविवरण प्रबंध**

बीसवीं शताब्दी के शुरू में नृजातिविवरण करने वालों ने अध्ययन किये जाने वाले समाजों के संदर्भ में सामाजिक जीवन की व्याख्या करने की चेष्ठा की इन अध्ययनों के आधार पर जो कृतियाँ प्रकाशित हुईं, वे नृजातिविवरण प्रबंध (ethnographic monographs) कहलाईं। ऐसी कृतियों के प्राथमिक उदाहरण के रूप में 1912-13 में प्रकाशित जुनोद के प्रबंध *दि लाइफ ऑफ़ साउथ अफ्रीकन ट्राइब* का उल्लेख किया जा सकता है। 1922 में प्रकाशित मलिनॉस्की की पुस्तक *आर्गोनाट्स ऑफ़ दि वेस्टर्न पैसिफ़िक* आदिम समाज के वैज्ञानिक अध्ययन का सर्वोच्च उदाहरण मानी जाती है। इस पुस्तक में ट्रोब्रिएण्ड द्वीप वासियों में उपहारों के आदान-प्रदान की कूला प्रथा का विश्लेषण किया गया है। इस पुस्तक के संबंध में विस्तृत रूप से जानने के लिए आप इस विषय पर तैयार किया गया श्रव्य कार्यक्रम अवश्य सुनिए।

अफ़्रीका में नृशास्त्रीय शोधकार्य की शुरूआत 1909-10 में उस समय हुई, जब सैलिगमैन तथा उसकी पत्नी ने एंग्लो-मिस्त्रीय सूडान की यात्रा की। बाद में जिन लोगों ने अफ़्रीका की जनजातियों का गहन सर्वेक्षण किया, उनकी लंबी सूची है। उदाहरण के लिए आई.ए. शपिरा ने बेचुआना जनजाति, मेयर फोर्टिस ने गोल्ड कोस्ट की तालेंसी जनजाति, एस.एफ. नाडेल ने नाइजीरिया के न्यूप समुदाय, हिल्डा कूपर ने स्वाज़ी जनजाति तथा इवन्स प्रिचर्ड ने दक्षिणी सूडान की नुअर जनजाति का अध्ययन किया।

ये सभी अध्ययन छोटे-छोटे राजनीतिक समूहों के बीच किए गए। ऊपर बताए गए सभी अध्ययन आदिम समाज विशेष के बीच एक या डेढ़ साल रहकर क्षेत्रीय शोधकार्य के आधार पर किए गए। सामान्यतया इस अवधि में क्षेत्रीय शोधकार्य को दो चरणों में किया गया। पहले चरण के कुछ महीने बाद दूसरा लम्बा चरण पूरा किया गया। इस गहन क्षेत्रीय शोध कार्य के बाद शोधकर्ता को अपना अध्ययन प्रकाशित करने में लगभग पाँच साल लग जाते थे। इस प्रकार अधिकतर विवरण दस वर्ष बाद ही प्रकाशित हो पाए।

किया। तथ्य एकत्र करने की यह विधि आगे चलकर प्रत्यक्ष प्रेक्षण (participant observation) के रूप में जानी गई, क्योंकि इसमें अध्ययनकर्ता को उन लोगों के बीच जाकर रहना पड़ता था, जिनका अध्ययन किया जाना था। शुरू में इस विधि को अपनाने वालों ने आदिम जातियों के लोगों के जीवन के सभी पहलुओं पर ध्यान देते हुए उनका अध्ययन किया।

आइए, बोध प्रश्न 1 को पूरा कर लें और तब ही आगे बढ़ें।

**बोध प्रश्न 1**

i) अठारहवी शताब्दी के नैतिक दार्शनिकों और उन्नीसवीं शताब्दी के विकासवादी विचारकों के दृष्टिकोण में क्या अंतर था? चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

ii) नृजातिशास्त्र (एथनोलॉजी) तथा नृजातिविवरण (एथनोग्राफी) में अंतर दो पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

## 22.3 तथ्य एकत्रीकरण में विशिष्ट अभिरुचि

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में मानव संस्कृतियों का अध्ययन करने वाले इन विद्वानों को लगा कि विकासवादी तथा प्रसारवादी दोनों तरह के विचारकों ने कम विश्वसनीय प्रमाणों के आधार पर मानव के अतीत की पुनर्रचना की। आपको यह जानकार आश्चर्य होगा कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक केवल एक विद्वान एल.एच. मॉर्गन (1818-1881) को छोड़कर किसी भी नृशास्त्री अथवा समाजशास्त्री ने जिन लोगों का अध्ययन किया, उनके बीच जाकर प्रत्यक्ष प्रेक्षण से तथ्य एकत्र करने का प्रयास नहीं किया। इवन्स-प्रिचर्ड (1954-72) ने इसका कारण यह बताया है कि उन्नीसवीं शताब्दी में मानव संस्कृतियों में रुचि रखने वाले लगभग सभी विद्वानों ने विज्ञान का अध्ययन नहीं किया था। दूसरी ओर, उनका यह भी कहना है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जिन विद्वानों ने मानव समाजों के अध्ययन का काम संभाला, उनमें से अधिकतर प्राकृतिक वैज्ञानिक थे (देखिए कोष्ठक 22.4)। उन्हें प्रशिक्षण मिला था कि वे अपने सिद्धांतों की परख अपने द्वारा किए गए प्रत्यक्ष प्रेक्षण के आधार पर करें। इसलिए वे विश्व के विभिन्न भागों में विद्यमान समाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के बारे में प्रत्यक्ष सामग्री स्वयं एकत्र करने के लिए प्रतिबद्ध थे।

**कोष्ठक 22.4: समाज के अध्ययन में बीसवीं सदी के प्राकृतिक विज्ञानविदों की रुचि**

इवन्स प्रिचर्ड (1954: 72) ने कहा है कि सामाजिक संस्थाओं पर क़लम चलाने वाले प्रारंभिक विद्वानों में मेन, मैक्लनन और बख़ोफन वकील थे। हर्बर्ट स्पेंसर दार्शनिक, एडवर्ड टाइलर विदेशी भाषा के क्लर्क तथा फ्रेज़र शास्त्रीय (classical) विद्वान थे। इसके विपरीत, प्रारंभिक बीसवीं शताब्दी में जिन विद्वानों ने मानवीय समाजों के अध्ययन किए, उनमें से अधिकतर प्राकृतिक विज्ञानों से जुड़े हुए थे। उदाहरण के लिए बोआस भौतिकशास्त्री तथा भूगोलविद थे। ए.सी.हैडन समुद्री-जन्तु वैज्ञानिक थे, रिवर्स शरीर वैज्ञानिक, सैलिगमैन चिकित्सक, इलियट स्मिथ शरीर-विज्ञानी तथा मलिनॉस्की भौतिक शास्त्री थे। ए.आर. रैडक्लिफ़-ब्राउन प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के विशेषज्ञ थे। ये विद्वान स्वभावत: अपने कथनों को प्रेक्षण तथा अनुभव के आधार पर परखते थे। इसलिए उन्होंने इस बात पर बल दिया कि जिन सामाजिक स्थितियों का अध्ययन किया जाए, उनका प्रत्यक्ष प्रेक्षण करना आवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि इन विद्वानों को लगा कि मानव संस्कृतियों के बारे में व्यवस्थित ढंग से एकत्र किए गए तथ्य समाज की प्रारंभिक स्थिति के संबंध में विचार बनाने के साथ-साथ कुछ और उद्देश्यों के लिए भी काम आ सकते हैं। जैसे कि बीटी (1964: 91) ने कहा कि व्यावहारिक कारणों से भी आदिम समाजों के सामाजिक-सांस्कृतिक आचरण को समझने के प्रयासों को प्रोत्साहन मिला। उपनिवेशीय प्रशासकों तथा ईसाई मिशनरियों को उन लोगों के बारे में

नृजातिविवरण के तथ्य एकत्र करना उपयोगी लगा, जिन पर उन्हें शासन करना था या जिनका उन्हें धर्म-परिवर्तन करना था। वास्तव में, आदिम लोगों के कुछ प्रारंभिक विवरण ऐसे ही लोगों द्वारा तैयार किए गए थे। इस प्रकार की सामग्री की उपयोगिता से मानव समुदायों के बारे में नियोजित ढंग से प्रत्यक्ष सामग्री एकत्र करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला। धीरे-धीरे मानव संस्थाओं के इतिहास की पुनर्रचना का स्थान तथ्य एकत्र करने में तीव्र अभिरुचि ने ले लिया और जीवंत समुदायों (living communities) के अध्ययन की दिशा में प्रगति होने लगी।

सामग्री एकत्र करने के अभियानों का श्रीगणेश अमरीका में हुआ। वहां मॉर्गन (1851) ने **इरोक्वा इंडियन्स** के बारे में तथ्य एकत्र किए थे। वे उन लोगों के बीच जाकर रहे और बाद में इरोक्वा जनजाति ने उन्हें अपने समाज का सदस्य बना लिया। 1883-84 में फ्रेंज़ बोआस ने **एस्किमो** तथा बाद में उतर-पश्चिमी तट (ब्रिटिश कोलम्बियरा, कनाडा) में अमरीकी इंडियनों का अध्ययन किया। उसने उन लोगों की भाषा सीखने पर विशेष बल दिया।

इंग्लैड में नृशास्त्रीय अध्ययन के उद्देश्य से प्रत्यक्ष तथ्य एकत्र करने के लिए यात्राएं करने के सिलसिले का शुभारम्भ केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के विद्वान ए.सी. हैडन ने किया। उसने 1878-79 में प्रशांत महासागर में स्थित **टोरेस स्ट्रेट्स** के प्रसिद्ध अभियान का नेतृत्व किया। इस अभियान का उद्देश्य विद्वानों को क्षेत्रीय शोध कार्य में प्रशिक्षण देना था। हैडन ने अपने दल में विभिन्न विषयों के विद्वानों को शामिल किया। पश्चिमी द्वीपों में चार सप्ताह तथा पूर्वी द्वीपों में चार महीने रह कर उन लोगों ने दुभाषियों की मदद से **पिजिन-इंग्लिश** में तथ्य एकत्र किए। इस अभियान की जो रिपोटें प्रकाशित हुई, उनमें विद्वानों की विशेष अभिरुचियां स्पष्ट रूप से सामने आईं। उदाहरण के लिए, डब्ल्यू.एच.आर. रिवर्स ने व्यक्तिगत नामों, वंशावलियों, रिश्तेदारों और विवाह से संबंधित अध्याय लिखे। सी.जी. सेलिगमैन को जन्म, बाल्यकाल तथा महिलाओं के रजस्वला होने से संबंधित अध्याय सौंपे गए। ए.सी.हैडन ने व्यापार, युद्ध-कौशल, जादू, धर्म तथा लोक-जीवन की व्यवस्था से संबंधित अध्यायों की रचना की। विद्वानों के इस दल ने स्थानीय जीवन शैली के सभी पहलुओं को समेटने का प्रयास किया। इसमें क्षेत्रीय शोध कार्य की स्थितियों के साथ-साथ उन स्थानीय लोगों का भी स्पष्ट परिचय दिया गया, जिन्होंने सामग्री इकट्ठा करने में मदद की। इस अभियान से इन विद्वानों के लिए क्षेत्रीय शोध कार्य के अनुभव के महत्व को दृढ़ आधार मिला। दो विद्वानों डब्ल्यू. एच. आर. रिवर्स तथा सी.जी. सेलिगमैन ने इस अभियान के बाद और अध्ययन भी किये। सी.जी. सेलिगमैन ने 1904 में मलेनेशिया में और 1907-08 में श्रीलंका की वेड्डा जनजाति के बीच काम किया। 1909-12 तथा 1921-22 में उन्होंने सूडान में क्षेत्रीय शोधकार्य करके सांस्कृतिक तथा भाषा-संबंधी पहलुओं पर प्रकाश डाला। डब्ल्यू.एच.आर.रिवर्स ने 1901 में भारत में नीलगिरि क्षेत्र में टोडा जनजाति का अध्ययन किया। रिवर्स की 1906 में प्रकाशित पुस्तक *द टोडा* में क्षेत्रीय शोधकार्य की परिस्थितियों और टोडा लोगों के विश्वासों तथा प्रथाओं का उल्लेख है। पुस्तक के एक अलग भाग में क्षेत्रीय शोधकार्य सामग्री की व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

1898-99 में टोरेस स्ट्रेट्स का अभियान समाज के नृशास्त्रीय अध्ययन के इतिहास की अत्यंत महत्वपूर्ण घटना सिद्ध हुई। इसके बाद, विद्वानों के लिए नृशास्त्र विषय का एक स्वतंत्र अस्तित्व बन गया और साथ ही, क्षेत्रीय शोधकार्य का अनुभव नृशास्त्रियों के प्रशिक्षण का अभिन्न अंग बन गया। नृशास्त्रीय सामग्री एकत्र करने की प्रक्रिया में एक और उपलब्धि थी - 1906-08 में ए. आर.रैडक्लिफ़-ब्राउन की भारत में अण्डमान द्वीप समूह की यात्रा। इस क्षेत्रीय शोध कार्य तथा इस पर आधारित 1922 में प्रकाशित पुस्तक की चर्चा इकाई 24 तथा 25 में की जाएगी। इसके अतिरिक्त रैडक्लिफ-ब्राउन के बारे में तथा उसके अंडमानी शोधकार्य के बारे में तैयार किया गया श्रव्य कार्यक्रम भी आप अवश्य सुनिए।

आइए अब हम ब्रोनिस्लॉ मलिनॉस्की द्वारा शुरू की गई बहुचर्चित क्षेत्रीय शोधकार्य की परंपरा का

विवेचन करें। मलिनॉस्की ने न्यू गिनी की तीन अध्ययन यात्राएं कीं। उसके अध्यापक सी.जी. सेलिगमैन ने उसे क्षेत्रीय शोधकार्य यात्रा पर न्यू गिनी जाने का सुझाव दिया। न्यू गिनी की अपनी पहली यात्रा के दौरान मलिनॉस्की ताउलोन (Toulon) द्वीप में पश्चिमी पपुआ मलनेशियाई समूह के मैलू (Mailu) लोगों के बीच रहा। यह यात्रा सितंबर 1914 से मार्च 1915 के दौरान हुई। जून 1915 में वह ट्रोब्रिएण्ड द्वीप समूह गया (देखिए मानचित्र) और मई 1916 तक वहां रहा। तीसरी बार वह अक्तूबर 1917 में गया और एक वर्ष तक वहां रहा।

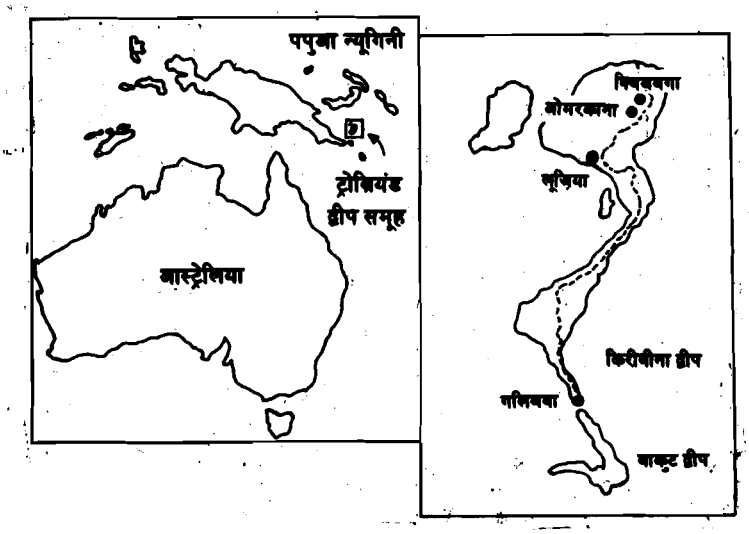


**मानचित्र 22.1: पपुआ न्यूगिनी और ट्रोब्रियंड द्वीप समूह का विस्तृत मानचित्र**

मलिनॉस्की ने शुरू में तो ट्रोबिएण्ड द्वीपवासियों से पिजिन-इंग्लिश में बातचीत की किंतु तीन महीनों में ही वह स्थानीय बोली में लोगों से बातें करने लगा। ट्रोब्रिएण्ड द्वीपों में दो वर्ष के अपने प्रवास के दौरान कुल मिलाकर केवल 6 महीने उसने यूरोपीय लोगों के साथ गुज़ारे। उसने अपना तम्बू स्थानीय लोगों की झोपड़ियों के बीचों बीच जाकर गाड़ दिया। इससे वह उन लोगों के रहन-सहन का निकटता तथा बारीकी से प्रेक्षण करने में सफल हुआ। क्षेत्रीय शोधकार्य में आई मुसीबतों का सामना उसने कैसे किया, उसकी भी एक लम्बी दास्तान मलिनॉस्की ने तैयार की जो नृजातिशास्त्र के समस्त लेखन में मानवीय सहृदयता से परिपूर्ण कृति मानी जाती है (देखिए कैबरी 1959: 77)। क्षेत्रीय शोधकार्य की उसकी डायरियों की झलक पाने के लिए कूपर (1975: 27-32) को पढ़ें।

एक उल्लेखनीय बात यह है कि मलिनॉस्की समाज का निष्क्रिय प्रेक्षक अथवा तथ्य एकत्रकर्ता मात्र नहीं था। उसने तथ्य एकत्र करने की विशिष्ट विधियाँ अपना कर सामग्री जमा की। आदिम समुदाय विशेष में क्षेत्रीय शोधकार्य करने वाला वह पहला व्यावसायिक दृष्टि से प्रशिक्षित नृशास्त्री था। उसने क्षेत्रीय शोधकार्य की कई विधियाँ विकसित कीं। (इसके लिए उपभाग 22.4 पढ़िए।)

मलिनॉस्की के अनुसार, इन तकनीकों पर अमल करने में सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि विद्वान विशेष को मानव संस्कृतियों के अध्ययन के सिद्धांत में कितना प्रशिक्षण प्राप्त है। नृजातिविवरण की अथाह सामग्री ने उसे प्ररित किया कि वह अपने शोध के परिणामों को प्रस्तुत करने में सैद्धांतिक दृष्टिकोण का विकास करे। उसके नृजातिविवरण ग्रंथ (इस खंड के अंत में संदर्भ ग्रंथ सूची देखिए) विशुद्ध नृजातिविवरण के उदाहरण मात्र अथवा ट्रोब्रिएण्ड वासियों के विश्वासों तथा जीवनशैली का रिकॉर्ड मात्र नहीं है। इसमें समाज के संगठन के सिद्धांतों तथा उनके अंतर्संबधों का परिचय मिलता है। अब आपको आसानी से यह स्पष्ट हो सकता है कि समाज तथा उसकी संस्थाओं के बारे में सामग्री एकत्र करने का प्रमुख आशय था - मानव संस्कृतियों का अध्ययन तथा उनकी व्याख्या करने के लिए वैकल्पिक विधियां विकसित करना। अगले भाग में हमने मलिनॉस्की की संस्कृति की अवधारणा की व्याख्या दी है। संस्कृति के प्रति उसकी दृष्टि से

ही प्रकार्यवाद का उसका सिद्धांत विकसित हुआ। इसी सिद्धांत से उसे तथा उसके शिष्यों को मानव संस्कृतियों के विश्लेषण की नई विधि प्राप्त हुई।

## 22.4 संस्कृति - कार्यशील समग्रता के रूप में

सांस्कृतिक आचरण के प्रति मलिनॉस्की का दृष्टिकोण उसके कतिपय विचारों पर आधारित था। मलिनॉस्की (1944: 36) ने संस्कृति शब्द का इस्तेमाल व्यापक अर्थ में किया, जिसमें "उपकरण, उपभोक्ता वस्तुएं विभिन्न सामाजिक समूहों के संघटन का आधार मानवीय विचार तथा शिल्प, विश्वास एवं प्रथाएं" शामिल हैं। एक सरल अथवा आदिम संस्कृति हो या जटिल और विकसित संस्कृति - मलिनॉस्की (1944: 35) के लिए यह "एक विशाल तंत्र है, जो अंशत: भौतिक, अंशत: मानवीय और अंशत: आध्यात्मिक है, जिसकी मदद से मनुष्य अपने सामने आने वाली कठिन से कठिन समस्याओं से जूझ सकता है।" इस कथन से प्रतीत होता है कि मलिनॉस्की की संस्कृति की अवधारणा में (i) भौतिक संस्कृति (material culture) (ii) मानव कार्यकलापों की स्पष्ट श्रेणियाँ, और (iii) सामाजिक समूहों के संघटन का आधार एवं विश्वास शामिल थे।

i) पहली श्रेणी अर्थात् भौतिक संस्कृति में उपकरण एवं उपभोक्ता वस्तुएं सम्मिलित हैं। ये नाना प्रकार की कलात्मक या भौतिक वस्तुएं हैं। इनमें मानवीय कार्यकलापों से पैदा होने वाली सभी वस्तुएं और मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले उपकरण शामिल हैं।

ii) दूसरे तत्व अर्थात् मानव कार्यकलापों की स्पष्ट श्रेणियों में वे प्रथाएं हैं, जिनमें सामाजिक संगठनों के पहलुओं को लिया जाता है।

iii) तीसरे तत्व यानी सामाजिक समूहों तथा विश्वासों के संघटन आधार हैं, जिनमें सांस्कृतिक उपकरण तथा सामाजिक संगठन के कुछ पहलु शामिल हैं।

उपरोक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि मलिनॉस्की ने मानव जीवन तथा उसके कार्यकलापों से संबंधित लगभग हर पहलू को संस्कृति माना और यह कहा कि ये पहलू मानव शरीर रचना की व्यवस्था का अंग नहीं है। इस प्रकार मलिनॉस्की की दृष्टि में संस्कृति मानव आचरण का वह रूप है, जिसे लोग सीखते हैं, जीवन पर्यन्त मानते हैं और फिर अगली पीढ़ी को सौंप देते हैं। इस तरह सीखे गए आचरण के विन्यासों से जुड़ी भौतिक संस्कृति भी इसमें समाहित हैं।

हमने पाया कि मलिनॉस्की ने भौतिक पदार्थों में तथा प्रथाओं, विश्वासों और सामाजिक वर्गीकरण में अंतर किया है। भौतिक पदार्थों का प्रकार्य उपकरणों तथा उपभोक्ता वस्तुओं के रूप में था, जबकि प्रथाएं, विश्वास तथा सामाजिक वर्गीकरण उन लोगों की विशेषताएं मानी गई, जिनमें सामाजिक सांस्कृतिक आचरण की चर्चा की जा रही है। एक तरह से मलिनॉस्की ने संस्कृति को समाज अथवा सामाजिक प्रणाली के समतुल्य माना। अगले अनुभाग में हमने संस्कृति की मलिनॉस्की की परिभाषा की तुलना टाइलर द्वारा की गई परिभाषा से की है।

### 22.4.1 मलिनॉस्की तथा टाइलर की संस्कृति की परिभाषाएं

एन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ सोशल साइंसिस (1931: 621-46) में संस्कृति शब्द की मलिनॉस्की की परिभाषा, दी गई। उसने लिखा "संस्कृति में विरासत में मिले कलाशिल्प, वस्तुएं, तकनीकी प्रक्रियाएं, विचार, आदतें, मूल्य शामिल है।" मलिनास्की के अनुसार सामाजिक संगठन स्पष्टतया संस्कृति का अंग है। इस दृष्टि से आपको संस्कृति की मलिनॉस्की की परिभाषा टाइलर की परिभाषा (1881) से एकदम मिलती-जुलती लगेगी। हमने अपने ऐच्छिक पाठ्यक्रमों में टाइलर की संस्कृति की परिभाषा का प्राय: उल्लेख किया है। उस परिभाषा को यहाँ एक बार पुन: दोहराया जा रहा है। टाइलर ने कहा कि संस्कृति "एक जटिल समग्रता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, कानून, नैतिकता प्रथाएं तथा मनुष्य द्वारा समाज के सदस्य के रूप में अपनाई गई सभी

अन्य क्षमताएं और आदतें शामिल हैं।" दोनों परिभाषाओं की तुलना करने पर यह स्पष्ट होता है कि टाइलर ने जटिलता के पहलू पर बल दिया, जबकि मलिनॉस्की ने संस्कृति की समग्रता के पक्ष को अधिक महत्व प्रदान किया।

मलिनॉस्की ने संस्कृति शब्द का प्रयोग एक कार्यशील समग्रता के रूप में किया और उन विश्वासों, प्रथाओं, रीतियों तथा संस्थाओं के उपयोग अथवा प्रकार्य के अध्ययन का सिद्धांत विकसित किया, जिनके मूल से संस्कृति की समग्रता का निर्माण होता है। वह संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को अनुभवपरक शोधकार्य की एक योजना के रूप में देखता था, जिसकी परख प्रेक्षण के ज़रिए की जा सकती है। इसी अर्थ में मलिनॉस्की को नृशास्त्र/समाजशास्त्र में **क्षेत्रीय शोधकार्य** का जनक माना जाता है। क्षेत्रीय शोधकार्य का अपना दृष्टिकोण विकसित करते हुए मलिनॉस्की ने प्रकार्यात्मक क्रांति का सूत्रपात किया और लिखा, "नृशास्त्र का प्रकार्यात्मक सिद्धांत मैंने विकसित किया और एक तरह से मैंने इसे स्वयं अपने को ही प्रदान किया।" इसमें कोई अंहकार की बात नहीं। मलिनॉस्की ने क्षेत्रीय शोधकार्य के अपने कष्टसाध्य अनुभवों का ब्योरा पहले पहले 1922 में अपने प्रबंध *आर्गोनॉट्स ऑफ़ दि वेस्टर्न पैसिफ़िक* में प्रकाशित किया। उसकी मान्यता थी कि किसी प्रथा अथवा संस्था के प्रकार्य को इस अर्थ में समझना चाहिए कि वह संस्कृति की समग्रता बनाए रखने में किस हद तक सहायक होती है। मलिनॉस्की (1931: 621-46) ने कहा कि संस्कृति का अध्ययन अपने आप में एक स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। उसका अध्ययन स्व-पर्याप्त यथार्थता (self-contained reality) की तरह किया जाना चाहिए।

मलिनॉस्की की इन बातों पर हमें उसके समय में प्रचलित दृष्टिकोणों की तुलना में विचार करना चाहिए। उस युग में विकासवादी तथा प्रसारवादी विचारक संस्कृति को विकासक्रम में समय विशेष के साथ अथवा प्रसारवादी नक्शे में स्थान विशेष के साथ जोड़ रहे थे (देखिए पोकॉक 1961: 52)। मलिनॉस्की ने इन दृष्टिकोणों को अपूर्ण बताते हुए संस्कृति के विभिन्न पहलुओं की परस्पर निर्भरता को समझने की आवश्यकता पर बल दिया। उसने संस्कृति को एक समग्रता की तरह समझने का तर्क दिया, और कहा कि संस्कृति का अध्ययन प्रत्येक प्रथा के प्रकार्य के संदर्भ में किया जाना चाहिए ("संस्कृति" शब्द के नृशास्त्रियों द्वारा बहुविधीय प्रयोग हेतु देखें कूपर 2000)। उसने इस काम को करने के लिए कुछ विधियाँ विकसित कीं जिनकी चर्चा अगले अनुभाग में की जा रही है।

## 22.4.2 संस्कृति के अध्ययन की विधियाँ

मलिनॉस्की ने कार्यशील इकाई के रूप में संस्कृति का अध्ययन करने के लिए क्षेत्रीय शोधकार्य की विधियाँ विकसित कीं। क्षेत्रीय शोधकार्य की विधियों पर इतना अधिक ज़ोर देने के फलस्वरूप प्रकार्यवाद की उसकी अवधारणा ने समूचे नृशास्त्र विषय में क्रांति ला दी। संस्कृति के विवेचन एवं विश्लेषण के लिए उन दिनों इस्तेमाल की जाने वाली शब्दावली में भी आमूल परिवर्तन हो गया। अब उस सामग्री के तीन प्रमुख प्रकारों का उल्लेख किया जा रहा है, जो मलिनॉस्की के अनुसार तथ्य एकत्रीकरण की विशेष विधियों के लिए आवश्यक हैं।

i) उसने संस्कृति विशेष की प्रथाओं और संस्थाओं को विस्तार से प्रस्तुत करने के लिए "ठोस प्रमाण के आधार पर सांख्यिकीय प्रलेख (statistical documentation) की विधि प्रस्तुत की। उसका कहना था कि क्षेत्रीय शोधकर्ता को हर कार्यकलाप के सभी तत्वों को समझना चाहिए। साथ में, लोगों से प्राप्त ब्यौरों, मतों तथा वास्तविक प्रकरणों के प्रेक्षण से हर कार्यकलाप के भिन्न-भिन्न पहलुओं में संबंध को भी समझना चाहिए।

ii) रोज़मर्रा के जीवन के सामाजिक कार्य-कलापों का बारीक़ी से प्रेक्षण किया जाए और उसके परिणाम विशेष नृशास्त्र डायरी में विस्तार से दर्ज किए जाएं। मलिनॉस्की लिखता है: "स्थानीय प्रथा के नियम आदि समझने के लिए स्थानीय लोगों के कथनों तथा तथ्यों से स्पष्ट बोध विकसित करने से हमें मालूम होता है कि इस तरह से मिले बोध का वास्तविक जीवन

से लम्बा-चौड़ा लेना-देना नहीं है क्योंकि जीवन कभी भी नियमों के एकदम अनुरूप नहीं चलता। हमें यह भी ध्यान से देखना होगा कि किसी प्रथा पर आचरण किस प्रकार से होता है और जिन नियमों का निर्धारण नृजातिविवरण देने वाले करते हैं, उनका पालन करने में स्थानीय लोगों का आचरण कैसा है। हमें अपवादों पर भी ध्यान देना है, क्योंकि समाजशास्त्रीय क्षेत्र में अपवाद हमेशा होते रहते हैं।"

iii) उसने क्षेत्रीय शोधकर्ताओं को सलाह दी कि वे स्थानीय लोगों के मनोविज्ञान को समझने के लिए नृजातिविवरणों, विशिष्ट उल्लेखों, कथनों तथा जादू-सिद्धांतों एवं लोक कथाओं के तत्वों को एकत्र करें। मलिनॉस्की स्थानीय लोगों के मन, वचन और कर्म में अंतर की जटिलता को समझने के पक्ष में था। दूसरे शब्दों में, शोधकर्ता को देखना चाहिए कि अपने कार्यकलापों के बारे में लोग क्या कहते हैं (अर्थात् ऊपर दी विधि i)। दूसरे, देखना चाहिए कि लोग वास्तव में क्या करते हैं (अर्थात् ऊपर दी विधि ii)। तीसरे, वे इसके बारे में क्या सोचते हैं (अर्थात् विधि iii)। मलिनॉस्की की तरह हर प्रतिभाशाली क्षेत्रीय शोधकर्ता को जिन लोगों का अध्ययन करना है, उसे उनके साथ आत्मीयता विकसित करनी है। मलिनॉस्की संस्कृतियों को कार्यशील इकाइयों से मिलकर बनी समग्रता मानता है। उसके अनुसार संस्कृति के सभी पहलू सामाजिक समूह के सदस्यों को कोई न कोई अर्थ प्रदान करते हैं। एक तरह से वे लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन हैं। यही उनका एक साथ रहने का तार्किक आधार भी है। आवश्यकताओं के संदर्भ में संस्कृति की व्याख्या करने के लिए मलिनॉस्की को मनोविज्ञान के क्षेत्र में उतरना पड़ा। इस विषय पर चर्चा भाग 22.5 में होगी। भाग 22.5 को पढ़ने से पहले सोचिए और करिए 2 को पूरा करें।

**सोचिए और करिए 2**

कूपर (1975: 37-8) ने कहा है कि यद्यपि मलिनॉस्की ने संस्कृति के विभिन्न पहलुओं के बीच आपसी संबंधों पर ज़ोर दिया, किन्तु वह स्वयं ट्रोब्रिएण्ड जनजाति की संस्कृति का समन्वित विवेचन प्रस्तुत करने में विफल रहा। कूपर के अनुसार ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि मलिनॉस्की को प्रणाली का बोध नहीं था। इसका अर्थ यह है कि उसने संस्कृति के प्रत्येक पहलू का वर्णन मात्र करके संस्कृति के हर भाग के साथ पारम्परिक संबंधों की व्याख्या करने की चेष्टा की। परन्तु द्वीपवासियों की संस्कृति के मूल सार को समझ पाने में वह सफल नहीं हो पाया। यह तो यही कहने जैसा हुआ कि बाँहें कंधे से जुड़ी हुई हैं और कंधा गर्दन से जुड़ा है। परंतु इस तरह के वर्णन से शरीर-रचना विज्ञान का सिद्धांत उभरकर सामने नहीं आता। यह मलिनॉस्की के नृजातिविवरण की विफलता का एक उदाहरण है। भाग 22.4 का आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करके क्या आपको आदिम संस्कृति की मलिनॉस्की की व्याख्या में कोई और दोष दृष्टिगत होते हैं? अपने विचारों पर एक पृष्ठ की टिप्पणी तैयार कीजिए।

## 22.5 आवश्यकताओं का सिद्धांत

आदिम संस्कृति का विश्लेषण करने के लिए अवधारणाओं की खोज के दौरान मलिनॉस्की ने सामाजिक तथ्यों को समझने हेतु विशिष्ट दृष्टिकोण विकसित कर लिया। यह दृष्टिकोण आवश्यकताओं के सिद्धांत के रूप में जाना जाता है। मलिनॉस्की ने अपनी पुस्तक ए *साइंटिफ़िक थ्योरी ऑफ़ कल्चर* में इस सिद्धांत को प्रस्तुत किया। उसके अनुसार हमारी आवश्यकताएं दो प्रकार की है: व्यक्तिगत और सामाजिक। मलिनॉस्की (1944: 90) ने "आवश्यकता" शब्द की परिभाषा इस प्रकार की:

आवश्यकता से मेरा अभिप्राय मानव शरीर रचना तथा सांस्कृतिक परिवेश की दशाओं की व्यवस्था से है। प्राकृतिक पर्यावरण के संदर्भ में, किसी भी समूह तथा शरीर रचना के अस्तित्व के लिए इनका होना एक साथ पर्याप्त तथा आवश्यक है। इस प्रकार आवश्यक तथ्यों का एक सीमित दायरा है। आदतें और उनके कारण सीखी हुई प्रतिक्रयाएं एवं संगठनों के आधार ऐसे व्यवस्थित होने चाहिए कि मूल आवश्यकताएँ पूरी हो सकें।

इस परिभाषा के पहले भाग में मानव शरीर की दशाओं की व्यवस्था की चर्चा है। इसका संबंध जैविक आवेगों से है, जिनकी संतुष्टि आवश्यक होती है।

### 22.5.1 जैविक आवेग

मलिनॉस्की (1944: 77) ने सभी संस्कृतियों में विद्यमान "स्थायी महत्वूपर्ण क्रियाओं के क्रम" की एक तालिका प्रस्तुत की। ये क्रियाएं व्यक्ति के आवेगों की पूर्ति के संबंध में हैं। तालिका इस प्रकार है।

**तालिका 22.1: स्थायी महत्त्वपूर्ण क्रियाओं के क्रम**

| संख्या | (क) आवेग | (ख) कार्य | (ग) पूति |
|---|---|---|---|
| 1. | श्वास क्रिया | ऑक्सीजन की प्राप्ति | उत्तकों में मौजूद कार्बन डाइऑक्साइड की समाप्ति |
| 2. | भूख | भोजन की प्राप्ति | परितृप्ति |
| 3. | प्यास | तरल पदार्थ की प्राप्ति | प्यास बुझाना |
| 4. | काम-इच्छा | संभोग | कामतृप्ति |
| 5. | थकान | आराम | मांसपेशियों तथा स्नायु की ऊर्जा की पुनर्प्राप्ति |
| 6. | बेचैनी | क्रियाशीलता | थकान मिटना |
| 7. | निद्रा आना | सोना | नई ऊर्जा लेकर जागना |
| 8. | पेशाब का दबाव | निकासी | तनाव मुक्ति |
| 9. | शौच का दबाव | मलत्याग | पेट का हल्का होना |
| 10. | भय | खतरों से बचाव | विश्राम |
| 11. | पीड़ा | प्रभावकारी क्रिया द्वारा बचाव | सामान्य स्थिति को लौटना |

यह तालिका केवल व्यक्ति को आवेगों के शमन के संबंध में है। आइए, अब देखें कि मलिनॉस्की ने आवश्यकताओं के कितने प्रकार बताए।

### 22.5.2 आवश्यकताओं के प्रकार

मलिनॉस्की (1944:91) ने वैयक्तिक आवेग की अवधारणा के साथ वैयक्तिक तथा सामूहिक अस्तित्व की अवधारणा को भी जोड़ दिया। उसने आवश्यकताओं के प्रकारों का एक नमूना विकसित किया। इसमें तीन प्रकार की आवश्यकताएँ हैं। ये हैं: मूल (basic), व्युत्पन्न (derived), तथा समाकलनकारी (integrative) आवश्यकताएं। तीनों प्रकार की आवश्यकताओं के बारे में निम्नलिखित संक्षिप्त चर्चा से आपको मलिनॉस्की के आवश्यकता के सिद्धांतों का पर्याप्त ज्ञान हो जाएगा।

i) मूल आवश्यकताएं वे परिस्थितियां हैं, जो व्यक्ति तथा समूह के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। मूल आवश्यकताओं की सूची इस प्रकार है।

**तालिका 22.2: मूल आवश्यकताएं एवं उनकी सांस्कृतिक प्रतिक्रियाएं**

| मूल आवश्यकताएं | सांस्कृतिक प्रतिक्रिया |
|---|---|
| चयापचय (metabolism) | भोजन की आपूर्ति |
| प्रजनन | नातेदारी |
| शारीरिक सुख | आश्रय |
| सुरक्षा | संरक्षण |
| गतिशीलता | प्रशिक्षण |
| स्वास्थ्य | स्वच्छता |

मूल आवश्यकताओं की तालिका में संस्कृति का मूल्य जैविक अस्तित्व के लिए है। इसे पहले स्तर का निर्धारक तत्व (primary determinisn) भी कहा जा सकता है।

ii) **व्युत्पन्न (derived) आवश्यकताएं**

सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य के जीवन की कुछ गौण आवश्यकताएं भी होती है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संस्कृति कुछ अपनी ज़रूरते पैदा कर लेती है। मलिनॉस्की (1944: 125) के अनुसार, ये व्युत्पन्न आवश्यकताएं अथवा आदेश है। इनका ब्यौरा इस प्रकार है:

**तालिका 22.3: व्युत्पन्न आवश्यकताएं एवं उनकी प्रतिक्रियाएं**

| | आवश्यकताएं | प्रतिक्रिया |
|---|---|---|
| क) | सांस्कृतिक उपकरणों के अनुरक्षण (maintenance) की आवश्यकताएं | अर्थव्यवस्था |
| ख) | मानव आचरण का नियमन | सामाजिक नियंत्रण |
| ग) | समाजीकरण | शिक्षा |
| घ) | सत्ता का प्रयोग | राजनीतिक संगठन |

किन्तु इन व्युत्पन्न आवश्यकताओं अथवा आदेशों की परिधि में मनुष्यों में विकसित सभी आदेश शामिल नहीं हैं। जानवरों के बच्चों को भी इनमें से कई नियम सिखाए जा सकते हैं। परंतु मनुष्यों के सिवाए और किसी में भी इन नियमों को अपने बच्चों में प्रेषण करने की क्षमता नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि बंदर अपने बच्चों को नियमानुसार व्यवहार करना सिखा सकते हैं और इस अर्थ में उनके पास भी कुछ नियम हैं। किंतु किसी चिम्पांज़ी-माँ के बारे में यह कल्पना करना कठिन है कि वह किसी अन्य माँ-संतति के व्यवहार का प्रेषण करके यह निष्कर्ष निकाले कि उस अन्य माँ-संतान के बीच कोई नियम नहीं है या उनका प्रशिक्षण ठीक नहीं है। ऐसा तभी संभव होता है, जब आदतें प्रथाओं के रूप ले लेती हैं। यह केवल मानवीय समाज में ही पाया जाता है।

iii) **समाकलनकारी (integrative) आवश्यकताएं**

मलिनॉस्की (1944: 125) के अनुसार, मनुष्य के सामजिक जीवन में समाकलनकारी आदेशों का महत्वपूर्ण स्थान है। इन समाकलनकारी आदेशों के माध्यम से आदतें प्रथा में, बच्चों का पालन

अगली पीढ़ी के प्रशिक्षण में और आवेग मूल्यों में बदलते हैं। मलिनॉस्की के मुताबिक परम्परा, मूल्य, प्रतिमान, धर्म, कला, भाषा तथा प्रतीकवाद के अन्य रूप समाकलनकारी आदेशों की श्रेणी में ही आते हैं। इस प्रकार मलिनॉस्की मानता था कि मानव संस्कृति का मूल सार प्रतीकवाद में अथवा मूल्यों में निहित है।

इससे पता चलता है कि मलिनॉस्की का आवश्यकता का सिद्धांत गतिविधियों के जैविक आधारों को मान्यता देता है। अत: विश्व के विभिन्न भागों के सांस्कृतिक आचरणों की तुलना के लिए इसे इस्तेमाल किया जा सकता है। वह सामाजिक ढांचे को मनुष्य की मूल, व्युत्पन्न तथा समाकलनकारी आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन मानता है। इस सैद्धांतिक दृष्टिकोण के बल पर ही मलिनॉस्की उच्च कोटि के क्षेत्रीय शोधकार्य से सामग्री एकत्र कर पाया। मलिनॉस्की के अध्ययन *दि सेक्सुअल लाइफ़ ऑफ़ सेवेजेस इन एन.डब्ल्यू. मलनेसिया* तथा उनकी शिष्या ऑड्रे रिचर्ड्स के अध्ययन *हंगर एंड वर्क इन ए सेवेज ट्राइब* से अच्छी तरह पता चलता है कि विभिन्न संस्कृतियां जैविक आवेगों की न केवल पूर्ति करती हैं, बल्कि उनका नियमन तथा संचयन भी करती हैं।

राल्फ़ पिडिंगटन (1957: 49) ने आवश्यकताओं के सिद्धांत को मनोवैज्ञानिकों तथा समाजशास्त्रियों के बीच संभावित सहयोग का माध्यम बताया। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि मलिनॉस्की का आवश्यकताओं का सिद्धांत मानव आचरण के जैविक एवं सांस्कृतिक उपादानों के संबंध में एक सामान्य अवधारणा है। अवधारणाएँ विकसित करने की उसकी आकांक्षा बराबर बनी रही। यद्यपि उसकी अवधारणाएं अनुमानपरक नहीं थीं, लेकिन वे इतनी ठस भी नहीं थीं कि उनके आधार पर सामान्यीकरण करना कठिन हो। हमने पाया कि अवधारणाएं विकसित करने की प्रक्रिया में समाजों की व्याख्या संतुलित सांस्कृतिक समग्रता के रूप में करने के स्थान पर बाद में वह संस्थाओं के अध्ययन पर बल देने लगा। मलिनॉस्की एक संस्था को संस्कृति का अवयव या अंग मानता था। उसने समाज की विभिन्न संस्थाओं के बीच संबंधों की तलाश करनी शुरू कर दी थी। इससे वह धार्मिक अथवा राजनीतिक संस्थाओं को आर्थिक अथवा प्रौद्योगिकीय संस्थाओं से जोड़कर देखने में सफल हुआ। वह संस्थाओं को एक-दूसरे से पृथक मानता था क्योंकि उनका संगठन अलग-अलग प्रकार्य को लेकर हुआ था। प्रकार्य शब्द से उसका क्या अभिप्राय था? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए आइए हम भाग 22.6 का अध्ययन करें, परंतु पहले बोध प्रश्न 2 को पूरा करें।

**बोध प्रश्न 2**

i) मूल आवश्यकताओं तथा व्युत्पन्न आवश्यकताओं के अंतर को तीन पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

iii) क्या मलिनॉस्की अपने आवश्यकताओं के सिद्धांत में धर्म तथा कला को स्थान दे पाया है? यदि हां तो यह बताइए कि उसने प्रतीकवाद को मानव संस्कृति का मूल सार कैसे माना? अपना उत्तर तीन पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

## 22.6 मलिनॉस्की द्वारा विकसित प्रकार्य की अवधारणा

आपको यह स्पष्ट हो चुका है कि संस्कृति का विचार मलिनॉस्की के अवधारणा-तंत्र का केन्द्र बिन्दु

रहा। इसे उसने मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन माना। आवश्यकताओं के संदर्भ में संस्कृति के प्रकार्यों की व्याख्या के फलस्वरूप मलिनॉस्की को ट्रोब्रिएण्ड द्वीप समूह में एकत्र किए गए नृजाति विवरण का सुनियोजित ढंग से संकलन एवं विश्लेषण करने में सहायता मिली (उदाहरण के लिए कोष्ठक 22.5 देखिए)।

**कोष्ठक 22.5: *बलोमा* पर मलिनॉस्की का निबंध**

यह मलिनॉसकी के निबंध बलोमा: दि स्पिरिट ऑफ़ दि डैड इन दि ट्रोब्रिएण्ड आइलैंड्स (1948: 191-3) का एक उद्धरण है। मलिनॉस्की ओमरकाना तथा पड़ोसी गांव किरीवीना (ट्रोब्रिएण्ड द्वीप समूह) में दस महीने रहा। वह एक टेंट में स्थानीय लोगों के बीच में रहा और उनके साथ किरीवीनियाई भाषा में ही बात करता था। इस उद्धरण में किरीवीनिया के लोगों के जीवन में जादू की भूमिका का पता चलता है। यहाँ मलिनॉस्की ट्रोब्रिएण्डवासियों को हमारे सामने किस खूबी से रखता है, यह देखते ही बनता है। वह लिखता है कि ट्रोब्रिएण्ड द्वीपवासियों में जादू-टोना बहुत प्रचलित है। उनके साथ वहां रहते हुए, मैने अकसर उन्हें अचानक ही जादू-टोना करते देखा। यदि पहले से मालूम होता तो मैं स्वयं ही वहां मौजूद होता था। ओमरकाना के ओझा, बगीदो, की झोंपड़ी मेरे तम्बू से लगभग पचास मीटर पर थी। मुझे याद है कि ओमरकाना आने के कुछ दिन बाद ही मैंने किसी के मंत्र पढ़ने की आवाज़ सुनी। उस समय मुझे खेती-बाड़ी से सम्बद्ध जादू-टोने के बारे में कुछ भी मालूम नहीं था। बाद में तो उस ओझा ने मुझे भी जादू-टोने की जड़ी-बूटियों पर मंत्र पढ़ने की अनुमति दे दी थी। मैं अपनी इच्छा के अनुसार कभी भी इन अनुष्ठानों में मंत्र पढ़ने के अधिकार का प्रयोग कर सकता था और सचमुच ही मैंने कई बार ऐसा किया। जड़ी-बूटियों वाली कुछ सामग्री पर गाँव में खेती-बाड़ी से जुड़े मंत्र पढ़े जाते थे, कुछ पर ओझा की झोंपड़ी में पढ़े जाते थे और खेत में डालने से पहले फिर से उन पर मंत्र पड़े जाते थ। जादू-टोना करने वाले दिन ओझा अकेला ही झाड़ी में जाता और कभी-कभी जड़ी-बूटियां लाने के लिए उसे बहुत दूर भी जाना पड़ता। अक्सर उसे एक ही टोने के लिए लगभग दस प्रकार की जड़ी-बूटियां लानी पड़तीं। इनमें से कुछ तो समुद्र तट पर ही मिलती, कुछ राइबोग अर्थात् पत्थरीले मूंगा वाले जंगल में मिलती और अन्य ओडिला अर्थात् छोटी-छोटी जंगली झाड़ियों से लानी पड़तीं। जादू-टोने की सामग्री लाने के लिए ओझा को पौ फटने से पहले जाना पड़ता और सूर्य निकलने से पहले यह सब इकट्ठा करना पड़ता। यह सब सामग्री उसकी झोपड़ी में रख दी जाती और दोपहर के समय ओझा उन पर मंत्र पढ़ने शुरू करता। चारपाई पर एक चटाई बिछाई जाती व इसके ऊपर एक और चटाई बिछाई जाती। दूसरी चटाई के आधे हिस्से पर जड़ी-बूटियां रखी जातीं और फिर चटाई के दूसरे हिस्से से जुड़ी-बूटियों को ढक दिया जाता। ऐसा करने के बाद ओझा जड़ी-बूटियों पर मंत्र द्वारा जादू-टोना करता। पूरे समुदाय में ओझा की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण मानी जाती है। ओझा की मदद के बिना खेती-बाड़ी का कोई भी काम करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

कुछ विद्वान मलिनॉस्की के नृजातिविवरण को "सैद्वांतिक अंतदृष्टि का विषय" मानते हैं (लीच 1957: 119)। ये सैद्धांतिक अंतर्दृष्टियाँ अब समाजशास्त्रीय अध्ययन का अभिन्न अंग बन गई हैं। लीच के अनुसार, मलिनॉस्की की नृशास्त्रीय महानता इस सैद्धांतिक विश्वास में निहित है कि क्षेत्रीय शोधकार्य में एकत्र किए सभी तथ्यों से समाज के बारे में एक पूरी तस्वीर सामने आ जानी चाहिए। एक-एक तथ्य सारी तस्वीर की कहानी बताने वाला होना चाहिए। अपनी इसी धारणा के कारण मलिनॉस्की ने सामाजिक-सांस्कृतिक पारिस्थितियों की बारीक़ से बारीक़ जानकारी पर पूरा ध्यान दिया। इस दृष्टिकोण के कारण आदिम लोगों के नृजातिविवरण तथा उनके आचरण की व्याख्या के संबंध में स्पष्ट और जीवंत परिणाम प्राप्त करने में उसे सुविधा हुई (कोष्ठक 22.5 में यह स्पष्ट है)। प्रत्यक्ष सामग्री एकत्र करने पर मलिनॉस्की का अनुरोध (insistence) ही एक

प्रकार से उसकी सैद्धांतिक उपलब्धि था, क्योंकि इससे यह आवश्यक हो गया कि तथ्यों का विश्लेषण अनुभवपरक वास्तविकता पर आधारित होना चाहिए।

मलिनॉस्की सूक्ष्म सिद्धांत (abstract theory) में विश्वास नहीं करता था (लीच 1957: 134)। इसी दृष्टिकोण के कारण वह समाज के **अनुभवमूलकता** के साथ तथ्यों का बारीकी के साथ अध्ययन करने पर बल देता था। परन्तु वह अनुभवपरक ब्योरे के सागर में डूबने को तैयार नहीं था। अन्य समाजशास्त्रियों की भांति वह भी इन तथ्यों का अर्थ समझने के पक्ष में था। इसके लिए उसे सैद्धांतिक-तंत्र विकसित करने की आवश्यकता पड़ी। सूक्ष्म सिद्धांत का विरोधी होने के साथ-साथ वह उन्नीसवीं शताब्दी के अनुमानमूलक सिद्धांतों की त्रुटियों को दूर करने के लिए भी कृत-संकल्प था। इसी के परिणामस्वरूप वह ऐसी मध्यवर्ती अवधारणाओं के विकास में लगा रहा, जो न तो इतनी सूक्ष्म थीं कि अनुमानमूलक बन जाएं और न ही इतनी ठस के उनके आधार पर सामान्यीकरण ही न किया जा सके। इस प्रक्रिया में मलिनॉस्की ने संस्कृति को प्रकार्यात्मक भूमिका निभाने के साधन के रूप में प्रस्तुत किया। साथ ही, उसने व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति पर बल दिया। प्रकार्यवाद का उसका सिद्धांत इस बिंदु से आगे नहीं बढ़ पाया।

इवन्स प्रिचर्ड (1954: 54) के शब्दों में, मलिनॉस्की ने अपने प्रेक्षण का विवरण देने के लिए प्रकार्य की विधि को एक साहित्यिक साधन की तरह विकसित किया। मलिनॉस्की प्रकार्यवाद को सुव्यवस्थित अवधारणा के रूप में विकसित नहीं कर पाया। यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि मलिनॉस्की के समकालीन समाजशास्त्री रैडक्लिफ़-ब्राउन ने बाद में समाज का प्रकार्यात्मक अथवा आंगिक सिद्धांत विकसित किया। इस विषय की चर्चा इकाई 25 में की जाएगी। समय हो गया है कि बोध प्रश्न 3 को पूरा किया जाये।

**बोध प्रश्न 3**

i) मलिनॉस्की प्रकार्यवाद को एक विचार पद्धति की अवधारणा की भांति विकसित करने में विफल रहा। परंतु समाजशास्त्रीय शोधकार्य को उसकी क्या विशिष्ट देन रही? तीन पंक्तियों में अपना उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

ii) एक प्रकार्यात्मक साधन की तरह संस्कृति की व्याख्या करने में मलिनॉस्की को किस सिद्धांत से मदद मिली? तीन पंक्तियों में अपना उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

## 22.7 सारांश

मलिनॉस्की की संस्कृति, आवश्यकताओं तथा प्रकार्य की अवधारणाओं के विस्तृत अध्ययन के बाद यह आसानी से समझ में आ जाता है कि वह प्रकार्य की अवधारणा पूरी तरह विकसित नहीं कर पाया। जहां तक संस्कृति की उसकी अवधारणा का संबंध है, वह एक व्यापक अवधारणा विकसित करना चाहता था। इस प्रक्रिया में उसने अपना काम अत्यंत कठिन तथा दु:साध्य बना लिया। इस सबके बावजूद वह एक शक्तिशाली योद्धा माना जाता है, जिसने अपने समय के बहु-स्वीकृत सिद्धांतों को चुनौती दी। यहीं नहीं, उसने एक नृजातिविवरण करने तथा एक सिद्धांतकार की भूमिकाओं को मिलाकर समाजशास्त्रीय चिंतन में उल्लेखनीय योगदान किया। उसने यह दर्शाया

कि नृजातिविवरण की सामग्री सैद्धांतिक व्याख्या के अभाव में किस प्रकार अर्थहीन है। पंद्रह वर्षों के अथक प्रयासों से उसने ऐसा सैद्धांतिक-तंत्र तैयार किया, जिसकी जड़ें अनुभवमूलक वास्तविकता में जमी रहने के कारण उसके परवर्ती विद्वानों द्वारा खूब इस्तेमाल में लायी गयीं। इस प्रकार, नृशास्त्र के इतिहास में उसका नाम अमर हो गया।

## 22.8 शब्दावली

**प्रसारवाद** — एक समूह से दूसरे समूह तक संस्कृति के तत्वों के प्रसार का सिद्धांत

**अनुभवमूलकता (empiricism)** — प्रेक्षण तथा अनुभव पर निर्भर करने की क्रिया अथवा यह सिद्धांत कि अनुभव सभी प्रकार के ज्ञान का स्त्रोत है

**एस्किमो** — उत्तरी कनाडा, ग्रीनलैंड, अलास्का तथा पूर्वी साइबेरिया में बसा जन-समूह

**नृजातिविवरण (ethnography)** — यह समाज विशेष के जन-जीवन का वर्णनात्मक ब्यौरा होता है।

**नृजातिशास्त्र (ethnology)** — इसमें अनेक समाजों में संस्कृति के तत्वों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।

**विकास (evolution)** — यह अवधारणा परिवर्तन तथा प्रगति पर आधारित है। किसी प्राणी के शरीर के संदर्भ में इसका अर्थ है निर्धारित समूह के जीन्स में वर्तन तथा प्राकृतिक चयन जैसी प्रक्रियाओं के माध्यम से होने वाले परिवर्तन। मानव समाज के विकास के संदर्भ में इस अवधारणा का अर्थ है विकास के चरण, क्रमिक चरण जिनसे समाजों को गुज़रना पड़ता है।

**क्षेत्रीय शोधकार्य (field work)** — जिन लोगों का नृशास्त्रीय अध्ययन किया जाना हो, उनके क्षेत्र में जाकर अनुसंधान करने तथा समाज के सुव्यवस्थित सिद्धांत के आधार पर तथ्य एकत्र करने का कार्य

**इरोक्वा इंडियन्स** — न्यूयॉर्क के अमरीकन इंडियन लोगों का परिसंघ, जिसमें कयूगा, मोहाक, ओनीडा, ओनानडागा और सेनेगा शामिल थे तथा बाद में टुसकरोरा जनजातीय लोग भी सम्मिलित हो गए

**नैतिक दार्शनिक** — मानव आचरण तथा मूल्यों का अध्ययन करने वाले विद्वान

**पिजिन इंगलिश** — विभिन्न भाषा-भाषी लोगों के बीच संपर्क के लिए अंग्रेजी-आधारित एक बोली जिसमें स्थानीय शब्दावली तथा व्याकरण का भी खूब प्रयोग किया जाता है

**पितृवंश परंपरा** — जहाँ वंश परंपरा को पिता के माध्यम से जाना जाता है, उसे पितृवंश परंपरा वाला समाज कहते हैं

**पितृसत्तात्मक व्यवस्था** — जहाँ वंश परंपरा के अतिरिक्त राजनीतिक, आर्थिक , सामाजिक एव धार्मिक सत्ता पुरुषों के हाथ में हो

**मातृवंश परंपरा** — जहाँ वंश परंपरा माँ के माध्यम से निर्धारित हो उसे मातृवंश परंपरा वाला समाज कहा जाता है

| | |
|---|---|
| **मातृसत्तात्मक व्यवस्था** | जहाँ वंश परंपरा के अतिरिक्त राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक सत्ता महिलाओं के हाथ में हो |
| **बहुपति प्रथा** | एक महिला द्वारा दो अथवा दो से अधिक पुरुषों से विवाह की प्रथा |
| **टोरेस स्ट्रेट्स** | अस्सी मीटर चौड़ी स्ट्रेट जो न्यूगिनी द्वीप समूहों तथा आस्ट्रेलिया के केपयॉर्क द्वीप के उत्तरी सिरे के बीच स्थित है |

## 22.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कूपर, एडम, 1975. *एंथ्रोपोलिजिस्ट्स एण्ड एंथ्रोपोलोजी:* दि ब्रिटिश स्कूल 1922-72. पेंगुइन बुक्स: लंदन

## 22.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) अठारहवीं शताब्दी के नैतिक दार्शनिकों ने मानव संस्थाओं के संबंध में अपने सिद्धांतों के लिए प्रमाण जुटाना आवश्यक नहीं समझा। उन्नीसवीं शताब्दी के विकासवादी विद्वानों ने यह आवश्यकता महसूस की और अव्यवस्थित ढंग से एकत्र की गई सामग्री के आधार पर प्रमाण प्रस्तुत किए।

ii) नृजातिविवरण (ethnography) में समाज विशेष के जन-जीवन का वर्णनात्मक ब्योरा दिया जाता है, जबकि नृजातिशास्त्र (ethnology) में अनेक समाजों में संस्कृति के तत्वों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।

**बोध प्रश्न 2**

i) मूल आवश्यकताओं से अभिप्राय उन स्थितियों से है, जो व्यक्ति और समूह दोनों के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। दूसरी ओर, व्युत्पन्न आवश्यकताएं वे हैं, जिन्हें संस्कृति मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पैदा करती है।

ii) आदेशात्मक आवश्यकताओं के मलिनॉस्की के विचार से मालूम होता है कि वह धर्म तथा कला को आवश्यकताओं की परिधि में मानता था। धर्म तथा कला एक ओर प्रतीकवाद (symbolism) का अंग हैं और दूसरी ओर प्रतीकात्मक मूल्यों पर आधारित सामाजिक जीवन को समाकलित या आदेशात्मक आवश्यकताओं के संदर्भ में समझा जा सकता है। उसका कहना था कि जब कोई आदत प्रथा बन जाती है और सीखा हुआ व्यवहार मूल्य का रूप ग्रहण कर लेता है तो वह आदेशात्मक आवश्यकता का रूप ले लेता है।

**बोध प्रश्न 3**

i) मलिनॉस्की की समाजशास्त्रीय शोधकार्य को सबसे विशिष्ट देन है कि वह अपने आप एकत्रित सामग्री को क्षेत्रीय शोधकार्य द्वारा इकट्ठा करने पर विशेष ज़ोर देता है।

ii) संस्कृति की एक प्रकार्यात्मक साधन की तरह व्याख्या की जा सके, इस उद्देश्य से मलिनॉस्की ने आवश्यकताओं के सिद्धांत का विकास किया।

# इकाई 23 जादू, विज्ञान तथा धर्म की अवधारणा - मलिनॉस्की

## इकाई की रूपरेखा


23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 जादू-टोना, विज्ञान और धर्म के बारे में वाद-विवाद

- 23.2.1 धर्म के बारे में टाइलर के विचार
- 23.2.2 जादू-टोना, विज्ञान और धर्म के बारे में फ्रेज़र के विचार
- 23.2.3 टोटमवाद के बारे में फ्रेज़र और दर्खाइम के विचार
- 23.2.4 मलिनॉस्की का दृष्टिकोण: विशिष्टता में सार्विकी

23.3 लौकिक क्षेत्र

- 23.3.1 ट्राब्रिएंड द्वीपवासियों में खेती-बाड़ी का प्रचलन
- 23.3.2 ट्राब्रिएंड द्वीपवासियों द्वारा केनो-निर्माण
- 23.3.3 क्या आदिम ज्ञान विज्ञान के समान था?

23.4 पवित्र क्षेत्र - धर्म

- 23.4.1 दीक्षा अनुष्ठान समारोह
- 23.4.2 मृत्यु से संबंधित अनुष्ठान
- 23.4.3 धार्मिक आचरण के कुछ अन्य उदाहरण
- 23.4.4 धर्म के बारे में मलिनॉस्की के विचारों का सारांश

23.5 पवित्र क्षेत्र - जादू-टोना

- 23.5.1 जादू-टोने की परंपरा
- 23.5.2 'माना' और जादू-टोना
- 23.5.3 जादू-टोना और अनुभव

23.6 समानताएं और असमानताएं

- 23.6.1 जादू-टोना और विज्ञान
- 23.6.2 जादू-टोना और धर्म

23.7 जादू-टोना, विज्ञान और धर्म का प्रकार्य

23.8 सारांश

23.9 शब्दावली

23.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

23.11 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 23.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए संभव होगा

- जादू-टोना, विज्ञान और धर्म के बारे में टाइलर, फ्रेज़र और दर्खाइम के विचारों की चर्चा करना
- मलिनॉस्की द्वारा दिए गए धार्मिक और जादू-टोना संबंधी व्यवहार के उदाहरणों के बारे में बताना

- विज्ञान और जादू-टोने में तथा जादू-टोने और धर्म में अंतर स्पष्ट करना।

## 23.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई अर्थात् इकाई 22 में आपने मानव-संस्कृति को समझने के लिए मलिनॉस्की के संकल्पनात्मक परिप्रेक्ष्य के बारे में पढ़ा था। इस इकाई में समुदाय विशेष के अध्ययन द्वारा संस्कृति के सार्विकीय पक्षों के प्रति उसके दृष्टिकोण का वर्णन किया गया है। मलिनॉस्की के दृष्टिकोण के सटीक उदाहरण के तौर पर हमने यहाँ उसके जादू-टोना, विज्ञान और धर्म पर निबंध को चुना है। इसमें आदिम संस्कृति के इन पक्षों में समानताओं तथा भिन्नताओं को बहुत ही सरस रूप में प्रस्तुत किया गया है (इस विषय में 1948 में प्रकाशित *मैजिक, सांइस एंड रिलीजन एण्ड अदर ऐसेज़* नामक पुस्तक में रॉबर्ट रैडक्लिफ़ द्वारा लिखित प्रस्तावना देखिए)। इस निबंध की विषय-वस्तु के सूक्ष्म अध्ययन से आपको मलिनॉस्की की प्रतिभा का आभास इस दृष्टि से होगा कि कैसे उसने ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों के समाज के अध्ययन में मानव संस्कृति के सार्विकीय तत्वों को देखने का प्रयास किया। दूसरे, आपको यह भी स्पष्ट होगा कि इस निबंध में मलिनॉस्की ने अपने आपको धर्म, विज्ञान और जादू-टोने के बारे में प्रचलित किसी एक परिप्रेक्ष्य तक सीमित नहीं रखा। उसने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के संदर्भ में पहले टाइलर, फ्रेज़र, मैरेट और दर्खाइम के धर्म संबंधी विभिन्न विचारों की चर्चा की। इससे हमें उस काल में इन विषयों पर होने वाली परिचर्चाओं के बारे में उपयोगी विवरण मिल जाता है। इस इकाई में हमने मलिनॉस्की के विचारों का सारांश देने का प्रयास किया है। इस चर्चा के दौरान हमने उसके विचारों में पाई जाने वाली त्रुटियों और असंगतियों का भी उल्लेख किया है।

इस इकाई के आरंभ में हमने मलिनॉस्की के समय में प्रचलित जादू-टोना, विज्ञान और धर्म की धारणाओं का विवरण दिया है। इसके बाद उस क्षेत्र के बारे में विचार किया गया है जो मलिनॉस्की की दृष्टि में **लौकिक (the profane)** है। इसमें विज्ञान अथवा मानव द्वारा अपने पर्यावरण पर तर्कसंगत नियंत्रण का उल्लेख है। मलिनॉस्की ने यह भी दिखाया है कि आदिम लोगों में अनुभव और तर्क पर आधारित व्यापक ज्ञान पाया जाता है। इस ज्ञान के प्रयोग से उन्हें अपने दैनिक जीवन के क्रियाकलापों को चलाने तथा कठिन पर्यावरण में भी अपना अस्तित्व बनाए रखने में मदद मिलती है।

इकाई के दूसरे चरण में हमने जादू-टोना, और धर्म के क्षेत्रों की चर्चा की है। मलिनॉस्की ने जादू-टोना और धर्म को **पवित्र (the sacred)** क्षेत्र के अंतर्गत रखा है। मलिनॉस्की के अनुसार आदिम मानव की दृष्टि में विज्ञान के संसार तथा जादू-टोना और धर्म के संसार के बीच स्पष्ट अंतर है। हमने यह देखने का प्रयास किया है कि किस प्रकार लौकिक और पवित्र ये दोनों क्षेत्र एक-दूसरे से अलग हैं। दूसरी ओर कैसे धर्म और जादू-टोने में आपस में अंतर है। इस प्रकार, मलिनॉस्की का यह अति सुगम सिद्धांत आपके सामने है जिसमें (i) वैज्ञानिक, जादू-टोने से संबंधित और धार्मिक व्यवहार की प्रकृति और उनके अंतर के बारे में विचार किया गया है (ii) यहाँ दिखाया गया है कि किस प्रकार ये तीनों पक्ष मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और फलतः समाज की सत्ता को बनाए रखने में सहायक होते हैं।

## 23.2 जादू-टोना, विज्ञान और धर्म के बारे में वाद-विवाद

इस भाग में हमने मलिनॉस्की के समय में प्रचलित जादू-टोना, विज्ञान और धर्म के संबंध में धारणाओं के बारे में संक्षेप में विचार किया है। अपने निबंध के पहले भाग में उसने इनके बारे में चर्चा की है और बाद के भागों में कुछ मुद्दों का विस्तार से वर्णन किया है। हमने भी यहां मलिनॉस्की द्वारा अपनाए क्रम को लेते हुए पहले धर्म के बारे में टाइलर के विचारों पर चर्चा की है।

### 23.2.1 धर्म के बारे में टाइलर के विचार

मलिनॉस्की के अनुसार एडवर्ड टाइलर को धर्म के नृशास्त्रीय अध्ययन का संस्थापक कहा जा सकता है। टाइलर की दृष्टि में **जीववाद (animism)** अर्थात् अध्यात्मिक जीवों में विश्वास आदिम धर्म का सार है। टाइलर की यह धारणा है कि आदिम लोगों के स्वप्नों, विभ्रांतियों (hallucination) और अंतर्दृष्टि संबंधी विचार से ऐसा प्रतीत होता है कि उनको आत्मा और शरीर के अलगाव में विश्वास था। मृत्यु के बाद भी आत्मा जीवित रहती है और वह स्वप्नों, स्मृतियों और अंतर्दृष्टि में दिखाई देती है। इसी से उनमें भूत-प्रेतों, पुरखों की आत्माओं और मृत्यु के बाद के विश्व में विश्वास की धारणा पैदा हुई। टाइलर के मत में सामान्यत: मानव मात्र में विशेष रूप से आदिम जातियों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि मृत्यु के बाद के विश्व की कल्पना का आधार हमारे उस विश्व का प्रतिरूप है, जिसमें हम रहते हैं। इसके अलावा ऐसा समझा जाता है, कि जो मनुष्य के क्रियाकलापों में सहायक या बाधक होते हैं, ऐसे जानवर, पौधे और अन्य पदार्थों की भी आत्माएं होती हैं।

टाइलर के इस विचार से मलिनॉस्की सहमत नहीं हैं कि आदिम मानव एक महा विचार-प्रधान प्राणी (rational being) होता है। मलिनॉस्की आदिम समाजों के अपने गहरे ज्ञान के आधार पर कहता है कि आदिम मानव अपने रोज़मर्रा के मछली पकड़ने, खेती-बाड़ी आदि के कार्यों और जनजातीय गोष्ठियों में इतना अधिक व्यस्त रहता है कि उसे स्वप्नों और अंतर्दृष्टियों के बारे में सोचने की फुरसत कहां? इस तरह टाइलर के विचारों की आलोचना के बाद मलिनॉस्की ने जेम्स फ्रेज़र के विचारों की ओर ध्यान केंद्रित किया।

### 23.2.2 जादू-टोना, विज्ञान और धर्म के बारे में फ्रेज़र के विचार

फ्रेज़र की रचनाएं मुख्य रूप से जादू-टोना और इसके विज्ञान और धर्म के साथ संबंध पर हैं। उनमें **टोटमवाद** और उर्वरता-पंथ (fertility cult) के बारे में विचार भी शामिल हैं।

फ्रेज़र की प्रसिद्ध रचना *दि गोल्डन बाउ* में कहा गया है कि आदिम धर्म में जीववाद (animism) के अतिरिक्त कई अन्य मान्यताएं थीं तथा जीववाद को आदिम-संस्कृति का प्रमुख विश्वास नहीं कहा जा सकता। फ्रेज़र के अनुसार रोज़मर्रा के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए प्रकृति को नियंत्रित करने के प्रयास में आदिम मानव जादू-टोने का सहारा लेता था। जब उसे जादू-टोने की निष्फलता का आभास हो गया तो आदिम मानव राक्षसों, प्रेतात्माओं और देवताओं से प्रार्थना करने की ओर प्रवृत्त हुआ। फ्रेज़र ने धर्म और जादू-टोने में स्पष्ट अंतर किया है। प्रकृति पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए उच्च आध्यात्मिक शक्तियों को संतुष्ट करने या मना लेने को उसने धर्म कहा है जबकि तंत्र-मंत्रों और अनुष्ठानों आदि के द्वारा सीधे नियंत्रण स्थापित करने को जादू-टोना कहा है। फ्रेज़र का कथन है कि जादू-टोना यह प्रदर्शित करता है कि मनुष्य को प्रकृति पर प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित करने की क्षमता पर पूर्ण विश्वास है। यह प्रवृति जादू-टोने को वैज्ञानिक क्रियाविधि के समान बना देती है। फ्रेज़र का कहना है कि धर्म के उदय से यह पता चलता है कि मनुष्य ने प्रकृति पर प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित करने की अपनी असमर्थता को स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार, धर्म मनुष्य को जादू-टोने से ऊपर उठा देता है। इतना ही नहीं, उसकी यह भी मान्यता है कि धर्म का स्थान विज्ञान के समकक्ष है।

फ्रेज़र के ये विचार जर्मनी के प्रुस (Preuss), इंग्लैंड के मैरेट और फ्रांस के ह्यूबर्ट और मॉस आदि यूरोपीय विद्वानों के लिए प्रेरणादायक सिद्ध हुए। इन विद्वानों ने फ्रेज़र की आलोचना करते हुए कहा कि चाहे विज्ञान और जादू-टोना एक जैसे प्रतीत हों, लेकिन वे एक-दूसरे से एकदम भिन्न हैं। उदाहरण के तौर पर विज्ञान तर्क पर आधारित है और इसका विकास पर्यवेक्षणों और परीक्षणों के आधार पर होता है, जबकि जादू-टोने का जन्म परंपरा से होता है और यह रहस्यपूर्ण ज्ञान से घिरा होता है। दूसरे, वैज्ञानिक ज्ञान को कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जबकि

रहस्यात्मक सूत्रों को गुप्त रखा जाता है और इनका ज्ञान कुछ गिने-चुने लोगों को ही दिया जाता है। तीसरे, विज्ञान का आधार प्राकृतिक शक्तियों की धारणा में है, जबकि जादू-टोने का जन्म रहस्यात्मक शक्तियों की धारणा से होता है। जनजातीय समाजों में इसे भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है, जैसे मलेनेशियाई लोग इसे *'माना'* कहते हैं तो ऑस्ट्रेलियाई जनजातियां इसे *'अरुंगक्विल्था'* कहती हैं। बहुत से अमरीकी इंडियन समूहों में इसे 'वाकान', *'ओरेंडा'*, *'मानिटु'* नामों से जाना जाता है। ऐसी अलौकिक शक्ति में विश्वास पूर्ण-जीववादी धर्म के सार के रूप में स्थापित होता है और इसे विज्ञान से पूर्णतया भिन्न रूप में दिखाया गया है।

मलिनॉस्की ने *'माना'* की तरह की अलौकिक शक्ति में विश्वास के संबंध में कई प्रश्न उठाए। उसने जानना चाहा कि क्या यह एक मूलभूत विचार है जो आदिम मस्तिष्क की अपनी उपज है या मानव मनोविज्ञान के कहीं सरल और अपेक्षाकृत आधारभूत तत्वों से इसकी व्याख्या की जा सकती है, या यह ऐसी वास्तविकता है जिससे आदिम मानव घिरा रहता है। इन प्रश्नों के उत्तर देने से पूर्व मलिनॉस्की टोटमवाद के धार्मिक विश्वासों की समस्याओं के बारे में तथा इस विषय में फ्रेज़र और दर्ख़ाइम के विचारों के बारे में चर्चा करता हे। क्योंकि इन विद्वानों ने टोटमवाद की व्याख्या के माध्यम से ही धर्म के बारे में अपने मत बनाए थे, अगले अनुभाग में इसी विषय पर चर्चा होगी।

**बोध प्रश्न 1**

1) एक पंक्ति में जीववाद (animism) की परिभाषा लिखिए।

.....

2) तीन पंक्तियों में आदिम लोगों के जादू-टोने और धर्म के उद्भव के बारे में फ्रेज़र का मत लिखिए।

.....

.....

.....

## 23.2.3 टोटमवाद पर फ्रेज़र और दर्ख़ाइम के विचार

फ्रेज़र ने टोटमवाद को समूह विशेष के लोगों और प्राकृतिक अथवा कृत्रिम जातियों के बीच संबंध के रूप में परिभाषित किया है। इन वस्तुओं को एक समूह के लोगों का टोटम माना जाता है। यह कहा जा सकता है कि टोटमवाद एक धार्मिक व्यवस्था है और सामाजिक समूह बनाने की विधि है। एक धार्मिक व्यवस्था के रूप में यह आदिम लोगों की उस इच्छा को व्यक्त करती है जो उन्हें विभिन्न प्राणियों, वनस्पति की जातियों जैसी महत्वपूर्ण वस्तुओं से संबंध स्थापित करने की प्रेरणा देती है। लोगों का जो समूह उन्हें टोटम के रूप में मानता है, उस समूह के लिए इन वस्तुओं को नष्ट करना या मारना वर्जित है। दूसरी ओर, वह समूह उन टोटम वस्तुओं की संख्या बढ़ाने के लिए अनुष्ठान या समारोह आयोजित करता है। सामाजिक समूहों के निर्माण में टोटम वस्तुएं समूहों को छोटे-छोटे समूहों में विभाजित करने का आधार बनती हैं। इस प्रकार, इसके द्वारा धार्मिक विश्वास के समाजशास्त्रीय महत्व का एक पूर्ण रूप से नया पक्ष उभर कर सामने आया। इसी कारण से धर्म से संबंधित नृशास्त्र के अग्रणी रॉबर्ट्सन स्मिथ (1889) ने यह निष्कर्ष निकाला कि आदिम धर्म व्यक्तियों से संबंधित नहीं था अपितु उसका अनिवार्यत: सारे समुदाय से संबंध था।

दर्ख़ाईम के धर्म संबंधी अध्ययन के अनुसार टोटमवाद धर्म का प्राचीनतम रूप है। रॉबर्ट्सन स्मिथ के समान दर्ख़ाइम भी धर्म और समाज के बीच बहुत निकट का संबंध मानता है। उसके मत में टोटमीय सिद्धांत भी 'माना' या 'अलौकिक शक्ति' के समान है। दर्ख़ाइम (1976: 206)

ने लिखा है कि समाज का अपने सदस्यों के लिए वही महत्व है जो ईश्वर का अपने भक्तों के लिए होता है। वह धर्म को समाज का ही देवीकृत रूप मानता है। दर्ख़ाइम ने धार्मिक व्यवहार के सामूहिक पक्ष पर विशेष बल दिया।

मलिनॉस्की को दर्ख़ाइम के निरूपण में कई समस्याएं दिखाई दीं। वह धर्म की इस रूप में कल्पना नहीं कर सकता जिसमें एकांत में किए गए मनन-चिंतन की कोई जगह नहीं है। मलिनॉस्की (1948: 56) के अनुसार अमरत्व की धारणा भी व्यक्तिपरक है। इसका सामाजिक या सामूहिक पक्ष से कोई विशेष संबंध नहीं है। दूसरी बात मलिनॉस्की ने कहा कि समाज में नैतिकता की मान्यता व्यक्तिगत दायित्व तथा अंतरात्मा से उपजे विवेक पर निर्भर करती है, न कि सामाजिक दण्ड-विधान के डर पर। तीसरी बात, उसने यह कही कि हमें सामाजिक शक्तियों की महत्ता को कम नहीं समझना चाहिए और आदिम समूहों के धार्मिक व्यवहार को समझने में दोनों, व्यक्ति और समाज, को महत्व देना चाहिए। साथ में, उसने यह भी कहा कि एक ओर जहां धार्मिक समारोह सार्वजनिक रूप से मनाए जाते हैं, वहीं दूसरी ओर धार्मिक अंतर्दृष्टि एकांत में किए गए मनन-चिंतन से ही प्राप्त होती है।

दर्ख़ाइम के विचारों की आलोचना करते हुए उसने यह भी कहा कि समाज के सभी सामूहिक उद्यमों को धार्मिक क्रियाकलाप के रूप में निरूपित नहीं किया जा सकता। इसलिए हम समाज और धर्म को पर्यायवाची नहीं मान सकते। उसने युद्धरत सैनिकों, नौका-दौड़ प्रतियोगिता और द्वीपवासियों के आपसी झगड़ों के उदाहरण दिए। ये सभी सामूहिक क्रिया-व्यापार हैं लेकिन इनका धर्म से कोई संबंध नहीं है। इस प्रकार मलिनॉस्की के अनुसार सामूहिक और धार्मिक क्रिया-व्यापार अन्योन्यव्यापी (overlapping) तो हो सकते हैं लेकिन वे समानार्थक नहीं हो सकते। उसने इस तर्क को आगे बढ़ाते हुए कहा कि समाज में धार्मिक और ग़ैर-धार्मिक अथवा लौकिक दोनों पक्ष समाहित हैं। इसलिए समाज को केवल धार्मिक या पावन पक्षों के समकक्ष नहीं माना जा सकता। इन तर्कों के आधार पर मलिनॉस्की ने दर्ख़ाइम द्वारा विकसित धर्म के समाजशास्त्रीय सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया।

मलिनॉस्की की आलोचनाओं की पृष्ठभूमि में अब हमने यह देखने का प्रयास किया है कि इस बारे में मलिनॉस्की के क्या विचार हैं। जादू-टोने, विज्ञान और धर्म के संबंध में उसके विचारों का सारांश प्रस्तुत करने से पूर्व आइए, हम उन स्तरों को देखें जिन पर उसके विचार मुखरित होते हैं। अगले अनुभाग में जादू-टोने, विज्ञान और धर्म की समस्याओं पर मलिनॉस्की के विचारों को समझने के लिए उसके विशिष्ट और सार्विकीय संदर्भ को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

### 23.2.4 मलिनॉस्की का दृष्टिकोण: विशिष्टता (particular) में सार्विकी (universal)

मलिनॉस्की के विचार उस सीमा-रेखा पर हैं जहां एक ओर मानव-व्यवहार के पहले से चले आए सार्विक रूप से वैध सिद्धांत हैं तो दूसरी ओर समाज विशेष में अनुभवाश्रित अनुसंधान के प्रति नई-नई ललक दिखाई देती है। मलिनॉस्की को आसानी से उन्नीसवीं शताब्दी के उन विकासवादी विद्वानों के साथ रखा जा सकता है जिन्होंने धर्म और जादू-टोने की प्रकृति और उद्भव के बारे में विचार किया है। उसे इस युग का ऐसा अंतिम विद्वान कहा जा सकता है जिसने धर्म और जादू-टोने के सार्विक रूप से लागू होने वाले सिद्धांतों की व्याख्या की। लेकिन हमें इस तथ्य को भी स्वीकार करना होगा कि मलिनॉसकी ने उस नए चरण को शुरू किया जिसमें समाज विशेष की सावधानीपूर्वक पर्यवेक्षित एवं संग्रह की हुई सामग्री को अत्यधिक महत्व दिया गया। इस प्रकार, वह एक ऐसा नृशास्त्री है जो पुराने प्रश्नों के नए ढंग से उत्तर देता है।

इस प्रकार हमारे सामने ऐसे दो स्पष्ट स्तर उभर कर आते हैं जिन पर उसके जादू-टोने, विज्ञान और धर्म से संबंधित विचारों का निर्माण हुआ और जिन्हें उसने अपने इस निबंध में प्रस्तुत किया।

इनमें से एक स्तर विशिष्ट समाज का यानी ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों का है। वह इन द्वीपवासियों को मानवीयता का एक अत्युत्कृष्ठ उदाहरण मानता है। दूसरे स्तर पर उसने इन द्वीपवासियों के बीच क्षेत्रीय शोधकार्य के दौरान एकत्र की हुई सामग्री का उपयोग जादू-टोने और धर्म की प्रकृति और प्रकार्य पर अपने सर्वव्यापी विचारों को समझाने के लिए किया। उसकी दृष्टि में सामाजिक जीवन के पर्यवेक्षण और सार्वत्रिक रूप से वैध सिद्धांतों के बीच संबंध बैठाना एक बहुत ही साधारण और सहज बात है। इस निबंध में उसने इन दोनों स्तरों को बहुत ही सहज रूप में मिला दिया है और जादू-टोने, विज्ञान और धर्म के समाजशास्त्रीय महत्व के बारे में पैदा होने वाले प्रश्नों के उत्तर भी दे दिए हैं। इतना ही नहीं, उसने ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों के विशिष्ट संदर्भ में प्राप्त जानकारी के आधार पर संपूर्ण मानवता के स्तर पर कुछ सामान्य निष्कर्ष भी निकाले हैं। साथ ही उसने इन तत्वों की वैधता को सिद्ध करने का भी प्रयास किया है। मानव-व्यवहार के इन तीन महत्वपूर्ण पक्षों (जादू, धर्म और विज्ञान) पर उसके विचारों का अध्ययन करते समय ऊपर बताए गए दोनों स्तरों को ध्यान में रखना उपयोगी होगा।

उसने समाजिक जीवन के तीनों पक्षों को नए ढंग से देखा। इन तत्वों के अध्ययन के लिए उसने नए दृष्टिकोण से सोचा। उसके मत में इन तीनों पक्षों के अस्तित्व का कुछ अर्थ होना चाहिए। आइए, हम देखें कि कैसे वह इनके अस्तित्व के संबंध में कोई अर्थ खोजने का प्रयास करता है। नाडेल (1957: 208) के मत में अगर उसका अर्थ खोजने का तरीक़ा भले ही बहुत सहज हो और परिष्कृत न हो, फिर भी यह विज्ञान, धर्म और जादू-टोने के अध्ययन का नया तरीक़ा जरूर है। यह मानना पड़ेगा कि इस नए मार्गदर्शन के अभाव में उसके उत्तरवर्ती नृशास्त्री वह प्रगति नहीं कर सकते थे जो उन्होंने बाद में की। समाजशास्त्रीय इतिहास और विकास के अध्येताओं को इस परिप्रेक्ष्य में यह समझने में सहायता मिलती है कि मलिनॉस्की ने विज्ञान, जादू और धर्म के अध्ययन में तर्कसंगत सिद्धांत (the logic of rationality) को कैसे लागू किया।

अमरीकी नृशास्त्री रॉबर्ट रैडफ़ील्ड (1948: 9) के अनुसार मलिनॉस्की के मैजिक, साइंस एंड रिलीज़न शीर्षक निबंध में हमें लेखक की विशेष प्रतिभा का आभास मिलता है। उसकी विशेषता यह है कि उसने सफलतापूर्वक विशिष्टता में सर्वत्रता (the universal in the particular) को केवल अनुभव ही नहीं किया अपितु उसे सिद्ध भी किया।

मलिनॉस्की ने जिस प्रकार धर्म और जादू-टोने के अर्थ और प्रकार्य को प्रदर्शित किया, उससे सामाजिक स्थितियों में मानव हितों में उसकी गहरी रुचि का पता चलता है। रॉबर्ट रैडफ़ील्ड के अनुसार मलिनॉस्की की मानवीयता एक ओर उसे नृशास्त्र को विज्ञान के स्तर से उठाकर कला के स्तर तक ले जाने में मदद करती है। दूसरी ओर वह मानव-जीवन की संवेदनशील वास्तविकता को और विज्ञान के नीरस अमूर्तीकरण को मिलाने में भी सफल होता है। अब आपको निश्चय ही यह जानने की उत्सुकता होगी कि मलिनॉस्की ने अपने निबंध में क्या कहा था। इकाई के अगले भाग में उसके द्वारा बताए गए आदिम ज्ञान और जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में उसके अनुप्रयोग का संक्षिप्त विवरण दिया जायेगा। इसे उसने जीवन का लौकिक पक्ष (domain of the profane) कहा है।

इस बिंदु पर, सोचिए और करिए 1 को पूरा कीजिये।

**सोचिए और करिए 1**

भारतीय मिथकों (mythology) में टोटम-निषेध के कई संदर्भ मिलते हैं। इस विषय में आप एक पृष्ठ की टिप्पणी (नोट) लिखिए, जिसमें पाँच टोटम-निषेधों (totem-taboos) की सूची हो और दो विशिष्ट समुदायों के संदर्भ में उनके महत्व का वर्णन हो।

## 23.3 लौकिक क्षेत्र

मलिनॉस्की अपनी बात एक प्रश्न से शुरू करता है। प्रश्न है--क्या आदिम लोगों का दृष्टिकोण तर्क पर आधारित है? क्या उनका अपने आस-पास के वातावरण पर तर्कसंगत नियंत्रण होता है? उसने लेवी ब्रूल (1926) के इस विचार को अस्वीकार किया कि आदिम मानव को तर्क से स्पष्ट अरुचि है (देखिए कोष्ठक 23.1)। मलिनॉस्की ने इस प्रश्न का उत्तर दिया कि हर आदिम समुदाय के लोगों के पास ज्ञान का काफ़ी बड़ा भंडार है जो अनुभव और तर्क पर आधारित है। इसके समर्थन में उसने ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों के कला, शिल्प और आर्थिक क्रियाकलापों से संबंधित व्यवहार का उदाहरण दिया। इन क्रियाकलापों से संबंधित व्यवहार स्पष्ट रूप से जादू-टोने और धर्म से अलग है। उनका यह अनुभवाश्रित ज्ञान तर्क-युक्ति में विश्वास पर आधारित है। मलिनॉस्की ने इसे जीवन का लौकिक पक्ष कहा है अर्थात् जो धार्मिक या जादू-टोने वाला नहीं है। उसने यह दिखाया कि आदिवासी स्वयं भी लौकिक क्षेत्र को धर्म और जादू-टोने से अलग रखते हैं। यहां हमने लौकिक क्षेत्र पर चर्चा के लिए मलिनॉस्की द्वारा उद्धृत बहुत से उदाहरणों में से दो उदाहरणों को चुना है। इन उदाहरणों से यह पता चलेगा कि आदिम लोगों में भी वैज्ञानिक ज्ञान का अस्तित्व होता है। ये उदाहरण मलिनॉस्की के ट्रॉब्रिएंड द्वीपसमूह में किए गए शोधकार्य से प्राप्त सामग्री से लिए गए हैं।

उदाहरणों को पढ़ने से पूर्व कोष्ठक 23.1 लेवी-ब्रुल के प्रसंग को पढ़ लें।

**कोष्ठक 23.1: लूसीयिन लेवी-ब्रुल**

लूसीयिन लेवी-ब्रुल का जन्म 1857 में हुआ और मृत्यु 1939 में हुई। वह फ़्रांसीसी समाजशास्त्री तथा नृजातिशास्त्री और दर्ख़ाइम का सहयोगी था। उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तकों में *हाउ नेटिव्स थिंक* (1926) और *प्रिमिटिव मेंटलिटी* (1923) शामिल हैं। इन दोनों पुस्तकों का फ्रेंच भाषा से अंग्रेजी में अनुवाद लिलियन ए. क्लेयन ने किया। फ्रेंच में ये पुस्तकें 1912-1922 में प्रकाशित हुईं। इन दोनों पुस्तकों में लेवी-ब्रुल ने उन तमाम मानव मूल्यों, आचार-व्यवहार तथा विश्वासों का विवेचन किया, जिन्हें समाज के सभी सदस्य मानते हैं और कालांतर में अगली पीढ़ी को सौंप देते हैं। उसकी यह दृढ़ मान्यता थी कि आदिम लोगों की काल्पनिक मान्यताएं, विश्वास तथा अन्य विचार उनकी सामाजिक संरचना पर प्रकाश डालते हैं। उसका कहना था कि एक समूह के विचार दूसरे समूह के विचारों से भिन्न होते हैं। उसने यह भी सिद्ध किया कि किस प्रकार ये विचार तार्किक सिद्धांतों के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। उसका मत था कि आदिम समाज की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि आधुनिक समाज जैसी नहीं थी। वह आदिम समुदायों में पाई जाने वाली विचार-संरचना को पूर्व-तार्किक (pre-logical) मानता था क्योंकि उसके मतानुसार आदिवासी स्वाभाविक कार्य-कारण संबंध को नहीं समझ पाते हैं। यह समझना आवश्यक है कि लेवी-ब्रुल ने सामाजिक कार्यकलापों से जुड़े विचारों के अध्ययन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया, जबकि दर्ख़ाइम ने केवल सामाजिक कार्यकलापों का अध्ययन किया।

### 23.3.1 ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों में खेती-बाड़ी का प्रचलन

ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों का भरण-पोषण मुख्य रूप से खेतों की उपज से होता है। वे मछली पकड़ने का काम करते हैं और अपने यहां तैयार किए गए माल का व्यापार करते हैं। खेती-बाड़ी में जमीन खोदने के लिए वे नोकदार लकड़ी के डंडे और छोटी कुदाली जैसे औज़ारों का इस्तेमाल करते हैं। इनके द्वारा वे इतनी खेती कर लेते हैं कि उनकी सारी जनसंख्या खा-पी सके। वे अपनी ज़रूरत से ज़्यादा उपज भी पैदा कर लेते हैं। विभिन्न प्रकार की मिट्टी, पौधों और उनकी अन्योन्यक्रिया के व्यापक ज्ञान के कारण उन्हें खेती में खूब सफलता मिली है। इसके साथ ही, वे

बहुत मेहनती हैं और उन्हें खेती के लिए सही स्थान और समय की भी जानकारी है। वे अपने ज्ञान का इस्तेमाल मिट्टी और पौधों के चयन के लिए करते हैं। यह ज्ञान उन्होंने पर्यवेक्षण और अनुभव के द्वारा प्राप्त किया है। उनमें ज़मीन को साफ़ करने, झाड़ियों को जलाने, पौधे लगाने, खर-पतवार निकालने और रतालू की बेलों को ऊपर व्यवस्थित करके रखने में खूब मेहनत करने और सही समय और स्थान पर अपने श्रम को लगाने की आवश्यक योग्यता है। मौसम और ऋतुओं, विभिन्न प्रकार के पौधों और कीटों (pests) के अच्छे आवश्यक ज्ञान के साथ ही उन्हें उस ज्ञान पर पूरा भरोसा भी होना चाहिए। तभी वे सफलतापूर्वक और समय के नियत अंतराल पर खेती-बाड़ी का काम कर सकते हैं। इन सारे प्रमाणों के आधार पर मलिनॉस्की ने यह दिखाने का प्रयास किया कि आदिवासियों का अपने आसपास के वातावरण के प्रति दृष्टिकोण तर्क पर आधारित होता हैं। यही कारण है कि वे अपने और आश्रितों के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त तथा अतिरिक्त उपज भी पैदा कर सकते हैं।

इस प्रकार, अपनी बात का प्रमाण देने के बाद मलिनॉस्की ने खेती-बाड़ी के व्यावहारिक कार्यों और खेती-बाड़ी से जुड़े वार्षिक अनुष्ठानों के बीच घनिष्ठ संबंधों के बारे में चर्चा की। यहां उसने चेतावनी देते हुए कहा कि ये एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध तो हो सकते हैं, लेकिन वे एक-दूसरे के पर्यायवाची नहीं है। वे दोनों एक रूप नहीं हैं, क्योंकि उनके परिणामों को आदिवासी स्पष्ट रूप से अलग करके देखते हैं। उनके लिए खेती-बाड़ी करने के लिए जादू-टोने के वार्षिक अनुष्ठानों को करना नितांत आवश्यक है और कई दशाब्दियों के यूरोपीय प्रभाव के बावजूद ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों ने अपने परंपरागत आचरण को नहीं बदला है। इंग्लैंड के ग्रैनेडा टेलिविज़न (जी.डी. 1990: 8) ने इस बात की पुष्टि की है कि 1989 में रतालू (yam) की खेती से संबंधित बहुत-से अनुष्ठान आज भी लगभग वैसे ही हैं जैसे कि मलिनॉस्की ने 1915 में देखे थे। ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों की यह धारणा है कि यदि वे इन जादू-टोने वाले अनुष्ठानों की उपेक्षा करेंगे तो उनकी खेती को अंगमारी (blight), सूखा, बाढ़, हानिकारक कीटों और जंगली जानवरों आदि की समस्याओं का सामना करना पड़ेगा।

मलिनॉस्की का मत है कि अपनी खेती की सुरक्षा के लिए जादू-टोने के अनुष्ठानों को करने का यह अभिप्राय नहीं है कि ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासी खेती की सफलता का पूरा श्रेय जादू-टोने को देते हैं। उसके अनुसार "यदि आप किसी द्वीपवासी को ऐसा सुझा दे कि वह अपनी खेती को जादू-टोने के भरोसे छोड़ दे और खेती-बाड़ी में लापरवाही बरते तो वह आपकी सरलता पर मुस्कुरा देगा। इस बात को वह जानता है और आपको भी मालूम है कि कुछ ऐसी प्राकृतिक स्थितियां और कारण होते हैं, जिन्हें वह अपने पर्यवेक्षण से जानता है कि इन प्राकृतिक शक्तियों को वह मानसिक युक्तियों और शारीरिक प्रयास से नियंत्रित कर सकता है। इसमें संदेह नहीं कि उसका ज्ञान सीमित है लेकिन उसे जो भी ज्ञान है वह पक्का ज्ञान है और उसमें कोई रहस्यात्मकता नहीं है। अगर खेत की बाड़ टूट जाए, सूख जाए या बह जाए तो वह जादू-टोने के बजाय समस्या सुलझाने के लिए वे सारे ज़रूरी उपाय करेगा जो उसके पूर्व ज्ञान और तर्क पर आधारित होंगे।"

निष्कर्षत: मलिनॉस्की ने लिखा है कि सारे द्वीपवासी जानते हैं कि कभी-कभी कड़ी मेहनत के बावजूद भी उनकी फ़सल ख़राब हो जाती है। कभी-कभी ठीक समय पर वर्षा नहीं होती या धूप नहीं निकलती या टिड्डी दल फ़सल को खा जाता है। इस प्रकार के हानिकारक प्रभावों को रोकने के लिए ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासी जादू-टोने का आश्रय लेते हैं। दूसरे शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि जहां एक ओर मौसम, मिट्टी, पौधा, कीटों, बुआई, खर-पतवार को निकालने और बाढ़ आदि ज्ञात स्थितियों को द्वीपवासी अपने वातावरण के तार्किक ज्ञान के आधार पर नियंत्रित करते हैं वहीं दूसरी ओर, वे अज्ञात या असमय समस्या पैदा हो जाने वाली स्थितियों पर नियंत्रण करने के लिए जादू-टोने का सहारा लेते हैं।

इसके अलावा, मलिनॉस्की ने यह भी बताया कि वे कामकाज के क्षेत्र को अनुष्ठान के क्षेत्र से

अलग रखते हैं। खेती-बाड़ी से संबंधित हर जादू-टोने के अनुष्ठान के लिए एक अलग विशेष नाम है। उसे करने का समय और स्थान स्पष्ट रूप से निर्धारित होता है और वह खेती-बाड़ी के रोज़मर्रा के कार्य की योजना से अलग होता है। जादू-टोने के अनुष्ठान के समय खेती-बाड़ी के काम काज पर रोक लगी रहती है। जादू-टोने के सभी अनुष्ठान लोगों की पूरी जानकारी में होते है और उनमें प्राय: सभी लोग शामिल होते हैं।

हालांकि जो ओझा जादू-टोने के अनुष्ठान कराता है, वही कृषि संबंधी कार्य भी करता है, उसकी ये दोनों भूमिकाएं पूरी तरह अलग-अलग रहती हैं। वे परस्पर एक-दूसरे को व्याप्त नहीं करतीं और न ही उन्हें एक-दूसरे के क्षेत्र में दखल देने दिया जाता है। खेती-बाड़ी के क्रियाकलापों के अगुआ की भूमिका में वह खेती-बाड़ी का काम शुरू करने की तारीख निर्धारित करता है। वह सुस्त और लापरवाह किसान को डांटता है। लेकिन वह कभी भी इस भूमिका को ओझा की भूमिका में मिलाता नहीं है। खेती-बाड़ी की इस चर्चा के बाद अब हमने केनो-निर्माण से संबंधित उदाहरण को लिया है।

### 23.3.2 ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों द्वारा केनो-निर्माण

केनो एक लंबी, हल्की और संकरी नाव होती है, जिसके दोनों सिरे नुकीले होते हैं। इसके दोनों पार्श्व (sides) अंदर की ओर मुड़े होते हैं। इसे सामान्य रूप से हस्तचालित पैडलों से चलाया जाता है। ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासी केनो बनाते समय केनो-निर्माण के क्रियाकलापों को जादू-टोने से संबंधित क्रिया-व्यापारों से अलग रखते हैं। केनो के निर्माण में उसके निर्माताओं को उसकी लकड़ी के टिकाऊपन और द्रव गतिकी (hydro-dynamics) के सिद्धांत को पूरी जानकारी होनी चाहिए। इसके अलावा, उन्हें यह भी मालूम होता है कि पानी में संतुलन बनाए रखने के लिए पार्श्व वर्ध (outrigger) की विस्तृति (पाद) को चौड़ा करना चाहिए। वे यह भी जानते हैं कि ऐसा करने से तनाव के विरुद्ध कम प्रतिरोध होगा। केनो की चौड़ाई इतनी क्यों रखी है इसका कारण भी वे बता सकते हैं। यह वे केनो की लंबाई के अनुपात द्वारा बता सकते हैं। वे नौका निर्माण की पूरी रचना प्रक्रिया (यांत्रिकी) से अच्छी तरह से परिचित हैं। तूफ़ान आने पर क्या करना चाहिए और उन्हें क्यों पार्श्व वर्ध (outrigger) को हवा के रुख की ओर रखना चाहिए - इसे जानते हैं। मलिनॉस्की (1948: 30) ने हमें बताया है कि ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों के पास नौचालन से संबंधित शब्दावली का प्रचुर भण्डार है और वह उतना ही जटिल है, जितना आजकल के नौचालक इस्तेमाल करते हैं। ऐसा होना आवश्यक भी है क्योंकि यदि ऐसा न हो तो वे अपनी हल्की कमज़ोर नौका में समुद्र की भयावह स्थितियों का सामना नहीं कर सकते।

रतालू की खेती की भांति ही केनो-निर्माण से संबंधित क्रियाकलापों से यह पता चलता है कि उन्हें सफलतापूर्वक नौचालन की भी वैसी ही अच्छी जानकारी है। परंतु यहां भी मलिनॉस्की ने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों को आकस्मिक झंझा और शक्तिशाली लहरों जैसी बेशुमार स्थितियों का सामना करना पड़ता है और ऐसी स्थिति में उन्हें जादू-टोने की ज़रूरत होती है। जादू-टोने के अनुष्ठानों का आयोजन केनो-निर्माण के समय तथा समुद्री अभियान के आरंभ में और उसके दौरान किया जाता है। ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों की आधुनिक नाविकों से तुलना करते हुए मलिनॉस्की (1948: 30) ने लिखा,

यदि आधुनिक नाविक, जिसे विज्ञान और तर्क की अच्छी समझ है और जिसके पास सभी तरह के सुरक्षा के उपाय हैं, यानी जो स्टील के स्टीमरों में नौचालन करता है, और तब भी अंधविश्वासों को मानता है, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है कि उसके वहशी (savage) साथी उससे भी कहीं अधिक कठिन परिस्थितियों में अपनी सुरक्षा के लिए जादू-टोने का सहारा लेते हों।

इससे आपको स्पष्ट हो चुका होगा कि मलिनॉस्की ने (i) परिस्थितियों के प्रति तर्कपरक दृष्टिकोण, और (ii) प्रकृति की रहस्यमय और अदृश्य शक्तियों के नियंत्रण के लिए जादू-टोने

के अनुष्ठान -- दोनों को मान्यता प्रदान की है। उसने अपने निबंध 'जादू-टोना, विज्ञान और धर्म' में मछली पकड़ने, युद्ध, स्वास्थ्य और मृत्यु आदि से संबंधित क्रियाकलापों के अन्य उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इनमें से प्रत्येक में उसने यह दिखाने का प्रयास किया कि आदिम लोग व्यवस्थित रूप से पर्यवेक्षण करते हैं और उनके पास तर्क पर आधारित ज्ञान होता है। उसने द्वीपवासियों की इस योग्यता का भी उल्लेख किया है कि वे रेत या मिट्टी में आरेख-युक्त नक्शे बना सकते है। इससे पता चलता है कि उनमें ज्ञान को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने की भी समझ है। उदाहरणार्थ उन्हें विभिन्न ऋतुओं की जानकारी होती है। वे तारों की गति और चांद्र पंचांग (lunar calendar) से परिचित हैं और इनके आधार पर समुद्री अभियान या युद्ध की योजना बनाते हैं। इसके अलावा, अपनी योजनाओं को समझाने के लिए आरेख भी बना सकते हैं। अगले अनुभाग में यह चर्चा होगी कि इन उदाहरणों से क्या निष्कर्ष निकलता है। परंतु उससे पहले आप बोध प्रश्न 2 हल कीजिए।

**बोध प्रश्न 2**

i) ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासी दैनिक कामकाज के क्षेत्र को अनुष्ठान के क्षेत्र से अलग क्यों रखते है? अपना उत्तर चार पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

ii) क्या अपने वातावरण के प्रति तर्कसंगत दृष्टिकोण का मतलब यह है कि ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों में जादू-टोने के प्रति विश्वास का अभाव है? इसके पक्ष अथवा विपक्ष में, तीन पंक्तियों में, अपना उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

## 23.3.3 क्या आदिम ज्ञान विज्ञान के समान था?

मलिनॉस्की ने एक प्रश्न किया: जो अनुभव पर आधारित और तर्कपरक आदिम ज्ञान को क्या विज्ञान की प्रारंभिक अवस्था कहा जा सकता है या यह विज्ञान से बिल्कुल भी संबंधित नहीं है? इस प्रश्न का उसने सीधा उत्तर यह दिया कि अगर हम विज्ञान को अनुभव और तर्क पर आधारित व्यवस्था मानें तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि आदिम लोगों के पास विज्ञान का प्रारंभिक ज्ञान था।

दूसरे, यदि हम विज्ञान को एक मानसिक अभिवृत्ति (mental attitude) के रूप में देखें तो इस बारे में मलिनॉस्की का कहना है कि आदिम लोगों की अभिवृत्ति पूर्णतया अवैज्ञानिक नहीं है। यह हो सकता है कि उनमें ज्ञान प्राप्त करने की तीव्र अभिरूचि न हो। यह भी हो सकता है कि जिन विषयों में यूरोप के लोगों को गहरी दिलचस्पी हो उन्हें वे नीरस समझते हों। इसका कारण यह है कि किसी की रूचि का निर्धारण उसकी सांस्कृतिक परंपराओं से होता है। उनकी अपने आसपास के वातावरण से संबंधित प्राणियों के जीवन, समुद्री जीवन और वनों आदि में गहरी दिलचस्पी है। मलिनॉस्की अपने इस निबंध में आदिम ज्ञान की प्रकृति और उसके आधार से संबंधित प्रश्नों में नहीं गया है। वस्तुत: उसकी रुचि इस बात को जानने में अधिक है कि क्या आदिम लोगों के जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र है, जहां जादू-टोना, विज्ञान और धर्म एक रूप हों, या वे इन तीनों पक्षों को सामाजिक जीवन के अलग-अलग क्षेत्र मानते हों। उसने यह दिखाने का प्रयास किया है कि ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों के लिए व्यावहारिक क्रियाकलापों और तर्कपरक अभिवृत्तियों

के क्षेत्र का एक दायरा है। उसने यह भी बताया कि उनकी यह दुनिया जादू-टोने और धार्मिक क्रियाकलापों की दुनिया से अलग है। आइए, अब पवित्र क्षेत्र के बारे में विचार करें, जिसमें धर्म और जादू-टोना दोनों शामिल हैं। परंतु पहले सोचिए और करिए 2 को पूरा करें। इस अभ्यास को करने से आपको जादू-टोने तथा धार्मिक आचार-व्यवहार पर थोड़ा सा चिंतन करने का अवसर मिलेगा।

**सोचिए और करिए 2**

अपने रोज़मर्रा के जीवन से कुछ ऐसे उदाहरण दीजिए, जिनमें हम जादू-टोने और धार्मिक आचार-व्यवहार दोनों का आश्रय लेते हों। चार पृष्ठों की एक टिप्पणी लिखिए।

## 23.4 पवित्र क्षेत्र - धर्म

अपने निबंध के इस भाग में मलिनॉस्की (1948: 36) ने निम्नलिखित बातों पर विचार किया है।

i) तथ्यों को तरतीबवार करना(अब तक आपको यह बात मालूम हो गई होगी कि मलिनॉस्की के लिए यह हमेशा सबसे महत्वपूर्ण काम रहा है),

ii) पवित्र क्षेत्र की विशेषता का सही तरीक़े से निर्धारण और इसको लौकिक से अलग करना, और

iii) जादू-टोने और धर्म के बीच संबंध को बताना।

उसने अंतिम बात से शुरू करते हुए बताया कि जादू-टोने और धर्म के बीच एक स्पष्ट अंतर यह है कि जादू-टोने के अनुष्ठानों का एक स्पष्ट उद्देश्य होता है और आगे आने वाली घटनाओं से उसके परिणाम का पता लगता है। धार्मिक अनुष्ठानों में विशिष्ट प्रयोजन और घटना की दृष्टि से परिणाम का पूर्व विचार नहीं देखने को मिलता। मलिनॉस्की ने आदिम लोगों में धार्मिक विश्वासों और व्यवहारों की प्रकृति के संबंध में जो चर्चा की है, वह इसी मुख्य अंतर पर आधारित है (आगे चलकर आपको धर्म और जादू-टोने के बीच समानताओं और असमानताओं के बारे में और जानकारी भी मिलेगी)। उसने धर्म के क्षेत्र को स्पष्ट करने के लिए लेख में आदिम लोगों में दीक्षा समारोहों का उदाहरण दिया है। दीक्षा समारोहों की प्रकृति, धार्मिक व्यवहार और इसके प्रकार्य की व्याख्या की है। मलिनॉस्की के धर्म पर विचार को समझने के लिए आइए हम इस विशिष्ट उदाहरण के बारे में विस्तार से चर्चा करें।

### 23.4.1 दीक्षा अनुष्ठान समारोह

दीक्षा अनुष्ठान के नीचे दिये गए कुछ सामान्य अभिलक्षण (features) मलिनॉस्की (1948: 38) ने दिए हैं।

i) दीक्षा पाने वाले व्यक्तियों को कुछ समय के लिए अकेले रहने पड़ता है। इस अवधि में वे अपने आपको अनुष्ठान के लिए तैयार करते हैं।

ii) दीक्षा अनुष्ठान के दौरान युवकों कई कठिन परीक्षाओं में से गुज़रना पड़ता है। इनमें अंग-भंग भी शामिल है। कभी-कभी यह केवल दिखावा मात्र होता है, वास्तव में अंग-भंग नहीं किया जाता।

iii) इन कठिन परीक्षाओं का मतलब प्रतीकात्मक रूप में आनुष्ठानिक मृत्यु है और इसके बाद दीक्षा प्राप्त व्यक्ति का एक तरह से पुनर्जन्म होता है।

iv) ये अभिलक्षण अनुष्ठानों के नाटकीय पक्ष का प्रतिनिधित्व करते है। इसमें पवित्र मिथकों

(पुराण कथा) और परंपरा की व्यवस्थित शिक्षा मिलती है जिसमें जनजातीय रहस्यों का परदा क्रमशः उठाया जाता है। इस तरह, दीक्षित व्यक्तियों का परिचय पवित्र वस्तुओं से होता है।

v) इन अनुष्ठानों के दौरान कठिन परीक्षा और शिक्षा के कार्य पुरखों या सांस्कृतिक पुरोहितों अथवा अलौकिक शक्ति सम्पन्न व्यक्ति के तत्वाधान में सम्पन्न कराए जाते हैं।

मलिनॉस्की ने धर्म, जादू, विज्ञान के बारे में जो प्रश्न बार-बार किए वे उनके समाजशास्त्रीय महत्व के बारे में थे। यहां वह फिर प्रश्न करता है कि आदिम संस्कृति को बनाए रखने में और उसके विकास में दीक्षा अनुष्ठान का क्या योगदान होता है? मलिनॉस्की के अनुसार, दीक्षा अनुष्ठानों की महत्वपूर्ण भूमिका है। इनमें युवकों को शारीरिक कष्ट की स्थिति में पवित्र परंपरा की सीख दी जाती है। ये अनुष्ठान महती शक्तियों के निरीक्षण में किये जाते हैं। स्पष्ट है कि अपने पुराने रीति-रिवाजों, परंपराओं में निहित ज्ञान की रक्षा ही इन अनुष्ठानों का उद्देश्य है। अनुष्ठानों के इस पक्ष पर जोर देते हुए मलिनॉस्की (1948: 39) ने दीक्षा समारोह के निम्नलिखित प्रकार्यों का उल्लेख किया है।

i) वे अलौकिक शक्ति और आदिम जातियों की परंपराओं के मूल्य को आनुष्ठानिक और नाटकीय अभिव्यक्ति देते हैं।

ii) वे अलौकिक शक्ति और परंपराओं के मूल्यों की महत्ता को प्रत्येक पीढ़ी के लोगों को हृदयंगम करवाते हैं।

iii) वे जनजातीय लोक कथाओं को अगली पीढ़ी तक पहुंचाते हैं और इस तरह परंपरा को सुरक्षित रखते हैं। फलतः जनजातीय एकत्व बना रहता है।

इन संस्कारों के उपर्युक्त प्रकार्यों को बताने के साथ मलिनॉस्की एक अन्य पक्ष पर जोर देता है। यह है--दीक्षित नवयुवकों का एक स्थिति से दूसरी स्थिति में प्रवेश करना। दीक्षा समारोह ऐसे व्यक्तियों के लिए एक प्राकृतिक और जैविक घटना है अर्थात् वह उनके शारीरिक विकास की ओर संकेत करता है। शारीरिक ही नहीं, ये समारोह सामाजिक परिवर्तन के महत्व को भी प्रकट करते है। शारीरिक विकास की दृष्टि से दीक्षित युवक पुरुषत्व में प्रवेश करते हैं जिस अवस्था के साथ उन्हें कुछ कर्तव्य, अधिकार और पवित्र परंपराओं का ज्ञान हासिल होता है। ये समारोह उन्हें ऐसा अवसर प्रदान करते हैं जब वे पवित्र वस्तुओं और व्यक्तियों के संपर्क में आते हैं मलिनॉस्की (1948: 40) इन धार्मिक संस्कारों में सृजनात्मकता को देखता है। दीक्षित युवकों के शारीरिक से सामाजिक और फिर आध्यात्मिक क्षेत्र परिवर्तन की प्रक्रिया में यह सृजनशीलता अभिव्यक्त होती है।

मलिनॉस्की के अनुसार दीक्षा अनुष्ठानों के मुख्य अभिलक्षणों और प्रकार्यों के बारे में उपरोक्त चर्चा से पता चलता है कि दीक्षा अनुष्ठान पूर्णतया धार्मिक कार्य है और इस संस्कार में ही इसका प्रयोजन भी निहित है। व्यापक परिप्रेक्ष्य में इस संस्कार का प्रकार्य उन मानसिकवृत्तियों और सामाजिक व्यवहारों का सृजन है, जिनका उस समूह के लोगों और उनकी सभ्यता के लिए अत्यधिक महत्व है। धर्म पर मलिनॉस्की के विचारों को जानने के लिए, आइए, हम एक और उदाहरण लें।

## 23.4.2 मृत्यु से संबंधित अनुष्ठान

मलिनॉस्की के अनुसार जीवन की अंतिम घटना मृत्यु भी धर्म का स्रोत है। मलिनॉस्की के विचार में मृत्यु संबंधी अनुष्ठान पूरे विश्व में एक से ही होते हैं। सभी जगह ऐसा देखने में आता है कि जैसे-जैसे मृत्यु का समय पास आता है, उस व्यक्ति के निकट संबंधी, कभी-कभी तो उसके समुदाय या जाति के सभी लोग उसके यहां जमा हो जाते हैं। इस प्रकार, व्यक्ति के जीवन की

नितांत निजी घटना एक सामाजिक घटना बन जाती है। इसकी पूरी श्रृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया होती है। कुछ व्यक्ति मृत व्यक्ति के आसपास रहते हैं, जबकि अन्य लोग मृतक के अंतिम संस्कार की तैयारी में जुट जाते हैं। मलेनेशिया के कुछ भागों में विवाह-जन्य रिश्तेदार (affines) ही मृतक का संस्कार कराते हैं और मृतक के अपने नातेदार दूर रहते हैं। यह बड़ी दिलचस्प बात है कि कुछ ऑस्ट्रेलियाई जन-जातियों में इससे बिल्कुल उलटा होता है।

मृत्यु के बाद तत्काल मृतक को नहलाकर, तेल आदि लगाकर और सजाकर लोगों के दर्शन के लिए उसे रख दिया जाता है। इसके बाद शोक की शुरुआत नाटकीय ढंग से दुख भरे विलाप और चीख़ने-चिल्लाने से होती है। शोक प्रकट करने के लिए कहीं सिर मुंड़ाया जाता है तो कहीं लोग अपने बालों को अस्त-व्यस्त कर लेते हैं और कपड़े फाड़ लेते हैं। इसके बाद मृतक के शव के अंतिम संस्कार का समय आता है। मृतक के शव को खुली या बंद कब्र में दफ़ना दिया जाता है या शव को किसी गुफ़ा में थड़े (प्लेटफ़ॉर्म) पर रख दिया जाता है अथवा किसी पेड़ के खोखले में या सुनसान स्थान पर खुले में छोड़ दिया जाता है। इसके अलावा, कहीं-कहीं शव को जलाया जाता है या खुली नाव में बहने दिया जाता है।

मलिनॉस्की ने बताया कि आदिम समुदायों में परस्पर विरोधी रीति-रिवाज हैं। कहीं शव को या उसके कुछ अंगों को परिरक्षित (preserve) किया जाता है और कहीं उसे पूरी तरह समाप्त कर दिया जाता है। एक ओर शव परिरक्षित करने के लिए ममी के रूप में रखना तो दूसरी ओर उसे जलाकर समाप्त करना - अंतिम संस्कार के दो परस्पर विरोधी उदाहरण हैं। मलिनॉस्की इस बात से सहमत नहीं है कि ऐसा विभिन्न क्षेत्रों में फैली सांस्कृतिक विशेषताओं के बीच संपर्क के कारण है। इसके विपरीत, उसका मत है कि ये रीति-रिवाज़ आदिवासियों की दो तरह की मानसिक अभिवृत्तियों के सूचक हैं। एक तो मृत व्यक्ति के प्रति लगाव की अभिवृति है और दूसरी उसकी मृत्यु के बाद होने वाले शरीर-क्षय से भय और जुगुप्सा या घृणा की अभिवृति है। मृतक के साथ पूर्ववत् संपर्क बनाए रखने की तीव्र इच्छा और दूसरी ओर इस संपर्क को समाप्त करने की समानांतर इच्छा - इन दोनों ही इच्छाओं की अभिव्यक्ति मृत्यु संबंधी संस्कारों में देखने को मिलती है। इसी वजह से मलिनॉस्की ने इन्हें धर्म के क्षेत्र में शामिल किया है। याद रखें कि हमने इस इकाई के आंरभ में कहा था कि जब संस्कार सम्पन्न करने की प्रक्रियाओं में ही उसका प्रयोजन भी निहित हो तो उसे धार्मिक व्यवहार का उदाहरण माना जा सकता है। ठीक यही बात मृत्यु से संबंधित अनुष्ठानों में होती है। उदाहरणार्थ, मृत व्यक्ति के शव के साथ संपर्क को प्रदूषणकारी और ख़तरनाक समझा जाता है। जो लोग शोक संबंधी कार्यक्रम में भाग लेते हैं, उन्हें नहाना और अपने आपको स्वच्छ करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, मृत्यु संबंधी संस्कारों के द्वारा शोकाकुल व्यक्ति जुगुप्सा या घृणा के अपने भाव पर विजय पाते हैं और डर को दूर भगाते हैं। मृत्यु की घटना से उत्पन्न भय पर विजय पाने की चर्चा हमें एक और पक्ष की ओर ले जाती है।

भावी जीवन या मृत्यु के बाद के जीवन पर लोगों के विश्वास से घृणा या जुगुप्सा के भाव पर विजय पाने और भय को हटाने में मदद मिलती है। इससे आत्मा की निरंतरता और अमरत्व की धारणा में विश्वास का संकेत मिलता है। मलिनॉस्की के अनुसार, आत्मा के अस्तित्व में विश्वास या अमरता का विचार गंभीर मनोभावात्मक आत्मदृष्टि का परिणाम है। मलिनॉस्की ने इसे आदिम दार्शनिक सिद्धांत के बजाय धर्म में माना है। उसके विचारानुसार आत्मा की अमरता में विश्वास से मनुष्य को मृत्यु पर विजय पाने में मदद मिलती है।

यहां हम देखते हैं कि मलिनॉस्की मृत्यु से संबंधित अनुष्ठान के प्रमुख अभिलक्षण को सामने लाया है। मृत्यु के तत्काल पश्चात् किए जाने वाले अनुष्ठानों और आत्मा की अमरता में विश्वास से दोनों पक्षों की महत्ता दिखाई देती हे। एक ओर पूरे समूह को होने वाली क्षति और दूसरी ओर मृत्यु के बाद भी आत्मा के जीवित रहने की भावना का पता चलता है। इस प्रकार, एक प्राकृतिक घटना या जैविक तथ्य का एक सामाजिक घटना के रूप में विशेष महत्व हो जाता है।

**बोध प्रश्न 3**

i) आदिम लोगों में दीक्षा समारोह का मुख्य उद्देश्य एक पंक्ति में लिखिए।

.....

ii) ऐसी बात क्या है जो व्यक्ति को मृत्यु के भय पर विजय पाने में सहायता करती है? एक पंक्ति में उत्तर लिखिए।

.....

## 23.4.3 धार्मिक आचरण के कुछ अन्य उदाहरण

धार्मिक संस्कारों के बारे में मलिनॉस्की द्वारा किए गए अन्य उदाहरणों में से एक उदाहरण विवाह संस्कार के बारे में एक संक्षिप्त टिप्पणी के रूप में है। इससे उसे प्रजनन और पोषण की आवश्यकताओं के बारे में चर्चा का अवसर मिला। मलिनॉस्की के अनुसार, दीक्षा अनुष्ठान के समान विवाह संस्कार में भी विभिन्न अनुष्ठान जैविक तथ्यों से भी कहीं अधिक सामाजिक पक्ष को दिखाते हैं। वे पुरूष और महिला के जीवन भर के साहचर्य या मिलन को लक्षित करते हैं और प्रजनन तथा पोषण से संबंधित दीर्घकालीन क्रियाकलापों की ओर संकेत करते हैं। मलिनॉस्की ने यह भी बताया है कि भोजन के बारे में आदिम लोगों में एक प्रकार का मनोभावात्मक तनाव पाया जाता है। आदिम संस्कृति के कृषि संबंधी चक्र में उपज के पहले अंश को चढ़ावे के रूप में देने, फ़सल की कटाई और मौसम संबंधी समारोहों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसी तरह, मछुआरों द्वारा बड़ी मछली पकड़ने या शिकारियों द्वारा बड़े जानवर का शिकार करने जैसी घटनाओं को महत्वपूर्ण माना जाता है। खाद्य सामग्री जुटाने की प्रक्रिया में व्यक्ति विशेष और उसके वातावरण के बीच महत्वपूर्ण संपर्क पैदा होता है। यही कारण है कि आदिम लोगों के धर्म में खाद्य सामग्री सांस्कृतिक और जैविक रूप में महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ पवित्र भी मानी जाती है।

खाने की सामग्री को पवित्र मानने के विचार के आधार पर मलिनॉस्की ने बलि (देवता पर खाद्य सामग्री आदि मूल्यवान वस्तुएं चढ़ाने) तथा सहभोज (मिलकर भोजन करने) के बारे में नई दृष्टि से विचार किया। ऐसा पाया जाता है कि इन संस्कारों में आनुष्ठानिक रूप से भोजन खिलाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि आदिवासियों में खूब अन्न पैदा होने के प्रति श्रद्धा का भाव होता है। यहां उसने मध्य आस्ट्रेलियाई जनजातियों में टोटमी विश्वासों से जुड़े हुए सांस्कारिक भोज का उदाहरण प्रस्तुत किया। इससे पूर्व भी उल्लेख किया जा चुका है (देखिए उपभाग 23.2.2) कि जनजाति विशेष के लोग सीमित संख्या में जानवरों और/अथवा पौधों को अपने टोटम के रूप में चुन लेते हैं। मलिनॉस्की का कथन है कि आदिम लोगों को जीवन-यापन के लिए विशिष्ट जाति के प्राणियों या पौधों की निंरतर उपलब्धि चाहिए। उन्हें इन चीज़ों की प्रचुर मात्रा में आपूर्ति के लिए इन चुनी हुई चीज़ों पर पूरा नियंत्रण भी चाहिए। इसीलिए उन्होंने इनकी आदतों और रहन-सहन का अध्ययन किया। इस तरह, उनमें इन वस्तुओं के प्रति आदरभाव की मनोवृत्ति का विकास हुआ। जीवन-यापन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की प्रक्रिया का धीरे-धीरे स्वाभाविक फल यह हुआ कि आदिवासियों में कुछ चुने प्राणियों और पौधों से दिलचस्पी पैदा हो गई और इस रुचि का दैवीकरण टोटमी अनुष्ठानों के रूप में हमारे सामने आया। मलिनॉस्की ने टोटमी वस्तुओं से संबंधित विश्वासों की व्यवस्था में नैतिक मूल्यों और जैविक महत्व दोनों को स्वीकार किया है। आइए, अब हम धर्म पर मलिनॉस्की के विचारों का सार देने का प्रयास करें।

## 23.4.4 धर्म के बारे में मलिनॉस्की के विचारों का सारांश

मलिनॉस्की के मूल रूप से धार्मिक संस्कारों के प्रकार्यात्मक मूल्यों को प्रदर्शित किया। संक्षेप में, उसने धार्मिक कृत्यों के मुख्य प्रकारों का सर्वेक्षण किया और यह निष्कर्ष निकाला कि धार्मिक कार्यों के मुख्य प्रकारों के निम्नलिखित प्रकार्य हैं।

i) दीक्षा संबंधी अनुष्ठान परंपरागत ज्ञान को धार्मिक रूप प्रदान करते हैं।

ii) आदिम समाज में व्यक्ति की मृत्यु होने पर कुछ धार्मिक अनुष्ठान किए जाते हैं जो भय और विनाश की शक्तियों को क्षीण कर देते हैं।

iii) आहार, बलिदान और टोटमी विश्वासों से संबंधित अनुष्ठान लोगों को आहार या पोषण प्रदान करने वाली शक्तियों के प्रत्यक्ष संपर्क में लाते हैं।

मलिनॉस्की ने अपने विचारों की पुष्टि में स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करने की पद्धति का सहारा लिया है। उसने अपने उदाहरण ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों के यहां से प्राप्त सामग्री से लिए हैं। उसके अनुसार, सभी धार्मिक अनुष्ठानों का एक सामाजिक पक्ष भी होता है जिसके बिना उनका अस्तित्व ही संभव नहीं है। किसी भी धार्मिक संस्कार में सामाजिक पक्ष आवश्यक है। परंतु इतना भर पर्याप्त नहीं है। उसने इस बात पर ज़ोर दिया कि व्यक्ति के मन का विश्लेषण किए बिना धर्म को नहीं समझा जा सकता है। यही कारण है कि वह धार्मिक संस्कार या अनुष्ठान के प्रत्येक स्तर पर व्यक्ति की मानसिक दशा की ओर ध्यान दिलाता है। इसके साथ ही वह धार्मिक आचरण की व्याख्या जादू-टोने के साथ तुलना करके और उससे विरोध बताते हुए करता है। इसलिए यह आवश्यक है कि अब हम जादू-टोने से संबंधित मलिनॉस्की के विचारों की जानकारी प्राप्त करें। परंतु इस जानकारी को लेने से पहले सोचिए और करिए 3 को पूरा करें ताकि आपको मलिनॉस्की के धर्म से जुड़े विचारों को आत्मसात करने में सहायता मिले।

**सोचिए और करिए 3**

व्यक्तिजन्य आवश्यकताओं के विशिष्ट संदर्भ में धर्म संबंधी मलिनॉस्की के विचारों के बारे में तीन पृष्ठों की टिप्पणी लिखिए।

## 23.5 पवित्र क्षेत्र - जादू-टोना

हमने संक्षेप में इस बात का उल्लेख किया था कि किस प्रकार मलिनॉस्की जादू-टोने को विज्ञान से (देखिए भाग 23.3) और धर्म से (देखिए भाग 23.4) अलग करता है। मलिनॉस्की ने जादू-टोने का व्यावहारिक कार्यों के रूप में वर्णन किया है, जिसका उपयोग मनचाहा परिणाम प्राप्त करने के लिए किया जाता है। कई प्रकार के जादू-टोनों में से मलिनॉस्की ने विशेष उल्लेख के लिए (i) काले जादू (ब्लैक मैजिक) और प्रेम का जादू (लव मैजिक) (ii) अनुकरण करने वाले और भविष्यवाणी करने वाले जादू, और (iii) सरल जादू को चुना।

i) काले जादू (ब्लैक मैजिक) में किसी नुकीली चीज़ (जैसे हड्डी या छड़ी, बाण या किसी जानवर की रीढ़ की हड्डी) को उस व्यक्ति की ओर निर्दिष्ट किया जाता है, जिसके विरुद्ध जादू किया जा रहा है। यह अनुकरणात्मक ढंग से अपने काल्पनिक शिकार को लक्ष्य करके किया जाता है। ऐसे अनुष्ठान को करते समय नाटकीय ढंग से भावावेगों की अभिव्यक्ति की जाती है। जादू-टोने का अनुष्ठान कराने वाला ओझा अनुष्ठान करते समय वास्तविक घटना की नक़ल करता हुआ प्रतीक के रूप में स्थापित मारे जाने वाले व्यक्ति की आकृति या वस्तु को नष्ट कर देता है। इस अनुष्ठान में उस व्यक्ति के विरुद्ध घृणा और क्रोध की तीव्र अभिव्यक्ति की जाती है।

   लव मैजिक (प्रेम का जादू) काले जादू का उलटा है। इस जादू में जादूगर प्रेमी के रूप में बनी वस्तु को सहलाता और दुलारता है। इसमें प्रेमग्रस्त व्यक्ति के व्यवहार की नक़ल ही जाती है। ये सभी जादू-टोने की क्रियाएं चाहे वह ब्लैक मैजिक (मारण मंत्र) हो, प्रेम का जादू हो या आतंक अथवा दहशत पैदा करने वाला जादू हो, सभी मूलत: भावावेश की अभिव्यक्ति के सूचक हैं। इन अनुष्ठानों में प्रयुक्त होने वाली सभी वस्तुएं, क्रियाकलाप और भावावेश द्वारा एक-दूसरे से जुड़े होते हैं।

ii) दूसरे प्रकार के जादू में मनचाहे परिणाम की नक़ल की जाती है। उदाहरण के तौर पर, यदि हमारे अनुष्ठान का उद्देश्य किसी व्यक्ति को मारना है तो अनुष्ठान कराने वाला व्यक्ति धीरे-धीरे आवाज़ को मंद करेगा, मृत्यु के समय की घरघराहट करेगा और मृत्यु के समय के कंपन का अनुकरण करते हुए वह ज़मीन पर गिर पड़ेगा।

iii) तात्कालिक परिणाम के लिए जादू-टोने की कुछ सरल प्रक्रियाएं की जाती हैं। सामान्य रूप से जादूगर किसी ऐसी वस्तु पर जादू का प्रभाव डालता है, जिसे बाद में वह व्यक्ति उपयोग में लाए, जिस पर नियंत्रण करना हो। वह वस्तु जिस पर जादू का असर डाला जाता है, उपयुक्त और पूर्व-निर्धारित ढंग की होनी चाहिए।

इस प्रकार, इन सामान्य जादूओं को बताने के बाद मलिनॉस्की इस बात की ओर संकेत करता है कि इन सभी प्रकार के जादू-टोने का सामान्य अभिलक्षण जादू का बल (force) है, जो जादूई अनुष्ठान में निहित बल-प्रभाव की ओर संकेत करता है। जादू के रहस्यों को केवल जादू करने वाला ही जानता है, जिसका काम यह है कि वह इस क्षेत्र में ज्ञान की परंपरा को सुरक्षित रखे।

### 23.5.1 जादू-टोने की परंपरा

जादुई मंत्र-तंत्र आनुष्ठानिक उच्चारण में निहित होते हैं। और ये एक पीढ़ी के जादूगरों को परंपरा से प्राप्त होते हैं। मलिनॉस्की ने जादू-टोने या मंत्र-तंत्र से संबंधित तीन तत्वों का वर्णन किया है ।

i) इनमें पहला तत्व ध्वन्यात्मक प्रभाव के रूप में है, जो विभिन्न प्राकृतिक ध्वनियों की नक़ल के परिणामस्वरूप सामने आता है। ये ध्वनियां हैं हवा की सीटी जैसी आवाज़, गर्जन की आवाज़ और समुद्री लहरों का शोर आदि।

ii) दूसरा तत्व ऐसे शब्दों के उच्चारण के रूप में होता है, जो जादू विशेष के मनचाहे परिणाम की ओर संकेत करें। उदाहरण के तौर पर ब्लैक मैजिक में अनुष्ठान कराने वाला उस रोग के लक्षणों के बारे में बात करता है, जिसके द्वारा शत्रु को मारा जाता है। इसी प्रकार, दूसरे को स्वस्थ करने वाले जादू में जादूगर ऐसी दशा का वर्णन करेगा, जो अच्छे स्वास्थ्य से संबंधित हो।

iii) मलिनॉस्की के अनुसार, तीसरा तत्व हर प्रकार के मंत्र-तंत्र के सबसे महत्वपूर्ण पहलू की ओर ध्यान दिलाता है। इसमें जादू के बारे में मिथकीय संदर्भो का उल्लेख होता है जिसे पुरखों और सांस्कृतिक नायकों ने परंपरा से आगे बढ़ाया है। ऐसे मिथकीय संकेत जादू-टोने को पारंपरिक पृष्ठभूमि प्रदान करते हैं। मलिनॉस्की इस तत्व के बारे में और अधिक विस्तार से विचार करता है और वह परंपरा तथा जादुई अनुष्ठानों के बीच की कड़ी पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है।

प्राय: प्रत्येक जादू-टोने के अनुष्ठान के पीछे उसे उचित ठहराने वाली कोई न कोई कहानी होती है। उस कहानी में सामान्य रूप से यह वर्णन होता है कि कब और कहां वह जादू-टोने का अनुष्ठान किसी विशेष परिवार समूह या कुल के ओझा (जादू-टोने का अनुष्ठान कराने वाले) की संपत्ति बन गया। मलिनॉस्की ने सावधान करते हुए कहा कि इस प्रकार की कहानी से जादू-टोने के मूल या उद्गम के बारे में भ्रम नहीं होना चाहिए, क्योंकि ऐसा समझा जाता है कि सभी प्रकार के जादू-टोने का अस्तित्व सृष्टि के आरंभ से है। ऐसा कहा जा सकता है कि मनुष्य के अपने आसपास के वातावरण की नियंत्रित करने के तर्कपरक प्रयास के साथ ही जादू-टोने का अस्तित्व भी रहा है। मनुष्य के सामान्य तर्कपरक प्रयासों के असफल होने पर जादू-टोने या मंत्र-तंत्र का सहारा लिया जाता है। इस विषय में मलिनॉस्की मध्य आस्ट्रेलिया का उदाहरण देता है, जहां यह समझा जाता है कि

जादू-टोने का अस्तित्व अनंत काल से वंश परंपरागत उत्तराधिकार में मिलता रहा है। मलेनेशिया में ऐसा माना जाता है कि जादू-टोने का प्रचलन उस समय से है, जब मानव गुफ़ाओं में रहता था।

दूसरे, जादू-टोने का संबंध मुख्य रूप से मानव के कृषि, मछली पकड़ने, शिकार करने, व्यापार, बीमारी, मृत्यु, प्रेम संबंधों आदि सभी क्रियाकलापों से है। मलिनॉस्की ने यह भी बताया कि प्राय: जादू-टोने का प्रयोग मनुष्य के प्रकृति के साथ संबंधों के संदर्भ में या उन सभी क्रियाकलापों के लिए होता है जो इस संबंध को प्रभावित करते हैं। यों जादू-टोने का प्रयोग प्रकृति के प्रति नहीं होता और न ही इसे प्रकृतिजन्य माना जाता है। इसका उद्भव प्राकृतिक नियमों की जानकारी से भी नहीं होता। इसके विपरीत, यह परंपरा पर आधारित है और मानव की मनचाहा परिणाम पाने की शक्ति की ओर संकेत करता है।

जादू-टोने की इस व्याख्या के आधार पर मलिनॉस्की उन विद्वानों के विचारों को निरर्थक सिद्ध करता है जो जादू-टोने की संकल्पना की मलेनेशियाइयों में माना, उत्तर अमरीकी इंडियनों में वाकन या इराक्वाइयों में ओरेंदाश्आदि की अवधारणा से तुलना करते हैं।

## 23.5.2 'माना' और जादू-टोना

मलिनॉस्की ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जादू-टोना व्यक्तिजन्य उपलब्धि है। दूसरे शब्दों में, यह व्यक्ति विशेष में होता है, जिसका प्रयोग वह विशेष हिदायतों के अनुसार परंपरागत निर्धारित रीति से करता है। आगे उसने बताया कि यह 'माना' की तरह की शक्ति नहीं हैं, जो सर्वत्र परिवेश में तथा लोगों में समाई हो। जादू-टोना किसी भाव में समाई वस्तु नहीं है। इसे तो किसी भी चीज़ या स्थिति में देखा जा सकता है। स्पष्ट ही, यदि जादू-टोना पूरी तरह से व्यक्ति विशेष तक सीमित है और इसका इस्तेमाल विशिष्ट परंपरागत ढंग से होता है तो इसे 'माना' या इसी तरह के दूसरे सर्वव्यापी शक्ति के द्योतक विचारों के समान नहीं ठहराया जा सकता।

इस विषय में उसका सुझाव है कि आदिवासियों की मनोवृत्ति को समझने के लिए पहले हमें उनके व्यवहार विशेष को समझना होगा और फिर उनके रीति-रिवाज़ों की मदद से स्थानीय शब्दावली में उसकी व्याख्या करनी होगी। अंत में, उसने कहा कि यह नहीं समझना चाहिए कि जादू-टोने का उद्भव माना जैसे सर्वव्यापी शक्ति के अमूर्त विचार से हुआ है। मलिनॉस्की ने इस बात पर बल दिया है कि जादू-टोने के प्रत्येक प्रकार का जन्म उसकी अपनी परिस्थितियों में हुआ है। जादू-टोने का स्रोत लोगों की इन परिस्थितियों के प्रति सहज प्रतिक्रिया और इसके फलस्वरूप प्रकट होने वाले विचार हैं। अब तक जो कुछ हमने कहा वह मलिनॉस्की के जादू-टोने के बारे में आदिवासियों के विचारों का सार है। जादू-टोना मनुष्यों को ऐसी शक्ति देता है, जिसमें वे अपने आसपास के वातावरण पर नियंत्रण स्थापित कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 1 को पूरा कर जादू-टोने पर अपनी जानकारी को दुहरा लें।

**बोध प्रश्न 4**

i) जादू-टोने के विभिन्न प्रकारों में सबसे अधिक सामान्य (common) बात क्या है? इसके तीन तत्वों का तीन पंक्तियों में वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

ii) क्या जादू-टोना आदिम जनजातियों में आम तौर पर पाए जाने वाले सभी जगह व्यापक आत्मा या शक्ति में सर्वव्यापी विश्वास के समान है? अपना उत्तर दो पंक्तियों में लिखिए।

## 23.5.3 जादू-टोना और अनुभव

यहां मलिनॉस्की ने समाजशास्त्रीय पर्यवेक्षक की हैसियत से कुछ चीज़ों पर नियंत्रण कर सकने की शक्ति पर विश्वास के बारे में चर्चा की है। वह एक बार फिर उस स्थिति का वर्णन करता है, जिसमें जादू-टोने के अनुष्ठान किए जाते हैं। जब कोई व्यक्ति रोज़मर्रा के क्रियाकलापों में व्यस्त होता है और उसके काम अचानक रुक जाते हैं यानी वह व्यक्ति उस रुकावट को दूर करने में किसी तरह सफल नहीं होता, तब उसे बेबसी या नि:सहायता का अनुभव होता है। उसे लगता है कि घटनाक्रम को अपने अनुकूल नहीं बना पा रहा है। उदाहरण के तौर पर अपनी ओर से पूरी कोशिश करने के बावजूद कोई शिकारी अपना शिकार मारने में सफल नहीं होता, मछुआरे को मछलियां नहीं मिलती और माली खेती को नष्ट करने वाले कीड़ों पर नियंत्रण नहीं कर पाता, ऐसी स्थिति में कोई क्या करें। अपने आसपास की परिस्थितियों पर नियंत्रण न कर पाने से उसके मन में तनाव पैदा होता है। ऐसी स्थिति में वह कुछ न कुछ करना चाहता है। मलिनॉस्की के अनुसार, ऐसी स्थिति में, वह उसके बदले में कुछ एवज़ी काम (substitute activity) करना चाहेगा। जब व्यक्ति तनाव की स्थिति में होता है और उसके अंदर बेबसी के कारण गुस्सा होता है, वह अपने विरोधी अथवा दुश्मन के खिलाफ़ काल्पनिक हमला करता है और गुस्से में उसे बुरा-भला कहता है। अथवा कोई बिछुड़ा हुआ प्रेमी स्वप्न में या कल्पना में अपने प्रियतम को देखता है। मछुआरे को कल्पना में ऐसा अनुभव होता है कि उसके जाल में खूब सारी मछलियां फंस गई हैं और वह उनका नाम ले लेकर पुकारता है।

इस तरह के तर्कक्रम के आधार पर मलिनॉस्की ने निष्कर्ष निकाला कि मनुष्यों में ज़बरदस्त मनोवेगों या आवेशपूर्ण इच्छा की इस प्रकार की प्रतिक्रिया से ऐसी स्थिति बहुत स्वाभाविक है और यह सर्वव्यापी मनोवैज्ञानिक-शारीरिक प्रक्रिया (psycho-physiological mechanism) पर आधारित है। यही प्रतिक्रियाएं जादू-टोने के अनुष्ठान का रूप धारण कर लेती हैं। ये प्रतिक्रियाएं मनुष्य के सामने उन आवेशपूर्ण अनुभवों के क्षणों में प्रकट होती हैं, जब उसे अपने तर्कपरक कार्यों के दौरान बेबसी (impotency) का अनुभव होता है।

यहां जादू-टोने के अनुष्ठान से समझे जाने वाले लाभ और वास्तव में जीवन में उससे मिलने वाली सफलता के बीच संबंध के बारे में प्रश्न उठता है। मलिनॉस्की इस प्रश्न का उत्तर यह देता है: इससे होने वाली एक सफलता कई विफलताओं से अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। इसका मतलब यह है कि जादू-टोने की थोड़ी सी भी सफलता को कहीं अधिक महत्व दिया जाता है और जब वह विफल होता है तो प्राय: उसे नज़रअंदाज कर दिया जाता है। जादू-टोना हमेशा समूह के विशिष्ट व्यक्ति द्वारा किया जाता है और इसमें उसकी अपनी कुशलता, योग्यता और मानसिक शक्तियों का भी योगदान रहता है। ऐसी स्थिति में जादू-टोने की प्रभावोत्पादकता जादू-टोना करने वाले की व्यक्तिगत प्रसिद्धि पर निर्भर होती है। इस तरह, जादू-टोने के साथ जुड़ी हुई पौराणिकता इसे सजीव शक्ति का रूप प्रदान कर देती है।

जादू-टोने की असफलता का कारण इसके लिए निषिद्ध कार्यों अथवा परहेज़ पर ध्यान न देना तथा विधि-विधान का पालन न करना माना जाता है। दूसरे, कभी विफलता का कारण अधिक सशक्त जादू-टोने या विरोधी जादू-टोने को बताया जाता है। अपने आसपास के वातावरण या परिवेश पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने की इच्छा तथा तर्कपरक क्रियाकलाप और उसकी अनुवर्ती बेबसी और उसके बदले में किए जाने वाले कार्य के परिणामस्वरूप जादू-टोने की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत, अपने पड़ोसी से अधिक सम्पत्ति और शक्ति पाने की इच्छा से विरोधी जादू-टोने की आवश्यकता होती है। मलिनॉस्की ने अपने ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों के संदर्भ में एकत्र

सामग्री में से उदाहरण देते हुए बताया कि प्रत्येक जादू-टोने का विरोधी जादू-टोना होता है। ऐसा माना जाता है कि जादू-टोने के अनुष्ठान के प्रभाव को विरोधी जादू-टोने से समाप्त किया जा सकता है। एक जादू-टोना करने वाला जहां जादू-टोने से किसी को बीमार करना सीखता है वहीं वह उस बीमारी को ठीक करने का तरीक़ा भी सीखता है। इस प्रकार, जादू-टोने की सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों प्रकार की शक्तियां उसके आवश्यक अभिलक्षण हैं और इसी से इस बात की भी व्याख्या हो जाती है कि क्यों कभी-कभी जादू-टोने के अनुष्ठानों से मनचाहा परिणाम नहीं मिलता।

अगले भाग में जादू, विज्ञान तथा धर्म के बीच समानताओं एवं असमानताओं पर चर्चा होगी। इस भाग को पढ़ने से पहले सोचिए और करिए 4 को पूरा कर जादू-टोने पर अपने विचारों को मलिनॉस्की के विचारों से तुलना करते हुए लिखकर पुष्ट करें।

**सोचिए और करिए 4**

क्या आप मलिनॉस्की के इस दावे से सहमत हैं कि जादू-टोना एक तरह से बदले में की गई क्रिया (substitute activity) है? दो पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए कि क्यों कोई व्यक्ति तर्कपरक कार्य के असफल होने पर उसके बदले कोई दूसरा क़दम उठाता है।

## 23.6 समानताएं और असमानताएं

अपने निबंध के अंत में मलिनॉस्की ने जादू-टोने और विज्ञान तथा जादू-टोने और धर्म के बीच संबंधों को संक्षेप में प्रस्तुत किया है। इन संबंधों को समानताओं एवं असमानताओं के आधार पर समझा जा सकता है।

### 23.6.1 जादू-टोना और विज्ञान

मलिनॉस्की ने इन दोनों तत्वों के बीच संबंध को समानता और असमानता के आधार पर प्रस्तुत किया है। आइए, पहले हम समानताओं के बारे में विचार करें।

**समानताएं**

i) विज्ञान की तरह जादू-टोने का भी मानव की आवश्कताओं और सहज वृत्तियों से संबंधित विशिष्ट उद्देश्य होता है। दोनों ही कुछ नियमों की व्यवस्था द्वारा नियंत्रित होते हैं, जिनसे यह निर्धारित होता है कि कैसे किसी कार्य को प्रभावशाली ढंग से सम्पन्न किया जा सकता है।

ii) विज्ञान और जादू-टोने में किन्हीं कार्यों को पूरा करने के लिए कुछ तकनीकों (प्रविधियों) का विकास किया जाता है। इन समानताओं के आधार पर मलिनॉस्की इस नतीजे पर पहुंचा कि वह जेम्स फ्रेज़र की इस बात से सहमत है कि जादू-टोना एक तरह का अधकचरा विज्ञान (pseudo-science) है।

**असमानताएं**

i) जनजातियों के आदिम ज्ञान में जिस रूप में विज्ञान दिखाई देता है, वह रोज़मर्रा के सामान्य अनुभव से संबंधित है। यह उनकी प्रकृति के साथ अंतःक्रिया के पर्यवेक्षण और तर्क पर आधारित है। दूसरी ओर, जादू-टोना तनावपूर्ण आवेशात्मक स्थितियों के विशिष्ट अनुभवों पर आधारित है। इन स्थितियों में प्रकृति के पर्यवेक्षण के बजाय व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व या उसकी बेबसी महत्वपूर्ण है (देखिए उपभाग 23.5.3)।

ii) विज्ञान का आधार अनुभव, प्रयास और तर्क की वैधता में विश्वास है। परन्तु जादू-टोना इस

विश्वास पर आधारित है कि व्यक्ति के मन में आशावादिता बनी रहे तथा वह येन-केन प्रकारेण इच्छा-पूर्ति कर सके।

iii) हर समाज विशेष में तर्कपरक ज्ञान की सामग्री को संकलित किया जाता है। दूसरी ओर कुछ ऐसी विशेष प्रकार की गतिविधियां होती हैं, जो स्पष्ट रूप से समाज के लौकिक काम-काजों से भिन्न हैं और जिन्हें उनसे अलग करके देखा जा सकता है। ये जादू-टोने से संबंधित होती हैं।

इन असमानताओं के आधार पर मलिनॉस्की इस परिणाम पर पंहुचा कि विज्ञान का संबंध लौकिक क्षेत्र से है, जबकि जादू-टोने का संबंध पवित्र क्षेत्र के आधे हिस्से से है, क्योंकि पवित्र क्षेत्र का आधा हिस्सा धर्म का है।

## 23.6.2 जादू-टोना और धर्म

जिस प्रकार मलिनॉस्की ने जादू-टोने की विज्ञान से तुलना की, उसी प्रकार उसने जादू-टोने और धर्म के बीच भी संबंध प्रदर्शित किया। उसके अनुसार, दोनों में निम्नलिखित समानताएं हैं।

**समानताएं**

i) जादू-टोना और धर्म दोनों पवित्रता के क्षेत्र में आते हैं और इन दोनों का उदय आवेशात्मक तनाव के बीच होता है और ये दोनों ही आवेशात्मक तनाव में कार्यान्वित होते हैं।

ii) इन दोनों तत्वों की सहायता से मनुष्य को आवेशात्मक तनाव से मुक्ति मिलती है। आदिम लोगों के तर्कपरक ज्ञान के आधार पर इस तरह के तनाव का निराकरण नहीं हो सकता।

iii) जादू-टोना और धर्म दोनों ही पौराणिक परंपराओं से बहुत निकट से जुड़े हैं। इन दोनों क्षेत्रों से संबंधित निषेध और आचरण या विधि-विधान इन्हें लौकिक क्षेत्र से अलग करते हैं।

**असमानताएं**

यदि हम धर्म और जादू-टोने के बीच असमानताओं को देखें तो हमें असमानताओं के निम्नलिखित क्षेत्र दिखाई देते हैं।

i) जादू-टोने के अनुष्ठान किसी लक्ष्य को पाने के साधन हैं। जबकि धार्मिक कार्य स्वत: पूर्ण कार्य हैं, जिन्हें आत्म-तुष्टि के लिए किया जाता है।

ii) जादू-टोने की कला की बड़ी स्पष्ट और सीमित तकनीक वाली प्रविधि है। मंत्र-तंत्र, अनुष्ठान और जादू-टोना करने वाला (ओझा) इसके मुख्य तत्व हैं। धर्म की कोई ऐसी सरल तकनीक नहीं है। इसके अनेक पहलू और प्रयोजन हैं। इसका तार्किक आधार इसके विश्वास और आचरण के प्रकार्य में निहित है।

iii) जादू-टोने में विश्वास का संबंध किसी व्यक्ति द्वारा जादू-टोने या मंत्र-तंत्र की सहायता से मनचाहा कार्य सिद्ध करने की शक्ति में विश्वास से है। दूसरी ओर, धर्म का संबंध संपूर्ण अलौकिक शक्तियों में आस्था से है।

iv) धर्म में पौराणिक परंपरा जटिल और सृजनात्मक दोनों होती है और इसका केन्द्र आस्था का सिद्धांत है। जादू-टोने में अपने मूल के बारे में पौराणिक परंपरा में गर्वोक्तिपूर्ण विवरण होते हैं।

v) जादू-टोने की कला पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक ओझा से दूसरे ओझा को प्राप्त होती है। यह प्राय: सीधे बाप से बेटे को प्राप्त होती है। इस प्रकार यह विशेषज्ञों के बीच सीमित रहती है। दूसरी ओर, धर्म में प्रत्येक व्यक्ति सक्रिय रूप से भाग लेता है। उदाहरण के तौर पर,

समुदाय के प्रत्येक सदस्य को दीक्षा लेनी पड़ती है। इसी तरह, उचित समय पर प्रत्येक को शोक या मातम की प्रक्रिया में से गुज़रना पड़ता है। शोक प्रकट करने के लिए भी एक शोक किया जाता है। और फिर सभी के लिए प्रेत-आत्माओं का महत्व है और मरने के बाद सभी को प्रेतात्मा बनना पड़ता है। धर्म के क्षेत्र में आध्यात्मिक माध्यम बनना एक विशेषीकृत भूमिका भले ही हो, परन्तु यह कोई व्यावसायिक भूमिका नहीं है जिसे कोई भी सीख सकता हो। यह तो केवल वैयक्तिक प्रतिभा होती है। इसे जादूगीरी के समकक्ष नहीं समझना चाहिए।

vi) जादू-टोना सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार का होता है क्योंकि जादू-टोने का प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में व्यावहारिक प्रभाव पड़ता है। इसलिए सकारात्मक और नकारात्मक जादू-टोने के बीच वैषम्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मलिनॉस्की के अनुसार धर्म में, कम से कम आरंभिक अवस्था में, लाभकारी और द्वेष पूर्ण शक्तियों के बीच कोई विशेष अंतर नहीं होता।

आइए अब इस इकाई का अंतिम बोध प्रश्न भी पूरा कर लें।

**बोध प्रश्न 5**

i) जादू-टोना, विज्ञान और धर्म इन तीनों सामाजिक तत्वों में से कौन से दो तत्व उन नियमों की पद्धति से बने हैं, जो यह निर्धारित करते है कि किस प्रकार कोई भी कार्य भी कार्य प्रभावपूर्ण ढंग से किया जा सकता है?

.....

ii) जादू-टोना, विज्ञान और धर्म में से कौन-से दो सामाजिक तत्व पवित्र क्षेत्र से सम्बद्ध हैं और आवेशात्मक तनाव में पैदा और कार्यान्वित होते हैं?

.....

iii) पहचान कीजिए कि जादू-टोना, विज्ञान और धर्म--तीनों में से कौन-सा तत्व निम्नलिखित कथन पर लागू होता है।

क) यह इस विश्वास पर आधारित है कि व्यक्ति के मन में अभी आशावादिता बनी रहे और इच्छा-पूर्ति होती रहे।

ख) यह अनुभव, प्रयास और तर्क की वैधता के दृढ़ विश्वास पर आधारित है।

ग) यह तनाव और आवेशात्मक स्थिति का विशिष्ट अनुभव है।

घ) यह जीवन के सामान्य अनुभव से संबंधित है।

ड.) इसके बहुत से पहलू और प्रयोजन है। इसका तार्किक आधार इसके विश्वास और आचरण के प्रकार्य में निहित है।

## 23.7 जादू-टोना, विज्ञान और धर्म का प्रकार्य

अंत में, मलिनॉस्की ने अपने प्रिय विषय के रूप में इनमें से प्रत्येक तत्व के सांस्कृतिक प्रकार्य को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। आदिम ज्ञान का प्रकार्य जनजाति के लोगों को अपने आसपास के वातावरण से परिचित करने और उन्हें प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करने लायक बनाना है। इसके द्वारा वह उन्हें विश्व के अन्य प्राणियों से अलग और श्रेष्ठ बना देता है।

धर्म का प्रकार्य एक विशिष्ट मानसिकता का निर्माण करना है यथा परंपरा का आदर करना, प्रकृति के साथ समन्वय स्थापित करना, जीवन के लिए संघर्ष करना, यहां तक कि अगर मृत्यु भी आ जाए तो साहस और विश्वास रखना।

जादू-टोने का प्रकार्य जनजातीय लोगों को रोज़मर्रा के जीवन में जीने के लिए और कठिनाइयों का मुक़ाबला करने के लिए व्यावहारिक तरीक़ा उपलब्ध कराना है। इसके द्वारा उनमें जीवन में आने वाली अपरिहार्य समस्याओं के साथ जीने की योग्यता का विकास होता है। इस प्रकार मलिनॉस्की (1948:9) का मत है कि जादू-टोने का काम अनुष्ठान के द्वारा मनुष्य में आशा का संचार करना और भय के ऊपर आशा की विजय के विश्वास को बढ़ाना है।

**सोचिए और करिए 5**

अपनी पंसद के समूह के धार्मिक व्यवहार में दो उदाहरण चुनिए। मलिनॉस्की की दृष्टि में उनके प्रकार्य दिखाइए।

## 23.8 सारांश

हमने इस इकाई की शुरुआत मलिनॉस्की के समय में जादू-टोने, विज्ञान और धर्म में विवाद के संबंध में चर्चा के द्वारा की। इसके बाद जादू-टोना, विज्ञान और धर्म के सामाजिक तथ्यों के अध्ययन में मलिनॉस्की के दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया गया। इस विषय पर उसके निबंध को सार रूप में प्रस्तुत करते हुए हमने लौकिक क्षेत्र और पवित्र क्षेत्र का विवरण दिया। इसमें प्रथम के अंतर्गत आदिम ज्ञान के संबंध में उसके विचारों के बारे में चर्चा की, जो मलिनॉस्की के अनुसार अपने आसपास के वातवरण के प्रति वैज्ञानिक मनोवृति और तर्कपरक दृष्टिकोण का उदाहरण है। दूसरे के अंतर्गत जादू-टोने और धार्मिक विश्वासों के बारे में विचार किया गया है। अंत में, हमने जादू-टोने और विज्ञान के बीच तथा विज्ञान और धर्म के बीच समानताओं और असमानताओं के बारे में मलिनॉस्की के विचारों को प्रस्तुत किया। इसके बाद, जादू-टोने, विज्ञान और धर्म के प्रकार्यों का संक्षिप्त विवरण दिया। यहां प्रयास यह रहा है कि मलिनॉस्की की विचार-पद्धति का एक ठोस दृष्टांत आपके सामने प्रस्तुत किया जाए, जिससे आपका उसके विचारों की अपेक्षाकृत नवीनता से परिचय हो जाए।

## 23.9 शब्दावली

**जीववाद (animism)** धर्म पर टाइलर के विचार के संदर्भ में, जीववाद शरीर से पृथक आत्मा के अस्तित्व में विश्वास की ओर संकेत करता है।

**टोटमवाद (totemism)** किसी वर्ग के लोगों और प्राकृतिक तथा अन्य वस्तुओं (species) के बीच संबंध को टोटमवाद कहते हैं।

**द्रवगति (hydro-dynamics)** विज्ञान की उस शाखा को कहते हैं, जो पानी की गति और पानी में ठोस पिंडों पर कार्यरत बलों के संबंध में विचार करती है।

**पवित्र (the sacred)** यह जीवन के उन क्षेत्रों की ओर संकेत करता है जो धर्म से संबंधित है। मलिनॉस्की के विचार में पवित्र के अंतर्गत जादू-टोने से संबंधित अनुष्ठान भी शामिल हैं, जो धार्मिक अनुष्ठानों से अलग है। इस प्रकार मलिनॉस्की की इस शब्द की परिभाषा व्यापक कोटि की है।

**पार्श्व वर्ध (outrigger)** केनो के संतुलन को बनाए रखने के लिए एक लट्ठे के साथ बीम को केनो के सिरे पर लगा दिया जाता है। उसे पार्श्व वर्ध कहते हैं।

**रतालू (yam)** यह कचालू या अरबी की जाति का कंद है। यह खाद्य स्टार्च

युक्त होता है। अधिकांश उणकटिबंधीय क्षेत्रों में इसका मुख्य आहार के रूप में उपयोग होता है।

**लौकिक (the profane)** यह जीवन के उन क्षेत्रों की ओर संकेत करता है जिनका संबंध धर्म या धार्मिक प्रयोजनों से नहीं है, दूसरे शब्दों में उनका संबंध लौकिक पक्षों से है।

## 23.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

मलिनॉस्की बी., 1974. *मैजिक, साइंस एंड रिलीजन एंड अदर ऐस्सेज़.* सॉवेनिर प्रेस: लंदन

## 23.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) धर्म के संबंध में टाइलर के विचार के संदर्भ में "जीववाद" का अर्थ है शरीर से अलग आत्मा के अस्तित्व में विश्वास।

ii) फ्रेजर के मत में आदिम लोगों ने अपने रोज़मर्रा के जीवन-यापन के लिए प्रकृति पर नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश की। इस काम के लिए उन्होंने जादू-टोने का सहारा लिया। जब उनका जादू-टोना अपने मनचाहे लक्ष्य को पाने में असफल हुआ तो वे उच्चतर आध्यात्मिक तत्व से याचना करने लगे और इससे धर्म का उद्भव हुआ।

**बोध प्रश्न 2**

i) इसमें बताया गया है कि ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासी अपने दैनिक कामकाज के लौकिक क्रियाकलापों को जादू-टोने के अनुष्ठानों के साथ नहीं मिलाते हैं। इनमें पहला क्षेत्र अपने आसपास के वातावरण के प्रति तर्कपरक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि दूसरा क्षेत्र प्रकृति की रहस्यमय और अज्ञात घटनाओं के प्रति उनकी बेबसी को दर्शाता है।

ii) अपने आसपास के वातावरण के प्रति तर्कपरक दृष्टिकोण का मतलब यह नहीं है कि उनका जादू-टोने में विश्वास नहीं है। जादू-टोने का प्रकार्य जीवन की अज्ञात परिस्थितियों के लिए है, जबकि तर्कपरक चिंतन और लौकिक कार्य लोगों को अपने वातावरण को वास्तव में नियंत्रित करने में सहायक होते हैं।

**बोध प्रश्न 3**

i) दीक्षा अनुष्ठान का मुख्य उद्देश्य आदिम लोगों को उनके समूह की पवित्र परंपरा के रहस्यों में दीक्षित करना है।

ii) आत्मा के अमरत्व की धारणा लोगों को मृत्यु के द्वारा होने वाले भय और दुख की भावना को जीतने में सहायक होती है।

**बोध प्रश्न 4**

i) जादू-टोने के अनुष्ठान (तंत्र-मंत्र) का बल सभी प्रकार के जादू-टोने का एक सामान्य अभिलक्षण है। जादू-टोने के तीन तत्व हैं।

   क) अनुष्ठान संबंधी उच्चरित अंशों का ध्वन्यात्मक प्रभाव,

   ख) जादू-टोने के अनुष्ठान में शब्दों का चुनाव, और

   ग) संस्कृति, वीर पुरुषों, नायकों या पुरखों अथवा दूसरी अलौकिक शक्तियों का नामोल्लेख।

ii) सर्वव्यापक आत्मा या शक्ति में विश्वास को जादू-टोने के समान नहीं माना जा सकता, क्योंकि जादू-टोने का संबंध सामाजिक जीवन के केवल एक पक्ष से है, जबकि सर्वव्यापक शक्ति का संबंध सभी पक्षों से होता है।

**बोध प्रश्न 5**

i) जादू-टोना और विज्ञान

ii) जादू-टोना और धर्म

iii) क) जादू-टोना
ख) विज्ञान
ग) जादू-टोना
घ) विज्ञान
ड.) धर्म

# इकाई 24 संरचना की अवधारणा - रैडक्लिफ़-ब्राउन

## इकाई की रूपरेखा


24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 बौद्धिक प्रभाव

- 24.2.1 क्षेत्रीय शोधकार्य की परम्परा
- 24.2.2 दर्खाइमीय परम्परा: रैडक्लिफ़-ब्राउन में बौद्धिक परिवर्तन

24.3 रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा विकसित सामाजिक संरचना की अवधारणा

- 24.3.1 सामाजिक सरंचना और सामाजिक संगठन
- 24.3.2 सामाजिक सरंचना और सामाजिक संस्थाएं
- 24.3.3 सरंचनात्मक निरंतरता (structural continuity) और संरचनात्मक रूप (structural form)

24.4 पश्चिमी ऑस्ट्रेलिंया में संरचनात्मक व्यवस्था

- 24.4.1 क्षेत्रीय आधार
- 24.4.2 जनजातियाँ
- 24.4.3 मोइटी (moieties)
- 24.4.4 टोटम समूह

24.5 सारांश

24.6 शब्दावली

24.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

24.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 24.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए संभव होगा

- उन बौद्धिक प्रभावों का उल्लेख करना जिनकी सहायता से रैडक्लिफ़-ब्राउन के सामाजिक नृशास्त्र का विशिष्ट स्वरूप तैयार हुआ
- रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा विकसित 'सामाजिक संरचना' तथा उससे संबंधित अन्य अवधारणाओं की व्याख्या करना
- रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा प्रस्तुत एक उदाहरण के माध्यम से इन अमूर्त अवधारणाओं को भली-भाँति समझना।

## 24.1 प्रस्तावना

पिछली दो इकाइयों में आपने ब्रोनिस्लॉ मलिनॉस्की के कुछ महत्वपूर्ण योगदानों के विषय में पढ़ा। आइए, अब हम मलिनॉस्की के समकालीन प्रतिस्पर्धी ए आर रैडक्लिफ़-ब्राउन के काम के बारे में पढ़े। रैडक्लिफ़-ब्राउन मलिनॉस्की से तीन वर्ष बड़ा था और उसकी मृत्यु के बाद ग्यारह वर्ष तक जीवित रहा। वे दोनों अपने समकालीन ब्रिटिश सामाजिक नृशास्त्र पर छाये रहे। ऐडम कूपर (1975: 51) के अनुसार "मलिनॉस्की रीति रिवाजों के पीछे मानवीय रुचि के प्रति अपनी जीवंत

जागरूकता के कारण सामाजिक नृशास्त्र में एक नया यथार्थवाद लाया जबकि रैडक्लिफ़-ब्राउन ने नये क्षेत्रीय शोधकर्ताओं की सहायता के लिए स्पष्ट, ठोस और व्यवस्थित अवधारणाओं का समावेश किया।" इस इकाई में हमने इन्हीं अवधारणाओं में से एक अर्थात् सामाजिक संरचना का अध्ययन किया है।

अपने काम को कुछ अधिक सरल बनाने के लिए पहले हमने संक्षेप में उन बौद्धिक प्रभावों का अध्ययन किया है जो रैडक्लिफ़-ब्राउन के सामाजिक नृशास्त्र का विशिष्ट स्वरूप तैयार करने में सहायक हुए। यह इकाई का पहला भाग (24.2) होगा। दूसरे भाग (24.3) में इस इकाई के मुख्य विषय अर्थात् रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा सामाजिक संरचना के विश्लेषण की चर्चा की जाएगी।

तीसरे और अंतिम भाग (24.4) में पश्चिमी आस्ट्रेलिया की कुछ जनजातियों की संरचनात्मक विशेषताओं का विश्लेषण किया जायेगा, जिनका अध्ययन रैडक्लिफ़-ब्राउन ने किया था। इन ठोस उदाहरणों द्वारा अमूर्त अवधारणाएं स्पष्ट हो सकेंगी।

## 24.2 बौद्धिक प्रभाव

जैन (1989: 1) के अनुसार आधुनिक सामाजिक नृशास्त्र दो विशिष्ट परंपराओं का सम्मिश्रण है। एक ओर तथ्यपरक, आनुभाविक नृजातीय परंपरा है, (जिसके बारे में आपने पिछली दो इकाइयों में पढ़ा है) तो दूसरी ओर समाज को एक समग्रता के रूप में देखने वाले (holistic) विश्लेषण की परंपरा है। पहले का प्रतिनिधित्व ब्रिटिश और अमरीकी सामाजिक नृशास्त्र करता है तो दूसरे का फ्रांसीसी समाजशास्त्र, जिस पर एमिल दर्खाइम हावी रहा। रैडक्लिफ़-ब्राउन के सामाजिक नृशास्त्र पर इन दोनों परंपराओं की छाप है। सबसे पहले यह देखें कि रैडक्लिफ़-ब्राउन के विचारों पर क्षेत्रीय शोधकार्य की परंपरा का क्या प्रभाव पड़ा।

### 24.2.1 क्षेत्रीय शोधकार्य की परंपरा

रैडक्लिफ़-ब्राउन जिन दिनों कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में पढ़ रहा था, उन दिनों वह विश्वविद्यालय एक बौद्धिक संपन्नता के दौर से गुज़र रहा था। शिक्षक और विद्यार्थी निस्संकोच विचार-विमर्श और वाद-विवाद करते थे। रैडक्लिफ़-ब्राउन 1904 में डब्ल्यू. एच. आर. रिवर्स का पहला नृशास्त्रीय विद्यार्थी हुआ। रिवर्स और हैडन प्रसिद्ध टोरेस स्ट्रेट्स अभियान में भाग ले चुके थे, जिसके विषय में आपने इकाई 23 में पढ़ा है।

रैडक्लिफ़-ब्राउन ने रिवर्स और हैडन के मार्गदर्शन में क्षेत्रीय शोधकार्य शुरू किया। उसके अध्ययन का पहला क्षेत्र अंडमान द्वीपसमूह था। इस प्रकार रैडक्लिफ़-ब्राउन ब्रिटिश वैज्ञानिक नृशास्त्र की आनुभाविक परंपरा में शामिल हो गया। इस काल में हुए अनुभवों का प्रभाव रैडक्लिफ़-ब्राउन के सभी कामों पर जीवन पर्यन्त बना रहा।

*"द एलिमेंट्री फ़ार्म्स ऑफ़ द रिलिजस लाइफ़"* नामक एमिल दर्खाइम की महत्वपूर्ण कृति ने ब्रिटिश विद्वानों को अत्यधिक प्रभावित किया। रैडक्लिफ़-ब्राउन उनमें से एक था। आइयें देखें कि वह दर्खाइमीय विचारधारा की ओर क्यों आकृष्ट हुआ।

### 24.2.2 दर्खाइमीय परम्परा: रैडक्लिफ़-ब्राउन में बौद्धिक परिवर्तन

इस पाठ्यक्रम के खंड 3 में एमिल दर्खाइम के योगदानों का व्यवस्थित विश्लेषण किया गया है। ऐडम कूपर (1975: 54) के शब्दों में दर्खाइमीय परंपरा ने वैज्ञानिक पद्धति दी। साथ में इस धारणा की पुष्टि की कि सामाजिक जीवन सुव्यवस्थित होता है जिसका बखूबी विश्लेषण किया जा सकता है और जो किसी हद तक वैयक्तिक भावनाओं से परे होता है। दर्खाइम को पूरी आस्था थी कि मनुष्य के लिए एक पूर्णतया व्यवस्थित समाज में एक ऐसा जीवन जीना संभव होगा जिसमें

व्यक्ति तथा समाज दोनों का महत्व होगा। ऐसा समाज सावयवी एकात्मता पर आधारित होगा। (सावयवी एकात्मता के लिए देखिए खंड 3 की इकाई 1)

जैसा कि आपको मालूम है कि दर्ख़ाइम 'सामाजिक तथ्यों' का अध्ययन समाजशास्त्रीय पद्धति से करने के पक्ष में था। वह बिना किसी पूर्वाग्रह के निष्पक्ष रूप से इन तथ्यों का अध्ययन करने की बात करता था। उस के विचार में समाज वस्तुत: एक प्रकार की नैतिक व्यवस्था है। सामूहिक चेतना (collective consciousness) की अवधारणा उसके अध्ययन का महत्वपूर्ण भाग है। दर्ख़ाइम समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान की ही तरह निष्पक्ष और ठोस विज्ञान के रूप में विकसित करना चाहता था। इन सभी विचारों ने रैडक्लिफ़-ब्राउन को आकृष्ट किया। दर्ख़ाइमीय समाजशास्त्र तथा रैडक्लिफ़-ब्राउन का सामान्य विज्ञान के लिए आकर्षण, दोनों के योग से रैडक्लिफ़-ब्राउन के मन में भविष्य के लिए आदर्श समाज की संकल्पना उभरी।

संक्षेप में दर्ख़ाइमीय परंपरा का रैडक्लिफ़-ब्राउन के अध्ययनों पर यह प्रभाव पड़ा कि वह नृजाति विवरणशास्त्री (ethnographer) से समाजशास्त्री बन गया। रैडक्लिफ़-ब्राउन ने विभिन्न समाजों के बारे में जानकारी इकट्ठा करने के साथ-साथ इस जानकारी का समाजशास्त्रीय ढंग से विश्लेषण करने का प्रयास किया। आइए, अब हम रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा विकसित सामाजिक संरचना की महत्वपूर्ण अवधारणा का अध्ययन करें। लेकिन उससे पहले बोध प्रश्न 1 के उत्तर लिखिए।

**बोध प्रश्न 1**

एक शब्द में उत्तर दें।

क) इसने रैडक्लिफ़-ब्राउन को सबसे पहले सामाजिक नृशास्त्र का प्रशिक्षण दिया।.....

ख) क्षेत्रीय शोधकार्य को इसने नयी दिशा दी।.....

ग) इस विश्वविद्यालय में रैडक्लिफ़-ब्राउन ने सामाजिक नृशास्त का अध्ययन किया।.....

घ) इस द्वीपसमूह में रैडक्लिफ़-ब्राउन ने अपना पहला क्षेत्रीय शोधकार्य आरंभ किया।.....

ङ) एक फ़्रांसीसी समाजशास्त्री जिसने रैडक्लिफ़-ब्राउन को प्रभावित किया।.....

## 24.3 रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा विकसित सामाजिक संरचना की अवधारणा

रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार किसी भी विज्ञान के लिये संबद्ध अवधारणाओं की आवश्यकता होती है। इन अवधारणाओं को पारिभाषिक शब्दावलियों द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है जिनका कि उस विषय के सभी विद्यार्थियों द्वारा एक ही अर्थ लिया जाता है। उदाहरण के लिये, भौतिक शास्त्रियों द्वारा परमाणु (atom), अणु (molecule), दहन (combustion) आदि शब्दावलियों का प्रयोग किया जाता है। इन शब्दावलियों का अर्थ और प्रयोग प्रत्येक विद्यार्थी के लिए एक ही होता है। क्या यही बात समाजशास्त्र और सामाजिक नृशास्त्र पर भी लागू होती है? रैडक्लिफ़-ब्राउन ने माना कि समाजशास्त्रीय लेखन में भी विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग विभिन्न लेखकों द्वारा एक ही अर्थ में किया जाता है। दूसरी ओर, कई शब्दों का प्रयोग बिना किसी पूर्वनिश्चित अर्थों के साथ भी किया जाता है। यह स्थिति इस विज्ञान (समाजशास्त्र) की अपरिपक्वता की सूचक है।

उसका कहना है कि अध्ययन किये जाने वाले आनुभाविक तथ्यों की प्रकृति को बराबर ध्यान में रखकर अस्पष्ट और अवैज्ञानिक बोध से बचा जा सकता है। सभी अवधारणाओं और सिद्धांतों का यथार्थ से संबंध होना आवश्यक है। रैडक्लिफ़-ब्राउन (1958: 67) के अनुसार "एक विशिष्ट क्षेत्र और समयावधि में सामाजिक जीवन की प्रक्रिया ही वह आनुभाविक यथार्थ है जिसका नृशास्त्रीय विवरण, विश्लेषण और तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।" 'सामाजिक जीवन की

प्रक्रिया' से हमारा क्या अर्थ है? इसके अंतर्गत मनुष्य के विभिन्न कार्यकलाप, विशेषकर सामूहिक क्रियाएं और अंत:क्रियाएं आते हैं। उदाहरण के तौर पर ग्रामीण भारत में कृषि संबद्ध कार्यकलाप सामूहिक कार्य हैं। युवा और महिला मंडलों और सहकारी संस्थाओं में भी सामूहिक क्रिया होती है।

सामाजिक जीवन का विवरण देने के लिए सामाजिक नृशास्त्री कार्यकलापों की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख करते हैं। उदाहरण के लिए, ग्रामीण भारत में कृषि संबद्ध कार्यों का विवरण करते हुए समाजशास्त्री द्वारा कुछ सामान्य विशेषताओं को दर्शाने का प्रयास होता है, जैसे, विभिन्न कार्य कब, कहां और किसके द्वारा किये जाते हैं? बीज बोने, फसल काटने और बेचने में कौन से व्यक्ति एक दूसरे का सहयोग करते हैं? कृषि मज़दूरों का गठन, कृषि के क्षेत्र में महिलाओं की भूमिका आदि जैसी विशेषताओं का उल्लेख भी समाजशास्त्रियों द्वारा किया जा सकता है। इसी प्रकार का सामान्य विवरण ही विज्ञान की आधार सामग्री होता है। इसे कई तरह से प्राप्त किया जा सकता है, जैसे कि सहभागी प्रेक्षण (participant observation) से, ऐतिहासिक विवरणों आदि से।

क्या ये सामान्य विशेषताएं समय के साथ बदलती हैं? हाँ। और अलग-अलग विशेषताएं अलग-अलग गति से बदलती हैं। पहले दिये गये उदाहरण को ही लें। इसमें यह देखा जा सकता है कि समय के साथ-साथ कृषि संबद्ध कार्यों में अनेक परिवर्तन आये हैं। आज जब चाहो कृषि मज़दूर सरलता से नहीं मिलते हैं। अब वे पहले की तरह क्रूर शोषण को सहते नहीं हैं। मशीनों, रासयानिक खादों और कीटाणु नाशक दवाइयों का अधिक उपयोग किया जा रहा है। इन परिवर्तनों के बावजूद यह भी तथ्य है कि देश के ज़्यादातर भागों में महिलाएं आज भी कृषि के क्षेत्र में बहुत श्रम करती हैं। उनके योगदान को पहचाना तक नहीं जाता है। समय के साथ-साथ होने वाले परिवर्तन को ध्यान में रखकर विवरण देने वाले अध्ययन को डायक्रानिक विवरण कहा जाता है, जबकि सिंक्रानिक विवरण वह है जिसमें विशिष्ट समयावधि में पाई जाने वाली सामाजिक जीवन की विशेषताओं पर ज़ोर दिया जाता है। रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार तथ्यपरक स्पष्ट अवधारणाएं सामाजिक नृशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान के रूप में विकसित करने में सहायता देती हैं। साथ ही ये सिंक्रानिक और डायक्रानिक व्याख्या के आधार पर सामाजिक जीवन को समझने में मदद देती हैं। इस संदर्भ में सामाजिक संरचना की अवधारणा महत्वपूर्ण हो जाती है। इसके बारे में अगले अनुभाग में चर्चा की जा रही है।

### 24.3.1 सामाजिक संरचना और सामाजिक संगठन

रैडक्लिफ़-ब्राउन (1958: 68) का कहना है कि सामाजिक संरचना की अवधारणा से हमें एक बड़ी समग्रता के विभिन्न भागों की व्यवस्था तथा उनके आपसी संबंधों का बोध होता है। यदि मनुष्य शरीर की संरचना देखी जाये तो पहली नज़र में मनुष्य शरीर विभिन्न उत्तक (tissues) और अंगों (organs) का योग प्रतीत होता है। यदि और गहराई से देखा जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि यह कोशाणुओं (cells) और तरल पदार्थों (fluid) की एक व्यवस्था है। इसी तरह यदि सामाजिक संरचना को देखें तो स्पष्ट है कि इसके मूल तत्व हैं सामाजिक जीवन में लिप्त सारे व्यक्ति। एक दूसरे से संबद्ध व्यक्तियों की व्यवस्था ही सामाजिक संरचना है। उदाहरण के लिए भारतीय सामाजिक जीवन की व्यवस्था प्राय: विभिन्न जातियों के रूप में पाई जाती है। अत: जाति-व्यवस्था को भारतीय सामाजिक जीवन की संरचनात्मक विशेषता कहा जा सकता है।

इसी तरह एक परिवार की संरचना का बोध परिवार के बच्चों, माता-पिता, दादा-दादी आदि के बीच परस्पर संबंधों से होता है। रैडक्लिफ-ब्राउन के लिए संरचना एक अमूर्त कल्पना न होकर एक आनुभाविक तथ्य है। सामाजिक संरचना की अवधारणा का प्रयोग विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न तरीकों से किया जाता है। कोष्ठक 24.1 में आपको इस संबंध में और अधिक जानकरी दी गई है।

**कोष्ठक 24.1: सामाजिक संरचना की अवधारणा**

द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत वाले दशक के दौरान सामाजिक नृशास्त्र में सामाजिक संरचना की अवधारणा बहुत लोकप्रिय हो गई थी। यों तो इस अवधारणा का इतिहास काफ़ी पुराना है तथा इसका प्रयोग विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से किया है। यहां इसके तीन अर्थों की चर्चा की जा रही है।

i) अंग्रेज़ी भाषा में 'संरचना' शब्द का अर्थ भवन निर्माण से है। प्रारंभिक मार्क्सवादी साहित्य में संरचना की अवधारणा का प्रयोग इमारत बनाने के रूप में ही किया गया है। मार्क्स ने उत्पादन के संबंधों को आर्थिक संरचना का तत्व बताया था। मार्क्स एवं एंजल्स दोनों ही विकासवादी विद्वान मॉर्गन की पुस्तक *सिस्टम्स ऑफ़ कॉन्सन्गुइनिटि एण्ड अफ़िनिटि* से बहुत प्रभावित थे और यह पुस्तक आज भी सामाजिक संरचना का पहला समाजशास्त्रीय अध्ययन माना जाता है।

ii) सोलहवीं सदी तक संरचना शब्द का प्रयोग शरीर विज्ञान (anatomy) में किया जाने लगा था। हर्बर्ट स्पेंसर के विचार में समाज को एक शरीर की उपमा से समझा जा सकता है और स्पेंसर को ही संरचना तथा प्रकार्य जैसे शब्दों को समाजशास्त्र में लाने का श्रेय है। यही उपमा हमें दर्खाइम के लेखन में भी मिलती है। दर्खाइम से रैडक्लिफ़-ब्राउन ने अनेक विचार लिए थे और यह विचार भी उसने वहीं से लिया। रैडक्लिफ़-ब्राउन का अनुसरण करते हुए इवंस प्रिचर्ड, फ़ोर्टीस एवं फ़ोर्ड ने समाज के कुछ पक्षों पर विशेष ध्यान दिया जैसे राजनीतिक संरचना, नातेदारी की संरचना आदि।

iii) फ्रेंच संरचनावादी लेवि-स्ट्रॉस के लेखन में हमें संरचना की अवधारणा का एक अन्य आयाम देखने को मिलता है। उसने संरचना का अपना बोध भाषा-शास्त्र से लिया है एवं उसके लिए संरचना की अवधारणा एक अमूर्त एवं विश्लेषणीय मॉडल है जिसकी तुलना में आज विद्यमान सामाजिक व्यवस्थाओं को देखा जा सकता है। इस प्रकार की तुलना से कुछ नियमितताएं अथवा निश्चित विन्यास परिलक्षित होते हैं जिनकी व्याख्या समाजशास्त्री द्वारा की जाती है।

प्रश्न यह उठता है कि सामाजिक जीवन की संरचनात्मक विशेषताओं का कैसे पता लगाया जाये? रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार हर प्रकार के सामाजिक समुदायों को खोज कर उनकी संरचना का परीक्षण करना ज़रूरी है। इन समुदायों के अंदर लोग-- वर्गों, श्रेणियों, जातियों आदि में विभाजित होते हैं। रैडक्लिफ़-ब्राउन के मतानुसार सबसे महत्वूपर्ण संबंध एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के बीच का युग्मीय (dyadic) संबंध हैं, जैसे--मालिक-नौकर, मामा-भांजे के संबंध। सामाजिक संरचना का स्पष्ट बोध तभी होता है जब व्यक्तियों या समूहों के बीच अंत:संबंधों को देखा जाये। सामाजिक संरचना की अवधारणा पर प्रथम दृष्टि डाल कर आइए अब यह देखें कि रैडक्लिफ़-ब्राउन का सामाजिक संगठन से क्या तात्पर्य है। अभी हमने देखा संरचना का अर्थ व्यक्तियों के बीच स्थापित व्यवस्था है। संगठन का तात्पर्य गतिविधियों (activities) की व्यवस्था से है। उदाहरणत: आपने इस खंड को पढ़ने के लिए अपनी गतिविधियां संगठित की होंगी। जैसे कि पहले किसी विशेष भाग को पढ़ना फिर प्रश्नों के उत्तर ढूंढना, जहां आवश्यक हो शब्दावली को देखना आदि। यह व्यक्तिगत स्तर पर गतिविधियों को संगठित करना दिखाता है। इसी प्रकार रैडक्लिफ़-ब्राउन (1958: 169) के अनुसार सामाजिक संगठन "दो या दो से अधिक व्यक्तियों की क्रियाओं की वह व्यवस्था है जिससे सामूहिक क्रियाएं संभव होती है"। उदाहरण के लिए क्रिकेट टीम में बल्लेबाज़ों, गेंदबाज़ों, खेल के मैदान में दौड़ने वालों और विकेट-कीपर की सम्मिलित क्रियाओं से ही खेल संभव होता है।

सामाजिक संरचना और संगठन की अवधारणाएं स्पष्ट करने के लिए रैडक्लिफ़-ब्राउन ने

आधुनिक सेना का उदाहरण दिया है। सामाजिक संरचना में सबसे पहले व्यक्तियों को समूहों में विभाजित किया जाता है जैसे कि सेना में 'डिवीज़न', 'रेजीमेंट', 'कम्पनी' आदि समूह होते हैं। इन समूहों की अपनी आंतरिक व्यवस्था होती है, जैसे सेना में 'रैंक' या पद, के अनुसार 'कॉर्पोरल', 'कर्नल', 'ब्रिगेडियर' आदि। सेना का संगठन उसके विभिन्न कार्यों के विभाजन के माध्यम से देखा जा सकता है। इनमें से कुछ कार्य हैं देश की सीमाओं पर तैनात रहना, राष्ट्रीय संकट में सरकार की सहायता करना आदि। इस बिंदु पर सोचिये और करिये 1 को पूरा कीजिए।

**सोचिये और करिये 1**

निम्नलिखित में से किसी एक की संरचना और संगठन के विषय में दो पृष्ठ का लेख लिखें। i) अस्पताल ii) ग्राम पंचायत iii) नगर पालिका। यदि संभव हो तो अपने लेख की तुलना अ ध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों के लेखों से करें।

### 24.3.2 सामाजिक संरचना और सामाजिक संस्थाएं

जैसा कि आपको स्पष्ट हो चुका है, सामाजिक संबंध ही सामाजिक संरचना का आधार है। सामाजिक संबंध मूलत: इस अपेक्षा पर आधारित है कि व्यक्ति कुछ प्रतिमानों या नियमों का पालन करेंगे। समाज द्वारा माने गये नियम और तरीकों की प्रणालियों को 'संस्था' कहा जाता है। ये संस्थाएं सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबद्ध है। उदाहरण के तौर पर समाज की परिवार संबद्ध संस्थाएं कुछ विशिष्ट तौर तरीकों को सामने रखती हैं जिनको मानना परिवार के सदस्यों के लिये अनिवार्य है, जैसे हमारे समाज में यह अपेक्षित है कि बच्चे माँ-बाप का आदर करें, दूसरी ओर बच्चों और बूढ़ों का पालन-पोषण माँ-बाप की जिम्मेदारी है।

रैडक्लिफ़-ब्राउन (1958: 175) के अनुसार संस्थाएं "व्यक्ति के और उसके प्रति दूसरों के अपेक्षित बर्ताव को परिभाषित करती है"। लेकिन कई बार लोग इन नियमों का उल्लंघन भी करते हैं। इससे निपटने के लिये अनेक प्रतिबंध (sanctions) होते है। रैडक्लिफ़-ब्राउन मानता है कि सामाजिक संरचना का वर्णन उन संस्थाओं के संदर्भ में करना होगा जो व्यक्तियों और समूहों के संबंधों को नियमित करती हैं। रैडक्लिफ़-ब्राउन (1958: 175) कहता है कि "क्षेत्र विशेष के सामाजिक जीवन की संरचनात्मक विशेषताएं संस्थागत संबंधों की व्यवस्था में दृष्टिगत होती है। यह व्यवस्था व्यक्तियों द्वारा किए कार्यों तथा अंत: कार्यों में निहित होती है एवं इन्हीं से सामाजिक जीवन की समग्रता का आभास होता है।

### 24.3.3 संरचनात्मक निरंतरता (structural continuity) और संरचनात्मक रूप (structural form)

रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार सामाजिक संरचना के निर्माण में व्यक्तियों तथा उनके बीच संबंधों का हाथ होता है। तो क्या यह समझा जा सकता है कि व्यक्ति विशेष की मृत्यु के साथ 'संरचना' भी नष्ट हो जाती है? नहीं, ऐसा नहीं होता है। व्यक्ति विशेष पैदा होते हैं और मर जाते हैं परंतु सामाजिक संरचना बनी रहती है। सामाजिक समूहों, वर्गों और जातियों के सदस्य सदैव बदलते रहते हैं। जहाँ एक ओर कुछ सदस्यों की मृत्यु हो जाती है तो वहीं नये सदस्य जन्म भी लेते हैं। उदाहरण के तोर पर लोक सभा के कई सदस्य मरते है या इस्तीफ़ा देते हैं या फिर अगला चुनाव हार जाते हैं, लेकिन शीघ्र ही नये सदस्य उनकी जगह ले लेते हैं। जनजातियों में मुखिया की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी उसकी जगह लेता है।

इस संदर्भ में यह स्पष्ट करना ठीक रहेगा कि रैडक्लिफ़-ब्राउन सामाजिक संरचना और संरचनात्मक रूप के बीच अंतर देखता है। सामाजिक संरचना में हमेशा अदल बदल की स्थिति बनी रहती है। जन्म और मृत्यु द्वारा समूहों के सदस्य बदलते रहते हैं। रैडक्लिफ़-ब्राउन मानता

है कि सामाजिक संरचना में गतिमानता होते हुए भी समाज के संरचनात्मक रूप में काफी स्थायित्व होता है। समाज का संरचनात्मक रूप समाज के माने हुए तौर तरीकों और नियमों में प्रतिबिंबित होता है। व्यक्ति आते हैं और चले जाते हैं परंतु ये तौर तरीके क़ायम रहते हैं। संरचनात्मक रूप की स्थिरता उसके विभिन्न अंगों के आपस में सुव्यवस्थित रूप से जुड़े होने पर निर्भर करती है। समाज के कई अंग हैं उदाहरणत: परिवार, शिक्षा व्यवस्था, राजनैतिक व्यवस्था आदि। इन अंगों के विशिष्ट प्रकार्यों से समाज का संरचनात्मक स्थायी रूप बना रहता है। उदाहरण के लिये, परिवार का विशिष्ट कार्य है बच्चों का पालन पोषण। शैक्षिक संस्थाएं प्रशिक्षण प्रदान करती हैं, राजनैतिक व्यवस्था सरकार चलाती है। इन प्रकार्यों के संबंध में रैडक्लिफ़-ब्राउन के विचार अगली इकाई में विस्तृत रूप से प्रस्तुत किये गये हैं। संक्षेप में 'सामाजिक संरचना' रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा विकसित एक महत्वपूर्ण सामाजिक नृशास्त्रीय अवधारणा है। इस अवधारणा से अनुभवसिद्ध तथ्यों के आधार पर समाज के सदस्यों के पारस्परिक संबंध और उनके गठन का अध्ययन किया जा सकता है।

यहाँ समाज में पाए जाने वाले संगठन की चर्चा आवश्यक है। दूसरे शब्दों में लोग अपने कार्य-कलापों को कैसे संगठित करते हैं। सामाजिक संरचना के अध्ययन में सामाजिक संस्थाओं को लिया जाता है। ये समाज द्वारा माने गये नियमों और तौर तरीकों की परिभाषा देती है। सामाजिक संरचना में सदैव गतिमानता बनी रहती है, परंतु जैसा हमने ऊपर देखा संरचनात्मक रूप में काफ़ी हद तक स्थायित्व बना रहता है। यह स्थायित्व तब तक बना रहता है जब तक समाज के विभिन्न अंग अपने-अपने प्रकार्य, प्रभावशाली रूप से करते रहते हैं।

सामाजिक संरचना के संबंध में हमारी अब तक की चर्चा काफी अमूर्त (abstract) रही है। इन विचारों को उदाहरण द्वारा अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। रैडक्लिफ़-ब्राउन ने क्षेत्रीय अध्ययन के लिये विश्व के अनेक भागों की यात्रा की जैसे कि अंडमान द्वीपसमूह, अफ़्रीका और ऑस्ट्रेलिया। रैडक्लिफ़-ब्राउन ने पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया की जनजातियों की संरचनात्मक व्यवस्था का अध्ययन किया था। अब उसकी चर्चा की जायेगी। इससे साफ़ दिखाई देगा कि किस प्रकार सामाजिक संबंध सामाजिक संरचना को रूप देते हैं। इसके पहले हम पश्चिमी आस्ट्रेलिया की जनजातियों की सामाजिक संरचना पर रैडक्लिफ़-ब्राउन के विचार पढ़कर सामाजिक संरचना की अवधारणा को पूरी तरह से समझें। आपको बहुत संक्षेप में, आइए, यह बात दें कि स्वयं रैडक्लिफ़-ब्राउन भी अपने लेखन में कभी पूरी तरह से स्पष्ट नहीं कर पाया कि उसके विचार में 'सामाजिक संरचना' तथा 'संरचनात्मक रूप' में आखिर अंतर क्या है। बहुधा तो ऐसा ही लगता है कि उसके लिए समाज के संरचनात्मक रूप तथा सामाजिक संगठन एक ही अवधारणाएं है। यही कारण है कि हमने संरचनात्मक रूप की विशेष चर्चा न कर अब एक उदाहरण के माध्यम से रैडक्लिफ़-ब्राउन की सामाजिक संरचना की अवधारणा को समझाने का निश्चय किया है।

चर्चा के उपरोक्त बिंदुओं को आत्मसात करने हेतु बोध प्रश्न 2 को पूरा करें।

**बोध प्रश्न 2**

i) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर पाँच पंक्तियों में लिखें।

क) 'सामाजिक संरचना' और 'सामाजिक संगठन' से रैडक्लिफ़-ब्राउन का क्या तात्पर्य है?

.....

.....

.....

.....

.....

ख) सामाजिक 'संस्थाएं' क्या हैं? उदाहरण सहित उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) निम्नलिखित वाक्यों में सही या गलत में किसी एक कोष्ठक को चुनें।

क) लोग संस्थाओं का उल्लंघन कभी नहीं करते हैं। सही/ग़लत

ख) सामाजिक संरचना स्थिर होती है जबतिक संरचनात्मक रूप अस्थिर होता है। सही/ग़लत

ग) रैडक्लिफ़-ब्राउन का मानना है कि सामाजिक नृशास्त्र स्पष्ट अवधारणाओं को विकसित करके ही एक विज्ञान बन सकता है। सही/ग़लत

## 24.4 पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया में संरचनात्मक व्यवस्था

इस भाग में रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा दिये गये इन जनजातियों की सामाजिक संरचना के आधार का उललेख किया जा रहा है।

### 24.4.1 क्षेत्रीय आधार

रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार भू-भाग का क्षेत्रीय या प्रांतीय विभाजन ही पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया के जनजातीय समाज की संरचना का प्रमुख आधार था। जन्म से मृत्यु तक प्रत्येक पुरुष किसी एक विशिष्ट क्षेत्र का वासी माना जाता था। उसके बेटे और पोते इस क्षेत्रीय पहचान के उत्तराधिकारी बनते थे। एक विशिष्ट क्षेत्र विशेष से संबंधित पुरुषों के योग से 'कुल' (clan) बनता था जो सामाजिक संरचना में अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता था। दूसरे, महिलाओं का क्या स्थान था? लड़की अपने पिता के कुल की सदस्या मानी जाती थी। क्योंकि कुल से बाहर विवाह होने का कठोर नियम था। अत: लड़की को अपने कुल को छोड़कर दूसरे कुल में पुरुष से विवाह करना पड़ता था।

कुल के पुरुष, उनकी पत्नियाँ और बच्चे मिलकर जिस समूह का निर्माण करते थे उसे दल या झुंड (horde) कहते थे। हर दल का अपना विशिष्ट क्षेत्र होता था। आर्थिक और राजनैतिक स्तरों पर दल एक आत्मनिर्भर इकाई थी। इसमें बुजुर्गों की सत्ता होती थी। हर दल की जनसंख्या सीमित हुआ करती थी। इसमें पचास से ज्यादा सदस्य नहीं होते थे। हर दल एकल (nuclear) परिवारों में विभाजित था। हर परिवार का अपना घर और चूल्हा होता था। परिवार पुरुष प्रधान था; पुरुष की मृत्यु के बाद परिवार बिखर जाता था। जहाँ एक ओर परिवार एक अस्थायी इकाई था वहीं दूसरी ओर कुल एक स्थायी इकाई था। दल अस्थिर स्थिति में रहता था। पुरुष इसके केन्द्र थे, परंतु विवाह के माध्यम से स्त्रियाँ इसमें आती थीं और इससे बाहर जाती थीं। संक्षेप में, किसी विशिष्ट क्षेत्र या प्रान्त के पुरुषों से 'कुल' संगठित होता था। कुल के पुरुषों, उनकी पत्नियों और बच्चों से 'दल' निर्मित होता था।

### 24.4.2 जनजातियाँ

समान रीति-रिवाज और भाषा वाले कुलों से एक जनजाति बनती थी। रैडक्लिफ़-ब्राउन इस बात पर ध्यान आकृष्ट करता है कि कुछ अन्य क्षेत्रों से विपरीत, ये जनजातियां राजनैतिक रूप से एक नहीं थी, न ही वे किसी सामूहिक कार्य में इकट्ठे होकर शामिल होती थीं। नातेदारी के माध्यम

से ही विभिन्न जनजातियाँ और दल एक दूसरे से जुड़े थे। रैडक्लिफ़-ब्राउन के शब्दों में नातेदारी की सरंचना से विभिन्न व्यक्तियों के बीच युग्मीय (dyadic) संबंध स्थापित होते थे। अपनी माँ के माध्यम से व्यक्ति विशेष का माँ के कुल और उस कुल के सदस्यों से जुड़ाव रहता था। वह कभी भी उनके क्षेत्र में प्रवेश कर दल के साथ रह सकता था। इसके बावजूद कि वह न ही उस कुल का सदस्य था और न ही कभी बन सकता था वह सदा माँ के दल के क्षेत्र में जाने के लिए स्वतंत्र था। इस प्रकार एक कुल विशेष के विभिन्न व्यक्ति दूसरे कुलों से जुड़े रहते थे। इसी तरह हर व्यक्ति पुरुषवाचक अपनी नानी, अपनी पत्नी के कुलों से भी जुड़ा होता था। साथ ही वह उन कुलों से भी संबद्ध था जिनमें उसकी बहनों का विवाह होता था। इस प्रकार नातेदारी की संरचना के अंतर्गत नाना प्रकार के और बहुविधीय सामाजिक संबंध शामिल थे।

### 24.4.3 'मोइटी' (moieties)

इस अनुभाग को धीरे-धीरे और ध्यानपूर्वक पढ़ें, क्योंकि इसमें अनेक अपरिचित और जटिल बातें हैं। पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया जनजातीय समाज दो 'मोइटी' में विभाजित था। समाज जिन दो बड़े समूहों में बाँटा जाता है उन्हें 'मोइटी' कहते हैं। प्रत्येक जनजाति दो में से किसी एक मोइटी में शामिल होती है। आइए, यहाँ हम इन मोइटियों को I और II कहें। दूसरी ओर, समाज का विभाजन दो एकांतरित पीढ़ियों (alternating generations) के संदर्भ में भी होता है। आइए, इन एकांतरित पीढ़ियों को 'क' और 'ख' कहें। यदि आप के पिता 'क' पीढ़ी के सदस्य हैं, तो आपकी 'ख' पीढ़ी होगी और आपके बच्चे 'क' में आएंगे। इस तरह हर कुल में दोनों पीढ़ियों के व्यक्ति पाए जाते हैं।

इस प्रकार, समाज चार भागों (sections) में बाँटा जाता है; ये हैं I क, I ख, II क और II ख। इन भागों के कुछ नामों का उल्लेख रैडक्लिफ़-ब्राउन ने किया है: उदाहरण के लिश्ये 'बनाका', 'बुरोंग', कारिमेरा' और 'पाल्डजेरी'।

जनजातीय नियमों के अनुसार विवाह विपरीत मोइटी और समान पीढ़ी के व्यक्तियों के बीच ही हो सकता है। इस प्रकार I ख के पुरुष का विवाह II ख की महिला से ही हो सकता है। उदाहरण के लिये 'करीरा' जनजाति में 'बनाका' भाग के पुरुष का विवाह 'बुरोंग' स्त्री से ही हो सकता है।

उपरोक्त विवरण को अधिक अच्छी तरह से समझने व आत्मसात करने हेतु सोचिये और करिये 2 को पूरा करें।

**सोचिये और करिये 2**

किन्हीं पाँच शादी-शुदा रिश्तेदारों का चयन करें (जैसे कि माँ, भाई/बहन, मामा का बेटा/बेटी, चाचा का बेटा/बेटी आदि।) इनके जीवन-साथी कैसे चुने गये थे? क्या दोनों परिवारों में पहले से ही कोई नाता रहा है? अपने जाँच-परिणाम लिखें और यदि संभव हो तो अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों के जाँच परिणामों से इनकी तुलना करें।

### 24.4.4 टोटम समूह

सामाजिक संरचना का एक और आधार टोटम है। आपने इस पाठ्यक्रम के खंड 3 और खंड 5 में पढ़ा है कि किस प्रकार टोटम वस्तु (totemic object) को कुल के सारे सदस्यों का पूर्वज माना जाता है। प्रत्येक कुल के अपने पवित्र टोटम-केन्द्र, मिथक, अनुष्ठान आदि होते हैं। टोटम की मान्यता से समूह को एकता और स्थायित्व मिलता है। रैडक्लिफ़-ब्राउन ने यह दिखाया है कि किस प्रकार टोटम से जुड़े समारोहों के दौरान, जैसे कि लड़कों का **दीक्षा समारोह**, कई कुल एक साथ मिलकर काम करते है। इन सहकारी कुलों का एक होना उनके समाज की धार्मिक-संरचना की पहचान है। समारोहों में सहकारिता के फलस्वरूप राजनैतिक एकता भी उत्पन्न होती है,

क्योंकि ये कुल अपने मतभेद भुलाकार आपसी विश्वास और मित्रता के आधार पर ही एक दूसरे को सहयोग देते हैं।

इस विवरण से क्या निष्कर्ष निकलता है? स्पष्ट है कि रैडक्लिफ़-ब्राउन के इस संरचनात्मक विवरण से अनेक महत्वपूर्ण मुद्दे हमारे सामने आ जाते हैं। जैसे, संरचनात्मक विवरण के दौरान सामाजिक समूहों (जैसे कि परिवार, कुल, दल) को समझने के साथ-साथ पारस्परिक सामाजिक संबंधों पर ध्यान देना आवश्यक होता है। ऑस्ट्रेलिया के आदिवासी समाज में नातेदारी व्यवस्था के अपने अध्ययन में रैडक्लिफ़-ब्राउन ने यही किया है। यद्यपि रेडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा विकसित सामाजिक संरचना की अवधारणा की आलोचना हुई है कि यह अवधारणा बहुत सामान्य (general) है। परंतु रैडक्लिफ़-ब्राउन ने अपने अध्ययन में इसका सफल उपयोग किया है। उसने सामाजिक जीवन के रूप (form) पर ध्यान केन्द्रित किया और देखा कि सामाजिक जीवन कैसे संगठित होता है। इस तरह उसने मलिनॉस्की द्वारा किये गये अत्यंत व्यक्तिपरक विवरण को नई दिशा दी और सामाजिक पक्ष की व्याख्या पर अधिक ज़ोर दिया।

यह बात सही है कि इन दोनों विद्वानों में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा थी फिर भी समाजशास्त्र में उनके योगदान एक दूसरे से विपरीत नहीं बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं।

अब समय है बोध प्रश्न 3 को हल करने का।

**बोध प्रश्न 3**

i) निम्नलिखित के सही मेल बनाइए।

| | |
|---|---|
| क) बुरोंग | i) भाषा पर आधारित समूह |
| ख) जनजाति | ii) आर्थिक और राजनैतिक आत्मनिर्भरता |
| ग) कुल | iii) क्षेत्रीय पहचान |
| घ) दल | iv) करीरा जनजाति |

## 24.5 सारांश

इस इकाई का विषय था-- रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा विकसित 'सामाजिक संरचना' की अवधारणा। सबसे पहले हमने उन बौद्धिक प्रभावों की चर्चा की जिन्होंने रैडक्लिफ़-ब्राउन के सामाजिक नृशास्त्र को अपनी विशेष पहचान या अस्मिता प्रदान की। इस संदर्भ में हमने क्षेत्रीय शोधकार्य और दर्खाइमी-परंपरा का उल्लेख किया।

इस इकाई के मुख्य विषय पर चर्चा करते हुए हमने सामाजिक संरचना और सामाजिक संगठन की व्याख्या की। सामाजिक संस्थाओं, जो संरचनात्मक विवरण के महत्वपूर्ण अंग हैं, पर भी ध्यान दिया गया। हमने यह भी देखा कि किस तरह सामाजिक संरचना में एक साथ परिवर्तनशीलता और निरंतरता है। इस संदर्भ में हमने समाज के संरचनात्मक रूप की चर्चा की।

इन विचारों को स्पष्ट करने के लिये हमने रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा प्रस्तुत पश्चिमी ऑस्ट्रेलियाई जनजातियों के संरचनात्मक विवरण पर नजर डाली। क्षेत्र, जनजाति, 'मोइटी', 'टोटम', जैसे संरचनात्मक आधारों की हमने चर्चा की।

## 24.6 शब्दावली

**दीक्षा समारोह** इसके द्वारा समूह के युवकों को विधिवत प्रौढ़ स्तरीय सामाजिक जीवन में शामिल किया जाता है। इस स्तर के विशेष अधिकार

और दायित्व होते हैं। (उदाहरण के लिये हिंदुओं में जनेऊ धारण करना दीक्षित होने का प्रतीक है।)

**सावयविक एकात्मता (organic solidarity)** दर्ख़ाइम द्वारा विकसित अवधारणा। यह एक प्रकार की सामाजिक एकात्मता (social solidarity) है जिसमें वैयक्तिकता और वैयक्तिक सृजनशीलता को पनपने का पूरा अवसर मिलता है।

## 24.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

रैडक्लिफ़-ब्राउन, ए.आर., 1958. सोशल स्ट्रक्चर. एम.एन. श्रीनिवास (सं.) *मेथड इन सोशल एंथ्रोपॉलोजी.* युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस: शिकागो

## 24.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

क) रिवर्स

ख) मलिनॉस्की

ग) केम्ब्रिज

घ) अंडमान

ड.) दर्ख़ाइम

**बोध प्रश्न 2**

i) क) रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार सामाजिक संरचना समाज के व्यक्तियों के अंतर्संबंधों की रचना है। सामाजिक संगठन से उसका मतलब है वे कार्य या गतिविधियाँ जो समूह विशेष करता है और उनको गठित करने का ढंग भी इसी में शामिल है।

ख) सामाजिक संस्थाएं पारस्परिक संबंधों को मानने के लिए समाज द्वारा दिये गये तौर-तरीकों का योग है। किसी संबंध को बनाने में व्यक्तियों की आपसी अपेक्षाएं भी इसमें शामिल होती हैं। उदाहरण के तौर पर स्कूल की कंक्षा में यह अपेक्षित है कि शिक्षक पाठ पढ़ाये और विद्यार्थी ध्यान दें।

ii) क) ग़लत

ख) ग़लत

ग) सही

**बोध प्रश्न 3**

क) iv)

ख) i)

ग) iii)

घ) ii)

# इकाई 25 प्रकार्य की अवधारणा - रैडक्लिफ़-ब्राउन

## इकाई की रूपरेखा


25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 'प्रकार्य' की अवधारणा

- 25.2.1 संरचना और प्रकार्य
- 25.2.2 प्रकार्यात्मक एकता
- 25.2.3 "यूनोमिया" और "डिस्नोमिया"
- 25.2.4 ऐतिहासिक पद्धति तथा प्रकार्यात्मक पद्धति

25.3 रैडक्लिफ़-ब्राउन की संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक व्याख्या के कुछ उदाहरण

- 25.3.1 अण्डमान द्वीप समूह में आनुष्ठानिक विलाप
- 25.3.2 टोटमवाद का अध्ययन
- 25.3.3 आदिम समाजों में नातेदारी
- 25.3.4 आदिम समाजों में मामा की भूमिका

25.4 सारांश

25.5 शब्दावली

25.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

25.7 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 25.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपके लिए संभव होगा

- रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा प्रतिपादित 'प्रकार्य' की अवधारणा की व्याख्या करना
- रैडक्लिफ़-ब्राउन के अध्ययन से उदाहरण लेकर यह स्पष्ट करना कि उसने 'प्रकार्य' की अवधारणा का किस प्रकार उपयोग किया।

## 25.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई (इकाई 24) में आपने रैडक्लिफ़-ब्राउन की 'संरचना' की अवधारणा की जानकारी प्राप्त की। इस इकाई में हमने उसी से जुड़ी एक और अवधारणा - 'प्रकार्य' की अवधारणा का अध्ययन किया है। ये दोनों 'प्रकार्य' और 'संरचना' की अवधारणाएं वास्तव में एक-दूसरे से अभिन्न हैं। 'संरचना' को प्रकार्य के संदर्भ में ही समझा जा सकता है और प्रकार्य को 'संरचना' के दायरे में ही सार्थकता मिल पाती है। ये दोनों अवधारणाएं मिलकर समाजशास्त्रीय अध्ययन के 'संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक' स्वरूप का निर्माण करती हैं। इकाई 22 और 23 में आपने पढ़ा कि मलिनॉस्की ने समाज के अध्ययन के लिए प्रकार्य की अवधारणा का उपयोग किया। इस इकाई में आपको बताया गया है कि रैडक्लिफ़-ब्राउन ने इस अवधारणा को और आगे बढ़ाया। प्रकार्य को सामाजिक संरचना के साथ जोड़कर रैडक्लिफ़-ब्राउन ने वह सैद्धांतिक विकास किया, जिसमें मलिनॉस्की को सफलता नहीं मिली थी। इस इकाई के दो भाग हैं। पहले भाग में रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा प्रतिपादित 'प्रकार्य' की अवधारणा के विभिन्न पहलुओं पर व्यवस्थित ढंग से प्रकाश डाला

जाएगा। दूसरे भाग में हमने रैडक्लिफ़-ब्राउन की कृतियों में दिए गए कुछ उदाहरणों पर विशेष ध्यान दिया है जो प्रकार्य की अवधारणा तथा 'संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक' विधि से सामाजिक विश्लेषण को स्पष्ट करते हैं।

## 25.2 'प्रकार्य' की अवधारणा

जैसा कि इस पाठ्यक्रम में आपने पहले पढ़ा है कि जीव विज्ञान में 'प्रकार्य' की अवधारणा का बहुत महत्व है। हर जीव की शरीर-संरचना जिन अवयवों अथवा अंगों के मेल से बनती है, वे अवयव ही शरीर को जीवित और स्वस्थ बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

एमिल दर्ख़ाइम ने सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन में इस अवधारणा का सफलतापूर्वक प्रयोग किया। उसने प्रकार्य की व्याख्या सामाजिक प्राणी की आवश्यकताओं के अर्थ में की। रैडक्लिफ़-ब्राउन ने अपने अध्ययन में 'आवश्यकताओं' के स्थान पर 'अस्तित्व की अनिवार्य स्थितियों' की शब्दावली का प्रयोग किया है। दूसरे अर्थों में उसका यह मानना है कि मानव समाजों को अपने अस्तित्व के लिए कुछ बुनियादी शर्तों को परिपूर्ण करना होगा। जिस प्रकार जीव-जंतुओं के लिए साँस लेना, खाना, मल-मूत्र त्यागना तथा प्रजनन क्रियाएं अनिवार्य है, उसी प्रकार सामाजिक संगठनों के लिए भी कुछ गतिविधियाँ नितांत आवश्यक है। रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार, इन 'अस्तित्व की अनिवार्य स्थितियों' की पहचान समुचित वैज्ञानिक विधि से की जा सकती है। आइए, अब हम संरचना तथा प्रकार्य के बीच रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा बताए गए 'संबंध' की व्याख्या करें।

### 25.2.1 संरचना और प्रकार्य

जीवों के संदर्भ में संरचना तथा प्रकार्य की परस्पर क्या क्रिया होती है? जिस प्रक्रिया के ज़रिए जीव की संरचना कायम रहती है, उसे 'जीवन' कहते है। जीवन-प्रक्रिया में विभिन्न कोशिकाओं एवं अवयवों की गतिविधियाँ एवं पारस्परिक क्रियाएं शामिल हैं। इसका अर्थ यह है कि जीव-रचना के विभिन्न अवयवों के कार्यकलाप ही उसकी संरचना को बनाए रखने में सहायक होते हैं। यदि हमारे फेफड़े, हृदय अथवा पेट काम करना बंद कर दें तो हमारे शरीर की क्या हालत होगी? शरीर नि:शक्त हो जाएग और हमारी मृत्यु हो जाएगी। रैडक्लिफ़-ब्राउन (1971: 179) का कहना है कि 'हर जीव का जीवित रहना उसकी संरचना का प्रकार्य माना जाता है। इस प्रकार्य तथा उसकी निरंतरता के बल पर ही संरचना की निरंतरता क़ायम रहती है।'

आइए, अब हम जैविक रचना से सामाजिक जीवन की ओर बढ़ें। सामाजिक संरचना की निरंतरता सामाजिक जीवन की प्रक्रिया द्वारा क़ायम रहती है। सामाजिक जीवन में विभिन्न मनुष्यों तथा मनुष्यों के समूहों की गतिविधियाँ एवं पारस्परिक क्रियाएं शामिल होती हैं। दूसरे शब्दों में, सामाजिक जीवन वह विधि है जिससे सामाजिक संरचना का प्रकार्य होता है। किसी भी बार-बार होने वाली सामाजिक गतिविधि का प्रकार्य है - सामाजिक संरचना की निरंतरता को बनाए रखना। उदाहरण के लिए, विवाह निरंतर होने वाली सामाजिक गतिविधि है। विवाह के माध्यम से महिला और पुरुष एक-दूसरे के निकट आते हैं और उनके यौन-संबंधों को सामाजिक मान्यता मिलती है। वैवाहिक संबंध से परिवार में बच्चों का जन्म होता है, जो समाज के नए सदस्य बनते हैं। इस प्रकार, यौन-संबंधों को सामाजिक रूप देने तथा समाज को नए सदस्य प्राप्त करने का वैध उपाय प्रदान करके विवाह द्वारा सामाजिक संरचना को बनाए रखने का प्रकार्य संपन्न होता है। रैडक्लिफ़-ब्राउन (1971: 180) के शब्दों में, "इस प्रकार प्रकार्य की अवधारणा में संरचना की धारणा निहित है, जिसमें इकाइयों के संबंधों का समुच्चय, और अंगभूत अवयवों की गतिविधियों से बनी जीवन प्रक्रिया से अनुरक्षित संरचना की निरंतरता शामिल होती है।"

आइए, अब हम सामाजिक संरचना तथा प्रकार्य के परस्पर संबंधों का और आगे विश्लेषण करें। रैडक्लिफ़-ब्राउन का कहना है कि शरीर संरचना का प्रेक्षण कुछ हद तक प्रकार्य से स्वतंत्र अथवा

पृथक रूप से किया जा सकता है अर्थात् मानव कंकाल का अध्ययन हड्डियों की स्थिति, रूप, आकार आदि के संदर्भ में किया जा सकता है जिसमें उनके प्रकार्य पर कोई ध्यान न दिया जाए। किंतु मानव समाज का अध्ययन करने में 'संरचना' तथा 'प्रकार्य' को पृथक नहीं किया जा सकता।

रैडक्लिफ़-ब्राउन (1971: 181) के अनुसार, "सामाजिक संरचना के कुछ पहलुओं का जैसे कि व्यक्तियों तथा समूहों के भौगोलिक वितरण का प्रत्यक्ष प्रेक्षण किया जा सकता है। किंतु अधिकतर सामाजिक संबंध, जो अपनी समग्रता में संरचना का निर्माण करते हैं (जैसे कि पिता और पुत्र, विक्रेता और ग्राहक तथा राजा और प्रजा का संबंध) उन सामाजिक गतिविधियों में ही देखे जा सकते हैं, जिनमें इनका प्रकार्य होता है"। दूसरे शब्दों में, रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार सामाजिक आकृति विज्ञान (social morphology) या सामाजिक संरचनाओं के प्रकार, उनकी समानताओं, भिन्नताओं तथा वर्गीकरण का अध्ययन और सामाजिक शरीर विज्ञान (social physiology) या सामाजिक संरचनाओं की प्रकार्य-विधि का अध्ययन एक-दूसरे पर आश्रित है।

आइए, अब हम रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा व्यक्त एक महत्वपूर्ण विचार की चर्चा करें, जिसे सामाजिक प्रणाली की 'प्रकार्यात्मक एकता' का नाम दिया गया है। परंतु पहले बोध प्रश्न को पूरा कर लें।

**बोध प्रश्न 1**

i) निम्नलिखित वाक्यों को रिक्त स्थानों की पूर्ति द्वारा पूरा कीजिए।

   क) जबकि दखाईम ने "आवश्यकताओं की बात कही, रैडक्लिफ़-ब्राउन ने अपने अध्ययन में "....." की शब्दावली का प्रयोग किया।

   ख) रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार, हर जीव का जीवित रहना उसकी ..... माना जाता है।

ii) निम्नलिखित कथन सही है अथवा ग़लत, बताइए।

   क) विवाह निजी विषय है, जिसका सामाजिक संरचना से कुछ लेना-देना नहीं है। सही/गलत

   ख) हर जीव की संरचना का प्रेक्षण उसके अंगों के प्रकार्य से पृथक करके नहीं किया जा सकता। सही/गलत

   ग) रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार, सामाजिक आकृति विज्ञान (social morphology) तथा सामाजिक शरीर विज्ञान (social physiology) का अध्ययन एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है। सही/गलत

## 25.2.2 प्रकार्यात्मक एकता

जैसा कि हमने ऊपर पढ़ा है सामाजिक आचरण अथवा गतिविधि के प्रकार्य का अर्थ है संपूर्ण सामाजिक प्रणाली के संचालन में उसका योगदान। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक व्यवस्था में एक प्रकार की एकता है, जिसे रैडक्लिफ़-ब्राउन ने 'प्रकार्यात्मक एकता' का नाम दिया है। इससे उसका अभिप्राय ऐसी स्थिति से है जिसमें सामाजिक व्यवस्था के सभी अंग समरसता (harmony) और अनुकूलता (consistency) के साथ काम करते हैं यानी ऐसे कोई तनाव अथवा टकराव पैदा नहीं होते, जिनका समाधान अथवा नियंत्रण संभव न हो। यदि हम ब्रिटिश-पूर्व भारत का उदाहरण लें तो यह कहा जा सकता है कि सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न अंग, अर्थात् ग्राम संगठन, जाति संयुक्त परिवार आदि समरसता और अनुकूल भाव से चलते थे। वे एक-दूसरे के पूरक थे तथा सामाजिक संरचना के अस्तित्व को बनाए रखने में योग देते थे।

अभी तक हमारा अध्ययन सामाजिक संस्थाओं के सकारात्मक प्रकार्यों, जैसे कि सामाजिक संरचना

के अनुरक्षण (maintenance) में भूमिका, तक सीमित रहा है। परंतु समाज में प्रकार्यों के प्रभाव से संरचना का सदैव अनुरक्षण ही नहीं होता है, कभी-कभी ऐसे प्रकार्य भी होते हैं, जिनके प्रभाव से संरचना में विकार की संभावनाएं पैदा हो जाती है। ऐसे प्रकार्यों की 'दुष्प्रकार्य' (dysfunction) कहा जाता है। आइए, अब हम रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा प्रतिपादित दुष्प्रकार्य की संभावना का विवेचन करें।

### 25.2.3 'यूनोमिया' तथा 'डिस्नोमिया'

रोग विज्ञान (pathology) में आंगिक दुष्प्रकार्य की समस्या का अध्ययन किया जाता है। इसे दूसरे शब्दों में रोग कहा जाता है। जब शरीर का कोई अंग अपेक्षित ढंग से काम नहीं कर पाता तो रोग जन्म लेता है और इस पर ध्यान न दिया जाए तो मृत्यु हो सकती है। शारीरिक संरचना में ऐसे पूर्णत: सही-सही मापदंड निर्धारित किए जा सकते हैं जो रोग की पहचान करने में सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति के शरीर का तापमान $98.4^0$ फ़ार्नहाइट से ऊपर चला जाए तो यह कहा जा सकता है कि उसे ज्वर है। यदि किसी व्यक्ति के पेट में निश्चित मात्रा से अधिक अम्ल हो गया है तो कहा जाएगा कि उसे अल्सर का रोग हो सकता है। कहने का अर्थ है कि कुछ मानदंडों अथवा नियमों के आधार पर रोग का निदान किया जा सकता है। रैडक्लिफ़-ब्राउन का कहना है कि स्वास्थ्य और रोग के इस सिद्धांत को समाज पर लागू करने का प्रयास यूनानियों ने ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में किया था। उन्होंने **यूनोमिया** (सुव्यवस्था/सामाजिक स्वास्थ्य) और **डिस्नोमिया** (अव्यवस्था/सामाजिक अस्वास्थ्य) के बीच अंतर किया था। उन्नीसवीं शताब्दी में दर्ख़ाइम ने प्रतिमानहीनता (anomie) की अवधारणा की सहायता से सामाजिक रोग विज्ञान (social pathology) को समझने की चेष्टा की। रैडक्लिफ़-ब्राउन ने भी 'यूनोमिया' तथा 'डिस्नोमिया' शब्दों को अपनाया है। उसका कहना है कि समाज प्राणियों की भांति रोग अथवा मृत्यु को प्राप्त नहीं होते। वह स्वीकार करता है कि किसी भी समाज के 'स्वास्थ्य' का पता लगाने के लिए कोई निश्चित वस्तुपरक मापदंड अपना पाना संभव नहीं है, क्योंकि मानव समाज का विज्ञान अभी इतना परिपक्व नहीं हुआ है।

रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार, किसी भी समाज में यूनोमिया का अर्थ है उसके अंगों का सामंजस्य से काम करना यानी व्यवस्था की प्रकार्यात्मक एकता (functional unity) अथवा आंतरिक अनुकूलता (inner consistency) दूसरी ओर, डिस्नोमिया प्रकार्यात्मक विलगता अथवा आंतरिक प्रतिरोध की स्थिति है। डिस्नोमिया का शिकार होने वाले समाज का अंत नहीं होता। ऐसा समाज यूनोमिया अथवा सामाजिक स्वास्थ्य की नई स्थिति की ओर बढ़ने के लिए संघर्ष करता है। हो सकता है, इस प्रक्रिया में उसका संरचनात्मक स्वरूप बदल जाए।

रैडक्लिफ़-ब्राउन की राय में ये अवधारणाएं सामाजिक नृशास्त्रियों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है। नृशास्त्रियों को अपने अध्ययन के दौरान ऐसी जनजातियों की जानकारी मिलती है, जिनकी सामाजिक संरचना बाहरी दुनिया, खासकर पश्चिमी सत्ता, के प्रभाव से विच्छिन्न हो चुकी है।

आइए, अब हम यह जानने का प्रयास करें कि समाज, विशेषकर आदिम समाज, के अध्ययन में प्रकार्यात्मक पद्धति के इस्तेमाल के बारे में रैडक्लिफ़-ब्राउन का क्या कहना है। लेकिन, पहले सोचिए और करिए 1 को तो पूरा कर लें जिससे यूनोमिया तथा डिस्नोमिया के विचार आपको स्पष्ट हो जाएं।

**सोचिए और करिए 1**

भारतीय समाज यूनोमिया स्थिति में है अथवा डिस्नोमिया स्थिति में? अपने विचार 500 शब्दों में निबंध के रूप में लिखिए। यदि संभव हो तो अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों के साथ अपने विचारों की तुलना कीजिए।

### 25.2.4 ऐतिहासिक पद्धति तथा प्रकार्यात्मक पद्धति

रैडक्लिफ़-ब्राउन ने सांस्कृतिक विषयों की व्याख्या के लिए दो पद्धतियों की चर्चा की है। ये हैं: ऐतिहासिक पद्धति और प्रकार्यात्मक पद्धति। ऐतिहासिक पद्धति में किसी संस्कृति के ऐतिहासिक विकास पर ध्यान दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, यह पता लगाया जाता है कि वह संस्कृति अपने वर्तमान रूप में कैसे आई?

यह पद्धति उन्हीं समाजों के अध्ययन के लिए काम आ सकती है, जिनके ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध है। आदिम समाजों के मामले में, जिनके बारे में कोई प्रमाण मौजूद नहीं है, यह पद्धति अनुपयुक्त सिद्ध होती है। ऐसी स्थिति में अनुमानों तथा अटकलों पर आधारित इतिहास सामने आ सकता है। इस तरह का प्रयास विशेष उपयोगी नहीं है।

रैडक्लिफ़-ब्राउन का कहना है कि व्याख्या की प्रकार्यात्मक पद्धति इस धारणा पर आधारित है कि संस्कृति एक समन्वित प्रणाली (integrated system) है। संस्कृति के प्रत्येक तत्व का समाज के जीवन में अपना विशिष्ट प्रकार्य होता है। इस पद्धति में यह माना जाता है कि ऐसे कुछ सामान्य नियम हैं, जो सभी मानव समाजों में प्रचलित हैं और इन नियमों की खोज तथा परख तार्किक और वैज्ञानिक पद्धतियों से की जाती है।

ध्यान देने की बात यह है कि रैडक्लिफ़-ब्राउन ने इन दोनों पद्धतियों को समाजशास्त्रीय अध्ययन में एक-दूसरे का पूरक माना है। उसने ऐतिहासिक पद्धति को अस्वीकार नहीं किया परंतु आदिम समाजों के अध्ययन में उसकी अपूर्णता की ओर संकेत किया है।

हमने अभी देखा कि किस तरह रैडक्लिफ़-ब्राउन ने सामाजिक प्रकार्य का समाज के जीवन तथा स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए सामाजिक संरचना के अंगों द्वारा किए गए योगदान के रूप में सैद्धांतीकरण किया है। हमने 'प्रकार्यात्मक एकता', यूनोमिया, डिस्नोमिया और सामाजिक नृशास्त्रीय अध्ययन में प्रकार्यात्मक पद्धति के इस्तेमाल का अध्ययन किया है। आइए, अब हम यह देखें कि रैडक्लिफ़-ब्राउन ने समाज विशेष में स्वयं जाकर अध्ययन करने के लिए प्रकार्य के सिद्धांत का किस प्रकार इस्तेमाल किया है। इस संदर्भ में हमने रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा किए गए शोधकार्य से आपके लिए कुछ उदाहरण चुने हैं। अण्डमान द्वीप समूह के लोगों में आनुष्ठानिक विलाप की प्रथा, टोटमवाद का अध्ययन, आदिम समाजों में नातेदारी तथा मामा और भांजे के संबंधों के उदाहरण अगले भाग में प्रस्तुत किए जा रहे हैं। उदाहरणों के बारे में पढ़ने से पूर्व बोध प्रश्न 2 पूरा कर लें ताकि अभी तक मिली जानकारी को दुहराया जा सकें।

**बोध प्रश्न 2**

i) निम्नलिखित प्रश्नों का तीन वाक्यों में उत्तर दीजिए।

क) रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार, समाज की प्रकार्यात्मक एकता से क्या अभिप्राय है?

.....

.....

.....

ख) रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार, 'डिस्नोमिया' के प्रति समाज की प्रतिक्रिया क्या होती है?

.....

.....

.....

ii) निम्नलिखित कथन सही हैं अथवा ग़लत, उपयुक्त कोष्ठक पर निशान लगाइए।

क) ऐतिहासिक पद्धति आदिम समाजों के अध्ययन के लिए विशेष रूप से उपयोगी है। सही/गलत

ख) प्रकार्यात्मक पद्धति में संस्कृति का अध्ययन अनुमान तथा अटकलों के आधार पर किया जाता है। सही/ग़लत

ग) रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार, ऐतिहासिक तथा प्रकार्यात्मक दोनों पद्धतियाँ एक-दूसरे की पूर्णत: विरोधी हैं। सही/ग़लत

## 25.3 रैडक्लिफ़-ब्राउन के संरचनात्मक प्रकार्यवाद के कुछ उदाहरण

रैडक्लिफ़-ब्राउन केवल प्रकार्यवादी नहीं बल्कि एक संरचनात्मक प्रकार्यवादी था। इससे हमारा अभिप्राय है कि उसका अध्ययन केवल यहीं तक सीमित नहीं था कि रीति-रिवाज और सामाजिक संस्थाएं समाज के अस्तित्व को बनाए रखने की आवश्यकताएं किस तरह परिपूर्ण करती हैं। विभिन्न सामाजिक संबंधों के बीच क्या संबंध है-- इसमें भी उसकी अभिरुचि थी। रैडक्लिफ़-ब्राउन की संरचनात्मक प्रकार्यवाद की पद्धति को कुछ उदाहरणों द्वारा समझा जा सकता है। इन उदाहरणों में यह देखा जा सकता है कि उसने सामाजिक संरचना और प्रकार्य की अवधारणाओं को मिला कर किस तरह समाज का अध्ययन किया है।

रैडक्लिफ़-ब्राउन (1933: 230) ने अपनी पुस्तक *अण्डमान आईलैंडर्स* में लिखा है, "जिस प्रकार हर प्राणी के शरीर का प्रत्येक अंग प्राणी के सामान्य जीवन में कोई न कोई भूमिका निभाता है, उसी प्रकार हर समुदाय के सामाजिक जीवन में प्रत्येक प्रथा और विश्वास की निश्चित भूमिका रहती है।" इसी मत को ध्यान में रखते हुए अण्डमान द्वीप समूह के लोगों में आनुष्ठानिक विलाप की प्रथा के बारे में रैडक्लिफ़-ब्राउन की व्याख्या को समझा जा सकता है। इस व्याख्या को पढ़ने के बाद आपको रैडक्लिफ़-ब्राउन की संरचनात्मक प्रकार्यवाद की अवधारणा अधिक स्पष्ट हो जाएगी।

### 25.3.1 अण्डमान द्वीप समूह में आनुष्ठानिक विलाप

अण्डमान के रीति-रिवाजों में सामाजिक विलाप भी शामिल है। मित्रों अथवा संबंधियों के लंबे समय के उपरांत पुनर्मिलन, मृत्यु, विवाह, नामकरण संस्कार, शांति स्थापना अनुष्ठान जैसे अनेक अवसरों में अण्डमानवासी सामूहिक रूप से रोते हैं।

रैडक्लिफ़-ब्राउन की मान्यता है कि इन सभी समारोहों का उद्देश्य उस भावना की अभिव्यक्ति है, जिससे समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप व्यक्ति के आचरण को मर्यादित करने में मदद मिलती है। इसलिए रैडक्लिफ़-ब्राउन ने इस प्रथा का अर्थ खोजने के महत्व पर बल दिया है। प्रश्न उठता है कि यह काम किस तरह किया जाए? सबसे पहले समाज के विभिन्न सदस्यों की व्याख्याओं पर विचार किया जा सकता है। इसके पश्चात् उन संदर्भों तथा स्थितियों की तुलना की जा सकती है, जिनमें प्रथा ने जन्म लिया और इस तरह उसका वास्तविक महत्व मालूम किया जा सकता है।

रैडक्लिफ़-ब्राउन ने बताया कि आनुष्ठानिक विलाप उन स्थितियों में किया जाता है, जिनमें टूटे हुए अथवा बिगड़े हुए सामाजिक संबंध फिर से जोड़े जाने हैं। उदाहरण के लिए, जब लंबे समय से बिछुडे दोस्त मिलते हैं तो आनुष्ठानिक विलाप इसलिए किया जाता है कि जुदाई समाप्त हो गई है और फिर से संपर्क कायम हो जाएंगे। इसी प्रकार, मौत के समय मृतक की अंतिम बिदाई पर आनुष्ठानिक विलाप किया जाता है क्योंकि उसके बाद जीवन की गाड़ी पहले की तरह चलने लगेगी और सामान्य संबंध तथा गतिविधियां पुन: चालू हो जाएंगी।

इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि आनुष्ठानिक विलाप की सामाजिक जीवन में निश्चित भूमिका अथवा प्रकार्य है। आइए, अब हम यह देखें कि रैडक्लिफ़-ब्राउन ने कैसे आदिम समाजों में टोटमवाद के अध्ययन के महत्व को प्रकार्य की दृष्टि से तो देखा ही और साथ में उसके संरचनात्मक पक्ष को भी हमारे सामने रखा।

प्रकार्यात्मक भूमिका को समझने हेतु सोचिए और करिए 2 को पूरा करें।

**सोचिये और करिए 2**

अपने समुदाय में विवाह के मौक़े पर होने वाले रीति-रिवाजों को देखिए और उनकी सूची बनाइए। इनमें से दो को चुनकर दो पृष्ठों में बताइए कि उनका क्या प्रकार्यात्मक महत्व है? उनकी क्या प्रकार्य भूमिका है? यदि संभव हो तो अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य विद्यार्थियों के उत्तर से अपने उत्तर की तुलना कीजिए।

## 25.2.2 टोटमवाद का अध्ययन

जैसा कि आपने इस पाठ्यक्रम के खंड 3 (इकई 12) और खंड 5 (इकाई 19) में पढ़ा है, टोटमवाद से हमारा अर्थ है कि किस प्रकार मनुष्य अपना संबंध उस प्राकृतिक पदार्थ से जोड़ते हैं, जिसे वे अपना पूर्वज मानते हैं। कूपर (1979: 74) के शब्दों में, जब समाज विशेष में एक समूह किसी प्राकृतिक प्रजाति अथवा पदार्थ से आनुष्ठानिक संबंध स्थापित कर लेता है तो उसे टोटमवाद कहते है। दर्ख़ाइम की मान्यता है कि टोटमवाद एक जीवन शैली है, जिसमें प्रतीकवाद के माध्यम से सामूहिक भावनाओं की अभिव्यक्ति के साथ उसका आनुष्ठीकरण होता है। यह प्रतीकवाद समूह की एकता को बनाए रखने में सहायक होता है। किन्तु दर्ख़ाइम ने इस महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर नहीं दिया कि प्राकृतिक वस्तुओं को ही टोटम के रूप में क्यों चुना जाता है?

रैडक्लिफ़-ब्राउन ने इसी प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया है। ऑस्ट्रेलिया में अपने सर्वेक्षण कार्य के दौरान उसे ज्ञात हुआ कि न्यू साऊथ वेल्स की कुछ जनजातियां बहिर्जातीय विवाह (exogamous) करने वाली दो मोइटी (moieties) में बंटी हुई हैं। इनके नाम दो पक्षियों के नाम पर रखे गए। ये हैं बाज़ तथा कौआ। बाज़ मोइटी के पुरुष कौआ मोइटी की औरतों से तथा कौआ मोइटी के पुरुष बाज़ मोइटी की औरतों से विवाह करते हैं। इसी प्रकार का दो हिस्सों में विभाजन ऑस्ट्रेलिया में अन्यत्र भी देखने में आया है। ऐसे उदाहरणों में भी इन हिस्सों के नाम पक्षियों के अथवा जानवरों के जोड़ों के नाम पर रखे जाते हैं। पक्षियों अथवा पशुओं के ये जोड़े उनकी पौराणिक कथाओं में एक-दूसरे के विरोधी के रूप में चित्रित किए गए हैं। किन्तु इस विरोध के बावजूद उनमें कुछ समानताएं तथा एकरूपताएं भी पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए, बाज़ तथा कौआ दोनों मांस-भक्षी पक्षी हैं। मज़े की बात यह है कि मोइटी के बीच भी भिन्नता तथा प्रतिस्पर्धा के संबंध एक साथ पाए जाते हैं। उनमें भी एक ही समय में पारस्परिक सहयोग एवं विरोध दिखाई देते हैं।

इस प्रकार, रैडक्लिफ़-ब्राउन टोटमवाद को समूह की एकता बनाए रखने वाला प्रकार्यात्मक तत्व तो मानता ही है, परंतु साथ में टोटमवाद को वह एक ऐसा तत्व भी मानता है जिससे विभिन्न समूहों के बीच सामाजिक विरोध की अभिव्यक्ति भी होती है अर्थात् समाज की संरचना का भी पता लगता है। इस तरह वह टोटमवाद को प्रकार्य एवं संरचना दोनों का उदाहरण मानता है। इस उदाहरण में संरचनात्मक प्रकार्यवाद को इतने स्पष्ट रूप से दर्शाकर उसने भविष्य में किए जाने वाले शोधकार्यों के लिए एक आधारशिला तैयार की। अनेक संरचनावादी समाजशास्त्रियों ने सामाजिक प्रथाओं की रोचक व्याख्याएं प्रस्तुत करने के लिए रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा विकसित 'विरोध' की अवधारणा का अपने अध्ययनों में प्रयोग किया। इस संदर्भ में लेवी-स्ट्रॉस के शोधकार्य का उदाहरण पेश किया जा सकता है।

आइए, अब हम रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा की गयी नातेदारी की व्यवस्था के अध्ययनों की समीक्षा करें।

### 25.3.3 आदिम समाजों में नातेदारी

रैडक्लिफ़-ब्राउन नातेदारी व्यवस्था के अध्ययन का विशेषज्ञ माना जाता है। इस क्षेत्र में उसका काम दो कारणों से अत्यंत महत्वपूर्ण है।

क) रैडक्लिफ़-ब्राउन के समय से पहले नातेदारी का अध्ययन मूलत: अनुमानों तथा अटकलबाज़ियों पर आधारित था। जैसे कि आदिम जातियों में संभोग स्वच्छंदता के सिद्धांत से नातेदारी के विकास को समझना (इकाई 22 का भाग 22.2 देखिए)। रैडक्लिफ़-ब्राउन ने समाज विशेष में नातेदारी की प्रणाली को उसकी समसामयिक प्रासंगिकता के संदर्भ में समझने का प्रयास किया।

ख) अधिकांश आदिम समाजों के संगठन का आधार नातेदारी प्रणाली है। अत: नातेदारी के सिद्धांतों को समझना अनिवार्य हो जाता है। इस पक्ष पर विशेष ध्यान देकर रैडक्लिफ़-ब्राउन ने सामाजिक नृशास्त्र के अध्येताओं को एक नया रास्ता दिखाया। यह रास्ता था-- नातेदारी प्रणाली को समसामयिक संदर्भ में समझने की कोशिश का और उसके सिद्धांतों की खोज करने का।

रैडक्लिफ़-ब्राउन विभिन्न नातेदारों के बीच नाते-व्यवहार के रूप का अध्ययन तो करता ही है, साथ में वह नातों को बताने वाली शब्दावली का अध्ययन भी करता है। इसके अतिरिक्त उसने नातेदारी की शब्दावली में वर्गात्मक व्यवस्थाओं का विवेचन भी किया। ऐसी व्यवस्थाओं में परिवार के दायरे से बाहर के नातेदारों को भी परिवार के सदस्यों के साथ वर्गीकृत कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ, मां की बहन यानि मौसी का रिश्ता यद्यपि पैतृक परिवार के दायरे में नहीं आता किन्तु उसे मां के रूप में वगीकृत किया जाता है। रैडक्लिफ़-ब्राउन ने नातेदारी की शब्दावली की वर्गात्मक व्यवस्था के तीन बुनियादी सिद्धांतों की चर्चा की है। ये हैं

क) **सहोदर समूह की एकता**: इसमें भाई तथा बहन एक-दूसरे की प्रति आत्मीयता और एकात्मता (solidarity) महसूस करते हैं और बाहरी लोग उन्हें एक इकाई मानते हैं। मौसी को भी मां कहकर पुकारा जाता है और मामा 'नर माता' (male mother) जैसा होता है।

ख) **वंश परंपरा समूह की एकता**: वंश परम्परा से अभिप्राय है एक महिला अथवा पुरुष पूर्वज से चली आई पीढ़ी दर पीढ़ी के वंशज। सहोदरों की भांति वंश पंरपरा (lineage) के सदस्यों में भी एकात्मता (solidarity) होती है और बाहरी लोग उन्हें एक इकाई मानकर चलते हैं।

ग) **पीढ़ी सिद्धांत**: ऐसा देखा गया है कि सभी नातेदारी व्यवस्थाओं में पहली पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के सदस्यों के बीच कुछ दूरी या तनाव आ जाता है। उदाहरण के लिए, जब मेरी मां मेरा लालन-पालन करती है तो वह मुझ पर अनुशासन और नियंत्रण भी रखेगी। किन्तु रैडक्लिफ़-ब्राउन हमारा ध्यान खींचता है उस पक्ष की ओर जिसमे पहली और तीसरी पीढ़ी के सदस्यों (दादा-नाना और पोता-नाती) के बीच लाड़-प्यार के मधुर संबंध दिखाई देते हैं। अनेक समाजों में यह विश्वास प्रचलित है कि सामाजिक व्यवस्था में दादा का स्थान पोता लेता है। कई समाजों की नातेदारी की शब्दावली में (जैसे हवाई प्रणाली में -- विस्तृत जानकारी के लिए शब्दावली देखिए) नातों के वर्गीकरण के लिए कुछ पीढ़ियों को मिलाने और कुछ को अलग करने के सिद्धांत को माना जाता है।

यद्यपि नातेदारी शब्दावली के अध्ययन से नातों के संचालन के तरीक़ों की बड़ी रोचक जानकारी

मिलती है, किन्तु उसका अध्ययन करने के चक्कर में रैडक्लिफ़-ब्राउन ने नातेदारी व्यवसथा से उपजने वाले सामाजिक संबंधों के अध्ययन की उपेक्षा बिल्कुल नहीं की। ये संबंध एकात्मता तथा विरोध के परिवेश में पनपते हैं। इसकी स्पष्ट झलक परिहास संबंधों में मिलती है, जिसमें रैडक्लिफ़-ब्राउन ने गहरी रुचि दिखाई। 'परिहास संबंध' से हमारा अर्थ क्या है? यह नातेदारों के बीच एक मुक्त भाव वाला मैत्रीपूर्ण संबंध है, जिसमें एक-दूसरे से मज़ाक (प्राय: कामुक भी) करने और मैत्रीपूर्ण छींटा-कशी करने की छूट होती है। जुनोद (1912-13) ने मोज़ाम्बिक की थोंगा जनजाति के अध्ययन की रिपोर्ट में नाना-धेवते के बीच परिहासपूर्ण रिश्ते का उल्लेख किया है।

रैडक्लिफ़-ब्राउन ने इस संबंध पर जुनोद की अनुमानपरक व्याख्या (conjectural explanation) का खंडन करते हुए, अपना ध्यान मामा और भांजे के रिश्ते पर केन्द्रित किया (देखिए रैडक्लिफ़-ब्राउन की *स्ट्रक्चर एण्ड फंक्शन इन प्रिमिटिव सोसाइटीज़*, 1971 और अगला अनुभाग 25.3.3 भी)। उसने परिहासपूर्ण संबंधों की व्याख्या सामाजिक दृष्टि से अलग समझे जाने वाले समूहों के सदस्यों की बीच मैत्रीपूर्ण संबंधेां के संदर्भ में करने पर बल दिया। उसके अनुसार परिहास-सबंधों के माध्यम से उन लोगों के बीच कोमल संबंध बने रहते हैं, जो एक प्रकार से तो परस्पर जुड़े हुए हैं, किन्तु साथ ही, दूसरे प्रकार के संबंधों के कारण पृथक भी है। उदाहरण के लिए, भिन्न वंश-परंपराओं के सदस्य सामाजिक दृष्टि से एक-दूसरे से अलग माने जाते हैं। किन्तु यदि उनके सदस्यों में परस्पर विवाह हो जाएं तो वे एक-दूसरे से जुड़ भी जाते हैं। इस प्रकार, इस तरह जुड़े समूहों के बीच यदि कुछ परिहास संबंध हो तो अलगाव की दूरी कम करने का एक रास्ता मिल जाता है। इसी संदर्भ में हमें एक और रास्ता दिखता है। वह है एक-दूसरे के बीच परिहार (avoidance) या दूरी रखने का, जिसमें परिहास की जगह अत्यधिक सम्मान दिया जाता है। रैडक्लिफ़-ब्राउन के शब्दों में, "एक बार मैंने ऑस्ट्रेलिया के एक आदिम व्यक्ति से पूछा कि तुम अपनी सास से इतनी दूरी क्यों रखते हो तो उसका उत्तर था कि वह दुनिया में मेरी सबसे अच्छी मित्र है, जिसने मुझे मेरी पत्नी दी है। इस तरह दामाद तथा सास-ससुर के बीच आपसी सम्मान का संबंध एक प्रकार की मित्रता का ही द्योतक है। इसकी वजह से विरोधी हितों की टकराहट से पैदा होने वाले संघर्ष टल जाते हैं।"

परिहास तथा परिहार संबंधों को समझने हेतु सोचिए और करिए 3 को पूरा करें।

**सोचिए और करिए 3**

अपने समाज में विद्यमान परिहास (joking) तथा परिहार (avoidance) संबंधों की सूची बनाइए।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि रैडक्लिफ़-ब्राउन ने अनुमानपरक अवधारणाओं का खंडन किया। साथ में उसने नातेदारी के ताने-बानों में सामाजिक संबंधों की संरचना और समाज को जोड़े रखने तथा तनावों को संतुलित करने की उनकी प्रक्रिया पर ध्यान देकर नातेदारी के अध्ययन को नई दिशा प्रदान की। हमने अगले अनुभाग में कुछ आदिम समाजों में मामा और भांजे के संबंधों में रैडक्लिफ़-ब्राउन की विशेष रुचि का संक्षेप में विवेचन किया है।

## 25.3.4 आदिम समाजों में मामा की भूमिका

पिछले अनुभागों में आपने देखा कि रैडक्लिफ़-ब्राउन ने किस प्रकार प्रकार्य की अवधारणा से औपचारिक विलाप की प्रथा तथा टोटमवाद में विश्वास का विश्लेषण किया। यह भी देखा कि उसने नातेदारी की व्यवस्था का अध्ययन करने में सरंचनात्मक प्रकार्यवाद का प्रयोग कैसे किया। आइए, अब हम देखें कि उसने आदिम समाजों में मामा की भूमिका का विवेचन किस प्रकार किया है। यह रैडक्लिफ़-ब्राउन की संरचनात्मक-प्रकार्यवाद की पद्धति का उदाहरण है। पूर्वी अफ़्रीका की बथोंगा (Bathonga) जनजाति, दक्षिण अफ़्रीका की नामा होतेन्तो (Nama Hottentots)

जनजाति और टोंगा के फ्रेंडली द्वीपवासी जैसे अनेक आदिम जनसमूहों में मामा तथा भाँजे में अपेक्षाकृत अधिक हार्दिक तथा स्नेहपूर्ण संबंध पाया जाता है। भाँजा अपने मामा से अपनी बातें आसानी से मनवा लेता है और मामा अपने भाँजे का विशेष ध्यान रखता है तथा उसके बीमार पड़ने अथवा और किसी संकट में फँसने पर बड़े से बड़ा त्याग करता है। वह अपनी जायदाद का हिस्सा, कभी-कभी तो अपनी पत्नियों में से एक पत्नी तक को भाँजे के नाम कर देता है।

रैडक्लिफ़-ब्राउन का कथन है (1971: 17) " यह मानना ग़लत है कि समाज की प्रथाओं को उन अन्य प्रथाओं पर ध्यान दिए बिना समझा जा सकता है, जिनके साथ वे जुड़ी हुई हैं"। उसने मामा और भाँजे के रिश्ते के साथ जुड़े एक अन्य स्नेहपूर्ण संबंध का उल्लेख किया है। उसका कहना है (1971: 17) "अक्सर जहाँ एक ओर भाँजे-मामा का संबंध अनौपचारिक और स्वच्छंद होता है तो दूसरी ओर पिता की बहन यानि बुआ के प्रति विशेष सम्मान तथा आज्ञापालन का दायित्व होता है। बुआ/भतीजे या भतीजी का बड़ा पुनीत संबंध होता है। बुआ के कथन को क़ानून की तरह माना जाता है और उसके प्रति अनादर का भाव गहन अपराध की तरह माना जाता है"।

रैडक्लिफ़-ब्राउन का कहना है कि अधिकतर आदिम समाजों में नातेदारी ही व्यक्तियों के सामाजिक संबंधों का नियमन करती है। इन संबंधों के साथ-साथ आचरण के विभिन्न विन्यास जुड़े हुए हैं और ये निश्चित प्रकार के आचार-व्यवहार के अनुसार चलते हैं। यदि प्रत्येक संबंधी के प्रति अलग-अलग ढंग से आचरण किया जाएगा तो एक-दूसरे से व्यवहार करने की प्रक्रिया अत्यंत जटिल हो जाएगी, विशेषकर उस स्थिति में जब संबंधियों की संख्या काफ़ी अधिक हो। रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार, आदिम समाजों में इस समस्या का निदान करने के लिए वर्गीकरण की प्रणाली का सहारा लिया जाता है। अलग-अलग तरह के रिश्तेदारों की कुछ सीमित श्रेणियाँ बना ली जाती हैं। वर्गीकरण का सर्वाधिक प्रचलित मापदंड 'भाइयों की समानता' का सिद्धांत है। इसका अर्थ है कि एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से जो संबंध है उसके भाई से भी वही संबंध माना जाएगा। यही बात एक स्त्री और उसकी बहन के बारे में भी कही जा सकती है। इस तर्क के आधार पर, पिता का भाई भी पिता-तुल्य माना जाता है और पिता के भाई के बेटे भाइयों की तरह होते हैं। इसी तरह, माँ की बहनें माँ-तुल्य मानी जाती है और उनके बच्चे भाई-बहन की तरह होते हैं।

नाते-रिश्तों की इस व्यवस्था में बुआ और मामा को कहां रखा जाए? जिन तीन समुदायों की ऊपर चर्चा की गई है, वे पितृसत्तात्मक (patriarchal) समुदाय है। उनमें पिता के प्रति सम्मान एवं भय का भाव रहता है तथा माता के प्रति प्रेम और स्नेह का भाव रहता है। इसी प्रवृत्ति के अनुरूप पिता की बहन के प्रति सम्मान और भक्ति का भाव तथा माता के भाई के प्रति स्नेह और प्यार का भाव रहता है। दूसरे शब्दों में बुआ एक प्रकार से 'मादा पिता (female father) तथा मामा 'नर माता' (male mother) है। यह व्याख्या **'भावनाओं का विस्तार'** (extension of sentiments) के सिद्धांत पर आधारित है। इसका भाव यह है कि माता के प्रति व्यक्त की गई भावनाएँ उसके भाई के लिए भी है और यही बात पिता की बहन के लिए कही जा सकती है।

इस प्रकार के वर्गीकरण की व्याख्या करते हुए रैडक्लिफ़-ब्राउन ने कहा है (1971: 25) 'आदिम समाज में व्यक्ति विशेष को उसके समूह के माध्यम से पहचानने की तीव्र प्रवृत्ति होती है। नातेदारी के संदर्भ में इसका परिणाम है कि मूलत: जो आचरण समूह के किसी एक विशिष्ट व्यक्ति के प्रति किया जाता है, वही समूचे समूह के प्रति किया जाने लगता है।'' मौटे तौर पर कहा जा सकता है कि रैडक्लिफ़-ब्राउन ने आदिम समाजों में मामा की भूमिका का अध्ययन आपस में जुड़े संस्थागत संबंधों के संदर्भ में किया है। यही उसकी संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पद्धति का सार है।

बोध प्रश्न 3

i) कॉलम 'क' में उल्लिखित बातों को कॉलम 'ख' में उल्लिखित बातों से मिलाइए:

| क | ख |
|---|---|
| क) आनुष्ठानिक विलाप | i) भाई की समानता |
| ख) बथोंगा | ii) अण्डमान द्वीप समूह |
| ग) बुआ | iii) मादा पिता |
| घ) पिता का भाई | iv) पूर्वी अफ़्रीका |

## 25.4 सारांश

इस इकाई में ए.आर. रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा प्रतिपादित 'प्रकार्य' की अवधारणा का विवेचन किया गया। 'संरचना' और 'प्रकार्य' के बीच संबंध, 'समाज की प्रकार्यात्मक एकता' का रैडक्लिफ़-ब्राउन का विचार तथा 'यूनोमिया' एवं 'डिस्नोमिया' की युगल अवधारणाएँ भी स्पष्ट की गई। आदिम समाज के संदर्भ में विश्लेषण की ''ऐतिहासिक'' तथा 'प्रकार्यात्मक' पद्धतियों की तुलना भी की गई।

प्रकार्य तथा प्रकार्यात्मक पद्धति को उदाहरणों के माध्यम से और अधिक स्पष्ट किया गया। आपने देखा कि रैडक्लिफ़-ब्राउन ने किस प्रकार अण्डमान द्वीपसमूह वासियों में 'औपचारिक विलाप' की प्रथा की व्याख्या कीं। उसने टोटमवाद की अभिव्यक्ति के रूप में संरचनात्मक संबंधों का किस तरह विश्लेषण किया। रैडक्लिफ़-ब्राउन की विशेष रुचि नातेदारी की व्यवस्था के अध्ययन में थी जिसमें उसने प्रकार्यात्मक पद्धति का विशेष रूप से उपयोग किया। इकाई के अंतिम दो अनुभागों में आदिम समाजों में नातेदारी, विशेष रूप से मामा-भाँजे के संबंधों का विश्लेषण किया गया है। इन उदाहरणों से रैडक्लिफ़-ब्राउन की संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पद्धति का सार स्पष्ट हो जाता है।

## 25.5 शब्दावली

**यूनोमिया** समाज की स्वस्थ तथा अच्छी स्थिति

**भावनाओं का विस्तार** मामा और भाँजें के घनिष्ठ संबंधों की रैडक्लिफ़-ब्राउन की व्याख्या के संदर्भ में इसका अर्थ यह है कि जो भावनाएं माँ के लिए होती हैं, उन्हीं का उसके भाई के लिए भी विस्तरण कर दिया जाता है

**डिस्नोमिया** समाज की अस्वस्थ और ख़राब स्थिति

**हवाई प्रणाली** नातेदारी शब्दावली में भेदों के आधार पर नृशास्त्रियों द्वारा विश्व की नातेदारी प्रणालियों को पहचाना जाता है। नातेदारी प्रणालियों के छः प्रकारों में एक हवाली प्रणाली है। इसे 'पीढ़ी व्यवस्था' वाली नातेदारी ही कहा जाता है। इस व्यवस्था में, समान पीढ़ी के सारे व्यक्ति एक समूह में कर दिये जाते हैं जिनमें लिंग के आधार पर अवश्य भेद किया जाता है। उदाहरणतः अपने से ऊपर वाली पीढ़ी में पिता, पिता के भाई, माँ के भाई आदि के लिए एक ही शब्द का प्रयोग होता है। इसी तरह, माँ, माँ की बहन, पिता की बहन के लिए समान शब्द का प्रयोग होता है।

## 25.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

रैडक्लिफ़-ब्राउन, ए.आर., 1971. *स्ट्रक्चर एण्ड फंक्शन इन प्रीमिटिव सोसाइटीज.* कोहन एण्ड वेस्ट लिमिटेड: लंदन

## 25.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) क) अस्तित्व की अनिर्वाय स्थितियाँ

ख) उसकी संरचना का प्रकार्य

ii) क) ग़लत

ख) ग़लत

ग) सही

**बोध प्रश्न 2**

i) क) 'समाज की प्रकार्यात्मक एकता' से रैडक्लिफ़-ब्राउन का अभिप्राय उस स्थिति से है, जिसमें समाज के सभी अंग समरस होकर काम करते हैं जिससे तनाव और टकराव की संभावना कम हो जाती है।

ख) 'डिस्नोमिया' की स्थिति वाला समाज तिरोहित नहीं होता। बल्कि वह फिर से सामाजिक स्वास्थ्य अथवा यूनोमिया की स्थिति को प्राप्त करने का प्रयास करता है। हो सकता है कि इस प्रक्रिया में वह अपना स्वरूप ही बदल लें।

ii) क) ग़लत

ख) ग़लत

ग) ग़लत

**बोध प्रश्न 3**

i)

| क | ख |
|---|---|
| अ) | ii) |
| ब) | iv) |
| स) | iii) |
| द) | i) |

# इकाई 26 मलिनॉस्की और रैडक्लिफ़ - ब्राउन के विचारों की समालोचना

**इकाई की रूपरेखा**


26.0 उद्देश्य

26.1 प्रस्तावना

26.2 प्रकार्यात्मक पद्धति - मिथक अथवा वास्तविकता

26.3 समाज का विज्ञान बनाम समाजशास्त्र

- 26.3.1 सामाजिक नृशास्त्र का विशिष्ट स्थान
- 26.3.2 रैडक्लिफ़-ब्राउन का क्षेत्रीय शोधकार्य
- 26.3.3 रैडक्लिफ़-ब्राउन का सैद्धांतिक योगदान

26.4 मलिनॉस्की और रैडक्लिफ़-ब्राउन के मार्गदर्शन में नृशास्त्रीय शोधकार्य का विकास

- 26.4.1 मलिनॉस्की का प्रभाव
- 26.4.2 रैडक्लिफ़-ब्राउन का प्रभाव

26.5 बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक के बाद नृशास्त्रीय शोध का विकास

26.6 सारांश

26.7 शब्दावली

26.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

26.9 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 26.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपके लिए संभव होगा

- समाजशास्त्रीय सिद्धांत के विकास में मलिनॉस्की और रैडक्लिफ़-ब्राउन की आपेक्षिक स्थितियों को समझना
- नृशास्त्रियों की आने वाली पीढ़ियों पर मलिनॉस्की और रैडक्लिफ़-ब्राउन के प्रभाव को आंकना।

## 26.1 प्रस्तावना

जहां यह इकाई इस खंड की पिछली चार इकाइयों का समालोचनात्मक विवरण है वहीं यह समाजशास्त्रीय विचारधारा में आने वाले आधुनिक विकास की झांकी भी है। समाजशास्त्रीय सिद्धांत में मलिनॉस्की और रैडक्लिफ़-ब्राउन ने जो योगदान किया, उसके बारे में इकाई 22, 23, 24 और 25 में विचार किया गया है। इन इकाइयों को पढ़ते समय आपने दोनों विद्वानों के विचारों के सशक्त और कमज़ोर पक्षों के बारे में अपनी सम्मति बनाई होगी। हमने भी इस इकाई में नृशास्त्रीय सिद्धांतों के इतिहास के संदर्भ में इन दोनों विद्वानों के योगदान का समीक्षात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के मूल्यांकन से सम्पूर्ण समाजशास्त्रीय विचारधारा में उनकी आपेक्षिक स्थिति को समझने में आपको सहायता मिलेगी।

यह तो आपको मालूम ही है कि मानव-सभ्यता के इतिहास में रुचि रखने वाले सामाजिक विचारकों

ने आदिम समाजों के अध्ययन को उपयोगी समझा। उनके विचार में आदिम समाज मानव विकास की आरंभिक अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसके अध्ययन से उन्हें मानव जाति की प्रगति के नियमों को खोजने में मदद मिली। इस विचार श्रृंखला में मलिनॉस्की ने मूलत: एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण को हमारे सामने रखा। उसके अनुसार आदिम संस्कृतियों को समझने के लिए आवश्यक है कि हम देखें कि कोई भी रीति-रिवाज या विश्वास कैसे उस समाज के अनुरक्षण (maintenance) में काम आता है। इसी दृष्टिकोण को सामाजिक नृशास्त्र की प्रकार्यवादी विचारधारा के रूप में जाना जाने लगा। कुछ विचारकों ने, जिनमें रैडक्लिफ़-ब्राउन (1971: 188-9) भी एक है, इसके अस्तित्व पर भी संदेह किया और इसे केवल एक मिथक के रूप में माना लेकिन फ़र्थ (1957) जैसे कुछ अन्य विचारकों ने सामाजिक वास्तविकता के प्रकार्यात्मक दृष्टि से विश्लेषण करने के मलिनॉस्की के प्रयास को समाजशास्त्रीय अध्ययन में एक नया मोड़ माना।

इस इकाई के भाग 26.2 में बताया है कि गहन क्षेत्रीय शोधकार्य की परंपरा इस विचार-पद्धति की विशेषता है, मानव-व्यवहार को समझने की कोशिश में क्षेत्रीय शोधकार्य से हमारे सामने चमत्कारी परिणाम आए। यही कारण है कि प्रकार्यात्मक पद्धति तथा क्षेत्रीय शोधकार्य दोनों को समाजशास्त्र में लाने का श्रेय मलिनॉस्की को दिया जाता है। क्षेत्रीय शोधकर्ता के रूप में मलिनॉस्की का स्थान सबसे आगे है। हाँ, सिद्धांतकार के रूप में वह पूर्णतया असफल रहा है। उसकी सैद्धांतिक असफलताओं की समीक्षा का फल हुआ कि अन्य विचारकों ने मलिनॉस्की के प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण में कुछ नए तत्व जोड़े। भाग 26.3 में हमने मलिनॉस्की के सैद्धांतिक दृष्टिकोण की कमियों पर विचार करने के बाद रैडक्लिफ़-ब्राउन के साहसपूर्ण प्रयासों के बारे में विचार किया है। उसके ये प्रयास हमें आदिम समाजों को, और उससे भी आगे मोटे-मोटे रूप से मानव-समाजों को समझने में मज़बूत सैद्धांतिक आधार प्रदान करते हैं। रैडक्लिफ़-ब्राउन ने समाज के विज्ञान की भाँति समाजशास्त्र को देखा और उसमें सामाजिक नृशास्त्र की विशेष जगह बनाई। साथ में उसने मलिनॉस्की द्वारा चलाई क्षेत्रीय शोधकार्य की परंपरा को भी आगे बढ़ाया।

मलिनॉस्की और रैडक्लिफ़-ब्राउन दोनों के अनेक शिष्यों ने अनेक क्षेत्रीय शोधकार्य किये। दोनों विद्वानों के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन में व्यापक स्तर पर हुए क्षेत्रीय शोधकार्यों से सामाजिक नृशास्त्र की अभूतपूर्व प्रगति हुई। इसकी संक्षिप्त समीक्षा भाग 26.4 में प्रस्तुत की गई है। मानव समाजों के अध्ययन के लिए हमने इस विषय में आगे चलकर विकसित हुए विचारों की ओर भी भाग 26.4 में संकेत किया है। स्पष्ट है कि प्रकार्यवादी विश्लेषण से मानव व्यवहार की वैकल्पिक व्याख्या प्रस्तुत करने में महती सफलता मिली। यही कारण है कि प्रकार्यवादी पद्धति का समाजशास्त्र में अभी भी अद्वितीय स्थान है, भले ही बाद में अन्य नई-नई पद्धतियों का विकास हुआ।

## 26.2 प्रकार्यात्मक पद्धति - मिथक अथवा वास्तविकता

आपको ज्ञात ही है कि मलिनॉस्की ने ट्रॉब्रिएण्ड द्वीपवासियों के नृजातिविवरण को सुव्यवस्थित तर्कसंगत रूप में प्रस्तुत करने के लिए 'प्रकार्य' की अवधारणा का प्रयोग किया। मानव व्यवहार के विविध और जटिल विन्यासों को बोधगम्य बनाने के लिए यह एक सफल पद्धति सिद्ध हुई। इस पूरे प्रयोग ने एक चिंतन-पद्धति का रूप धारण कर लिया, जिसे प्रकार्यवाद के नाम से जाना जाने लगा। इस खंड की प्रस्तावना में पहले ही यह उल्लेख किया जा चुका है, सामाजिक विज्ञानों में प्रकार्यवाद एक जाना-माना सिद्धांत बन गया है ('सिद्धांत' शब्द के लिए देखिए कोष्ठक 26.1)। मलिनॉस्की ने मानव सभ्यता की प्रगति को समझने के पूर्व-स्थापित तरीकों को अस्वीकार कर दिया और उसकी जगह आदिम लोगों के रीति-रिवाजों और विश्वासों आदि का वैकल्पिक तरीक़ा सामने रखा। यह उसका समाजशास्त्रीय शोधकार्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान था।

अवश्य ही मलिनॉस्की की काफ़ी आलोचना की गई क्योंकि उसने अपने क्षेत्रीय शोधकार्य पर आधारित निष्कर्षों को एकदम सीधे सम्पूर्ण मानवीयता की व्याख्या में लागू किया। ऐसा करना

वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार नहीं माना जाता है। दूसरी ओर मलिनॉस्की ने हर रिवाज के उपयोग अथवा प्रकार्य को समझने में जो नेतृत्व प्रदान किया, उसे भी नकारा नहीं जा सकता। एक विश्वास अथवा कार्यकलाप को समझाने के लिए उसे अन्य कार्यकलापों के साथ इसके संबंधों को भी देखना पड़ा। इससे उसे ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों के जीवन के बारे में अपने विवरण को एक सांस्कृतिक समग्रता की तरह समझने में मदद मिली। मलिनॉस्की के समकालीन विकासवादियों और प्रसारवादियों द्वारा मानव-व्यवहार के बारे में दी गई व्याख्या के असंतोष जनक स्तर को देखते हुए यह कोई कम उपलब्धि न थी।

**कोष्ठक 26.1: सिद्धांत**

यह सामाजिक विज्ञानों में सामान्य रूप से प्रयुक्त होने वाला शब्द है। आम तौर पर इससे अमूर्त विचारों (abstract terms) की व्यवस्थित रूपरेखा का पता लगता है। हर विषय विशेष में इस प्रकार के **अमूर्तीकरण (abstractions)** से विचारों के समायोजन में मदद मिलती है। प्राय: मानव-समाज और मानव-संबंधों के बारे मे विचारों की अभिव्यक्ति के लिए 'सामाजिक सिद्धांत' शब्द का प्रयोग होता है। ऐच्छिक पाठ्यक्रम ई.एस.ओ.-13 में हमने इस शब्दावली का प्रयोग मानव-समाज के बारे में अमूर्त अवधारणाओं की रूपरेखा बनाने के लिए किया है। यह मूलत: व्यवस्थित रूप में सुविचारित परस्पर-संबद्ध विचारों का पुंज है, जिसे सामान्य रूप से विद्वत्जनों द्वारा समझा और स्वीकार किया जाता है।

मलिनॉस्की के प्रकार्यवाद के मुख्य अभिलक्षणों को सार रूप में नीचे प्रस्तुत किया गया है।

i) उन्नीसवीं शताब्दी के विद्वानों द्वारा सामाजिक तत्वों के इधर-उधर से एकत्रित विवरण की तुलना में मलिनॉस्की ने अपने क्षेत्रीय शोधकार्य का लेखा-जोखा दिया और अपनी सामग्री को सुव्यवस्थित और स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया।

ii) उसने पहले संस्कृति के केवल एक ही विशिष्ट पक्ष पर ध्यान केन्द्रित किया और धीरे-धीरे पूरी संस्कृति को इस विवरण के घेरे में ले लिया। इससे उसके प्रबंधों (मोनोग्राफ़ों) में विषय-संबंधी एकरूपता स्थापित हुई।

iii) मलिनॉस्की ने व्यक्तियों, उनके व्यवहार, उनकी प्रतिक्रियाओं और उनकी भाव-प्रवण स्थितियों पर विशेष बल देकर आदिम समुदाय के सांस्कृतिक विन्यास को हमारे सामने सजीव रूप में प्रस्तुत किया। व्यक्तिगत रुचियों और सामाजिक व्यवस्था के संबंध में जो उसके विचार थे उन्हीं के कारण वह मनुष्य के सामाजिक व्यवहार को संतुलित रूप से समझ सका। आज मलिनॉस्की के बहुत समय बाद भी नृशास्त्री प्रयोगात्मक मनोविज्ञान और वैयक्तिक आवश्यकताओं में उसकी रुचि के बारे में बताना प्रासंगिक समझते हैं।

iv) मलिनॉस्की ने मनुष्य की प्रकृति के बारे में प्रतिपादित सिद्धांतों की समालोचना करते हुए लोगों की कथनी और करनी के बीच अंतर का उल्लेख किया। इससे वैयक्तिक रुचियों और सामाजिक व्यवस्था के बीच विद्यमान तनाव के प्रति उसकी जागरूकता का पता चलता है। उदाहरण के लिए उसने पुस्तक *एर्गोनॉट्स ऑफ़ द वेस्टर्न पेसिफ़िक* में विनिमय में पारस्परिकता के तत्व की चर्चा की है। विनिमय के सिद्धांत में उसकी अंतर्दृष्टि से प्रेरणा पाकर फ्रांसीसी विद्वान मॉस (Mauss) ने उपहार के विनिमय का विश्लेषण किया। बाद में मॉस ने लेवी स्ट्रॉस को प्रभावित किया। लेवी स्ट्रॉस के अनुसार, पारस्परिक विनिमय का यह सिद्धांत सामाजिक नियंत्रण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है। विनिमयात्मक विश्लेषण (transactional analysis) की जड़ें लेवी स्ट्रॉस के इसी विचार में निहित है।

हमें यह नहीं मालूम कि आपके मन में मलिनॉस्की के प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण के बारे में कुछ प्रश्न है या नहीं। शायद आपको याद होगा कि हमने इकाई 22 के अभ्यास सोचिए और करिए 2 में

आपसे कहा था कि आप मलिनॉस्की के दृष्टिकोण में दिखाई देने वाली कमियों के बारे में बताइए। हमने यहां आपको उनमें से कुछ कमियों के बारे में बताया है।

i) मलिनॉस्की ने संस्कृति के प्रत्येक पक्ष को दूसरे पक्षों के साथ जोड़ा है। प्रश्न यह उठता है कि यदि हर पक्ष प्रत्येक पक्ष के साथ जुड़ा है तो आखिर इस जुड़ने का अंत कहां होगा? यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि संबंधों की संगति (relevance) के इस प्रश्न की ओर मलिनॉस्की का ध्यान ही नहीं गया। उसने अपने अध्ययन में विशिष्ट समस्याओं पर शोधकार्य नहीं किया। वास्तव में उसका पूरा ध्यान एकीकृत सांस्कृतिक समग्रता के निर्माण की ओर ही रहा।

ii) उसके विवरण में विश्लेषणात्मक संगति (analytical relevance) न होने का मतलब यह है कि उसके काम में अमूर्तीकरण (abstraction) का अभाव था। यही कारण है कि उसके काम में सिद्धांत का विकास नहीं हुआ।

iii) मलिनॉस्की का प्रकार्यवाद स्थूल (crude) उपयोगितावाद के समान है, जहां हर चीज़ का अस्तित्व केवल किसी न किसी प्रयोजन के लिए होता है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उसके मन में कभी भी सामाजिक व्यवस्था (social system) का विचार नहीं आया, जो विभिन्न वर्गों के बीच संबंधों पर आश्रित है।

iv) मलिनॉस्की (1935: 479-81) जनजातीय समाजों को प्रभावित करने वाले परिवर्तनों की ओर भी ध्यान नहीं दे पाया। उसने यह स्वीकार किया कि अपनी पुस्तक *कोरल गार्डन्स एंड देअर मैजिक* में ट्रॉब्रिएंड द्वीपवासियों पर यूरोप के प्रभाव को शामिल नहीं किया। मलेनेशिया में अपने द्वारा किए गए क्षेत्रीय शोधकार्य में उसने इसे अपनी "सबसे बड़ी कमी" माना है।

v) क्षेत्रीय शोधकार्य के महत्व पर ज़ोर देने के बावजूद भी मलिनॉस्की विकासवाद और प्रसारवाद को पूरी तरह उखाड़ नहीं पाया। बल्कि उसने इन दोनों परंपराओं में इतना भर और जोड़ दिया कि किसी विशिष्ट समुदाय का सिंक्रानिक विश्लेषण भी किया जाए अर्थात् तात्कालिक दशाओं के संदर्भ में विश्लेषण किया जाए। वास्तव में, मलिनॉस्की (1929) ने लिखा कि "मुझे आज भी विकास की प्रक्रिया और योजनाबद्ध विकास में विश्वास है। मैं यह समझता हूँ कि विकास संबंधी प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें उन तथ्यों और संस्थाओं के अनुभवाश्रित अध्ययन का सहारा लेना होगा, जिनके अतीत के विकास का पुनर्निर्माण करने की हमारी इच्छा है।"

मलिनॉस्की के कार्य का विशिष्ट योगदान एक और ही दिशा में है। यह उसके क्षेत्रीय शोधकार्य की पद्धतियों की खोज से संबंधित है। उसके प्रकार्यवाद के सिद्धांत की खूब आलोचना हुई और आने वाले विद्वानों ने इसमें सुधार किया। परंतु शायद ही कोई अन्य समाजशास्त्री या नृशास्त्री हो जो उसके क्षेत्रीय शोधकार्य की प्रविधियों में सुधार करने का दावा कर सके। उसके द्वारा निर्धारित मानकों का उपयोग आज भी नृशास्त्र संबंधी क्षेत्रीय शोधकार्य की गुणवत्ता को मापने के लिए पैमाने का काम करता है। आज भी यदि नृशास्त्री समाज विशेष का अध्ययन करना चाहे तो उसे वहां के लोगों के बीच कम से कम अठारह महीने रहना होता है। इसके लिए उससे अपेक्षा की जाती है कि वह स्थानीय भाषा सीखे और सामग्री एकत्र करने के लिए स्थानीय भाषा का व्यवहार करे। उन लोगों के बीच रहते हुए और उनके कार्यकलापों में भागीदार बनकर मनोवैज्ञानिक तौर पर उसे अपने आपको "वे" से "हम" में बदलना होता है। दूसरे शब्दों में, उसे उस समुदाय का अंग बन जाना होता है। पाउडरमेकर (1970: 347) जैसे कुछ लोगों का दावा है कि मलिनॉस्की द्वारा बनाए गए मार्गदर्शक आदर्श केवल मिथक हैं, जो मलिनॉस्की के अपने करिश्मों का परिणाम है। ऐसे लोगों का यह कहना है कि मलिनॉस्की इन आदर्शों तक स्वयं भी पूरी तरह से नहीं पहुंच पाया। लेकिन इसके साथ ही हमने यह भी देखा है कि इस मिथक से ही

बहुत से नृशास्त्रियों का मार्गदर्शन हुआ है। अर्थात् चाहे मलिनॉस्की ने स्वयं वे सब बातें पूरी नहीं कीं जिन्हें उसने आदर्श की तरह स्थापित किया परंतु परवर्ती नृशास्त्रियों ने मलिनॉस्की का अनुसरण करने के नाम पर उन आदर्शों को पूरा किया।

मलिनॉस्की के योगदान के मूल्यांकन को सारांश में कहा जा सकता है कि उसने न केवल सामाजिक नृशास्त्र को नई दृष्टि प्रदान की बल्कि सामान्य रूप से मानव व्यवहार की जांच को, किसी सीमा तक व्यक्ति के अपने आचरण को, नई दृष्टि प्रदान की। इसके साथ ही उसने प्रेक्षण और सामग्री एकत्र करने की नई प्रविधियां भी निकालीं। लेकिन उसमें अमूर्तीकरण (abstraction) के स्तर पर विचार करने की योग्यता का अभाव था। वस्तुत: वह अमूर्त सिद्धांतों के बारे में बहुत ही संशयपूर्ण था। नृशास्त्र के शोधकार्य के मार्गदर्शन में सैद्धांतिक अवधारणाओं को विकसित करने का काम मलिनॉस्की के समकालीन विद्वान रैडक्लिफ़-ब्राउन ने पूरा किया। कालांतर में रैडक्लिफ़-ब्राउन ने सामाजिक नृशास्त्र को विज्ञान की शाखा के रूप में स्थापित किया। इस विषय में हमने इकाई के अगले भाग में चर्चा की है।

**बोध प्रश्न 1**

i) क्या मलिनॉस्की एक विकासवादी था? पक्ष अथवा विपक्ष में उत्तर तीन पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

ii) समाज विशेष का व्यवस्थित नृजातीय विवरण (ethnographic account) हमें उस समाज की संस्कृति की और अधिक अच्छी तरह से समझने में किस तरह सहायक होता है? अपना उत्तर तीन पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

## 26.3 समाज का विज्ञान बनाम समाजशास्त्र

रैडक्लिफ़-ब्राउन का सैद्धांतिक दृष्टिकोण उसके *ए नेचुरल साइंस ऑफ़ सोसाइटी* नामक निबंध में दिया गया है। मानव के मनोवैज्ञानिक अध्ययनों की प्रतिक्रिया में उसके सामने तुलनात्मक समाजशास्त्र के रूप की एक अंतर्दृष्टि थी, जिसके अनुसार तुलनात्मक समाजशास्त्र को सारे सामाजिक विज्ञानों में प्रधान विषय माना जाना चाहिए। यहां हमने पहले इस बात की चर्चा की है कि कैसे उसने सामाजिक नृशास्त्र के लिए एक अलग स्थान बनाया। दूसरे भाग में हमने उसके क्षेत्रीय शोधकार्य पर चर्चा की है। तीसरे भाग में रैडक्लिफ़-ब्राउन को एक सिद्धांतवादी के रूप में देखा गया है।

### 26.3.1 सामाजिक नृशास्त्र का विशिष्ट स्थान

जैसा कि आपने इकाई 24 और 25 में पढ़ा है रैडक्लिफ़-ब्राउन की यह पक्की धारणा थी कि सामाजिक नृशास्त्र को अपना स्वरूप विज्ञान के तरीक़े पर ढालना होगा। इसकी पद्धतियां, अवधारणाएं और निष्कर्ष पूर्ण रूप से वैज्ञानिक, निष्पक्ष और जाँच के योग्य होने चाहिए। रैडक्लिफ़-ब्राउन ने सामाजिक नृशास्त्र (social anthropology) और नृजाति शास्त्र (ethnology) के बीच स्पष्ट अंतर किया है। नृजाति शास्त्री अनुमानों पर आधारित इतिहास (conjectural history) की रचना के कार्य में लगे थे, जो उसकी दृष्टि में एकदम अवैज्ञानिक

कार्य था। आपने इकाई 25 में पढ़ा था कि रैडक्लिफ़-ब्राउन ने यह बात ज़ोर देकर कही कि **आदिवासी जनजातियों** के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक विवरण आवश्यक नहीं है। यह कैसे हुआ? प्रश्न उठाने की जगह रैडक्लिफ़-ब्राउन ने दर्खाइम की तरह ये जानना अधिक उचित समझा कि इसका अभिप्राय क्या है? अर्थात् जिस पहलू का अध्ययन किया जाए उसका अर्थ समझ में आना चाहिए। संक्षेप में, रैडक्लिफ़-ब्राउन ने अपने समय में प्रचलित उस प्रवृत्ति के विरुद्ध आवाज़ उठाई जिसमें किसी भी विषय का अध्ययन ऐतिहासिक पृष्ठिभूमि में करने पर ज़ोर दिया जाता था। उसने जिन समाजों का अध्ययन किया, उनके समसामयिक महत्व पर विशेष बल दिया तथा उन समाजों का **एककालिक** (Synchronic) अध्ययन किया।

रैडक्लिफ़-ब्राउन सामाजिक परिवेश की मनोवैज्ञानिक शब्दावली में व्याख्या करने के बारे में भी सतर्क था। मलिनॉस्की के विपरीत उसने मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं से बचना उचित समझा। हमने यह बात बार-बार कही है कि किस प्रकार मलिनॉस्की का प्रकार्यात्मक सिद्धांत जीववैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों की ओर अधिक झुका हुआ था। रैडक्लिफ़-ब्राउन इस जाल से बचा रहा। उसकी दृष्टि में सामाजिक नृशास्त्र का संबंध, मुख्य रूप से, जीव वैज्ञानिक प्रकार्यों के बजाय सामाजिक प्रकार्यों से था क्योंकि समाज में हमारा संबंध व्यक्ति के जैविक अस्तित्व के बजाय सामाजिक अस्तित्व से होता है (देखिए कूपर 1975: 86)।

सामाजिक नृशास्त्र के लिए अलग क्षेत्र निर्धारित करने के प्रयास के बावजूद रैडक्लिफ़-ब्राउन अपने आपको विज्ञान की पृष्ठभूमि से अलग नहीं कर सका। इसका आभास उसकी इस बात से मिलता है कि उसने वैज्ञानिक पद्धतियों, सुदृढ़ अवधारणाओं और समाज के बारे में नियमों को निर्धारित करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है। जैसे-जैसे सामाजिक नृशास्त्र का विकास हुआ, इसके साथ-साथ ही उसके इन विचारों को दकियानूसी समझा जाने लगा।

फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सामाजिक नृशास्त्र में रैडक्लिफ़-ब्राउन का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उसने वस्तुत: भावी पीढ़ी के प्रतिभाशाली विद्वानों के लिए मार्ग प्रशस्त किया (इस विषय में आपको भाग 26.4 में जानकारी दी गई है)। औरों को रास्ता दिखाने के पहले उसने स्वयं भी क्षेत्रीय शोधकार्य किया। आइए, इस बारे में कुछ जानें।

### 26.3.2 रैडक्लिफ़-ब्राउन का क्षेत्रीय शोधकार्य

पिछली इकाइयों को पढ़कर आपने मलिनॉस्की और रैडक्लिफ़ ब्राउन की आज के सामाजिक नृशास्त्र के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका को समझा होगा। अब तक आपको यह ज्ञात हो गया होगा कि जिस क्षेत्रीय शोधकार्य को आजकल व्यवहार में लाया जाता है, उसे इतना महत्वपूर्ण स्थान मलिनॉस्की ने ही दिलाया। रैडक्लिफ़-ब्राउन ने भी पर्याप्त मात्रा में क्षेत्रीय शोधकार्य किया। लेकिन, बहुत से विद्वानों का विचार है कि मलिनॉस्की के प्रचुर और जीवन्त क्षेत्रीय शोधकार्य की तुलना में रैडक्लिफ़-ब्राउन के क्षेत्रीय शोधकार्य की गुणवत्ता नगण्य है।

एडम कूपर (1975: 60) के शब्दों में रैडक्लिफ़-ब्राउन का क्षेत्रीय शोधकार्य "सर्वेक्षण करना और उसमें से नृजाति-विवरण के लिए किसी तरह शोध-सामग्री निकालना था। यह मलिनॉस्की द्वारा ट्रॉब्रिएण्ड द्वीपवासियों के बीच किए गए शोधकार्य की तुलना में कुछ भी नहीं था।" उदाहरण के लिए, अंडमान द्वीप समूह में अपने पहले क्षेत्रीय अध्ययन में रैडक्लिफ़-ब्राउन (1964) ने वहां की स्थानीय भाषा को सीखने का भरसक प्रयत्न किया। लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। अंत में, उसने हिंदुस्तानी भाषा के माध्यम से सामग्री एकत्र करनी शुरू की, लेकिन उस भाषा को वहां के स्थानीय लोग अच्छी तरह से नहीं समझते थे। वह अपने क्षेत्रीय शोधकार्य में तभी कुछ प्रगति कर पाया, जब उसे वहाँ अंग्रेजी-भाषा समझने वाला एक व्यक्ति मिला और वह उसके लिए संपर्क व्यक्ति का काम करने लगा।

अंडमान द्वीपवासियों के बीच उनके रहन-सहन और रीति-रिवाजों में घुल-मिल कर काम करने के बजाय रैडक्लिफ़-ब्राउन ने अपने आपको उनसे अलग रखा और उनसे दूरी बनाए रखी जो उसके क्षेत्रीय शोधकार्य में स्पष्ट झलकती है। आस्ट्रेलिया में 1910 में किए गए क्षेत्रीय शोधकार्य का मुख्य उद्देश्य ऑस्ट्रेलियाई लोगों की जटिल नातेदारी व्यवस्था के बारे में जानकारी एकत्र करना था। इस काम के लिए उसने अपने दल के लोगों के साथ बर्नियर द्वीप में कई महीने बिताए। यह ऐसी जगह थी, जहाँ बंदियों के लिए बने अस्पताल में रतिज रोगग्रस्त आदिवासियों का इलाज होता था।

रैडक्लिफ़-ब्राउन ने अंशत: इन रोगी आदिवासियों की स्मृतियों के आधार पर कुछ विशिष्ट प्रकार के उन आदिवासियों की नातेदारी व्यवस्था का कुछ आधा-अधूरा सा मॉडल तैयार किया। वह उनकी नातदेारी की तात्विक संरचनाओं की खोज में इतना तल्लीन हो गया कि उसने ऑस्ट्रेलिया में उस समय पाई जाने वाली बहुत सी जनजातियों का अध्ययन करने पर कोई ध्यान नहीं दिया।

रैडक्लिफ़-ब्राउन का विशेष ध्यान इस बात पर था कि कैसे उपलब्ध तथ्यों को तर्कसंगत, स्पष्ट, सैद्धांतिक सांचे में ढाला जाए। आश्चर्य नहीं कि इस प्रक्रिया में वह जीते-जागते इंसानों को और उनकी विशिष्ट आवश्यकताओं, विचारों और मूल्यों को भूल गया। इसकी तुलना में मलिनॉस्की ने अपने क्षेत्रीय शोधकार्य में द्वीपवासियों की मानवता, उनके मनोभावों, अभिप्रेरणाओं और उद्देश्यों को स्पष्ट रूप में उभार कर हमारे सामने ला दिया। इस विषय में कहा जा सकता है कि मलिनॉस्की के क्षेत्रीय शोधकार्य में विषय-सामग्री तो पर्याप्त मात्रा में थी, लेकिन उसके विश्लेषण के लिए उसके पास उपयुक्त परिप्रेक्ष्य नहीं था। इसके विपरीत, रैडक्लिफ़-ब्राउन के पास उपयुक्त परिप्रेक्ष्य तो था लेकिन उसके पास विषय-सामग्री का अभाव था। पिछली इकाइयों में यह बात बार-बार ज़ोर देकर कही गई है कि रैडक्लिफ़-ब्राउन ने सामाजिक नृशास्त्र को सैद्धांतिक प्रेरणा और दृढ़ अवधारणाएं प्रदान कीं ताकि क्षेत्रीय शोधकार्य अधिक बारीकी से और सम्बद्ध तरीके से किया जा सके।

## 26.3.3 रैडक्लिफ़-ब्राउन का सैद्धांतिक योगदान

आपने पिछली इकाइयों में पढ़ा कि रैडक्लिफ़-ब्राउन ने सामाजिक संरचना और प्रकार्य की जिन अवधारणाओं को परिष्कृत किया वे क्षेत्रीय शोधकर्ताओं द्वारा एकत्र की हुई सामग्री की व्याख्या करने में सहायक होती है। आइए, हम एक बार फिर इन अवधारणाओं की तुलनात्मक रूप से समीक्षा करें।

### i) सामाजिक संरचना और प्रकार्य

मलिनॉस्की और रैडक्लिफ़-ब्राउन ने अपने पूर्ववर्ती विकासवादियों की धारणा के विपरीत आदिम समाज के लोगों के अस्तित्व को जीवंत हस्तियों के रूप में स्वीकार किया। विकासवादियों की दृष्टि में आदिम समाज विकास की श्रृंखला में मात्र एक कड़ी की भाँति है। परंतु दोनों अर्थात् मलिनॉस्की व रैडक्लिफ़-ब्राउन ने अटकलबाज़ियों और अनुमान पर आधारित इतिहास को अस्वीकार किया और आदिम लोगों के अध्ययन को उन्हीं के संदर्भ में करने को प्राथमिकता दी। ये दोनों ही विचारक सामाजिक नृशास्त्र की प्रकार्यवादी विचारधारा से जुड़े थे। इन्होंने आदिम समाजों से संबंधित सामाजिक संस्थाओं और उनके रीति-रिवाज़ों का अध्ययन उन समाजों के लिए उनकी प्रासंगिकता एवं मूल्यों अथवा प्रकार्यों के संदर्भ में करना चाहा। लेकिन जहाँ मलिनॉस्की की प्रकार्य संबंधी धारणा मुख्य रूप से शरीर-क्रिया और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं पर आधारित थी (देखिए इकाई 22), वहां रैडक्लिफ़-ब्राउन की रुचि सामाजिक प्रकार्यों या समाज के अस्तित्व की दशाओं में थी।

हमने आपको पहले ही बताया है कि रैडक्लिफ़-ब्राउन के विचारों पर (देखिए इकाई 24) दर्खाइम के समाजशास्त्र का स्पष्ट प्रभाव था। रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार धार्मिक अनुष्ठानों, रीति-रिवाजों

तथा उनकी कार्य पद्धतियों और विश्वासों को उस सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में देखा जाना चाहिए जहाँ से वे आए हैं और जिस तरह से उन्होंने उस सामाजिक व्यवस्था को एकीकृत किया और उसे बनाए रखा। पहले की हमारी चर्चा से, जिसमें आदिम समूहों में 'मामा' की भूमिका पर जानकारी दी गई है, यह बात खूब अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है (देखिए इकाई 25)।

**सोचिए और करिए 1**

यदि आपको एक समूह विशेष का नृशास्त्रीय अध्ययन करना हो तो आपका तरीक़ा क्या होगा -- मलिनॉस्की का अनुसरण करना और वैयक्तिक रुचियों और सामाजिक व्यवस्था दोनों का ध्यान रखना या रैडक्लिफ़-ब्राउन के रास्ते पर चलना और केवल समाज के अस्तित्व की दशाओं के बारे में ही सोचना। इस अभ्यास को करने के लिए चुने अपने तरीक़े पर एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए।

लेकिन जहां एक ओर मलिनॉस्की का सैद्धांतिक प्रयास प्रकार्य की धारणा के साथ समाप्त हो जाता है, वहां रैडक्लिफ़-ब्राउन के पास इसके अतिरिक्त सामाजिक संरचना का सुविकसित विचार है। रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार सामाजिक संरचना का अर्थ सामाजिक संबंधों का वह तंत्र है जो समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों द्वारा बनाया जाता है। सामाजिक संरचना के वर्णन से प्रकार्य का विचार और अधिक स्पष्ट और व्याख्यात्मक हो जाता है। इकाई 25 के भाग 25.4 में पहले ही इस बात को अच्छी तरह से स्पष्ट किया जा चुका है।

आइए, अब हम देखें कि मलिनॉस्की और रैडक्लिफ़-ब्राउन, दोनों ने नृशास्त्रियों की भावी पीढ़ियों को किस प्रकार प्रभावित किया। परंतु पहले आप बोध प्रश्न 2 का हल कीजिए।

**बोध प्रश्न 2**

i) रैडक्लिफ़-ब्राउन का क्षेत्रीय शोधकार्य मलिनॉस्की के क्षेत्रीय शोधकार्य से किस तरह भिन्न है? अपने प्रश्न का उत्तर चार पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

ii) मलिनॉस्की और रैडक्लिफ़-ब्राउन के प्रकार्य संबंधी विचारों में अंतर स्पष्ट कीजिए। अपना उत्तर तीन पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

## 26.4 मलिनॉस्की और रैडक्लिफ़-ब्राउन के मार्गदर्शन में नृशास्त्रीय शोधकार्य का विकास

इंग्लैंड में बीसवीं शताब्दी के तीसरे और चौथे दशक में नृशास्त्रीय शोधकार्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। इस अवधि में मलिनॉस्की और रैडक्लिफ़-ब्राउन के नेतृत्व में नृशास्त्रियों ने पहले प्रकार्यवादी और बाद में संरचनात्मक प्रकार्यवादी दृष्टि से समाजशास्त्रीय सामग्री एकत्र की और उनकी एकदम नये ढगं से व्याख्या की। अत्यधिक सावधानी से किए गए इन क्षेत्रीय शोधकार्यो में मलिनॉस्की का स्पष्ट प्रभाव झलकता है। दूसरी ओर अमूर्तीकरण (abstraction) द्वारा सिद्धांत

निर्माण के प्रयासों में हमें रैडक्लिफ़-ब्राउन का पूरा प्रभाव दिखता है। हमने यहां संक्षेप में समाजशास्त्रीय विचारधारा के विकास के सृजनात्मक चरण की मुख्य-मुख्य बातों की जांच की है।

### 26.4.1 मलिनॉस्की का प्रभाव

नृशास्त्र के क्षेत्र में मलिनॉस्की का बहुत ही सशक्त प्रभाव रहा है। संस्कृति और आवश्यकताओं से संबंधित उसका सैद्धांतिक दृष्टिकोण चाहे हमें अब प्रेरणा न दे लेकिन अभी भी शोध पद्धति और दार्शनिक विषयों में उसकी रुचि का मलिनॉस्की की स्मृति में प्रति वर्ष आयोजित भाषणों में बार-बार उल्लेख होता है। उसके विद्यार्थियों पर उसके विचारों का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा जो आपको *मैन एंड कल्चर* नामक पुस्तक में देखने को मिलता है। इस पुस्तक का संपादन उसके विद्यार्थी रेमंड फ़र्थ (1957) ने किया था। इस संकलन में विद्वानों के निबंध शामिल हैं। ये विद्वान हैं : ऑड्रे. आई. रिचर्ड्स, रॉल्फ़ पिडिंगटन, टालकट पार्सन्स, फ़िलिस कैबरी, जे. आर. फ़र्थ, ई. आर. लीच, आई. शपीरा, मेयर फ़ोर्टीस, एस. एफ़. नाडेल, रेमंड फ़र्थ, लूसी मेयर और एच. इयन हॉग्बिन। मलिनॉस्की के छात्रों और सहयोगियों द्वारा लिखे हुए ये निबंध इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि मलिनॉस्की के विचारों का उनके कार्यों और रचनाओं पर कितना प्रभाव था। इस संकलित कृति का अभिप्राय मलिनॉस्की की प्रशंसा करना नहीं था बल्कि इसका उद्देश्य समसामयिक समाजशास्त्र में मलिनॉस्की के योगदान और उसकी प्रासंगिकता का मूल्यांकन करना था।

विशिष्ट समाजों के गहन समाजशास्त्रीय अध्ययनों को पूरा करने के क्षेत्रीय शोधकार्य की तकनीकों को विकसित करने के उसके प्रयास को इवन्स प्रिचर्ड (1951), फ़र्थ (1951) और इससे पूर्व रिचर्ड्स (1939) आदि ने भरपूर सराहा। सन् 1929 से 1940 के बीच लिखे गए **नृजाति विवरण** में मलिनॉस्की के प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण के भरपूर उपयोग की जानकारी मिलती है।

निष्कर्षों को उदाहरण देकर सिद्ध करने की उसकी विधि का बाद के विद्धानों ने भी अनुकरण किया। उदाहरण के लिए, फ़र्थ की पुस्तक *वी द टिकोपिया* (1936) में और शपीरा की पुस्तक *मेरिडलाइफ़ इन एन अफ़्रीकन ट्राइब* (1940) जैसी मोटी किताबों में परिवार संस्था की व्याख्या प्रकार्य के संदर्भ में है। इनमें प्रजनन और समाजीकरण के प्रकार्य सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओं से जोड़े गए हैं। इसी तरह, रिचर्ड्स (1939) ने उत्तरी रोडेशिया की बेम्बा जनजाति के आर्थिक कार्यकलापों का विवरण देते हुए भरण-पोषण अथवा आजीविका प्रदान करने वाले प्रकार्यों का वर्णन किया। इन विशालकाय पुस्तकों में जो लंबे-लंबे विवरण दिए गए हैं, वे वास्तव में मलिनॉस्की पद्धति पर आधारित हैं। इनमें सामाजिक संगठन की धारणा और इससे संबंधित सिद्धांतों की कमी है। आधारभूत वास्तविकताओं के वर्णन से ही समझ लिया जाता है कि सामाजिक संगठन की अवधारणा को बता दिया गया है। दूसरे शब्दों में, इन पुस्तकों में विश्लेषण और वर्णन के बीच का मिश्रित रूप प्रस्तुत होता है जो मलिनॉस्की की विद्वत्ता का सामान्य अभिलक्षण है।

मलिनॉस्की के पास विश्व के विभिन्न भागों से विद्यार्थी आते थे, जिनमें ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और भारत भी शामिल हैं। इनमें हॉग्बिन, हार्ट पिडिंगटन, कैबरी और स्टैनर ऑस्टेलिया व न्यूज़ीलैंड से थे। शायद आप मलिनॉस्की के भारतीय विद्यार्थी के बारे में कुछ जानकारी पाना चाहें। ये थे डी. एन. मजूमदार जिन्होंने टी. सी. हाडॅसन के मार्गदर्शन में सन् 1935 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से पी-एच डी. का शोध प्रबंध प्रस्तुत किया। उन्होंने 1937 में इस काम पर आधारित पुस्तक ए *ट्राइब इन ट्रांजीशन: ए स्टडी इन कल्चर पैटर्नस* प्रकाशित की। मलिनॉस्की के पदचिहों पर चलते हुए इस पुस्तक में प्रकार्यात्मक पद्धति समग्रतावादी (holistic) दृष्टिकोण को अपनाया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि मजूमदार (1947: 1) मलिनॉस्की के संस्कृति के विचार पर लट्टू हो गए जिसे मलिनॉस्की ने जैविक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के प्रति सामाजिक प्रतिक्रिया के रूप में परिभाषित किया था।

### 26.4.2 रैडक्लिफ़-ब्राउन का प्रभाव

रैडक्लिफ़-ब्राउन पहले पहल 1920 में प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्त हुआ, जब उसे दक्षिणी अफ़्रीका के केपटाउन विश्वविद्यालय में नृशास्त्र का विभाग आंरभ करने के लिए आमंत्रित किया गया था। इस प्रकार, उसके जीवन के एक नए दौर की शुरुआत हुई जिसमें उसने अपना जीवन अध्यापन, लेखन, सिद्धांतों के निर्माण और नई पीढ़ी के सामाजिक नृशास्त्रियों को प्रशिक्षित करने में लगाया। केपटाउन में उसने अफ़्रीकी भाषाओं और अफ़्रीकी विषयों के अध्ययन का विद्यापीठ स्थापित किया। सन् 1926 में वह सिडनी में नियुक्ति के लिए ऑस्ट्रेलिया चला गया। वहां उसने पूर्व स्नातक छात्रों के लिए एक पाठयक्रम आंरभ किया। इसके अलावा, उसने वहां आदिम जातियों के बारे में कई अनुसंधान परियोजनाएं शुरू कीं और *ओशिएनिया* नामक एक नई पत्रिका आरंभ की। सन् 1931 में वह शिकागो गया। उस समय अमरीका में नृशास्त्र के क्षेत्र में लोवी (Lowie) और क्रोबर (Kroeber) का दबदबा था। मनोविश्लेषण के विकास ने संस्कृति और व्यक्तित्व के अध्ययनों को बहुत लोकप्रिय बना दिया था। रैडक्लिफ़-ब्राउन ने अपने संरचनात्मक प्रकार्यवादी विचार से अमरीकी नृशास्त्र में एक नई विचार-पद्धति का आरंभ किया। इस समय ऐगन, वार्नर और टैक्स जैसे विद्वानों ने रैडक्लिफ़-ब्राउन की सैद्धांतिक पद्धति का प्रतिनिधित्व किया।

सन् 1937 में रैडक्लिफ़-ब्राउन इंगलैंड लौटा जहाँ ऑक्सफ़र्ड विश्वविद्यालय में सामाजिक नृशास्त्र के नये पीठ पर उसे नियुक्त किया गया। उसके स्वदेश लौट आने के कुछ समय बाद ही मलिनॉस्की इंगलैंड से बाहर चला गया था। अत: रैडक्लिफ़-ब्राउन ने नृशास्त्र के क्षेत्र में मलिनॉस्की के स्थान पर नेतृत्व ग्रहण किया। एडम कूपर (1975: 75) के शब्दों में, "मलिनॉस्की द्वारा प्रतिपादित सार्थकता, स्पष्टता और समाजशास्त्र के विरोध में उठे अभियान की चुनौती का नेता बना -- रैडक्लिफ़-ब्राउन।" मलिनॉस्की की सैद्धांतिक कमज़ोरी ने बहुत से क्षेत्रीय शोध करने वालों को अपेक्षाकृत अधिक सैद्धांतिक व समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता की ओर प्रवृत किया। ऐसा लगता था कि इस आवश्यकता की पूर्ति रैडक्लिफ़-ब्राउन ही कर सकता था।

रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा प्रस्तावित समाजशास्त्रीय व्याख्या की उपयोगिता अभी सिद्ध की जानी थी। धीरे-धीरे सामाजिक नृशास्त्रियों द्वारा समाजशास्त्रीय विश्लेषण के माध्यम से समाजशास्त्रीय संरचनाओं का परीक्षण किया गया। इन परीक्षणों के परिणाम प्रतिभापूर्ण संबंधों (monographs) के रूप में सामने आए। ये प्रबंध थे: बेटसन का *नवेन* (1936), *इवन्स प्रिचर्ड का षविचक्राफ्ट, ओरेकल्स एंड मैजिक अमंग द अंज़ादे* (1973)।

ऑक्सफ़र्ड में रैडक्लिफ़-ब्राउन का सेवाकाल इवन्स-प्रिचर्ड और मेयर फ़ोर्टीज़ की सहभागिता में बहुत अधिक उपयोगी रहा। उन्होंने कई पुस्तकें प्रकाशित करवाई, जो मुख्य रूप से राजनीतिक संरचना और नातेदारी से संबंधित थीं। सन् 1940 में उन्होंने *अफ़्रीकन पोलिटिकल सिस्टम्स* प्रकाशित की। उसी साल इवन्स-प्रिचर्ड ने *दि नुअर* और *दि पोलिटिकल सिस्टम ऑफ़ दि अनुआक* नामक दो मोनोग्राफ निकाले। सन् 1951 में फ़ोर्टीज़ ने तालेंसी समुदाय पर दो पुस्तकें प्रकाशित की।

इन्ही वर्षों में इवन्स-प्रिचर्ड ने क्रमश: सिरेनाइका के सानुसी और नुआर नातेदारी के बारे में अध्ययन प्रकाशित किए। इस तरह, रैडक्लिफ़-ब्राउन ने अपने नेतृत्व में ब्रिटिश सामाजिक नृशास्त्र के क्षेत्र को एक नया सैद्धांतिक ढांचा, मुख्य रूप से राजनीतिक सरंचना और नातेदारी में रुचि के क्षेत्र प्रदान किये। इनका परिणाम उस समय के कुछ सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावशाली अध्ययनों के रूप में सामने आया।

आपको यह जानने में रुचि होगी कि रैडक्लिफ़-ब्राउन का भारत के जाने-माने समाजशास्त्री एम.

एन. श्रीनिवास पर गहरा प्रभाव पड़ा। श्रीनिवास ने डी. फिल. का अपना शोध प्रबंध रैडक्लिफ़-ब्राउन के मार्गदर्शन में ऑक्सफ़र्ड में पूरा किया था। इस शोध प्रबंध का शीर्षक था: रिलीजन एंड सोसाइटी अमंग दि कुर्गस ऑफ़ साउथ इंडिया (1952) अपने इस शोध प्रबंध में उन्होंने धर्म और सामाजिक गठन के बीच संबंधों को देखने का प्रयास किया, जिसके परिणामस्वरूप **संस्कृतिकरण** जैसी महत्वपूर्ण अवधारणा हमारे सामने आई। भारत में गांवों के अध्ययन के आंदोलन का नेतृत्व करते हुए श्रीनिवास ने भारतीय गांव का अध्ययन रैडक्लिफ़-ब्राउन द्वारा विकसित सामाजिक संरचना की अवधारणा के संदर्भ में किया। इस प्रक्रिया में प्रभावशाली जाति जैसी महत्वपूर्ण संकल्पनाओं का विकास हुआ।

**बोध प्रश्न 3**

i) मलिनॉस्की की विद्वत्ता के एक ऐसे अभिलक्षण के बारे में बताइए जो मलिनॉस्की और उसके अनुयायियों में समान था।

.....

ii) कॉलम 'क' में दी हुई मदों का कॉलम 'ख' से मिलान कीजिए।

| क | | ख | |
|---|---|---|---|
| i) | ओशिएनिया | अ) | श्रीनिवास |
| ii) | कुर्ग | आ) | फ़ोर्टीज़ |
| iii) | नावेन | इ) | इवन्स प्रिचर्ड |
| iv) | हालेन्सी | ई) | बेट्सन |
| v) | नुअर | उ) | रैडक्लिफ़-ब्राउन |

## 26.5 बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक के बाद नृशास्त्रीय शोध का विकास

हमने बार-बार यह बताने का प्रयास किया है कि मलिनॉस्की अपने ढंग के सामाजिक नृशास्त्र को विश्लेषणात्मक रूप प्रदान करने में असफल रहा। उसने जिन संकल्पनाओं का इस्तेमाल किया वे पर्याप्त रूप से विकसित नहीं की गई थीं। इसमें संदेह नहीं कि उसने जिन समाजों का अध्ययन किया, उनके बारे में उसने बहुत व्यापक और रोचक सामग्री इकट्ठी की, लेकिन वह उस सामग्री को ठोस सैद्धांतिक सांचे में नहीं ढाल सका। यदि हम इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखें तो रैडक्लिफ़-ब्राउन के प्रयासों को अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। रैडक्लिफ़-ब्राउन ने सामाजिक संरचना और प्रकार्य जैसी संकल्पनाओं के प्रयोग के साथ कुछ हद तक अमूर्तीकरण आंरभ किया। परन्तु वह अपने इस प्रयास में बहुत अधिक सफल नहीं हुआ। उसने सामाजिक संरचना के स्वरूप को केवल मूर्त व्यक्तियों के बीच अन्योन्यक्रियाओं और संबंधों के संदर्भ में देखा। वास्तव में, जिस अमूर्तीकरण स्तर का उसने प्रचार किया, वह उस तक स्वयं भी नहीं पहुँच पाया। जिस कार्य को रैडक्लिफ़-ब्राउन नहीं कर सका, उसे सफलतापूर्वक करने का श्रेय इवन्स-प्रिचर्ड को है।

इवन्स-प्रिचर्ड ने सामाजिक संरचना के विचार को आगे बढ़ाया। उसने कहा कि इसका अभिप्राय मुख्य रूप से परिवार, जनजाति अथवा राष्ट्र जैसे समाज के निरंतर चलने वाले स्थायी वर्ग से होता है। उसने इस बात को समझाया कि सामाजिक नृशास्त्री को सामाजिक संरचना के बारे में निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए व्यक्तियों के बीच होने वाली अन्योन्यक्रियाओं के पर्यवेक्षण पर नहीं रुक जाना चाहिए। इसके लिए अमूर्तीकरण के उच्चतर स्तर पर जाना आवश्यक होगा। *दि नुअर* (1940) नामक अपने अध्ययन में उसने नुअर समाज की खंडीय (segmentary) संरचना को

प्रदर्शित किया, जिसमें विभिन्न वर्ग आपस में सामाजिक संरचना के विभिन्न स्तरों पर कहीं एक हैं और कहीं दूसरे संदर्भ में परस्पर विरोधी हैं। इस तरह से उसने सामाजिक संरचना को समझने के लिए उच्चतर स्तर के अमूर्तीकरण का आश्रय लिया। वस्तुत: इवन्स-प्रिचर्ड ने रैडक्लिफ़-ब्राउन के प्रकार्यवाद को अस्वीकार करके विशुद्ध संरचनावाद को प्रवर्तित किया।

एक और महत्वपूर्ण प्रगति का द्योतक था -- संरचनावादी क्लॉड लेव-स्ट्रॉस का विशद् शोधकार्य। लेवी-स्ट्रॉस ने भाषा-शास्त्र के क्षेत्र से बहुत-कुछ प्रेरणा लेकर सामाजिक संरचना के विचार को अमूर्तीकरण के उच्चतम स्तर तक पहुचाया। उसने संरचना और सामाजिक संबंधों के बीच अंतर किया। साथ में, उसने ऐसे विश्लेषणात्मक मॉडल तैयार किए जिनकी मदद से वास्तविक सामाजिक संबंधों की तुलना की जा सकती है और उनमें अंतर दिखाया जा सकता है। लेवी-स्ट्रॉस द्वारा किए गए नातेदारी और मिथक के अध्ययन आगे चलकर समाजशास्त्र में बहुत प्रभावशाली हुए।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि रैडक्लिफ़-ब्राउन ने मलिनॉस्की के प्रकार्यवाद का परिष्कार करके उसे संरचनात्मक प्रकार्यवाद में बदल दिया। रैडक्लिफ़-ब्राउन के पदचिह्नों पर चलते हुए इवन्स-प्रिचर्ड ने अपने सैद्धांतिक ढांचे में कहीं अधिक बड़े स्तर पर अमूर्तीकरण किया और संरचनावाद का विकास किया। फ्रांस में लेवी-स्ट्रॉस के कार्य ने संरचनावाद को नया आयाम दिया। आज समाजशास्त्र में सरंचनावाद के उत्तरवर्ती विकास की अवस्था आ गई है। बहुत से विद्वानों ने साहित्य, भाषा, गणित जैसे ज्ञान-विज्ञान की बहुत-सी शाखाओं से प्रेरणा ली है। परिणामस्वरूप समाजशास्त्र में रोमांचकारी सैद्धांतिक प्रगति हुई है। इस विषय में विस्तार से चर्चा इस पाठ्यक्रम के दायरे से बाहर है। आशा है कि एम.ए. स्तर के पाठ्यक्रम में इस विकास की चर्चा अवश्य होगी।

रैडक्लिफ़-ब्राउन के बाद हुए विकास के संक्षिप्त विवरण ने शायद आपको यह ख़्याल दिया हो कि प्रकार्यवाद मलिनॉस्की के साथ ही समाप्त हो गया। लेकिन वास्तव में ऐसी बात बिल्कुल नहीं है, क्योंकि प्रकार्यवाद इसके बाद भी फलता-फूलता रहा। आज भी समाज विज्ञान में यह एक महत्वपूर्ण सिद्धांत माना जाता है। इस विषय में अमेरिकन समाजशास्त्री टॉल्कट पार्सन्स और रॉबर्ट के मर्टन का महत्वपूर्ण योगदान है। खंड 7 में इनके योगदान के बारे में चर्चा की जाएगी।

## 26.6 सारांश

इस इकाई में हमने मलिनॉस्की और रैडक्लिफ़-ब्राउन के योगदान का मूल्यांकन किया। पहले हमने मलिनॉस्की की उपलब्धियों की समीक्षा की। उसके बाद हमने कुछ विस्तार से रैडक्लिफ़-ब्राउन की विद्वत्ता की क्षेत्रीय शोधकर्ता और सिद्धांतकार के रूप में चर्चा की। हमने मलिनॉस्की और रैडक्लिफ़-ब्राउन के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मार्गदर्शन में नृवैज्ञानिक अनुसंधान की समीक्षा की। इस इकाई के अंत में समाजशास्त्रीय सिद्धांत में मलिनॉस्की तथा रैडक्लिफ़-ब्राउन के बाद हुए विकास का संक्षिप्त विवरण दिया।

## 26.7 शब्दावली

**अमूर्तीकरण** यह शब्द वस्तु से अलग उसके गुण की अभिव्यक्ति करता है और उसके मूर्त रूप को बताने के बजाय उसके आंतरिक रूप की ओर संकेत करता है। इस इकाई के संदर्भ में इस शब्द का उपयोग मानव-व्यवहार के वर्णनात्मक विवरण की जगह सैद्धांतिक विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए किया गया है।

**आदिवासी जनजातियां** किसी स्थान के मूल निवासी। ऑस्ट्रेलिया के जनजातीय लोगों को सामान्यत: आदिवासी (aborigines) कहा जाता है।

| | |
|---|---|
| नृजाति विवरण (ethnography) | विशेष विषय पर लिखा विवरण |
| संस्कृतिकरण | इस संकल्पना को एम.एन. श्रीनिवास ने प्रवर्तित किया। उसके अनुसार 'संस्कृतिकरण' उस प्रक्रिया को कहते हैं, जिसमें उच्च वर्ग अथवा द्विज जाति के लोगों के अनुकरण में नीची जाति के हिन्दू या जनजाति के लोग या दूसरे समूहों के लोग अपने रीति-रिवाजों, संस्कारों, विचारधारा और रहन-सहन की पद्धति को बदल देते हैं। |
| एककालिक | समसामयिक संदर्भ में, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उल्लेख किए बिना, किये जाने वाले समाज के अध्ययन को एककालिक (synchronic) अध्ययन कहते हैं। |

## 26.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

मेयर, लूसी, 1984. *एन इंट्रोडक्शन टु सोशल एन्थ्रोपोलॉजी.* आक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: नई दिल्ली

## 26.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) मलिनॉस्की को विकासवादी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह अनुभवाश्रित वास्तविकता से अभिभूत था। यद्यपि वह मन से विकासवादी रहा, लेकिन व्यवहार में वह विकासवादियों के मानव-संस्कृति के बारे में अटकलबाज़ियों के प्रति प्रेम से दूर होता जा रहा था।

ii) सामाजिक तत्वों के इधर-उधर से एकत्रित किए गए वर्णन से संस्कृति के विभिन्न पक्षों के बीच व्यवस्थित और तार्किक सह-संबंध ढूंढ पाना संभव नहीं है। व्यवस्थित नृजातिविवरण हमेशा समाज विशेष की सामग्री पर आधारित होता है इसलिए संस्कृति के सभी पक्षों को एकीकृत समग्र रूप में समझ पाना संभव होता है।

**बोध प्रश्न 2**

i) रैडक्लिफ़-ब्राउन ने जिन लोगों का अध्ययन किया, उनसे उसने कुछ अलगाव और दूरी बनाए रखी। इसलिए उसका शोधकार्य कभी-कभी नीरस, निर्जीव और बेकार-सा दिखाई देता है। दूसरी ओर, मलिनॉस्की ने अपने क्षेत्रीय शोधकार्य में समाज विशेष से अपने आपको पूरी तरह सम्बद्ध रखा, इसलिए उसका क्षेत्रीय शोध विवरण सजीव और विस्तृत जानकारी से परिपूर्ण है।

ii) मलिनॉस्की ने प्रकार्य की व्यवस्था मुख्य रूप से शरीर रचना और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के संदर्भ में की है। दूसरी ओर, रैडक्लिफ़-ब्राउन ने समाज की आवश्यकताओं अथवा अस्तित्व के लिए आवश्यक दशाओं की चर्चा की है।

**बोध प्रश्न 3**

i) अत्यधिक सावधानी से तैयार किया हुआ नृजातिविवरण।

ii) i) उ
ii) अ
iii) ई
iv) आ
v) इ

# संदर्भ ग्रंथ सूची


अ)

बखोफन, जे.जे. 1861. *दि मदर-राइट.* प्रिस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस: प्रिस्टन (राल्फ मनहाइम द्वारा 1967 में अनूदित)।

बेटसन, जी. 1958. *नावेन.* स्टैनफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: स्टैनफ़ोर्ड (सर्वप्रथम 1936 में प्रकाशित)।

बीटी, जे.एच.एम. 1964. *अदर कल्चर्स.* रटलज एण्ड केगन पॉल: लंदन,

दर्खाइम, ई.ई. 1947. *दि डिवीजन ऑफ़ लेबर.* फ्री प्रेस: न्यूयार्क

दर्खाइम, ई.ई. 1976. *दि एलीमेंट्र फ़ार्म्स ऑफ़ दि रिलीजस लाइफ़* एलेन एण्ड अनविन: लंदन

इवन्स प्रिचर्ड, ई.ई. 1937. *विचक्राफ़्ट, ओरेकल्स एण्ड मैजिक अमंग दि अजांदे* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: ऑक्सफ़ोर्ड

इवन्स प्रिचर्ड, ई.ई. 1940. *दि नुअर.* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: आक्सफ़ोर्ड

इवन्स प्रिचर्ड, ई.ई. 1940. *दि पोलिटिकल सिस्टम्स ऑफ़ दि अनुआक.* ए.एम.एस. प्रेस: लंदन

इवन्स प्रिचर्ड, ई.ई. 1949. *दि सानुसी ऑफ़ साइरेनाइका.* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: ऑक्सफ़ोर्ड

इवन्स प्रिचर्ड, ई.ई. 1951. *किनशिप एण्ड मैरिज अमंग दि नुअर.* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: ऑक्सफ़ोर्ड

इवन्स प्रिचर्ड, ई.ई. 1954. *सोशल एंथ्रोपोलॉजी.* कोएन एण्ड वेस्ट लिमिटेड: लंदन (सर्वप्रथम 1951 में प्रकाशित)।

इवन्स-प्रिचर्ड ई.ई. और फ़ोर्टिज़ मेयर (संपा.) 1940. *अफ़्रीकन पोलीटिकल सिस्टम्स.* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: ऑक्सफ़ोर्ड

फ़र्गुसन, ए. 1767. *एन एस्से ऑन दि हिस्ट्री ऑफ़ सिविल सोसायटी.* एडिनबरा यूनिवर्सिटी प्रेस: एडिनबरा

फ़र्थ, रेमण्ड 1951. *वी दि टिकोपिया.* जार्ज एलेन एण्ड अनविन: लंदन (सर्वप्रथम 1936 में प्रकाशित)

फ़र्थ, रेमण्ड (संपा.), 1957. *मैन एण्ड कल्चर.* रटलज एण्ड केगन पॉल: लंदन

फोर्टिज़, एम. 1945. *दि डायनामिक्स ऑफ़ क्लैनशिप अमंग दि टालेंसी.* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: ऑक्सफोर्ड

फोर्टिज़, एम. 1949. *दि वेव ऑफ़ किनशिप अमंग दि टालेंसी.* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: ऑक्सफोर्ड

फ्रेजर, जे.जी. 1922. *दि गोल्डन बाउ.* मैक्मिलन: लंदन (सर्वप्रथम 1890 में प्रकाशित)

हॉबहाउस, एल.टी. 1906. *मॉर्ल्स इन इवोल्युशन: ए स्टडी इन कंपेरेटिव एथिक्स.* जानसन प्रेस: लंदन

जैन, आर.के. 1989. *ए.आर.रैडक्लिफ़-ब्राउन एण्ड दि दर्खाइमियन स्कूल ऑफ़ फ्रेंच सोशोलॉजी: मेथोडोलोजिकल रिफ्लैक्शन्स.* स्कूल ऑफ सोशल साइंसेज, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, वर्किंग पेपर सिरीज़, 1989-04,55 पृष्ठ

जुनोद, एच.ए. 1912-13 *दि लाइफ़ ऑफ़ साउथ अफ़्रीकन ट्राइब.* ए.एम.एस. प्रेस: लंदन

कैबरि, फ़िलिस, एम. 1939 *एबोरोजिनल वोमन: सेक्रेड एण्ड प्रोफेन.* जार्ज राटलज एण्ड सन्ज़: लंदन

कूपर, एडम 1975. *एंथ्रोपोलीजिस्ट्स एण्ड एंथ्रोपोलिजी*--दि ब्रिटिश स्कूल. पेनगुइन: लंदन

कूपर एडम 2000. *कल्चर: द ऐन्थ्रोपॉलजिस्ट्स एकाउन्ट.* हार्वर्ड यूनीवर्सिटी प्रैस: केम्ब्रिज, एम ए

कूपर, हिल्डा, 1947. *एन अफ़्रीकन एरीस्टोक्रेसी: रैंक अमंग दि स्वाज़ी.* क्लेरण्डन प्रेस: ऑक्सफोर्ड

लीच, ई.आर. 1957. *दि एपिस्टेमोजोजिकल बैकग्राउंड टू मलिनास्कीज़ इंपिरिसस्म. इन रेमण्ड फ़र्थ* (संपा.) कल्चर: एन इवैल्युशन ऑफ़ दि वर्क ऑफ़ ब्रोनिस्ला मलिनॉस्की. राटलज एण्ड कैगन पॉल: लंदन

लेवी ब्रुल, एल. 1923. *प्रिमिटिव मेंटलिटी* (सर्वप्रथम 1922 में फ्रेंच में प्रकाशित) लिलियन ए. क्लेयर द्वारा अनूदित. ए.एम.एस. प्रेस: लंदन

लेवी ब्रुल, एल. 1926. *हाऊ नेटिव्स थिंक* (सर्वप्रथम 1922 में फ्रेंच में प्रकाशित) लिलियन ए. क्लेयर द्वारा अनूदित. आयेर कम्पनी पब्लिशज़: लंदन

लोवी. आर. एच., 1937. *दि हिस्ट्री ऑफ़ एंथ्रोनोलोजिकल थ्योरी.* फ़र्रार एण्ड राइनहाट: न्यूयॉर्क

मैक्लेनन, जे.एफ. 1865. *प्रिमिटिव मैरिज.* डर्बी बुक्स: लंदन

मेन, एच. 1961. *एंशिएंट लॉ.* एवरीमैन्स लाइब्रेरी: लंदन

मेन, एच. 1871. *विलेज--कम्युनिटीज़ इन दि ईस्ट एण्ड वेस्ट.* डर्बी बुक्स: लंदन

मजूमदार, डी.एन. 1937. *ए ट्राइब इन ट्रांजिशन: ए स्टडी इन कल्चर पैटर्न्स.* लांगमैन ग्रीन्स एण्ड कम्पनी: लंदन

मलिनॉस्की, बी. 1922. *अर्गोनाट्स ऑफ़ दि वेस्टर्न पैसिफ़िक* वेवलैंड प्रेस: लंदन

मलिनॉस्की, बी. 1929. *दि सैक्सुअल लाइफ़ ऑफ़ सेवेज़िस इन नार्थ वेस्ट मलेनेसिया.* हरकोर्ट: न्यूयार्क

मलिनॉस्की, बी. 1931. *कल्चर.* एन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ दि सोशल साइंसिस में 4: 621-46

मलिनॉस्की, बी. 1935. *कोरल गार्डन्स एण्ड देयर मैजिक.* इंडियाना यूनीवर्सिटी प्रेस: ब्लूमिंगटन

मलिनॉस्की, बी. 1944. *ए साइंटिफ़िक थ्योरी ऑफ़ कल्चर.* दि नॉर्थ कैरोलाइना यूनिवर्सिटी प्रेस: चैपेल हिल

मलिनॉस्की, बी. 1948. *मैजिक, साइंस एण्ड रिलीजन एण्ड अदर एक्सेज़.* सोवेनिर प्रेस: लंदन (सर्वप्रथम 1925 में प्रकाशित) मांटेस्क्यू, बैरन, डी, 1748. *दि स्पिरिट ऑफ़ दि लाज़* (1949 में टी. नजेंट द्वारा अनूदित) ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस: ऑक्सफोर्ड

मॉगर्न, एल.एच. 1871. *सिस्टम्स ऑफ़ कसेंग्युनिटी एंड एफ़ीनिटी ऑफ़ दि ह्यूमन फ़ैमिली.* स्मिथसोनियन कंट्रीब्यूशन टू नालेज 17: 4-602

मॉगर्न, एल.एच. 1877. *एन्शिएन्ट सोसाइटी.* यूनीवर्सिटी ऑफ़ अरीज़ोना प्रेस: अरीज़ोना

नाडेल एस.एफ. 1957. *मलिनॉस्की ऑन मैजिक एंड रिलिजन* (जादू तथा धर्म के बारे में मलिनॉस्की के विचार) रेमण्ड फ़र्थ (संपा.) की पुस्तक *मैन एण्ड कल्चर* में. रटलज एण्ड कैगन पॉल: लंदन

नीबोएर, एच.जे. 1990. *स्लेवरी ए.एन इंडस्ट्रियल सिस्टम:* एथनोलोजीकल रिसर्चेज. बी. फ़्रेकलिन: न्यूयार्क

पासन्स, टी., 1957. ***मलिनॉस्की एण्ड द थियरी ऑफ़ सोशल सिस्टम्स*** (मलिनॉस्की तथा सामाजिक प्रणालियों का सिद्धांत) रेमण्ड फ़र्थ (संपा.) की *मैन एण्ड कल्चर* में। रटलज एण्ड केगन पॉल: लंदन

पैरी, डब्ल्यू, जे. 1923. *दि चिल्ड्रन ऑफ़ दि सन.* ए.एम.एस. प्रेस: न्यूयार्क

पिडंगटन., आर. 1957. *मलिनॉस्कीज़ थियरी ऑफ़ नीड्स* (मलिनॉस्की का आवश्यकताओं का सिद्धांत) (रिमण्ड फ़र्थ (सं.पा.) की मैन एण्ड कल्चर में। रटलज़ एण्ड केगन पॉल: लंदन

पोकॉक, डी.एफ, 1961. *सोशल एंथ्रोपोलॉजी.* शीड एण्ड वार्ड: लंदन

रैडक्लिफ़-ब्राउन, ए.आर. 1964. *दि अंडमान आइलैंडर्स.* फ्री प्रेस: ग्लेनको (सर्वप्रथम 1922 में प्रकाशित)

रैडक्लिफ़-ब्राउन, ए.आर. 1971. *स्ट्रक्चर एण्ड फ़ंक्शन इन प्रिमिटिव सोसाइटीज़.* कोएन एण्ड वेस्ट लि.: लंदन (सर्वप्रथम 1952 में प्रकाशित)

रिचडर्स, ए.आई. 1932. *हंगर एण्ड वर्क इन ए सेवेज ट्राइब.* ग्रीनवुड प्रेस: लंदन

रिचडर्स, ए.आई. 1939. *लैंड, लेबर एण्ड डाइट इन नार्दर्न रोडेशिया.* ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस: ऑक्सफोर्ड

रिवर्स, डब्ल्यू. एच.आर. 1906. *दि. टोडाज़,* मैक्मिलन: लंदन

रिवर्स, डब्ल्यू. एच.आर. 1914. *दि हिस्ट्री ऑफ़ दि मलेनेसियन सोसाइटी.* कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस: कैम्ब्रिज

शपीरा, आई. 1950. ***मैरीड लाइफ़ इन अफ़्रीकन ट्राइब.*** **ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस: ऑक्सफोर्ड**

शपीरा, आई. 1943. *नेटिव लैंड टेन्योन इन बेचुआनालैंड प्रोटेक्टोरेट.* वडेल प्रेस: लंदन

स्मिथ, ए. 1776. *ए इंक्वायरी इंटू दि नेंचर एण्ड काज़िस ऑफ़ दि वेल्थ ऑफ नेशन्स.* (पेनगुइन संस्करण 1969 में प्रकाशित) पेनगुइन: लंदन

स्मिथ, डब्ल्यू. रॉबर्टसन 1889. *लेक्चर्स ऑन दि रिलीजन ऑफ़ दि सेमाइटस.* आर्डेन लाइब्रेरी: लंदन

श्रीनिवास, एम.एन. 1952. *रिलीजन एण्ड सोसाइटी अमंग दि कुर्गस ऑफ़ साउथ इंडिया.* ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस: लंदन

श्रीनिवास, एम.एन. (सं.पा.) 1958. *मेथड इन सोशल एंथ्रोपोलॉजी.* यूनीवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस: शिकागो

टाइलर, ई.बी. 1865. *रिसर्चिज़ इंटू दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ मैनकाइंड एण्ड दि डेवलपमेंट ऑफ़ सिविलाइज़ेशन.* फ्रोनिक्स बुक्स: लंदन

टाइलर, ई.बी. 1871. *प्रिमिटिव कल्चर.* मरे: लंदन

टाइलर, ई.बी. 1881. *एंथ्रोपोलॉजी: एन इंट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ़ मैन एण्ड सिविलाइजेशन.* एपलटन: न्यूयार्क

वेस्टरमार्क, ई. 1891. *दि हिस्ट्री ऑफ़ ह्यूमन मैरिज.* जॉनसन रिप्र: लंदन

वेस्टरमार्क, ई. 1906. *दि ओरीजिन एण्ड डेवलपमेंट ऑफ दि मॉरल आइडियाज़.* जॉनसन रिप्र: लंदन

**ब) हिंदी में उपलब्ध पुस्तकें**

ब्रॉनिस्लाव, मलिनॉस्की, *वन्य समाज में अपराध और प्रथा.* मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी: भोपाल

शपीरा, हेरी.एल. *मानव, संस्कृति और समाज.* मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी: भोपाल

मेयर, लूसी, *सामाजिक नृविज्ञान की भूमिका.* बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी: पटना

सत्यदेव, *सामाजिक विज्ञानों की शोध पद्धतियां.* हरियाणा हिंदी ग्रंथ अकादमी: चण्डीगढ़

शल्य, यशदेव, *संस्कृति.* राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी: जयपुर

# NOTES

# इकाई 27 सामाजिक प्रणाली की अवधारणा - पार्सन्स

## इकाई की रूपरेखा


27.0 उद्देश्य

27.1 प्रस्तावना

27.2 टालकट पार्सन्स और सामाजिक प्रणाली की अवधारणा के संबंध में आरंभिक दृष्टिकोण

- 27.2.1 उपयोगितावादी (utilitarian), प्रत्यक्षवादी (positivist), और आदर्शवादी (idealist) दृष्टिकोण
- 27.2.2 पार्सन्स का दृष्टिकोण

27.3 पार्सन्स का क्रियात्मक दृष्टिकोण

27.4 सामाजिक प्रणाली के संगठन की आधारभूत इकाई

- 27.4.1 अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता (motivational orientation)
- 27.4.2 मूल्यपरक उन्मुखता (value orientation)
- 27.4.3 सामाजिक प्रणाली में भूमिकाओं का संस्थागत होना
- 27.4.4 सामाजिक प्रणाली के रूप में सामूहिकता (collectivity)

27.5 विन्यास प्रकारान्तर (pattern variables)

- 27.5.1 भावात्मकता (affectivity) बनाम भावात्मक तटस्थता (affective neutrality)
- 27.5.2 आत्म-उन्मुखता (self-orientation) बनाम सामूहिक उन्मुखता (collective orientation)
- 27.5.3 सार्वभौमवाद (universalism) बनाम विशिष्टतावाद (particularism)
- 27.5.4 प्रदत्त (ascription) बनाम अर्जित (achievement)
- 27.5.5 विनिर्दिष्टता (specificity) बनाम प्रसरणता (diffuseness)

27.6 प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं (functional prerequisites)

- 27.6.1 अनुकूलन (adaptation)
- 27.6.2 लक्ष्य प्राप्ति (goal attainment)
- 27.6.3 एकीकरण (integration)
- 27.6.4 विन्यास अनुरक्षण (latency)

27.7 सामाजिक प्रणाली की संरचना के प्रकार

- 27.7.1 सार्वभौमवादी-अर्जित विन्यास (the universalistic achievement pattern)
- 27.7.2 सार्वभौमवादी-प्रदत्त विन्यास (the universalistic ascriptive pattern)
- 27.7.3 विशिष्टतावादी-अर्जित विन्यास (the particularistic achievement pattern)
- 27.7.4 विशिष्टतावादी-प्रदत्त विन्यास (the particularistic-ascription pattern)

27.8 सारांश

27.9 शब्दावली

27.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

27.11 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 27.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा

- सामाजिक प्रणालियों के अध्ययन के लिए आरंभिक दृष्टिकोणों की व्याख्या करना और उनके बारे में पार्सन्स का दृष्टिकोण बताना

- सामाजिक प्रणाली के अध्ययन में पार्सन्स के क्रियात्मक दृष्टिकोण को समझना
- सामाजिक प्रणाली के संगठन की आधारभूत इकाई के रूप में चर्चा करना
- पार्सन्स द्वारा दिए गए विन्यास प्रकारांतरों (pattern variables) का वर्णन करना
- पार्सन्स द्वारा प्रस्तुत सामाजिक प्रणालियों की प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाओं का व्याख्या करना
- पार्सन्स द्वारा अनुभवाश्रित उदाहरणों के आधार पर दिए गए सामाजिक प्रणालियों की संरचनाओं के प्रकारों का विवेचन करना।

## 27.1 प्रस्तावना

खंड 6 की इकाइयों में आपने रैडक्लिफ़-ब्राउन और मलिनॉस्की के समाज के अध्ययन में प्रकार्यवादी और संरचनात्मक प्रकार्यवादी योगदानों के बारे में पढ़ा था। ये दोनों विचारक सामाजिक नृशास्त्र की ब्रिटिश परंपरा से जुड़े हुए हैं। अपने सिद्धांतों का आधार उन्होंने आदिम समाज के अपने अध्ययनों को बनाया।

इस खंड में हमने अमरीकी समाजशास्त्री टालकट पार्सन्स और रॉबर्ट के.मर्टन के प्रकार्यवाद के विकास में किए गए योगदान का वर्णन किया है। कई दशकों से समाजशास्त्र में और विशेष रूप से अमरीकी समाजशास्त्र में पार्सन्स और बाद में मर्टन का दबदबा रहा है। इस पाठ्यक्रम में छठे और सातवें खंडों के बीच पार्सन्स और मर्टन के प्रकार्यवादी दृष्टिकोणों ने सामान्य कड़ी का काम किया है। ब्रिटिश नृशास्त्रियों के विपरीत, पार्सन्स और मर्टन के अध्ययन का केंद्र, आधुनिक औद्योगिक समाज, उसमें भी विशेष रूप से अमरीकी समाज, रहा है।

प्रकार्यवाद के समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को समझने के लिए टालकट पार्सन्स की सामाजिक प्रणाली की अवधारणा को समझना आवश्यक है। इकाई 27 में इसी विषय पर विचार किया गया है। इसमें पार्सन्स द्वारा विश्लेषित सामाजिक प्रणाली की अवधारणा का वर्णन है। उसकी अवधारणात्मक व्यवस्था में सामाजिक प्रणालियों की संरचना और प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया गया है। पार्सन्स की सामाजिक प्रणाली की अवधारणा का विकास सामान्य समाजशास्त्रीय सिद्धांत के रूप में हुआ, जिसे साधारण आदिम समाजों और जटिल आधुनिक औद्योगिक समाजों पर समान रूप से लागू किया जा सकता है।

इस इकाई का आरंभ सामाजिक प्रणाली के अध्ययन के संबंध में आरंभिक दृष्टिकोणों के बारे में चर्चा से और इनके पार्सन्स द्वारा सुझाए गए इनके विकल्प से होता है। इस विषय में भाग 27.2 में विचार किया गया है । इन दृष्टिकोणों के बारे में पार्सन्स का प्रस्तावित "क्रियात्मक दृष्टिकोण" है जिसे भाग 27.3 में प्रस्तुत किया गया है। पार्सन्स ने अपने सिद्धांत का विकास सामाजिक प्रणाली के संदर्भ में क्रिया के स्तर पर किया है। इससे अगले भाग 27.4 में पार्सन्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक प्रणाली के संगठन की आधारभूत इकाई का वर्णन है। ये इकाई है, भूमिका और भूमिका-अपेक्षाओं का निरूपण। इस भाग में भूमिकाओं के संस्थागत होने पर विचार किया गया है और सामाजिक प्रणाली का "सामूहिकता" के रूप में वर्णन किया गया है।

सामाजिक प्रणाली विशेष में व्यक्ति के सामने क्रिया करने के जो विभिन्न विकल्प उपलब्ध हैं, उनके संबंध में द्विविधा की व्याख्या के लिए पार्सन्स ने विन्यास प्रकारान्तर (pattern variables) की अवधारणा का विकास किया। इन विन्यास प्रकारांतरों के बारे में भाग 27.5 में चर्चा की गई है। पार्सन्स के अनुसार, किसी सामाजिक प्रणाली का अस्तित्व चार पूर्वापेक्षाओं पर निर्भर करता है। इन प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाओं को भाग 27.6 में वर्णित किया गया है। अंत में, भाग 27.7 में पार्सन्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक प्रणाली की संरचना के विभिन्न प्रकारों के बारे में समाज में अनुभव पर आधारित उदाहरणों के साथ विवेचना की गई है।

## 27.2 टालकट पार्सन्स और सामाजिक प्रणाली की अवधारणा के संबंध में आरंभिक दृष्टिकोण

आइए, हम यह समझने की कोशिश करें कि **सामाजिक प्रणाली** का क्या मतलब है। मिचल (1979: 203) के अनुसार सामाजिक प्रणाली उस प्रणाली को कहते हैं "जिसमें व्यक्तियों की बहुलता हो और वे एक-दूसरे के साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अंत:क्रिया के द्वारा एक सीमित परिस्थिति में जुड़े हों। यह संभव है कि उनके बीच क्षेत्रीय सीमाएं हों, लेकिन मुख्य बात यह है कि वे समाजशास्त्रीय दृष्टि से किसी परस्पर संबंद्ध सामान्य लक्ष्य की ओर उन्मुख हों। इस परिभाषा के अनुसार विभिन्न परिवार, राजनैतिक दल नातेदारी समूह और यहां तक कि पूरे समाज जैसे बहुविध संबंधों को सामाजिक प्रणाली कहा जा सकता है। सामाजिक प्रणाली के संबंध में पार्सन्स के विचार और उसका क्रिया-सिद्धांत या क्रियात्मक दृष्टिकोण उसके पूर्ववर्ती विचारकों के दृष्टिकोण पर आधारित है। "द स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन" (1937) नामक महत्वपूर्ण पुस्तक में पार्सन्स ने बहुत से सामाजिक विज्ञानियों के योगदान की समीक्षा की है लेकिन उसने परेटो, दखाईम और मैक्स वेबर के योगदान को विशेष महत्व दिया। इस पुस्तक में पार्सन्स ने इन अधिकांश विचारकों के योगदान के आधारभूत एकता को विशेष महत्व दिया है। इन एकताओं को अलग-अलग करके देखने से पार्सन्स ने यह अनुभव किया कि इससे सामाजिक प्रणाली के सामान्य सिद्धांत की खोज को बढ़ावा मिलेगा। उसकी यह धारणा थी कि जिन पुस्तकों की उसने समीक्षा की है, उनके पीछे क्रियात्मक सिद्धांत का विचार सीधे या छिपे हुए रूप में विद्यमान है। जहां तक मैक्स वेबर का संबंध है, पार्सन्स ने यह पाया कि उसके अध्ययन में क्रियात्मक सिद्धांत का प्रतिपादन स्पष्ट रूप से हुआ है। आइए, अब हम सामाजिक प्रणाली के अध्ययन से संबंधित आरंभिक दृष्टिकोणों का परीक्षण करें।

### 27.2.1 उपयोगितावादी (utilitarian), प्रत्यक्षवादी (positivist), और आदर्शवादी (idealist) दृष्टिकोण

पार्सन्स ने सामाजिक प्रणाली के क्षेत्र में इससे पूर्ववर्ती योगदानों को तीन मुख्य विचारधाराओं में बांटा है, ये हैं - उपयोगितावादी, प्रत्यक्षवादी और आदर्शवादी। **उपयोगितावादी दृष्टिकोण** के समर्थकों ने सामाजिक **क्रिया** (social action) को अत्यधिक व्यक्तिपरक दृष्टि से देखा। उन्होंने उपयोगितावादी तर्कसंगत परिकलन को केवल व्यक्ति के स्तर पर महत्व दिया। इस कारण से वे यह समझने में असमर्थ रहे कि सामाजिक जीवन सामूहिक रूप से समन्वित है, न कि बेतरतीब (देखिए कोष्ठक 27.1 जिसमें उपयोगितावाद के विषय में स्पष्ट किया गया है)।

**कोष्ठक 27.1: उपयोगितावाद**

उपयोगितावाद (utilitarianism) ऐसी विचारधारा है जो इस विचार में विश्वास करती है कि दुख की अपेक्षा सुख बेहतर है। एक यह दार्शनिक दृष्टिकोण है, जिसे सामान्यत: जेरेमी बेन्थम (1748-1832) के नाम के साथ जोड़ा जाता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार ज़्यादातर लोगों के लिए उपयोगिता सबसे अधिक सुखदायक चीज़ है। मानव जाति के सभी लोगों का उचित लक्ष्य उपयोगिता को अधिक बढ़ाना होना चाहिए। बेन्थम का विश्वास था कि अच्छी अभिप्रेरणाएं तभी ठीक हैं, यदि वे एक-दूसरे के हितों के साथ सामंजस्य स्थापित करें।

इस प्रकार, उपयोगितावाद एक नैतिक सिद्धांत है जिसका कुछ सामाजिक निहितार्थ है। इसके अनुसार किसी भी चीज़ की अभिलाषा मात्र अभिलाषा के लिए नहीं होनी चाहिए। इसकी इच्छा सुख पाने के लिए की जाती है जो इससे मिलता है। चूंकि इस दर्शन का मूल मंत्र सुख है अत: इसके लिए वही नैतिक नियम उचित हैं जो ऐसे व्यवहार को प्रोत्साहित करें जो सुखों को बढ़ाएं और दुखों को कम करें।

बेन्थम ने अपने इस दर्शन को अर्थशास्त्र, प्रशासन और कानून के अध्ययन के क्षेत्र में लागू किया। एडम स्मिथ, रिकार्डो और कुछ अन्य प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने बेन्थम के इस दृष्टिकोण का समर्थन किया।

प्रारंभिक ब्रिटिश समाजशास्त्र भी इस दर्शन से प्रभावित हुआ था। इनमें से एक समाजशास्त्री जो इस दर्शन से सबसे अधिक प्रभावित हुआ, उसका नाम हर्बर्ट स्पेंसर था।

दूसरी ओर, प्रत्यक्षवादियों का विश्वास है कि सामाजिक पात्रों को अपनी सामाजिक स्थिति का पूर्ण ज्ञान है। इससे पात्रों में किसी प्रकार की त्रुटि की संभावना नहीं रह जाती (देखिए कोष्ठक 27.2 जिसमें प्रत्यक्षवाद पर संक्षिप्त टिप्पणी दी गई है)।

**कोष्ठक 27.2: प्रत्यक्षवाद**

सबसे पहले "प्रत्यक्षवाद"(positivism) शब्द का प्रयोग ऑगस्ट कॉम्ट (1790-1857) ने किया था। आपने इस 'प्रत्यक्ष दर्शन' के बारे में इस पाठ्यक्रम के पहले खंड में पढ़ा था।

"तार्किक प्रत्यक्षवादियों" या "तार्किक अनुभववादियों" के नाम से जो दार्शनिक जाने जाते हैं उन दार्शनिकों की विचारधाराओं के अलग सिद्धांतों के लिए भी प्रत्यक्षवाद शब्द का प्रयोग हुआ है। उनका इस मुख्य विचार में विश्वास था कि किसी विवरण या कथन का अभिप्राय उसकी जांच की पद्धति में निहित है। इसलिए जिस कथन की जांच करना संभव न हो, वह निरर्थक हो जाता है

पार्सन्स के मत में वही सामाजिक सिद्धांत प्रत्यक्षवादी होता है जिसके अनुसार व्यक्ति विशेष के दृष्टिकोण पर ध्यान दिए बिना मानव क्रिया के बारे में समुचित रूप से बताया जा सके। उसके विचार में प्रत्यक्षवादी सिद्धांत का एक बहुत अच्छा उदाहरण उपयोगितावाद है।

आदर्शवादियों (idealists) का यह विचार है कि सामाजिक क्रिया राष्ट्र या देश जैसी समाजवादी प्रवृत्ति और विचारों द्वारा कार्यान्वित होती है परिणामस्वरूप वे रोज़मर्रा की वास्तविक बाधाओं की ओर बहुत कम ध्यान देते हैं क्योंकि ये विचारों के स्वतंत्र रूप से कार्यान्वयन के मार्ग में रुकावट है। आइए आदर्शवाद की अवधारणा को समझ लें।

आदर्शवादी विचारधारा को मानने वालों का यह विश्वास है कि विश्व के निर्माण में मन की महत्वपूर्ण भूमिका है क्योंकि यह विभिन्न प्रकार के अनुभवों का भंडार है। दर्शन के इतिहास में आदर्शवाद के विभिन्न प्रकार से अनुप्रयोगों को देखा जा सकता है। इसके मूलभूत रूप को सामान्यत: अस्वीकार कर दिया गया है क्योंकि यह अहंवाद (solipsism) के समान है। अहंवाद का मतलब यह है कि जो वस्तु जगत में है, वह व्यक्तियों में अपने मन के क्रियाकलापों के सिवाय कुछ नहीं है यानी वास्तव में हमारे "अंह" के अलावा और किसी चीज़ का अस्तित्व नहीं है।

लेकिन सामान्यत: आदर्शवादी बाह्य जगत् यानी प्राकृतिक जगत् के अस्तित्व को पूरी तरह से स्वीकार करते हैं। उनका यह दावा नहीं है कि इस जगत् को मात्र विचार प्रक्रिया में रूपांतरित किया जा सकता है। उनके विचार में मन क्रियाशील है और वह कानून, धर्म, कला और गणित आदि को उत्पन्न करने और धारण करने में समर्थ है जिनका अस्तित्व अन्यथा संभव नहीं था।

अठारहवीं शताब्दी के आयरिश दार्शनिक जॉर्ज बर्कले को इस दार्शनिक विचारधारा से बहुत निकट से संबंद्ध माना जाता है। उसकी यह मान्यता थी कि प्रत्येक वस्तु के जिन पक्षों से हम परिचित हैं उनको वस्तुत: मन में विद्यमान विचारों में रूपांतरित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, हमारे मन में कुर्सी या गाय का विचार पहले से ही विद्यमान होता है इसीलिए जब कुर्सी या गाय को देखा जाता हैं तो उन्हें पहचान लिया जाता है। इस प्रकार प्रेक्षक (कुर्सी या गाय जैसी) बाहरी

वस्तुओं को अस्तित्व में नहीं लाता। बर्कले का यह विचार था कि वास्तव में, मनुष्य के मन में बाहरी वस्तुओं के सही विचार सीधे ईश्वर द्वारा प्रदत्त हैं।

**कोष्ठक 27.3: आदर्शवाद और उसकी पृष्ठभूमि**

अठारहवीं शताब्दी के जर्मन दार्शनिक इमानुएल कंत (Kant) ने आदर्शवादी विचारधारा को और अधिक सूक्ष्मता से देखा। उससे ज्ञान की संभावित सीमाओं के संबंध में आलोचनात्मक अन्वेषण के द्वारा ऐसा किया। कंत का विश्वास था कि इन बाह्य जगत् की वस्तुओं को स्वयं मानने का कोई तरीक़ा नहीं है, वस्तुत: उन्हें उसी रूप में जाना जा सकता है, जैसी वे हमें प्रतीत होती हैं। उसका यह विचार था कि विज्ञान के सभी आधारभमूत सिद्धांत बाह्य जगत् से उद्भूत होने के बजाय अनिवार्य रूप से मानसिक विन्यास में निहित है।

अंतत:, उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिक चिंतन से जिस जर्मन दार्शनिक का नाम अत्यधिक निकट से जुड़ा है, वह है जी. डब्ल्यू. एफ. हीगल। हीगल का विश्वास था कि मानव आत्मा (संस्कृति, विज्ञान, धर्म और राज्य) की सबसे महान उपलब्धियों को संवादात्मक क्रियाकलापों के द्वारा समझा और पोषित किया जा सकता है। संवादात्मक क्रियाकलाप से अभिप्राय है किसी विषय पर उन्मुक्त मननशील बुद्धि द्वारा वाद-प्रतिवाद और संवाद द्वारा विचार-विमर्श करना। यह मन में हुई स्वाभाविक रूप से निर्धारित प्रक्रियाओं का परिणाम नहीं है(फंक एंड वैगनल, न्यू एनसाइक्लोपीडिया 1971-83: 370-371)। वास्तव में हीगल के दर्शन ने, विशेष रूप से उसकी संवादात्मक विचारधारा ने कार्ल मार्क्स को अपनी संवादात्मक ऐतिहासिक भौतिकवादी विचारधारा विकसित करने में सहायता की।

अपनी पुस्तक *स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन* मे पार्सन्स ने इस वर्गीकरण का उपयोग दखाईम, परेटो और वेबर जैसे प्रमुख विचारकों के योगदान की समीक्षा करने के लिए किया। उनकी कृतियों में विभिन्न विचारधाराओं के चर्चित विभिन्न तत्वों की ओर उसने बहुत विस्तार से संकेत किया। ऐसा करते समय पार्सन्स ने इन लेखकों की उन महत्वपूर्ण बातों को निकाला जिससे उसे सामाजिक क्रिया और क्रिया के ढांचे के विकास को समझने में मदद मिली।

## 27.2.2 पार्सन्स का दृष्टिकोण

पार्सन्स ने यह बात ज़ोर देकर कही कि सामाजिक प्रणाली और सामाजिक वास्तविकता के प्रति उपयोगितावादी और आदर्शवादी दोनों दृष्टिकोण इकतरफ़ा हैं। उपयोगितावादी दृष्टिकोण सामाजिक प्रणालियों को मनुष्यों(व्यक्तियों) की तर्कसंगत अंत:प्रेरणाओं का परिणाम मानता है और इसके द्वारा अपनी आवश्यकताओं और लालसाओं को क्रमबद्ध व्यवस्थाओं में संघटित करता है। ये व्यवस्थाएं संविदात्मक परस्परता (contractual mutuality) के द्वारा संगत हितों पर आधारित हैं। संविदात्मक परस्परता का एक अच्छा उदाहरण राज्य शासन व्यवस्था है, जो संगठित अधिकार-तंत्र का प्रतिनिधित्व करती है। इस क्रमबद्ध व्यवस्था का एक और उदाहरण बाज़ार व्यवस्था है, जो आर्थिक हितों के संविदात्मक (contractual) संबंधों पर आधारित-है।

पार्सन्स के अनुसार उपयोगितावादी समाज विज्ञानिकों ने विश्लेषित क्रमबद्ध व्यवस्थाओं में नैतिक मूल्यों की भूमिका पर ध्यान नहीं दिया है। इसी तरह, सामाजिक प्रणाली की आदर्शवादी पद्धति में लोकतंत्र को ही राष्ट्रीय भावना की पूर्ति मान लिया जाता है। आदर्शवादी पद्धति में मूल्यों और विचारों को अधिक महत्व दिया जाता है और सामाजिक आचरण को बहुत कम। वेबर भी इसी परंपरा से संबद्ध है। उसके अनुसार, पूंजीवाद को आरंभिक अवस्था में प्रोटेस्टैंट नैतिकता से मदद मिली। वेबर और कट्टर आदर्शवादियों में इतना ही अंतर है कि वेबर ने कभी यह नहीं कहा कि पूंजीवाद का कारण प्रोटेस्टैंट नैतिकता मात्र है। लेकिन इतना तो मानना ही होगा कि वेबर ने "तर्कसंगत आत्मसंयम" (rational asceticism) या "लौकिक आत्मसंयम" (this

worldly asceticism) से संबंधित कुछ मूल्यों का विस्तार से वर्णन किया, परंतु उसने उपयोगी वस्तुओं की खोज या आवश्यकताओं की भूमिका की उपेक्षा की।

टालकट पार्सन्स के अनुसार, सामाजिक प्रणाली की आदर्शवादी और उपयोगितावादी दोनों विचारधाराओं में पूर्वमान्यता के अनुसार मानव अंत:प्रेरणा में कुछ विशिष्टताओं की कल्पना विद्यमान है। पूर्वमान्यता से हमारा अभिप्राय है, जो पहले से ही विद्यमान है। सामाजिक प्रणाली के प्रति उपयोगितावादी दृष्टिकोण की विशेषता आवश्यकताओं के नियमन में तर्कसंगत का होना है और आदर्शवादी दृष्टिकोण की विशेषता आधाभूत मूल्यों और विचारों के प्रति वचनबद्धता है।

इस प्रणाली के अंतर्गत उपयोगितावादी दृष्टिकोण में व्यक्ति की धारणा तो है, लेकिन वह केवल कुछ विशिष्ट योग्यताओं का अमूर्त रूप है (जो उसके पूर्व अनुभवों पर आधारित विशेषता है)।

आदर्शवादी दृष्टिकोण की स्थिति भी लगभग वैसी ही है, बस केवल अंतर इतना है कि उसमें पूर्व अनुभवाश्रित दृष्टि से मानी गई विशेषताओं में भिन्नता है। आदर्शवादी यह मानते हैं कि मनुष्य विश्वव्यापी मानसिक परिकल्पना के अनुरूप कार्य करते हैं।

प्रत्यक्षवादियों का विचार इससे एकदम अलग है। उनकी यह धारणा है कि वास्तविक मानव-क्रिया स्थिति के पूर्ण ज्ञान के परिणामस्वरूप होती है। इस प्रकार उनके विचारों में सुनिश्चितता है और लचीलेपन का अभाव होता है। उनके यहां कार्य करने का एक ही तरीका है और वही सही तरीक़ा है। परिणामस्वरूप उनकी सामाजिक क्रिया में मूल्यों की जगह नहीं होती और ग़लतियों या विभिन्नता की कोई गुंजाइश नहीं होती।

इस प्रकार, उपयोगितावादी, आदर्शवादी और प्रत्यक्षवादी विचारधाराओं के समर्थकों में सभी ने कुछ महत्वपूर्ण बातें कही हैं, लेकिन हर महत्वपूर्ण बात के अनोखेपन से ही पार्सन्स को ऐतराज़ है। उपयोगितावादियों का ध्यान केवल व्यक्ति की तर्कसंगत रुचि पर है, लेकिन वे सामूहिक रुचि की बात भूल जाते हैं। आदर्शवादी (idealists) मूल्यों की बात करते है, लेकिन वे मूल्यों पर अनुभवाश्रित वास्तविकताओं से पड़ने वाले दबाव को भूल जाते हैं। अंत में, प्रत्यक्षवादी स्थिति के पूर्ण ज्ञान को महत्व देते हैं, लेकिन वे मूल्यों, ग़लतियों और परिवर्तनों की भूमिका को नज़र अंदाज़ कर देते हैं।

इन ऊपर दी गई बातों को ध्यान में रखते हुए पार्सन्स ने सामाजिक प्रणालियों के अध्ययन के लिए एक अन्य दृष्टिकोण सामने रखा जिसे उसने "क्रियात्मक दृष्टिकोण" कहा।

## 27.3 पार्सन्स का क्रियात्मक दृष्टिकोण

सामाजिक प्रणाली के प्रति पार्सन्स का दृष्टिकोण समन्वयात्मक है। उसने उक्त प्रणाली के निर्माण के लिए न केवल उपयोगितावादी परिप्रेक्ष्य में विद्यमान अभिप्रेरणात्मक तथ्यों के महत्व को प्रदर्शित किया बल्कि मूल्यों के महत्व को भी स्पष्ट किया। उसने अपने इस दृष्टिकोण का निर्माण सामाजिक क्रिया (social action) के सिद्धांत के रूप में किया, जो सामाजिक प्रणाली का मूल तत्व है।

पार्सन्स (1937) के अनुसार क्रिया एकांत में नहीं होती। क्रिया अलग होने के बजाए सामूहिक योग (constellations) में होती है, जो प्रणालियों का निर्माण करते हैं। इन प्रणालियों पर हमने आगे विचार किया है। आइए, पहले आप "क्रिया" की अवधारणा को समझ लें। पार्सन्स के अनुसार, "क्रिया" की अवधारणा का जन्म मनुष्यों के व्यवहार से हुआ है। एक जीवधारी प्राणी के रूप में मनुष्य बाहय जगत के साथ और अपने भीतरी मन के साथ अंत:क्रिया करते हैं। ये व्यवहार आगे दी हुई चार स्थितियों में क्रिया का रूप धारण कर लेते हैं:

i) इसका प्रयोजन किसी लक्ष्य या किसी प्रत्याशित परिणाम को प्राप्त करना होता है।

ii) यह किसी विशिष्ट स्थिति में घटित होती है,

iii) यह समाज के मानदंडों और मूल्यों से नियंत्रित होती है, और

iv) इसके लिए "ऊर्जा" अथवा अभिप्रेरणा अथवा प्रयत्न की अपेक्षा होती है।

जब ये सभी तत्व विद्यमान हों तो व्यवहार क्रिया में बदल जाता है। आप उस महिला का उदाहरण लीजिए जो स्वयं कार चलाकर मंदिर जा रही है। वह संभवत: वहां पूजा करने जा रही है। ऐसी स्थिति में उसका लक्ष्य मंदिर में पूजा करना है, जिसकी तरफ़ वह उन्मुख है। उसकी क्रिया की स्थिति वह सड़क है जिस पर वह अपनी कार चला रही है और वह कार जिसमें वह बैठी है। इसके अलावा, उसका व्यवहार सामाजिक प्रतिमानों या मूल्यों द्वारा नियंत्रित है और मंदिर जाकर पूजा करने की क्रिया को समाज से मान्यता भी प्राप्त है। इसके अतिरिक्त, कार चलाने के लिए वह अपनी बुद्धिमता और कार चलाने के कौशल का इस्तेमाल कर रही है, इसे उसने समाज से सीखा है। कार चलाने की इस क्रिया का मतलब है, ऊर्जा का प्रयोग, कार के स्टियरिंग ह्वील को पकड़ना, ऐक्सिलरेटर का ठीक से प्रयोग करना और भीड़ भरी सड़क पर ठीक से गाड़ी चलाना आदि। जब व्यवहार को इस प्रकार विश्लेषण करके देखा जाता है तो इसे क्रिया (action) कहा जा सकता है।

क्रियान्मुखता की इस स्थिति को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो **अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता** (motivational orientation) और दूसरी **मूल्यपरक उन्मुखता** (value orientation)। अभिप्रेरणात्मकउन्मुखता उस स्थिति की ओर संकेत करती है जिसमें आवश्यकताओं, बाह्य उपस्थिति और योजनाओं के परिप्रेक्ष्य में क्रिया होती है। उन्मुखता का दूसरा रूप मूल्यपरक उन्मुखता है, जो मूल्यों, सौन्दर्यबोध, नैतिकता और चिंतन के मानकों पर आधारित है। भाग 27.4.1 और 27.4.2 में क्रिया के इन दो घटकों के बारे में विस्तार से चर्चा की जाएगी। आइए अभी सोचिए और करिए 1 को पूरा कर लें।

**सोचिए और करिए 1**

अपने दैनिक जीवन में संपन्न किए जाने वाले ऐसे चार प्रकार के सामाजिक व्यवहारों को सूचीबद्ध कीजिए, जो पार्सन्स के अनुसार क्रिया की श्रेणी में आते हैं। इन सामाजिक व्यवहारों की निम्नलिखित चार स्थितियां होनी चाहिए।

i) इनका उद्देश्य किसी लक्ष्य या किसी अन्य प्रत्याशित परिणाम को प्राप्त करना हो,

ii) ये किसी विशिष्ट स्थिति में घटित हों,

iii) ये समाज के प्रतिमानों और मूल्यों से नियमित होते हों, और

iv) इनके लिए "ऊर्जा", अभिप्रेरणा या प्रयत्न की अपेक्षा होती है।

एक-दो पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए, जिसमें कुछ ऐसे व्यवहारों का उल्लेख हो और यह भी बताइए कि पार्सन्स की परिभाषाओं के अनुसार आपने उन्हें किस प्रकार क्रिया की श्रेणी में शामिल किया है। यदि संभव हो तो अपनी टिप्पणी की तुलना अपने केंद्र के अन्य छात्रों की टिप्पणी से कीजिए।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, पार्सन्स के अनुसार कोई क्रिया के इस सामूहिक योग से प्रणालियों का निर्माण होता है। क्रिया की इन प्रणालियों को तीन तरह से संगठित किया जा सकता है। पार्सन्स के अनुसार ये प्रणालियां हैं : व्यक्तित्व प्रणाली (personality system), सांस्कृतिक प्रणाली (cultural system) और सामाजिक प्रणाली (social system)।

व्यक्तित्व प्रणाली मानव के व्यक्तित्व के उन पहलुओं के बारे में बताती है जो व्यक्ति की

सामाजिक क्रिया पद्धति को प्रभावित करती है। दूसरी ओर, सांस्कृतिक प्रणाली में वास्तविक विश्वास, मूल्यों की मूर्त व्यवस्था, संप्रेषण के प्रतीकात्मक साधन शामिल हैं। सामाजिक प्रणाली में व्यक्तियों और इनसे बनने वाले संगठनों के बीच अंत:क्रिया के रूपों और तरीकों की ओर संकेत किया गया है। इस संदर्भ में मिचल (1979: 204) ने सामाजिक प्रणाली के उदाहरण के रूप में किसी संगठन की प्राधिकार संरचना को या किसी परिवार में श्रम विभाजन को लिया है।

पार्सन्स के अनुसार किसी सामाजिक प्रणाली में निम्नलिखित विशेषताएं पाई जाती हैं।

i) दो या अधिक व्यक्तियों के बीच अंत:क्रिया होती है और अंत:क्रियात्मक प्रक्रिया ही इसका मुख्य केंद्रबिंदु है।

ii) अंत:क्रिया ऐसी स्थिति में होती है, जिसमें किसी अन्य पात्र या व्यक्ति की अपेक्षा होती है। इन व्यक्तियों में संवेगों और मूल्यों के बारे में निर्णय लेने की शक्ति होती है तथा इनके द्वारा वे अपने लक्ष्यों और क्रिया के साधनों को प्राप्त करते हैं।

iii) सामाजिक प्रणाली में सामूहिक लक्ष्योन्मुखता होती है या समान मूल्य होते हैं और मानदंडों तथा संज्ञानात्मक अर्थों में अपेक्षाओं पर सर्वसम्मति होती है।

सामाजिक प्रणाली की अवधारणा को और अच्छी तरह से समझने के लिए आइए, अब हम सामाजिक प्रणाली के गठन की आधारभूत इकाई का परीक्षण करें।

## 27.4 सामाजिक प्रणाली के संगठन की आधारभूत इकाई

सामाजिक प्रणाली में क्रिया (action) के संगठन की एक प्रणाली है, जिसे भूमिका (role) कहते हैं। यह सामाजिक प्रणाली की आधारभूत अवधारणात्मक इकाई है और इसमें एकल व्यक्ति के समग्र क्रियाकलापों की व्यवस्था भी सम्मिलित होती है। यह उस एकल व्यक्ति की क्रिया प्रणाली और सामाजिक प्रणाली के बीच विभाजक बिंदु भी है। पार्सन्स के अनुसार, भूमिका का मुख्य तत्व भूमिका की अपेक्षा (role expectation)है। इसमें एक पात्र दूसरे व्यक्ति के बीच परस्परता की भी अपेक्षा होती है और यह श्रेणीबद्ध अभिप्रेरणात्मक (motivational) और मूल्यपरक उन्मुखताओं से नियंत्रित होती है।

जैसा कि पूर्व उल्लेख किया जा चुका है, अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता (motivational orientation) उस स्थिति की ओर संकेत करते हैं जिसमें कोई क्रिया एकल पात्र या व्यक्ति की आवश्यकताओं या अभिप्रेरणाओं, बाहरी उपस्थितियों और योजनाओं को ध्यान में रखकर होती है। मूल्यपरक उन्मुखता (value orientation) का अर्थ क्रिया के मूल्य,सौन्दर्य बोध, नैतिकता आदि पक्षों से है। सामाजिक प्रणाली की क्रियात्मक इकाइयों के संगठन में अभिप्रेरणाओं और मूल्यों, दोनों का समावेश होता है। जो इसे पहले (यानि अभिप्रेरणा के संदर्भ में) व्यक्तित्व प्रणाली से और बाद में (यानि मूल्यों के संदर्भ में) सांस्कृतिक प्रणाली से जोड़ते हैं।

### 27.4.1 अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता (motivational orientation)

अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता के तीन क्षेत्र हैं। ये हैं - **बोधपरक** (cognitive), **भावप्रवण** (cathectic) और **मूल्यांकन-परक** (evaluative) उन्मुखता।

i) बोधपरक उन्मुखता पात्रों (व्यक्तियों) को अपने वातावरण को या वस्तु को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार मानसिक वस्तु के रूप में देखने में सहायता करती है। उनका (यानि पात्रों का) अपने प्रेक्षण की विषय-वस्तु की वस्तुनिष्ठता को समझने का प्रयास होता है।

ii) भावप्रवण उन्मुखता में पात्रों की अपनी विषय-वस्तु के प्रति भावप्रवण अभिवृत्ति शामिल होती है।

iii) मूल्यांकनपरक उन्मुखता पात्रों को सर्वाधिक सक्षमता से अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने प्रयासों को संगठित करने में मदद करती है। इस विषय में एक गृहिणी का उदाहरण लीजिए, जो बाज़ार में सब्ज़ी खरीदने जाती है। बोधपरक उन्मुखता से उसे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार सब्ज़ियों की गुणवत्ता को समझने में मदद मिलती है और उनकी क़ीमतों के संदर्भ में आवश्यकता को समझने में मदद मिलती है। भावप्रवण उन्मुखता से वह निर्धारित करती है कि उसे कौन सी सब्ज़ी अधिक पसंद है और उसके बाद मूल्यांकनपरक उन्मुखता से वह ऐसी सब्ज़ी का चयन करे जिससे सबसे अधिक संतोष मिले, देखिए चित्र 27.1।

चित्र 27.1: अभिप्रेरणात्मक दृष्टिकोण

## 27.4.2 मूल्यपरक उन्मुखता (value orientation)

मूल्यपरक उन्मुखता के तीन भाग हैं: बोधपरक (cognitive), विवेचनात्मक (appreciative), और नैतिक (moral)। **बोधपरक उन्मुखता**: इस का संबंध निर्णय की वैधता से है। **विवेचनात्मक उन्मुखता**: इससे पात्रों के लिए यह संभव होता है कि वे वस्तुओं के प्रति संवेगात्मक अनुक्रिया, इसकी उपयुक्तता या संगति के बारे में निर्णय ले सकें। **नैतिक उन्मुखता**: यह वस्तुओं के प्रति पात्र या व्यक्ति की मूल्य-प्रतिबद्धता बताती है।

बाज़ार में सब्ज़ी खरीदने वाली गृहिणी का उदाहरण गृहिणी की केवल अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता को दिखाता है। मूल्यपरक उन्मुखता के क्षेत्र में समाज की मूल्य व्यवस्था और सांस्कृतिक विन्यास आते हैं। पात्र व्यक्तिगत रूप से सांस्कृतिक विन्यास के संदर्भ में क्रिया करते हैं। उदाहरणत: परिवार में बेटे की भूमिका और प्रस्थिति समाज में निर्धारित कुछ प्रतिमानों से निर्देशित होती है। पितृसत्तात्मक परिवार में बेटे की प्रस्थिति मातृसत्तापरक परिवार से भिन्न है। उसका व्यवहार उसके समाज के प्रतिमानों से निर्देशित होता है। अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता में व्यक्ति की केवल अभिप्रेरणाएं और मनोवैज्ञानिक पहलू ही शामिल होते हैं, जबकि मूल्यपरक उन्मुखता से पूर्ण सांस्कृतिक प्रणाली जुड़ी होती है। व्यक्ति के व्यवहार में मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक, दोनों पहलू परस्पर एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। पार्सन्स के अनुसार, अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता और मूल्यपरक उन्मुखता के दो स्तर हैं, जो भूमिका और भूमिका अपेक्षाओं के व्यवहारपरक और सांस्कृतिक पहलुओं को निर्धारित करते हैं।

सामाजिक प्रणाली में भूमिका अपेक्षाएं मूल्यांकन के विन्यास का काम करती हैं। प्रत्येक व्यक्ति जो समाज में किसी भूमिका को अदा करता है उसकी दो तरह की क्षमता होती है। क्योंकि भूमिका का यह अभिप्राय है कि व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के साथ परस्पर क्रिया होती है। पार्सन्स के अनुसार, इससे भूमिका दो प्रकारों में विभाजित हो जाती है। पहली, उन्मुखता की भूमिका है, जहां पात्र "अहं" के रूप में दूसरे पात्र (दूसरे व्यक्ति) के साथ वस्तु की तरह अंत:क्रिया होती है। दूसरी वस्तु की भूमिका है जहां पात्र दूसरे व्यक्ति के अभिविन्यास की वस्तु होता है।

### 27.4.3 सामाजिक प्रणाली में भूमिकाओं का संस्थागत होना

सामाजिक प्रणाली में भूमिकाएं संस्थागत हो जाती हैं। भूमिकाओं के संस्थागत होने का अर्थ किसी विशिष्ट भूमिका की अपेक्षाओं से है, इसके मूल्यों और अभिप्रेरणात्मक उन्मुखताओं को समाज की संस्कृति में एकीकृत कर लिया जाता है। समाज अपने सदस्यों से भूमिका-अपेक्षाओं की दृष्टि से समान मानक निर्धारित करता है और जब सदस्य अपनी भूमिकाओं की उन्मुखताओं को उनके अदा करने के लिए समाज के समान मानकों को आत्मसात् कर लेता है तो यह कहा जाता है कि भूमिकाएं संस्थागत हो गई हैं।

समाज में इन भूमिकाओं को समाज द्वारा निर्धारित मानकों के अनुसार या संस्थागत विन्यास के अनुरूप निष्पादित किए जाने के लिए हर समाज कुछ प्रतिबंध लागू करता है। ये प्रतिबंध यथा-स्थिति पुरस्कार या दंड (rewards or punishments) के रूप में होते हैं और यह व्यक्ति की भूमिका पर निर्भर है कि उसकी भूमिका समाज द्वारा निर्धारित मानकों या मूल्यों के अनुसार है या इन मूल्यों का उल्लंघन करती है।

### 27.4.4 सामाजिक प्रणाली के रूप में सामूहिकता (collectivity)

पार्सन्स की सामूहिकता की धारणा एक सामाजिक प्रणाली के रूप में भूमिका की अवधारणा से जुड़ी है। सामूहिकता की धारणा को सामाजिक प्रणाली की सीमा के द्वारा ही पहचाना जा सकता है। इससे ही यह निर्धारित होता है कि सामूहिकता की सदस्यता के दायरे में किन सदस्यों को रखा जाए और किन सदस्यों को न रखा जाए। सभी सामूहिकताओं की अपनी सदस्यता की सीमाएं होती हैं (जैसे-नातेदारी, योग्यता, कौशल या धार्मिक विश्वास आदि)। यहां सीमा से हमारा मतलब उन सीमाओं से है, जिनकी दृष्टि से सामाजिक प्रणाली एक अलग सत्ता या इकाई के रूप में कार्य करती है। सामाजिक प्रणाली के उदारहण के रूप में नातेदारी व्यवस्था में इसके सदस्य, उनकी भूमिकाएं और प्रस्थिति हैं, ये दोनों उस समाज में पाई जाने वाली सांस्कृतिक अभिरचना से निर्धारित होती हैं। सामूहिकता की सीमा एक स्थिति से दूसरी स्थिति में अलग-अलग होती है। श्रेणी के समान सामूहिकता केवल समाज के सदस्यों का समूह नहीं है। किसी श्रेणी का निर्धारण आयु, लिंग या शिक्षा जैसी समान बातों के आधार पर होता है। सामूहिकता केवल उन व्यक्तियों की बहुलता में नहीं है जो परिस्थितिवश समान रूप से एक दूसरे पर निर्भर हैं यानी बाज़ार जैसी भौतिक स्थिति में।

सामूहिकता उपर्युक्त दोनों प्रकार के सामाजिक समुच्चयों से भिन्न है क्योंकि इसकी बहुलता की विशेषता इसके सदस्यों की एकात्मकता (solidarity) है, जैसाकि नातेदारी के समूह में या किसी संघ में पाया जाता है। यह एकात्मकता समान मूल्यों के संस्थागत होने से पैदा होती है: जैसे किन्हीं निकट संबंधियों में सहयोग की भावना के रूप में या समान धार्मिक आचरणों या विश्वासों को मानने वाले लोगों के रूप में।

सामूहिकताओं के कुछ आंतरिक उप-विभाजन उप-सामूहिकताओं के रूप में हो सकते हैं जहां सदस्यता का क्षेत्र परस्पर व्यापी हो सकता है। सामूहिकताएं और उप-सामूहिकताएं ये दोनों

सामाजिक प्रणाली के रूप हैं। पार्सन्स के अनुसार समाज एक पूर्ण सामाजिक प्रणाली है जो आत्मपोषी है या आत्मनिर्भर है और वह किसी बाहरी सामाजिक प्रणाली पर आश्रित नहीं है। लेकिन सामाजिक प्रणाली और समाज में अंतर आपेक्षित और विश्लेषण पर आधारित है।

अब तक आपने सामाजिक प्रणाली की अवधारणात्मक इकाई के बारे में पढ़ा है, जिसके अंतर्गत भूमिकाएं, भूमिकाओं का संस्थागत होना और सामाजिक प्रणाली के रूप में सामूहिकता शामिल है। सामाजिक प्रणाली के रूप में सामूहिकता में व्यक्तियों को उपलब्ध अपनी पसंद की क्रियाओं की व्याख्या के लिए पार्सन्स ने विन्यास प्रकारांतरों (pattern variables) की अवधारणाओं का विकास किया। इन अवधारणाओं के बारे में अगले भाग में चर्चा होगी।

अभी तक पढ़ी पाठ्य सामग्री को बेहतर रूप से आत्मसात करने हेतु बोध प्रश्न 1 को पूरा करें।

**बोध प्रश्न 1**

i) पार्सन्स द्वारा दी गई सामाजिक क्रिया के उपयोगितावादी, प्रत्यक्षवादी और आदर्शवादी आधारों में अंतर कीजिए। उत्तर आठ पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) भूमिका के संस्थागत होने से आप क्या समझते हैं? इस विषय में छः पंक्तियों में विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) निम्नलिखित वाक्यों में दिये रिक्त स्थान भरिए।

क) ..... प्रणाली आर्थिक हितों पर आधारित संविदात्मक परम्परता का उदाहरण है।

ख) पार्सन्स के अनुसार ..... में क्रिया नहीं घटित होती।

ग) क्रिया व्यवस्था की तीन संगठन प्रणालियां हैं, जिनका पार्सन्स ने सामाजिक प्रणाली, व्यक्तित्व प्रणाली और ..... प्रणाली के रूप में वर्णन किया है।

घ) अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता का क्षेत्र बोधपरक ..... और मूल्यांकनपरक है।

ड) ..... के तीन भाग हैं, बोधपरक, विवेचनात्मक और नैतिक उन्मुखता।

## 27.5 विन्यास प्रकारांतर (pattern variables)

सभी क्रिया प्रणालियों की विशेषताओं को प्रतिबिम्बित करने वाली अवधारणाओं के विकास के लिए पार्सन्स ने अवधारणाओं के ऐसे समुच्चय का प्रतिपादन किया, जो इन प्रणालियों की परिवर्तनशील प्रकारांतर विशेषताओं को प्रदर्शित कर सकें। इन अवधारणाओं को विन्यास प्रकारांतर कहा गया।

भूमिका सामाजिक प्रणाली का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है, इसके निष्पादन से तनाव (बल) पैदा होते हैं। तनाव की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि भूमिका-अपेक्षाओं को समाज में किस प्रकार संस्थागत किया गया है और यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि सामाजिक व्यक्तियों(पात्रों) द्वारा किस हद तक भूमिका-अपेक्षाओं के मूल्यों को आत्मसात् किया गया है। अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता और मूल्यपरक उन्मुखता के संबंध में अपनी भूमिकाओं के निष्पादन में हर व्यक्ति को कई दुविधाओं का सामना करना पड़ता है। ये दुविधाएं आवश्यकताओं और मूल्यों से संबंधित उन्मुखताओं के क्षेत्र में व्यक्ति की पसंद या अभिरुचि से होने वाले तनावों से पैदा होती है। यद्यपि इन दुविधाओं को द्विभाजित रूप में देखा जाता है। वास्तव में, उन्हें अविच्छिन्न रूप से रखा जाता है। लेकिन यहां सरलता को ध्यान में रखते हुए हमने यह माना है कि इन दुविधाओं का स्वरूप द्विभाजित यानी दो भागों में बंटा हुआ है। इससे पहले कि पात्र(व्यक्ति) स्थिति के संबंध में आगे कार्य करे, उसे दो विकल्पों में से एक को चुनना होता है। उदाहरण के लिए, ऐसी स्थिति में जब व्यक्ति को सार्वभौम मूल्यों और विशिष्ट मूल्यों में से चुनाव करना हो तो व्यक्ति इनमें से किसी एक को ही चुन सकता है। हमारे पास कुल पांच विन्यास प्रकारांतर हैं। इनमें से प्रत्येक विन्यास प्रकारांतर दूसरे का पूरी तरह से उलटा है। ये विन्यास प्रकारांतर हैं : i) भावात्मकता बनाम भावात्मक तटस्थता; ii) आत्म उन्मुखता बनाम सामूहिक उन्मुखता, iii) सार्वभौमवाद बनाम विशिष्टतावाद, iv) प्रदत्त बनाम अर्जित, v) विनिर्दिष्टता बनाम प्रसरणता।

आइए, अब हम इनमें से प्रत्येक के बारे में विस्तार से विचार करें।

### 27.5.1 भावात्मकता (affectivity) बनाम भावात्मक तटस्थता (affective neutrality)

भावात्मकता बनाम भावात्मक तटस्थता का संबंध भूमिका-निष्पादन में होने वाली दुविधा से है, जहां किसी विशिष्ट स्थिति के विषय में मूल्यांकन की अपेक्षा होती है। संवेगात्मक दृष्टि से या कुछ हद तक संवेगात्मक तटस्थता से स्थिति का किस सीमा तक मूल्यांकन किया जाए? समाज में जिन अधिकांश भूमिकाओं को करने की हमसे अपेक्षा की जाती है, इनमें चुनाव की हमारे सामने कठिन समस्या पैदा होती है। उदाहरण के लिए, आप बच्चे और मां के संबंधों को लें। इसमें अत्यधिक भावात्मक उन्मुखता होती है लेकिन इसके साथ अनुशासन भी ज़रूरी है। इस प्रकार बहुत से अवसरों पर अपने बच्चे के समाजीकरण के संदर्भ में मां को भावात्मक-तटस्थता की भूमिका निभानी पड़ती है। लेकिन, मां और बच्चे के संबंध में अनिवार्य रूप से भावात्मकता भूमिका प्रधान है। इसकी तुलना में डॉक्टर और रोगी के संबंधों में भावात्मक-तटस्थता दिखाई देती है। इसमें डॉक्टर की भूमिका की विशेषता है। सही डॉक्टरी उपचार के लिए भावात्मक-तटस्थता आवश्यक है। यह बात विशेष रूप से वहां और भी ज़रूरी है जहां शल्य क्रिया(चीर-फाड़) की ज़रूरत होती है। परंतु पार्सन्स के अनुसार भूमिका-निष्पादन की सभी स्थितियों में चुनाव की दुविधा और इसकी अभिव्यक्ति या वचनबद्धता की मात्रा रहती है।

### 27.5.2 आत्म उन्मुखता (self-orientation) बनाव सामूहिक उन्मुखता (collective orientation)

इसी तरह आत्म उन्मुखता बनाम सामूहिक उन्मुखता विन्यास प्रकारांतर में मूल्यांकन प्रक्रिया में मुख्य बात नैतिक मानक की है। नैतिक मानक का प्रश्न इस बात से उठता है कि पात्र या व्यक्ति

को सामूहिकता यानी व्यापक हितों को ध्यान में रखते हुए अपने स्वार्थ की पूर्ति या अपने स्वार्थ का परित्याग में से किसी एक का चुनाव करना पड़ता है। इसमें किसी न किसी रूप में परोपकार या त्याग की भावना निहित होती है। ऐसी विन्यास प्रकारांतर की दुविधा की स्थिति आदिम आर्थिक पद्धति और तत्कालीन समाज से आधुनिक सभ्यता के काल तक मानव जीवन में सदैव बनी रहती है। हमारे सामने समाजवादी समाज और समाजवादी चेतना की धारणा एक अच्छा उदाहरण है, जहां समग्र सामाजिक प्रणाली और इसकी संस्थाओं के विन्यास सामूहिकता उन्मुखता के अनुकूल महत्वपूर्ण चयन पर आधारित है। लेकिन जैसा कि पार्सन्स ने सही संकेत किया है कि ऐसे मूल्यों का संस्थागत होना सदैव क्षणिक होता है। इसका कारण यह है कि पात्र की स्थिति की तरफ़ प्रतिक्रिया हमेशा ही दुविधा के रूप में होती है।

### 27.5.3 सार्वभौमवाद (universalism) बनाम विशिष्टतावाद (particularism)

सार्वभौमवाद बनाम विशिष्टतावाद एक विन्यास प्रकारांतर है, जो उस भूमिका-स्थिति को निरूपित करता है जहां व्यक्ति की दुविधा संज्ञानात्मक बनाम संवेगात्मक मानकों के मूल्यांकन के संबंध में होती है। मानव व्यवहार के सार्वभौमवादी मानकों के पालन की भूमिका का एक बहुत अच्छा उदाहरण भूमिका-निष्पादनों का है, जो पूरी तरह से कानून सममत मानदंडों और कानूनी स्वीकृति के अनुसार है। अगर कोई व्यक्ति व्यक्तिगत, रिश्तेदारी या मित्रता के संबंधों पर ध्यान दिए बिना कानून के नियमों का पालन करे तो वह सार्वभौमवादी भूमिका-निष्पादन-प्रणाली का उदाहरण कहा जाएगा। अगर कोई व्यक्ति केवल इसलिए कानूनी मानदंडों का उल्लंघन करे कि संबंद्ध व्यक्ति उसका रिश्तेदार या दोस्त है तो यह कहा जाएगा कि उस समय विशिष्टतावादी तर्क कार्यरत थे। पार्सन्स का कहना है कि ऐसे समाजों में जहां नौकरशाही, औपचारिक संगठनों और आधुनिक संस्थाओं की व्यापक भूमिका है, वहां सार्वभौमवाद और विशिष्टतावाद के बीच दुविधा की स्थिति रोज़मर्रा के जीवन में चुनाव के विषय बन गए है।

### 27.5.4 प्रदत्त (ascription) बनाम अर्जित (achievement)

प्रदत्त बनाम अर्जित विन्यास प्रकारांतर में व्यक्ति की दुविधा इस बात पर आधारित है कि क्या व्यक्ति अपनी भूमिका के विषय को गुणवत्ता (quality) या निष्पादन (performance) की दृष्टि से निरूपित करता है। भारत में इस विन्यास प्रकारांतर का बहुत अच्छा उदाहरण जाति व्यवस्था द्वारा नियंत्रित भूमिका निष्पादन है। जाति व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्तियों की प्रतिष्ठा का निर्धारण उनकी व्यक्तिगत उपलब्धि या व्यक्तिगत कौशल या ज्ञान के आधार पर न होकर उनके जन्म के आधार पर होता है। प्रदत्त का आधार किसी व्यक्ति में जन्म या आय या लिंग या नातेदारी अथवा जाति के आधार पर उस पर योग्यता आरोपित करना है। उपलब्धि का आधार व्यक्ति द्वारा व्यक्तिगत प्रयास से कौशल अर्जित करके समाज में एक विशेष स्तर तक कार्य-निष्पादन के योग्य बनना है।

### 27.5.5 विनिर्दिष्टता (specificity) बनाम प्रसरणता (diffuseness)

विनिर्दिष्टता बनाम प्रसरणता विन्यास प्रकारांतर का संबंध भूमिका निष्पादन के विषय-क्षेत्र से है। इस संदर्भ में क्षेत्र का मतलब सामाजिक अन्योन्य क्रिया की प्रकृति से है। डॉक्टर और रोगी के बीच या बाज़ार में ग्राहक और सामान-विक्रेता के बीच सामाजिक अन्योन्य क्रिया का एक बहुत ही विशिष्ट क्षेत्र है। इन अन्योन्य क्रियाओं की प्रकृति की व्याख्या अन्योन्य क्रियाओं के अत्यंत सीमित संदर्भ में की गई है। एक डॉक्टर को अपने रोगियों के इलाज के लिए तथा उन्हें दवा देने के लिए उनकी सामाजिक, वित्तीय या राजनीतिक पृष्ठभूमि समझने की ज़रूरत नहीं होती। डॉक्टर का कार्य बहुत विशिष्ट प्रकार का है और यही बात बाज़ार में सामान के विक्रेता की है, जिसे अपने

ग्राहकों के जीवन की सामान्य बातें जानने की कतई आवश्यकता नहीं होती। पात्रों के बीच प्रतिक्रिया के मानकों की दृष्टि से इन भूमिकाओं की विशिष्ट भूमिकाएं कहा जाएगा।

इसके विपरीत, कुछ भूमिका संबंध बहुत सामान्य और व्यापक प्रकृति के हैं। ऐसी भूमिकाओं में अन्योन्य क्रिया के कई पहलू होते हैं। इस प्रकार के भूमिका संबंधों के कुछ उदाहरण हैं - मित्रता संबंध, पति-पत्नी के बीच दाम्पत्य संबंध, विभिन्न स्तरों के रिश्तेदारों के बीच संबंध। ये सब संबंध ऐसे हैं जहां व्यक्ति किसी रिश्तेदार आदि के साथ किसी विशिष्ट संवर्ग में उस रूप में अंत:क्रिया नहीं करता अपितु वह विरासत रूप में दो घनिष्ठ मित्रों की तरह अंत:क्रिया करता है। यहां अन्योन्य क्रिया का क्षेत्र लचीला, खुला और व्यापक प्रकृति का है।

**सोचिए और करिए 2**

आप ध्यान से उस संगठन के बारे में सोचिए जो आपका कार्यालय है या उस स्थान के बारे में सोचें जो आपका अध्ययन केंद्र है। अब आप पार्सन्स द्वारा वर्णित विन्यास प्रकारांतर के अनुसार इस संस्था के साथ अंत:क्रिया के दो अभिलक्षण बताइए और यह निर्धारित कीजिए कि वे किस विन्यास प्रकारांतर में आते हैं। उदारहण के लिए, यदि आपका काम किसी मित्र या संबंधी की कंपनी में है तो इसके साथ आपकी अंत:क्रिया में सार्वभौमवाद और विशिष्टतावाद दोनों के गुण आ सकते हैं।

आप एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए और यदि संभव हो तो अपनी टिप्पणी की तुलना अपने अध्ययन केंद्र के दूसरे छात्रों की टिप्पणी से कीजिए।

पार्सन्स के अनुसार विन्यास प्रकारांतर न केवल सामाजिक प्रणाली में भूमिका अंत:क्रिया और भूमिका-अपेक्षाओं को निरूपित करते हैं, बल्कि इसके साथ ही व्यापक निर्देश भी देते हैं जिसमें सामाजिक प्रणाली के अधिकांश सदस्य अपनी भूमिकाएं चुनते हैं। इससे हमें सामाजिक प्रणाली की प्रकृति की जानकारी भी मिलती है। उदाहरण के तौर पर सामाजिक प्रणाली के रूप में परिवार को ही लीजिए। एक परिवार में सदस्यों की भूमिका-अपेक्षाएं मोटे तौर पर सामूहिकता उन्मुखता, विशिष्टतावादी, प्रदत्त-परक और प्रसारणात्मक होंगी।

इसके विपरीत, यदि आप किसी चिकित्सा संघ, बार-संघ या छात्र संघ के सदस्य हों तो उसका उदाहरण लीजिए। यहां भूमिका-अपेक्षाएं और भूमिका-निष्पादन के मानक अधिकांश रूप से भावात्मक तटस्थता, आत्म-उन्मुखता(प्रतियोगिता के कारण), सार्वभौमिकता, उपलब्धि और विनिर्दिष्टता के विन्यास प्रकारांतर की ओर उन्मुख होंगे।

परंतु ये सब आतिवादी (extreme) उदाहरण है। वास्तविक जीवन में विन्यास प्रकारांतर की दृष्टि से चुनाव की दुविधा उपर्युक्त उदाहरणों की तुलना में कहीं अधिक अनिश्चित और तनावपूर्ण होती है।

अब तक आपने सामाजिक प्रणाली की विभिन्न विशेषताओं के बारे में पढ़ा। इससे अगले भाग में सामाजिक प्रणाली के उन पहलुओं पर विचार होगा, जिन्हें पार्सन्स सामाजिक प्रणाली को सुचारू रूप से कार्य करने लायक बनाने के लिए पूर्व आवश्यकता मानता है।

परंतु अगले भाग को शुरू करने से पहले क्यों न बोध प्रश्न 2 को पूरा कर लें?

**बोध प्रश्न 2**

i) विन्यास प्रकारांतर की परिभाषा लिखिए और विभिन्न विन्यास प्रकारांतरों को सूचीबद्ध कीजिए। इसका उत्तर दस पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

नीचे विभिन्न प्रकार के सामाजिक व्यवहार दिए गए हैं। हरेक वाक्य के नीचे दी हुई रेखा पर लिखें कि वे किस विन्यास प्रकारांतर से संबंधित हैं।

क) स्कूल का एक अध्यापक अपने बच्चे को अतिरिक्त अंक देता है।

.....

ख) एक पुलिस का सिपाही, बैंक लूट कर भागते हुए अपने भाई को गोली मार देता है।

.....

ग) किसी लखपति बाप का लड़का अपने पिता की कंपनी में क्लर्क (लिपिक) का काम कर रहा है।

.....

घ) किसी लिपिक की लड़की किसी संस्था में अपनी योग्यता के आधार पर निदेशक के पद पर चुनी जाती है।

.....

ड) कोई विक्रेता महिला ग्राहक को रूपयों की रेज़गारी देती है।

.....

च) दो दोस्तों के बीच नोट्स की अदला-बदली और गप्प-बाज़ी।

.....

## 27.6 प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं (functional prerequisites)

यह आपने पढ़ा ही है कि पार्सन्स के विचार में परिवार, अर्थव्यवस्था, शासन व्यवस्था आदि सभी व्यवस्थाओं की अपनी सीमाएं हैं जिसे वे अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए सदैव बनाए रखती है। इन व्यवस्थाओं का आत्म-अनुरक्षण तभी संभव है जब सामाजिक प्राणी के रूप में मानव-पात्रों (व्यक्तियों) का समाज में समाजीकरण हो जाए और उनके अभिप्रेरणात्मक और मूल्यपरक उन्मुखताओं का प्रतिरूपण हो जाए। सामाजिक प्रणालियों को अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए अपने आंतरिक संगठन और बाहरी वातावरण के बीच कुछ अपरिहार्य व्यवस्थाएं और समझौते करने पड़ते हैं । ये समझौते ठीक उसी तरह से हैं, जैसे कि मनुष्य के शरीर को बाहरी वातावरण के साथ सांस के द्वारा, रक्त संचार के द्वारा और शरीर में निरंतर स्थिर तापमान बनाए रखकर करने पड़ते हैं। पार्सन्स के विचार में सामाजिक प्रणालियों में भी ऐसी ही आत्म समन्वयकारी और अपने रख-रखाव की क्षमता है। ये जो समन्वयकारी प्रक्रियाएं सामाजिक

प्रणाली को आंतरिक रूप से और अपनी सीमा अवस्थाओं के द्वारा, बनाए रखती है उन्हें प्रकार्य (function) कहते हैं। प्रकार्य प्रणाली के आत्म-अनुरक्षण की प्रक्रियाएं हैं।

कुछ ऐसे प्रकार्य भी हैं, जिनके बिना सामाजिक प्रणाली जीवित नहीं रह सकती। इसे टालकट पार्सन्स ने "प्रकार्यात्मक-पूर्वापेक्षाएं" कहा है। इस प्रकार की चार प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं हैं।

i) अनुकूलन (adaptation)

ii) लक्ष्य प्राप्ति (goal attainment)

iii) एकीकरण (integration) और

iv) विन्यास अनुरक्षण (latency)

इन प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाओं की कार्य-पद्धति के क्षेत्र के बारे में असगे यह बताया गया है कि क्या ये पूर्वापेक्षाएं प्रणाली की बाहरी प्रक्रियाओं से संबंध रखती हैं या आंतरिक। उनका अंत:क्रिया की प्रकृति के रूप से भी विरूपण किया गया है जैसे ये अंत:क्रियाएं प्रयोजनात्मक (consummatory) है या नैमित्तिक (instrumental)। प्रयोजनात्मक अंत:क्रिया से अभिप्राय यह है कि जहां किसी अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने पर बल हो और नैमित्तिक अंत:क्रिया में अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने में साधनों के अधिग्रहण और समामेलन पर बल होता है।

आइए, अब हम इन प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाओं में से प्रत्येक का निरीक्षण करें

## 27.6.1 अनुकूलन (adaptation)

प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षा के रूप में अनुकूलन का मतलब है प्रणालियों के बाहर के संसाधनों का उत्पादन और अधिग्रहण, इसका बाहरी वातावरण और प्रणाली में वितरण करना। बाहरी वातावरण का मतलब है, ज़मीन, पानी आदि। उदाहरण के लिए यहां हम आर्थिक प्रणाली को ले सकते हैं जिसमें समाज में संसाधनों का उपयोग, उत्पादन और वितरण शामिल हैं। अनुकूलन प्रणाली के बाहरी तत्वों की ओर उन्मुख होता है और यह नैमित्तिक प्रकृति का है।

## 27.6.2 लक्ष्य प्राप्ति (goal attainment)

लक्ष्य प्राप्ति ऐसी प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षा है जिसमें एक तो लक्ष्य के निर्धारण का समावेश होता है, दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सामाजिक प्रणाली के सदस्यों को अभिप्रेरित करने की आवश्यकता होती है। तीसरी बात, इन लक्ष्यों को पाने के लिए सदस्यों और उनकी शक्तियों को जुटाने की आवश्यकता होती है। इसकी प्रक्रियाएं प्रयोजनात्मक होती हैं, हालांकि इसमें बाहरी अंत:क्रिया सम्मिलित होती है।

सामाजिक प्रणाली में शक्ति और अधिकार-सरंचना का संगठन उस संस्था का उदाहरण है जिसमें लक्ष्य प्राप्ति का ज़ोरदार प्रयास होता है। राजनीतिक प्रक्रियाएं इसके उदाहरण हैं। यहां यह याद रखना होगा कि लक्ष्य प्राप्ति सामाजिक प्रणाली के वैचारिक और संगठनात्मक ढांचे से संबंधित हैं।

## 27.6.3 एकीकरण (integration)

एकीकरण ऐसी प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षा है, जिससे किसी प्रणाली में सुसंगति, एकात्मकता और समन्वय स्थापित करने में मदद मिलती है। सामाजिक प्रणाली में यह प्रकार्य मुख्य रूप से सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों द्वारा किया जाता है। इसलिए सांस्कृतिक प्रणाली और इससे संबंधित संस्थाएं और आचरण एकीकरण करने वाले तत्व हैं। एकीकरण के द्वारा किसी प्रणाली में निरंतरता, समन्वय और एकात्मकता सुनिश्चित होती है तथा इससे प्रणाली को टूटने और

बिखराव से बचाने में भी मदद मिलती है यह प्रकार्यात्मक पूवपिक्षा व्यवस्था के लिए आंतरिक है और प्रयोजनात्मक (consummatory) प्रकृति की है।

### 27.6.4 विन्यास अनुरक्षण (latency)

अंत में, विन्यास अनुरक्षण सामाजिक प्रणाली की उस प्रकार्यात्मक पूवपिक्षा को कहते हैं जो सामाजिक प्रणाली में उसके तत्वों की अभिप्रेरणात्मक ऊर्जा का संग्रह, संगठन और अनुरक्षण करती है। इसके मुख्य प्रकार्य प्रणाली के अंदर विन्यास अनुरक्षण और तनाव-प्रबंध है।

यह प्रकार्य सामाजिक प्रणाली के सदस्यों के समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा किया जाता है। समाजीकरण की प्रक्रिया इस सामाजिक प्रणाली के विशिष्ट प्रतीकों, मूल्यों, रूचियों और आदतों को अपनाने में सहायता करती है। यहां वह जोड़ देना ज़रूरी प्रतीत होता है कि पार्सन्स के मत में तनाव-प्रबंधन सभी संस्थाओं में आभ्यंतर रूप में होना चाहिए। इस तरह इसे "एकीकरण" के प्रकार्य से अलग किया जा सकता है। यहां एकीकरण का अभिप्राय समाज की विभिन्न प्रणालियों में एकीकरण से है। विन्यास अनुरक्षण की प्रकार्यात्मक पूवपिक्षा का नैमित्तक स्वरूप भी है (देखें तालिका 27.1)।

**तालिका 27.1: सामाजिक प्रणाली की प्रकार्यात्मक पूवपिक्षाएं**

| | नैमित्तिक (instrumental) | प्रयोजनात्मक (consummatory) |
|---|---|---|
| बाह्य (external) | अनुकूलन<br>उदाहरण - आर्थिक<br>प्रणाली - संसाधन<br>उपयोगिता, उत्पादन | लक्ष्य-प्राप्ति<br>उदाहरण - राजनैतिक<br>प्रणाली - राज्य<br>राजनैतिक दल आदि |
| अभ्यंतर (internal) | विन्यास अनुरक्षण<br>उदाहरण - परिवार<br>समाजीकरण, शिक्षा आदि | एकीकरण<br>उदाहरण - सांस्कृतिक<br>प्रणाली - धर्म<br>विचारधारा आदि |

इससे पिछले भागों में हमने आपका सामाजिक प्रणाली की अवधारणा से परिचय कराया था। आइए, अब हम पार्सन्स द्वारा दी गई सामाजिक प्रणाली की संरचनाओं के प्रकारों के अनुभवाश्रित उदाहरणों को समझने की कोशिश करें।

## 27.7 सामाजिक प्रणाली की संरचना के प्रकार

पार्सन्स ने अपने समाजशास्त्रीय विश्लेषण में मुख्य रूप से चार प्रकार की सामाजिक प्रणालियों के बारे में विचार किया है। ये प्रणालियां हैं - आर्थिक प्रणाली, परिवार प्रणाली, राजनैतिक प्रणाली और व्यक्तित्व प्रणाली ।

विन्यास प्रकारांतर के रूप में निरूपित भूमिका अपेक्षाओं और भूमिका निष्पादन के संबंध में दुविधाओं के बारे में विचारकों और प्रकार्यात्मक पूवपिक्षाओं के प्रतिपादन को यदि साथ-साथ लें तो विभिन्न समाजों के संबंध में हमारे ज्ञान में पर्याप्त वृद्धि होगी। इससे हमें विभिन्न प्रकार की सामाजिक प्रणालियों की संरचनाओं, उनकी सामाजिक विशेषताओं और समाज में उनके स्थान को पहचानने में सहायता मिलती है। सामाजिक प्रणालियों को केवल सैद्धांतिक रूप से ही हमने नहीं पहचाना, जैसा कि हमने पहले विन्यास प्रकारांतर और प्रकार्यात्मक पूवपिक्षाओं वाले भागों में किया है, बल्कि हम उसे कई समाजों में अनुभवाश्रित ज्ञान से भी हमने पहचाना।

अपनी पुस्तक *द सोशल सिस्टम* (1951) में पार्सन्स ने कई प्रकार की अनुभवाश्रित सामाजिक प्रणालियों (अर्थात वह प्रणाली जिसे क्षेत्र में (समाज में) प्रेक्षित किया जा सकता है और उसका सत्यापन किया जा सकता है) का सामाजिक संरचनाओं के विभिन्न समुच्चयों के बारे में उल्लेख किया है। पार्सन्स ने सामाजिक प्रणाली और **सामाजिक संरचना** की अवधारणा में अंतर किया है। सामाजिक प्रणाली की अभिव्यक्ति सिद्धांतों के समग्र रूप से होती है, जिसके माध्यम से सामाजिक अंत:क्रिया की भूमिकाएं और संबंधित तत्वों का संगठन होता है। दूसरी ओर, सामाजिक संरचना उस विशिष्ट प्रकार को प्रतिबिंबित करती है, जिसमें अंत:क्रिया की स्थिति में ये भूमिकाएं साथ-साथ संस्थित और संघटित होती है। उदाहरण के लिए, परिवार एक सामाजिक प्रणाली है लेकिन इसकी सामाजिक संरचना देखनी हो तो इन्हें अनुभवाश्रित रिश्ते-नाते की भूमिकाओं के समूह में देखा जा सकता है।

इसी तरह, आर्थिक प्रणाली को सामाजिक प्रणाली के एक अन्य उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। लेकिन इसकी सामाजिक सरंचना की विशेषता उत्पादन, विपणन (marketing) प्रबंध प्रणाली आदि से संबंधित हैं विन्यास प्रकारांतरों द्वारा सामाजिक संरचना के समुच्चयों के प्रमुख प्रकारों को परिशुद्ध रीति से उदाहरणों द्वारा प्रदर्शित किया है। पार्सन्स ने इस तरह के चारप्रकारों का उल्लेख किया है: i) सार्वभौमवादी-अर्जित विन्यास, ii) सार्वभौमवादी-प्रदत्त विन्यास, iii) विशिष्टतावादी-अर्जित विन्यास, iv) विशिष्टतावादी-प्रदत्त विन्यास।

### 27.7.1 सार्वभौमवादी-अर्जित विन्यास (the universalistic-achievement pattern)

यह ऐसी सामाजिक प्रणाली की संरचना है, जिसकी भूमिकाओं में ऐसे मूल्यपरक उन्मुखताएं प्रमुख हैं जो समाज के सदस्यों में विधिसम्मत, तर्कसंगत विधियों पर आधारित उपलब्धि को बढ़ावा देते हैं। यह ऐसा समाज या सामाजिक प्रणाली है जो आधुनिक औद्योगिक समाजों का उदाहरण है जहां समानता, लोकतंत्र, कार्य-स्वातंय, तर्कसंगत प्रबंध-व्यवस्था और सामाजिक अंत:क्रियाओं में खुलापन नियामक नैतिक मूल्य हैं। ऐसी सामाजिक प्रणाली में जाति, नृजातीयता (ethnicity) या अन्य विशिष्टतावादी मूल्यों के आधार पर समाज के विभाजन का कोई स्थान नहीं है। पार्सन्स के मत में ऐसी सामाजिक प्रणाली का सबसे नज़दीकी उदाहरण अमरीकी समाज को कहा जा सकता है।

### 27.7.2 सार्वभौमवादी-प्रदत्त विन्यास (the universalistic-ascriptive pattern)

यहां भूमिकाओं का संविन्यास (configuration) कुछ और ही प्रकार का है, जिससे ऐसी सामाजिक प्रणाली का निर्माण होता है जिसमें भूमिकाओं के निष्पादन में विधि-समम्त तर्कसंगतता पर आधारित मूल्यों को बढ़ावा दिया जाता है लेकिन इसमें अधिकारों का वितरण, समानता या लोकतंत्र के आधार पर नहीं होता। कार्य और पेशे में , उद्योग तथा संचार में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के आधुनिक सिद्धांतों को लागू किया जाता है, लेकिन जहां किसी विशिष्ट विचारधारा वाले संघ या पार्टी या मत की सदस्यता का प्रश्न है, इनका वितरण प्रदत्त सिद्धांतों से किया जाता है। पार्सन्स के अनुसार नाज़ी जर्मनी ऐसे ही एक समाज का उदाहरण है। नाज़ी शासन के दौरान जर्मनी के सामाजिक संरचना में उद्योग, प्रबंध व्यवस्था और उत्पादक संस्थाओं में एक तरफ तो भूमिकाओं के संगठन के तर्कसंगत तरीकों का इस्तेमाल किया जाता था और दूसरी तरफ वहां जर्मन जाति के विशिष्ट गुणों से संपन्न लोगों में (जैसे यहूदियों) में स्पष्ट भेदभाव किया जाता था। ऐसे ही उदाहरण सामाजिक इतिहास के और कालों में भी मिल सकते हैं।

### 27.7.3 विशिष्टतावादी-अर्जित विन्यास (the particularistic-achievement pattern)

पार्सन्स के अनुसार इस प्रकार की सामाजिक संरचना प्राचीन चीनी समाज में सबसे अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इस समाज में "परिवारवाद" के मूल्यों की प्रधानता थी। परिवारवाद का मतलब पूर्वजों के साथ (पूर्वजों की पूजा) सांतत्य की धारणा, रिश्तेदारी के घनिष्ठ संबंध थे, लेकिन इस समाज में पुरूषों की तुलना में महिलाओं की वंश परंपरा को हीन समझा जाता था। इसका स्वाभाविक परिणाम समाज में महिलाओं की अधीनता था। यह भूमिकाओं के संविन्यास पर आधारित था, जहां पेशे, अधिकार, प्रबंध व्यवस्था आदि का संगठन सार्वभौमवादी सिद्धांतों के बजाए विशिष्टतावादी सिद्धांतों में जन्म और नाते-रिश्ते के संबंधों पर सबसे अधिक बल दिया जाता था। लेकिन इसके साथ ही, समाज में भूमिकाओं के निर्वाह में उपलब्धि और औचित्य के नियमों को भी महत्व दिया जाता था। जो विधिसम्मत तर्कसंगतता(सार्वभौमवादी सिद्धांतों)के समान थे। ये सभी बातें कन्फ्यूशियस धर्म के अंतर्गत थीं। यह पुरातन चीन का राजधर्म था। प्रदत्त सिद्धांतों के साथ सार्वभौमवाद की प्रधानता को चीन में सरकारी सेवाओं में भर्ती से देखा जा सकता है। सरकारी सेवाओं में भर्ती के लिए प्रतियोगिता द्वारा प्रवेश होती थी जिसमें केवल वे उम्मीदवार भाग ले सकते थे जिनका राज्य धर्म में विश्वास था।

### 27.7.4 विशिष्टतावादी-प्रदत्त विन्यास (the particularistic-ascription pattern)

यह ऐसी सामाजिक संरचनाओं की ओर संकेत करता है जिनमें भूमिकाओं का संगठन ऐसे मूल्यों की दृष्टि से किया जाता है जो रिश्ते-नाते, जन्म और दूसरे प्रदत्त अभिलक्षणों से संबंधित हैं। इस प्रकार की सामाजिक संरचनाओं में व्यक्तिगत प्रयासों से होने वाली उपलब्धियों को प्रोत्साहित नहीं किया जाता। टालकट पार्सन्स का कथन है कि इस प्रकार की प्रणाली में काम को ठीक उसी तरह अपरिहाग्र बुराई माना जाता है जैसे न्यूनतम स्थिरता के लिए नैतिकता आवश्यक शर्त है।

इस प्रकार के समाज में अभिव्यक्तिपरक और कलात्मक उन्मुखता पर आवश्यकता से कहीं अधिक बल दिया जाता है। यह समाज परंपरावाद समर्थक है क्योंकि यहां परंपरा को भंग करने के कलए किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं है और स्थिरता के पक्ष में सशक्त निहित स्वार्थ विद्यमान है। पार्सन्स के विचार में इस प्रकार की सामाजिक संरचना के उदाहरणअमरीका में "स्पैनिश अमरीकी" है। लेकिन इस मुद्दे पर भी बहस की जा सकती है कि क्या परंपरागत भारतीय जाति समाज में ऐसे अभिलक्षण थे यहां नहीं जो विशिष्टतावादी-प्रदत्तवादी कहे जा सकते हैं।

इकाई का सारांश पढ़ने से पहले, बोध प्रश्न 3 को पूरा करें।

**बोध प्रश्न 3**

i) निम्नलिखित वाक्यों में दिये खाली स्थानों को भरिए।

   क) पार्सन्स के अनुसार सभी सामाजिक प्रणालियों में ..... है जिसे वे जीवित रहने के लिए बनाए रखते हैं।

   ख) अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए सामाजिक प्रणालियों को अपने आंतरिक संगठन और बाहरी ..... में कुछ ..... समायोजन करने पड़ते हैं।

   ग) अनुकूलन, लक्ष्य प्राप्ति, एकीकरण और विन्यास अनुरक्षण ..... है जिनके बिना सामाजिक व्यवस्था का अस्तित्व संभव नहीं है।

   घ) विन्यास प्रकारांतरण बिल्कुल सही रूप में ..... के समूहन के प्रमुख प्रकारों को प्रदर्शित करते हैं।

ii) किसी एक प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षा का उदाहरणों के साथ पाँच पंक्तियों में वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

iii) पार्सन्स द्वारा वर्णित सामाजिक प्रणाली की किसी एक संरचना के प्रकार का वर्णन सात पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 27.8 सारांश

इस इकाई में आपने सामाजिक प्रणालियों के अध्ययन के लिए आरंभिक दृष्टिकोणों के बारे में पढ़ा, ये दृष्टिकोण हैं उपयोगितावादी, प्रत्यक्षवादी और आदर्शवादी दृष्टिकोण। आपने यह भी पढ़ा कि पार्सन्स इन दृष्टिकोणों से सहमत नहीं था क्योंकि उपयोगितावाद के समर्थकों का बाहरी, अभिप्रेरणात्मक तत्वों पर बहुत अधिक बल था, प्रत्यक्षवादियों के यहां सामाजिक पात्रों और मूल्यों की किसी त्रुटि के लिए स्थान नहीं था और आदर्शवादियों ने मूल्यों पर बहुत अधिक बल दिया। इस प्रकार पार्सन्स ने अपने क्रियात्मक दृष्टिकोण संबंधी सिद्धांत का विकास किया, जो समन्वित ढंग का सिद्धांत है। अपने इस सिद्धांत में अपने अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता और मूल्यपरक उन्मुखता-दोनों को शामिल किया है।

पार्सन्स ने भूमिका का सामाजिक प्रणाली के सबसे महत्वपूर्ण तत्व के रूप में वर्णन किया । अपनी भूमिकाओं के निर्वाह में व्यक्तियों को दुविधाओं का सामना करना पड़ता है। दुविधाओं का जन्म समाज द्वारा दिए गए विकल्पों से क्रमिक रूप से होता है। ये चुनाव या चयन अभिप्रेरणात्मक और मूल्यपरक दोनों प्रकार के उन्मुखताओं के दायरे में होते हैं। पार्सन्स के विन्यास प्रकारांतर में वर्णित उन्मुखताओं की प्रकृति के द्विभाजन (अर्थात दो भागों में बांटने के) द्वारा व्यक्तियों के समाज में की जाने वाली क्रिया दिशा निर्धारित होती है। इस इकाई में हमने अनुकूलन, लक्ष्य प्राप्ति, एकीकरण और विन्यास अनुरक्षण जैसी प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाओं का वर्णन किया है जिसके बिना सामाजिक प्रणाली का अस्तित्व संभव नहीं है। अंत में, हमने इस इकाई में सार्वभौमवाद, विशिष्टतावाद, प्रदत्त की संरचना के प्रकारों का वर्णन किया। पार्सन्स ने इस विभिन्न प्रकारों की सामाजिक प्रणालियों के उदारहण वास्तविक समाजों में से दिए हैं।

## 27.9 शब्दावली

**अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता (motivational orientation)** — यह सामाजिक क्रिया के पहलू की ओर संकेत करती है। किसी समाज के ऐसे कारण या प्रयोजन जो समाज के

मूल्यों या प्रतिमानों से संबंधित नहीं होते, जैसे किसी अवसर के लिए सबसे अच्छी साड़ी का चुनाव या जन्मदिन के लिए उपयुक्त कार्ड का चयन।

**उपयोगितावादी दृष्टिकोण (utilitarian approach)**

यह उस विश्वास की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार समाज में व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति और कष्टों का निवारण तर्कसम्मति अभिप्रेरणों (rational motives) या प्रयोजनों से निर्देशित होता है। सुखवाद (यानी जीवन में सुख ही मूल तत्व है) उपयोगितावाद में विश्वास का एक भाग है।

**क्रिया (action)**

पार्सन्स के अनुसार क्रिया एक मानव-व्यवहार है, जिसकी निम्नलिखित चार स्थितियां है :

i) यह लक्ष्य प्राप्ति या अन्य प्रत्याशित क्रियाओं की ओर उन्मुख होता है।

ii) इसका निष्पादन विशिष्ट स्थिति में होता है।

iii) यह समाज के मानदंडों और मूल्यों से नियमित होता है।

iv) इसमें "ऊर्जा" या प्रयास लगाना ज़रूरी होता है।

**मूल्यपरक उन्मुखता (value orientation)**

यह सामाजिक क्रिया के उस उन्मुखता की ओर संकेत करता है, जो सामाजिक मानदंडों और मूल्यों से नियंत्रित होते हैं। ये सामाजिक मूल्य हैं, जैसे अपनी ही जाति या वर्ग के व्यक्ति से विवाह करना अथवा किसी औपचारिक पार्टी में औपचारिक पोशाक पहनना।

**मूल्यांकनात्मक/मूल्यांकन परक (evaluative)**

इसका संबंध तुलनात्मक मूल्य-निर्णय से है।

**बोधपरक (cognitive)**

इसका संबंध किसी विषय के बोधन या समझने से हैं। उदाहरण के लिए, जब आप कुर्सी को देखते हैं तो आप यह जानते हैं कि यह कुर्सी है, क्योंकि इसका एक विशिष्ट आकार होता है और यह लकड़ी या धातु की बनी होती है, आदि।

**भावप्रवण (cathectic)**

इसका संबंध व्यक्तियों के भावनाओं से होता है, जैसे स्नेह, प्यार, पसंद, अरूचि आदि।

**सामाजिक प्रणाली (social system)**

इसकी अभिव्यक्ति सिद्धांतों की समग्रता के माध्यम से होती है, जिसके द्वारा सामाजिक अंत:क्रिया की भूमिकाएं और संबंधित तत्वों को संगठित किया जाता है।

**सामाजिक संरचना (social structure)**

यह उस विशिष्ट प्रकार की ओर संकेत करती है, जिसमें परस्पर क्रिया की स्थिति में भूमिकाओं का सविन्यास होता है।

## 27.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ब्लैक, मैक्स (सं.) 1961 *द सोशल थ्योरीज़ ऑफ टालकट पार्सन्स: ए क्रिटिकल ऐक्ज़ामिनेशन* प्रेंटिस हॉल, इन्को: ईंगलवुड क्लिफ्स न्यूज

हैमिल्टन, पीटर 1983 *टालकट पार्सन्स के, सोशियलिस्ट सीरीज़ रूटलेज: लंदन एंड न्यूयार्क*

*पार्सन्स, टालकट 1951 द सोशल सिस्टम द फ्री प्रेस: ग्लेनको इलिनॉय*

## 27.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) पार्सन्स के अनुसार सामाजिक क्रिया का उपयोगितावादी दृष्टिकोण अत्यधिक व्यक्तिवादी है। ये व्यक्तिगत स्तर पर तर्कसंगत परिकलन को महत्व देते हैं। प्रत्यक्षवादियों के विचार में सामाजिक पात्र जिस स्थिति में क्रिया करते हैं यानि जिन स्थितियों में वे अपनी भूमिकाएं निष्पादित करते हैं उनके बारे में वे सब कुछ जानते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि से पात्र के पास क्रिया करने का एक ही तरीका है और वही सही तरीका है। इस दृष्टिकोण के अनुसार क्रियाओं या मूल्यों में परिवर्तन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। और अंत में, आदर्शवादियों के अनुसार सामाजिक क्रिया प्रयोजन सामाजिक भावना और सामाजिक विचारों अर्थात् लोकतंत्र या समाजवाद की प्राप्ति है। वे मूल्यों और आदर्शों को ज़रूरत से ज़्यादा महत्व देते हैं।

ii) सामाजिक भूमिकाओं का संस्थागत होना तब होता है जब उस भूमिका से, उसके मूल्यों से और अभिप्रेरणात्मक अभिविन्यासों से जो अपेक्षाएं हैं वे समाज की संस्कृति में एकरूप हो जाती है। समाज अपने सदस्यों की भूमिका-अपेक्षाओं के बारे में कुछ सामान्य मानक निर्धारित करता है और जब पात्र(जो सामाजिक भूमिका का निर्वाह कर रहे हैं) समाज के इन सामान्य मानकों को आत्मसात् कर लेते हैं तो यह कह सकते हैं कि उनकी भूमिकाएं संस्थागत हो गई हैं।

iii) क) बाज़ार
ख) अलगाव
ग) सांस्कृतिक
घ) भावप्रवण
ड) मूल्यपरक उन्मुखता

**बोध प्रश्न 2**

i) विन्यास प्रकारांतर, उन्मुखताओं अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता और मूल्यपरक उन्मुखता के क्षेत्र में द्विभाजन की ओर संकेत करते हैं। इसमें सामाजिक पात्र क्रिया करने से पहले एक पक्ष को चुन लेता है। भूमिकाओं के निष्पादन में भूमिका-अपेक्षाओं से संबंधित मूल्यों के गलत रूप में आत्मसात् करने के कारण पात्रों (व्यक्तियों) के सामने दुविधा की स्थिति पैदा हो जाती है। भूमिका निष्पादन में ये तनाव विन्यास प्रकारांतर के द्विभाजन में दिखाई देते हैं। ये विन्यास प्रकारांतर हैं:

i) भावात्मकता बनाम भावात्मक तटस्थता
ii) आत्म उन्मुखता बनाम सामूहिक उन्मुखता
iii) सार्वभौमवाद बनाव विशिष्टतावाद

iv) प्रदत्त बनाम अर्जित, और

v) विनिर्दिष्टता बनाम विसरणता

ii) क) भावात्मकता

ख) सामूहिक उन्मुखता

ग) सार्वभौमवाद

घ) अर्जित

ड) विनिर्दिष्टता

च) प्रसरणता

**बोध प्रश्न 3**

i) क) सीमा

ख) वातावरण, अपरिहार्य

ग) प्रकार्यात्मक पूवपिक्षाएं

घ) सामाजिक संरचना

ii) अनुकूलन एक प्रकार्यात्मक पूर्वपिक्षा है। इसका अर्थ यह है कि प्रणाली के बाहर से यानी बाहरी वातावरण से आहार, पानी, निर्माण-सामग्री आदि संसाधनों का उत्पादन और अधिग्रहण करना। समाज में संसाधनों का वितरण भी इसी के द्वारा होता है। इस प्रकार्यात्मक पूवपिक्षा का सबसे अच्छा उदाहरण अर्थव्यवस्था है। यह व्यवस्था के बाहरी कारकों की ओर उन्मुख है और इसका स्वरूप साधनात्मक या नैमित्तिक है।

iii) पार्सन्स के अनुसार सामाजिक प्रणाली के सविन्यास का विशिष्टतावादी अर्जित विन्यास में परिवारवादी मूल्यों का विशेष महत्व था। इस प्रकार में रिश्ते-नातों का संबंध, पूर्वज व्यवस्था पर विश्वास और पूर्वजों की पूजा आदि मूल्य प्रमुख थे। पेशों, अधिकार, प्रबंध व्यवस्था आदि के संगठन जन्म और रिश्ते नातों के विशिष्टतावादी सिद्धांतों पर आधारित थे। लेकिन इस समाज में विधि सममत तर्कपरक कार्य के समान भूमिकाओं के निष्पादन में अर्जित और "औचित्य-संहिता" का पालन किया जाता था। इस प्रकार की समाज प्रणाली का एक उदाहरण परंपरागत या पुरातन चीनी समाज है।

# इकाई 28 प्रकार्यवाद और सामाजिक परिवर्तन - पार्सन्स

इकाई की रूपरेखा


28.0 उद्देश्य

28.1 प्रस्तावना

28.2 पार्सन्स की प्रकार्यवाद की अवधारणा

28.3 प्रकार्यवाद और सामाजिक परिवर्तन

28.4 सामाजिक प्रणालियों के भीतर परिवर्तन

28.4.1 परिवर्तन के लिए दबाव पैदा करने वाले कारक

28.4.2 सामाजिक आंदोलन और सामाजिक परिवर्तन

28.5 सामाजिक प्रणालियों में आमूल परिवर्तन: विकासात्मक सार्विकीय तत्व

28.5.1 आदिम अथवा प्राचीन समाज

28.5.2 मध्यवर्ती समाज

28.5.3 आधुनिक समाज

28.6 सारांश

28.7 शब्दावली

28.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

28.9 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 28.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपके लिए संभव होगा

- पार्सन्स की प्रकार्यवाद की अवधारणा की व्याख्या करना
- प्रकार्यवाद एवं सामाजिक परिवर्तन के संबंधों का विवेचन करना
- सामाजिक प्रणालियों के भीतर होने वाले परिवर्तनों पर प्रकाश डालना
- पार्सन्स द्वारा दिए गए विकासात्मक सार्विकीय तत्वों अथवा सामाजिक प्रणालियों में, आमूल परिवर्तनों का विवरण देना।

## 28.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई (इकाई 27) में आपको टालकट पार्सन्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक प्रणाली की अवधारणा की जानकारी दी गई थी। इस इकाई में प्रकार्यवाद एवं सामाजिक परिवर्तन की उसकी अवधारणा की व्याख्या की जा रही है। पार्सन्स ने सामाजिक परिवर्तन के दो प्रकारों को उल्लेख किया है। एक है सामाजिक प्रणाली के भीतर होने वाला परिवर्तन और दूसरा है सामाजिक प्रणालियों का परिवर्तन। हमने दन दौनों प्रकार के सामाजिक परिवर्तनों की व्याख्या की है। भाग 28.2 में पार्सन्स की प्रकार्यवाद की अवधारणा तथा भाग 28.3 में प्रकार्यवाद और सामाजिक परिवर्तन के संबंधों का विवेचन किया गया है। भाग 28.4 में सामाजिक प्रणालियों के भीतर होने वाले परिवर्तन के बारे में तथा भाग 28.5 में पार्सन्स द्वारा प्रतिपादित विकासात्मक सार्विकीय तत्वों के माध्यम से सामाजिक प्रणालियों में आमूल परिवर्तनों के बारे में बताया गया है।

## 28.2 पार्सन्स की प्रकार्यवाद की अवधारणा

पार्सन्स के अनुसार सामाजिक प्रणाली की स्थिरता केवल समाज द्वारा अपने सदस्यों पर लागू किए गए नियम-मर्यादाओं तथा सरकार द्वारा अपने नागरिकों पर लागू किए गए सामाजिक नियंत्रण के अन्य उपायों के माध्यम से ही नहीं, बल्कि समाज के सदस्यों द्वारा समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से सामाजिक मूल्यों, अपेक्षित आचार पद्धतियों तथा सामाजिक अस्तित्व की संहिताओं को आत्मसात करके कायम की जाती है। बच्चा विभिन्न सामाजिक संस्थाओं तथा भूमिकाओं के वांछित एवं वर्जित, दोनों तरह के मूल्यों तथा प्रतिमानों के संबंध में अपने परिवार तथा पड़ोस के वातावरण से ही सीखता है। बड़ा होने पर वह स्कूल, कॉलेज तथा काम के स्थानों पर अन्य सामाजिक मूल्यों एवं वांछित आचार-पद्धतियों को सीखता और अपनाता है।

पिछली इकाई में आपने पार्सन्स की सामाजिक प्रणाली की प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाओं की अवधारणा के बारे में भी पढ़ा होगा। पार्सन्स के मतानुसार अनुकूलन (adaptation), लक्ष्यप्राप्ति (goal-orientation), एकीकरण (integration) तथा विन्यास अनुरक्षण (latency) जैसी ये पूर्वापेक्षाएं किसी भी सामाजिक प्रणाली के अस्तित्व के लिए आवश्यक प्रतिक्रियाएं हैं। सामाजिक प्रणाली का अस्तित्व बनाए रखने में संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं के योगदान को पार्सन्स ने प्रकार्यात्मक माना है।

प्रकार्यवाद इस दृष्टिकोण को व्यक्त करता है कि सभी सामाजिक प्रणालियों की अभिवृत्ति तत्वों (अंग) के रूप में ऐसी प्रक्रियाओं और संस्थाओं को विकसित एवं एकीकृत करने की है जो उसे बनाए रखने में सहायक होती है। सामाजिक प्रणालियां बुनियादी तौर पर इन इकाइयों को अपने अंगों के रूप में विकसित करती रहती हैं और ये इकाईयां प्रक्रियाओं(पार्सन्स के अनुसार अनुकूलन, लक्ष्य-प्राप्ति, एकीकरण तथा विन्यास अनुरक्षण) और संस्थाओं जैसे कि सरकार, अर्थव्यवस्था, विद्यालय, अदालत आदि के रूप में हो सकती हैं जो प्रणाली को बनाए रखने के उद्देश्य को लेकर काम करती हैं। इन प्रक्रियाओं तथा संस्थाओं के संचानल के परिणामों की उद्देश्यता को **टीलियोलॉजी** (teleology) का नाम दिया गया है जो प्रकार्यवाद का अनिवार्य गुण है। यह मानव शरीर की जैविक प्रणाली के समान काम करता है। मानव शरीर में श्वसन क्रिया, रक्त संचार, नियमित तापक्रम आदि प्रक्रियाओं का उद्देश्य शरीर को स्वस्थ बनाए रखना है। ये प्रक्रियाएं टीलियोलॉजिकल अथवा उद्देश्य निहित है।

साधारण शब्दों में कहा जा सकता है कि टीलियोलॉजी ऐसी व्याख्या है जिसका अभिप्राय सुनिश्चित उद्देश्य से होता है। उदाहरण के लिए यह तर्क देना उद्देश्यपूर्ण होगा कि फल और बीज(खाद्य पदार्थ) इसीलिए विद्यमान हैं कि पशु-पक्षी उनका पोषण करके जीवित रह सकें अथवा बंदरों की लंबी पूंछ का प्रयोजन यही है कि वे आसानी से एक पेड़ से दूसरी पेड़ तक छलांग लगा सकें (देखिए कोष्ठक 28.01: टीलियोलॉजी)।

**कोष्ठक 28.01: टीलियोलॉजी**

प्रकार्यवाद की आलोचनाओं में से प्रकार्यवाद का टीलियोलॉजिकल स्वरूप होना, उसकी एक तर्कसंगत आलोचना है। जैसा कि आपको मालूम है कि इसका अभिप्राय उस दृष्टिकोण से है जिसमें विकास उन्हीं उद्देश्यों के कारण होते है, जिनकी वे सिद्धि करते हैं। अत: इस व्याख्या के अनुसार परिणाम (effect) को कारण (cause) के समान समझा जाता है। प्रकार्यवादी सिद्धांत में यही मुख्य एतराज़ है। उदाहरण के लिए इस सिद्धांत के अनुसार समाज में धर्म इसीलिए होता है कि वह समाज की नैतिक व्यवस्था को बनाए रखे। इस स्थिति में धर्म जो कि एक परिणाम है, उसकी व्याख्या कारण के रूप में दी गई है परंतु वास्तव में कारण नैतिक व्यवस्था है (प्रकार्यवाद की आलोचना के लिए देखिए पुस्तक - कोहेन 1968, अध्याय 3)।

प्रकार्यवाद का टीलियोलॉजिकल स्वरूप इसकी तर्कसंगत आलोचना क्यों है? यह प्रकार्यवाद की तर्कसंगत आलोचना इसलिए है क्योंकि इसमें परिणाम, जो कि बाद में आता है, उससे कारण की व्याख्या की जाती है, जबकि कारण परिणाम से पहले होता है। यह तर्क के क़ानूनों के विरूद्ध है। उदाहरण के लिए यह कहना कि "क" कारक से "ख" कारक पैदा होता है अत:, "ख" कारक का विद्यमान होना "क" कारक की विद्यमानता को दर्शाता है। प्रकार्यवादी विचारधारा के समाजशास्त्री, जैसे कि दर्खाइम और अन्य, प्रकार्यवाद की त्रुटियों से अवगत थे और उन्होंने इनको सही करने का प्रयास भी किया।

मानव शरीर की महत्वपूर्ण क्रियाओं का उद्देश्य शरीर का जीवित बने रहना है और यदि किसी बाहरी तत्व से शरीर को ख़तरा होता है तो उसकी आंतरिक प्रणाली तुरंत शरीर के बचाव में सक्रिय हो जाती है और जब तक वह ख़तरा नहीं टलता यह सक्रियता जारी रहती हैं। इस प्रकार की प्रक्रियाएं शरीर में आत्म-नियामक भूमिका (self regulatory role) निभाती हैं। इसे होमोस्टेसिस (homeostasis) कहते हैं (देखें अनुभाग 28.7 शब्दावली में इस शब्द का अर्थ)।

प्रकार्यवाद का अर्थ है कि सामाजिक प्रणालियां मानव शरीर की जैविक प्रणाली के समान हैं। इन प्रणालियों में सामाजिक प्रक्रियाएं तथा संस्थाएं वही काम करती हैं तथा सामाजिक प्रणालियों को जीवित रखने के उद्देश्य को लेकर उसी प्रकार चलती हैं, जिस प्रकार मानव, शरीर में प्रकार्यात्मक प्रक्रियाएं काम करती हैं। सामाजिक प्रणाली और मानव शरीर दोनों में आत्म-नियामक क्रियाविधि होती है, जिससे उनमें स्थिरता बनी रहती है और बाहरी ख़तरों से उनका बचाव होता है। इस तरह की संतुलन-क्षमता को होमोस्टेसिस कहते हैं। किंतु इनमें एक अंतर है कि मानव शरीर मनुष्य की सभी प्रजातियों में एक समान होता है, जबकि सामाजिक व्यवस्थाएं इतिहास की उपज होती हैं। पार्सन्स का मानना है कि सामाजिक प्रणालियों के स्वरूप तथा शैलियों में बहुत भिन्नताएं हैं। मानव शिशु की सुघट्यता (plasticity) में यह तथ्य प्रकट होता है, जिनका विकास अन्य जीवों के समान आचरण की एक जैसी विशेषताओं के साथ नहीं होता। विभिन्न भाषाएं सीखने के साथ जिन समाज अथवा समूहों में उनका जन्म होता है, उनके तरह-तरह के सांस्कृतिक मूल्यों एवं आचार-विचारों के अनुकूल वे ढलते हैं। उनमें अनेक भाषाओं, सांस्कृतिक शैलियों आदि को अपनाने की क्षमता होती है। मनुष्य अन्य जीवों की तरह पूर्व-निर्धारित सहज प्रवृत्तियां लेकर जन्म नहीं लेते। मानव-शिशु की समाजीकरण की प्रक्रिया तथा उसकी व्यक्तित्व प्रणाली संबंधित सामाजिक प्रणाली के सामाजिक आचार-विचार तथा मूल्यों के आत्मसात् के माध्यम से सामाजिक प्रक्रिया की स्थिरता और एकता को बनाए रखती है। इसके अतिरिक्त, मनुष्य संस्कृति और समाज से सीखने के साथ-साथ संस्कृति की नई शैलियां विकसित करने तथा उन्हें मौजूदा शैलियों में समन्वित करने में भी सक्षम हैं।

## 28.3 प्रकार्यवाद और सामाजिक परिवर्तन

प्रकार्यवाद की उपर्युक्त विशेषताओं से हमें यह आभास हो सकता है कि इसका संबंध सामाजिक प्रणाली की निरंतरता एवं अनुरक्षण मात्र से है। इसमें सामाजिक परिवर्तन की धारणा नहीं है। वास्तव में अनेक समाजशास्त्रियों ने प्रकार्यवाद की केवल इसलिए आलोचना की है कि इसमें सामाजिक प्रणाली के उस पहलू पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप स्थिरता एवं निरंतरता बनी रहती हैं। उनका यह भी कहना है कि प्रकार्यवाद बुनियादी मूल्यों, विश्वासों, आचार-पद्धतियों या सामाजिक समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण के मामले में व्यापक सहमति या सर्वानुमति से चलता है। यह आलोचना उस प्रकार्यवादी दृष्टिकोण पर आधारित है, जो कि यह विश्वास करता है कि समाज के सदस्य समाज विशेष में अपनी समूची बाल्यावस्था में एक ही तरह के मूल्यों और विश्वासों से परिचित रहते हैं।

पार्सन्स ने संबंधित सामाजिक प्रणालियों की प्रकार्यात्मक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप सामाजिक प्रणाली में स्थिरता तथा मूल्य सहमति के तत्व के प्रवेश से इनकार नहीं किया। परंतु उसने सामाजिक परिवर्तन की संभावनाओं की भी कल्पना की थी। यह सामाजिक प्रणाली के विशिष्ट स्वरूप तथा प्रेरक प्रवृत्तियों के स्वरूप का परिणाम होता है, जो कि समाज में सदस्यों की कार्य-व्यवस्थाओं को संगठित करते हैं। पहला स्वरूप सामाजिक प्रणालियों को पारिस्थितिकीय संसाधनों और भौतिक एवं पर्यावरण परिस्थितियों जैसा बाह्य सीमवर्ती स्थितियों तथा सांस्कृतिक संपर्क एवं विचारों और हितों के प्रसार जैसे ऐतिहासिक पहलुओं एवं इन ऐतिहासिक पहलुओं के कारण उत्पन्न सामाजिक दबावों के साथ जोड़ता हैं । दूसरा स्वरूप इसे कार्य-प्रणालियों में अभिप्रेरक तत्वों से जोड़ता है, जो अपने स्वरूप में अनिवार्यत: निर्देशात्मक (directional) है। उद्देश्यों तथा मूल्यों के उन्मुखीकरण की दिशा सामाजिक प्रणाली में सामंजस्य और तनाव, दोनों को जन्म देती है। सामजस्य से स्थिरता आती है और तनाव से परिवर्तन होता है। पार्सन्स ने दो स्तरों पर सामाजिक परिर्वतन की कल्पना की है। पहला सामाजिक प्रणाली के भीतर की प्रक्रियाओं से उभरने वाला परिवर्तन और दूसरा है सामाजिक प्रणाली में आमूल परिवर्तन की प्रक्रियाएं।

पार्सन्स के अनुसार, सामाजिक परिवर्तन के दोनों पहलुओं पर ध्यान देने के लिए सामाजिक विज्ञानों में अभी तक कोई निश्चित सिद्धांत विकसित नहीं हो पाया है, किंतु समाजशास्त्र अपने विश्लेषण को दो पहलुओं तक सीमित रखकर सामाजिक परिवर्तन को समझने की समस्या हल कर सकता है। पहला यह कि परिवर्तन का अध्ययन अवधारणात्मक श्रेणियों अथवा प्रतिरूपों (paradigms) की सहायता से किया जाए। अवधारणात्मक श्रेणियां जिन्हें पार्सन्स ने सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण के लिए महत्वपूर्ण माना है, वे हैं अभिप्रेरणात्मक और मूल्यपरक उन्मुखता तथा सामाजिक प्रणाली की प्रकार्यात्मक पूवपिक्षाएं (इस खंड की इकाई 27 के भाग 27.6 में आपको इसके बारे में जानकारी दी गई है)। पार्सन्स के अनुसार, दूसरा पहलू यह है कि सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन सामान्य स्तर पर नहीं किया जाना चाहिए, जो सभी समाजों पर समान रूप से लागू हो, बल्कि विशिष्ट ऐतिहासिक स्तर पर किया जाना चाहिए। इसलिए पार्सन्स का यह मत है कि समाजशास्त्रियों के लिए समग्र सामाजिक प्रणाली के परिवर्तन की प्रक्रियाओं की तुलना में सामाजिक प्रणाली के भीतर के परिवर्तन का अध्ययन करना सरल है।

पार्सन्स का मुख्य योगदान विभिन्न स्थितियों में सामाजिक प्रणाली के भीतर होने वाले परिवर्तन का अध्ययन है, किंतु उसने समग्र सामाजिक प्रणालियों में परिवर्तन का विश्लेषण करने का, विशेषकर विकासात्मक सार्विकीय तत्वों की अपनी अवधारणा के माध्यम से प्रयास भी किया है, जिसका विकास उसने अपने जीवन के बाद के वर्षों में किया था। हमने सामाजिक परिवर्तन में पार्सन्स के योगदान का अध्ययन इन दोनों स्तरों पर किया है। इसकी चर्चा अगले भाग में की जाएगी।

परंतु, अगले भाग को पढ़ने से पूर्व बोध प्रश्न 1 को पूरा करें।

**बोध प्रश्न 1**

i) प्रकार्यवाद की अवधारणा की व्याख्या लगभग छः पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

ii) टीलियोलॉजी (teleology) से क्या अभिप्राय है? चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

iii) निम्नलिखित वाक्यों में रिक्त स्थान भरिए।

क) मानव शरीर के विपरीत, जो मनुष्य की सभी प्रजातियों में एक समान है, सामाजिक प्रणालियां ..... उपज हैं।

ख) अभिप्रेरणाओं तथा मूल्यों के उन्मुखीकरण की दिशा सामाजिक प्रणाली में ..... और ..... दोनों को जन्म देती है। पहले से स्थिरता आती है और दूसरा ..... का कारण बनता है।

## 28.4 सामाजिक प्रणालियों के भीतर परिवर्तन

सामाजिक प्रणालियों के भीतर होने वाले सामाजिक परिवर्तनों की पार्सन्स की व्याख्या में प्रकार्यवाद के तत्व सुस्पष्ट दृष्टिगत हैं। उसने जैविक जीवन चक्र में होने वाले परिवर्तनों से सामाजिक प्रणालियों के भीतर होने वाले परिवर्तनों की तुलना की है, किंतु इस तुलना में एक अंतर बताते हुए पार्सन्स ने कहा है कि सामाजिक प्रणालियां सांस्कृतिक पहलुओं से संचालित होती हैं, जो जीव विज्ञान से पर्याप्त भिन्न हैं। फिर भी, विकास, विभेदीकरण और आत्म-अनुरक्षण की जो प्रवृत्ति हमें जैविक प्रणालियों के भीतर परिवर्तन की प्रक्रियाओं में दिखाई देती हैं, वही काफ़ी हद तक सामाजिक प्रणाली के भीतर चलती है। इसके अतिरिक्त अन्य संस्कृतियों के संपर्क से प्रणाली के भीतर नई सांस्कृतिक नवीनताओं तथा नए मूल्यों एवं जीवन-शैलियों में विसरण होता है और प्रणाली के भीतर भी परिवर्तन होते हैं।

सामाजिक प्रणाली के भीतर परिवर्तन की प्रक्रिया से जुड़ा एक प्रमुख कारण है जनसंख्या में वृद्धि, उसका घनत्व एवं एकत्रीकरण। मनुष्य के माध्यम से खाद्य संसाधनों तथा उत्पादन प्रौद्योगिकी पर दबाव बढ़ता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अतीत में बृहत् सामाजिक प्रणालियों जैसे कि बड़े समुदायों, नगरों तथा राजनीति के संगठित रूपों का विकास नदी की घाटियों के समीप और उपजाऊ ज़मीनों पर हुआ है, जहां बड़ी मात्रा में अनाज पैदा हो सकता था। इस वृद्धि से जनसंख्या में वृद्धि हुई तथा सामाजिक प्रणाली के भीतर श्रम-विभाजन, शहरों का विकास तथा भारत में जाति व्यवस्था एवं यूरोप में गिल्ड आदि सामाजिक संगठन जैसे बड़े सामाजिक परिवर्तन हुए। पार्सन्स के अनुसार ये पविर्तन सरलता से नहीं होते, बल्कि हमेशा ही पिछले तथा वर्तमान संबंध-विन्यासों, मूल्यों तथा हितों के बीच टकराव पैदा होने के कारण प्रणाली में पुन: संतुलन कायम करने की आवश्यकता के माध्यम से आते हैं। पार्सन्स का कहना है, "विन्यास का रूपांतरण मात्र परिवर्तन नहीं है, बल्कि विरोध पर विजय द्वारा रूपांतरण को परिवर्तन कहा जाता है।" विरोध पर विजय पाने से पार्सन्स का अभिप्राय है सामाजिक प्रणाली में तनाव अथवा द्वंद्व का समाधान करना।

पार्सन्स के अनुसार, प्रत्येक सामाजिक प्रणाली में कुछ समय बाद विभिन्न प्रकार के निहित स्वार्थ जड़ें जमा लेते हैं, क्योंकि वह प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाओं (अनुकूलन, लक्ष्य प्राप्ति, एकीकरण एवं विन्यास अनुरक्षण) के अनुरूप स्वयं को संयोजित कर लेती है। प्रणाली के भीतर से नए विचारों की मांगों, प्रौद्योगिकी में परिवर्तन की आवश्यकता अथवा प्रणाली पर जलवायु या पारिस्थितिकी में परिवर्तन अथवा महामारी जैसे बाहरी तत्वों के दबाव के कारण सामाजिक प्रणालियों को अपने निहित स्वार्थों को छोड़कर नए चिंतन, विचारों, प्रौद्योगिकी, कार्य-पद्धति, श्रम-विभाजन आदि को अपनाना पड़ता है। इसके फलस्वरूप सामाजिक प्रणाली का पुराना संतुलन बिगड़ जाता है और उसके स्थान पर नया संतुलन लाया जाता है। इन दो छोरों के बीच सामाजिक प्रणालियों के भीतर

अनुकूलन की लंबी प्रक्रियाएं चलती हैं, जिनके द्वारा नए विचार, नई कार्यपद्धतियां लोगों के लिए स्वीकार्य बनाई जाती हैं। पार्सन्स ने इस प्रक्रिया को संस्थागत होना (institutionalisation) कहा है। नई भूमिकाओं, संगठनों के नए प्रकारों, विज्ञान का विकास और धार्मिक विचार जैसे नए सांस्कृतिक संरूपों (cultural configurations) से सामाजिक प्रणाली में संतुलन की मौजूदा विधियों पर दबाव पड़ता है और अतिक्रमण होता है। सामाजिक संगठन के पुराने तत्वों पर नए तत्वों के अतिक्रमण के फलस्वरूप स्थापित निहित स्वार्थों के साथ संघर्ष एवं तनाव उत्पन्न होता है। पार्सन्स के अनुसार, किसी एक कारण से ही सामाजिक तनाव पैदा नहीं होते और न ही सामाजिक परिवर्तन का कोई एक मुख्य कारक होता है। किंतु सामाजिक तनाव सामाजिक विकास के उस बिंदु का प्रतीक है, जहां पर सक्रिय संपर्क प्रणालियों और प्रणाली की संस्थाओं तथा संरचनाओं (भूमिकाओं, प्रस्थितियों, व्यवसायों आदि) का पुराना संतुलन बिगड़ जाता है और नए संतुलन की दिशा में बढ़ने की प्रवृत्ति का सूत्रपात होता है।

## 28.4.1 परिवर्तन के लिए दबाव पैदा करने वाले कारक

पार्सन्स ने ऐसे कई पहलुओं का उल्लेख किया है, जो सामाजिक प्रणालियों में नया संतुलन स्थापित करने के लिए आवश्यक दबाव पैदा करते हैं। इनमें से कुछ कारक इस प्रकार हैं:

i) एक स्थान से दूसरे स्थान पर लोगों के सामूहिक रूप से चले जाने, प्रजातियों के अंतर्मिश्रणों (अंतर्समुदाय विवाह), उसके साथ-साथ लोगों की मृत्यु और जन्म दर में परिवर्तन आदि के माध्यम से जनसंख्या के जनसांख्यिकीय (demographic) स्वरूप में परिवर्तन, इन सभी कारकों से सामाजिक संरूप में बदलाव आता है।

ii) भौतिक वातावरण में परिवर्तन जैसे कि भौतिक संसाधनों (मृदा, जल, मौसम आदि की समाप्ति)। इससे भी सामाजिक प्रणाली में तनाव और परिवर्तन आ सकता है।

iii) सामाजिक प्रणाली के भीतर सदस्यों के लिए संसाधनों की उपलब्धता और खाद्य उत्पादन में वद्धि के कारण जनसंख्या में परिवर्तन

iv) प्रौद्योगिकी में परिवर्तन और समाज की प्रगति के लिए वैज्ञानिक जानकारी का उपयोग

v) नए धार्मिक विचार, अथवा धार्मिक मूल्यों तथा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी आदि के बीच एकीकरण जैसे नए "सांस्कृतिक संरूप" भी सामाजिक प्रणाली में परिवर्तन ला सकते हैं।

पार्सन्स का कहना है कि ये पहलू अपने आप में पूर्ण नहीं है किंतु उन अनेक तत्वों में से महत्वपूर्ण होने का संकेत देते हैं जो अपने अलग अस्तित्व के रूप में नहीं, बल्कि "परस्पराश्रित समूह" (interdependent plurality) हैं अर्थात् अनेक तत्व एक-दूसरे का सहारा लेकर सामाजिक प्रणाली के भीतर लाने के लिए काम करते हैं।

सांस्कृतिक तत्व मूल्यों और विश्वासों के **तर्कसंगतिकरण** तथा परंपरागत होने की सतत प्रक्रियाओं के द्वारा सामाजिक प्रणाली के भीतर परिवर्तन होते हैं। पार्सन्स ने तर्कसंगतिकरण की अवधारणा का प्रयोग वेबर की व्याख्या के अनुसार किया है, जिसका अभिप्राय है कार्य, व्यक्तिगत कर्त्तव्यों तथा सामाजिक संस्थानों के प्रति तर्कसंगत, व्यक्तिवादी और अभिनव दृष्टिकोण के क्रमिक विकास की प्रक्रिया। इसका अर्थ है राजा, पुजारी तथा नेता जैसे शासक लोगों की व्यक्तिगत सनक अथवा परंपरा अथवा रीति-रिवाज की बजाय उत्तरदायित्व के निर्धारण के कानूनी तथा औपचारिक उपायों में बढ़ोतरी। किंतु तर्कसंगतिकरण की प्रक्रिया के साथ साथ सामाजिक प्रणालियों में कुछ समय बाद मूल्यों को स्थायित्व प्रदान करने अथवा संस्थागत करने की प्रवृत्ति भी रहती है, जिससे निहित स्वार्थ उभर आते हैं। ये निहित स्वार्थ स्थितियों में परिवर्तन होने के बावजूद उन्हीं मूल्यों को जारी रखने पर बल देते हैं। ऐसा होने पर तार्किक मूल्यों में फिर से परंपरा का रूप आने लगता है। समाज तथा सामाजिक प्रणाली में तर्कसंगतिकरण और **परम्परागत होने की प्रक्रिया**

निरंतर चलती रहती है और पुराने मूल्यों के स्थान पर नए मूल्यों की परिकल्पना के माध्यम से तर्कसंगति करण के नए रूप उभरते हैं और इस प्रकार यह चक्र निरंतर गतिशील रहता है (देखें चित्र 28.1)।

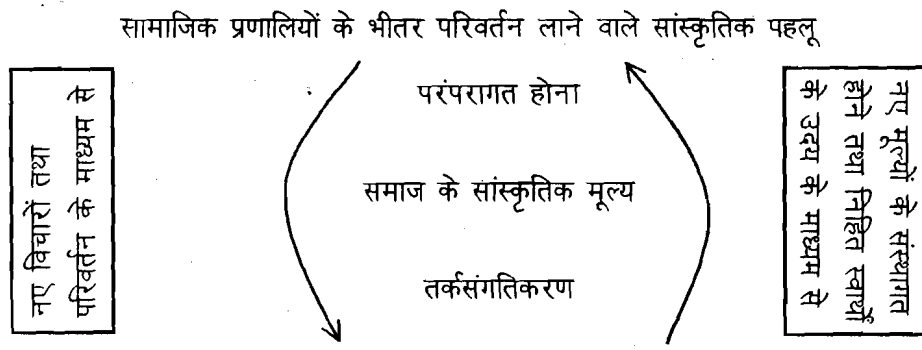


**चित्र 28.1: सामाजिक प्रणाली के भीतर परिवर्तन का एक उदाहरण**

पार्सन्स ने परिवार प्रणाली के उदारहणों से सामाजिक प्रणाली के भीतर परिवर्तन की क्रियाओं को स्पष्ट किया है। परिवार में उसके सदस्यों के जीवनचक्र में अंतर्निहित परिवर्तन के फलस्वरूप उसमें परिवर्तन होता रहता है। जन्म, बाल्यावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था और मृत्यु की प्रक्रियाएं सभी परिवारों के अनिवार्य अंग है और इनमें से प्रत्येक प्रक्रिया ऐसे सामाजिक परिणाम लाती है जो परिवर्तन तथा पारिवारिक भूमिकाओं, सदस्यों के व्यवसाय, सत्ता, प्रस्थिति और मूल्यों एवं विश्वासों में नए समायोजन को आवश्यक बना देते हैं। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के मूल्यों तथा दृष्टिकोण में परिवर्तन परिवार प्रणाली के अंतर्निहित तत्व हैं। परिवार में निरंतरता तथा परिवर्तन ही इस प्रक्रिया की महत्वपूर्ण विधि है। बालक के समाजीकरण की यह प्रक्रिया बालक के व्यक्तित्व में प्रणाली के मूल्यों को स्थापित करती है, किंतु बड़ा होने पर उसी बालक को समाज की व्यापक प्रणालियों से अन्य मूल्य ग्रहण करने के लिए मिलते हैं। हो सकता है कि बड़ा होने पर उसकी नई भूमिकाएं और अपेक्षाएं बाल्यावसथा की भूमिकाओं एवं अपेक्षाओं से मेल न खाती हों। इस प्रकार, परिवार प्रणाली में स्थिरिता और परिवर्तन की अंतर्निहित प्रक्रियाएं हैं।

आइए इस बिंदु पर सोचिए और करिए 1 को पूरा कर आगे बढ़ा जाए।

**सोचिए और करिए 1**

उन भूमिकाओं पर ध्यान से विचार कीजिए, जो आपके द्वारा अपने परिवार में अदा की जाती हैं। अब इनकी तुलना उन भूमिकाओं से कीजिए, जो आपने बालक/बालिका के रूप में अपने परिवार में निभाई थीं।

अपने परिवार के सदस्य के रूप में अपनी भूमिकाओं तथा भूमिका अपेक्षाओं में परिवर्तन (अर्थात आपके विचार में परिवार के सदस्य आपसे क्या अपेक्षा रखते हैं।) पर एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए। यदि संभव हो तो अपनी टिप्पणी की अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणियों से तुलना कीजिए।

इन परिवर्तनों को परिवार चक्र के अध्ययन द्वारा चित्रित किया जा सकता है। इस चक्र का एक पहलू शरीरिक विकास प्रक्रिया में बच्चे की भूमिका में परिवर्तन से संबंधित है। इससे बदलते हुए जैविक चक्र (उदाहरण के लिए बाल्यावस्था, किशोरावस्था, प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था) में व्यक्ति के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है क्योंकि इसके साथ भूमिका अपेक्षाएं बदल जाती हैं। पुराने शैक्षिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों के स्थान पर नए मूल्यों को आत्मसात् करना आवश्यक हो जाता है। समाजीकरण की जैविक प्रक्रिया निर्बाध नहीं होती, क्योंकि जीवन के एक चरण से दूसरे चरण में परिवर्तन में विरोध और चिंता का सामना करना पड़ता है। इससे नई भूमिकाओं तथा नए मूल्यों को सीखने के स्थान पर पुराने मूल्यों के संरक्षण की नई विधियां सामने आती हैं। इसलिए

समाजीकरण और शिक्षा की प्रक्रियाओं में पुरस्कार तथा दंड के माध्यम से सदैव भूमिका-अपेक्षाओं में हेर-फेर होती रहती है। बचपन में यह भूमिका मां-बाप निभाते हैं और बड़ा होने पर सामाजिक प्रतिबंधों की अपनी संरचना के द्वारा अपेक्षित भूमिकाओं के साथ सामाजिक प्रणाली अनुरूपता स्थापित करती है।

परिवार चक्र का दूसरा पहलू संरचनात्मक है। इसका निर्धारण परिवार के सदस्यों की संख्या में परिवर्तन से होता है। एकल परिवारों में सदस्यों की संख्या में वृद्धि से संयुक्त परिवार बन जाते हैं। परिवार का यह आकार प्रणाली के आंतरिक तथा बाहरी दोनों पहलुओं से प्रभावित हो सकता है। बाहरी पहलुओं में आर्थिक साधन, सम्पत्ति, व्यवसाय आदि शामिल किए जा सकते हैं। आंतरिक पहलू जन्म-दर तथा लिंग-अनुपात से निर्धारित होते हैं। ये दोनों पहलू एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं।

## 28.4.2 सामाजिक आंदोलन और सामाजिक परिवर्तन

पार्सन्स ने सामाजिक प्रणाली के भीतर परिवर्तन का विवेचन निम्नलिखित दो स्तरों पर किया है।

i) पहला स्तर है **भूमिका के विभेदीकरण, समाजीकरण तथा संस्थागत** होने की प्रक्रियाओं तथा उनके दबावों के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन (परिवार प्रणाली के उदाहरण को देखिए)। इस प्रकार का परिवर्तन धीमा, सतत और स्वरूप में अंतर्निहित अनुकूलनपरक होता है। इस तरह के परिवर्तन की प्रक्रियाओं की श्रृंखला है: नवीनताएं अथवा तर्कसंगतिकरण, नवीनता का संस्थागत होना, नए संस्थागत अनुकूलन के आस पास निहित स्वार्थों का विकसित होना और अंततः नवीनता फिर से परंपरा बन जाती है। यह अनुकूलनपरक सामाजिक परिवर्तन की निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है।

ii) दूसरा है **क्रांतिकारी आंदोलन के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन,** इस प्रकार का सामाजिक परिवर्तन क्रांतिकारी आंदोलन के फलस्वरूप होता है जिसके कारण सामाजिक प्रणाली के संतुलन में अचानक अंतर आ जाता है। पार्सन्स ने इसके लिए साम्यवादी तथा नाज़ी आंदोलनों के उदाहरण दिए हैं। पार्सन्स के अनुसार इन आंदोलनों के ज़ोर पकड़ने तथा सामाजिक प्रणाली में महत्ता पाने से पहले समाज में चार प्रकार की स्थितियां अवश्य होनी चाहिए। ये स्थितियां नीचे दी जा रही हैं।

   क) लोगों में व्यापक रूप से फैली विलगता अथवा अलगाव की भावना; दूसरे शब्दों में, जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग मौजूदा प्रणाली से असंतुष्ट होना चाहिए।

   ख) विद्रोही (अथवा वैकल्पिक विपरीत पक्ष) उपसंस्कृति के संगठन की विद्यमानता; अन्य शब्दों में, ऐसी विपरीत विचारधारा की विद्यमानता जो मौजूदा विचारधारा से एकदम पृथक हो। इससे सामाजिक प्रणाली के प्रतिबंधों पर आचरण न करने और यहां तक कि खुली चुनौती देने में मदद मिलती है।

   ग) उपरोक्त स्थिति के परिणामस्वरूप क्रांतिकारी आंदोलन की सफलता के लिए आवश्यक तीसरी स्थिति होती है और वह है एक विचारधारा; विश्वासों के एक समुच्चय का विकास जिसे सफलतापूर्वक लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया जा सके और उसके मूल्यों, प्रतीकों तथा संस्थागत स्वरूप के औचित्य का दावा किया जा सके।

   घ) इस प्रकार के सामाजिक आंदोलन के लिए चौथी तथा अंतिम स्थिति है नए आंदोलन की विचारधारा को उचित सिद्ध करने तथा उसके समर्थन के लिए शासन की दृष्टि से सत्ता प्रणाली का संगठन करना तथा उसे क्रियात्मक रूप प्रदान करना। सोवियत संघ और चीन में साम्यवादी आंदोलन की सफलता ऐतिहासिक रूप से ऊपर बताई गई चारों स्थितियों की विद्यमानता और वैधता को दर्शाती है।

सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में क्रांतिकारी सामाजिक आंदोलनों का मुख्य परिणाम यह होता है कि

इससे सामाजिक प्रणाली में ऐसी रूपांतरण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है जो कि अनुकूलन लाती है। पार्सन्स के अनुसार, इसका कारण यह है कि अधिकतर क्रांतिकारी विचारधाराओं में आदर्शलोक (utopian) का पुट रहता है। जब इन मूल्यों को लागू किया जाता है तो अनुकूलन संरचनाओं के विकास के लिए "रियायत की प्रक्रिया" अस्तित्व में आती है। विचारधारा जितनी क्रांतिकारी होगी, उस प्रकार की अनुकूलन संरचना तैयार करना उतना ही कठिन होगा। रूढ़िवादिता के प्रति विवशतापूर्ण रूझान होने लगता है। उदारहण के लिए, साम्यवादी आंदोलन में परिवार की संस्था को "बुर्जुआ पूर्वग्रह" अथवा सम्पत्ति के निजी स्वामित्व को एक बुराई की तरह माना गया। परंतु इन दोनों संस्थाओं अर्थात् परिवार और सम्पत्ति के निजी स्वामित्व को समाप्त करना व्यावहारिक धरातल पर संभव नहीं हुआ। इस प्रकार क्रांतिकारी विचारधाराओं में आदर्श एवं व्यवहार के बीच अंतर बना रहता है।

एक और बात यह है कि पार्सन्स के अनुसार सभी क्रांतिकारी आंदोलनों की संरचनाओं में द्वैधवृत्ति पाई जाती है। जैसे कि साम्यवादी आंदोलन में वर्ग तथा समतावाद के बीच। इसके अलावा, इस तरह के आंदोलनों के अनुयायियों में अपनी उपेक्षित आवश्यकता-स्थितियों को संतुष्ट करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है क्योंकि वे प्रणाली को "उनका" अर्थात् किसी अन्य का नहीं बल्कि "हमारा" अर्थात् अपना मानकर चलते हैं। प्रणाली पर अधिकार की भावना के कारण नेताओं में व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आत्मतोष की प्रवृत्ति को बल मिलता है। आगे चलकर इसके कारण क्रांतिकारी सामाजिक आंदोलन की उग्रता कम हो जाती है। अंततः समय बीतने के साथ-साथ क्रांतिकारी आधार पर चलाया गया आंदोलन धीरे-धीरे "रूढ़िवादिता" की ओर बढ़ने लगता है। तब यहां भी पूर्व क्रांतिकारी समाजों की भांति, सदस्यों को अनुरूपता के विन्यास में समाजीकरण करने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है, जिस प्रकार अन्य किसी भी सामान्य सामाजिक प्रणाली में होता है। पार्सन्स का मत है कि इस प्रकार क्रांतिकारी सामाजिक आंदोलन भी, जो सामाजिक प्रणाली में मूल परिवर्तन लाने का दावा करते हैं, अंततः सतत परिवर्तन की बजाए प्रणाली की स्थिरता की आवश्यकताओं के अनुसार अनुकूलन परिवर्तन की प्रक्रिया अपनाने लगते हैं। इस प्रकार के क्रांतिकारी आंदोलनों का प्रारंभ तो परंपरा के विरोध से होता है, किंतु उनका अंत रूढ़िवाद में होता है।

सामाजिक प्रणाली के भीतर परिवर्तन की इस चर्चा के बाद सामाजिक प्रणालियों में आमूल परिवर्तन की चर्चा अगले भाग में होगी। अगले भाग को पढ़ने से पहले बोध प्रश्न 2 को पूरा करें।

**बोध प्रश्न 2**

i) जनसंख्या सामाजिक प्रणाली के भीतर परिवर्तन लाने का प्रमुख पहलू है। लगभग दस पंक्तियों में विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) उन कारकों का विवेचन कीजिए, जो सामाजिक प्रणालियों पर उस दबाव का सृजन करते हैं, जिससे नया संतुलन उभरता है। अपना उत्तर बारह पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) निम्नलिखित कथनों में सही कथन पर (✓) का चिन्ह लगाइए।

क) तर्कसंगतिकरण वह प्रक्रिया है, जिसमें नए मूल्य, विश्वास, दृष्टिकोण आदि संस्थागत होते हैं ( )

ख) तर्कसंगतिकरण कार्य, व्यक्तिगत कर्त्तव्यों तथा सामाजिक संस्थाओं के प्रति तर्कपूर्ण, व्यक्तिवादी और नवीन दृष्टिकोण के क्रमिक विकास की प्रक्रिया है ( )

ग) तर्कसंगतिकरण वह प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति अपने समाज के मूल्यों, विश्वासों और रीतियों को आत्मसात् करते हैं। ( )

## 28.5 सामाजिक प्रणालियों में आमूल परिवर्तन: विकासात्मक सार्विकीय तत्व

आपने अभी तक सामाजिक परिवर्तन के बारे में पार्सन्स के उन विचारों का अध्ययन किया है जो मुख्यतया उसकी प्रारंभिक पुस्तक *द सोशल सिस्टम* (1951) में प्रतिपादित किए गए हैं। अपनी बाद की पुस्तकों विशेषकर *सोसायटीज़: एवल्युशनरी एंड कैम्पेरेटिव पर्सपेक्टिव्स* (1966), *द सोशियोलॉजिकल थ्योरी एण्ड माडर्न सोशियोलॉजी* (1967), *द सिस्टम ऑफ मार्डन सोसायटीज़* (1971) और *द इवोलूशन ऑफ सोसायटीज़* (1977) में पार्सन्स ने सामाजिक परिवर्तन के विकासात्मक सिद्धांत का विस्तृत विवेचन किया। परंतु सामाजिक परिवर्तन के प्रति उसका दृष्टिकोण मुख्यतया प्रकार्यात्मक रहा अर्थात् वह तब भी यही मानता था कि परिवर्तन की सभी प्रक्रियाएं लंबे समय तक प्रणाली को बनाए रखने के लिए विभेदीकरण और अनुकूलन के प्रति दबावों से पैदा होती है। किंतु पार्सन्स ने दो नए कारक भी प्रस्तुत किए, जो इस प्रकार हैं:

i) उसने **"विकासात्मक सार्विकीय तत्वों"** (evolutionary universals) की अवधारणा का प्रतिपादन किया, जिसका अर्थ है कि यदि हम समाजों में एक लंबे अंतराल का परिवर्तन देखें तो स्पष्ट होता है कि (अपनी संस्कृति और भौतिक वातावरण से बंधे होने के कारण) समाज की विशिष्ट ऐतिहासिक विशेषताओं के बावजूद प्रत्येक सामाजिक प्रणाली विकास की कुछ सामान्य दिशाओं से गुज़रती है। सामाजिक विकास की इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के निर्देश और स्वरूप को पार्सन्स ने विकासात्मक सार्विकीय तत्व कहा है।

ii) सामाजिक परिवर्तन के प्रति पार्सन्स के विचारों में इस अवधि में एक और नया विचार सामने आया। इस विचार को इस तथ्य में देखा जा सकता है कि उसने सामाजिक प्रणालियों के विकासात्मक चरणों के प्रमुख प्रकारों का विश्व-स्तर पर ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक विश्लेषण करने पर बल दिया। इस विश्लेषण के माध्यम से मानव इतिहास के आदिम समाजों से लेकर आधुनिक औद्योगिक समाजों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया।

पार्सन्स के अनुसार, अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए किसी भी मानव समाज में निम्नलिखित अभिलक्षण होने चाहिए।

i) अर्थव्यवस्था का मूल स्वरूप, जिसमें मनुष्यों को जीवित रखने की व्यवस्था (भोजन एकत्र करना, शिकार, पशु-पालन तथा कृषि आदि) हो।

ii) प्राथमिक तकनीकी जिसके द्वारा खाद्य सामग्री का उत्पादन, आवास की व्यवस्था तथा पर्यावरण एवं अन्य ख़तरों से सुरक्षा हो सके

iii) बातचीत करने अथवा संप्रेषण के कुछ साधन, जिनसे परिवार से समुदाय स्तर तक सामाजिक एकात्मकता स्थापित हो सके और सामाजिक संगठन की देख-रेख की जा सके

iv) विश्वास प्रणाली (जीववाद, जीवात्मवाद, जादू-टोना, धर्म आदि) जिसके माध्यम से लोगों की सांस्कृतिक तथा अभिव्यक्तिपरक प्रेरणाओं को सामाजिक दृष्टि से संयोजित तथा समन्वित किया जा सके

v) इस प्रकार के समाजों के संचालन के लिए राजनीतिक संगठन का प्राथमिक रूप भी आवश्यक है। राजनीतिक प्रणाली जनजाति की मुखिया प्रथा अथवा समुदाय के सामूहिक नियमों के द्वारा नियंत्रण होने के सरल रूप में भी हो सकती है। अत: समाज के समन्वित अस्तित्व के लिए राजनीतिक संगठन का होना अनिवार्य है।

पार्सन्स ने समाजों का विकासात्मक वर्गीकरण तीन प्रकारों में किया i) आदिम अथवा प्राचीन समाज, ii) मध्यवर्ती समाज, iii) आधुनिक समाज, आइए अब तीनों की क्रमवार चर्चा करें।

### 28.5.1 आदिम अथवा प्राचीन समाज

सामाजिक संगठन की दृष्टि से ये समाज सर्वाधिक प्राथमिक है। सामाजिक विकास (social evolution) की प्रक्रिया ऊपर बताए गए पांच अभिलक्षणों के विकास की तरफ़ सामूहिक गतिशीलता द्वारा आगे बढ़ सकती है या इन प्राथमिक सामाजिक संस्थाओं में से किसी एक से प्रारंभ हो सकती है। उदाहरण के लिए, यह संभव है कि किसी एक आदिम समाज में तकनीकी में नवीनता के कारण समाज की अर्थव्यवस्था अथवा खाद्य उत्पादन की क्षमता में क्रांतिकारी परिवर्तन आ जाए। इस प्रकार, वह समाज अधिक लोगों का भरण-पोषण करने में सक्षम हो जाएगा। जनसंख्या वृद्धि से सामाजिक विभेदीकरण की प्रक्रिया का प्रारंभ होने लगता है, जो अनुकूलन और एकता के लिए नए दबावों तथा तनावों को जन्म देती है। एक अन्य समाज में परिवर्तन की मूल इच्छा किसी विश्वास प्रणाली से पैदा हो सकती है। जैसे कि, मायावी अथवा धार्मिक दृष्टिकोण लोगों को आर्थिक और तकनीकी प्रगति के नए अवसरों की खोज करने को प्रेरित कर सकते हैं। पार्सन्स ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को मानव समाजों में मौजूद अनुकूलन तनावों के दो मुख्य स्रोतों के साथ संबद्ध बताया है। इनमें से पहला है अस्तित्वपरक अथवा भौतिक तथा दूसरा है प्रतीकात्मक अथवा सांस्कृतिक। समाज में प्रतीकात्मक (symbolic) या सांस्कृतिक संस्थानों की मूल कार्य-कारण संबंधी प्रवृत्ति को पार्सन्स ने महत्व दिया। पार्सन्स का यह मत वेबर के उन विचारों से मेल खाता है जिनमें उसने पूंजीवाद के उदय में प्रोटेस्टेंट नैतिकता के योगदान की व्याख्या की है। परंतु साधारणतया अस्तित्वपरक (existential) और प्रतीकात्मक ये दोनों तत्व सामाजिक परिवर्तन के दौर से गुज़र रहे अधिकतर समाजों में एक-दूसरे को मज़बूत करते है।

आदिम अथवा प्राचीन समाज सामान्यतया वह समाज होता है जिसमें वर्गों तथा जातियों के बीच कोई विभाजन नहीं होता। इन समाजों में मुखियाओं को कुछ विशेषाधिकार अवश्य प्राप्त होते हैं, किंतु वे मुख्यतया सम्मानपरक ही होते हैं अर्थात् नेता को सम्मान प्राप्त होता है। उनकी जीवन-शैली में अन्य लोगों से कोई विशेष भिन्नता नहीं होती है।

आदिमकालीन समाजों में इस अनुकूलन परिवर्तन के उदाहरण कई विशिष्ट स्थितियों में देखे जा सकते हैं। परिवर्तन की प्रक्रिया के प्रतीकात्मक अथवा सांस्कृतिक माध्यमों को बिहार की मुंडा और बिरहोर जैसे जनजातीय समाजों में देखा जा सकता है, जहां ईसाई आंदोलन या देवी आंदोलन के माध्यम से यह प्रक्रिया प्रारंभ हुई है। जनजाति के किसी नेता या नेताओं के स्वरूप में देवी प्रकट होती है, जो लोगों के आचरण में अनेक सामाजिक सुधार लाने का आदेश देती हैं। जनजातीय समुदाय के हितों के लिए ख़तरा पैदा करने वाली ताकतों का मुकाबला करने के लिए प्राय: इस प्रकार के सुधार पहले से ही आवश्यक होते हैं। हो सकता है कि इन सुधारों का उदय विरोधी स्वभाव अथवा विरोधी बाहरी समुदायों अथवा वर्गों से हुआ हो। अनेक सरल समाजों में समाज की उत्पादन क्षमता बढ़ाने के लिए नई तकनीक लागू करने के बहुत से उदाहरण मौजूद हैं। हज़ारों साल पहले, प्रारंभ में बीज बोने और हल चलाने की तकनीक भी इसी तरह प्रयोग में लाई गई थी।

## 28.5.2 मध्यवर्ती समाज

पार्सन्स के अनुसार आदिम चरण के पश्चात् दूसरा विकासात्मक सार्विकीय चरण है समाज का मध्यवर्ती प्रकार। समाज का यह प्रकार सामाजिक विभेदीकरण के दबाव के फलस्वरूप अस्तित्व में आता है। पार्सन्स के विचार में सामाजिक प्रणाली में इस तरह के दबाव का सर्वाधिक सामान्य कारण है जनसंख्या में वृद्धि। इससे समाज के आकार तथा रचना में बदलाव आता है। जैविक प्रणाली वाले समाजों में विभेदीकरण का स्वरूप दोहरे विभाजन का होता है अर्थात् इसमें इकाइयों के दो हिस्से हो जाते हैं। जैविक प्रणाली के समरूप सामाजिक प्रणाली में भी जनसंख्या वृद्धि के दबाव के कारण मानव बस्तियों का दोहरा विभाजन होता है और यह है शहरी तथा ग्रामीण। यह विभाजन और आगे बढ़ता हुआ व्यवसायों में विभेदीकरण लाता है, जिसमें अनेक प्रकार के कृषि से भिन्न व्यवसाय उभरते हैं यह इसलिए होता है क्योंकि कस्बों एवं शहरों के विकास के कारण आबादी के नए वर्गों का सृजन होता है। इसके अंतर्गत अतिरिक्त संपत्ति को नियंत्रित करने और सत्ता तथा ऊंची सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त करने वाले लोगों, कारीगरों, शिल्पकारों, साहित्यकारों, पुजारियों, व्यापारियों, योद्धाओं आदि के अनेक वर्ग अस्तित्व में आते हैं।

विकास के दूसरे चरण में वर्ग के आधार पर अथवा जैसे कि भारत में है जाति के आधार पर सामाजिक विभेदीकरण प्रारंभ होता है। सामाजिक प्रणाली के स्वरूप में इस प्रकार के विकास के फलस्वरूप समाज के प्रशासन के लिए नए प्रकार के नियमों की आवश्यकता पड़ती है। समाज के इस चरण में पहले की भांति केवल रीतियों और प्रयासों से समाज का प्रबंध करना संभव नहीं रहता। इसलिए समाज के शासन के लिए और अधिक नियम अथवा कानूनी धाराएं संहिताबद्ध की जाती हैं और प्राय: ये लिखित रूप में होती हैं। ऐसी स्थिति में राजनीतिक प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित रूप ग्रहण कर लेती हैं, जैसे कि सामंतवाद तथा राजतंत्र। परंतु पार्सन्स के अनुसार दो आधारभूत नई संस्थाएं विकास के मध्यवर्ती चरण में समाज को विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती है और वे हैं:

i) सामाजिक स्तरण की व्यापक एवं जटिल प्रणाली का उदय, और

ii) समाज के सामाजिक नियंत्रण के सामान्य प्रतिमानों का उदय।

पार्सन्स के अनुसार इस प्रकार के समाजों के उदहारण हैं : भारत, चीन, इस्लामी साम्राज्य तथा रोमन साम्राज्य। इन ऐतिहासिक उदाहरणों के अतिरिक्त अधिकतर सामाजिक प्रणालियां सामाजिक विभेदीकरण और अपनी अनुकूलन आवश्यकताओं के कारण विकास की इस प्रक्रिया से गुज़रती हैं।

### 28.5.3 आधुनिक समाज

पार्सन्स के अनुसार समाजों के विकास की प्रक्रिया का तीसरा चरण है आधुनिक सामाजिक प्रणालियां। इस प्रकार के समाजों का उदय विकास के मध्यवर्ती चरण (जिसे समाजों का पूर्व-औद्योगिक चरण भी कहा जा सकता है) से अनेक प्रकार की सामाजिक संस्थाओं के विकास के माध्यम से हुआ। इस प्रक्रिया में प्रौद्योगिकी ने निश्चय ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। किंतु यह विकास पश्चिमी (यूरोपीय) समाज में हुई तीन प्रकार की क्रांतियों के कारण संभव हुआ। पार्सन्स के अनुसार, ये क्रांतियां मानवता के लिए पश्चिम की विशिष्ट देन हैं। यही कारण है कि पार्सन्स का यह विचार भी है कि समाज के आधुनिक चरण का विकास पूर्णतया पश्चिम के योगदान का परिणाम है और इस दिशा में पूर्व अर्थात् चीन या भारत जैसी किसी भी अन्य सभ्यता ने भूमिका नहीं निभाई।

पश्चिम (यूरोप) में परिवर्तन लाने वाली तीन क्रांतियां हैं : i) औद्योगिक क्रांति ii) फ्रांसीसी क्रांति के कारण आई लोकतांत्रिक क्रांति, और iii) शैक्षिक क्रांति। इस पाठ्यक्रम (ई.एस.ओ.-13) के खंड 1 की इकाई 1 में फ्रांसीसी क्रांति तथा औद्योगिक क्रांति के बारे में आपने पहले ही पढ़ा है। औद्योगिक क्रांति ऊर्जा के स्रोत भाप तथा बिजली के आविष्कार के फलस्वरूप आई। इससे परिवहन, व्यापार, समुद्री यात्रा द्वारा व्यापार, उत्पादन तथा बाज़ार-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन हुए। मध्यवर्ती समाज में ऊर्जा के मुख्य साधन के रूप में प्राणी-शक्ति का उपयोग किया जाता था। लेकिन आधुनिक समाज में कारखाने बन गए तथा इनमें भाप और बिजली का व्यापक स्तर पर इस्तेमाल होने लगा।

उत्पादन की कारखाना प्रणाली में शहरी और औद्योगिक विकास में योगदान मिला और समाज के आर्थिक एवं सामाजिक विकास में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की बढ़ती हुई भूमिका विकास का स्थायी तत्व बन गई। यह क्रांति यूरोप में लोकतांत्रिक क्रांति के साथ-साथ आई और उसे मज़बूत बनाने में भी सहायक सिद्ध हुई। इस संबंध में फ्रांसीसी क्रांति का विशेष योगदान रहा, जिसने समानता, विश्व बंधुत्व, स्वतंत्रता जैसे मूल्यों की स्थापना की और राजशाही की जड़ें खोदकर उसके स्थान पर निर्वाचित सरकार की लोकतांत्रिक प्रक्रिया का सूत्रपात किया। इंग्लैंड में भी सुधार आंदोलन तथा राजनीतिक आंदोलन द्वारा राजा की निरंकुश सत्ता छिन गई और शासन के अधिकार निर्वाचित जन-प्रतिनिधियों के हाथों में चले गए।

लोकतांत्रिक आंदोलन का एक क्रांतिकारी परिणाम नई सामाजिक प्रणाली के उदय के रूप में हुआ, जिसके अंतर्गत जन्म नहीं बल्कि व्यक्ति की योग्यता समाज में सम्मान और प्रतिष्ठा का आधार बन गई। औद्योगिक तथा लोकतांत्रिक क्रांतियों ने मिलकर सामाजिक परिवर्तन की नई प्रक्रिया की नींव डाली, जिससे अवसरों की उपलब्धता के विषय में लोगों को अधिक भागीदार तथा समानता मिलने लगी। किंतु यह सभी कुछ तीसरी क्रांतिकारी घटना के कारण संभव हुआ और यह है यूरोपीय समाज में शैक्षिक क्रांति।

यूरोप में शैक्षिक क्रांति का सृजन मूलत: शिक्षा को धर्म-स्थानों से पृथक करने और उसे निरंतर धर्म-निरपेक्ष तथा सार्वजनीन रूप देने के फलस्वरूप हुआ। शिक्षा की विश्वविद्यालय प्रणाली का उदय यूरोपीय समाज के सामाजिक तथा सांस्कृतिक इतिहास की बहुत बड़ी घटना सिद्ध हुई, क्योंकि विश्वविद्यालयों में धार्मिक तथा सांप्रदायिक धारणाओं से मुक्त होकर ज्ञान की वृद्धि के लिए पठन-पाठन तथा शोध, दोनों कार्य चल सकते थे। इस व्यवस्था ने ज्ञान की प्राप्ति तथा उसके प्रसार को सांप्रदायिक नियंत्रण से मुक्त करके उसे बिना किसी भेदभाव या पक्षपात के समूचे समाज अथवा मानव-मात्र के लिए उपलब्ध करा दिया। इसी प्रकार, प्राथमिक शिक्षा को सर्वसुलभ बनाने अर्थात् समाज के सभी वर्गों एवं श्रेणियों में शिक्षा के प्रसार से पश्चिमी समाज में उच्च शिक्षा की नींव सुदृढ़ हो गई। इससे उस समाज में औद्योगिक तथा लोकतांत्रिक संस्थाएं और पुष्ट होने

लगीं। पार्सन्स के मत में औद्योगिक, लोकतांत्रिक एवं शैक्षिक क्रांतियां मानवता को पश्चिमी जगत की बेजोड़ देन हैं। इन तीन क्रांतियों के प्रभाव से समाज की आधुनिक प्रणाली का उदय हुआ। इनकी मुख्य विशेषताओं में हैं i) सार्विकीय कानूनों का विकास ii) धन तथा बैंकिंग की आधुनिक संस्थाओं का विकास iii) तर्कसंगत नौकरशाही का विकास, और iv) लोकतांत्रिक समाज का विकास (देखें चित्र 28.2)।

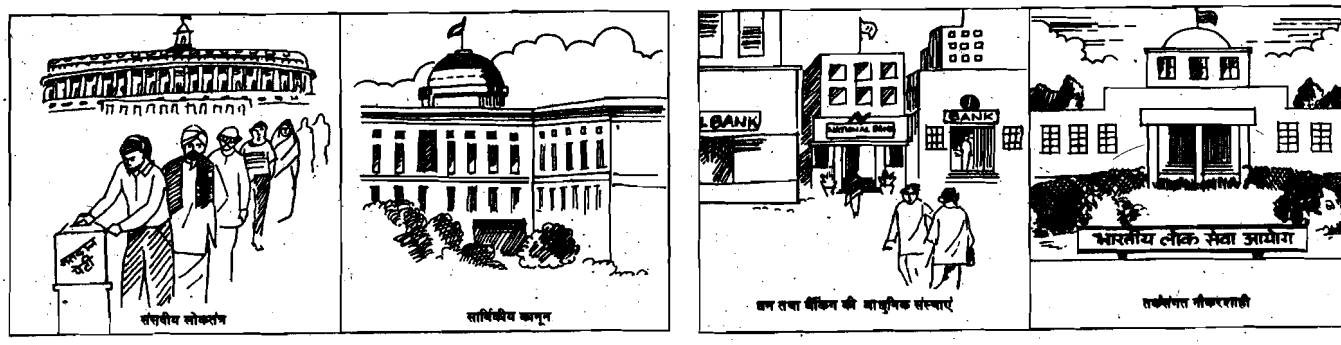


**चित्र 28.2: आधुनिक समाज के लक्षण**

पार्सन्स के अनुसार आधुनिक समाज में इन संस्थागत शर्तों या पूर्वापेक्षाओं का होना आवश्यक है। सार्विकीय कानून विश्व-बंधुत्व, और मानव की स्वतंत्रता के सिद्धांत पर आधारित हैं। इनसे धर्म, रंग, जन्म आदि का विचार किए बिना क़ानून को सभी मनुष्यों पर तर्कसंगत तथा एक-समान ढंग से लागू करना संभव हुआ है। इन सार्विकीय वैधानिक नियमों का मुख्य लक्षण है कि "मौलिक अधिकार या नागरिक अधिकार" अस्तित्व में आएँ और समाज के सभी लोगों को उपलब्ध हों। ये अधिकार सरकारी सत्ता का मनमाना प्रयोग नहीं होने देते और व्यक्ति की रक्षा करते हैं। इसी प्रकार, धन और बैंकिंग प्रणाली ने व्यापार एवं वाणिज्य को तर्कसंगत बनाया है और उसे सही अर्थों में विश्व-स्तर का स्वरूप प्रदान किया है। अब नगर या कस्बे की बाज़ार प्रणाली की बजाय विश्व बाज़ार प्रणाली की चर्चा की जाती है। इससे समाज की आर्थिक तथा औद्योगिक गतिविधियों का दायरा और व्यापक होता है। इस प्रक्रिया में तर्कसंगत नौकरशाही की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही है।

तर्कसंगत नौकरशाही की अवधारणा का उल्लेख सबसे पहले मैक्स वेबर ने किया। इसका अर्थ है परीक्षा द्वारा कार्यकारी अथवा सरकारी अधिकारियों का योग्यता के आधार पर चयन, जिम्मेदारियों का निश्चित निर्धारण और कानूनी जवाबदेही। दुरुपयोग किए जाने की स्थिति में अधिकारियों के बचाव का प्रावधान भी है। समानता, सार्वजनीनता तथा न्याय के सिद्धांत पर सार्वजनिक नीति को क्रियान्वित करने के लिए तर्कसंगत नौकरशाही का होना आवश्यक है। पार्सन्स का विचार है कि आधुनिक समाज ने धन एवं बैंकिंग अथवा नौकरशाही के विकास में भले ही बहुत ऊंचाइयां छू ली हों, परन्तु लोकतंत्र के बिना उसे आधुनिक समाज नहीं कहा जा सकता।

लोकतंत्र से उसका अभिप्राय है संसदीय लोकतंत्र, जिसमें भिन्न तथा विरोधी विचारधारा वाले अनेक राजनीतिक दलों के द्वारा लोगों को समाज की राजनीतिक प्रक्रियाओं में भाग लेने की स्वतंत्रता होती है। इस प्रकार के लोकतंत्र के बिना सार्विकीय वैधानिक प्रतिमानों या तर्कसंगत नौकरशाही की संस्थाएं अपने स्वरूप में भले ही अस्तित्व में हों, किंतु उनका व्यावहारिक अस्तित्व नहीं होता। पार्सन्स की राय है कि जैसे-जैसे समाज में आधुनिकता की अन्य विशेषताएं उभरने लगती हैं, एक समय आता है, जब लोकतांत्रिक सुधार करने का दबाव बढ़ जाता है और आधुनिक सामाजिक प्रणालियों का स्वरूप अंततः लोकतांत्रिक ही है।

पार्सन्स के अनुसार समय की दृष्टि से ऐतिहासिक अंतर अथवा असमानता भले ही रहे, फिर भी सामाजिक परिवर्तन की विकासात्मक प्रक्रिया तो समाज की आधुनिक प्रणाली का लक्ष्य

प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ती रहेगी। सभी समाजों को "विकासात्मक सार्विकीय तत्वों" के संस्थागत होने की प्रक्रिया से गुज़रना होगा और समय के साथ-साथ इन समाजों में सार्विकीय वैधानिक प्रतिमानों, धन एवं बैंकिंग प्रणाली, तर्कसंगत नौकरशाही और अंततः लोकतंत्र की स्थापना होगी।

आइए, अब इकाई के अंत में बोध प्रश्न 3 को पूरा कर लें।

**बोध प्रश्न 3**

i) विकासात्मक सार्विकीय तत्वों से क्या अभिप्राय है? अपना उत्तर छः पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) आधुनिक समाजों के विकास में तीन प्रकार की क्रांतियों की मुख्य भूमिका रही। चार पंक्तियों में इन क्रांतियों का परिचय दीजिए।

.....

.....

.....

.....

iii) आधुनिक सामाजिक प्रणाली के पार्सन्स द्वारा बताए गए मुख्य अभिलक्षणों का उल्लेख कीजिए। अपना उत्तर चार पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

## 28.6 सारांश

इस इकाई में आपने टालकट पार्सन्स की प्रकार्यवाद की अवधारणा के बारे में पढ़ा। प्रकार्यवाद तथा सामाजिक परिवर्तन के बीच संबंध का भी कुछ विस्तार से विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् आपने पार्सन्स द्वारा बताए गए सामाजिक परिवर्तनों के दो प्रकारों की जानकारी प्राप्त की। पहला प्रकार है सामाजिक प्रणालियों के भीतर परिवर्तन और दूसरा है सामाजिक प्रणालियों में आमूल परिवर्तन। दूसरी तरह के परिवर्तन को पार्सन्स ने विकासात्मक सार्विकीय तत्वों की अपनी अवधारणा के माध्यम से स्पष्ट किया है। उसने समाज के विकास को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। पहली श्रेणी है आदिम अथवा प्राचीन समाज, दूसरी है मध्यर्ती समाज और तीसरी श्रेणी है आधुनिक समाज।

## 28.7 शब्दावली

**प्राचीन (archaic)** वह समाज, जो प्राचीन है या पुराने ढंग का है।

| | |
|---|---|
| **प्रसार (diffusion)** | सांस्कृतिक बातों, विचारों तथा वस्तुओं का विभिन्न संस्कृतियों के बीच संपर्क के माध्यम से प्रसार। |
| **विकासात्मक सार्विकीय तत्व (evolutionary universals)** | जब सामाजिक प्रणालियों पर लंबे समय के संदर्भ में विचार किया जाता है तो विकास के कुछ सामान्य निर्देश दिखाई देते हैं। इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के स्वरूप को विकासात्मक सार्विकीय तत्व कहा जाता है। |
| **होमोस्टेसिस** | मानव शरीर को जीवित रखने और उसके अनुरक्षण के लिए श्वास-तंत्र, जैसे विभिन्न अंगों द्वारा महत्वपूर्ण कार्य किए जाते हैं। शरीर की इस आत्म-नियामक प्रक्रिया को होमियोस्टेसिस कहते हैं। |
| **तर्कसंगतिकरण (rationalisation)** | यह वो प्रक्रिया है, जिसके द्वारा कार्य, व्यक्तिगत कर्त्तव्यों तथा सामाजिक संस्थाओं के प्रति तर्कसंगत, व्यक्तिवादी और अभिनव दृष्टिकोण पनपता है। |
| **टीलियोलॉजी** | इसका अभिप्राय उस दृष्किोण से है कि विकास उन्हीं उद्देश्यों के कारण होते हैं जिनकी वे सिद्धि करते हैं। |
| **परम्परागत होने की प्रक्रिया (traditionalsiation)** | यह वो प्रक्रिया है, जिससे मूल्यों, विश्वासों, विचारों, दृष्टिकोणों आदि को समाजों में संस्थागत बनाया जाता है और उन मूल्यों को बनाए रखने के लिए निहित स्वार्थों का उदय होता है। |

## 28.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

हैम्लिटन, पीटर 1983. *टालकट पार्सन्स* रूटलेज: लंदन और न्यूयॉर्क

पार्सन्स, टालकट 1966 *सोसायटीज़: एवल्यूशनरी एंड कम्पेरेटिव पर्सपेक्टिव* प्रेंटिस हाल: इंगलवुड क्लिफ एन. जे.

पार्सन्स, टालकट 1977 *द एवोल्यूशन ऑफ सोसायटीज़:* (प्रस्तावना संपा. द्वारा जैक्सन टॉबी) प्रेंटिस हाल: इंगलवुड क्लिफ

## 28.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) प्रकार्यवाद एक दृष्टिकोण है, जिसमें यह माना जाता है कि सभी सामाजिक प्रणालियों में प्रक्रियाओं तथा संस्थाओं जैसे तत्व अथवा अंग होते हैं, जिनसे प्रणाली जीवित रहती है और उसका अनुरक्षण होता है। यह दृष्टिकोण जीवविज्ञान से काफी प्रभावित है और इसमें समाज तथा जैविक प्रणाली की तुलना की गई है।

ii) टीलियोलॉजी का अभिप्राय उस विश्वास से है कि किसी संस्था या प्रक्रिया के अस्तित्व का उद्देश्य यह है कि वह सामाजिक प्रणाली को जीवित रखने के लिए कोई आवश्यक कार्य संपन्न करती है। प्रकार्यवाद के सिद्धांत में इस विश्वास का केन्द्रीय स्थान है।

iii) क) ऐतिहासिक

ख) सामंजस्य, तनाव, परिवर्तन

**बोध प्रश्न 2**

i) सामाजिक प्रणाली के भीतर परिवर्तन लाने में जनसंख्या का प्रमुख कारक है क्योंकि जनसंख्या में वृद्धि से सामाजिक विभेदीकरण अर्थात् श्रम विभाजन होता है। अधिक उत्पादन प्रौद्योगिकी पर दबाव बढ़ने से सामाजिक प्रणालियों की जटिलता बढ़ती है। यह तथ्य भारत में जाति व्यवस्था तथा यूरोप में गिल्ड प्रणाली के विकास के रूप में ऐतिहासिक तौर पर सिद्ध हो चुका है।

ii) सामाजिक प्रणाली में तनाव बढ़ाने वाले कारक इस प्रकार है:

   क) जब लोगों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामूहिक रूप से चले जाने, सामाजिक अंतर्मिश्रण आदि के माध्यम से जनसंख्या के जनसांख्यिकीय गठन में परिवर्तन होता है।

   ख) जब प्राकृतिक पर्यावरण जैसे कि मृदा, जल, मौसम आदि के स्तर में गिरावट या बदलाव आता है।

   ग) जब किसी सामाजिक प्रणाली में खाद्य उत्पादन की वृद्धि होती है और लोगों को अधिक संसाधन उपलब्ध होते हैं।

   घ) जब किसी समाज में इस्तेमाल हो रही प्रौद्योगिकी में बदलाव आता है और समाज की प्रगति के लिए वैज्ञानिक जानकारी काम में लाई जाती है।

   ड) जब "सांस्कृतिक सविन्यास" में परिवर्तन होता है, जिसमें नए धार्मिक मूल्य, विचारधाराएं, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी आदि शामिल होते हैं।

iii) ख)

**बोध प्रश्न 3**

i) प्रत्येक सामाजिक प्रणाली की अपनी विशिष्ट ऐतिहासिक विशेषताएं होती हैं। किंतु इस विशिष्टता के बावजूद लंबी अवधि के संदर्भ में उस पर विचार करने पर विकास के कुछ सामान्य निर्देश दिखाई देते हैं जिनसे होकर सभी सामाजिक प्रणालियां गुज़रती हैं। समाजों के विकास के इसी निर्देश तथा इस ऐतिहाकिक प्रक्रिया के स्वरूप को ही पार्सन्स ने विकासात्मक सार्विकीय तत्व कहा है।

ii) आधुनिक समाजों के विकास में जिन तीन प्रकार की क्रांतियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है,वे हैं: i) औद्योगिक क्रांति, ii) फ्रांसीसी क्रांति के नेतृत्व में हुई लोकतांत्रिक क्रांति, और iii) शैक्षिक क्रांति।

iii) आधुनिक सामाजिक प्रणाली के मुख्य अभिलक्षण इस प्रकार हैं: क) सार्विकीय कानूनों का विकास, ख) धन तथा बैंकिंग की आधुनिक संस्थाओं का विकास, ग) तर्कसंगत नौकरशाही का विकास, और घ) लोकतांत्रिक समाज का विकास

# इकाई 29 व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्य - मर्टन

## इकाई की रूपरेखा


29.0 उद्देश्य

29.1 प्रस्तावना

29.2 प्रकार्य की अवधारणाएं

- 29.2.1 प्रकार्य शब्द के विभिन्न अर्थ
- 29.2.2 निष्पक्ष परिणाम (objective consequences) और स्वपरक मनोवृत्तियां (subjective dispositions)
- 29.2.3 प्रकार्य, दुष्प्रकार्य (dysfunction) व्यक्त प्रकार्य और अव्यक्त प्रकार्य

29.3 प्रकार्यात्मक विश्लेषण के आधार तत्व (postulates of functional analysis)

- 29.3.1 प्रकार्यात्मक एकता का आधार तत्व (postulate of functional unity)
- 29.3.2 सार्विकीय प्रकार्यवाद का आधार तत्व (postulate of universal functionalism)
- 29.3.3 अपरिहार्यता का आधार तत्व (postulate of indispensability)

29.4 प्रकार्यात्मक विश्लेषण का प्रतिरूप (paradigm)

- 29.4.1 वे तथ्य जिनके प्रकार्य देखे जा सकते हैं
- 29.4.2 निष्पक्ष परिणामों की अवधारणाएं
- 29.4.3 जिसका प्रकार्य देखा जा रहा है उस इकाई की अवधारणा
- 29.4.4 प्रकार्यात्मक विश्लेषण के वैचारिक दृष्टिकोणों में समस्याएं

29.5 व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्य - यह विभेद क्यों?

- 29.5.1 "तर्कहीन" लगने वाली बातें सार्थक हो जाती हैं
- 29.5.2 खोज के नये सवालों का उदय
- 29.5.3 समाजशास्त्रीय ज्ञान का विस्तार
- 29.5.4 स्थापित नैतिक मूल्यों को चुनौती मिलती है

29.6 सारांश

29.7 शब्दावली

29.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

29.9 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 29.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपके लिए संभव होगा

- व्यक्त तथा अव्यक्त प्रकार्यों की अवधारणाओं में अंतर स्पष्ट करना
- यह समझाना कि रॉबर्ट के.मर्टन ने क्यों और कैसे प्रकार्यात्मक विश्लेषण को नया अर्थ दिया तथा किस प्रकार मर्टन द्वारा किया गया विश्लेषण उसके परंपरागत आधार तत्वों और प्रतिरूपों से भिन्न है
- यह दिखाना है कि कैसे अव्यक्त प्रकार्य की अवधारणा समाज के प्रति हमारे बोध को मुखरित करती है
- अपने समाज की संस्थाओं और सांस्कृतिक गतिविधियों को नयी दृष्टि से देखना।

## 29.1 प्रस्तावना

इस खंड की इकाई 27 और 28 में आपने समाजशास्त्र में टालकट पार्सन्स के योगदान के बारे में पढ़ा। इस इकाई में आपको प्रकार्यात्मक विश्लेषण के क्षेत्र में एक अन्य जाने माने अमरीकी समाजशास्त्री और पार्सन्स के विद्यार्थी रॉबर्ट के मर्टन के योगदान के बारे में बताया जाएगा। प्रकार्यात्मक विश्लेषण के बारे में कुछ बातों की जानकारी आपको पहले से है। लेकिन इस इकाई में, खासतौर से इसके भाग 29.2 में समाजशास्त्रियों की दृष्टि में प्रकार्य के अर्थ के साथ-साथ इसके दो प्रकारों, व्यक्त तथा अवयक्त प्रकार्य को भी समझाया जाएगा। आपको दुष्प्रकार्यों (dysfunctions) की जानकारी भी मिल सकेगी।

भाग 29.3 में प्रकार्यात्मक विश्लेषण के आधार तत्वों (postulates) की चर्चा होगी, ख़ासतौर से मलिनॉस्की और रैडक्लिफ़-ब्राउन जैसे सामाजिक नृशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित परंपरागत प्रकार्यवाद के आधार तत्वों के बारे में चर्चा के बाद यह बताया जाएगा कि रॉबर्ट मर्टन किस तरह इन परंपरागत आधार तत्वों से असहमत है और नये सिद्धांत प्रस्तुत करता है।

भाग 29.4 में प्रकार्यात्मक विश्लेषण के प्रतिरूप (paradigm) की चर्चा की गई है। रॉबर्ट मर्टन का कहना है कि किसी भी समाजविज्ञानी को इस प्रतिरूप की स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए ताकि वह अपनी प्राथमिकताएं निर्धारित कर सके कि उसे किन क्षेत्रों में और किस दिशा में काम करना है। ऐसे प्रतिरूप (paradigm) की आवश्यकता अध्ययन में अनियमितता और गड़बड़ी को रोकने के लिए ज़रूरी होती है। अंत में भाग 29.5 में आपको अव्यक्त प्रकार्य की अवधारणा की जानकारी मिलेगी। मर्टन का कहना है कि इस अवधारणा से समाजशास्त्री के ज्ञान के क्षेत्र का विस्तार होता है और समाजशास्त्रीय शोध के नये क्षेत्रों का पता लगता है।

## 29.2 प्रकार्य की अवधारणाएं

"प्रकार्य" शब्द को समझाना शायद ज़्यादा कठिन नहीं है। प्राय: हमें यह तो मालूम ही होता है कि हमारे समाज का काम-काज कैसे चलता है। हमने समाचार पत्र पढ़ा और इससे हमें दुनिया भर की जानकारी मिली। इसी तरह अपने विश्वविद्यालय या अपने कार्यालय जाने के काम हैं - आपको मालूम ही है कि विश्वविद्यालय आपको शिक्षा देता है, ज्ञान देता है और समाज में अपनी भूमिका के लिए आपको तैयार करता है। आपके काम करने की जगह का भी अपना संगठन और काम करने का तरीक़ा है। चुनावों में हमारे मतों से प्रतिनिधि चुने जाते हैं जो हमारे विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरे शब्दों में, यह आसानी से समझा जा सकता है कि समाज को बनाने वाले विविध घटक हमें समाज से सकारात्मक तथा रचनात्मक रूप से जोड़ते हैं, चाहे वह अखबार हो, विश्वविद्यालय हो, काम करने का स्थान हो या फिर हमारी लोकतांत्रिक संस्थाएं हों। इस तरह समाज के अंग और सक्रिय सदस्य के रूप में सामाजिक संस्थाएं आपके योगदान को बढ़ाती हैं। इससे समाज आपस में जुड़ा रहता है। सामाजिक संस्थाओं का यही प्रकार्य है कि समाज में एकात्मा बनी रहे।

रॉबर्ट मर्टन के प्रकार्यात्मक विश्लेषण को पढ़ने से पहले ही बिना किसी संशय के यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाजशास्त्र की भाषा में प्रकार्य से हमारा मतलब समाज के आपसी जुड़ाव में सामाजिक संस्थाओं अथवा सांस्कृतिक कार्यकलापों की भूमिका से है। दूसरे शब्दों में समाज इसीलिए काम कर पाता है क्योंकि इसको बनाने वाले तत्व यानि सामाजिक संस्थाएं और सांस्कृतिक रीति-रिवाज़ सामाजिक एकता को बनाए रखने में अपना-अपना योगदान देते हैं। इसी योगदान को प्रकार्य कहते हैं जिससे समाज में व्यवस्था, एकता और जुड़ाव उत्पन्न होते हैं।

कुछ प्रकार्यों के बारे में तो आपको जानकारी होती है और कुछ प्रकार्यों का आपको पता भी नहीं

चल पाता। जरा सोचिए कि आपको हर वर्ष परीक्षा देने को क्यों कहा जाता है। आपको मालूम है कि परीक्षाएं आपके ज्ञान की परीक्षा लेने के लिए ली जाती हैं, इससे आपको परिश्रम करने की प्रेरणा मिलती है ताकि आप अपना कौशल और अपनी बुद्धिमता बढ़ाएं जिससे समाज का बेहतर सदस्य बनना सुगम हो। यह निश्चय ही परीक्षाओं का व्यक्त उद्देश्य है जिससे हम परिचित हैं।

लेकिन परीक्षाओं के मात्र यही प्रकार्य नहीं हैं। उनके एक और प्रकार्य से आप अवगत नहीं हैं परीक्षाएं इस तथ्य को पुष्ट करती हैं कि कुछ "अच्छे" और कुछ "कम अच्छे" विद्यार्थी होते हैं। इसका तात्पर्य है कि समाज में हर व्यक्ति समान नहीं है तथा योग्यता , बुद्धि और ज्ञान सब लोगों में बराबर-बराबर नहीं बांटा जा सकता। दूसरे शब्दों में परीक्षाएं आपको यह मानने को प्रेरित करती हैं कि लोकतंत्र में भी किसी न किसी प्रकार का पदक्रम अनिवार्य है। इस तथ्य की स्वीकृति से विवादों की आशंका कम हो जाती है। वास्तव में यह स्वीकृति समाज में सबसे निभाकर चलने का पाठ पढ़ाती है। बड़े-छोटे तथा ज़्यादा और कम योग्य होने के इस तथ्य को मान लेने से समाज में अंतर्निहित असमानता और पदक्रम के बावजूद, व्यवस्था, एकता और जुड़ाव बने रहते हैं, यह परीक्षा प्रणाली का अव्यक्त प्रकार्य है। यह परीक्षा का गूढ़ अर्थ है, जिसका हमें हमेशा चेतन रूप से ध्यान नहीं रहता।

इस संक्षिप्त प्रस्तावना में संभवत: प्रकार्यों के व्यक्त तथा अव्यक्त रूप में आपकी रुचि जगी होगी। अब आपको यह जानने की उत्सुकता होगी कि मर्टन ने कैसे प्रकार्यात्मक विश्लेषण को नए तरीके से समझाया। लेकिन इससे पहले आपको प्रकार्य की अवधारणा की स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए। मर्टन की नज़र में हमें इस अवधारणा को विभिन्न परिप्रेक्ष्य में जांचना परखना चाहिए ताकि हमें इसकी विश्लेषणात्मक महत्ता समझ में आ जाए। मर्टन ने 1949 में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *सोशल थ्योरी एंड सोशल स्ट्रक्चर* में इस अवधारणा को स्पष्ट किया है।

### 29.2.1 प्रकार्य शब्द के विभिन्न अर्थ

समाजशास्त्र में "प्रकार्य" शब्द का इस्तेमाल करते समय हमें इसके विभिन्न अर्थों की पूरी जानकारी होनी चाहिए। मर्टन के अनुसार "प्रकार्य" अर्थात् "फ़ंक्शन" शब्द पांच विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। आइए, पाँचों अर्थों को क्रमश: देखें।

i) "फ़ंक्शन" (function) शब्द का पहला अर्थ अंग्रेज़ी में किसी सार्वजनिक समारोह या खुशी के मौके से है, जिसे आमतौर से रस्म-रिवाजों के साथ मनाया जाता है। मर्टन ने कहा है और आपको भी स्पष्ट होगा कि "फंक्शन" शब्द के इस अर्थ का समाजशास्त्रीय अवधारणा से कोई भी संबंध नहीं है।

ii) इस शब्द को अंग्रेज़ी में पेशे की तरह भी लिया जाता है। लेकिन समाजशास्त्र को इस अर्थ से भी कुछ लेना-देना नहीं है।

iii) तीसरा "प्रकार्य" का अर्थ किसी पद पर कार्यरत व्यक्ति को सौंपे गए काम से है, उदाहरण के लिए छोटे बच्चों के स्कूल के किसी अध्यापक का काम बच्चों को पढ़ाना है, डॉक्टर का काम बीमारों का इलाज करना है इत्यादि। मर्टन के अनुसार यह परिभाषा पर्याप्त नहीं है। उनके अनुसार इस परिभाषा से इस बात से ध्यान हट जाता है कि "काम केवल किसी पद पर आसीन व्यक्ति द्वारा ही नहीं किया जाता, बल्कि अनेक सामाजिक काम-काज सामाजिक प्रक्रियाओं, सांस्कृतिक, विन्यासों और विश्वासों द्वारा भी सम्पन्न होते हैं।

iv) चौथे "फ़ंक्शन"शब्द का गणित में अर्थ एक और तरह से लिया जाता है। इसके अनुसार जब राशि Y का राशि X से संबंध एक नियमानुसार निर्धारित हो तो राशि के एक मान के लिए Y राशि का एक और केवल एक ही मान होता है।

v) मर्टन का कहना है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण में "फ़ंक्शन" या प्रकार्य का पांचवा अर्थ जीव-विज्ञान से लिया गया है। जहाँ इसका अर्थ "शरीर को बनाए रखने और उसकी देखरेख में किसी शारीरिक प्रक्रिया के योगदान" से होता है।

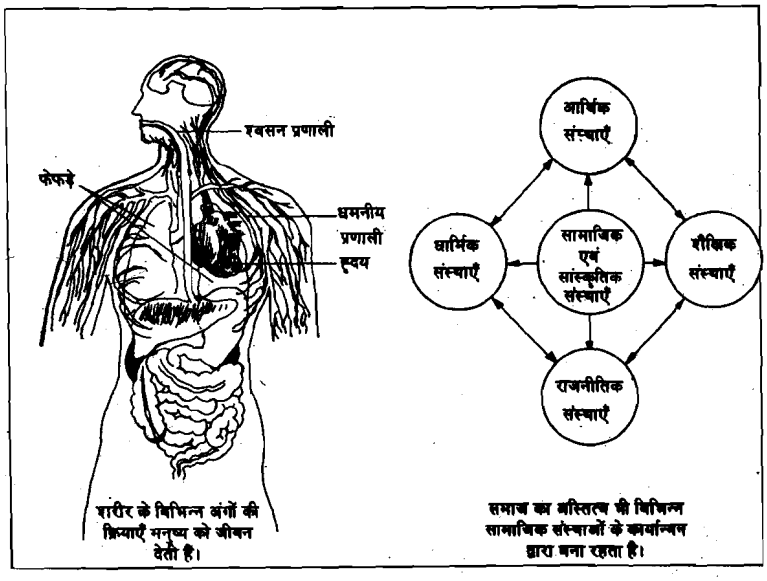


**चित्र 29.1: जीव विज्ञान से अपनाई गई समाजशास्त्र में प्रकार्य की अवधारणा**

सामाजिक नृशास्त्री रैडक्लिफ-ब्राउन ने "प्रकार्य" शब्द को इसी अर्थ में सामाजिक विज्ञानों में इस्तेमाल करते हुए लिखा है "किसी भी प्रक्रिया के प्रकार्य से हमारा आशय सामाजिक जीवन में उसकी सम्पूर्ण भूमिका से और सामाजिक संरचना को बनाए रखने में उसके योगदान से है"। नृशास्त्री मलिनॉस्की के अनुसार, सामाजिक और सांस्कृतिक इकाइयों के "प्रकार्य" से हमारा तात्पर्य है समग्र सांस्कृतिक प्रणाली में इन इकाइयों की एक दूसरे से संबंद्ध होकर निभायी गई भूमिका। समाजशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते, आपको "प्रकार्य" के इसी विशेष अर्थ पर विशेष ध्यान देना है और दो बातें याद रखनी हैं

- पहली बात यह है कि समाज अव्यवस्थित और बेतरतीब नहीं होता, इसकी अपनी व्यवस्था और संरचना है। दूसरे शब्दों में राजनीतिक प्रणाली अर्थव्यवस्था, धर्म, परिवार, शिक्षा जैसे समाज के अनेक घटकों को एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। सभी घटक एक दूसरे से पूरी तरह जुड़े हैं। अपने विविध अंगों के बीच इसी अंतर्निहित संबंध से ही समाज टिका रहता है।
- दूसरे, इस अंतर्निहित संबंध को सही तरीके से समझने के लिए आपको यह जानना होगा कि किस प्रकार हर घटक इस अंतर्निहित व्यवस्था और संरचना को बनाए रखने में अपना योगदान देता है। यही योगदान या भूमिका उस घटक का "प्रकार्य" है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि शिक्षा का अपना प्रकार्य है क्योंकि शिक्षा का योगदान ज्ञान और कौशल देना है, जिससे समाज प्रगति करता है।

## 29.2.2 निष्पक्ष परिणाम (objective consequences) और स्वपरक मनोवृत्तियां (subjective dispositions)

अब मर्टन ने बताया है: सामाजिक संस्था विशेष या सांस्कृतिक गतिविधि विशेष का क्या कार्य है, यह कौन निर्धारित करेगा - काम करने वाला या उसे देखने वाला? इस प्रश्न का अर्थ उदाहरण से समझें। यदि कोई लड़की विवाह कर रही है और आप पूछें कि वह विवाह क्यों कर रही है? इसका क्या प्रकार्य है? संभव है, वह बताए कि मानवीय आवश्यकताओं और प्रेम की आवश्यकता पूरी करने के लिए विवाह कर रही है। मर्टन के अनुसार इस उत्तर में कर्ता अपने निजी व्यक्तिगत उद्देश्य को विवाह के निष्पक्ष प्रकार्य से अलग करके नहीं समझ पा रही है क्योंकि विवाह अथवा परिवार का निष्पक्ष प्रकार्य प्रेम की पूर्ति नहीं, बल्कि बच्चे का समाजीकरण या उसे समाज के अनुरूप बनाना है।

इसलिए मर्टन के अनुसार, प्रकार्य की धारणा में प्रेक्षक का दृष्टिकोण शामिल है और ज़रूरी नहीं

कि कर्ता का दृष्टिकोण भी उसमें शमिल ही हो। दूसरे शब्दों में सामाजिक प्रकार्य में देखे जा सकने वाले निष्पक्ष परिणामों को ध्यान में रखा जा सकता है, स्वपरक मनोवृत्तियों को नहीं। स्कूल जाने वाली बच्ची यह सोच सकती है कि वह स्कूल इसलिए जाती है कि उसे वहां मित्रों के साथ खेलना-कूदना मिलता है। पर स्कूल का कार्य तो कुछ और ही है। स्कूल का कार्य ज्ञान का विकास है जिसकी समाज को अपने स्थायित्व के लिए ज़रूरत होती है। इसी बात को इस तरह भी समझा जा सकता है कि सामाजिक संस्था विशेष अथवा सांस्कृतिक गतिविधि विशेष के प्रकार्य को समझने में समाजविज्ञानी के लिए मात्र कर्ता के निजी उद्देश्यों और स्वपरक मनोवृत्तियों से ही संतुष्ट हो जाना काफ़ी नहीं है। समाजविज्ञानी को प्रकार्य के निष्पक्ष परिणामों का अध्ययन करना होगा अर्थात् यह देखना होगा कि इस संस्था विशेष का समाज को जोड़े रखने में क्या योगदान है।

### 29.2.3 प्रकार्य, दुष्प्रकार्य (dysfunction), व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्य

यह आपको स्पष्ट हो गया होगा कि प्रकार्य ऐसे देखे जा सकने वाले (observable) परिणाम हैं जिनसे व्यवस्था विशेष के अनुरूप ढलने में मदद मिलती है। लेकिन हर बार प्रकार्यों के ऐसे परिणाम नहीं होते। हर प्रकार्य से प्रणाली विशेष के अनुरूप ढलने में मदद नहीं मिलती। इसलिए मर्टन एक अन्य शब्द दुष्प्रकार्य (डिस्फंक्शन)का इस्तेमाल करता है। उसके अनुसार, दुष्प्रकार्य ऐसे देखे जा सकने वाले (observable) परिणाम हैं जो व्यवस्था के अनुरूप ढलने या उनके अनुकूल होने के बाधक होते हैं।

हम अपने समाज की ही कल्पंना करें। हमें यह तो मान्य होगा ही कि आधुनिक भारत में गतिशील लोकतांत्रिक, सबकी भागीदारी वाली और समतामूलक व्यवस्था आए। लेकिन हमारे समाज में जाति व्यवस्था का प्रकार्य इन उद्देश्यों को बल देना नहीं है उल्टे इसका हमारे सामाजिक उद्देश्यों पर प्रतिकूल असर पड़ता है, जाति प्रणाली दुष्प्रकार्य पैदा करती है। क्योंकि लोकतांत्रिक आदर्शों को मज़बूत बनाने के बजाए वह गतिशीलता, लोकतंत्रीकरण और भागीदारी को कम करती है। इसलिए जाति प्रणाली को दुष्प्रकार्यात्मक माना जाता है। (यही कारण है कि जाति के आधार पर भेद-भाव करना भारत में क़ानून की दृष्टि में अपराध है।)

आइए, अब हम व्यक्त तथा अव्यक्त प्रकार्यों की चर्चा करें। प्रकार्य चाहे व्यक्त हो चाहे अव्यक्त, इसके निष्पक्ष और देखे जा सकने वाले (observable) परिणामों से ही व्यवस्था के अनुकूल ढलने में मदद मिलती है। दोनों तरह के प्रकार्यों के बीच केवल एक अंतर है जिसे मर्टन ने बड़े स्पष्ट तरीक़े से बताया कि व्यक्त प्रकार्य में कार्य करने वालों को यह पता होता है और अव्यक्त प्रकार्य में उन्हें इसकी जानकारी नहीं होती। दूसरे शब्दों में, अव्यक्त प्रकार्य करने का न तो कर्ता का इरादा होता है, न इसके परिणाम का उसे पता चलता है।

ऐसा इसलिए होता है क्योंकि कार्य कर रहे लोग ऐसे परिणामों को देख सकते हैं जो तुरंत नज़र आएं। वे हमेशा अपने कार्यों के गहरे और छिपे हुए अर्थों को नहीं देख पाते लेकिन, आम लोगों को नज़र आने वाले अर्थ से आगे बढ़कर सामाजिक कार्यकलापों के छिपे हुए अर्थ की समाज विज्ञानियों को तलाश होती है।

उदाहरण के लिए एमिल दर्खाइम का दंड के सामाजिक प्रकार्यों का विश्लेषण महत्वपूर्ण है। दंड का व्यक्त और सीधा प्रकार्य स्पष्ट है। हर व्यक्ति इसे जानता है। यह अपराधी को याद दिलाता है कि समाज उसे असामाजिक व्यवहार या **विचलन** (deviance) की इजाज़त नहीं देगा। लेकिन इसका छिपा हुआ अव्यक्त प्रकार्य आमतौर से लोगों को पता नहीं चल पाता। दर्खाइम का कहना है कि अपराधी को दंड दिए जाने से कहीं गहरा अर्थ यह है कि दंड व्यवस्था से समाज की अपने सामूहिक विवेक पर आस्था मज़बूत होती है। अपराधी को दंड दिए जाने से समाज की अपनी ताक़त को सामूहिक एकता (collective conscience) का अहसास होता रहता है।

अगले भाग पर जाने से पहले बोध प्रश्न 1 को पूरा करें।

**बोध प्रश्न 1**

i) समाजशास्त्री "प्रकार्य" शब्द का किस अर्थ में इस्तेमाल करते हैं? लगभग आठ पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्यों में क्या अंतर हैं? लगभग तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

iii) "दुष्प्रकार्य" का कोई सरल उदाहरण दीजिए। करीब तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

## 29.3 प्रकार्यात्मक विश्लेषण के आधार तत्व (postulates of functional analysis)

प्रकार्यात्मक विश्लेषण के क्षेत्र में रॉबर्ट मर्टन का योगदान एक विशेष महत्व रखता है। परम्परागत प्रकार्यवादियों की तुलना में उसकी नयी दृष्टि ने उसे पारंपरिक प्रकार्यात्मक विश्लेषण तक सीमित नहीं रखा है बल्कि प्रकार्यवाद को नयी सीमा तक पहुंचाया है। इसलिए, यह जानना ज़रूरी है कि मर्टन ने पारंपरिक प्रकार्यात्मक विश्लेषण के किन आधार तत्वों का खंडन किया। ये आधार तत्व हैं - i) प्रकार्यात्मक एकता का आधार तत्व, ii) सार्विकीय प्रकार्यवाद का आधार तत्व और iii) अपरिहार्यता का आधार तत्व। मर्टन ने अनेक नई बातें बताई और इनके आधार पर समझाया कि हर प्रकार्य सकारात्मक नहीं होता। समाज अनेक वर्गों तथा उपवर्गों में बंटा है और किसी के लिए जो सकारात्मक कार्य है वही दूसरे वर्ग के लिए नकारात्मक हो सकता है। इसके अलावा कोई भी प्रकार्य अपरिहार्य नहीं है, विभिन्न प्रकार्यों के विकल्प भी हो सकते हैं। आइए इन तत्वों की क्रमश: चर्चा करें।

### 29.3.1 प्रकार्यात्मक एकता का आधार तत्व (postulate of functional unity)

मर्टन ने रैडक्लिफ़-ब्राउन को प्रकार्यात्मक एकता के आधार तत्व का प्रमुख प्रणेता माना है। रैडक्लिफ़-ब्राउन का कहना है "समस्त सामाजिक प्रणाली को चलाने के लिए, उसके अनुरक्षण

(maintenance) के लिए किया गया योगदान ही सामाजिक गतिविधि का प्रकार्य होता है " इस आधार तत्व में यह बात निहित है कि हर सामाजिक प्रकार्य में एक तरह की एकरूपता होती है और सामाजिक प्रणाली के सभी अंग पूरे तालमेल और आंतरिक नियमितता के साथ मिल कर काम करते हैं। संभवत: अपेक्षाकृत समरूपकीय (homogeneous) असाक्षर सभ्यता में यह आधार तत्व सार्थक और सही हो। पर आज के जटिल आधुनिक समाज में, मर्टन के अनुसार प्रकार्यात्मक एकता के आधार तत्व को फिर से परिभाषित करना ज़रूरी है। सबसे पहले तो मर्टन इसी बात पर शंका करता है कि सभी समाज पूर्णत: समन्वित हैं, जिसमें हर सांस्कृतिक दृष्टि से मान्य कार्यकलाप या विश्वास पूरे समाज के लिए सकारात्मक भूमिका निभाता है। मर्टन हमें यह याद दिलाना चाहता है कि सामाजिक परंपराएं या विश्वास एक ही समाज के कुछ समूहों के लिए सकारात्मक और कुछ के लिए नकारात्मक भूमिका निभाने वाले हो सकते हैं।

मर्टन ने इस आधार तत्व की बड़े रोचक तरीक़े से समालोचना की है। इसमें निहित अर्थ को समझने के लिए अपने ही समाज की किसी सामाजिक गतिविधि को लें। उदाहरण के लिए, धर्म को ही लें। धार्मिक कट्टरपंथियों द्वारा प्रचारित किए जाने वाले धर्म से कौन सा कार्य सिद्ध होता है? दर्खाइम का यह कथन सही है कि असाक्षर सभ्यता में धर्म की प्रकार्यात्मक भूमिका एकता लाने की हो सकती है। पर हमारे बहु-प्रजातीय तथा बहुधर्मी समाज में कट्टरपंथियों द्वारा प्रचारित धर्म के अन्य अल्पसंख्य समुदायों के लिए बहुत बुरे परिणाम हो सकते हैं। भले ही कट्टपंथी धर्म के **प्रभुत्व** को अनिवार्य माने। लेकिन ज़रूरी नहीं कि यह पूरे समाज के लिए अनिवार्य और सकारात्मक कार्य हो। कट्टरपंथियों के राजनैतिक हितों को देखते हुए यह सकारात्मक कार्य हो सकता है पर अन्य लोगों के लिए तो यह नकारात्मक ही होगा।

हमारे अपने समाज का यह उदाहरण आपको दर्शाता है कि मर्टन ने प्रकार्यात्मक एकता के आधार तत्व का खंडन क्यों किया। मर्टन के अनुसार आज के जटिल समाज में प्रकार्यात्मक एकता का यह आधार तत्व लागू नहीं किया जा सकता है। प्रकार्यात्मक विश्लेषण करने से पहले समाजविज्ञानी के लिए यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि किस इकाई विशेष के लिए कोई सामाजिक या सांस्कृतिक तथ्य सकारात्मक है। समाजविज्ञान को यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना है कि किसी प्रक्रिया या संस्था का कार्य कुछ लोगों या उपसमूह के लिए सकारात्मक हो सकता है, जबकि अन्य के लिए नकारात्मक। जैसा कि कट्टरपंथियों वाले उदाहरण से स्पष्ट है।

### 29.3.2 सार्विकीय प्रकार्यवाद का आधार तत्व (postulate of universal functionalism)

इस आधार तत्व के अनुसार सभी सामाजिक अथवा सांस्कृतिक स्वरूपों के प्रकार्य सकारात्मक होते हैं। मलिनॉस्की किसी भी स्थिति में इस आधार तत्व को सही मानता है, उसका कहना है "हर सभ्यता में हर रिवाज, भौतिक वस्तु, विचार और विश्वास कोई न कोई महत्वपूर्ण कार्य पूरा करते हैं।"

इस मान्यता के अनुसार हर सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया के प्रकार्य अनिवार्यत: सकारात्मक होते हैं। थोड़ा सा सोचने पर ही आपको स्पष्ट हो जाएगा कि यह धारणा पूर्णत: मान्य नहीं है। आपको, यह पहले ही बताया जा चुका है कि सामाजिक विश्वास और सांस्कृतिक गतिविधि विशेष के प्रकार्य नकारात्मक भी हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि ऐसे विश्वास या गतिविधि विशेष के प्रकार्यों के संपूर्ण आकलन में नकारात्मक ज़्यादा हों।

इसी प्रकार के अन्य उदाहरण लेकर, मर्टन की तरह, इस आधार तत्व की समालोचना की जा सकती है। हो सकता है कि आप क्रिकेट के शौकीन हों, आप कहें कि यह प्यारा खेल है, और खेल की ख़ूबसूरती और कला आपको आनन्द लेने में सहायक हों। निश्चय ही इससे कुछ भी नुक़सान नहीं है। इससे राष्ट्रीय भावना भी मज़बूत होती है और यह आप में देशभक्ति की भावना भरता

है, ये सभी क्रिकेट के सकारात्मक प्रकार्य कहे जा सकते हैं। लेकिन इसके साथ ही क्रिकेट के नकारात्मक प्रकार्यों की अनदेखी नहीं की जा सकती है। क्रिकेट ने फुटबाल और हॉकी जैसे अन्य खेलों को नुक़सान पहुंचाया है और जिस तरह क्रिकेट खिलाड़ियों के चलते ऐश आराम और विलासिता का सूचना माध्यमों (ख़बरों, विज्ञापनों आदि में) द्वारा प्रचार होता है, उससे सच्ची खेल संस्कृति पनपने में इसका नकारात्मक योगदान ही होता है। इस तरह परिणामों के दोनों पक्षों को देखने के बाद ही यह फ़ैसला किया जा सकता है कि किसी सामाजिक संस्था के प्रकार्य सकारात्मक हैं या नकारात्मक।

स्पष्ट है कि मर्टन प्रकार्यों की हर स्थिति में सकारात्मकता के आधार तत्व से सहमत नहीं है। उसका कहना है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण करते समय सकारात्मक और नकारात्मक प्रकार्यों के कुल संतुलन का आकलन होना चाहिए, मात्र सकारात्मक प्रकार्यों का नहीं।

### 29.3.3 अपरिहार्यता का आधार तत्व (postulate of indispensability)

इस आधार तत्व में यह विश्वास निहित है कि जिस किसी रिवाज या सांस्कृतिक गतिविधि से कोई कार्य पूरा होता है, वह रीति-रिवाज या सांस्कृतिक गतिविधि उस समाज में अपरिहार्य है। मलिनॉस्की की भी यही मान्यता है। दूसरे शब्दों में, समाज की हर रीति-रिवाज, हर सांस्कृतिक गतिविधि अपरिहार्य है, और ऐसा लगता है कि किसी में भी बदलाव संभव नहीं है।

इस आधार तत्व की रॉबर्ट मर्टन द्वारा दी गई समालोचना को समझने से पहले आप एक उदाहरण पर विचार करें। शिक्षा अपरिहार्य कार्य है और इसकी पूर्ति के बिना समाज टिक नहीं सकता। क्योंकि शिक्षा के बिना समाज में ज्ञान, बुद्धिमता, कौशल और प्रशिक्षित कार्यकर्ता विकसित नहीं हो सकते। प्रश्न यह है कि इस अपरिहार्य प्रकार्य की पूर्ति के तरीक़े क्या हैं? आज की शैक्षिक प्रणाली देखें। इस प्रणाली में विद्यार्थी और शिक्षक के बीच परस्पर संवाद और समझ तो है ही नहीं। विद्यार्थी निष्क्रिय ग्रहणकर्ता बना रहता है और अध्यापक उसे ज्ञान, कौशल और सूचना से भर देता है। ऐसी मानवीय संबंधों से रहित प्रणाली के समर्थक इसे अपरिहार्य बताते हुए कह सकते हैं कि यह विद्यार्थी के मस्तिष्क को अनुशासित करती है, उसे आज्ञाकारी बनाती है और इस तरह व्यवस्था को बनाए रखने में सहायक है।

लेकिन पावलो फ्रेयर (Paulo Freire) ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "द पेडागोजी ऑफ़ द औप्रेस्ड" में बड़े अच्छे तरीक़े से समझाया है कि शिक्षा का वैकल्पिक तरीक़ा भी है। परस्पर संवाद वाली शिक्षा में विद्यार्थी और शिक्षक दोनों ही सक्रिय होते हैं और निष्क्रिय ग्रहणकर्ता न रहकर सीखने की प्रक्रिया में विद्यार्थियों के अपने विचार होते हैं और भागीदारी होती है। फ्रेयर की राय में यह ज़्यादा रचनात्मक और मानवीय तरीक़ा है। इस तरह, शिक्षा का कार्य अनिवार्य है पर इसे पूरा किए जाने के अलग-अलग तरीक़े हैं। दूसरे शब्दों में हर सांस्कृतिक स्वरूप अपरिहार्य नहीं है। वैकल्पिक सांस्कृतिक स्वरूप से इसके प्रकार्य का ज़्यादा बेहतर तरीक़े से पूरा किया जा सकता है। निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि प्रकार्य के आधार पर किसी भी सांस्कृतिक तत्व की अपरिहार्यता की मान्यता पर प्रश्न चिन्ह लगाना ज़रूरी है। प्रकार्यात्मक विकल्प की इस अवधारणा को मर्टन ने पहली बार हमारे सामने रखा।

मर्टन का कहना है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण करने वाले को किसी भी चीज़ को अपरिहार्य नहीं मानना है। सामाजिक तथ्यों की जगह ले सकने वाले प्रकार्यात्मक विकल्प होते हैं। सामाजिक तथ्य विशेष द्वारा किया जा सकने वाला प्रकार्य बदली परिस्थितियों में किन्हीं दूसरे तथ्यों द्वारा भी संपन्न किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, ऐसे आधुनिक समाजों में जहां महिलाएं घर के काम के अतिरिक्त अन्य काम करती हैं वहां परिवार के कुछ प्रकार्य अन्य संस्थाएं जैसे बालवाड़ी और दिन में बच्चों की देखभाग करने वाले केंद्र (डे केयर सेंटर) करते हैं।

इस महत्वपूर्ण चर्चा के बाद, आइए बोध प्रश्न 2 को पूरा करें ताकि अभी तक की प्रगति की जाँच हो जाए।

बोध प्रश्न 2

i) प्रकार्यात्मक एकता के आधार तत्व का प्रमुख प्रवक्ता कौन था?

.....

ii) मर्टन ने सार्विकीय प्रकार्यवाद के आधार तत्व का क्यों खंडन किया? लगभग छः पंक्तियां में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) प्रकार्यात्मक विकल्प की मर्टन की अवधारणा क्या है? लगभग चार पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

## 29.4 प्रकार्यात्मक विश्लेषण का प्रतिरूप (paradigm)

हर समाजशास्त्री के लिए प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए निश्चित प्रतिरूप या पैराडाइम (paradigm) की ज़रूरत के प्रति सजग होना आवश्यक है। रॉबर्ट मर्टन ऐसे प्रतिरूप की आवश्यकता के प्रति पूर्ण रूप से सजग है। उसके अनुसार प्रतिरूप की सहायता में आधार तत्वों तक सीधे ही पहुंचा जा सकता है और प्रकार्यात्मक विश्लेषण में निहित मान्यताओं (assumptions) को भी समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रतिरूप की मदद से समाजशास्त्री के लिए प्रकार्यात्मक विश्लेषण के राजनीतिक तथा विचारात्मक परिणामों के प्रति संवेदनशील होना संभव हो जाता है।

प्रतिरूप के बिना सिद्धांत को उचित तरीके से नियमबद्ध भी नहीं किया जा सकता। प्रतिरूप से ही समाजशास्त्रीय विश्लेषण में प्रयुक्त मान्यताएं (assumptions), अवधारणाएं और मूल संकल्पनाएं हमारे सामने आ पाती हैं। इससे समाजशास्त्रीय अनुसंधान में मनमानेपन और निरुद्देश्यता की संभावना कम हो जाती है।

प्रकार्यात्मक विश्लेषण के प्रतिरूप से विश्लेषण करने का तरीका क्या हो, किन बातों का अध्ययन करना है, किन पर ज़्यादा ध्यान देना है और पारंपरिक एवं परिवर्तनवादी दृष्टिकोणों के वैचारिक द्वंद्व में विश्लेषण विशेष की जगह कहां पर है यह निर्धारित करना है - ऐसे सभी प्रश्नों पर प्रकार्यात्मक विश्लेषण के प्रतिरूप से हमें मदद मिलती है। आइए इन प्रतिरुपों पर विचार करें।

### 29.4.1 वे तथ्य जिनके प्रकार्य देखे जा सकते हैं

आपके लिए यह जानना ज़रूरी है किस प्रकार की समाजशास्त्रीय सामग्री का प्रकार्यात्मक विश्लेषण किया जा सकता है। क्या प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए सभी उपयुक्त हैं - चाहे वे सांस्कृतिक गतिविधियां हों, अनुष्ठान हों, सामाजिक संस्थाएं हों, मशीने हों या व्यक्ति हों? मर्टन का कहना

है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए पहली शर्त यह है कि विश्लेषण के लिए उपयुक्त तत्व को मानकीकृत (standardised) रुप से विन्यासित (patterned) होना चाहिए, जैसे सामाजिक भूमिकाएं, संस्थागत विन्यास, सामाजिक प्रक्रियाएं, सांस्कृतिक विन्यास, सांस्कृतिक भावनाएं, सामाजिक प्रतिमान, सामाजिक संरचना, सामाजिक नियंत्रण उपाय आदि।

इस प्रकार, नियमित रूप से चलने वाली गतिविधि को प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए चुना जा सकता है। उदाहरण के लिए प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए क्रिकेट, विवाह धार्मिक अनुष्ठान या राज्य के दमनकारी तंत्र को चुना जा सकता है। यह इसलिये क्योंकि ये सारे उदारहण मानकित स्वरूप वाले सामाजिक तथ्य (items) हैं। लेकिन प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए व्यक्ति विशेष की स्वभावगत संवेदनशीलता को नहीं चुना जा सकता क्योंकि यह समाज की नियमित एवं मानकित गतिविधि का उदाहरण नहीं है।

### 29.4.2 निष्पक्ष परिणामों की अवधारणाएं

मर्टन का यह विचार तो आपको मालूम ही है कि सामाजिक तथ्य के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों परिणाम हो सकते है।। समाजशास्त्री के रूप में हमारा काम इन परिणामों का समग्र रूप से आकलन करना है।

दूरदर्शन के प्रकार्यात्मक विश्लेषण को ही लें। इसमें सकारात्मक प्रकार्य स्पष्ट है। यह आपको दुनिया भर की जानकारी देता है और दुनिया को आपके क़रीब लाता है, लेकिन इसके नकारात्मक प्रकार्य भी देखे जाने चाहिए। यह उपभोक्तावाद (consumerism) और हिंसा को भी कभी-कभी बढ़ावा देता है। इस तरह उचित निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले हमें दूरदर्शन के दोनों तरह के प्रकार्यों पर ध्यान देना चाहिए।

### 29.4.3 जिसका प्रकार्य देखा जा रहा है उस इकाई की अवधारणा

इस तथ्य की पूरे समाज के लिए सकारात्मक या नकारात्मक भूमिका होनी ज़रूरी नहीं है। कुछ तथ्य एक समूह या उपसमूह के लिए सकारात्मक हो सकते हैं और दूसरे के लिए नकारात्मक।

उदाहरण के लिए दूरदर्शन द्वारा क्रिकेट पर पूरा मैच दिखाए जाने का एक प्रकार्य यह हो सकता है उस समय अपराध संख्या कम हो जाए। यह इसका सकारात्मक प्रकार्य है परन्तु इसका नकारात्मक दुष्प्रकार्य भी हो सकता है। इससे काम करने की जगह पर लोगों की कार्यक्षमता कम हो सकती है क्योंकि अपना काम छोड़कर अक्सर लोग मैच देखने लगते हैं। इसलिए मर्टन का कहना है कि किसी सामाजिक तथ्य के सकारात्मक या नकारात्मक होने के बारे में यह देखना आवश्यक है कि प्रकार्यात्मक परिणामों को पूरे समाज की दृष्टि से जाँचा जा रहा है या समाज के एक उप-समूह की दृष्टि से।

समाजशास्त्री को यह नहीं मानना चाहिए कि उसका काम सामाजिक ढांचे के मात्र स्थिर पक्षों का विश्लेषण करना है। समाजशास्त्री को समाज के ढांचे में आ रहे परिवर्तनों की अनदेखी नहीं करनी चाहिए। मर्टन का कहना हैं कि प्रकार्यात्मक विश्लेषणकर्ता को सामाजिक परिवर्तनों पर पूरा ध्यान देना चाहिए। आपको मालूम ही है कि कुछ भी स्थिर या अपरिहार्य नहीं है और प्रकार्यात्मक विकल्प संभव है। विश्लेषणकर्ता को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हर सामाजिक तथ्य की सकारात्मक भूमिका नहीं होती। अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक तथ्यों के नकारात्मक परिणाम भी होते हैं। मर्टन का कहना है कि नकारात्मक दुष्प्रकार्यों का होना सामाजिक संरचना में तनाव की स्थिति को बताता है। ऐसे दुष्प्रकार्यों के अध्ययन के आधार पर सामाजिक गतिकी और परिवर्तन का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

### 29.4.4 प्रकार्यात्मक विश्लेषण के वैचारिक दृष्टिकोणों में समस्याएं

अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण प्राय: "रूढ़िवादी" या "प्रतिक्रियावादी" प्ररिप्रेक्ष्य से ओत-प्रोत होते हैं। लेकिन मर्टन का कहना है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण का अपना कोई अंतर्निहित वैचारिक दृष्टिकोण नहीं होता है। आप किस तरीक़े से उसे इस्तेमाल करें यह आप पर निर्भर करता है, जैसे उदाहरण के लिए, अगर आप प्रकार्य के सकारात्मक परिणामों पर ही ध्यान दें तो आपके विश्लेषण परिणाम अति रूढ़िवादी वैचारिकता के पक्ष में होंगे। दूसरी और, अगर आप नकारात्मक दुष्प्रकार्यों की ओर ही ध्यान दें तो अपने विश्लेषण के परिणाम आपको अति क्रांतिकारी काल्पनिक आदर्श समाज या **यूटोपिया** (utopia) की ओर ले जाएंगे। एक व्यावहारिक उदाहरण लें। एक समाजशास्त्री के रूप में आप जाति व्यवस्था के सकारात्मक प्रकार्यों को ही देखें। जैसे जाति-व्यवस्था प्रतियोगिता की भावना पर रोक लगाती है और इससे व्यवस्था का निश्चित क्रम बना रहता है। जाति-व्यवस्था हर व्यक्ति को स्वधर्म (अपने धर्म) द्वारा निर्धारित पेशा चुनने का निर्देश देती है अत: पेशे की दौड़ के तनाव और समग्र व्यक्तित्व के न बन पाने की स्थिति नहीं आती। यदि आपने विश्लेषण में इस तरह जाति-प्रथा के सकारात्मक पक्ष को देखा है तो आपने अति-रूढ़िवादी वैचारिकता अपनाई है। लेकिन अब आप जाति व्यवस्था के नकारात्मक दुष्प्रकार्यों पर भी ध्यान दें तो आप पर रूढ़िवादिता का आरोप नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि नकारात्मक दुष्प्रकार्यों पर ध्यान देने का अर्थ है परिवर्तन का समर्थन। मर्टन का कहना है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण की अपने आप में कोई वैचारिक प्रतिबद्धता नहीं होती। यह तो मुख्यतय: प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण का प्रयोग करने के तरीक़े का प्रश्न है। दूसरा प्रश्न है प्रकार्यों में विभेद का। इसकी चर्चा अगले भाग में की जा रही है। अगले भाग को पढ़ने से पहले सोचिए और करिए 1 को पूरा करें।

**सोचिए और करिए 1**

अपने समाज में जातिवाद पर ध्यान दीजिए, इसके सकारात्मक और नकारात्मक प्रकार्यों की समीक्षा कीजिए। दो पृष्ठ की टिप्पणी में इसके सकारात्मक और नकारात्मक प्रकार्यों की सूची बनाइए। संभव हो तो अपने अध्ययन केंन्द्र के अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणियों से अपनी टिप्पणी की तुलना कीजिए।

## 29.5 व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्य - यह विभेद क्यों?

मर्टन के प्रकार्यात्मक विश्लेषण को अव्यक्त प्रकार्य की अवधारणा ने नया अर्थ दिया। उसने इसे व्यक्त प्रकार्य से अलग करके देखा। मर्टन के अनुसार, यही विभेद उसके प्रकार्यात्मक विश्लेषण की विशेष बात है और इससे दुनिया को देखने की दृष्टि से परे हमारी पहुंच हो जाती है। अव्यक्त प्रकार्य की धारणा से सामाजिक विश्वासों व गतिविधियों को समझने के लिए नया परिप्रेक्ष्य मिलता है। इस प्रकार "तर्कपूर्णता" और "तर्कहीनता" तथा "नैतिकता" और "अनैतिकता" के प्रचलित अर्थों को अब दूसरी तरह से भी समझा जा सकता है। क्योंकि कथित रूप में "अनैतिक" अथवा "विवेकहीन" कार्यकलाप में हमें भी अव्यक्त रूप में कोई न कोई आवश्यक सामाजिक कार्य की पूर्ति का आभास हो सकता है। इस तरह सामाजिक ज्ञान और खोज का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है।

### 29.5.1 "तर्कहीन" लगने वाली बातें सार्थक हो जाती हैं

अव्यक्त और व्यक्त प्रकार्यों के विभेद से समाजशास्त्री का विश्लेषण बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। अगर हमें अव्यक्त प्रकार्यों की समझ होगी तो हमें ऐसी हर बात को जिसका कोई तुरंत या व्यक्त तथा सकारात्मक परिणाम नहीं है, सीधे-सीधे "तर्कहीन" करार करने में हिचक होगी। हमारे सामने कहीं ज़्यादा गहरे प्रश्न उठेंगे, जैसे "तर्कहीन" लगने वाली बात आज तक क्यों बनी है?

तभी हमें संभवत: तर्कहीन कहे जाने वाले कार्य या विश्वास के पीछे छिपे और अव्यक्त अर्थ को समझने की आवश्यकता महसूस होगी। मर्टन ने होपी जनजाति के एक उदाहरण से अपनी बात समझाने का प्रयास किया है। होपी जनजाति के लोग अच्छी वर्षा होने के लिए अनुष्ठान करते हैं। इस अनुष्ठान को धर्मनिरपेक्ष, तर्कशील लोग कितना महत्व दे सकते हैं? निश्चय ही इस अनुष्ठान से वर्षा नहीं होती। वर्षा का किसी अनुष्ठान या पूजा-पाठ से कोई मतलब नहीं है। तुरंत हमारे लिए यह निष्कर्ष निकालना आसान हो जाता है कि होपी अनुष्ठान आदिवासियों का एक तर्कहीन अंधविश्वास है।

इसी बिंदु पर तुरंत मर्टन इस निष्कर्ष पर पहुंचने से हमें रोकता है। जल्दबाज़ी में यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि इस संस्कर से कुछ प्राप्त नहीं होता। मर्टन कहता है कि हम इस संस्कर का गहरा छिपा हुआ अर्थ समझें। अनुष्ठान से वर्षा तो नहीं होती लेकिन इससे होपी जनजाति के बिखरे सदस्य एक जगह जमा होकर सामूहिक रूप से कार्य करते हैं। उनकी एकजुटता मज़बूत होती है और उनके समाज या जाति में एकता आती है। यह मामूली उपलब्धि नहीं है। यही इस अनुष्ठान का अव्यक्त प्रकार्य है।

### 29.5.2 खोज के नए सवालों का उदय

अभी तक की गई चर्चा से आपको स्पष्ट हो गया होगा कि समाजशास्त्री का काम आम व्यक्तियों की भांति नहीं होता। अव्यक्त प्रकार्यों की धारणा के प्रति सजग हो अपने विशिष्ट प्रशिक्षण के आधार पर उनके लिए खोज के नए सवालों में जाना संभव है। समाज के सदस्य आमतौर पर व्यक्त और सामने होने वाले प्रकार्यों के बोध तक ही अपने को सीमित रखते हैं और गहरे तथा छिपे हुए परिणामों के बारे में सोचते भी नहीं हैं और न जानते हैं। लेकिन समाजशास्त्री के लिए बाहर से ही नज़र आने वाले परिणामों से संतुष्ट होना संभव नहीं है। उनकी रुचि सांस्कृतिक और सामाजिक गतिविधियों के गहरे अर्थ और आयामों की तलाश में होती है। इसलिए उनका ध्यान ऐसे सामाजिक तथ्यों पर जाता है जिनमें दुनियादारी वाली व्यवहारिकता परखने वाले लोगों की ज़रा भी दिलचस्पी नहीं होती क्योंकि ऐसे लोग प्राय: सीधे-सीधे काम से मतलब रखते हैं।

इसी बात को समझने के लिए एक उदाहरण लें। मान लीजिए कि आप केवल गंभीर "कलात्मक" फ़िल्मों के शौक़ीन किसी व्यक्ति से बात कर रही हैं। उसकी राय में "व्यावसायिक" (commercial) फ़िल्मों में केवल बकवास होती है, लेकिन अगर आप मर्टन द्वारा बताए अव्यक्त प्रकार्यों की समझ रखती हैं तो आप बुद्धिजीवी के तर्क की क़ायल नहीं होंगी क्योंकि व्यावसायिक फ़िल्मों की कहानी, संगीत, नृत्य, रोमांस और लड़ाई के दृश्यों की "निरर्थक बकवास" में भी आप पाएंगी कि लोग सनातन विश्वासों और आस्थाओं की छवि पा रहे हैं। ये विश्वास हैं - मातृत्व की गरिमा, अंतत: अच्छाई की बुराई पर जीत, बदमाश का हारना आदि। तेज़ी से बदलती दुनिया में ये विश्वास और आस्थाएं समाप्त हो सकती हैं। व्यावसायिक फिल्मों का अव्यक्त प्रकार्य समाज को आस्थाहीनता की ऐसी विस्फोटक स्थिति से बचाना है। ये फ़िल्में विस्फोटक स्थिति से बचाने के लिए "सुरक्षा वाल्व" की तरह काम करती हैं और लोगों की आस्था मज़बूत बनाती हैं। मर्टन द्वारा सुझाई गई इस दृष्टि से देखने पर समाजशास्त्रीय अनुसंधान का एक नया क्षेत्र (व्यावसायिक फ़िल्मों का अध्ययन) खुलता है। इस बिंदु को पूरी तरह आत्मसात करने हेतु सोचिए और करिए 2 को पूरा करें।

**सोचिए और करिए 2**

होली जैसे सामाजिक-धार्मिक त्यौहार के अव्यक्त प्रकार्यों को समझने का प्रयास कीजिए कि कैसे यह विश्लेषण अनुष्ठानों, रिवाज़ों और त्यौहारों के प्रति आपकी दृष्टि को व्यापक बनाता है। होली के व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्यों के बारे में एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए और संभव हो तो अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणियों से इसकी तुलना कीजिए।

### 29.5.3 समाजशास्त्रीय ज्ञान का विस्तार

स्पष्ट है कि अव्यक्त प्रकार्य की समझ रखने वाले समाजशास्त्री का ज्ञान के विकास में सकारात्मक योगदान होता है। अगर समाजशास्त्री व्यक्त प्रकार्यों से ही संतुष्ट हो जाए तो उसके पास कुछ नई बात कहने का कुछ नहीं रहेगा। इसलिए, मर्टन ने कहा है कि अव्यक्त प्रकार्यों के विभेद से समाजशास्त्रीय ज्ञान का क्षेत्र व्यापक होता है।

मर्टन ने इस सिलसिले में एक बड़े रोचक उदाहरण की चर्चा की है। वह उदाहरण वेब्लेन (Veblen) की प्रसिद्ध पुस्तक *थ्योरी ऑफ़ द लेज़र क्लास* (1989) से लिया गया है जिसमें लेखक ने शानदार वस्तुएं खरीदने के तरीक़ों के पीछे छिपे अव्यक्त प्रकार्य की समीक्षा की है। वेब्लेन को समझने से पहले, एक साधारण प्रश्न का उत्तर तलाशना बेहतर होगा - लोग कारों, टेलीविज़नों, वाशिंग मशीनों यहां तक कि धुलाई के साबुनों के नये-नये मॉडलों को बहुत ज़्यादा महत्व क्यों देते हैं?

लोग महंगी, आकर्षक पैकिंग वाली उपभोक्ता वस्तुएं क्यों ख़रीदना चाहते हैं? यह हमेशा कहा जा सकता है कि लोग कार परिवहन की सुविधा के लिए ख़रीदते हैं; टेलीविज़न इसलिए ख़रीदते हैं कि इसके कार्यक्रमों से दुनिया भर की राजनीति, संस्कृति आदि की जानकारी मिलती है। निश्चय ही उपभोक्ता वस्तुओं के ये व्यक्त प्रकार्य हैं और उपभोक्ताओं को इनकी पूरी जानकारी है।

हर व्यक्ति को यह बात मालुम है। अब इस क्षेत्र में समाजशास्त्री का क्या योगदान है? मर्टन ने कहा है कि वेब्लेन के विश्लेषण से पता चलता है कि किस तरह समाजशास्त्री द्वारा उपभोग के तरीक़ों के व्यक्त प्रकार्यों से आगे जाकर अध्ययन किया जाता है और ऐसी नयी बातें बताई जाती हैं जो सामान्य व्यक्ति की समझ से पूरी तरह भिन्न हैं। वेब्लेन के अनुसार लोग नये मॉडल की कार या टेलीविज़न सिर्फ परिवहन की सुविधा या दुनिया के बारे में जानने के लिए ही नहीं ख़रीदते, बल्कि इन्हें ख़रीदने से उनके ऊँचे सामाजिक स्तर की भी पुष्टि होती है। क़ीमती चीजें ख़रीदने का अव्यक्त प्रकार्य है ऊंचे सामाजिक स्तर की पुष्टि। मर्टन के अनुसार इसी तरीक़े से समाजशास्त्री द्वारा दुनिया के बारे में तथा विश्वासों, सांस्कृतिक गतिविधियों और जीवन-शैली के परिणामों के बारे में हमारे ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होता है।

### 29.5.4 स्थापित नैतिक मूल्यों को चुनौती मिलती है

जो बातें "अनैतिक" लगती है, उनके बने रहने के पीछे भी उनके अव्यक्त प्रकार्य होते हैं। इसीलिए मर्टन का कहना है कि हमेशा समाज के स्थापित नैतिक मूल्यों से सर्वदा सहमत होना उचित नहीं है क्योंकि जब तक कथित रूप से "अनैतिक" गतिविधियों या संस्थाओं के अव्यक्त प्रकार्यों की किसी वैकल्पिक गतिविधि या संस्था से पूर्ति नहीं होती, नैतिक मानदंड निरर्थक और बिल्कुल व्यर्थ होते हैं। ये कोई सामाजिक उद्देश्य नहीं पूरा करते, मात्र सामाजिक औपचारिक भर रह जाते हैं।

मर्टन अमरीकी समाज से एक उदारहण देता है । सरकारी लोकतंत्र जो नहीं कर पाता वह "अनैतिक" राजनैतिक तंत्र पूरा करता है। अमरीकी लोकतंत्र में अलग-अलग पहचान वाले मतदाताओं की जगह उन्हें एक सामूहिक पहचान मात्र से जाना जाता है। लेकिन 'राजनीतिक तंत्र' समाजशास्त्रीय दृष्टि से जागरूक होने के नाते हर मतदाता को परिवेश विशेष में रहने वाला, अपनी अलग पहचान वाली समस्याओं और ज़रूरतों वाला व्यक्ति मानता है। इस तरह समूह मात्र को पहचानने वाले समाज में राजनैतिक तंत्र एक मानवीय एवं व्यक्तिगत ढंग से ज़रूरतमंद लोगों की मदद करने का महत्वपूर्ण सामाजिक कार्य करता है।

मर्टन का अर्थ स्पष्ट है। उसके अनुसार, कथित रूप से "अनैतिक" गतिविधि की आलोचना तब तक निरर्थक है जब तक प्रकार्यात्मक अर्थों में एक "नैतिक" विकल्प को सामने न रखा जा सके।

इस प्रकार नैतिकता अथवा अनैतिकता पर आधारित समालोचना विकल्प के बिना अपने आप में पर्याप्त नहीं होती है।

चर्चा के इस पड़ाव पर आकर अब बोध प्रश्न 3 पूरा करें तथा इस इकाई की पाठ्य सामग्री का सारांश पढ़ें।

**बोध प्रश्न 3**

i) व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्य के विभेद के पीछे चार कारण क्या हैं? लगभग चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

ii) अव्यक्त प्रकार्य से समाजशास्त्रीय ज्ञान का क्षेत्र कैसे विस्तृत होता है? एक उदाहरण सहित लगभग दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) निम्न कथनों में से कौन सा कथन सही है?

क) प्रकार्यात्मक विश्लेषण निश्चित रूप से रूढ़िवादी होता है।

ख) प्रकार्यात्मक विश्लेषण निश्चित रूप से आमूल परिवर्तन होता है।

ग) प्रकार्यात्मक विश्लेषण की अपने आप में कोई वैचारिक प्रतिबद्धता नहीं होती।

## 29.6 सारांश

इस इकाई में आपने पढ़ा कि रॉबर्ट मर्टन ने प्रकार्यात्मक विश्लेषण को किस प्रकार नया रूप दिया और परंपरागत आधार तत्वों और प्रतिरूपों से उसने किस तरह अपनी असहमति व्यक्त की। आपने यह भी पढ़ा कि कैसे मर्टन ने प्रकार्यात्मक विश्लेषण का अपना तरीक़ा सामने रखा, जो ज़्यादा लचीला है और दुराग्रहों से मुक्त है। मर्टन के तरीके की परिधि में गतिशीलता, परिवर्तन और दुष्प्रकार्यों जैसे सामाजिक अनुभवों को शामिल किया जा सकता है। विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि अव्यक्त प्रकार्यों की अपनी समझ से मर्टन ने समाजशास्त्रीय ज्ञान और शोध का क्षेत्र विकसित करने का प्रयास किया। मर्टन ने ऐसी सामाजिक गतिविधियों के छिपे अर्थ हमारे सामने उजागर किए जिसे सामान्य दृष्टि से नहीं देखा जा सकता है।

## 29.7 शब्दावली

**विचलन (deviance)** समाजशास्त्र में इस शब्द का तात्पर्य ऐसे अनैतिक व्यवहार से है

जो समाज के स्वीकृत नैतिक आदर्शों के विपरीत हो। जैसे नशीले पदार्थों का सेवन एक ऐसा व्यवहार है जो सामान्य और स्वस्थ जीवन के समाज-स्वीकृत आदर्शों के मार्ग से हमें "विचलित" करता है या अलग ले जाता है।("डीविएंस" का शाब्दिक अर्थ "विचलन" या सही रास्ते से हटना है)।

**प्रभुत्व (hegemony)** ऐसी प्रक्रिया, जिसमें समाज का कोई वर्ग विशेष उदाहरण के लिए, सत्ताधारी वर्ग, अपने जीवन-मूल्यों और आदर्शों को बाकी समाज पर थोपता है। परिणाम यह होता है कि बाहर से तो समाज में सर्वसम्मति का वातावरण दिखता है, पर वास्तव में समाज बंटा हुआ रहता है।

**युटोपिया (utopia)** पूर्ण आदर्श समाज की कल्पना-ऐसा समाज जो यथार्थ से एकदम भिन्न हो, ऐसा ही समाज बनाने के लिए क्रांतिकारी और शोषित वर्ग अक्सर संघर्ष करते हैं।

## 29.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

मर्टन, रॉबर्ट के. 1968. *सोशल थ्योरी एंड सोशल स्ट्रक्चर* फ्री प्रेस: न्यूयार्क

टर्नर, जे. एच. 1987. *स्ट्रक्चर ऑफ़ सोशियोलॉजिकल थ्योरी*. रावत पब्लिकेशंस: जयपुर

## 29.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) समाजशास्त्री "फंक्शन" या "प्रकार्य" शब्द का इस्तेमाल किसी सामाजिक संस्था या सांस्कृतिक गतिविधि के सामाजिक व्यवस्था, एकता और जुड़ाव को बनाये रखने में योगदान के अर्थ में करते हैं। साथ ही व्यक्ति विशेष की सामाजिक संस्था विशेष के "प्रकार्य" के बारे में जो व्यक्तिगत राय है, उससे समाजशास्त्री भ्रमित नहीं होते। सामाजिक संस्था के "प्रकार्य"के देखे जा सकने वाले निष्पक्ष परिणामों के आधार पर उसके बारे में उनके द्वारा निर्णय लिये जाते हैं और देखा जाता है कि सामाजिक संस्था या प्रक्रिया विशेष समाज की व्यवस्था और जुड़ाव को बनाए रखने में वास्तव में क्या योगदान देती है।

ii) सामाजिक प्रक्रिया या संस्था से जुड़ा कर्ता इनके व्यक्त प्रकार्य को तो जानता है परं अव्यक्त प्रकार्य की उसे विशेष समझ नहीं होती। व्यक्त प्रकार्य तो तुरंत नज़र आता है पर अव्यक्त प्रकार्य छिपा हुआ होता है, जिसका विश्लेषण समाजशास्त्री करते हैं।

iii) दुष्प्रकार्य समाज में व्यवस्था और एकता लाने की बजाए, अव्यवस्था और अराजकता लाते हैं। जैसे, जाति-प्रथा का प्रकार्य है क्योंकि यह लोगों में परस्पर सहयोग बढ़ाने और समतामूलक लोकतंत्र बनाने में बाधक है।

**बोध प्रश्न 2**

i) रैडक्लिफ़-ब्राउन

ii) सार्विकीय प्रकार्यवाद के आधार तत्व का मतलब है कि सभी सामाजिक और सांस्कृतिक तथ्यों, संस्थाओं और प्रक्रियाओं के प्रकार्य सकारात्मक होते हैं। मर्टन ने इसका खंडन किया। अपने विश्लेषण से उसने स्पष्ट किया कि सामाजिक और सांस्कृतिक इकाइयों के नकारात्मक प्रकार्य

भी होते हैं। इसीलिए मर्टन ने कहा कि सकारात्मक और नकारात्मक परिणामों का समग्र आकलन किया जाना चाहिए, केवल सकारात्मक परिणामों का नहीं।

iii) मर्टन का कहना है कि कोई भी सांस्कृतिक प्रक्रिया अपरिहार्य नहीं है क्योंकि इसका प्रकार्य किसी वैकल्पिक सांस्कृतिक प्रक्रिया द्वारा भी संभव है। एक ही कार्य दूसरी प्रक्रिया या संस्था द्वारा भी किया जा सकता है। यही मर्टन की प्रकार्यात्मक विकल्प की अवधारणा है।

**बोध प्रश्न 3**

i) व्यक्त और अव्यक्त प्रकार के पीछे चार कारण है :

   क) "तर्कहीन" लगने वाली चीज़ें सार्थक बन जाती हैं।

   ख) शोध के नये क्षेत्र विकसित होते हैं।

   ग) समाजशास्त्रीय ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होता है।

   घ) स्थापित नैतिक मूल्यों को चुनौती मिलती है।

ii) उदाहरण के लिए, हमारे समाज में बढ़ते उपभोक्तावाद को अव्यक्त प्रकार्य की धारणा से समझाया जा सकता है। कारें, टेलीविज़न सेट और कपड़े धोने का साबुन आदि चीज़े केवल उनके व्यक्त प्रकार्यों, अर्थात् उनसे प्राप्त सुविधाओं के कारण ही नहीं ख़रीदी जातीं। ज़्यादा से ज़्यादा चीज़ों के उपभोग के पीछे ऊंचे सामाजिक स्तर की पुष्टि करने की इच्छा छिपी है। यह उपभोग का अव्यक्त प्रकार्य है। उपभोक्तावाद प्रतिस्पर्धात्मक, भौतिकवादी संस्कृति को बनाए रखता है। ऐसी संस्कृति में ही पूंजीपति अपना प्रभुत्व बनाए रखते हैं। ऐसे ही विश्लेषणों से अव्यक्त प्रकार्य की धारणा समाजशास्त्रीय ज्ञान के क्षेत्र का विस्तार करती है।

iii) ग)

# इकाई 30 संदर्भ समूह का सिद्धांत - मर्टन

## इकाई की रूपरेखा


30.0 उद्देश्य

30.1 प्रस्तावना

30.2 संदर्भ समूह की अवधारणा

- 30.2.1 तुलनात्मक वंचन की अवधारणा
- 30.2.2 समूह और समूह सदस्यता की अवधारणा
- 30.2.3 ग़ैर-सदस्यता की अवधारणा
- 30.2.4 प्रत्याशी समाजीकरण
- 30.2.5 सकारात्मक और नकारात्मक संदर्भ समूह

30.3 संदर्भ समूह के निर्धारक तत्व

- 30.3.1 संदर्भ व्यक्ति
- 30.3.2 सदस्यता समूहों में से संदर्भ समूहों का चयन
- 30.3.3 ग़ैर-सदस्यता समूहों का चयन
- 30.3.4 मूल्यों तथा प्रतिमानों को परिभाषित करने के लिए संदर्भ समूहों की भिन्नता
- 30.3.5 निरंतर सक्रिय संपर्क वाले उपसमूहों अथवा प्रस्थिति-श्रेणियों में से संदर्भ समूहों का चयन

30.4 संदर्भ समूहों के संरचनात्मक तत्व

- 30.4.1 प्रेक्षणीयता और दृश्यमानता: प्रतिमानों, मूल्यों और भूमिका-निवार्हन की जानकारी के अनुकृत
- 30.4.2 अनुरूपता का अभाव: संदर्भ समूह आचरण का एक प्रकार
- 30.4.3 भूमिका पटल, प्रस्थिति पटल और प्रस्थिति क्रम

30.5 सारांश

30.6 शब्दावली

30.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

30.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 30.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपके लिए संभव होगा

- संदर्भ समूह की अवधारणा को समझना
- यह बताना कि लोग अपनी भूमिका-निर्वाहन तथा उपलब्धियों का मूल्यांकन करने के लिए अलग-अलग संदर्भ समूहों-सदस्यता समूहों तथा ग़ैर-सदस्यता समूहों का चयन क्यों करते हैं
- विभिन्न संदर्भ समूहों के प्रति लोगों के झुकाव के कारण तुलनात्मक वंचन की अनुभूति की निरंतर संभावना की विवेचना करना
- अपने जीवन पर रचनात्मक तथा आलोचनात्मक ढंग से दृष्टिपात करके यह पता लगाना कि किस प्रकार आपके द्वारा अपने संदर्भ व्यक्तियों एवं संदर्भ समूहों का चयन किया जाता है तथा उसी के अनुरूप अपनी जीवन-शैली, दृष्टिकोण तथा आचरण का निर्धारण होता है।

## 30.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने प्रकार्यात्मक विश्लेषण के क्षेत्र में मर्टन के योगदान के बारे में पढ़ा। इस इकाई में आपको संदर्भ समूह के आचरण के सिद्धांत का परिचय देने का प्रयास किया गया है। विशेषकर यह बताया जा रहा है कि अमरीका के समाजशास्त्री रॉबर्ट मर्टन ने किस प्रकार अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *सोशल थ्योरी एण्ड सोशल स्ट्रक्चर* (1949) में इस सिद्धांत को विस्तार से समझाया और सिद्ध किया है।

प्रारंभ में, भाग 30.2 में संदर्भ समूह की अवधारणा और उसके विभिन्न प्रकारों को समझाने की चेष्टा की गई है।

इसके पश्चात् भाग 30.3 में हमने निर्धारक तत्वों वाले संरचनात्मक, संस्थागत, सांस्कृतिक तथा मनोवैज्ञानिक कारकों की चर्चा की है, जिनसे प्रेरित होकर विभिन्न संदर्भ समूहों, सदस्यता समूहों तथा ग़ैर-सदस्यता समूहों का चयन किया जाता है।

और अंत में आपको संदर्भ समूह के आचरण के संरचनात्मक तत्वों अर्थात् समूह के सदस्यों के प्रतिमानों, मूल्यों तथा भूमिका-निर्वाहन की प्रेक्षणीयता तथा दृश्यमानता की संभावना, अननुकूलता के प्रभाव और भूमिका पटल एवं प्रस्थिति पटल की गतिकी के संबंध में जानकारी दी गई है।

## 30.2 संदर्भ समूह की अवधारणा

यह कहना आवश्यक नहीं कि सभी लोग समूहों में रहते हैं। आप सामाजिक प्राणी हैं और समाज में रहने के लिए आपको कुछ संबंधों के बीच रहना पड़ता है। फिर एक समूह है क्या? संबंधों का ताना-बाना ही तो समूह है।

उदाहरण के लिए, हर विद्यार्थी अन्य विद्यार्थियों के एक समूह से जुड़ा होता है, जिनके साथ उसका सतत रूप से सक्रिय संपर्क रहता है। आपको पता है कि आपकी अपने समूह के सदस्यों से किस प्रकार के संबंधों की अपेक्षा होती हैं। आपको यह भी मालूम है कि दूसरे विद्यार्थियों की आपसे क्या आशाएं हैं। दूसरे शब्दों में आपका आचरण, व्यवहार, संबंध रखना आदि सदैव उस समूह से निर्देशित होता है, जिससे आप संबंधित हैं। जब तक आपका व्यवहार विद्यार्थियों के समूह की अनुकृत अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं ढलता तब तक आपकी विद्यार्थी के रूप में पहचान नहीं बनती।

इसी प्रकार, आप एक परिवार के सदस्य/सदस्या हैं। आपको मालूम है कि परिवार एक महत्वपूर्ण प्राथमिक समूह है, जो हमेशा आपके व्यवहार और अपेक्षाओं को आकार देता है। यदि आप पूरी तरह ही जड़हीन नहीं हैं तो आपके लिए अपने माता-पिता, भाई-बहन, मित्र, दोस्त आदि के साथ अनेक तरह के संबंध के बगैर संभवत: अपने अस्तित्व की कल्पना तक करना संभव न होगा।

अत: आपको यह समझना चाहिए कि किसी के लिए भी अलग-थलग रहकर सामान्य जीवन संभव नहीं होता। व्यक्ति कुछ संबंधों के बीच रहते हैं और जिस समूह से वे संबंधित हैं, उनकी अपेक्षाओं को उनकी सहमति प्राप्त होती है। सच्चाई यह है कि जिस समूह से वे जुड़े हैं, वह उनके संदर्भ समूह की भांति काम करता है।

इस प्रकार, यह समझा जा सकता है कि संदर्भ समूह क्या है। संदर्भ समूह वह समूह है, जिसके आधार पर हर व्यक्ति के लिए अपनी उपलब्धियों, व्यवहार भूमिका, आकांक्षाओं आदि का मूल्यांकन करना संभव होता है। संदर्भ समूह ही व्यक्ति को बताता है कि उसका काम ग़लत है अथवा सही। इससे यह तथ्य भी सामने आता है कि उसका सदस्यता समूह, अर्थात् जिससे वह जुड़ा है, वही उसका संदर्भ समूह है।

परन्तु समस्या यहीं समाप्त नहीं हो जाती। जीवन इससे भी अधिक जटिल है। जिनसे आप संबंधित

नहीं हैं, वे ग़ैर-सदस्यता समूह भी संदर्भ समूह की तरह काम कर सकते हैं। यह आश्चर्यजनक नहीं है। जीवन अत्यंत गतिशील है, इसलिए समय-समय पर आपको उन लोगों के बारे में भी जानकारी मिलती रहती है, जो आपके समूह से संबंधित नहीं है। और कभी-कभी आपको हैरान होकर अपने आप से प्रश्न करना पड़ता है कि दूसरे लोग आपसे अधिक शक्तिशाली एवं प्रतिष्ठित हैं। परिणाम यह होता है कि इस स्थिति में व्यक्ति के लिए वह अपनी उपलब्धियों और काम का मूल्यांकन ग़ैर-सदस्यता समूह के आधार पर करना संभव हो जाता है।

उदाहरण के लिए, एक युवा विद्यार्थी को लीजिए। उस पर उसकी पाठ्य-सामग्री के अध्ययन तथा परीक्षा आदि का बोझ होता है। सचमुच कठोर परिश्रम करने से उसके पास आराम करने तक की फ़ुर्सत नहीं है। तभी उसको एक अलग तरह के समूह (क्रिकेट खिलाड़ियों के समूह) का पता चलता है जो उसकी ही भांति युवा तथा शिक्षित हैं। वे लोग क्रिकेट खेलते हैं, विदेशों में जाते हैं, जीवन का आनंद लेते हैं, धन कमाते हैं और अखबारों में उनके बारे में खूब लिखा जाता है। क्रिकेट खिलाड़ियों के समूह की सफलता की कहानी से अति प्रभावित होने की स्थिति में उसको लगता है कि एक विद्यार्थी के रूप में वह वंचित और उपेक्षित है। इस प्रकार, क्रिकेट खिलाड़ी उसके संदर्भ समूह की तरह काम करना शुरू कर देते हैं। इस एहसास के फलस्वरूप पढ़ाई की बजाए क्रिकेट खेलने में उसका अधिक समय लगने लगता है और उसे आशा होती है कि एक न एक दिन क्रिकेट खिलाड़ी बनकर उनकी तरह जीवन बिताना उसके लिए संभव हो पाएगा।

सच्चाई यह है कि केवल सदस्यता समूह ही नहीं बल्कि ग़ैर-सदस्यता समूह भी संदर्भ समूह की तरह काम करते हैं। केवल अपने समूह के सदस्यों की दृष्टि से नहीं बल्कि दूसरे समूहों के लोगों की दृष्टि से भी स्वयं को परखा जाता है।

यह सब जान लेने के बाद आपको यह समझने में कठिनाई नहीं होगी कि मर्टन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *सोशल थ्योरी एंड सोशल स्ट्रक्चर* (1949) में संदर्भ समूह के सिद्धांत को किस प्रकार विकसित किया है।

### 30.2.1 तुलनात्मक वंचन की अवधारणा

"तुलनात्मक वंचन" पर मर्टन की समझ संदर्भ समूह और संदर्भ समूह के आचरण के विवेचन से जुड़ी हुई है। इसके बिना संदर्भ समूह के बारे में समझ अधूरी रहेगी। मर्टन ने 1949 में प्रिंस्टन विश्वविद्यालय प्रेस से प्रकाशित *द अमेरिकन सोल्ज़र* के निष्कर्षों के विश्लेषण के दौरान तुलनात्मक वंचन का उल्लेख किया। इस कृति में यह विवेचन करने का प्रयास किया गया था कि अमरिकी सैनिक अपने बारे में क्या सोचते थे और अपने भूमिका-निर्वाहन और व्यावसायिक उपलब्धियों आदि का मूल्यांकन कैसे करते थे।

अब *द अमेरिकन सोल्ज़र* के सरल किंतु सार्थक निष्कर्षों का विवेचन नीचे प्रस्तुत है।

> सेना के अविवाहित सैनिकों से अपनी तुलना करते हुए विवाहित जवान यह महसूस करता था कि फौज में भर्ती होने से अविवाहित लोगों की अपेक्षा वह अधिक त्याग करता है और विवाहित असैनिकों से अपनी तुलना करते हुए वह यह सोच सकता था कि उससे उन बलिदानों की अपेक्षा की जा रही है, जिससे वे लोग पूरी तरह बचते रहे हैं।

मर्टन के अनुसार यही स्थिति तुलनात्मक वंचन कहलाती है। और इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है क्योंकि प्रसन्न्ता तथा वंचन स्वयं में परिपूर्ण नहीं होते। अत: इसकी मात्रा इस पर निर्भर करती है कि उसे आंकने के लिए कौन सा पैमाना अपनाया गया है। यह संदर्भ के स्वरूप पर निर्भर है। विवाहित सैनिक की चिंता यह नहीं है कि उसे क्या मिलता है और उस जैसे दूसरे विवाहित सैनिकों को क्या प्राप्त होता है। इसकी बजाए उसकी चिंता यह है कि वह किस चीज़ से वंचित हो रहा है। वह जानता है कि उसके अविवाहित साथी तुलनात्मक दृष्टि से स्वतंत्र हैं। उन

पर पत्नी या बच्चों का दायित्व नहीं है। वे उन ज़िम्मेदारियों से मुक्त हैं जिनसे विवाहित लोग बच नहीं सकते। दूसरे शब्दों में विवाहित सैनिक उस प्रकार की स्वतंत्रता से वंचित हैं जिसका उनके अविवाहित साथी आनंद उठा रहे हैं। विवाहित सैनिक अन्य विवाहित असैनिक लोगों के साथ तुलना करने पर भी अपने आप को वंचित महसूस करता है। इसका कारण यह है कि विवाहित असैनिक व्यक्ति अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ रहकर अपनी ज़िम्मेदारी निभा सकता है, किंतु विवाहित सैनिक इस सुख से वंचित है क्योंकि सैनिक होने के कारण सामान्य पारिवारिक जीवन का आनंद उठाने की उसकी स्थिति नहीं है। विवाहित सैनिक जिस प्रकार के संदर्भ समूह से अपनी तुलना करता है, उसी के अनुसार वह स्वयं को वंचित महसूस करता है। ऐसा ही एक और निष्कर्ष यह है, "विदेश में गया सैनिक देश में रह रहे सैनिकों से अपनी तुलना करने पर अपने पारिवारिक संबंधों तथा उन सुविधाओं को याद करके अधिक दुखी होता है जिनका वह अमरीका में आदी हो चुका था।" अमरीका के विख्यात विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले भारतीय विद्यार्थी का प्रसन्न होना स्वाभाविक है। उसे बेहतर शैक्षिक वातावरण, अधिक पुस्तकें, बेहतर शोध सामग्री तथा विचार विमर्श के लिए अधिक अवसर उपलब्ध हैं। परन्तु यदि वह शैक्षिक दृष्टि से संतुष्ट रहने की बजाए किस अन्य कसौटी (घर तथा मां-बाप, भाई-बहन आदि की कामना, जिनके साथ वह अपने सुख दुख बांट सके) के आधार पर सोचने लगे तो उसकी "प्रसन्नता" लुप्त होने लगेगी। यदि वह अपने परिवार के साथ रहने वाले अपने भारतीय साथियों के साथ अपनी तुलना करे तो संभवत: उसे वंचन महसूस होगा। इन सभी उदाहरणों को देखने से स्पष्ट है कि अपनी स्थिति की तुलना दूसरों की स्थिति से करते हुए पुरुष एवं महिलाओं में बेचैनी तथा परिवर्तन एवं आगे बढ़ने की इच्छा बनी रहती है (देखें चित्र 30.1)।

**चित्र 30.1: तुलनात्मक वंचन की अवधारणा**

### 30.2.2 समूह और समूह सदस्यता की अवधारणा

संदर्भ समूह का अध्ययन करने से पूर्व समझें कि समूह है क्या। मर्टन ने समूह तथा समूह-सदस्यता की तीन विशेषताएं बताई हैं।

i) पहली, एक निष्पक्ष कसौटी है: परस्पर संपर्क की आवृत्ति। अर्थात् समूह की समाजशास्त्रीय अवधारणा का संबंध उन अनेक लोगों से है, जो एक-दूसरे के साथ बार-बार सक्रिय संपर्क में आते हैं।

ii) दूसरी कसौटी है कि सक्रिय संपर्क में आने वाले लोग स्वयं को सदस्य के रूप में परिभाषित करते हैं। अर्थात् वे यह अनुभव करते हैं कि सक्रिय संपर्क के स्वरूप के बारे में उनकी निश्चित अपेक्षाएं हैं, जो उनके लिए तथा अन्य सदस्यों के लिए नैतिक दृष्टि से अनिवार्य हैं।

iii) तीसरी कसौटी यह है कि एक-दूसरे के सक्रिय संपर्क में रहने वाले लोगों को अन्य लोग "समूह से संबंधित" बताते हैं। "अन्य लोगों" में समूह के सदस्य तथा ग़ैर-सदस्य दोनों शामिल हैं।

इस संदर्भ में यह भी जानना ज़रूरी है कि समूह किस प्रकार सामूहिकताओं (collectives) एवं सामाजिक श्रेणियों (social categories) से भिन्न हैं। यह सही है कि सभी समूह सामूहिकताएं हैं किंतु सभी सामूहिकताएं अनिवार्यत: समूह नहीं होते। जिन सामूहिकताओं में सदस्यों के बीच सक्रिय संपर्क का अभाव होता है, वे समूह नहीं कहलाते। उदाहरण के लिए राष्ट्र एक सामूहिकता है, समूह नहीं क्योंकि राष्ट्र से संबंधित सभी लोग एक-दूसरे से सक्रिय संपर्क नहीं करते। सामूहिकता के रूप में राष्ट्र में समूह तथा उप-समूह होते हैं।

सामाजिक श्रेणियां सामाजिक प्रस्थितियों का समुच्चय होती हैं, जिनके धारकों में सक्रिय संपर्क नहीं होता। उदाहरण के लिए एक ही लिंग, आय, वैवाहिक स्थिति अथवा आय आदि के लोग सामाजिक श्रेणियां होते हैं, समूह नहीं।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सामूहिकताओं तथा सामाजिक श्रेणियों की अपेक्षा सदस्यता समूह लोगों के रोज़मर्रा के आचरण को अधिक स्पष्ट तथा निश्चित रूप से प्रभावित करते हैं। समूह के सदस्य अपनी पहचान के प्रति सचेत रहते हैं और उन्हें मालूम होता है कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। इसके फलस्वरूप समूह के नियम उनके लिए नैतिक रूप से अनिवार्य होते हैं।

### 30.2.3 ग़ैर-सदस्यता की अवधारणा

मर्टन ने कहा है कि इस तथ्य में कोई नई बात नहीं है कि लोग अपने ही समूह के अनुकूल आचरण करते हैं। किंतु संदर्भ समूह का अध्ययन इस कारण दिलचस्प बन जाता है कि "लोग अपने आचरण तथा मूल्यांकनों के निर्धारणों के लिए अक्सर अपने समूह से भिन्न अन्य समूहों के अनुकूल अपने को ढालते हैं।"

इसी प्रसंग में मर्टन ग़ैर-सदस्यता की गतिकी (dynamics) पर ध्यान देने का आग्रह करता है। वास्तव में ग़ैर-सदस्य वे हैं जो सदस्यता की सक्रिय संपर्क तथा परिभाषा संबंधी कसौटियों पर खरे नहीं उतरते। परंतु जैसी कि मर्टन की मान्यता है, सभी ग़ैर-सदस्य एक ही प्रकार के नहीं होते। मोटे तौर पर ग़ैर-सदस्यों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

(i) कुछ लोग समूह की सदस्यता की कामना कर सकते हैं।

(ii) अन्य लोग इस प्रकार के संबंध के प्रति उदासीन हो सकते हैं।

(iii) कुछ और ऐसे भी हो सकते हैं, जो समूह से असंबद्ध रहने को प्रेरित हों।

एक उदाहरण लें हैं। मान लीजिए एक व्यक्ति के पिता उद्योगपति हैं और उनका एक कारखाना है। स्वाभाविक है कि कारखाने में कामगारों के संदर्भ में वह व्यक्ति ग़ैर-सदस्य है। उस समूह से उसका कोई नाता नहीं है। किंतु इसके बावजूद तीन संभावनाएं हैं।

मान लीजिए वह अत्यंत संवेदनशील है, उसने मार्क्स का अध्ययन किया है और उसका दृढ़ विश्वास है कि केवल श्रमिक वर्ग ही अन्याय तथा शोषण से मुक्त नई व्यवस्था को जन्म दे सकता है। मतलब यह है कि ग़ैर-सदस्य होते हुए भी वह स्वयं को मज़दूरों के साथ जोड़ना चाहता है, उनके अनुभव को जानना चाहता है और उसी के अनुरूप वह अपनी जीवन-शैली को बदलता है। मर्टन के अनुसार ऐसा होने पर ग़ैर-सदस्यता समूह उसके लिए सकारात्मक संदर्भ बन जाता है।

एक संभावना और भी है। वह व्यक्ति अपनी मौजूदा स्थिति से संतुष्ट है और उसे किसी बात की परवाह नहीं है। इस प्रकार, उसके जीवन पर श्रमिकों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भावार्थ यह है कि वह ग़ैर-सदस्य बना रहता है और श्रमिकों के समूह के साथ जुड़ने की उसकी कोई इच्छा नहीं है।

अब, तीसरी संभावना पर विचार कर लिया जाए। ग़ैर-सदस्य के रूप में उस व्यक्ति को मज़दूरों से घृणा है और उसकी सोच है कि वे न तो योग्य हैं और न ही शिक्षित तथा उनकी संस्कृति में कोई अच्छी बात नहीं है। इसके फलस्वरूप श्रमिकों से अपनी दूरी बनाए रखने तथा अपनी प्रस्थिति बनाए रखने के लिए उनके विरोध में उसका आचरण होने लगता है। इस प्रकार मर्टन का मानना है कि वे श्रमिक उसके लिए नकारात्मक संदर्भ समूह के रूप में काम करते हैं।

आइए अब इस रोचक चर्चा के बाद बोध प्रश्न 1 को पूरा करें।

**बोध प्रश्न 1**

i) तुलनात्मक वंचन क्या है? एक उदाहरण देकर समझाइए। अपना उत्तर आठ पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) ग़ैर-सदस्यता संदर्भ समूह का एक उदारहण दीजिए। चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

## 30.2.4 प्रत्याशी समाजीकरण

मर्टन ने ग़ैर-सदस्यता समूह के संदर्भ में प्रत्याशी समाजीकरण की चर्चा की है। वह बहुत साधारण है। यह एक तरह से उस समूह के लिए स्वयं को तैयार करना है, जिससे वह व्यक्ति जुड़ा हुआ तो नहीं हो, किंतु उसका सदस्य बनना चाहता हो। यह किसी ग़ैर-सदस्यता संदर्भ के मूल्यों एवं जीवन-शैली को अपनाने के समान है। मर्टन का कहना है कि प्रत्याशी सामाजीकरण से व्यक्ति विशेष को दो तरह से लाभ हो सकता है। एक तो, उसे समूह में ऊंचा उठने में मदद मिलती है। और, दूसरे, उस समूह का हिस्सा बन जाने के पश्चात् स्वयं को उसके स्वरूप में ढालना सरल हो जाता है।

एक उदाहरण से मर्टन का कथन अच्छी तरह से समझा जा सकता है। कल्पना कीजिए कि गांव के निम्न मध्यम वर्ग का एक बालक दून स्कूल के लड़कों को अपना संदर्भ समूह मानने लगता है और इसलिए प्रत्याशी समाजीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत दून स्कूल के लड़कों जैसी तेज़ी तथा आन-बान की नक़ल करने लगता है। अब यदि वह बालक सचमुच दून स्कूल में भर्ती हो जाए

तो उसका प्रत्याशी समाजीकरण प्रकार्यात्मक हो जाएगा तथा नए वातावरण के अनुसार अपने को ढालने में उसे आसानी होगी।

मर्टन ने प्रत्याशी समाजीकरण के प्रकार्यात्मक परिणामों के साथ-साथ उसके दुष्प्रकार्यात्मक परिणामों की भी चर्चा की है। यदि प्रणाली में गतिशीलता की संभावना बिल्कुल नहीं है तो निम्न मध्यम वर्ग के बालक को दून स्कूल में कभी प्रवेश नहीं मिल पाएगा (यह समाजशास्त्री को ही देखना है कि स्थिति वास्तव में ऐसी है या नहीं)। उस हालत में प्रत्याशी समाजीकरण उस बालक के लिए दुष्प्रकार्यात्मक बन जाएगा। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि वह उस समूह का सदस्य नहीं बन पाएगा, जिसकी वह कामना करता है। और दूसरा यह कि प्रत्याशी समाजीकरण अर्थात ग़ैर-सदस्यता समूह के मूल्यों की नक़ल के कारण वह अपने समूह के सदस्यों द्वारा नापसंद किया जाने लगेगा। मर्टन के अनुसार वह "सीमांत व्यक्ति" (marginal man) बन कर रह जाएगा। प्रत्याशी समाजीकरण अपेक्षाकृत उदार सामाजिक संरचना में ही प्रकार्यात्मक बन सकता है, क्योंकि वहां गतिशीलता (mobility) की संभावनाएं रहती हैं। किंतु गतिशीलता के अपेक्षाकृत अभाव वाली सामाजिक संरचना में यह दुष्प्रकार्यात्मक सिद्ध होगा।

मर्टन ने एक और दिलचस्प बात कही। गतिशीलता के अभाव वाले समाज में किसी व्यक्ति द्वारा गैर-सदस्यता समूह को संदर्भ समूह के रूप में चुने जाने की संभावनाएं बहुत कम होती हैं। यही कारण है कि गतिशीलता के अभाव वाली प्रणाली में जहां प्रत्येक स्तर के अधिकार, पूवपिक्षाएं तथा कर्त्तव्य आमतौर पर नैतिक रूप से सही माने जाते हैं, वहां निष्पक्ष स्थितियों के ठीक न होने के बावजूद भी व्यक्ति कम वंचित महसूस करेगा। किंतु गतिशील समाज में, जहां व्यक्ति सदैव ही अपनी स्थिति की तुलना अपेक्षाकृत अधिक संपन्न लोगों से करता रहता है, वह निरंतर अप्रसन्न एवं असंतुष्ट रहता है।

### 30.2.5 सकारात्मक और नकारात्मक संदर्भ समूह

मर्टन के कथनानुसार संदर्भ समूहों के दो प्रकार हैं। पहला है सकारात्मक संदर्भ समूह, जिसे व्यक्ति पसंद करता है और अपने आचरण का निर्धारण करने तथा उपलब्धियों एवं काम-काज का मूल्यांकन करने के लिए उसे गंभीरता से अपनाता है। दूसरा है नकारात्मक संदर्भ समूह, जिसे व्यक्ति नापसंद तथा अस्वीकार करता है और उसके अनुरूप आचरण करने की बजाय उसके विपरीत प्रतिमानों को अपनाता है। मर्टन के अनुसार, "सकारात्मक प्रकार में समूह के प्रतिमानों अथवा मानकों का अभिप्रेरणात्मक आत्मसात किया जाता है और वह स्वयं के मूल्यांकन का आधार होता है, जबकि नकारात्मक प्रकार में अस्वीकृति का भाव निहित है, जिसमें प्रतिमानों की अस्वीकृति ही नहीं, बल्कि विपरीत प्रतिमानों की रचना भी शामिल है।"

जब इस चर्चा के बीच में है तो क्यों न अभी ही सोचिए और करिए 1 को पूरा कर लें।

**सोचिए और करिए 1**

अपने मित्रों के बारे में यह जानने की चेष्टा कीजिए कि वे किस तरह के संदर्भ समूह (सकारात्मक या नकारात्मक) का चयन करते है। उस पर लगभग एक पृष्ठ का नोट लिखिए यदि संभव हो तो अपने उत्तर की अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों के उत्तर से तुलना कीजिए।

इस विभाजन के उदाहरण ढूंढने कठिन नहीं है। कल्पना कीजिए कि देश विशेष के लोंगों का उपनिवेशवादी सत्ताधारियों के प्रति क्या रूख रहता है। कुछ ऐसे देशवासी होते हैं जो अपने उपनिवेशवादी शासकों की सफलता की कहानी पर मुग्ध हो जाते हैं और उनकी जीवन-शैली अपनाने, उनकी भाषा बोलने तथा उनकी खान-पान की आदतों को अपने जीवन में उतारने में गर्व महसूस करते हैं। दूसरे शब्दों में उनके लिए **उपनिवेशवादी वर्ग** सकारात्मक संदर्भ समूह है।

दूसरी ओर, ऐसे देशवासी भी होते हैं, जो उनकी शोषणकारी प्रवृत्ति, अहंकार, अत्याचार आदि के कारण उपनिवेशवादियों से नफ़रत करते हैं और उनके प्रतिमानों का अनुसरण करने की बजाय उपनिवेशवादियों से अपनी भिन्नता बनाए रखने के लिए विपरीत प्रतिमानों की रचना कर लेते हैं। उनके लिए उपनिवेशवादी नकारात्मक संदर्भ समूह है।

अगले चर्चा बिंदु पर जाने से पहले बोध प्रश्न 2 को अवश्य पूरा करें।

**बोध प्रश्न 2**

i) निम्नलिखित में कौन-सा कथन सत्य है? सही कथन पर ✓ चिन्ह लगाइये।

   क) प्रत्याशी समाजीकरण सभी परिस्थितियों में व्यक्ति के लिए प्रकार्यात्मक होता है।

   ख) प्रत्याशी समाजीकरण गतिशीलता के अभाव वाली समाज-व्यवस्था में प्रकार्यात्मक होता है।

   ग) प्रत्याशी समाजीकरण केवल अपेक्षाकृत गतिशील समाज व्यवस्था में, जिसमें आगे बढ़ने की संभावनाएं हों, प्रकार्यात्मक होता है।

ii) सकारात्मक तथा नकारात्मक संदर्भ समूह में क्या अंतर है? अपना उत्तर चार पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

## 30.3 संदर्भ समूह के निर्धारक तत्व

उन कारकों को जान लेना आवश्यक है जिनके आधार पर संदर्भ समूह का चयन किया जाता है। यही कारण है कि मर्टन ने लोगों द्वारा उनके संदर्भ व्यक्ति के चयन, विभिन्न सदस्यता समूहों में से किन्हीं समूहों के चयन, और अंततः गैर-सदस्यता समूहों के चयन को वरीयता दिए जाने की असंख्य संभावनाओं का उल्लेख किया है। मर्टन ने उन निर्धारक तत्वों की चर्चा की है, जिनसे प्रेरित होकर एक ही व्यक्ति के लिए आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन जैसे अलग-अलग उद्देश्यों के लिए अलग-अलग संदर्भ समूहों का चयन करना संभव हो जाता है। इन सभी तत्वों के बारे में जानकारी मिल जाने से संदर्भ समूह के आचरण की गतिकी को समझने में निश्चय ही काफ़ी मदद मिलेगी।

### 30.3.1 संदर्भ व्यक्ति

यह ध्यान में रखना ज़रूरी है कि लोग संदर्भ समूहों का ही नहीं, संदर्भ व्यक्तियों का भी चयन करते हैं क्योंकि कुछ व्यक्ति अपने चमत्कारिक प्रभाव, प्रस्थिति, चमक-दमक आदि से लोगों को अपनी ओर खींच लेते हैं। उदाहरण के लिए, समूह के रूप में सुनील गावस्कर। इस प्रकार, यद्यपि क्रिकेट खिलाड़ी आपके लिए संदर्भ समूह नहीं हैं, जबकि सुनील गवास्कर संदर्भ व्यक्ति बन सकता है।

संदर्भ व्यक्ति को प्रायः भूमिका-आदर्श(role-model) की तरह माना जाता है। किंतु मर्टन ने इनमें अंतर बताया है। भूमिका आदर्श की अवधारणा का क्षेत्र सीमित होता है क्योंकि इसमें किसी व्यक्ति की एक या दो चुनी हुई भूमिकाओं के मामले में उसे आदर्श माना जाता है। किंतु जिस व्यक्ति ने संदर्भ व्यक्ति के साथ स्वयं को संबद्ध किया है उसे "अनेक भूमिकाओं में उस व्यक्ति के आचरण तथा मूल्यों को आत्मसात् करना अच्छा लगेगा।"

दूसरे शब्दों में यदि आपने सुनील गावस्कर को अपना संदर्भ व्यक्ति स्वीकार किया है तो आपने सुनील गावस्कर की अनेक भूमिकाएं - उसका हंसना-बोलना, वेशभूषा, महिलाओं के साथ व्यवहार, मॉडल के रूप में काम करना, स्वयं में एकाकार करनी चाही होगी। मर्टन का कहना है कि जीवनीकार, प्रशंसकों की पत्रिकाओं के संपादक और प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन की झूठी-सच्ची खबरें छापने वाले पत्रकार लोगों को अपना संदर्भ व्यक्ति चुनने को प्रोत्साहित करते हैं।

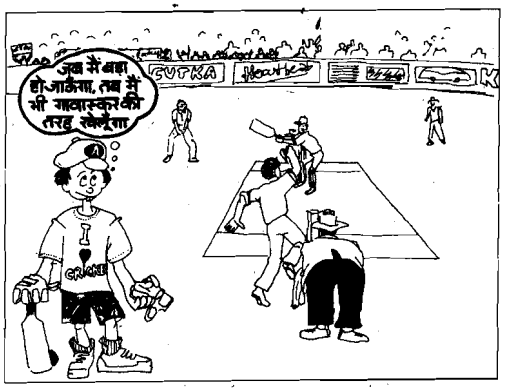


**चित्र 30.2: भूमिका आदर्श की अवधारणा**

आप किसी पत्रिका को उठाकर देखिए। आपको यह पता चलेगा कि उसमें किसी फिल्मी अभिनेता अथवा अभिनेत्री क्रिकेट खिलाड़ी, संगीतकार आदि की कला के बारे में ही नहीं, उनके "प्रेम संबंधों" और "निजी जीवन" पर भी लिखा जाता है। जब किसी विभूति को संदर्भ व्यक्ति मान लिया जाता है तो उसके हर पहलू - केशसज्जा से लेकर खान-पान की आदतों तक - का अनुकरण किया जाने लगता है।

## 30.3.2 सदस्यता समूहों में से संदर्भ समूहों का चयन

हर व्यक्ति अनेक समूहों से जुड़ा है। अपने परिवार से लेकर पड़ोस के क्लब या फिर जाति समूह राजनीतिक दल और धार्मिक संगठन से उसका संबंध रहता है। प्रश्न यह है कि क्या वह अपने आचरण का निर्धारण करते हुए या अपनी उपलब्धियों तथा भूमिका-निर्वाहन का मूल्यांकन करते हुए इन सभी समूहों को गंभीरता से लेता है? उसे मालूम होता है कि सभी सदस्यता समूह समान रूप से महत्वपूर्ण नहीं होते। उनमें से कुछ का ही संदर्भ समूह के रूप में चयन किया जाता है।

व्यक्ति यह चयन कैसे करे? इस प्रश्न का उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता, जब तक उसे यह न मालुम हो कि सदस्यता समूह कई प्रकार के होते हैं। मर्टन के अनुसार, समूहों का "उपयुक्त वर्गीकरण" आवश्यक है। इस संदर्भ में मर्टन ने 26 समूह विशेषताओं की अस्थायी सूची तैयार की।

उदाहरण के लिए, मर्टन की मान्यता है कि विभिन्न समूहों में उस अंतर की मात्रा में पर्याप्त भिन्नता है, जिनके आधार पर सदस्यता की परिभाषा की जा सकती है। कुछ समूह एकदम अनौपचारिक होते हैं जिनकी कोई सीमा तय करना कठिन होता है, जबकि कुछ समूह एकदम स्पष्ट होते हैं और उनके सदस्य बनने की औपचारिक प्रक्रियाएं होती हैं। इसके अलावा, सदस्य की अपने समूह के प्रति आत्मीयता की मात्रा के आधार पर ही समूहों में अंतर किया जा सकता है। और भी अनेक विशेषताएं हैं जिनके आधार पर समूहों में अंतर किया जा सकता है। ये हैं: समूह की संभावित अवधि, उसका गतिशील होना अथवा उसमें गतिशीलता का अभाव, सामाजिक विभेद की मात्रा और समूह के प्रतिमानों के प्रति संभावित अनुरूपता की मात्रा। गैर-सदस्यता समूह के स्वरूप को समझ लेने पर व्यक्ति स्वयं फैसला करे कि इनमें से कुछ का संदर्भ समूह के रूप में क्यों चयन किया जाये। आपको इस संबंध में कुछ उदाहरण दिए गए हैं। अपने परिवार के सदस्यों के प्रति आपकी आत्मीयता किसी फ़िल्मी क्लब के सदस्यों की तुलना में कहीं अधिक होती

है। अत: इस बात की पूरी संभावना है कि अपने जीवन के प्रमुख निर्णय करने में फ़िल्म क्लब नहीं, अपितु आपका परिवार आपके लिए संदर्भ समूह के रूप में काम करेगा।

इसी प्रकार, जिस समूह की सदस्यता अधिक समय तक चलने की संभावना नहीं होती (उदाहरण के लिए स्नातक उपाधि के विद्यार्थियों की एक कक्षा केवल तीन वर्ष तक चलेगी) उसे संदर्भ समूह के रूप में अपनाने की संभावनाएं कम होती हैं। किन्तु जो समूह लंबी अवधि तक चलने वाले होते हैं, जैसे कि नातेदारी या जाति समूह, वे अवश्य ही संदर्भ समूह बनते हैं। यही कारण है कि अनेक लोगों के जीवन को दिशा देने में कॉलेज के दिनों के उनके मित्र नहीं (कॉलेज जीवन अस्थायी है) बल्कि नातेदारी या जाति समूह निर्णायक भूमिका निभाते हैं।

### 30.3.3 ग़ैर-सदस्यता समूहों का चयन

यह समझना आवश्यक है कि लोग क्यों और किन परिस्थितियों में ग़ैर-सदस्यता समूहों का अपने संदर्भ समूह के रूप में चयन करते है। मर्टन के अनुसार, इसके लिए मुख्यतया तीन कारक उत्तरदायी हैं। पहला यह है कि संदर्भ समूह का चयन इस बात पर निर्भर करता है कि समूह की "समाज की एक संस्था की दृष्टि से प्रतिष्ठा प्रदान करने की क्षमता" कितनी है। यह बात एकदम सीधी है। समाज में सभी समूहों की शक्ति और प्रतिष्ठा एक जैसी नहीं होती। उदाहरण के लिए ऐसा देखने में आता है कि हमारे यहां विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक अपने स्तर की तुलना अक्सर भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई.ए.एस.) अधिकारियों से करते हैं। इस प्रकार प्राध्यापकों के लिए आई.ए.एस. अधिकारी संदर्भ समूह हैं। इसका कारण एकदम स्पष्ट है कि आधुनिक भारतीय समाज के संस्थागत स्वरूप में आई.ए.एस अधिकारियों को प्राध्यापकों की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठा तथा अधिकार प्राप्त हैं। जिस ग़ैर-सदस्यता समूह को अधिक प्रतिष्ठा एवं अधिकार प्राप्त नहीं हैं, उसके संदर्भ समूह बनने की संभावना बहुत कम है।

दूसरा कारक यह है कि इस बात की जांच की जाए कि आमतौर पर किस प्रकार के लोग ग़ैर-सदस्यता समूहों को अपने संदर्भ समूहों के रूप में अपनाते हैं। मर्टन का कहना है कि सामान्यतया किसी समूह में "अलग-थलग पड़ गए लोग" ही ग़ैर-सदस्यता समूह के मूल्यों को "संदर्भ के प्रतिमानों" के रूप में अपनाते हैं। कारण स्पष्ट है कि अपनी विद्रोही प्रवृत्ति अथवा आगे बढ़ने की प्रबल इच्छा के फलस्वरूप वे अपने समूह से असंतुष्ट रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनके लिए ग़ैर-सदस्यता समूहों के मूल्यों को अपना लेने की संभावनाएं अधिक रहती हैं। इसके उदाहरण के रूप में मर्टन ने "अभिजन वर्ग के हताश व्यक्ति" का उल्लेख किया है जो उस वर्ग की राजनीतिक विचारधारा को अपना लेता है, जो उसके अपने वर्ग से कम शक्तिशाली होता है।

वह सामाजिक प्रणाली जिसमें सामाजिक गतिशीता की अपेक्षाकृत दर ज़्यादा है उसमें ग़ैर-सदस्यता समूह के सदस्यों को अपने समूह का सदस्य बनाने की संभावनाएं ज़्यादा हो जाती हैं। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि अधिक गतिशील प्रणालियों में लोग अपने से अलग समूहों से अवगत हो पाते हैं और उनमें अपनी स्थिति में निरंतर बदलाव लाने की इच्छा पैदा होती रहती है।

इस रोचक विषय पर चर्चा करते हुए क्यों न सोचिए और करिए 2 को भी पूरा कर लें।

**सोचिए और करिए 2**

उन संभावित संदर्भ व्यक्तियों की सूची बनाइए, जिनका चयन आप अपने जीवन को नया अर्थ देने के लिए करना चाहेंगे/चाहेंगी। ये फ़िल्म कलाकार, राजनेता, क्रिकेट खिलाड़ी आदि हो सकते हैं। इस विषय पर एक पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए और संभव हो तो अपनी टिप्पणी की अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों की टिप्पणी से तुलना कीजिए।

### 30.3.4 मूल्यों तथा प्रतिमानों को परिभाषित करने के लिए संदर्भ समूहों की भिन्नता

व्यक्ति किसी संदर्भ का चयन क्यों करे? इसके अनेक कारण हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, गांधीवादियों को अपना संदर्भ समूह मानने का कारण हो सकता है कि गांधीवादी लोग समर्पित होते हैं और उनके राजनीतिक-आर्थिक सिद्धांतों से उसकी सहमति है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि गांधीवादियों के सभी कामों से वह सहमत हो। जीवन के प्रति उनके परंपरावादी दृष्टिकोण, ब्रह्मचर्य, निरामिष भोजन इत्यादि से उसकी असहमति हो सकती है। जीवन-शैली, खान-पान या यौन संबंधी नैतिक मूल्यों के मामले में उदारवादियों को उसके लिए अपना संदर्भ समूह मानना संभव है। मर्टन के अनुसार, यह नहीं समझा जाना चाहिए कि लोगों के लिए वही समूह आचरण के प्रत्येक क्षेत्र में समान रूप से संदर्भ समूह की भूमिका निभाते हैं।

इसलिए संदर्भ समूह का चयन अंततः उन मूल्यों तथा प्रतिमानों के स्वरूप एवं स्तर पर निर्भर करता है जिन्हें व्यक्ति ने महत्व दिया है। जो समूह किसी के लिए राजनीतिक विचारधारा के मामले में संदर्भ समूह हैं, हो सकता है धार्मिक सिद्धांतों के मामले में वे एकदम असंगत हों। इसलिए ऐसा भी हो सकता है कि साम्यवादी दलों को वोट देने वाले लोग रामकृष्ण मिशन जैसे धार्मिक संगठन के प्रति भी झुकाव रखें।

### 30.3.5 निरंतर सक्रिय संपर्क वाले उपसमूहों अथवा प्रस्थिति-श्रेणियों में से संदर्भ समूहों का चयन

एक छात्रा की दुविधा की कल्पना कीजिए जिसकी दो अस्मिता हैं। पहली यह कि वह छात्रों की प्रस्थिति श्रेणी की सदस्या है और दूसरी यह कि वह अपने उपसमूह जिसमें उसके मां, बाप, भाई, बहन आदि सभी सदस्य हैं, वह उसकी भी सदस्या है। अब क्या यह मानना हमेशा तर्कपूर्ण होगा कि वह छात्रा अपने उपसमूह के विचारों के विरुद्ध छात्र संघ के प्रभाव में आकर अपनी कक्षा का बहिष्कार करे। परंतु अपने उपसमूह के सदस्यों जैसे मां-बाप, भाई-बहन, मित्र आदि के निरंतर संपर्क में रहने के कारण अंततः वह यह फैसला कर सकती है कि किसी भी स्थिति में कक्षा का बहिष्कार करना उचित नहीं है। दूसरे शब्दों में जहां तक छात्र राजनीति का संबंध है, उसकी प्रस्थिति श्रेणी (छात्राओं का एक अलग समूह) नहीं अपितु उसका उपसमूह संदर्भ समूह बन जाता है।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि संदर्भ समूह का चयन करना बहुत जटिल होता है। यही कारण है कि मर्टन ने मतदान संबंधी आचरण की चर्चा करते हुए कहा है कि मज़दूर यूनियन जैसे औपचारिक संगठन उस संघ के कुछ सदस्यों के लिए ही सशक्त संदर्भ समूह के रूप में काम करते हैं। जबकि अन्य लोगों के लिए यूनियन में उनके निकट के साथी ही संदर्भ भूमिका निभाते हैं।

इस कथन की सच्चाई को व्यक्ति अपने जीवन में ही अनुभव कर सकता है। प्रेम विवाह के बारे में उसके अपने परिवार में अलग-अलग राय हो सकती है। माता-पिता संभवतः इसके विरूद्ध होंगे, बड़े भाई इसके पक्ष में भी हो सकते हैं और विपक्ष में भी। उसकी बहन इसके पक्ष में हो सकती है। ऐसी स्थिति में इस बात की अधिक संभावना है कि वह अपने परिवार पर निर्भर रहने की बजाय उस राय का समर्थन करना चाहेगा जो उसकी अपनी पीढ़ी यानी उस जैसे युवा लड़कों और लड़कियों की हैं। यह स्थिति **पीढ़ीगत अंतर** (generation gap) का परिणाम है।

अगली चर्चा शुरू करने से पहले बोध प्रश्न ३ को पूरा करें ताकि अभी तक की गई आपकी प्रगति की जाँच हो जाए।

**बोध प्रश्न 3**

i) ग़ैर-सदस्यता संदर्भ समूह के चयन के पीछे कौन-से कारक हैं? अपना उत्तर चार पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

ii) क्या यह सत्य है कि "प्रस्थिति-श्रेणी" सदैव संदर्भ समूह के रूप में काम करती है? कारणों को स्पष्ट कीजिए। अपना उत्तर लगभग चार पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

## 30.4 संदर्भ समूहों के संरचनात्मक तत्व

संदर्भ समूहों के संरचनात्मक तत्वों की जानकारी के बगैर इस विषय का ज्ञान अधूरा है। संदर्भ समूहों के बारे में इस जानकारी के बिना आपको मर्टन के इस क्षेत्र में योगदान का आभास नहीं होगा। उदाहरण के लिए, रॉबर्ट मर्टन का प्रश्न यह है कि समूह विशेष की संरचना क्या अपने सदस्यों और अधिकारियों को मूल्यों, प्रतिमानों एवं भूमिका-निर्वाहन के संबंध में पूर्ण अथवा आंशिक जानकारी प्राप्त करने की अनुमति देती है। मर्टन का यह कहना है कि अपने समूह से अनुरूपता न रखने में ग़ैर-सदस्यता समूहों को संदर्भ समूह के रूप में काम करने की संभावना दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त मर्टन यह भी स्पष्ट करता है कि व्यक्ति विशेष भूमिका-पटल और प्रस्थिति-पटल के संरचनात्मक परिणामों से उत्पन्न संघर्ष की मात्रा को किस तरह कम करता है।

### 30.4.1 प्रेक्षणीयता और दृश्यमानता: प्रतिमानों, मूल्यों और भूमिका-निर्वाहन की जानकारी के अनुकृत माध्यम

यह एकदम स्पष्ट है कि अपनी स्थिति की तुलना दूसरों से करते समय व्यक्ति को उनकी स्थिति की जानकारी होना आवश्यक है जिनसे उसने अपनी तुलना की है। मर्टन का कहना है कि संदर्भ समूह आचरण के सिद्धांत में संप्रेषण के उन माध्यमों का भी अध्ययन शामिल होना चाहिए जिनसे यह जानकारी प्राप्त होती है।

इस विषय पर आगे बढ़ने से पहले एक मूर्त स्थिति पर विचार कर लेना उपयोगी होगा। कल्पना कीजिए कि छात्र के रूप में व्यक्ति एक ऐसी संस्था से जुड़ा है जिसके अपने प्रतिमान एवं मूल्य हैं। स्वाभाविक है कि वह उस संस्था के प्रतिमानों और मूल्यों के अनुरूप अपने आचार-विचार बनाना चाहेगा। ऐसे में इस प्रश्न से वह नहीं बच सकता कि क्या उसके भूमिका-निर्वाहन की तुलना उस संस्था के अन्य लोगों से की जा सकती है।

अब प्रश्न यह है कि व्यक्ति को यह कैसे मालूम होता है कि समूह के अन्य सदस्य किस तरह का आचरण कर रहे हैं। वह यह कैसे जान पाता है कि दूसरों ने कौन से मूल्य तथा प्रतिमान अपनाए हैं? इन प्रतिमानों तथा वास्तविक भूमिका-निर्वाहन की पूरी जानकारी प्राप्त करना कठिन है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति के मित्र यानी संस्था के कर्मचारी हमेशा उसको यह बताने को

तैयार नहीं होंगे कि वे वास्तव में क्या कर रहे हैं और संस्था के मूल्यों तथा प्रतिमानों को कितनी गंभीरता से लेते हैं। इसलिए यह सब समूह की संरचना पर निर्भर करता है। अत: हो सकता है कि लोकतांत्रिक तथा समतावादी समूह में, जिसमें सदस्य स्वतंत्र तथा स्पष्टवादी हैं, निर्बाध संप्रेषण संभव हो और समूह की वास्तविक स्थितियों को जानना अधिक आसान हो। किंतु क्या हमेशा ऐसा होता है?

इसी प्रसंग में मर्टन एक महत्वपूर्ण बात सामने लाता है कि क्या सभी लोग एक जैसी जानकारी प्राप्त नहीं कर सकते? सामान्यतया सत्ताधारी लोगों को समूह के आम सदस्यों की अपेक्षा कहीं अधिक जानकारी रहती है। इसीलिए मर्टन का कहना है कि सत्ता के ढांचे को कारगार ढंग से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि मूल्य और भूमिका-निर्वाहन दोनों स्पष्ट हों। संस्था के मुखिया तथा अन्य अधिकारियों को उन प्रक्रियाओं से जुड़े होने के कारण वास्तविक भूमिका-निर्वाहन के बारे में बेहतर जानकारी होती है।

किंतु मर्टन की मान्यता है कि प्रेक्षणीयता और दृश्यमानता की इस मात्रा की भी सीमा होती है क्योंकि "गोपनीयता की आवश्यकता"बनी रहती है और यदि अधिकारीगण भूमिका-निर्वाहन के संबंध में जानकारी रखने के मामले में सीमा से बाहर जाते हैं तो उसका विरोध होने की संभावना रहती है। इसलिए "दृश्यमानता की पर्याप्त व्यावहारिक मात्रा" की आवश्यकता है। अर्थात् दूसरों के भूमिका-निर्वाहन की सूचना उतनी ही हो, जितनी काम चलाने के लिए पर्याप्त है।

इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि किसी समूह के मूल्यों एवं प्रतिमानों तथा उसके सदस्यों के भूमिका-निर्वाहन के संबंध में पूर्ण जानकारी प्राप्त करना कितना कठिन है। प्रेक्षणीयता और दृश्यमानता संभव न होने के कारण व्यक्ति के मन में सदस्यता समूह के मूल्यों एवं प्रतिमानों के प्रति शंका एवं अनिश्चितता उत्पन्न हो सकती है। संभवत: यह भी विश्वास होने लगता है कि आदर्श एवं यथार्थ में अंतर है। किंतु जब व्यक्ति ग़ैर-सदस्यता समूह की ओर ध्यान देता है तो अपने सदस्यता समूह के प्रति रहने वाली शंका अथवा भ्रम का अस्तित्व नहीं रह जाता। इसे यों भी समझा जा सकता है कि दूर के ढोल सुहावने होते हैं। सामान्यतया बाहरी लोगों के मन में ग़ैर-सदस्यता समूहों की अवास्तविक छवि बैठ जाती है।

आइए एक सीधा-सा उदाहरण लें। ग़ैर-सदस्य के रूप में अनेक भारतीयों का विश्वास है कि अमरीकी लोगों ने अपनी सभी समस्याएं हल कर ली हैं। वहां अभाव अथवा भ्रष्टाचार नहीं है और सभी सुखी हैं। किंतु यह पूरी तरह सच नहीं है। अमरीकियों को निकट से देखने पर पता चलता है कि उनकी भी अपनी अनेक समस्याएं हैं। वहां अपराध तथा तलाक़ की दर निरंतर बढ़ रही है और यह समस्या जटिल होती जा रही है।

### 30.4.2 अनुरूपता का अभाव: संदर्भ समूह आचरण का एक प्रकार

संदर्भ समूह के अध्ययन से संरचना के एक और पहलू की जानकारी मिलती है। वह है, अनुरूपता के अभाव (non-conformity) का प्रभाव।

पहले आपको यह समझना होगा कि अनुरूपता का अभाव है क्या। अपने समूह के प्रतिमानों के प्रति अनुरूपता न होना बाहय समूह के प्रति अनुरूपता के समान है। किंतु मर्टन की मान्यता है कि अनुरूपता न होने की तुलना विचलन से नहीं की जानी चाहिए। इन दोनों में कई भिन्नताएं हैं।

पहला अंतर यह है कि अपराधियों से एकदम भिन्न, अनुरूपता न रखने वाले व्यक्ति अपनी असहमति को प्रकट करते हैं। दूसरा अंतर यह है कि वे अवसरवादी नहीं होते। वे प्रतिमानों तथा अपेक्षाओं की वैधता को चुनौती देते हुए उन्हें अस्वीकार कर देते हैं। परंतु अपराधी व्यक्ति मूल्यों की वैधता को अस्वीकार करने का साहस नहीं कर पाते। अनुरूपता न रखने वाले यह नहीं मानते

कि चोरी अथवा हत्या करना अच्छी बात है। उन्हें तो बस उन नियमों को तोड़ना या उनकी अवहेलना करना आवश्यक लगता है जिनका वे विरोध करते हैं और उनके मन में समूह के प्रतिमानों को बदलने की इच्छा होती है। इसके विपरीत, अपराधी के पास नैतिकता की ऐसी अंतर्दृष्टि नहीं होती।

ग़ैर-सदस्यता संदर्भ समूहों के संदर्भ में अनुरूपता न रखने वालों के अनुभव का संरचनात्मक प्रभाव सदस्यता समूहों पर भी पड़ने की संभावना रहती है क्योंकि जैसा कि मर्टन ने कहा है कि अनुरूपता न रखने वालों को "शक्तिशाली" माना जाता है। उन्हें साहसी और बड़े जोखिम उठाने में समर्थ समझा जाता है।

वास्तव में, अनुरूपता न रखने वाले व्यक्ति जब कुछ सम्मान अर्जित करने लगते हैं तो इसका अर्थ है कि सदस्यता समूह में अपने तथा अपने मूल्यों और प्रतिमानों के प्रति अनिश्चितता उभरने लगती है। ग़ैर-सदस्यता समूह के प्रति अनुरूपता एक प्रकार से सदस्यता समूह में द्वंद्व तथा तनाव की शुरूआत करती है। इसी स्थिति को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि ग़ैर-सदस्यता संदर्भ के प्रति अनुरूपता के साथ अनुरूपता न रखने वाले अपने सदस्यता समूह के भीतर परिवर्तन और संघर्ष की संभावना का रास्ता खोल देते हैं।

### 30.4.3 भूमिका पटल, प्रस्थिति-पटल और प्रस्थिति-क्रम

संदर्भ समूह के आचरण का अध्ययन करने के लिए भूमिका-पटल, प्रस्थिति-पटल तथा प्रस्थिति-क्रम की गतिकी को समझना आवश्यक है। इसे उदाहरण के माध्यम से समझने की कोशिश कीजिए। मान लीजिए, एक संदर्भ समूह के अध्यापकों से कोई व्यक्ति प्रभावित होती है और वह अध्यापक बनने की कामना करने लगती है। ऐसा होने पर उसे निश्चय ही यह समझना चाहिए कि एक अध्यापक की स्थिति क्या होती है, किस प्रकार के लोगों के साथ उसका सक्रिय संपर्क रहता है, और अपनी जिम्मेदारियां निभाने में उसे किस तरह से कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

इसी संदर्भ में मर्टन ने भमिका-पटलों का उल्लेख किया है। मर्टन का कहना है कि एक विशिष्ट सामाजिक प्रस्थिति किसी एक सहयोगी भूमिका से नहीं अपितु अनेक सहयोगी भूमिकाओं से बनती है। इसी को भूमिका-पटल कहा जाता है। उदाहरण के लिए, किसी अध्यापक की प्रस्थिति में केवल विद्यार्थियों के प्रति अध्यापक की भूमिका का ही नहीं, बल्कि अन्य अध्यापकों, अधिकारियों तथा विद्यार्थियों के माता-पिता आदि के प्रति उसकी भूमिकाओं का भी समावेश रहता है।

भूमिका-पटल को समझना बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे पता चलता है कि भूमिका-पटल में सभी को संतुष्ट करना कितना मुश्किल है। इसी सिलसिले में मर्टन ने भूमिका-पटल में अस्थिरता के संरचनात्मक स्रोतों का उल्लेख किया है। भूमिका-पटल में बाधा का मूल स्रोत यह संरचनात्मक परिस्थिति है कि एक विशेष स्थिति रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के ऐसे भूमिका-सहयोगी होते हैं जिनका समाज में अलग स्थान होता है। उदाहरण के लिए, एक अध्यापक के भूमिका-पटल में केवल उसके सहयोगी अध्यापक नही, बल्कि स्कूल बोर्ड के प्रभावशाली सदस्य भी शामिल होते हैं। स्कूल बोर्ड के सदस्य अध्यापक से जो अपेक्षाएं रखते हैं, आवश्यक नहीं है कि ये अपेक्षाएं उसके सहयोगी अध्यापकों की अपेक्षाओं जैसी ही हों और इसी से संघर्ष की उत्पत्ति होती है।

परंतु मर्टन का कथन है कि इस संघर्ष की मात्रा को कम किया जा सकता है। पहली बात तो यह है कि विशिष्ट सामाजिक प्रस्थिति वाले व्यक्ति के आचरण से सभी भूमिका-सहयोगियों का एक जैसा संबंध नहीं होता। इसलिए विशिष्ट सामाजिक प्रस्थिति वाले व्यक्ति को उन लोगों की अपेक्षाओं के प्रति चिंतित नहीं होना चाहिए जो उससे सीधे जुड़े हुए नहीं हैं।

दूसरी बात यह है कि विशिष्ट प्रस्थिति वाले व्यक्ति को अपने भूमिका-पटल के सभी लोगों से सक्रिय संपर्क नहीं करना होता। उदाहरण के लिए, कक्षा में पढ़ाते हुए अध्यापक का संबंध केवल

विद्यार्थियों से होता है, भूमिका-पटल के अन्य सदस्यों से नहीं। मर्टन की दलील है कि प्रेक्षणीयता से इस प्रकार की मुक्ति अध्यापक को उस द्वंद्व से बचाने में सहायक होती है जो भूमिका सहयोगियों की भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से उभर सकती है।

तीसरी बात यह है कि विशिष्ट सामाजिक स्थिति वाले व्यक्ति के समान और भी अनेक व्यक्ति होते हैं। मर्टन का कहना है कि उसके व्यावसायिक सहयोगी सत्ता के ढांचे तथा उस प्रस्थिति के भूमिका-पटल सहयोगियों की परस्पर विरोधी अपेक्षाओं से उत्पन्न समस्याओं से निपटने के लिए संरचनात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं।

भूमिका-पटल के अलावा प्रस्थिति पटल की भी समस्या है जिसे संदर्भ समूह सिद्धांत के प्रसंग में समझना आवश्यक है। वास्तव में, यह प्रस्थिति पट क्या है?

एक ही व्यक्ति की अलग-अलग प्रस्थितियां - अध्यापक, पति, मां, पिता, भाई, बहन, राजनीतिक कार्यकर्ता - हो सकती हैं। सामाजिक प्रस्थितियों की इस पूरकता को उसका प्रस्थिति-पटल माना जा सकता है। प्रत्येक प्रस्थिति के अपने-अपने पृथक भूमिका-पटल हो सकते हैं।

एक प्रस्थिति की बजाय प्रस्थिति-पटल की विद्यमानता से मनुष्य के लिए मुश्किलें पैदा होती हैं। इसका कारण यह है कि उसके लिए अपनी सभी प्रस्थितियों की अपेक्षाएं सदैव पूर्ण करना असंभव होता है। उदाहरण के लिए, एक राजनेता व्यापक उद्देश्य के प्रति वचनबद्धता के कारण अपनी अन्य प्रस्थितियों जैसे पत्नी अथवा माँ की प्रस्थिति को सही ढंग से नहीं निभा पाती।

इसलिए, ऊपर दिया गया प्रश्न सामने आता है, उदाहरण के लिए, यदि राजनेता आपका संदर्भ समूह बनें तो आपको एक राज-नेता के प्रस्थिति-पटल में संभावित द्वंद्व तथा उसको हल करने के प्रयासों के बारे में अवश्य जान लेना चाहिए।

मर्टन के अनुसार, प्रस्थिति-पटल के तनाव से बचाव के अनेक उपाय हैं। पहला यह है कि अन्य लोगों द्वारा यह नहीं माना जाता कि आप एकमात्र प्रस्थितिवान व्यक्ति हैं। मर्टन का कहना है कि यहां तक कि हर व्यवसाय के मालिक को भी यह एहसास रहता है कि उसका कर्मचारी मात्र कर्मचारी नहीं है, वह पिता, पति अथवा बेटा भी है। यही कारण है कि जिस कर्मचारी के किसी निकट संबंधी की मृत्यु हो जाती है उससे कार्य की अपेक्षा सामान्य रूप की तरह नहीं की जाती।

दूसरा तथ्य यह है कि दूसरों की समस्याओं को सहानुभूति के साथ समझने के भाव की मदद से प्रस्थिति से जुड़े कर्त्तव्यों से उपजे द्वंद्व के शिकार हुए लोगों पर पड़ा दबाव कम किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को एक जैसी सदस्यता से जूझना पड़ता है और प्रत्येक व्यक्ति का प्रस्थिति-पटल होता है। यह समान नियति समानुभूति को जन्म देती है।

तीसरा तथ्य यह है कि प्रस्थिति पटल के तथ्यों का समुच्चय बिना किसी पूर्व-निर्धारण के नहीं होता। इससे भी द्वंद्व की संभावना कम हो जाती है। मर्टन के अनुसार, प्रभावशाली प्रस्थितियों के लोगों द्वारा आत्मसात् किए गए मूल्य ऐसे होते हैं कि यह संभावना बहुत कम रहती है कि उनमें मूल्यों सै मेल न खाने वाली प्रस्थितियों को अपनाने की इच्छा हो।

संदर्भ समूह के सिद्धांत की दृष्टि से यह तथ्य बहुत दिलचस्प है। एक उदारहण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। मान लीजिए कि एक व्यक्ति का जन्म तथा पालन-पोषण एक सुसंस्कृत एवं शिक्षित परिवार में हुआ है, और इसी वातावरण के कारण वह विद्वान बन जाती है। अब ऐसी पृष्ठभूमि के साथ उसके लिए सैनिक अधिकारी बनने की इच्छा करने की कोई संभावना नहीं है, क्योंकि वह जानती है कि इन दोनों स्थितियों में सामंजस्य रखना कितना कठिन होगा। संभवत: वह प्रोफ़ेसर बनना चाहेगी। तब दो प्रस्थितियों, यानी एक विद्वान तथा एक प्रोफ़ेसर की प्रस्थिति, में सामंजस्य रखने में कठिनाई नहीं होगी। कहने का मतलब यह है कि संदर्भ व्यक्ति के चयन या

किसी प्रस्थिति को प्राप्त करने की इच्छा के पीछे एक उद्देश्य तथा तार्किकता विद्यमान होती है। संभवत: व्यक्ति की वही इच्छा होती है जिसकी उसके विचार तथा प्रयोजन अनुमति देते हैं। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि प्रस्थिति-पटल में सभी प्रस्थितियों के बीच आपसी टकराव ही हो।

इकाई के सारांश को पढ़ने से पहले बोध प्रश्न 4 को पूरा कर लें।

**बोध प्रश्न 4**

i) मर्टन के अनुसार "अनुरूपता न रखने वाले व्यक्ति अपराधी नहीं हैं"। क्यों? अपना उत्तर पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) निम्नलिखित में से कौन सा कथन सही है?

क) सभी भूमिका-सहयोगियों का विशेष सामाजिक प्रस्थिति वाले लोगों के आचरण के साथ समान रूप से संबंध होता है।

ख) दूसरों की समस्याओं को समानुभूति के साथ समझने के भाव की मदद से प्रस्थिति से जुड़े कर्त्तव्यों से उत्पन्न द्वंद्व के शिकार हुए लोगों पर पड़ा दबाव काफी कम किया जा सकता है।

ग) किसी प्रस्थिति-पट के तत्वों का समुच्चय अनिवार्य रूप से बिना किसी पूर्व-निर्धारण के हो जाता है।

## 30.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपको यह जानकारी मिली कि संदर्भ समूह के आचरण का अध्ययन बहुत उपयोगी है। इसके मुख्य कारण इस प्रकार हैं

i) इससे यह समझने में सहायता मिलती है कि कब और क्यों अपनी स्थिति की तुलना दूसरों की स्थिति से की जाती है, और उसी के अनुरूप अपने आचरण, जीवन-शैली तथा भूमिका-निर्वाहन को ढाला जाता है।

ii) इससे यह भी पता चलता है कि कब और कैसे सदस्यता समूह तथा ग़ैर-सदस्यता समूह संदर्भ समूह के रूप में काम करते हैं।

iii) इससे संदर्भ समूह के आचरण के संरचनात्मक परिणामों तथा प्रभावों को समझने के साथ-साथ यह जानने में सहायता मिलती है कि किस प्रकार अपेक्षाकृत गतिशीलता वाली सामाजिक प्रणाली में लोग ग़ैर-सदस्यता समूहों का संदर्भ समूह के रूप में चयन करने को प्रेरित होते हैं, और इसके फलस्वरूप किस प्रकार अपने समूह के प्रति व्यक्ति की अनुरूपता न होने से उस समूह में परिवर्तन, द्वंद्व तथा प्रगति की संभावनाओं का जन्म होता है।

## 30.6 शब्दावली

**उपनिवेशवादी वर्ग** उपनिवेशवादी प्राय: यह समझते हैं कि वे सर्वगुण सम्पन्न हैं और दूसरों को सीख देने में सर्व-समर्थ हैं। सारे जगत् को सभ्य

बनाना उनका कर्त्तव्य है। इसे "गोरे व्यक्ति का बोझ" कहा जाता है।

**पीढ़ीगत अंतर (generation gap)**

समाजशास्त्रीय दृष्टि से इसका अर्थ है युवकों तथा वृद्ध लोगों के बीच संघर्ष। किस प्रकार उनके मूल्यों, नैतिक आदर्शों तथा विचारों में अंतर होता है।

**विश्व के प्रति दृष्टिकोण**

सामान्यतया यह माना जाता है कि प्रत्येक सामाजिक समूह, चाहे वह लिंग, जाति, वर्ग नृजातीय समूह या राष्ट्रीयता का समूह हो, विश्व को देखने का अपना एक अलग दृष्टिकोण रखता है। इसके फलस्वरूप, विश्व के प्रति दृष्टिकोण में समाज एवं विश्व से संबंधित विचार अर्थात् राजनीतिक अभिवृत्ति, धार्मिक विश्वास, सांस्कृतिक आदर्श शामिल हैं जिससे एक समूह से दूसरे समूह की भिन्नता झलकती है।

## 30.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

मर्टन, रॉबर्ट के. 1968 सोशल थ्योरी एंड सोशल स्ट्रक्चर, फ्री प्रेस: न्यूयार्क

टर्नर, जे.एच. 1987 स्ट्रक्चर ऑफ सोशियोलॉजिकल थ्योरी, रावत पब्लिकेशन्स: जयपुर

## 30.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) यदि मनुष्य अपनी नियति की तुलना दूसरों से करते हैं, जो वे प्राय: करते हैं, तो इस बात की पूरी संभावना है कि कभी-कभी वे अपेक्षाकृत वंचित महसूस करें क्योंकि उन्हें दूसरे लोग अपने से अधिक सुखी, अधिक शक्तिशाली और अधिक प्रतिष्ठित लग सकते हैं। इसका उदाहरण एक भारतीय वैज्ञानिक हो सकता है, जो अमरीका में बसे एक अन्य भारतीय वैज्ञानिक की स्थिति से अपनी तुलना करने पर स्वयं को उन अनेक सुविधाओं से वंचित महसूस करने लगता है जो अनुसंधान में सहायक है।

ii) जब कोई प्राध्यापक अपनी प्रस्थिति, अधिकार या प्रतिष्ठा का मूल्यांकन करने के लिए अपनी तुलना आई.ए.एस. अधिकारियों के साथ करता है तो मर्टन के अनुसार वह ग़ैर-सदस्यता समूह का संदर्भ समूह के रूप में चयन करता है।

**बोध प्रश्न 2**

i) ग)

ii) सकारात्मक संदर्भ समूह वह होता है जिसे कोई व्यक्ति प्रशंसा के भाव से अपनाता है और उसके मूल्यों तथा प्रतिमानों को आत्मसात् कर लेता है। नकारात्मक संदर्भ समूह वह समूह होता है, जिससे व्यक्ति घृणा करता है, उसे अस्वीकार करता है, और उसके प्रतिमानों को अपनाने की बजाय अपनी अलग पहचान बनाने के लिए विपरीत प्रतिमानों की रचना कर लेता है।

**बोध प्रश्न 3**

i) जब कोई ग़ैर-सदस्यता समूह समाज की संस्थागत संरचना की दृष्टि से अधिक शक्ति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करता प्रतीत होता है तो उसका चयन संदर्भ समूह के रूप में किया जाता है।

इसके अलावा, अपने सदस्यता समूहों से असंतुष्ट होने के कारण "अलग-थलग पड़े" लोग ग़ैर-सदस्यता समूहों का चयन संदर्भ समूह के रूप में करने को प्रेरित होत हैं।

ii) नहीं, यह सही नहीं है कि "प्रस्थिति श्रेणी" सदैव संदर्भ समूह के रूप में काम करती है। मर्टन ने कहा भी है कि प्रस्थिति श्रेणी बहुत व्यापक तथा निवैयक्तिक होने के कारण अपने सदस्यों पर सीधे प्रभाव डालने में विफल रह सकती है। इसकी बजाय निरंतर सक्रिय संपर्क वाले एक उपसमूह को संदर्भ समूह के रूप में स्वीकार किए जाने की अधिक संभावना होती है।

**बोध प्रश्न 4**

i) अनुरूपता न रखने वाला व्यक्ति अपराधी नहीं होता क्योंकि अपराधी के विपरीत अनुरूपता न रखने वाला अपनी असहमति या असंतोष को छिपाता नहीं है। अपराधी कमज़ोर तथा अवसरवादी होता है, जबकि अनुरूपता न रखने वाला इतना साहसी होता है कि वह उन मूल्यों एवं प्रतिमानों को चुनौती दे सकता है जो उसे अस्वीकार्य हैं। अपराधी के विपरीत, अनुरूपता न रखने वाला उच्च नैतिक मूल्यों का धनी होता है। वह नई मूल्य प्रणाली को जन्म देना चाहता है।

ii) ख)

# इकाई 31 पार्सन्स और मर्टन के विचारों की समालोचना

## इकाई की रूपरेखा


31.0 उद्देश्य

31.1 प्रस्तावना

31.2 पार्सन्स और मर्टन: एक समालोचना

- 31.2.1 समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य
- 31.2.2 प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण
- 31.2.3 सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक संरचना
- 31.2.4 समाजशास्त्रीय सिद्धांत और सामाजिक परिवर्तन

31.3 सारांश

31.4 शब्दावली

31.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

31.6 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 31.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए पार्सन्स और मर्टन के विचारों की नीचे दिए गए चर्चा बिंदुओं पर समालोचना प्रस्तुत करना संभव होगा

- समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य
- सामाजिक विश्लेषण के प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण
- सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक संरचना की समझ
- समाजशास्त्रीय सिद्धांत और सामाजिक परिवर्तन।

## 31.1 प्रस्तावना

इस इकाई से पूर्व चार इकाइयों में आपने टालकट पार्सन्स और रॉबर्ट के. मर्टन के योगदान के बारे में पढ़ा है। आपने इकाई 27 और 28 में पार्सन्स द्वारा विकसित सामाजिक व्यवस्थाओं की अवधारणा और प्रकार्यवाद एवं सामाजिक परिवर्तन के बारे में पढ़ा है। इकाई 29 और 30 में आपने मर्टन के अव्यक्त प्रकार्यों की अवधारणा के बारे में तथा उसके "समूह संदर्भ" से संबंधित सिद्धांत के बारे में पढ़ा है।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य पर पार्सन्स और मर्टन की तुलनात्क समालोचना की चर्चा उपभाग 31.2.1 में की गई है। सामाजिक विश्लेषण के बारे में दोनों विद्वानों का प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण किन बातों में भिन्न है और किन बातों में समान है, इसके बारे में उपभाग 31.2.2 में विचार किया गया है। उपभाग 31.2.3 में सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक संरचना की अवधारणा के संबंध में उनके विचारों की व्याख्या की गई है। अंत में, उपभाग 31.2.4 में, उनके समाजशास्त्रीय सिद्धांत और सामाजिके परिवर्तन की उनकी अवधारणा का विवरण दिया गया है।

## 31.2 पार्सन्स और मर्टन: एक समालोचना

इससे पूर्व आपने टालकट पार्सन्स और रॉबर्ट के. मर्टन के कुछ महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीयं

योगदानों के बारे में पढ़ा है। इन दोनों को अमरीका के उन सर्वोत्कृष्ट समाजशास्त्रियों में गिना जाता है, जिनकी समाजशास्त्र की अवधारणाओं, सिद्धांतों और पद्धतियों पर गहरी छाप पड़ी है। इन दोनों ने ही 1940 से 1968 के दशकों में अमरीकी समाजशास्त्र को अपने योगदान के द्वारा नई **अंतर्दृष्टि** प्रदान की। यह समाजशास्त्र के विकास का वह ऐतिहासिक चरण था, जब यूरोप, लैटिन अमरीका और एशियाई देशों में समाजशास्त्र की अधिकांश परंपराओं को अमरीकन समाजशास्त्र ने प्रभावित किया। पार्सन्स और मर्टन एक ही समय के समाजशास्त्री थे, समाजशास्त्र के संबंध में दोनों के विचारों में पर्याप्त समानता थी, लेकिन ये दोनों समाजशास्त्र में अलग-अलग परंपराओं और पृष्ठभूमियों से आए थे। इसके अलावा, उनकी कार्य-पद्धतियां और सामाजिक समस्याओं तथा सामाजिक सिद्धांत के संबंध में चिंतन के क्षेत्र भी अलग-अलग थे। साथ ही, समसामयिक विश्व में समाजशास्त्र की भूमिका और सार्थकता के बारे में भी उनके विचार काफ़ी अलग-अलग थे।

इससे पूर्व की चार इकाइयों (इकाई 27, 28, 29 और 30) के विशिष्ट संदर्भ में इन दोनों समाजशास्त्रियों के योगदानों में समानताओं और भिन्नताओं को स्पष्ट करने के लिए कुछ विशिष्ट विषयों पर यहां चर्चा की गई है। ये विषय हैं: समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण, सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक संरचना तथा समाजशास्त्रीय सिद्धांत एवं सामाजिक परिवर्तन। आइए, अब हम इन विषयों पर एक-एक करके विचार करें।

### 31.2.1 समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के बारे में पार्सन्स और मर्टन की रचनाओं में समानता की बात यह है कि दोनों ही समाजशास्त्र को एक वैज्ञानिक विषय मानते हैं इसका अर्थ यह है कि समाजशास्त्र में समाज की संरचना और परिवर्तन से संबंधित न केवल कुछ अवधारणाओं और **प्राक्कल्पनाएं** (hypotheses) हैं बल्कि इन अवधारणाओं और प्राक्कल्पनाओं की वैधता की निरंतर जांच भी की जाती है। इन अवधारणाओं एवं प्राक्कल्पनाओं की वैधता अनुभव पर आधारित (empirical) तथा निष्पक्ष (objective) अध्ययनों द्वारा जांच भी की जाती है। इस प्रयोजन के लिए समाजशास्त्र अपनी विशिष्ट पद्धतियों का इस्तेमाल करता है। इस दृष्टि से ये समाजशास्त्रीय अध्ययन जहां व्याख्यात्मक हैं, वहीं **निदानात्मक** (diagonostic) भी हैं, यानी इनके द्वारा समस्याओं को पहचाना जा सकता है। पार्सन्स और मर्टन की रचनाओं में समाजशास्त्र के वैज्ञानिक पक्ष पर बल दिया गया है। बाद के समाजशास्त्रियों ने इसे "**प्रत्यक्षवाद**" (positivism) कहकर इसकी आलोचना की है। ये लेखक इन दोनों समाजशास्त्रियों पर एक दोषारोपण करते हैं कि इन्होंने सामाजिक वास्तविकता के उन विशिष्ट ऐतिहासिक और प्रतीकात्मक अभिलक्षणों की उपेक्षा की है जिनका विज्ञान पर आधारित अनुभवाश्रित पद्धतियों से हटकर अन्य पद्धतियों द्वारा अध्ययन किया जाता है। इनमें भी जिस बात की विशेष रूप से आलोचना हुई है, वह है पार्सन्स और मर्टन का यह समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण कि जैविक व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था में समानता है।

**सोचिए और करिए 1**

पिछले एक सप्ताह के समाचार पत्र पढ़िए। पढ़ते समय देश में घटित होने वाली विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं पर ध्यान दीजिए। आप **समसामयिक भारतीय समाज में सर्वसम्मति या स्वीकृति की भूमिका और संघर्ष की भूमिका** विषय पर दो पृष्ठ की टिप्पणी लिखिए। टिप्पणी लिखते समय पार्सन्स और मर्टन के सामाजिक विश्लेषण के प्रकार्यवादी दृष्टिकोण को ध्यान में रखिए। अपनी टिप्पणी में यह भी लिखिए कि आप इस दृष्टिकोण से सहमत हैं अथवा असहमत?

यदि संभव हो तो अपनी टिप्पणी की तुलना अपने अध्ययन केंद्र के दूसरे विद्यार्थियों की टिप्पणियों से कीजिए।

समाजशास्त्रीय परिपेक्ष्य के संदर्भ में इन दोनों समाजशास्त्रियों की रचनाओं में समान बातें होते हुए भी समाजशास्त्र के संबंध में इनकी अंतर्दृष्टि में हमें भिन्नता दिखाई देती है। समाजशास्त्र के सिद्धांत के विषय में पार्सन्स का दृष्टिकोण कहीं अधिक सार्वत्रिक (universal) और सामान्य (general) है। उसकी अवधारणात्मक रूपरेखा अधिक अमूर्त (abstract) और दिक्-काल की सीमाओं से परे है। दूसरी ओर, मर्टन का समाजशास्त्रीय सिद्धांत के प्रति दृष्टिकोण अधिक संयत है। उसका ज़ोर सिद्धांत (theory) और विचार पद्धति (methodology) के सार्वत्रिक प्रश्नों के बजाय विशिष्ट (specific) प्रश्नों पर है। उदाहरण के तौर पर, मर्टन ने समाजशास्त्रीय सिद्धांत के अनुप्रयोग (application) के रूप में संदर्भ समूह (reference group) प्रतिमानता हीनता (anomie) अथवा विज्ञान की प्रकृति जैसे विशिष्ट विषयों को लिया है। दूसरी ओर, पार्सन्स ने क्रिया के सामान्य सिद्धांत (general theory of action) की बात की है।

### 31.2.2 प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण

पार्सन्स और मर्टन, दोनों ने ही समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण को अपनाया है। परंतु मर्टन का प्रकार्यवाद दिक्-काल की सीमाओं के भीतर है। इसका संबंध अनुभवाश्रित वास्तविकता से है। उसने हमारा ध्यान, विशेष रूप से इस बात की ओर दिलाया कि मलिनॉस्की तथा रैडक्लिफ़-ब्राउन के सिद्धांत समसामयिक समाज के अध्ययन के लिए विशेष उपयोगी नहीं हैं। उसका कहना था कि मलिनॉस्की तथा रैडक्लिफ़-ब्राउन ने ये अध्ययन अधिकतर विश्व के अधिकांश हिस्सों से अलग सरल जनजातीय समाज की वास्तविकता के संदर्भ में किए थे। अत: रैडक्लिफ़-ब्राउन और मलिनॉस्की के प्रकार्यात्मक सिद्धांतों को ऐसे समाजों पर लागू नहीं किया जा सकता जहां पिछली दो-तीन शताब्दियों से ऐतिहासिक परंपराओं ने सामाजिक संस्थाओं को परिव्याप्त (overlap) किया हुआ है। मर्टन ने कहा कि "धर्म" एक ऐसी संस्था है, जो सरल जनजातीय समाज में एकात्मता स्थापित करती है और उन्हें जोड़ती है तो वही संस्था हमारे समाज में सामंजस्य को छिन्न-भिन्न भी कर सकती है, क्योंकि यहां विभिन्न धर्मों में प्रतिद्वंद्विता की स्थिति होती है। ऐसी स्थिति में समाज में धर्म प्रकार्यात्मक (एकात्मकता स्थापित करने वाला) होने की बजाय दुष्प्रकार्यात्मक (विघटनकारी) बन सकता है। इसी प्रकार, उसकी अव्यक्त और व्यक्त प्रकार्यों की संकल्पनाएं भी आधुनिक समाज के ऐतिहासिक अनुभव पर आधारित है। इसके विपरीत, पार्सन्स का प्रकार्यवाद विशिष्ट अथवा ऐतिहासिक दृष्टिकोण की चर्चा नहीं करता है। उसकी अनुकूलन (adaptation), लक्ष्य प्राप्ति (goal-orientation), एकीकरण (integration) और विन्यास अनुरक्षण (latency) जैसी प्रकार्यात्मक पूवपिक्षाओं की अवधाणाएं समय और स्थान से परे हैं। इस बारे में आपने इकाई 27 में भी पढ़ा है। वे सामान्य (general) हैं और इतिहास निरपेक्ष (ahistorical) हैं अर्थात् पार्सन्स के अनुसार वे सभी समाजों में और सभी समय में पाई जाती हैं।

कई कमियों के कारण बहुत से समाजशास्त्रियों ने पार्सन्स और मर्टन के प्रकार्यवाद की आलोचना की है। इन कमियों में से कुछ का उल्लेख नीचे किया गया है। ये हैं: उनका प्रकार्यवाद इस परिकल्पना पर अत्यधिक निर्भर है कि सामाजिक व्यवस्था सर्वसम्मति अथवा स्वीकृति के सिद्धांत पर आधारित है। इस प्रकार उनके प्रकार्यवाद में यह मान्यता है कि सभी संस्थाएं व्यापक रूप से कुछ मूल्यों और लक्ष्यों को प्रतिबिंबित करती है, जिन्हें सामान्यत: समाज में अधिकांश सदस्य स्वीकार करते हैं। इस प्रकार, इनके प्रकार्यवाद में सामाजिक व्यवस्था में असहमति और संघर्ष के पहलू को नज़रअंदाज किया गया है। रंगभेद पर आधारित संघर्ष अथवा वर्ग-विरोध की उपेक्षा होने के कारण मार्क्सवादी समाजशास्त्री पार्सन्स और मर्टन के प्रकार्यवाद की आलोचना करते हैं। राजनीतिक समाजशास्त्री इसलिए आलोचना करते हैं क्योंकि इस प्रकार्यवाद में सामाजिक संस्थाओं की संरचना और प्रकार्य में सत्ता तथा प्रभुत्व की भूमिका की उपेक्षा की जाती है।

प्रकार्यवाद की मुख्य कमी यह नहीं है कि इन मुद्दों की पूरी तरह से अवहेलना की गई है क्योंकि सच तो यह है कि पार्सन्स और मर्टन ने समाज में असहमति तथा संघर्ष के पक्ष को भी लिया है। संभवत: जिस बात की उपेक्षा हुई है, वह है समाज में सर्वसम्मति और संघर्ष की भूमिका में संतुलन का अभाव। यह ऐसा प्रश्न है, जिसका उनके समाजशास्त्रीय सिद्धांत में समाधान नहीं हो सकता है।

आइए, अब बोध प्रश्न 1 को पूरा कर लें ताकि अभी तक की प्रगति को जाँचा जा सके।

**बोध प्रश्न 1**

i) नीचे दिए गए वाक्यों में रिक्त स्थानों को उपयुक्त शब्दों से भरिए।

   क) पार्सन्स और मर्टन, दोनों ही समाजशास्त्र को एक ..... विषय मानते थे।

   ख) समाजशास्त्र के वैज्ञानिक पक्ष पर बल देने को बाद के समाजशास्त्रियों ने इसे ..... ..... कह कर इसकी आलोचना की है।

   ग) समाजशास्त्रीय सिद्धांत के बारे में पार्सन्स का दृष्टिकोण अधिक ..... और ..... रहा है, जबकि मर्टन ने ..... प्रश्नों पर जोर दिया है।

   घ) मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों ने समाज में वर्ग ..... की उपेक्षा करने के कारण पार्सन्स और मर्टन के प्रकार्यवाद की आलोचना की।

ii) पार्सन्स और मर्टन के विश्लेषण के प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण की तुलना आठ पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 31.2.3 सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक संरचना

पार्सन्स और मर्टन दोनों ने भूमिका, प्रस्थिति, सामाजिक संरचना, सामाजिक व्यवस्था, वर्ग आदि की अवधारणाओं के बारे में विचार किया है। समाज विशेष की प्रकृति को समझने के लिए ये आधारभूत इकाइयां हैं। परंतु आपको यह भी मालूम है कि इस समानता के पीछे इन दोनों समाजशास्त्रियों में सूक्ष्म अंतर है। यह अंतर संभवत: समाजशास्त्र के प्रति उनकी अंर्तदृष्टि में अंतर के कारण है। मर्टन की दृष्टि में समाजशास्त्र का आधारभूत प्रश्न है सामाजिक समस्याओं को समझने के लिए समाजशास्त्र के संकल्पनात्मक प्रारूपों और इसकी पद्धतियों के इस्तेमाल का। इन समस्याओं का समाधान समाजशास्त्र में वर्तमान सिद्धांतों के द्वारा स्पष्ट रूप से किया जा सकता है। इसलिए मर्टन सामाजिक संरचना के विश्लेषण के बारे में अपेक्षाकृत संयत और स्पष्ट है, जैसा कि हमने संदर्भ समूह के उसके सिद्धांत में देखा है। पार्सन्स की तरह, मर्टन भी सामाजिक संरचना, प्रस्थिति और भूमिका की व्याख्या के लिए न केवल सामाजिक वरन मनोवैज्ञानिक

कारकों को भी मद्दे-नज़र रखता है। विशेष रूप से, आपने ध्यान दिया होगा कि उसने किसी समूह विशेष की सदस्यता में मनोवैज्ञानिक तत्वों पर विशेष बल दिया है। प्रत्याशी समाजीकरण (anticipatory socialization) की अवधारणा के संदर्भ में भी मनोवैज्ञानिक तत्वों पर ध्यान दिया गया है। पार्सन्स ने भी सामाजिक क्रियाओं को समझने में अभिप्रेरणात्मक परिप्रेक्ष्य पर बहुत अधिक बल दिया है। सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिए पार्सन्स का दृष्टिकोण बहुत अमूर्त (abstract) और सामान्य (general) है, जबकि मर्टन के मध्य स्तर के सिद्धांतों की चर्चा की है। उसके अनुसार, मध्यस्तरीय सिद्धांतों में अवधारणात्मक अमूर्तीकरण तब आता है जब अनुभवाश्रित परिस्थितियों (empirical situations) की ठोस यथार्थता को समझने का प्रयास किया जाता है। मर्टन ने सारे समाजों के लिए एक सैद्धांतिक रूपरेखा देने का प्रयास नहीं किया है।

### 31.2.4 समाजशास्त्रीय सिद्धांत और सामाजिक परिवर्तन

पार्सन्स और मर्टन, दोनों ने समाजशास्त्र और इसके स्वरूप के संबंध में सिद्धांत की भूमिका को पर्याप्त महत्व दिया है। मर्टन ने इस समस्या पर बहुत सावधानी से विचार किया और उसका विशेष ध्यान प्राक्कल्पनाओं की अनुभवाश्रित जांच में कमियों पर रहा है। वह समाजशास्त्रियों को आगाह करता है कि वे अति सामान्य अथा अमूर्त सिद्धांतों को बनाने में न लग जाएं। इस प्रकार के सिद्धांत में न तो ठीक से परिभाषित प्राक्कल्पनाएं होती हैं और न ही उनकी अनुभवाश्रित जांच के लिए आवश्यक साधन होते हैं। इसी कारण से मर्टन समाजशास्त्र में सामान्य सिद्धांत बनाने के पक्ष में नहीं है। उसके अनुसार मध्यस्तरीय सिद्धांत अधिक उपयुक्त है। इस सिद्धांत का स्वरूप यद्यपि सीमित है, फिर भी वह अत्यंत सुस्पष्ट है और वह अध्ययन की विशिष्ट समस्या को लेता है। इकाई 30 में आपने संदर्भ समूह सिद्धांत के बारे में पढ़ा था। यह मध्यस्तरीय सिद्धांत का एक अच्छा उदाहरण है। मर्टन के मत में तार्किक वर्गीकरण के साधन अर्थात् प्रतिरूप (paradigms) मध्यस्तरीय सिद्धांत निर्माण के आवश्यक चरण हैं।

दूसरी ओर पार्सन्स सिद्धांत को बहुत ही सामान्य और अमूर्त रूप में लेता है। वह अवधारणाओं के वर्गीकरण के लिए शक्तिशाली तर्कमूल पद्धतियों का समर्थन करता है। इकाई 27 में विन्यास के प्रकारांतरों (pattern variables) के निर्धारण के संदर्भ में इन अवधारणाओं के बारे में आपने पढ़ा है। वह समाजशास्त्र में एक ऐसे सामान्य और सार्वजनिक रूप से लागू हो सकने वाले सिद्धांत के बारे में सोचता है, जिसे किसी भी समाज पर किसी भी समय लागू किया जा सके। यह बात सामाजिक व्यवस्था को समझने और उसके विश्लेषण के संदर्भ में विशेष रूप से लागू होती है। लेकिन, सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण में विशेष रूप से जब वह विकासात्मक सार्विकीय तत्वों (evolutionary universals) के बारे में विचार करता है तो वह इतिहास की विभिन्न विकासात्मक अवस्थाओं से गुज़रते हुए विशिष्ट समाजों के बारे में बात करता है। साथ ही, जब वह विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं की संरचना के प्रकारों के बारे में बात करता है जो कि विन्यास के प्रकारांतरों की अवधारणा पर आधारित है तब भी वह अमूर्त और सामान्य सिद्धांत की ही बात कर रहा है।

पार्सन्स के क्रिया के सिद्धांत (theory of action) का व्याख्यात्मक दायरा बहुत व्यापक है। इसमें व्यक्तित्व प्रणाली (personality system) से लेकर सामाजिक व सांस्कृतिक व्यवस्थाओं का परीक्षण शामिल है। यह वास्तव में सामाजिक वास्तविकता के संपूर्ण क्षेत्र को अपने दायरे में समाहित कर लेता है। सिद्धांत के बारे में पार्सन्स का दृष्टिकोण भी अंतर्विषयक (inter-disciplinary) है, जिसकी प्रासंगिकता केवल समाजशास्त्र के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है, अपितु वह मनोविज्ञान, राजनीतिज्ञविज्ञान, अर्थशास्त्र, सांस्कृतिक नृशास्त्र और सामाजिक विज्ञान की दूसरी शाखाओं में भी उतना ही प्रासंगिक है। इसलिए सिद्धांत के संबंध में उसका परिप्रेक्ष्य मर्टन की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है।

यह बात सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण से संबंध में भी उतनी ही सटीक है। पार्सन्स व्यवस्था में परिवर्तन और व्यवस्था के परिवर्तन के बीच भी अंतर करता है। वह परिवर्तन के इन दोनों पहलुओं का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इस विषय में आपने इकाई 28 में पढ़ा ही है।

दूसरी ओर, मर्टन मुख्य रूप से सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तन पर ही ध्यान केंद्रित करता है। पार्सन्स की तरह वह व्यवस्थात्मक (systemic) सामाजिक रूपांतरण की प्रक्रिया में विकासात्मक सार्विकीय तत्वों का दिशा-निर्देश नहीं करता। पार्सन्स और मर्टन, दोनों का ध्यान सामाजिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के विश्लेषण पर केंद्रित रहा है। इस विषय में दोनों के दृष्टिकोण में काफ़ी समानता दिखाई देती है। दोनों समाजशास्त्रियों की दृष्टि में सामाजिक व्यवस्था विशेष में होने वाले परिवर्तनों के कारण सामाजिक समूहों के सदस्यों पर पड़ने वाले तनाव अथवा दबाव हैं। इन दबावों से समाज में निरंतर उनकी भूमिकाएं और परिस्थितियां पुनर्स्थापित होती रहती हैं। आकांक्षाओं को पुन: परिभाषित करने से उत्पन्न तनाव के कारण व्यक्तियों की भूमिका और प्रस्थिति में गतिशीलता आती है। मर्टन ने इसे प्रत्याशी समाजीकरण (anticipatory socialization) कहा है। पार्सन्स के अनुसार बहुविध हितों के संदर्भ में अभिप्रेरणात्मक परिप्रेक्ष्य से होने वाले तनावों से भी भूमिका और प्रस्थिति में गतिशीलता आती है। इस प्रकार, पार्सन्स और मर्टन दोनों ही इस विषय में एकमत हैं कि सामाजिक व्यवस्थाओं में आंतरिक विभेदीकरण (differentiation) और सामाजिक परिवर्तन के लिए एक सतत प्रवृत्ति क्यों पाई जाती है।

परंतु, पार्सन्स सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं में सामाजिक संचलन के बलों को और विभिन्न हित समूहों की गतिशीलता को भी आगे लाता है इसके अतिरिक्त उसने रूपांतरण के लिए निर्धारित चरणों के माध्यम से मानव समाजों में सामाजिक परिवर्तन की सामान्य विकासात्मक दिशा बताने का प्रयास किया है। इस विषय में आपने इकाई 28 में पढ़ा ही है। मर्टन ने सामाजिक परिवर्तन के इन पहलुओं यानी सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तनों की प्राय: उपेक्षा की है।

इकाई में चर्चा के अंतिम बिंदु पर पहुँचकर अब बोध प्रश्न 2 को पूरा करें।

**बोध प्रश्न 2**

i) सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक संरचना के अध्ययन के संबंध में पार्सन्स और मर्टन के विचारों में मुख्य-मुख्य अंतर और समानताएं क्या हैं, स्पष्ट कीजिए। उत्तर दस पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) नीचे दिए गए वाक्यों में रिक्त स्थानों को उपयुक्त शब्दों से भरिए।

क) मर्टन के अनुसार अति सामान्य और अमूर्त सिद्धांतों के निर्माण के लिए न तो

प्राक्कल्पनाओं के सुनिर्धारित समुच्चय हैं और न ही उनकी ..... जांच के लिए आवश्यक साधन है।

ख) मर्टन की यह धारणा है कि केवल एक प्राक्कल्पना के परीक्षण के द्वारा हम समाजशास्त्रीय सिद्धांत की ..... नहीं कर सकते।

ग) मर्टन के अनुसार तर्कमूलक वर्गीकरण के साधनों को ..... कहते हैं, जो मध्यस्तरीय सिद्धांतों के निर्माण में आवश्यक चरण हैं।

घ) मर्टन के विपरीत, पार्सन्स ने ..... सार्विकीय तत्वों के द्वारा सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तनों के बारे में विचार किया है।

## 31.3 सारांश

इस इकाई में आपने टालकट पार्सन्स और राबर्ट के. मर्टन के विचारों की समालोचना कुछ नीचे दिए गए चुने हुए विषयों के संदर्भ में पढ़ी है।

i) उनका समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

ii) उनका प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण

iii) सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक संरचना की अवधारणा की उनकी समझ

iv) सामाजिक परिवर्तन पर उनका समाजशास्त्रीय सिद्धांत

पार्सन्स और मर्टन, दोनों ने, समाजशास्त्र को एक वैज्ञानिक विषय के रूप में माना है। लेकिन उन दोनों की समाजशास्त्र के संबंध में अंतर्दृष्टि भिन्न है। पार्सन्स का दृष्टिकोण मर्टन के दृष्टिकोण की अपेक्षा कहीं अधिक सार्वत्रिक और सामान्य है जबकि मर्टन का दृष्टिकोण पार्सन्स की अपेक्षा कहीं अधिक अनुभवाश्रित और अनुप्रयोगोन्मुखी (application-oriented) है। उन दोनों के प्रकार्यात्मक विश्लेषण में भी पर्याप्त समानता है, लेकिन मर्टन का दृष्टिकोण समय और स्थान सापेक्ष है, जबकि पार्सन्स का दृष्टिकोण सार्वत्रिक है। पार्सन्स के दृष्टिकोण को उसके अनुसार किसी भी सामाजिक व्यवस्था पर और किसी भी समय पर लागू किया जा सकता है।

इस इकाई में आपने उन सामान्य तरीकों के बारे में पढ़ा, जिनके द्वारा पार्सन्स और मर्टन ने सामाजिक व्यवस्थाओं तथा सामाजिक संरचना का अध्ययन किया। दोनों ने ही भूमिका, प्रस्थिति, सामाजिक संरचना आदि की अवधारणाओं का भी अध्ययन किया। लेकिन पार्सन्स ने एक सामान्य, अमूर्त सिद्धांत का प्रतिपादन किया, जबकि मर्टन का सिद्धांत मध्यस्तरीय है।

अंत में इस इकाई में हमने चर्चा की है कि दोनों समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन का एक सिद्धांत प्रस्तुत किया। पार्सन्स ने सामाजिक परिवर्तन का वर्णन सामाजिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन तथा सामाजिक व्यवस्थाओं के परिवर्तन के रूप में किया। मर्टन ने भी व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन के सिद्धांत का वर्णन किया, लेकिन उसने सामाजिक व्यवस्थाओं के परिवर्तन के अध्ययन की प्राय: उपेक्षा की।

## 31.4 शब्दावली

**अंतर्दृष्टि (vision)** यह पार्सन्स और मर्टन के समाजशास्त्र के प्रति मानसिक बिंब की ओर संकेत करती है। इसमें उनकी समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य और समाजशास्त्र से उनकी क्या अपेक्षाएं हैं - ये दोनों बातें सम्मिलित हैं।

**निदानात्मक (diagnosotic)** यह रोग के लक्षणों की परीक्षा करके रोगी की दशा के बारे में

निर्णय लेने की प्रक्रिया है। इस संदर्भ में, सामाजिक रोगों अथवा समस्याओं की ओर संकेत किया गया है।

**प्रत्यक्षवाद** इसके अंग्रेजी पर्याय positivism का सर्वप्रथम प्रयोग आगस्ट कॉम्ट (1798-1857)ने किया था। यह शब्द दो तथ्यों की ओर संकेत करता है। पहले तो यह भौतिकी, रसायन, जीव विज्ञान आदि प्राकृतिक विज्ञानों को मानवीय ज्ञान के प्रतिमान के रूप में ग्रहण करता है। दूसरे, इसमें प्राकृतिक विज्ञानों जैसा ही विशिष्ट दृष्टिकोण सामाजिक अध्ययन के लिए रखना होता है।

**प्राक्कल्पनाएं (hypotheses)** ऐसे सिद्धांत जिन्हें कुछ तथ्यों की व्याख्या के लिए अंतरिम रूप में स्वीकार कर लिया जाता है, लेकिन तभी तक जब तक उनकी जांच नहीं की गई होती है।

## 31.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

हैमिल्टन, पीटर 1983. *टालकट पार्सन्स. रूटलज़:* लंदन एंड न्यूयार्क

टर्नर, जे.एच. 1987. *द स्ट्रक्चर ऑफ सोशियोलॉजिकल थ्योरी.* रावत पब्लिकेशन्स: जयपुर, चतुर्थ संस्करण

## 31.6 बोध प्रश्नो के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) क) वैज्ञानिक
   ख) प्रत्यक्षवादी
   ग) सार्वत्रिक, सामान्य। सिद्धांत और विचार पद्धति के विशिष्ट
   घ) विरोध

ii) पार्सन्स और मर्टन, दोनों के प्रकार्यवद में यह परिकल्पना अंर्तनिहित है कि जैविक व्यवस्था में समानता है। लेकिन मर्टन प्रकार्यवाद के बारे में अधिक विशिष्ट रूप में विचार करता है जो समाजों में पाई जाने वाली अनुभवाश्रित वास्तविकता पर आधारित है और जो स्थान तथा समय के संदर्भ में है परंतु पार्सन्स का प्रकार्यवाद अत्यधिक अमूर्त और सामान्य है। उसकी सामाजिक व्यवस्था की प्रकार्यात्मक पूर्वपेक्षाएं हैं : अनुकूलन, लक्ष्य प्राप्ति, एकीकरण और विन्यास अनुरक्षण। ये स्थान और समय से बाधित नहीं हैं यानी समय और स्थान से परे हैं। पार्सन्स के अनुसार ये सर्वत्र सभी सामाजिक व्यवस्थाओं में पाई जाती हैं।

**बोध प्रश्न 2**

i) पार्सन्स और मर्टन, दोनों ने ही भूमिका, सामाजिक संरचना, सामाजिक व्यवस्था, समूह, आदि को समाज के स्वरूप को समझने के लिए आधारभूत इकाई माना है। लेकिन समाजशास्त्र के संबंध में उनकी अंर्तदृष्टि में अंतर होने के कारण उनके चिंतन का क्षेत्र अलग हो गया है। मर्टन ने सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के लिए समाजशास्त्र की अवधारणाओं और पद्धतियों को लागू करने का प्रयास किया। उसने अनुभवाश्रित वास्तविकता को समझने के लिए सिद्धांत का उपयोग करना चाहा। इन दोनों ने सामाजिक व्यवस्थाओं और सामाजिक संरचना के अपने अध्ययन में मनोवैज्ञानिक कारकों का प्रयोग किया। जैसे पार्सन्स ने अभिप्रेरणात्मक परिप्रेक्ष्य का और मर्टन ने प्रत्याशी समाजीकरण का उपयोग किया।

ii) क) अनुभवाश्रित
ख) जांच
ग) प्रतिरूप
घ) विकासात्मक

# संदर्भ ग्रंथ सूची

(अ)


ब्लैक, मैक्स,(संपादित) 1961. *द सोशल थ्योरीज़ ऑफ टालकट पार्सन्स ए क्रिटिकल एग्जामिनेशन.* प्रेंटिस हॉल, ई.एन.सी.: इंग्लवुड क्लिफ्स, एन.जे.

क्लार्क, टैरी निकोलस 1999. रॉबर्ट के. मर्टन एण्ड कंटेम्प्रेरी सोशियोलॉजी. *कंटेम्प्रेरी सोशियोलॉजी.* 28(6): 744

कोहेन, पर्सी 1968. *मार्डन सोशल थ्योरी.* हाइमैन एजुकेशनल बुक्स लि.: लंदन, चैप्टर 3

फंक एंड बैगनल 1983. *न्यू इनसाइक्लोपीडिया.* वाल्यूम 13. पृष्ठ 370-371, द इन एंड ब्रैडस्ट्रीट कॉर्प. यू. एस. ए.

फ़ैदरस्टोन, रिचर्ड एंड मैथ्यू डैफ़लम 2003. अनोमी एंड स्ट्रेन: कंटैक्सट एंड कॉंसिक्वेंसेस आफ़ मर्टन्स टू थियरीज़. *सोशियोलॉजिकल इंक्वायरी* 73(4):47

हैमिल्टन, पीटर 1983. टाल्कट पार्सन्स: *की सोशियोलॉजिस्ट्स सीरीज़* रूटलैज : लंदन

मलिनॉस्की, बी. 1960. *ए साइंटिफिक थ्योरी ऑफ कल्चर एंड अदर एसेज.* ऐ गैलेक्सी बुक, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस: नई दिल्ली

मर्टन. आर. के. 1968. *सोशल थ्योरी एंड सोशल स्ट्रक्चर.* फ्री प्रेस: न्यूयार्क

मिचल, डनकेन, जी.(संपादित) 1981.*ए न्यू डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी.* रूटलेज एंड केगन पॉल: लंदन

मोंगार्दिनि, कार्लो एण्ड सिमोनेटा तब्बोनि (सम्पादित) 1998. *रॉबर्ट के. मर्टन एण्ड कंटेम्प्रेरी सोशियोलॉजी.* ट्रान्सैक्शन: न्यू ब्रन्सविक, न्यू जर्सी

पार्सन्स टालकट 1937. *द स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन.* मैकग्रॉहिल(पुनर्मुद्रण संस्करण, 1949): न्यूयार्क

पार्सन्स टालकट 1951. *द सोशल सिस्टम* द फ्री प्रेस : इलिनोय

पार्सन्स टालकट 1966. *सोसाइटिज़ : एवल्यूशनरी एंड कम्पैरेटिव पर्सपेक्टिव.* प्रेंटिस हॉल: इंग्लवुड क्लिफस एन.जे.

पार्सन्स टालकट 1967. *सोशियोलॉजिकल थ्योरी एंड मॉडर्न सोसाइटी.* फ्री प्रेस: न्यूयार्क

पार्सन्स टालकट 1971. *द सिस्टम ऑफ मॉडर्न सोसायटीज़* . प्रेंटिस हॉल: इंगलवुड क्लिफ्स,एन.जे.
पार्सन्स टालकट 1977. *द एवल्यूशन ऑफ सोसायटीज़* प्रेंटिस हॉल: इंगलवुड क्लिफ्स

रैडक्लिफ़-ब्राउन, ए.आर. 1952. *स्ट्रक्चर एंड फंक्शन इन प्रिमिटिव सोसायटीज़* कोहेन एंड वेस्ट लि.: लंदन

स्टॉफ़र एस.ए. और अन्य 1949. *द अमेरिकन सोलजर कमबैट एंड इट्स आफ्टरमाथ.* वाल्यूम I-II प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस: लंदन

टर्नर, जे.एच. 1987. *स्ट्रक्चर ऑफ सोशियोलॉजिकल थ्योरी.* रावत पब्लिकेशन: जयपुर

वेब्लेन टी. 1899. *थ्योरी ऑफ द लेज़र क्लास.* मैकमिलन: न्यूयार्क

(ब) हिंदी में उपलब्ध पुस्तकें

फर्फे, पाल हान्ले 1973. *समाजशास्त्र का क्षेत्र एवं पद्धति.(अनुवादक)* हरिशचन्द्र उप्रेती, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी: जयपुर

सिंह, आर.जी. *समाजशास्त्र की मूल अवधारणाएं.* मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी: भोपाल

श्रीवास्तव, सुरेन्द्रकुमार *समाजविज्ञान के मूल विचारक.* उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी: लखनऊ

# NOTES